

0152,6x1,1 3966 17 Gupta, Ganapati Chandra Sahityi K ni bandh 0152,621,1
Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

2966

216

217

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साहित्यिक निबन्ध

(हिन्दी साहित्य-विषयक ७० मौलिक निबन्धों का संग्रह)

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR (LIBRARY)

..... Please return this volume on or before the date last stamped

Overdue volume will be charged 1/- per day.		
		4
CC-0. Ja	ngamwadi Math Collection	Varanasi.

0152,624,1 3966 17 Gupta, Ganapati Chandra Sahityik nibandh डा० गणपितचन्द्र गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट् ग्राचार्य एवं ग्रघ्यक्ष, हिन्दी-विभाग, रोहतक विश्वविद्यालय, रोहतक

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, पहास्मान्यांची मार्ग, इलाहाबाद - १

SAHITYIK NIBANDH

Collection of 70 Essays on Hindi Literature
By

Dr. Ganapati Chandra Gupta M.A., Ph. D., D. Litt.

0152,6211,1

JAGADGURU WAHWARADINA JINANA SIMHASAN JINANAMANGIR LIBRARY

लोकभारती प्रकाशन १५-ए, महात्मा गांघी मार्ग इलाहाबाद—१ द्वारा प्रकाशित

© गणपतिचन्द्र गुप्त

संशोधित एवं परिवर्द्धित खठा संस्करण: जनवरी १६७७

मूल्य : २०.००

सुपरफ़ाइन प्रिन्टर्स १-सी०, बाई का बाग, इलाहाबाद-३ द्वारा मुद्रित

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

दो शब्द

डॉ॰ गणपितचन्द्र गुप्त बड़े अध्ययनशील और प्रखर आलोचक हैं। उनके परिश्रमपूर्वक लिखे हुए निवन्ध इस पुस्तक (साहित्यिक निवन्ध) में संकलित हैं। इन निबन्धों में साहित्य के प्रायः सभी ग्रंगों का विवेचन किया गया है। उन प्रश्नों के प्रति भी पाठक की दृष्टि घ्राकृष्ट की गई है, जो सही उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सर्वत्र उनका गूढ़ ग्रध्ययन ग्रौर निगूढ़ ग्रमिनिवेश मुखर है। वे गतानुगतिकता से ग्रस्त नहीं हैं। जो बात उन्हें ठीक नहीं जैंची, उसके प्रति शंका करने में वे हिचके नहीं हैं, भले ही वह बड़े-से-बड़े श्राचार्यों द्वारा कही गई हो। हिन्दी साहित्य की ग्रनेक जटिल गुत्थियाँ हैं, जिनको ग्रभी भी सुलभाना वाकी है। नई सामग्रियाँ श्रीर नये समाधान प्रतिदिन प्रकाश में श्राते जा रहे हैं। इन सबका धैर्यपूर्वक परीक्षण भ्रावश्यक है। यह भ्राशा नहीं की जानी चाहिए कि हर उत्तर से हर ब्रादमी संहमत होगा, पर शोधक से ईमान-दारी की भ्राशा भ्रवश्य की जानी चाहिए। गणपतिचन्द्रजी में वह पूरी मात्रा में है। इन निबन्धों की यह बड़ी भारी विशेषता है। वे समस्याग्रों को सुलभाने का प्रयत्न करते हैं। विद्वानों ने जो सुभाव दिए हैं, उनका घीरता के साथ परीक्षण करते हैं ग्रौर ग्रपने पाठक के सामने सब कुछ रख देते हैं। मुफे इन निबन्धों को पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरा विश्वास है कि दूसरे पाठक इनसे इसी प्रकार की प्रसन्नता प्राप्त करेंगे।

डॉ॰ गणपितचन्द्र ने बड़े परिश्रम से इन निबन्धों को लिखा है। वे ग्रभी नव-युवक ही हैं। उनसे मुक्ते बहुत ग्राशा है। परमात्मा उन्हें दीर्घायुष्य ग्रौर सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करें ताकि वे साहित्यिक ग्रालोचना की महत्त्वपूर्ण सेवा निरन्तर करते रहें।

चंडीगढ़ CC-o Jangamwadi Math Collection, Varanasi, हजारीप्रसाद द्विवेदी ६. १२. १६६०

भूमिका

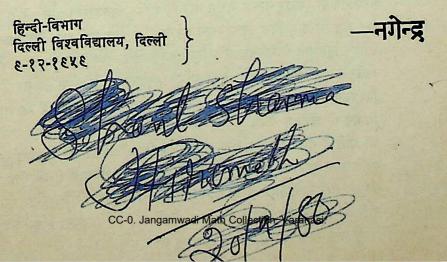
अब तक मैं कई रूपों में डॉ॰ गणपितचन्द्र गुप्त की विद्वत्ता और योग्यता का निरीक्षण-परीक्षण कर चुका हूँ और प्रत्येक बार मुफ्त पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का अच्छा प्रभाव पड़ा है। वे हिन्दी के सफल अनुसंधाता, कुशल अध्यापक और कृती लेखक हैं। अब तक उनकी कई-एक कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं, जिनमें सर्वप्रमुख है उनका शोध-प्रबन्ध—'हिन्दी काव्य में श्रृङ्कार परम्परा और महाकवि बिहारी'। प्रस्तुत ग्रंथ उनके मौलिक साहित्यिक निबन्धों का संकलन है।

ये निबन्ध प्रायः ध्रालोचना के इन तीनों रूपों के ध्रन्तर्गत वर्गीकृत किए जा सकते हैं : सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक ध्रौर व्यावहारिक। 'साहित्य ध्रौर उसके तत्त्व', 'रस-सिद्धान्त ध्रौर उसका महत्त्व' ध्रादि निबंध सैद्धान्तिक ध्रालोचना की कोटि में रखे जा सकते हैं। इन निबन्धों में विभिन्न साहित्य-सिद्धान्तों का सारांश तथा उनका विधिवत् विवेचन प्रस्तुत करते हुए लेखक ने कुछ निष्कर्षों की उपलब्धि का प्रयास किया है। उन निष्कर्षों से सर्वत्र सहमित की सम्भावना न रहते हुए भी यह सहज ही कहा जा सकता है कि लेखक की साहित्य-चेतना पर्यास व्यापक है ध्रौर वह उसके मौलिक प्रश्नों को उपयुक्त परिप्रेक्ष्य में रखकर समुक्का ध्राहित्य-चेतना पर्यास व्यापक है ध्रौर वह उसके मौलिक प्रश्नों को उपयुक्त परिप्रेक्ष्य में रखकर समुक्का ध्राहित्य-चेतना पर्यास व्यापक है ध्रौर वह उसके मौलिक प्रश्नों को उपयुक्त परिप्रेक्ष्य में रखकर समुक्का ध्राहित्य-चेतना पर्यास व्यापक है ध्रौर वह उसके मौलिक प्रश्नों को उपयुक्त

ग्रौर विकास', 'हिन्दी निबन्ध: स्वरूप ग्रौर विकास' ग्रादि निवन्ध ऐतिहासिक ग्रालोचना के ग्रन्तर्गत ग्रा सकते हैं। इनमें विभिन्न साहित्य-विधार्मों के क्रिमक विकास ग्रौर उनके मूलंभूत तत्त्वों का विशद निरूपण किया गया है। साहित्य-सर्जना के नव्यतम उत्थानों की ग्रवगित लेखक की ग्रव्ययनशीलता ग्रौर ग्रव्यवसाय का परिचय देती है। तीसरे वर्ग (व्यावहारिक ग्रालोचना) में लेखक द्वारा प्रस्तुत कितपय कृतियों ग्रौर कृतिकारों की समीक्षा रखी जा सकती है। इस वर्ग में 'प्रसाद की काव्य-साधना', 'भारतेन्द्र की नाट्य-कला' जैसे निबन्ध ग्रायोंगे। ये निवन्ध प्रमुखतः व्याख्यात्मक हैं, परन्तु मूल्यांकन की प्रवृत्ति भी इनमें यत्र-तत्र मिलती है।

निवन्धों की रचना करते समय लेखक के समक्ष हिन्दी की उच्चतर कक्षाओं का छात्र-वर्ग रहा है, अतः उसे सार-संग्रह की पद्धित का अवलम्बन करना पड़ा है। िकन्तु दृष्टिकोण समन्वयात्मक होते हुए भी उसमें स्वतन्त्र चेतना का अभाव नहीं है। वह मताभिमान से मुक्त है और दोष की अपेक्षा गुण का अनुसंधान करना ही उसकी प्रवृत्ति है। साहित्य के प्रति उसका दृष्टिकोण शंकालु का नहीं, जिज्ञासु का ही है। उसका चितन प्रौढ़ और अभिव्यक्ति स्वच्छ है। अपने मंतव्य को और अधिक स्पष्टता प्रदान करने के लिए उसने निबन्धों को विभिन्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत कर दिया है तथा लेख के प्रारम्भ में उसका सारांश भी दे दिया है; इस प्रकार विवेचन में वैशद्य आ गया है।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत निबन्ध उच्चतर साहित्य के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे। मैं इस उपयोगी ग्रन्थ के लेखक डॉ॰ गणपितचन्द्र भीर प्रकाशक दोनों का साधुवाद करता हूँ भीर श्रपनी शुभकामनाश्रों के साथ इसे जिज्ञासु पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।



प्राक्कथन

. .

एक दीर्घ प्रतीक्षा के भ्रनन्तर प्रस्तुत पुस्तक का पाँचवाँ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हो रहा है। विगत कुछ वर्षों में पुस्तक भ्रप्रकाशित एवं भ्रप्राप्य रही—इसके भ्रनेक दुःखद एवं कटु कारण हैं, जिन पर यहाँ प्रकाश डालना संभव नहीं। भ्रन्ततः पुस्तक प्रकाशित हो रही है, यही कम प्रसन्नता की बात नहीं।

विगत वर्षों में मेरी कई नयी कृतियाँ प्रकाश में आई हैं -- जिनमें 'साहित्य-विज्ञान', 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', 'विहारी सतसई : वैज्ञानिक समीक्षा', 'महादेवी : नया मूल्यांकन' म्रादि उल्लेखनीय हैं। ये कृतियाँ मेरे आलोचक-जीवन की एक नूतन दिशा की सूचक हैं; अर्थात् इनके रचना-काल में मैं एक विशेष लक्ष्य की भ्रोर भ्रम्रसर रहा हूँ। वह लक्ष्य था-साहित्य-समीक्षा को सुव्यवस्थित, सुस्पष्ट एवं प्रामाणिक रूप देने के लिए उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करना । वैसे हिन्दी के भ्रनेक पाठकों को यह बात सुनने में एकाएक ग्रटपटी-सो प्रतीत होगी, क्योंकि सामान्यतः यह समभा जाता है कि साहित्य ग्रौर विज्ञान परस्पर-विरोधी हैं, ग्रतः साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का अर्थ होगा—साहित्यिकता की हत्या करना। किन्तु यदि गहराई से विचार करके देखा जाय तो ज्ञात होगा कि किसी भी वस्तु का वैज्ञानिक श्रम्ययन या विवेचन करने का श्रर्थ उसकी मूल प्रकृति या उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन या विकार उत्पन्न करना नहीं है, श्रपितु तत्सम्बन्धी ज्ञान को ही श्रपेक्षा-कृत शुद्ध या प्रामाणिक रूप प्रदान करना है। भ्रव तक हम काव्य-शास्त्र एवं साहित्यानुसंघान के माघ्यम से साहित्य का विवेचन-विश्लेषण करते रहे हैं; उसी विवेचन-विश्लेषण को यदि श्रौर श्रधिक वस्तुपरक दृष्टिकोण से प्रामाणिक एवं विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया जाय, तो वह विज्ञान की श्रेणी में श्रा जाता है। विज्ञान की श्रेणी में केवल भौतिक विज्ञान ही नहीं; भाषा-विज्ञान एवं मनोविज्ञान भी श्राते हैं तथा इन्हीं के समकक्ष मैंने 'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना करते हुए साहित्य समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है। उपर्युक्त रचनाएँ क्रमशः साहित्य-समीक्षा के ही तीन पक्षों-सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक एवं व्याव-हारिक—को प्रस्तुत करती हैं। ग्रतः कहने के लिए ये रचनाएँ ग्रलग-ग्रलग हैं, किन्तु उन सबके मूल में एक हो व्यापक लक्ष्य रहा है।

यद्यपि हिन्दी-जगत् में पाश्चात्य चिन्तकों की प्रनुगूंज के रूप में आधुनिकता, प्राधुनिक बोध एवं नूतनता के नारे तो बहुत लगे हैं, किन्तु यथार्थ में
वे खोखले एवं प्रर्थशून्य हैं। श्राधुनिकता का सर्वप्रमुख भेदक लक्षण है—वैज्ञानिकता। मध्यकालीन बोध एवं श्राधुनिक बोध में व्यावहारिक दृष्टि से जो
श्रन्तर दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका मूलाधार श्राज का उन्नत वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इसलिए यदि एक शब्द में श्राधुनिकता की व्याख्या की जाय, तो वह
शब्द वैज्ञानिक होगा। वस्तुतः श्राज धर्म, समाज, संस्कृति, इतिहास, नीति श्रादि
विभिन्न विषयों के ग्राधारभूत तत्त्वों एवं सिद्धान्तों के प्रति हमारे दृष्टिकोण एवं
मत में जो श्रामूलचूल परिवर्तन हुश्रा है, उसका मूल कारण दृष्टि का वैज्ञानिक
होना ही है। इसीलिए साहित्य-सिद्धान्तों एवं काव्य-विवेचन की प्रणाली को
वैज्ञानिक रूप दिये जाने की ग्रावश्यकता का श्रनुभव करते हुए हरवर्ट डिंगल ने
पहले उद्घोषित किया था—

'If literature can only be felt, then let us feel it, do not let us write about it or give reasons why one poem inspires deeper or better feeling than another. If once criticism is allowed to exist, there is no justification for not allowing it to become as thoroughly scientific as its nature makes possible.'

यहाँ उन्होंने उन आलोचकों को नुनौती दी है, जिनका तर्क है कि साहित्य अनुभूति की वस्तु है, अतः उसकी समीक्षा वैज्ञानिक नहीं हो सकती। यदि साहित्य केवल अनुभूति का ही विषय है, तो फिर हम उसका विवेचन विश्लेषण एवं मूल्यांकन क्यों करते हैं ? या तो हम ऐसा करना बन्द करें या फिर इस विवेचन-विश्लेषण को यथासंभव वैज्ञानिक रूप न दिये जाने में क्या तुक है !

उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति के प्रयास में इस बीच कुछ नये सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है, जिनमें आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काव्य या साहित्य की आत्मा या मूल शक्ति क्या है—यह प्रश्न भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों के बीच शताब्दियों से विवाद का विषय रहा है। आकर्षणशिक्ति सिद्धान्त इन सभी विवादों का एक समन्वित, संतुलित एवं विज्ञान-सम्मत समाधान प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में भी हिन्दी-साहित्य के आविर्माव-काल, काल-विभाजन, विभिन्न काव्य-परंपराओं के उद्गम-स्रोतों आदि के सम्बन्ध में अनेक भ्रामक धारणाएँ प्रचलित हैं, जिनका निराकरण करते हुए अनेक नये मतों की स्थापना की गयी है। मैंने चेष्टा की है कि प्रस्तुत संस्कृत्य के साह्यस से इसके पाठकों को भी इन नये सिद्धान्तों एवं

मतों का थोड़ा परिचय अवश्य प्राप्त हो जाय—इसके लिए अनेक निबन्धों में संशोधन-परिवर्द्धन करने के साथ-साथ पन्द्रह नये निबन्ध भी और बढ़ा दिये गए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सभी लोग नयी स्थापनाओं को स्वीकार कर लें, फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से उन पर विचार किया जायगा—इतनी आशा तो मैं विद्वान् पाठकों से कर ही सकता हूँ।

श्रंत में मैं प्रथम संस्करण के भूमिका-लेखक श्रद्धेय श्राचार्य डॉ॰ नगेन्द्र के प्रति हार्दिक ग्राभार व्यक्त करना ग्रपना कर्त्तव्य समक्ता हूँ, जिन्होंने मेरे ग्रालो-चक को शैशन काल में ही अपना पुनीत भ्राशीर्वाद देकर उसके बल, उत्साह एवं आत्मविश्वास में ग्रभिवृद्धि की । साथ ही पुस्तक के सम्बन्ध में 'दो शब्द' लिख-कर श्रद्धेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी मुभे उपकृत किया है। कई बार उनका यह वाक्य- 'जो बात उन्हें ठीक नहीं जैंची, उसके प्रति शंका करने में वे हिचके नहीं हैं, भले ही वह बड़े-से-वड़े भ्राचार्य द्वारा कही गयी हो'--मेरे मन में परस्पर विरोधी भाव उत्पन्न करता रहा है कई बार लगा, कहीं उनका यह 'श्राचार्य' शब्द स्वयं अपने लिए ही प्रयुक्त न हो, क्योंकि अनेक निबन्धों में मैंने उनके मतों पर भी शंका प्रकट करने की घृष्टता की है। ग्राचार्य द्विवेदी के ही विभाग में कार्य करता हुआ, उन्हीं के विचारों और मतों की अवहेलना उन्हीं के समक्ष करूँ—ऐसी स्वतंत्रता भ्राचार्य द्विवेदी जैसे महान् एवं उदार विभागा-घ्यक्ष के ही राज्य में संभव है। भ्राज जबकि उनसे बहुत दूर हूँ, भ्रतीत के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि यह मेरा परम सौभाग्य था कि उनकी छत्र-छाया में कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। कदाचित् यह चन्हीं का प्रभाव है कि मैं ग्रब ग्रनुभव करने लगा हूँ कि ग्रालोचक का कार्य ग्रधिक कटु, कठोर एवं घृष्ट हुए बिना भी चल सकता है। फिर भी ग्रालोचक यदि ग्रालोचना के साथ न्याय करना चाहता है तो उसे थोड़ा-बहुत स्पष्टवादी बनना ही पड़ता है।

धन्त में मैं यह नया संस्करण विद्वानों, समीक्षकों एवं अध्येताओं की सेवा में नूतन उत्साह, नये विश्वास एवं नयी धाशाओं के साथ प्रस्तुत करता हूँ; और साथ ही 'लोकभारती प्रकाशन' के संचालकों को भी घन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने धनेक श्रद्धचनों का सामना करते हुए भी पुस्तक को सुन्दर एवं शुद्ध रूप में प्रकाशित किया है।

शिमला १.१. १९७१ }

—गणपतिचन्द्र गुप्त

छठे संस्करण के सम्बन्ध में दो शब्द

'साहित्यिक निबन्ध' का छठा संस्करण विद्वान् पाठकों के हाथों में सौंपते हुए मुफे हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसका प्रथम संस्करण पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, तब से इसकी लोकप्रियता दिनों दिन निरन्तर बढ़ती रही है—यह तथ्य पुस्तक की उपादेयता का परिचायक माना जा सकता है। प्रथम संस्करण के प्रकाशन के अनन्तर लेखक की अनेक पुस्तकें—'साहित्य-विज्ञान', 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', 'रस-सिद्धान्त का पुनविवेचन', 'महादेवी: नया मूल्यांकन' आदि—प्रकाशित हुई हैं। इनमें लेखक ने कितपय नूतन सिद्धान्त एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, जिनका संकेत प्रस्तुत पुस्तक के भी कई निबन्धों में उपलब्ध होगा। इस दृष्टि से साहित्य की आत्मा, हिन्दी साहित्य का आविर्भाव-काल, काल-विभाजन, प्रेमाख्यान-काव्य-परंपरादि विषयों से सम्बन्धित निबन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत संस्करण के नये निबन्ध जोड़ने के साथ-साथ अन्य निवन्धों की सामग्री को भी अद्यतन रूप देने की चेष्टा की गयी है। आशा है कि इस रूप में यह पाठकों के लिए और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

हिन्दी-विभाग, रोहतक-विश्वविद्यालय, रोहतक १-१२-७६.

—गणपतिचन्द्र गुप्त

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त

ग्रनुक्रम

१. साहित्य : स्वरूप-विवेचन	3
२. साहित्य ग्रीर व्यक्तित्व	१२
३. साहित्य की ग्रात्मा	38
४. साहित्य में कल्पना ग्रौर विम्ब	35
४. साहत्य न परिपा और उसका प्रयोजन ✓ ﴿. काव्य की मूल प्रेरणा श्रीर उसका प्रयोजन	३८
	प्र
६. कला कला के लिए	48
७. कविता क्या है ?	६६
द. नाटक : स्वरूप ग्रीर तत्त्व	98
्र रस-सिद्धान्त ग्रीर रस-निष्पत्ति	50
्र ०. म्रलंकार-सम्प्रदाय ग्रौर उसके सिद्धान्त	85
- ११. रीति-सम्प्रदाय ग्रीर उसके सिद्धान्त	222
४२. घ्वनि-सम्प्रदाय ग्रीर उसके सिद्धान्त	
√१३. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त	१२३
१४. भ्रौचित्य सम्प्रदाय भ्रौर उसके सिद्धान्त	१३२
४५. प्लेटो का भ्रादर्शवाद ✓	१४०
४ ६. घरस्तु के काव्य-सिद्धान्त ~	388
१७. लोंजाइनस का ग्रीदात्य-विवेचन 🗸	१५७
्र्रद. क्रोचे का ग्रिभिव्यंजनावाद 🗸	१६४
अर्ह. ग्राई० ए० रिचर्ड्स के काव्य-सिद्धान्त ✓	१७२
हिन्दी-साहित्य का विकास	
२०. हिन्दी-साहित्य का भ्राविभीव-काल	१८३
२१. हिन्दी-साहित्य का काल विभाजन : पुनर्विचार	138
२२. ग्रादिकाल ग्रीर उसकी समस्याएँ	२०१
२३. भक्ति : उद्भव ग्रौर विकास	781
२४. संत किया वा अस्पाद को सामग्री वा ब्यानित का anasi.	77
40. 40-dilad . Odili sign sign sign sign	

२५. प्रेमास्यानक काव्य-परंपरा : प्रेरणा व उद्गम-स्रोत	280
२६. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा : प्रवृत्तियाँ	२५६
२७. राम-काव्य या पौराणिक प्रबन्ध काव्य-परंपरा	२७३
२८. कृष्ण-भक्ति काव्य-घाराः विकास ग्रौर प्रवृत्तियाः	755
२६. रीतिबद्ध काव्य भ्रौर उसकी प्रवृत्तियाँ	३०१
३०. स्वच्छन्द मुक्त काव्य-परंपरा	३१४
३१. हिन्दी महाकाव्य ः स्वरूप श्रीर विकास	३२६
३२. हिन्दी गीतिकाव्य : स्वरूप ग्रौर विकास	३४६
३३. हिन्दी मुक्तक काव्य : स्वरूप ग्रीर विकास	३५७
३४. हिन्दी गद्य का उद्भव ग्रीर विकास	३६७
३५. हिन्दी नाटक : उद्भव ग्रीर विकास	३८८
३६. हिन्दी उपन्यास : स्वरूप ग्रौर विकास	808
३७. हिन्दी कहानी : स्वरूप श्रीर विकास	४१६
३८. हिन्दी निवन्ध : स्वरूप ग्रौर विकास	४२७
३६. हिन्दी एकांकी : स्वरूप और विकास	४४४
४०. हिन्दी भ्रालोचना : स्वरूप भ्रौर विकास	४५७
• हिन्दी साहित्य : प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ	
४१. रहस्यवाद धौर हिन्दी काव्य	378
४२. छायावाद भ्रौर हिन्दी काव्य	४५४
४३. प्रगतिवाद ग्रौर हिन्दी साहित्य	५०१
४४. प्रयोगवाद श्रौर नयी कविता	480
४५. यथार्थवाद ग्रौर हिन्दी का	४३४
४६. प्रतीकवाद	५४२
४७. ग्रस्तित्ववाद ग्रौर नयी कविता	४४०
४८. हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण	४६७
४६. हिन्दी काव्य में नारी (नायिका) रूप	५७७
४०. हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता की भावना	५५४
५१. हिन्दी साहित्य में हास्य-रस	
५२. हिन्दी काव्य में विरह-वर्णन	५६१
• हिन्दी की विशिष्ट प्रतिभाएँ	६०७
५३. चन्दवरदायी भ्रौर उनका काव्य	६२१
५४ कवीर : चिन्तन ग्रीर कला	६२६
الاستان عالم عن المستون المست	The second second

44.

83

५६. सूरदास की भक्ति-भावना	EXX
🗸 ५७. तुलसी की समन्वय-साधना	६ ६ c
५८. मीराँवाई का काव्य : नव मूल्यांकन	६६८
४६. मुक्तक काव्य-परम्परा ग्रौर बिहारी	६८३
६०. भारतेन्दु की काव्य-साधना	६६०
६१. भारतेन्द्र की नाट्य-कला	७०२
६२. प्रेमचंद ग्रौर जनका उपन्यास-साहित्य	७१०
६३. परंपरा ग्रौर युग-धर्म के संयोजक : मैथिलीशरण गुप्त	७२१
६४. प्रसाद की काव्य-साधना	७२६
६५. प्रसाद की नाट्य-कला	७३६
६६. पंत का प्रकृति-चित्रण	380
६७. महादेवी का वेदना-भाव	७४६
६८. दिनकर की उर्वशी : प्रतीक-योजना एवं प्रतिपाद्य	
५€. श्राचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति	७६४
	995
७०. भ्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : इतिहासकार के रूप में	959

साहित्यिक निबन्ध

भारतीय एवं पाइचात्य काव्य-सिद्धान्त

: एक :

साहित्यः स्वरूप-विवेचन

१. 'साहित्य' : शब्द मीमांसा ।

२. परिभाषा : भारतीय दृष्टि से ।

३. परिभाषा : पाश्चात्य दृष्टि से ।

४. साहित्य के भेदक लक्षण।

५. साहित्य के तत्त्व :

(१) भाव (२) कल्पना (३) बुद्धि (४) शैली।

६. उपसंहार।

'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए 'हिन्दी-साहित्य-कोश' के रचियताओं ने लिखा है—''साहित्य = सहित + यत् प्रत्यय, साहित्य का अर्थ है शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव अर्थात् 'साथ होना'। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम 'साहित्य' है।'' यह व्याख्या किसी व्याकरणाचार्य के मस्तिष्क को भले ही सन्तुष्ट कर दे, किन्तु एक सामान्य विद्यार्थी की जिज्ञासा इससे शान्त नहीं होती। यह तो ठीक है कि 'साहित्य' से 'सहभाव' घ्वनित होता है किन्तु सहभाव किसका? वह सहभाव शब्द और अर्थ का ही हो, ऐसा संकेत इस शब्द में कहीं नहीं मिलता। कुछ विद्वानों ने 'साहित्य' में से 'सहित' (अर्थात् स = हित + हित के साथ) को पृथक् करते हुए हित-कारक रचना को 'साहित्य' बताया है; किन्तु यह व्याख्या भी सर्वांश में सत्य सिद्ध नहीं होती। एक अच्छे सुन्दर चिकने पत्र पर रंग-विरंगे शब्दों में मुद्रित वह रचना भी जिसकी एक ओर 'अशोक-चक्र' तथा दूसरी ओर बैंक का नाम, गवर्नर के हस्ताक्षर, देय राशि व क्रम-संख्या आदि अंकित होते हैं, किसी दरिद्र-नारायण के भक्त के लिए कम हितकारक नहीं होती, किन्तु इसी से क्या हम इसे 'साहित्य' की संज्ञा दे सकते हैं! वस्तुतः इन व्याख्याओं का अर्थ से सीधा संबंध नहीं है, किसी प्रकार खींच-तानकर प्रचलित अर्थ के साथ 'साहित्य' शब्द की संगति बैठाने का प्रयत्न किया गया है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति का रहस्य जानने के लिए इसके इतिहास पर दृष्टि-पात करना उचित होगा। कहा जाता है कि 'साहित्य' शब्द का प्रचलन इस ग्रर्थ में सातवीं-ग्राठवीं शती से हुग्रा है। इससे पहले संस्कृत में 'साहित्य' के स्थान पर 'काव्य' शब्द का ही प्रयोग मिलता है। भामह, राजशेखर, भोजराज, कुन्तक प्रभृति ग्राचार्यों ने काव्य की परिभाषा करते हुए शब्द ग्रौर ग्रर्थ के सहभाव को ही काव्य बताया, तथा

१. द्रष्टस्य—'साहित्य-विज्ञान': प्रथम खण्ड, पुष्ठ १६-२०

इसी प्रसंग में उन्होंने 'सहितौ', 'सहभाव' श्रादि का उल्लेख किया, पर श्रागे चलकर 'शब्द श्रौर ग्रथं के सहभाव (साहित्य)' के स्थान पर केवल सहभाव (साहित्य) ही रह गया। जिस प्रकार 'रेलवे-ट्रेन' में से ग्रव केवल 'रेल, या 'ट्रेन' ही प्रयुक्त होते हैं, शेष दो शब्द प्रायः छोड़ दिये जाते हैं, वैसे ही 'शब्द ग्रौर ग्रर्थ का साहित्य' के स्थान पर केवल 'साहित्य' का ही प्रयोग चल पड़ा। वस्तुतः भाषा-विज्ञान के ग्रनुसार प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति के कारण शब्दों का प्रचलन, प्रयोग एवं ग्रर्थ-विकास इस प्रकार प्रायः होता रहता है; ग्रतः 'साहित्य' शब्द का यह प्रयोग भी इसी प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति का परिणाम है।

यह भी भाषा-विज्ञान का नियम है कि जब एक ही ग्रर्थ में दो शब्दों का प्रयोग होने लगता है तो उनमें से किसी एक का ग्रर्थ संकुचित या परिवर्तित हो जाता है। जब संस्कृत में भी 'काव्य' ग्रौर 'साहित्य' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही ग्रर्थ में होने लगा तो ग्रागे चलकर काव्य का ग्रर्थ संकुचित हो गया, वह केवल कविता तक सीमित रह गया जबिक 'साहित्य' का प्रयोग व्यापक रूप में — कितता, नाटक, उपन्यास, समीक्षा ग्रादि सभी विधान्नों (मुख्यतः गद्यात्मक रचनान्नों) के लिए होने लग गया। इस प्रकार 'साहित्य' शब्द 'काव्य' का परवर्ती एवं उत्तराधिकारी होते हुए भी ग्राज ग्रपने पूर्वज से ग्रिधक समृद्ध, व्यापक एवं विकसित है।

श्राघुनिक युग में 'साहित्य' शब्द का प्रचलन श्रंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द की भाँति दो श्रथों में होता है—व्यापक ग्रथं में वह समस्त लिखित एवं मौखिक रचनाश्रों के ग्रथं में प्रयुक्त होता है जबिक संकुचित श्रथं में वह 'काव्य' के पर्याय के रूप में गृहीत होता है। दूसरे शब्दों में एक ग्रोर वह समस्त प्रकार के ग्रन्थ-समूह को सूचित करता है तो दूसरी ग्रोर वह एक विशेष कोटि की रचनाश्रों तक ही सीमित है। पाश्चात्य विद्वानों ने इन दोनों का श्रन्तर स्पष्ट करने के लिए एक को 'ज्ञान का साहित्य' कहा है तो दूसरे वर्ग की रचनाश्रों को 'भावना या शक्ति का साहित्य' की संज्ञा दी है। प्रसिद्ध विद्वान् डी क्विनसी (De Quincey) ने दोनों की तुलना करते हुए लिखा है कि जहाँ ज्ञान के साहित्य का लक्ष्य कुछ सिखाना होता है वहाँ भावना के साहित्य का लक्ष्य भावनाश्रों को जागृत करना होता है; एक में तथ्यों ग्रीर उपदेश की प्रधानता होती है जबिक दूसरे में कला ग्रीर सौन्दर्य की ग्रिभव्यित्त होती है। प्रस्तुत लेख में हमारा विवेच्य भावना का साहित्य ही है जो कि गद्य ग्रीर पद्य में लिखी हुई सभी प्रकार की कलापूर्ण रचनाश्रों—किवता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध ग्रादि—से सम्बन्धित है।

परिभाषा: भारतीय दृष्टि से

साहित्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए हमारे अनेक प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों ने साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ निश्चित की हैं जिनमें से कुछ यहाँ विचारणीय हैं। आचार्य भामह (छठी-सातवीं शती) ने अपने 'काव्यालंकार' में लिखा था—'शब्द और अर्थ मिलकर काव्य (साहित्य) होता है' तो दंडी के विचार से 'इष्ट अर्थ से विभूषित शब्द-समूह ही काव्य-शरीर है।' इसी प्रकार आचार्य वामन 'गुण तथा

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

साहित्य : स्वरूप-विवेचन

प्रलंकार से संस्कारित शब्दार्यं को साहित्य मानते हैं तो राजशेखर के विचारानुसार 'गुण से युक्त वाक्य हो काक्य है।' ग्राचार्य कुन्तक ने किंचित् विस्तार से परिभाषा करते हुए लिखा—''शब्द ग्रौर ग्रर्थं का मनोहर विन्यास साहित्य है, जिसमें शब्द ग्रौर ग्रर्थं परस्पर इतने संतुलित हों कि न तो कोई न्यून हो और न कोई अधिक हो।'' ग्रागे चलकर मम्मट (११वीं शती) ने 'दोष-रहित गुणों से मंडित शब्दार्थं को, भले ही वह कहीं-कहीं ग्रलंकार-शून्य हो' काव्य माना है तो दूसरी ग्रोर ग्राचार्य विश्वनाथ (१४वीं शती) ने 'रसात्मक वाक्य' को तथा पंडितराज जगन्नाथ (१७वीं शती) ने 'रमागीय ग्रथं के प्रतिपादक शब्द' को काव्य या साहित्य माना है।

वस्तुतः ये सब परिभाषाएँ विद्वानों के अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत हैं जिससे वे एकांगी एवं अपूर्ण सिद्ध होती हैं। उदाहरण के लिए भामह ने शब्द और अर्थ के मेल को साहित्य माना—पर शब्द और अर्थ का मेल तो प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में होता है क्योंकि निरर्थक शब्दों का उच्चारण या तो कोई अबोध शिशु करता है या प्रलाप करनेवाला पागल ! क्या साहित्येतर रचनाओं में शब्द और अर्थ का साहचर्य नहीं होगा! ऐसी स्थिति में केवल शब्दार्थ के साहचर्य को ही 'साहित्य' वताना उचित नहीं। हाँ, इससे एक विशेषता का पता अवश्य लगता है कि साहित्य में शब्द + अर्थ अर्थात् भाषा का प्रयोग होता है; विना भाषा के कोई भी साहित्य नहीं रचा जा सकता।

दंडी, वामन, राजशेखर, कुन्तक, मम्मट प्रभृति ने शब्दार्थ या भाषा के ग्रितिरक्त इष्ट ग्रर्थ, गुण, ग्रलंकार, मनोहर विन्यास, दोष-रहित ग्रादि विशेषताग्रों का परिगणन किया—सच पूछें तो ये सारी विशेषताएँ एक ही वात की सूचक हैं कि साहित्य में सौंदर्य या ग्राकर्षण होता है। गुण, ग्रलंकार, रीति ग्रादि सबका लक्ष्य साहित्य में सौंदर्य या ग्राकर्पण-शक्ति उत्पन्न करना है; इसी शक्ति के कारण साहित्य के शब्दार्थ इष्ट या प्रिय ग्रथवा रोचक प्रतीत होते हैं। सामान्य भाषा ग्रीर साहित्य के शब्दार्थ में यही ग्रन्तर है —सामान्य प्रयोगों में सर्वत्र ही ग्राकर्षण नहीं होता जबिक साहित्य में सर्वत्र ग्राकर्षण होता है। ग्रतः इन सारी विशेषताग्रों का समाहार एक शब्द में करते हुए कहा जा सकता है कि साहित्य में ग्राकर्षण होता है।

ग्राचार्य विश्वनाथ ग्रीर पंडितराज जगन्नाथ ने क्रमशः रसात्मकता ग्रीर रमणी-यता को साहित्य का ग्राघार माना है, पर प्रश्न है कि इन विशेषताग्रों का पता कैसे चले ? किसी भी रचना में रसात्मकता ग्रीर रमणीयता के ग्रस्तित्व का ज्ञान उसके ग्रास्वादन से ही हो सकता है—जिस रचना के ग्रास्वादन से रस या ग्रानन्द की ग्रनु-भूति होती है उसी में रसात्मकता ग्रीर रमणीयता स्वीकार की जाती है। ग्रस्तु, ग्रानंद की ग्रनुभूति साहित्य की तीसरी विशेषता है। साहित्य की इन तीनों ही विशेषताग्रों का समन्वय करते हुए 'साहित्य-विज्ञान' में साहित्य की सामान्य परिभाषा इस प्रकार निर्धा-रित की गयी है—''साहित्य भाषा के माच्यम से रचित वह सौन्दर्य या ग्राकर्षण से युक्त रचना है जिसकेट अर्थन स्वोस्वत्साला ग्राह्म हो। अस्ताल की ग्राह्म की ग्रनुभूति होती है।'' हमारे विचार से यह परिभाषा साहित्य की सामान्य परिभाषा के रूप में स्वीकार की जा सकती है।

पाश्चात्य दृष्टि

पारचात्य विद्वानों ने भी साहित्य की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनमें से कुछ यहाँ उल्लेखनीय हैं। म्राचार्य म्ररस्तू ने 'शब्दों के माघ्यम से प्रस्तुत म्रनुकृति को काव्य' या साहित्य की संज्ञा दी है। सिडनी के विचार से 'काव्य या साहित्य वह ग्रनु-करणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा और ग्रानन्द प्रदान करना है।' कालरिज के श्रनुसार 'काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य प्रसन्नता प्रदान करना होता है।' शेली के विचार से 'काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम हृदयों के श्रेष्ठतम क्षणों का लेखा-जोखा है। हडसन ने भाषा के माघ्यम से जीवन की ग्रिभि-व्यक्ति को काव्य माना है। इस प्रकार भ्रलग-भ्रलग विद्वानों ने भ्रलग-ग्रलग परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं जिनसे काव्य या साहित्य को समभना कठिन है। वस्तुतः ये परिभाषाएँ भ्रव्याप्ति या भ्रतिव्याप्ति दोष से युक्त है। इसके भ्रतिरिक्त इन्होंने काव्य या साहित्य क्या है, इसका उत्तर देने के स्थान पर काव्य भ्रौर कवि, काव्य भ्रौर पाठक, तथा काव्य भीर जीवन के सम्बन्ध को सूचित किया है जिससे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। वस्तुतः ये साहित्य के विभिन्न दृष्टिकोणों एवं पक्षों को तो सूचित करती हैं किन्तु इनमें से किसी को भी साहित्य की एक सर्वांगीण परिभाषा के रूप में स्वीकार करना कठिन है। ग्रस्तु, हमारे विचार से जो परिभाषा पीछे प्रस्तुत की जा चुकी है, वह इन सभी परिभाषात्रों की अपक्षा अधिक निर्दोष एवं व्यापक है। फिर भी साहित्य के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए केवल परिभाषा का निर्घारण ही पर्याप्त नहीं है, उसके विभिन्न लक्षणों एवं तत्त्वों का बोघ भी अपेक्षित है, अतः आगे इन्हीं की चर्चा की जायगी।

साहित्य के भेदक लक्षण

साहित्यिक और ग्रसाहित्यिक कृतियों के ग्रन्तर को स्पष्ट करने के लिए साहित्य के तीन भेदक लक्षण किए जा सकते हैं—(१) स्थायित्व (२) व्यक्तित्व का प्रतिफलन ग्रीर (३) रागात्मकता । साहित्य ग्रीर ग्रसाहित्य (दर्शन, विज्ञान ग्रादि) में सबसे पहला ग्रन्तर स्थायित्व का होता है । जहाँ विज्ञान के क्षेत्र में एक ही विषय पर एक पुस्तक के स्थान पर दूसरी पुस्तक ग्राने पर पहली का स्थान गौण हो जाता है या एक का स्थान दूसरी ग्रहण कर लेती है, पर साहित्य में ऐसा नहीं होता जिससे साहित्य की प्रत्येक कृति का महत्त्व स्थायी बना रहता है । साहित्य में इस स्थायित्व का मूल कारण यह है कि उसमें रचयिता के व्यक्तित्व का प्रभाव मिश्रित रहता है जिससे उसी विषय पर दूसरे व्यक्ति की रचना पहली रचना की स्थानापन्न नहीं हो पाती । उदाहरण के लिए भगवान् राम के चरित्र को लेकर तुलसी, केशव एवं मैथिलीशरण गुप्त—तीनों ने प्रवन्ध काव्य लिखे पर फिर भी तीनों का स्थान सुरक्षित है, क्योंकि उन सबमें उनके ग्रपने-ग्रपने रचयिताग्रों के व्यक्तित्व का प्रभाव ग्रंकित है, जबिक गणित, भूगोल, कानून ग्रादि साहित्येतर विषयों की क्री क्रीतियों की ग्रीसाठित है जबिक गणित, भूगोल, कानून ग्रादि साहित्येतर विषयों की क्री क्रीतियों की ग्राव ग्रंकित है अवकि गणित, भूगोल, कानून ग्रादि साहित्येतर विषयों की क्री क्रीतियों की ग्राव ग्रंकित है अवकि गणित, भूगोल, कानून

साहित्य : स्वरूप-विवेचन

ग्रस्तु, जहाँ विज्ञान सम्बन्धी रचनाग्रों में विषय-सापेक्ष तथ्यों का प्रतिपादन होता है जबकि साहित्यिक रचनायों में व्यक्ति-सापेक्ष भावनायों ग्रीर विचारों का — यही कारण है कि एक व्यक्ति की काव्य-रचना का महत्त्व उसी विषय पर लिखी गई दूसरे व्यक्ति की रचना के पश्चात भी ग्रक्षणण रहता है।

साहित्य का दूसरा लक्षण 'व्यक्तित्व का प्रतिफलन' है। व्यक्तित्व क्या है ? ग्राज-कल कुछ लोग गरीर की लम्बाई, चौड़ाई श्रीर बाह्य वेश-भूषा को ही व्यक्तित्व समभने की भल करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्यूल शारीरिक विशेषताएँ भी व्यक्तित्व के एक ग्रंग हैं किन्तु वे ही सब कुछ नहीं हैं। व्यापक दृष्टि से व्यक्तित्व के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के जीवन के प्रति दृष्टिकोण, उसकी विचार-धारा, उसका ज्ञानकोष, उसकी ग्रन्भतियाँ, उसका चरित्र, उसकी वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक स्थिति, उसकी रुचि ग्रौर उसके व्यवहार ग्रादि के समन्वित रूप को लिया जाता है। साहित्य पर रचियता के व्यक्तित्व के प्रभाव की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए हम दो उदाहरण ले सकते हैं। मान लीजिए, हम चार वैज्ञानिकों को गुलाव के फूल के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए प्रेरित करें और इसके पश्चात् उनके लेखों की परस्पर तुलना करें तो पता चलेगा कि चारों ने लगभग एक-जैसे ही तथ्यों का प्रतिपादन किया है। गुलाब के फल में कौन-कौन से तत्त्व हैं ? उसका विकास किस तरह होता है ? उसका रङ्ग-रूप ग्रीर उसकी ग्राकृति में क्या विशेषताएँ हैं ? इन सब प्रश्नों का उत्तर चारों वैज्ञानिक प्रायः एक-जैसा ही देंगे। किन्तु यदि चार किव इसी गुलाब के फूल के सम्बन्ध में किव-ताएँ लिखें तो चारों की रचनाओं में परस्पर म्राकाश-पाताल का भ्रन्तर होगा। एक, जो प्रणय-लोक का पथिक है, उस गुलाब के फूल में भ्रपनी प्रिया के रूप-वैभव का दर्शन कर सकता है। दूसरा श्रपने दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण उसी गुलाब के फूल की क्षणिक प्रफुल्लता के ग्राधार पर संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन कर सकता है। तीसरा किव जो यदि स्वभाव से मन-मौजी है तो गुलाब के फूल की ही भाँति मुस्कराते ग्रीर हँसते हए जीवन व्यतीत करने का सन्देश दे सकता है। चौथा कवि उसी गुलाब के फूल को गरीबों का खून चूसकर लाल होनेवाले पूँजीपितयों का प्रतीक बता सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक किव की रचना में उसकी विचारधारा, अनु-भूति म्रादि वैयक्तिक विशिष्टताभ्रों के कारण परस्पर गहरा मन्तर म्रा जाता है। इसी भ्रन्तर को व्यक्तित्व का प्रतिफलन कहते हैं जिसके कारण साहित्यिक रचनाएँ भ्रमर हो जाती हैं।

साहित्य का तीसरा प्रमुख लक्षण उसकी 'रागात्मकता' को बताया गया है। साहित्य में निर्जीव ग्रीर शुष्क तथ्यों का वर्णन नहीं होता, ग्रपितु भावनाग्रों ग्रीर ग्रनु-भृतियों का प्रकाशन होता है। जहाँ विज्ञान के तथ्य हमारे मस्तिष्क को ही प्रभावित करके रह जाते हैं, वहाँ साहित्य में चित्रित भावनाएँ हमारे हृदय को भी आन्दोलित करती हैं। श्रपनी भावोत्पादिनी क्षमता के कारण ही साहित्य 'साहित्य' की संज्ञा प्राप्त करता है।

CHISCA . LAGA-INAM

साहित्य के तत्त्व

साहित्य को सम्यक् रूप से समभने के लिए उसके लक्षणों के साथ-साथ उसके प्रमुख तत्त्वों की जानकारी भी अपिक्षत है। साहित्य के मुख्यतः चार तत्त्व निर्धारित किए गए हैं—(१) भाव, (२) कल्पना, (३) बुद्धि और (४) शैली। साहित्य का सर्व-प्रमुख तत्त्व 'भाव' ही है—यही उसकी आत्मा है। जैसा कि पीछे बताया गया है, साहित्य का सर्वप्रमुख लक्षण रागात्मकता है जिसके लिए भावों का चित्रण अपिक्षत है। स्थूल घटनाओं और विस्तृत इतिवृत्त के निरूपण की अपिक्षा साहित्य में सूच्म भावनाओं का अधिक महत्त्व है। दूसरे, साहित्य का लच्य पाठक की ज्ञान-वृद्धि करना नहीं, अपितु उसके हृदय को भावनाओं से आप्लावित कर देना होता है, इस लच्य की पूर्ति भावों के चित्रण के द्वारा सम्पन्न होती है।

हमारे प्राचीन श्राचार्यों ने साहित्य की इस आत्मा—भाव तत्त्व—को ग्राज से दो सहस्र वर्षों पूर्व ही पहचान लिया था। ग्रादि ग्राचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट रूप से साहित्य का लच्य भावानुभूति को घोषित करते हुए भावनाग्रों का वर्गीकरण ग्रौर विश्लेषण किया है। उन्होंने भावों के दो वर्ग किए हैं—संचारी ग्रौर स्थायी। ग्रागे चलकर भोजराज, ग्रिमनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ ग्रादि ग्राचार्यों ने भरत के भाव-सम्बन्धी विवेचन को ग्रौर ग्रागे बढ़ाया। कहना न होगा कि भारतीय ग्राचार्यों द्वारा किया गया भावों का विवेचन ग्राधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी ग्रत्यन्त संगत एवं शुद्ध है। ग्राधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी भाव की दो कोटियाँ हैं—(१) इमोशन (Emotion) ग्रौर (२) सेंटीमेंट (Sentiment)। इमोशन ग्रौर सेंटीमेंट क्रमशः संचारीभाव ग्रौर स्थायी-भाव से गहरा साम्य रखते हैं। भाव के सम्बन्ध में भारतीय ग्राचार्यों ने तीन ग्रंगों का विवेचन किया है—ग्रालम्बन, उद्दीपन ग्रौर ग्रनुभाव। ग्राधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी इन्हें स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हम ग्रपने प्रबन्ध 'साहित्य-विज्ञान' कर चुके हैं।

साहित्य का दूसरा तत्त्व कल्पना है। साहित्य में भावनाओं का चित्रण कल्पनाशक्ति के प्रयोग के द्वारा ही सम्पन्न होता है। एक साधारण-से-साधारण घटना को भी
किव कल्पना के रंग में रँगकर ऐसा भव्य रूप प्रदान कर देता है कि वह हमारे हृदय
को वलात् आकर्षित कर लेता है। उदाहरण के लिए हम एक समाचार-पत्र में पढ़ते हैं
कि जमंनी का एक जहाज डूब गया जिसमें चार सौ व्यक्ति सवार थे। इस समाचार को
पढ़कर हमारे मस्तिष्क में थोड़ी हलचल भले ही हो जाय, किन्तु उसका इतना गहरा
प्रभाव नहीं पड़ेगा कि हम शोक से अभिभूत होकर आँसू बहाने में लग जायें। किन्तु जब
किव इसी घटना को कल्पना के द्वारा चित्रित करके हमारे सामने प्रस्तुत करेगा तो चार
सौ व्यक्ति तो क्या एक व्यक्ति के भी डूबने की घटना हमारे हृदय में करणा की शत-शत
धाराएँ उद्देलित कर सकती है। वह हमें बतायेगा कि उस डूबनेवाले जहाज में कौन-कौन
व्यक्ति वैठे हुए थे, उनके हृदय में अपने प्रिय-जनों के मिलन की उत्कंठा किस प्रकार
उद्देलित हो रही थी; वे स्वदेश-श्रमन किण किम प्रकार किस प्रकार

साहित्य : स्वरूप-विवेचन

उनके घर पर उनकी ग्रसहाय वृद्धा माँ, या चिरवियोगिनी पत्नी, या दर्शनों की लालसा से विभोर छोटे-छोटे भोले वालक किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे थे, जब जहाज डूबने लगा तो उस पर बैठे हुए प्राणियों की क्या दशा हो गई थी—किस प्रकार क्षण-क्षण में पुरुष यात्रियों की चिन्ता, महिलाग्रों की चीख-पुकार ग्रौर वच्चों का करण-रोदन बढ़ता जा रहा था! जीवन के ग्रन्तिम क्षणों को सिंह की तरह ग्रागे बढ़ता देखकर उन गौ-तुल्य यात्रियों का हृदय किस प्रकार शोक-विह्वल होकर हाहाकार कर उठा था ग्रौर फिर उनके छूब जाने के समाचार को सुनकर चिर-प्रतीक्षा में लीन उनके प्रियजनों की क्या दशा हो गई थी—इन सबका चित्रण करता हुग्रा एक सच्चा किव इस छोटी-सी घटना का ऐसा वर्णन कर सकता है कि हमारा हृदय पिघलकर ग्रांसुग्रों की धारा में बहने लगे। वस्तुतः किव ग्रपनी कल्पना के बल पर दूसरों के दुःख-सुख ग्रौर दूसरों की ग्रनुभूतियों का चित्रण इस प्रकार कर देता है कि वह हमारा दुःख-सुख बन जाय। परोक्ष की घटना को वह प्रत्यक्ष रूप में, ग्रतीत की घटना को वर्तमान में ग्रौर सूचन भाव को स्थूल रूप में प्रस्तुत कर देता है। इसका श्रेय उसकी कल्पना-शक्ति को ही है।

काव्य में सौन्दर्य ग्रौर चमत्कार की सृष्टि भी कल्पना के द्वारा ही की जाती है। न जाने हमारे कितने कवियों ने नारी की सूच्म छवि के ग्रंकन में ग्रपनी ग्रद्भुत कल्पना का परिचय दिया है। सुन्दरियों के सामान्य रूप-वैभव को उन्होंने चन्द्र की ज्योत्स्ना, दामिनी की चमक, रजनी की शीतलता, श्रोस की तरलता, पुष्प की प्रफुल्लता आदि से समन्वित करके ग्रलौकिकता प्रदान कर दी है। यही नहीं, संसार के ग्रसंख्य निर्जीव पदार्थों ग्रीर प्रकृति के ग्रगणित चेतनाविहीन रूपों को भी कवि की कल्पना ने सजीवता श्रौर चेतना प्रदान कर दी है। घरती की गोद में कल-कल प्रवाहिनी सरिता को कालि-दास की कल्पना ने एक ऐसी मद-विह्वला रमणी का रूप प्रदान कर दिया जिसके अगाध जल रूपी नितम्बों से लहरों के रूप में उद्देलित वस्त्र वार-बार खिसका जा रहा था! नदी की चंचल तरंगों को उसने कामिनी के उन चंचल कटाक्षों का रूप प्रदान कर दिया जो वह ग्रपने किसी प्रिय की ग्रोर निक्षेप कर रही हो ! ग्रमरुशतक के रचयिता ने युवती-वालाओं के द्वारा किए गए अपमान को मीठी घूँट में ही स्वर्ग के अमृत की कल्पना करके ग्रपने हृदयागार को तृप्त कर लिया ! भर्तृ हरि की कल्पना नारी के उरोज-द्वय में एक ऐसी दुर्गम घाटी की रचना कर लेती है, जहाँ स्मररूपी तस्कर विराजमान है ग्रौर जो मनरूपी पथिकों का सर्वस्व लूट लेता है ! मैथिल कवि विद्यापित चंदन-चर्चित पयो-धरों में ग्रपने इष्टदेव शिव की कल्पना करके ही कृत-कृत्य हो जाते हैं ! प्रेम-पन्थ के परिचायक पद्मावतकार की कल्पना-रानी तो निर्जीव तोपों को भी मद-विह्वल गज-गामि-नियों का रूप प्रदान करके उन्हें युवकों का प्राण ले-लेनेवाली शक्ति से युक्त कर देती है ! ग्रौर ग्रागे चलकर केशव, बिहारी, पद्माकर, भारतेन्दु, प्रसाद, पंत ग्रौर महादेवी की कल्पना जो चमत्कार दिखाती है उसका तो कहना ही क्या ! वस्तुतः प्रत्येक युग ग्रौर प्रत्येक भाषा का साहित्य कल्पना-शक्ति की अपूर्व क्षमता, अद्भुत वैभव और अलौकिक चमत्कार की कहानियों से भरा पड़ा है। वेदान्तवादियों के यहाँ जो स्थान 'माया' का है वही साहित्य में 'कल्पनि^{टिक्}श है, अप्रम्लर केंक्स ट्यूक्स ही है विमाः उसकी माया सत् को

श्रसत् में, सूच्म को स्थूल में श्रौर श्रलौिकक को लौिकक में परिवर्तित कर देती है जब कि साहित्यकार की कल्पना श्रसत् को सत् में, स्थूल को सूच्म में तथा लौिकक को श्रलौिकक में परिवर्तित कर देने की विशेष शक्ति से भी विभूषित हैं!!

साहित्य-जगत् का सम्राट् 'भाव' ग्रौर 'कल्पना' उसकी दासी है। किन्तु कभी-कभी जब कल्पना भाव से भी ग्रागे बढ़कर ग्रपनी शक्ति का प्रदर्शन स्वतंत्र रूप में करने लगती है तो साहित्य का वैभव नष्ट हो जाता है। भाव-शून्य कल्पना साहित्य को कोरा चमत्कार बना देती है। बिहारी जैसे किब जब इस तथ्य को भूलकर कल्पना का ग्रत्यधिक ग्राश्रय ग्रहण करने लगते हैं तो वहाँ काव्यात्मकता नष्ट हो जाती है। ग्रतः साहित्य में कल्पना का उपयोग भावनाग्रों के चित्रण ग्रौर विकास के लिए ही होना चाहिए, ग्रन्यथा वह महत्त्वहीन हो जाती है।

साहित्य का तीसरा तत्त्व बुद्धि है। बुद्धि का सम्बन्ध तथ्यों, विचारों ग्रौर सिद्धान्तों से है। साहित्य में किसी-न-किसी मात्रा में तथ्यों, विचारों ग्रौर सिद्धान्तों का भी समावेश किया जाता है। इनके ग्रमाव में कोरी भावनाग्रों का स्पन्दन दुःखी की चीत्कार वन जायगा तथा बुद्धिशून्य कोरी कल्पना में ग्रौर पागल के प्रलाप में कोई ग्रंतर शेष नहीं रह जायगा। ग्रन्ततः साहित्य में वस्तुग्रों ग्रौर घटनाग्रों का चित्रण उनके उचित रूप में ही किया जाता है। कथा-वस्तु की सूच्म रेखाग्रों के निर्माण के लिए, घटनाग्रों की श्रृङ्खला को मिलाने के लिए ग्रौर कार्य के ग्रमुरूप फल दिखाने के लिए प्रत्येक प्रबन्धकार, कहानीकार ग्रौर उपन्यासकार को बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है। इसके ग्रतिरिक्त भावनाग्रों की सुदृढ़ इंटों को वह विचारों के गारे से जोड़कर काव्यभवन का निर्माण करता है। ग्रतः न्यूनाधिक मात्रा में साहित्य में बुद्धितत्त्व भी सर्वत्र विद्यमान रहता है।

कुछ साहित्यकार तो निजी विचारों एवं सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से ही साहित्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं, ग्रतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्य में विचारों को कहाँ तक स्थान देना चाहिए। हमारे विचार से विचारों या सिद्धान्तों ग्रादि का ग्रिमधा शैली में वर्णन न होकर उनकी सूच्म रूप में व्यंजना होनी चाहिए। 'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्दजी कहीं भी यह नहीं लिखते कि दहेज-प्रथा या वृद्ध-विवाह बुरा है, किन्तु उस उपन्यास के पढ़ने से ये विचार स्वतः ही पाठक के हृदय में उत्पन्न हो जाते हैं। विचारों का चित्रण उसी सीमा तक होना चाहिए, जहाँ तक वे रचना के भाव-सौन्दर्य में वाधक न हों। साहित्य की ग्रात्मा या उसका प्राण भाव है, ग्रतः उसे किसी भी स्थित में ठेस नहीं लगनी चाहिए। भाव-शून्य विचारों का वर्णन साहित्य की संज्ञा से वंचित करके उसे दर्शन, नीति-शास्त्र या उपदेश-ग्रन्थ का रूप दे देता है।

ग्रब साहित्य के चौथे तत्त्व 'शैली' को लीजिए। किव या साहित्यकार जिस भाषा, जिस रूप ग्रीर जिस ढंग से श्रपने भावों, विचारों या इतिवृत्त को व्यक्त करता है, वही शैली है। शैली के श्रन्तर्गत भाषा, शब्द-चयन, श्रलंकारों का प्रयोग, छन्दों का उपयोग, काव्य-रूप ग्राहि का उससुरक्षेश्व किस्सा किस्ति। कावराई । शिकाव्य के प्रारम्भिक तीन तत्त्व यदि उसके प्राण हैं तो शैली उसका शरीर है। जैसे विना शरीर के प्राण नहीं टिक सकते, वैसे ही विना भाषा ग्रादि के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। हाँ, इतना ग्रवश्य है कि यदि साहित्य का भाव-पक्ष उत्कृष्ट हो तो साधारण या दोष-पूर्ण शैली से भी काम चल सकता है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट साहित्य वह है जिसका भाव-पक्ष ग्रौर शैली-पक्ष (या कला-पक्ष) दोनों प्रौढ़ हों। किन्तु जब कविगण किव केशव की भाँति शैली को ही सजाने में इतने ग्रधिक लीन हो जाते हैं कि वे भाव-पक्ष को सर्वथा भुला वैठते हैं तो काव्यत्व का हनन हो जाता है। हमारे कुछ ग्राचार्यों—जैसे वामन, कुन्तक, भामह ग्रादि—ने भी शैलीगत गुणों को ही काव्य की ग्रात्मा सिद्ध करने का ग्रसफल प्रयत्न किया था। फिर भी उनके द्वारा शैली सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुणों की व्याख्या ग्रत्यन्त सूक्ष्म रूप में हुई है, जिसका महत्त्व कम नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली का सम्बन्ध किव के व्यक्तित्व से माना है।

इस प्रकार साहित्य के प्रमुख लक्षणों एवं उनके तत्त्वों की व्याख्या के ग्रनन्तर हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार ईश्वर के ग्रनेक रूप एवं ग्रनेक नाम हैं, उसी प्रकार साहित्य भी नाना रूपों ग्रौर नाना संज्ञाग्रों से विभूषित है। उपर्युक्त लक्षणों ग्रौर तत्त्वों का ज्ञान भी साहित्य के स्वरूप को ग्रांशिक रूप में ही समभने में सहायता देता है; उसकी ग्रात्मा का तो पूर्ण साक्षात्कार तभी सम्भव है जबिक हमारे हृदय में भावनाग्रों ग्रौर ग्रनुभूतियों का प्रकाश हो, हमारे मस्तिष्क में गंभीर ग्रध्ययन की ज्योति हो ग्रौर हमारे व्यक्तित्व में साधना का बल हो। ग्रस्तु, साहित्य क्या है ग्रौर कैसा है—इसका उत्तर ग्रौर ग्रधिक विस्तार से देने की ग्रपेक्षा हम उसका प्रत्यक्ष ग्रनुभव प्राप्त करने का परामर्श देते हुए कबीर के उन शब्दों का प्रयोग करेंगे, जो उन्होंने ईश्वर के सम्बन्ध में प्रयुक्त किए थे—

"पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान! कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्यां हो परमान।"

: दो :

साहित्य ऋौर व्यक्तित्व

- १. साहित्य ग्रौर व्यक्तित्व का पारस्परिक सम्बन्ध ।
- २. साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण ।
- ३. साहित्य में व्यक्तित्व कः प्रतिफलन ।
- ४. व्यक्तिवादी ग्रान्दोलन ग्रौर साहित्य।
- ५. साहित्य में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ।
- ६. उपसंहार।

साहित्य का उसके रचियता के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है—इस तथ्य को प्रायः स्वीकार किया जाता है, फिर भी इन दोनों के सम्बन्ध को ग्रीर ग्रधिक स्पष्ट करने के लिए हमें सर्वप्रथम 'व्यक्तित्व' का ग्रर्थ निश्चित कर लेना चाहिए। 'व्यक्तित्व' सामान्य ग्रर्थ में 'व्यक्ति' का भाववाचक रूप है, ग्रतः यह व्यक्ति से सम्बन्धित सभी विशेषताग्रों एवं गुण-दोषों के लिए प्रयुक्त होता है। साहित्य के क्षेत्र में यह ग्रांग्ल 'पसंनैत्टी' (Personality) के पर्याय के रूप में प्रचलित है। ग्रंग्रजी के 'पसंनैत्टी' शब्द की व्यत्पत्ति लैटिन के 'पर्सोना' (Persona) से मानी जाती है जिसका मूल ग्रर्थ था—नाटक में लगाये जानेवाले नकली चेहरे, पर ग्रागे चलकर इसका प्रयोग मूल पात्रों या ग्रनुकार्यों के ग्रर्थ में होने लग गया। ग्राधुनिक युग में 'पर्सनैत्टी' के ग्रन्तर्गत व्यक्ति की शारीरिक विशेषताग्रों से लेकर उसकी वेश-भूषा तक की सभी प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है, किन्तु साहित्य में साहित्यकार के शारीरिक रूप-रंग या उसकी वेश-भूषा का स्थान नगण्य होता है, ग्रतः हमें यह देखना है कि साहित्य के संदर्भ में व्यक्तित्व से क्या ग्राशय है ?

इस प्रसंग में ग्राधुनिक मनोविज्ञान से भी सहायता ली जा सकती है। मनोविज्ञान के ग्राचार्यों ने व्यक्तित्व की परिभाषा एवं विवेचना ग्रपने-ग्रपने ढंग से की है
जिससे कोई एक सामान्य निष्कर्ष उपलब्ध नहीं होता। यथा—ग्राचार्य मैक्डूगल ने
'व्यक्तित्व' की परिभाषा करते हुए लिखा है—'व्यक्ति की समस्त मानसिक शक्तियों एवं
प्रवृत्तियों की पारस्परिक घनिष्ठ क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों की समन्वित इकाई व्यक्तित्व है'
तो ग्राग्डन महोदय के विचार से 'व्यक्तित्व व्यक्ति के ग्रान्तिरक जीवन का प्रकाशन है।'
इसी प्रकार कैटल ने 'विशेष परिस्थित में व्यक्ति के विशेष व्यवहार' को तथा कार्न
ने व्यक्ति की समस्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाग्रों को व्यक्तित्व माना है। इस प्रकार इन
विद्वानों ने क्रमशः मानसिक शक्तियों एवं प्रवृत्तियों, ग्रान्तिरक जीवन, बाह्य व्यवहार
एवं विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-ग्रिक क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रक्ति क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों अप्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों प्रवालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों प्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्रों प्रकालक्षता क्रिया-प्रिक्ति क्रिया-प्रतिक्रियाग्री प्रकालक्षता क्रिया-प्रतिक्रियाग्री क्रियान क्रियान क्रियान क्रिया क्रियान क्रिया क्रिया क्रियान क्रिया क्रियान क्रिया क्रिया क्रियान क्रिया क्रिया क्रिया क्रियान क्रिया क्

को अपिक्षाकृत व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए व्यक्ति की समस्त जन्मजात शारीरिक प्रकृतियों, प्रेरणाओं, आवश्यकताओं, मूल प्रवृत्तियों, अनुभव-जन्य विकसित मानसिक दशाओं एवं प्रवृत्तियों के कुल योग को व्यक्तित्व माना है। इन मनोवैज्ञानिकों ने अंततः व्यक्ति की समस्त मानसिक प्रवृत्तियों को व्यक्तित्व के अन्तर्गत ले लिया है, किन्तु इससे शारीरिक पक्ष सर्वथा उपेक्षित हो गया है। हमारे विचार में व्यक्तित्व के अन्तर्गत व्यक्ति की सभी विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों का समावेश करते हुए उसे चार पक्षों के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है—१. शारीरिक पक्ष, २. वौद्धिक पक्ष, ३. भावात्मक पक्ष और ४. चारित्रिक एवं व्यावहारिक पक्ष। साहित्य का सम्बन्ध वैसे तो इन सभी पक्षों से न्यूनाधिक मात्रा में होता है, किन्तु वौद्धिक एवं भावात्मक पक्ष से विशेष रूप में होता है क्योंकि साहित्य के माव्यम से व्यक्ति अपनी वौद्धिक वृत्तियों एवं भावात्मक प्रवृत्तियों —जीवन-दृष्टि, विचार-धारा, भावनाओं, अनुभूतियों आदि—की अभिव्यक्ति करता है। अतः साहित्य के क्षेत्र में साहित्यकार के वौद्धिक एवं भावात्मक पक्षों के अध्ययन पर ही अधिक वल दिया जाता है।

साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण

सामान्य व्यक्तियों की भाँति साहित्यकार के व्यक्तित्व का भी निर्माण एकाएक नहीं होता, अपितु वह अनेक तत्त्वों के आधार पर क्रमशः विकसित होता है। इन तत्त्वों में से तीन तत्त्व प्रमुख हैं -वंश-परम्परा, वातावरण (परिस्थितियाँ) ग्रौर द्वन्द्व । किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व मूलतः उसकी वंश-परम्परा—उसके माता-पिता एवं उनके पूर्वजों के व्यक्तित्व का मिश्रित ग्रंश होता है, ग्रतः उसके रक्त के प्रत्येक कण में ग्रौर उसके मिस्तष्क के प्रत्येक अणु में किसी न किसी मात्रा में उसके पूर्वजों का प्रभाव सदा विद्य-मान रहता है, किन्तु इस प्रभाव की मात्रा वातावरण या परिस्थितियों के अनुसार सदा घटती-बढ़ती रहती है। व्यक्ति को जैसा पारिवारिक, सामाजिक, प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय वातावरण तथा तत्सम्बन्धी परिस्थितियों का सम्पर्क प्राप्त होता है, उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व ढल जाता है; पर इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि वह वंश-परम्परा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाता है। वस्तुतः वंश-परम्परा से प्राप्त तत्त्व वातावरण के अनुसार नया रूप ग्रहण करते हुए भी मूलतः वे अपरिवर्तित रहते हैं। जैसे, एक पीतल के टुकड़े को श्राप थाली, लोटा, गिलास, चम्मच श्रादि में से चाहे जो रूप दे दें, फिर भी पीतल पीतल ही रहता है, उसी प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व भी ग्रान्तरिक रूप में परम्परा के शाश्वत तत्त्वों से अनुस्यूत रहता है, बाह्यरूप से भले ही उसमें कितना अन्तर क्यों न भ्रा जाय। परम्परा भ्रौर वातावरण के भ्रतिरिक्त तीसरा तत्त्व द्वन्द्व है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण व विकास में योग देता है। व्यक्ति को जैसी परिस्थितियों से द्वन्द्व करना पड़ता है, उसी के अनुरूप उसका व्यक्तित्व अपनी दिशा या मार्ग खोज लेता है। अस्तु, व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी पूर्व परम्परा, उसके वातावरण एवं उसके मानसिक एवं बाह्य द्वन्द्व की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम होता है तथा यह बात साहित्य-कारों पर भी सर्वांश में लागू होती है के प्रेसी स्थिति में साहित्य में भी साहित्यकार के व्यक्तित्व की ग्रभिव्यंजना का ग्रर्थ है, उसकी पूर्व परम्पराग्रों, वातावरण एवं द्वन्द्व की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति । साहित्य के प्रसंग में 'परम्परा' शब्द का अर्थ और अधिक व्यापक रूप में लेते हुए इसके भ्रन्तर्गत न केवल साहित्यकार की पूर्व वंश-परम्परा को, ग्रपितु उसे प्रभावित करनेवाली पूर्ववर्ती सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराग्रों को भी समाविष्ट किया जा सकता है।

साहित्य में व्यक्तित्व का प्रतिफलन

साहित्य के चार तत्त्व माने जाते हैं — विचार, भाव, कल्पना ग्रौर शैली। साहित्यकार का व्यक्तित्व इन चारों ही तत्त्वों के अन्तर्गत किसी न किसी रूप में विद्य-मान रहता है। सबसे पूर्व विचार को लीजिए-साहित्यकार जिस सामग्री से अपनी रचना का स्थूल ढाँचा ग्रौर उसकी विषय-वस्तु का संगठन करता है, वह बहुत कुछ उसके ऐतिहासिक, भौगोलिक, पौराणिक या सामान्य ज्ञान पर ग्राश्रित होती है जिसे हम विचार का एक रूप मान सकते हैं। इसके अनन्तर वह विभिन्न घटनाओं के आयो-जन व विभिन्न पात्रों के चित्रण एवं उनके वार्तालाप के रूप में जिस दृष्टि एवं सामग्री का उपयोग करता है, वह भी उसके बौद्धिक पक्ष से सम्बद्ध होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में वह अपनी जीवन-दृष्टि सामाजिक विचार-धारा, राजनीतिक मान्यता, दार्शनिक या धार्मिक ग्रास्था-ग्रनास्था की भी ग्रिभिव्यक्ति यत्र-तत्र करता है तथा कहीं किसी विचार-धारा का समर्थन एवं कहीं किसी का खंडन करता है। इन सबके पीछे उसके व्यक्तित्व का बौद्धिक पक्ष-उसका ग्रपना दृष्टिकोण, ज्ञान, ग्रनुभव एवं चिन्तन ही छिपा रहता है तथा इस प्रकार साहित्य के समस्त वौद्धिक तत्त्व रच-यिता के बौद्धिक पक्ष की श्रमिव्यक्ति के सूचक सिद्ध होते हैं।

साहित्यकार चाहे किसी भी पात्र की भावनाग्रों एवं ग्रनुभूतियों का चित्रण एवं ग्रमिन्यंजन करे, उनमें भी उसके निजी व्यक्तित्व की छाप विद्यमान रहती है। इतना ही नहीं, वह जिन भावनाग्रों को ग्रपने साहित्य में प्रमुखता देता है, वे वस्तुतः उसके व्यक्तित्व एवं जीवन की ही प्रमुख भावनाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए तुलसीदास के साहित्य में भक्ति की भावना का, विहारी के काव्य में प्रणय भावना का, मैथिलीशरण के काव्य में राष्ट्रीयता की भावना का ग्रथवा नये कवियों में निराशा की प्रवृत्ति का प्रमुख होना इस वात का परिचायक है कि इनके व्यक्तित्व में इन्हीं की प्रमुखता है। एक ही भावना को श्रनेक किव व्यक्त करते हैं, पर फिर भी उसमें उनके व्यक्तित्व के भेद के अनुसार अन्तर रहता है। जायसी, विहारी, प्रसाद म्रादि कवियों ने प्रणय-भावना का श्रंकन श्रपने-श्रपने काव्य में किया है, फिर भी इन सबमें प्रणय का स्वरूप एक जैसा नहीं मिलता; जायसी के प्रेम में ग्रौदात्य ग्रधिक है, बिहारी में कामुकता एवं रसिकता की सघनता है तो प्रसाद में भावना की कोमलता श्रीर स्निग्घता ग्रिधिक है। श्रस्तु, किव की भावाभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या श्रप्रत्यक्ष में उसके व्यक्तित्व के भावात्मक पक्ष-उसकी सहज प्रवृत्तियों, मनोवृत्तियों, भावनाग्रों, भ्रनुभूतियों भ्रादि के समन्वित रूप का प्रतिनिधित्व करती है; यह दूसरी बात है कि कई बार उसकी ध्रमिव्यक्ति में स्वानुभूतियों के स्थान पर श्रारोपित या दूसरों से उधार ली हुई श्रनुभूतियाँ भी व्यक्त हो जाती हैं, पर उस

स्थिति में भी इससे उसकी वैयक्तिक रुचि एवं प्रवृत्ति की दिशा का न्यूनाधिक परिचय ग्रवश्य प्राप्त होता है।

विचार और भाव की ही भाँति कल्पना का भी साहित्यकार के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह ठीक है कि कल्पना का तथ्यों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, अतः उसका किव के व्यक्तित्व से भी घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता, पर फिर भी सभी व्यक्ति समान परिस्थितियों में एक जैसी कल्पनाएँ नहीं करते। इसका कारण यह है कि कल्पनाएँ व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति, उसके अनुभवों एवं मानसिक विम्बों तथा उसकी भावी आकांक्षाओं पर निर्भर होती हैं, अतः व्यक्तियों की कल्पनाओं में पारस्परिक अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। अस्तु, साहित्यिक वृत्तियों में प्रयुक्त कल्पना अप्रत्यक्ष रूप में कृतिकार की ही मूल प्रवृत्तियों, अनुभवों एवं उसकी आकांक्षाओं की द्योतक होती है।

साहित्य के चौथे तत्त्व शैली के साथ तो व्यक्तित्व का ग्रीर भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। पश्चिम में तो श्रनेक विद्वानों ने साहित्यकार की शैली को ही उसका व्यक्तित्व घोषित किया है। गेटे के विचार से लेखक की शैली उसके मस्तिष्क की सच्ची अनुकृति है, तो चेस्टरफील्ड ने शैली को उसके विचारों की पोशाक माना है। वफन महोदय ने शैली को उसकी प्रकृति का ग्रंग वताया है, तो मिडल्टन मरी महोदय ने उसे लेखक के भावात्मक दृष्टिकोण पर ग्राधारित स्वीकार किया है। इधर वीसवीं शती के कुछ चिन्तकों ने शैली भीर व्यक्तित्व के सम्वन्ध को ग्रौर ग्रधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रसिद्ध मनो-विश्लेपक जुंग ने व्यक्तित्व के मुख्यतः दो भेद किए हैं --- ग्रन्तर्मुखी एवं वहिर्मुखी । इनके भी चार-चार ग्रवान्तर भेद ग्रौर किए गए हैं-- १. चिन्तन प्रधान, २. ग्रनुभूति प्रधान, ३. संवेदना प्रधान ग्रौर ४. सहजानुभूति प्रधान । इस प्रकार व्यक्तित्व के कुल ग्राठ भेद हो जाते हैं जिनके स्राधार पर स्रंग्रेजी विद्वान हरवर्ट रीड ने स्रपने ग्रन्थ 'इंगलिश-प्रोज-स्टायल' में साहित्य के रूपों ग्रौर शैली के भेदों को ग्राठ वर्गों में विभक्त करते हुए स्पष्ट किया है कि किस प्रकार साहित्य के रूप-विधान एवं शैलीगत गुणों में साहित्यकार का व्यक्तित्व अनुस्यूत रहता है। इसी प्रकार एफ० एल० ल्यूकस ने भी अपने शैली-विषयक ग्रन्थ 'स्टायल' में प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति का जैसा व्यक्तित्व, स्वभाव, चरित्र एवं व्यवहार होगा, वैसा ही रूप उसकी शैली का होगा। जो व्यक्ति ग्रशिष्ट एवं चिड्चिड़े होते हैं, उनकी शैली में भी वैसा ही रूखापन या चिड़चिड़ापन होगा जबिक सहृदय, उदार, निष्कपट एवं विनोदी स्वभाव के व्यक्तियों की शैली में सरलता, स्पष्टता एवं रोचकता होगी । वस्तुतः शैली के विभिन्न गुण-दोष तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ मूलतः साहित्यकार के व्यक्तित्व के ही विभिन्न पक्षों को सूचित करती हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। इतना अवश्य है कि कई बार हम व्यक्ति के बाह्य रूप को जैसा देखते हैं, वैसा ही उसका ग्रान्तरिक रूप नहीं होता—यथा, बाहर से वह सरल ग्रौर उदार दिखाई देता हुआ भी भीतर से कुटिल एवं स्वार्थी हो सकता है—ऐसी स्थिति में साहित्य को उसके बाह्य व्यक्तित्व की अपेक्षा भ्रान्तरिक व्यक्तित्व से सम्बद्ध मानना उचित होगा। सच तो यह है कि व्यक्ति का ग्रान्तरिक व्यक्तित्व लोक-व्यवहार की ग्रपेक्षा उसकी साहित्यिक रचनाग्रों में भी श्रिष्टिक स्पष्टता से व्यक्त होता है; श्रतः साहित्य में व्यक्त व्यक्तित्व को ही

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. ज्यक्ति के वास्तिवक रूप का प्रतिनिधि मानना ग्रधिक संगत होगा। हो सकता है, कोई साहित्यकार जान-बूक्तकर ग्रपने वास्तिवक व्यक्तित्व को छिपाता हुग्रा ग्रपनी रचना में काल्पिनक व्यक्तित्व की ग्रिमिक्यक्ति का प्रयास करे, किन्तु उस स्थिति में उसका साहित्य ग्रात्मानुभूति से शून्य तथा काल्पिनकता एवं कृतिमता के भार से युक्त हो जायगा। ऐसे साहित्य को सच्चे साहित्य के ग्रन्तगंत स्थान नहीं दिया जा सकता, ग्रतः यह बात प्रत्येक रचना पर लागू होती है कि यदि वह सचमुच में साहित्यक है तो उसमें रचियता के व्यक्तित्व की भी प्रत्यक्ष या ग्रप्रत्यक्ष रूप में ग्रिमिक्यिक ग्रवश्य होगी। इस प्रकार साहित्य ग्रीर साहित्यकार के व्यक्तित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना सिद्ध होती है।

व्यक्तिवादी ग्रान्दोलन ग्रौर साहित्य

साहित्य के प्रारम्भिक विवेचकों ने प्रायः साहित्यकार के व्यक्तित्व की उपेक्षा की है। प्लेटो ग्रीर ग्ररस्तू ने कला ग्रीर साहित्य को प्रकृति या भौतिक जगत् की ग्रनुकृति मानते हुए कलाकार एवं साहित्यकार के व्यक्तित्व को गौण कर दिया था। पर पाश्चात्य ग्रालोचना के क्षेत्र में कदाचित् लोंजाइनस पहले चिन्तक थे जिन्होंने साहित्य के पीछे साहित्यकार के व्यक्तित्व को देखने का प्रयास किया; वे साहित्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व या गुण ग्रीदात्य (Sublime) को तथा ग्रीदात्य का मूल स्रोत साहित्यकार के व्यक्तित्व को मानते थे। उनके शब्दों में—''साहित्यकार के ग्रात्मतत्त्व की महानता का प्रतिविम्त्र ही साहित्य का ग्रीदात्य है। सच्चा वाग्वैदग्ध्य उन्हीं में पाया जा सकता है, जिनकी चेतना व्यापक ग्रीर उदार हो। जो लोग जीवन-भर क्षुद्र उद्देश्यों ग्रीर संकीर्ण स्वार्थों के पीछे पड़े रहते हैं, वे मानवता के लिए स्थायी महत्त्व की रचना नहीं दे पाते। यह विल्कुल स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क महान् विचारों से परिपूर्ण होते हैं, उन्हों की वाणी से उदात्त शब्द भंकृत होते हैं।'' इस प्रकार लोंजाइनस ने साहित्यकार के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों से उसकी रचना का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए व्यक्तिपरक विचार-धारा का प्रवर्त्तन किया, किन्तु साथ ही उन्होंने वस्तु का भी महत्त्व न्यून नहीं किया।

लोंजाइनस के उपर्युक्त मत के वावजूद प्राचीन एवं मध्य युगों में साहित्यकार के व्यक्तित्व को अपेक्षित महत्त्व प्राप्त न हो सका। इसका मूल कारण यह है कि इन युगों में जन-साधारण की अपेक्षा देवी-देवताओं एवं राजा-महाराजाओं को, सामान्य जीवन वृत्त एवं स्वाभाविक घटनाओं की अपेक्षा अलौकिक एवं आश्चर्यजनक वृत्तान्त को और व्यक्ति के व्यक्तित्व की अपेक्षा सामाजिक जीवन को अधिक महत्त्व प्राप्त था। ऐसी स्थित में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का अविकसित रह जाना स्वाभाविक था।

ग्राघुनिक युग में प्रजातंत्रीय विचारों के उदय के साथ-साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना का विकास हुग्रा। सत्रहवीं-ग्रठारहवीं शती के ग्रनेक राजनीतिक चिन्तकों ने प्रजातंत्रीय विचारों का प्रतिपादन किया जिनमें माण्टेस्क्यू (१६८६-१७५५), वाल्टेयर (१६८४-१७७८), रूसो (१७१२-१७७८) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने सिद्ध किया कि प्रत्येक व्यक्ति समान है, राजा ग्रौर प्रजा के व्यक्तित्व में मूलतः कोई श्रन्तर नहीं है; यह धारणा गलत है कि राजा किसी दैवी शक्ति या विशेष प्राकृतिक ग्रिधिकार से सम्पन्न होता है; स्वतंत्रता एवं समानता प्रत्येक व्यक्ति का जन्म
CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

सिंख अधिकार है। इन विचारों के प्रचार के फल-स्वरूप इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रान्स आदि देशों में अनेक राजनीतिक क्रान्तियाँ हुई जिनसे प्रजातंत्रीय शासन-पढ़ितयों की स्थापना हुई। आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्तियाँ एवं पूंजीवाद के विकास ने भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को आगे बढ़ाने में योग दिया। मनोविज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में भी व्यक्तिवादी विचार-धाराओं की स्थापना हुई। फ्रायड, एडलर, जुंग प्रभृति मनोविश्लेषकों ने मानसिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध व्यक्ति की दिमत वासनाओं, कुण्ठाओं, हीन-भावना आदि से स्थापित करते हुए अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्तिवाद का पोषण किया। दर्शन के क्षेत्र में अस्तित्ववाद व्यक्तिवाद के चरम रूप को प्रस्तुत करता है। वह समाज एवं राष्ट्र के सभी परम्परागत नियमों एवं पूर्व-धारणाओं तथा सिद्धान्तों को व्यक्ति के लिए अनावश्यक एवं आरोपित मानता है। व्यक्ति का अस्तित्व प्रमुख है, उसकी व्याख्या करनेवाले सभी सिद्धान्त एवं नियम गौण हैं—अस्तित्ववाद की इस धारणा ने व्यक्तिवाद को एक अतिवाद की चरम सीमा तक पहुँचा दिया है, जहाँ वह सभी सामाजिक मर्यादाओं, नैतिक मूल्यों एवं राष्ट्रीय परम्पराओं से विरक्त होकर उच्छु ह्लुल विलासिता एवं सीमित अहं में केन्द्रित हो जाता है। यह स्थिति सचमुच ही व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है।

उपर्युक्त राजनीतिक, ग्राथिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों का कला ग्रौर साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा है। कला के क्षेत्र में प्रारम्भ में स्वच्छन्दतावाद एवं ग्रभि-व्यंजनावाद की प्रतिष्ठा हुई जिन्होंने कला ग्रौर साहित्य के क्षेत्र में किसी इतर महापुरुष की गाथाग्रों के वर्णन की ग्रपेक्षा वैयक्तिक ग्रनुभूतियों की सहज व्यंजना को श्रेयस्कर घोषित किया। जहाँ इससे पूर्व किव या कलाकार किसी सामाजिक स्थिति का चित्रण समाज की दृष्टि से करता था, वहाँ ग्रव वह ग्रपनी दृष्टि से समाज की व्याख्या प्रस्तुत करने लगा। वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी काव्य चाहे ग्रंग्रेजी का हो या हिन्दी का—वह मूलतः व्यक्ति की भावनाग्रों को वैयक्तिक शैली में व्यक्त करता है। वस्तु की दृष्टि से वह व्यक्तिवाद है तो शैली की दृष्टि से ग्रभिव्यक्तिवाद।

स्वच्छन्दतावादी काव्य में व्यक्तिवाद ग्रपने स्वस्थ एवं संतुलित रूप में ही है, ग्रतः उसकी वात समाज की समक्ष में श्राती है; उसकी ग्रनूभूतियों एवं प्रवृत्तियों के साथ सामाजिक सहानुभूति भी स्थापित हो जाती है; यही कारण है कि उसका साधारणीकरण हो जाता है। पर ग्रागे चलकर उन्नीसवीं शती के प्रतीकवादियों एवं बीसवीं शती के विम्ववादियों, दादावादियों एवं ग्रतियथार्थवादी (Surrealist) कलाकारों ने व्यक्तिवाद को उसकी चरम ग्रधोगित तक पहुँचा दिया जहाँ व्यक्ति-स्वातंत्र्य उच्छू ङ्खलता का पर्याय वन गया है। इनकी कथ्य वस्तु ग्रस्वाभाविक एवं ग्रशोभनीय होती है तो कथन-शैली ग्रस्पष्ट एवं विचित्र। ग्रतः इन ग्रान्दोलनों के उन्नायकों ने सिद्ध कर दिया कि कोई वस्तु ग्रपने ग्रतिवादी रूप में विकृत हो जाती है—व्यक्तिवाद भी ग्राज ग्रपने विकृत रूप में दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त सारी चर्चा पाश्चात्य कला ग्रीर साहित्य को ध्यान में रखकर ही की गयी है। इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य की चर्चा ग्रलग से करना ग्रनावश्यक है। हिन्दी का साहित्यकार ग्रव पाश्चास्य कलाकार की स्वीक्ष्य प्रवासिक एवं मानिक विन गया है—जिस

प्रकार वहाँ क्रमशः स्वच्छन्दतावाद के बाद प्रतीक एवं बिम्बों के प्रयोग को लेकर प्रयोग-वाद एवं नयी कविता (New verse) का आविर्भाव हुआ है, लगभग उसी प्रकार हिन्दी में छायावाद के बाद प्रयोगवाद, नयी कविता आदि का आगमन हुआ है फलतः पाश्चात्य साहित्य की सभी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का अंधानुसरण स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में देखा जा सकता है। सन् १६४७ में हमने राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त कर ली, किन्तु आर्थिक एवं मानसिक दृष्टि से अब भी हम पश्चिम के दास हैं। इसी का परिणाम है कि आज हमारे साहित्य में जो कुछ लिखा जा रहा है, उसमें शब्द हमारे हैं, किन्तु उनकी आत्मा विदेशी है—कदाचित् इसीलिए उनका अर्थ समभना कई बार कठिन हो जाता है।

हम नहीं कहते कि हमें पश्चिम से कुछ नहीं ग्रहण करना चाहिए या हमें कूप-मण्डूक बना रहना चाहिए। ग्रवश्य ही हमें खुले मस्तिष्क से सभी बातों को सोच-समभ-कर ग्रहण करना चाहिए; पर ग्रनुसरण करना ग्रौर ग्रहण करना दो ग्रलग-ग्रलग बातें हैं। दुर्भाग्य से हमारे ग्रधिकांश तथाकथित 'नये साहित्यकार' 'ग्रहण' एवं 'ग्रनुसरण' के ग्रन्तर को नहीं समभ पा रहे हैं। क्या नदी को तैरकर उस पार पहुँचना ग्रौर नदी में वहकर ग्रागे बढ़ना एक ही बात है ? वस्तुतः यही ग्रन्तर 'ग्रहण' ग्रौर 'ग्रनुसरण' में है।

श्रस्तु, हमारे विचार में साहित्य में व्यक्तित्व का स्थान उसी सीमा तक है जहाँ तक वह रचना के समाजीकरण भ्रथवा साधारणीकरण में बाधक सिद्ध नहीं होता क्योंकि साहित्य का मूल लक्ष्य व्यक्ति की धारणाग्रों, ग्रनुभूतियों एवं कल्पनाग्रों का समाजीकरण (साघारणीकरण) करना होता है। जहाँ साहित्यकार की वैयक्तिकता उसकी अनुभूतियों के समाजीकरण में वाधक सिद्ध होती है, वहाँ वह गुण के स्थान पर दोष वन जाती है। हलुए में बादाम उसके गुण व स्वाद की अभिवृद्धि के लिए डाले जाते हैं, किन्तु यदि वे खानेवाले के गले में भ्रटकने लग जायँ तो बेकार हैं, इसीलिए उन्हें काटकर डाला जाता है। सच्चा साहित्यकार भी श्रपनी वैयक्तिकता को पिघलाकर उसे समाजीकृत रूप में ही प्रस्तुत करता है, ग्रन्यथा उसमें ग्रौर सामान्य वक्ता में कोई ग्रन्तर न रहेगा । वैयक्तिकता न्यूनाधिक मात्रा में सभी के पास है, पर उसे समाजीकृत सभी नहीं कर पाते—सामान्य व्यक्ति ग्रौर साहित्यकार में यही ग्रन्तर है। भारतीय ग्राचार्यों ने साधारणीकरण एवं पाश्चात्य विद्वानों ने संप्रेषण की चर्चा करते हुए इसी समाजी-करण या निर्वेयक्तीकरण की ग्रोर संकेत किया है। वस्तुतः साहित्यकार काव्य के माध्यम से वैयक्तिकता को समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा निर्वेयक्तिकता में परिणत करता है—इसीलिए उसका शोक केवल अपना शोक नहीं रह जाता, अपितु वह सारे समाज का शोक करण रस बन जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि वैयक्तिकता यदि साहित्य की ग्राघार-वस्तु है तो निर्वेयक्तिकता उसका लक्ष्य है। वैयक्तिकता को निर्वेय-क्तिकता में परिणत करना ही कला है, काव्य है थ्रौर जादू है जो सबको मुग्ध कर लेता है। इस तथ्य को घ्यान में रखते हुए साहित्य में व्यक्तित्व को एक सीमित एवं संतुलित रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए; व्यक्तित्व की ग्रिभिव्यंजना के नाम पर थोथे ग्रात्म-प्रदर्शन, खिछले ग्रहं, मिथ्या ग्रिभमान एवं निजी कंठाग्रों को ग्रसाधारणी-कृत रूप में प्रस्तुत करना हिस्सा की वासूला प्रकृति । प्रवृद्धि के प्रतिकृत है, अतः इससे बचना होगा।

: तोन :

साहित्य की त्र्रात्मा

- १. परंपरागत मत-
 - (क) रस सिद्धान्त (ख) अलंकार (ग) रीति (घ) ध्वनि (ङ) वक्रोक्ति
 - (च) ग्रीचित्य।
- २. 'सौन्दर्य' क्या है ?
- ३. ग्राकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त ।
- ४. ग्राकर्षण-शक्ति का वैज्ञानिक ग्राधार।
- ५. साहित्य की ग्राकर्षण-शक्ति।
- ६. उपसंहार।

साहित्य का वह ग्राधारभूत तत्त्व या गुण कौन-सा है जिसके कारण साहित्य 'साहित्य' कहलाता है या जिसके ग्रभाव में किसी भी रचना को 'साहित्य' नहीं कहा जा सकता ? यह प्रश्न साहित्य-चर्चा के ग्रादिकाल से लेकर ग्राज तक विभिन्न शब्दों में प्रस्तुत किया जा चुका है। प्राचीन भारतीय ग्राचार्यों ने इसी प्रश्न को 'काव्य की ग्रात्मा' के रूप में उठाते हुए उस मूल तत्त्व के ग्रनुसंधान का प्रयत्न किया, जो प्रत्येक साहित्यिक रचना के लिए ग्रनिवार्य है। इस सम्बन्ध में विभिन्न ग्राचार्य किसी एक सर्वसम्मत निर्णय पर नहीं पहुँच सके, ग्रापतु वे ग्रलग-ग्रलग निष्कर्षों पर पहुँचे जिनके ग्राधार पर भारतीय काव्य-शास्त्र में छह संप्रदायों या वादों की स्थापना हुई—१. रस, २. ग्रलंकार, ३. रीति, ४. ब्विन, ६. वक्रोक्ति, ग्रौर ६. ग्रौचित्य। इनमें से हम किस मत को ग्रहण करें—इसका निर्णय करने के लिए प्रत्येक पर ग्रलग-ग्रलग विचार किए जाने की ग्रपेक्षा है।

१. रस सिद्धान्त—इससे पूर्व की काव्यात्मा के रूप में रस के ग्रौचित्य पर विचार किया जाय, यह समभ लेना ग्रावश्यक है कि 'रस' क्या है। ग्राचार्य भरत मुनि के ग्रनुसार साहित्यिक रचनाग्रों में प्रस्तुत या व्यक्त स्थायी भाव का ग्रास्वाद ही रस है। परवर्ती ग्राचार्यों ने भी प्रायः काव्य के ग्रास्वाद को रस माना है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसे ग्रानन्द या काव्यानन्द का भी पर्यायवाची बताया गया है। पर यह ग्रास्वाद या ग्रानन्द विशुद्ध काव्यगत तत्त्व न होकर काव्य ग्रौर पाठक के संपर्क का परिणाम सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में ग्रास्वाद या ग्रानन्द की प्रक्रिया पाठक के मन में संपादित होती है, ग्रतः ग्रानन्दतत्त्व को काव्य का परिणाम या फल तो माना जा

१. इस लेख में हुमते 'क्राइस्स्र' काइस्र' काइस्र' के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया है।

सकता है, किन्तु स्वयं काव्य की ग्रात्मा नहीं। काव्य की ग्रात्मा का निवास काव्य में ही होना चाहिए जब कि रस का उद्वोधन पाठक के हृदय में होता है। इस सम्बन्ध में डा॰ नगेन्द्र ने भी विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए निष्कर्ष रूप में कहा—'रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की ग्रात्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं, वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है।' ऐसी स्थिति में इसको काव्य की ग्रात्मा न मानकर उसका परिणाम या फल ही मानना ग्रधिक उचित होगा।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि रस-सिद्धान्त के ग्रनुसार काव्य का वह तत्त्व कौन-सा है जिसके कारण पाठक को रस या ग्रानन्द की ग्रनुभूति होती है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि स्थायी भाव ही वह प्रमुख तत्त्व है जिसे रस का मूलाधार माना गया है। पर स्थायी भाव ग्रपने-ग्रापमें रसानुभूति में समर्थ नहीं है। एक तो काव्य में उसका प्रस्तुतीकरण प्रत्यक्ष में न होकर ग्रप्रत्यक्ष में होता है, क्योंकि स्थायी भावों का नामोल्लेख काव्य का दोष माना जाता है। वस्तुतः स्थायी भाव के नामोल्लेख के स्थान पर उसकी व्यंजना अपेक्षित है। पर स्थायी भाव की व्यंजना ही रसानुभूति के लिए पर्याप्त नहीं है। लौकिक जीवन एवं लोक-व्यवहार में भी स्थायी भाव की व्यंजना रात-दिन देखी जाती है--एक वृद्धा को अपने युवा पुत्र की मृत्यु पर शोक की व्यंजना करने या किसी भयानक दृश्य के उपस्थित हो जाने पर जनता को भयभीत होते देखा जाता है-किन्तु वहाँ तो रस या ग्रानन्द की ग्रनुभूति नहीं होती । ग्रतः स्थायी भाव की व्यंजना को ही रस का मूलाधार मानना कठिन है। फिर भी यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो यहाँ एक विवाद ग्रीर उपस्थित होगा—स्थायी भाव को ग्रात्मा माना जाय या व्यंजना को ? ध्वनि-वादी कहेगा कि महत्त्व स्थायी भाव का नहीं, व्यंजना या व्विन का है ? सच पूछा जाय तो काव्य में स्थायी भाव की तो प्रत्यक्ष सत्ता रहती ही नहीं जबकि व्यंजना का व्यापार प्रत्यक्ष होता है, अतः स्थायी भाव की अपेक्षा व्यंजना का ही महत्त्व अधिक सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में व्यंजना को ही काव्य की ग्रात्मा क्यों न मान लिया जाय ? ध्वनि-वादियों ने व्यंजना को ही घ्वनि के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसे काव्य की ग्रात्मा घोषित किया है-- अतः इस प्रश्न पर आगे ध्विन के प्रसंग में विचार किया जायगा; यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रस काव्यगत ग्रात्मा का कार्य परिणाम या उसकी देन है, वह स्वयं काव्यात्मा के पद का ग्रधिकारी नहीं है।

२. श्रलंकार-संप्रदाय—श्रलंकार-संप्रदाय के ग्राचार्यों के ग्रानुसार ग्रलंकार ही काव्य की ग्रात्मा है। प्रश्न उठता है—स्वयं 'ग्रलंकार' क्या है ? इसके उत्तर में ग्राचार्य दंडी ने कहा है—'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' ग्रर्थात् 'काव्य के शोभाकराक धर्म ग्रलंकार' कहे जाते हैं। भामह, उद्भट्, वामन, रुद्रट ग्रादि ने भी ग्रलंकार को चारुत्व, सौन्दर्य या शोभा का हेतु या साधक माना है। ग्रतः कहना चाहिए कि ग्रलंकार वह तत्त्व है जिससे काव्य में शोभा, चारुत्व या सौन्दर्य का संचार होता है। ऐसी स्थित में चारुत्व या सौन्दर्य को ही काव्य की ग्रात्मा क्यों न माना जाय ? सौंदर्य साध्य है, ग्रलंकार साधन ग्रतः काव्य में सौन्दर्य की ग्रात्मा ग्रलंकार की सत्ता गौण ही सिद्ध होती है। कुछ ग्रीचिया क्षेत्र का सीद्यमलंकारः कहते हुए सौन्दर्य या ग्रलंकार को

एक दूसरे का पर्यायवाची भी घोषित किया है, किन्तु यह ठीक नहीं है। एक तो प्रत्येक ग्रलंकार सौन्दर्य का कारण सिद्ध नहीं होता। कई वार ग्रलंकारों का प्रयोग सौन्दर्य के स्थान पर ग्रसौन्दर्य का भी कारण सिद्ध होता है, जैसा कि केशव की 'रामचन्द्रिका' में कई स्थलों पर हुग्रा है। दूसरे, ग्रलंकार को ही सौन्दर्य मान लेने पर सहज सौन्दर्य की सत्ता लुप्त हो जाती है। तीसरे, सौन्दर्य केवल ग्रलंकार से ही नहीं, वक्रोक्ति, व्विन ग्रादि ग्रन्य साधनों से भी सम्भव है। ग्रतः ग्रलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची मान लेना भाषा के साथ वलात्कार होगा। ग्रस्तु, ग्रलंकारवादियों की मान्यताग्रों का सारांश यही है कि ग्रलंकारों से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है तथा यह सौन्दर्य हो पाठक को ग्राह्माद की ग्रनुभूति प्रदान करता है—जिसे रसवादियों के ग्रनुसार रसानुभूति भी कहा जा सकता है। इस निष्कर्प के ग्रनुसार ग्रलंकार काव्य के साधन, सौन्दर्य काव्य की ग्रात्मा तथा ग्राह्माद या रस काव्य का फल सिद्ध होता है जिसे तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

काव्य के साधन काव्य की आत्मा काव्य का फल ग्रलंकार → सौन्दर्य → रस

३. रीति-संप्रदाय—इस संप्रदाय के अनुसार 'रीति' ही काव्य की आत्मा है। विशेष प्रकार की पद-रचना को ही रीति (विशिष्ट पद-रचना रीतिः) वताया गया है। वह 'विशेष' क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है— 'विशेषी गुणात्मा' श्रर्थात् गुणों से युक्त होना ही विशेषता है। दूसरे शब्दों में गुणों से युक्त रचना-पद्धति रीति है। गुणों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ग्राचार्य वामन ने कहा है—''काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" ग्रर्थात् काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले धर्म ही गुण हैं। ऐसी स्थिति में गुण काव्यगत शोभा या सीन्दर्य के साधन मात्र सिद्ध होते हैं जिन्हें साव्य से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। यहाँ भी वही स्थिति है जो कि ग्रलंकार के क्षेत्र में थी। ग्रलंकार-वादियों ने ग्रलंकार को काव्य-सौन्दर्य का कारण माना है जब कि रीतिवादियों ने गुणों— माधुर्य, प्रसाद, ग्रोज ग्रादि-को। पर यह विवाद ग्रनावश्यक है; सौन्दर्य पर न तो ग्रलंकारों का ही एकाधिकार स्वीकार किया जा सकता है ग्रीर न ही गुणों का। ग्रलंकार एवं गुणों के ग्रतिरिक्त भी ग्रनेक ऐसे तत्त्व हो सकते हैं जो कि सौन्दर्य-सृष्टि में सहायक हो सकें। फिर यदि ग्रलंकार गुणों के स्थान पर किसी तीसरे प्रकार के साधन से भी सौन्दर्य की सृष्टि हो जाती है तो उसे भी तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। ग्रतः इस विश्लेपण के ग्रनुसार काव्य की ग्रात्मा के रूप में तो सौन्दर्य को ही स्वीकार करना होगा-ग्रलंकार एवं रीति तो उसके विभिन्न साधनों में से कुछ हैं।

४. ध्वित-सम्प्रदाय—ध्वित-सिद्धान्त की भी स्थिति अलंकार और रीति से भिन्न नहीं हैं। ध्वितवादियों ने एक भ्रोर तो व्यंजना को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए व्यंग्यार्थ को काव्य का ग्रनिवार्य तत्त्व माना है, पर दूसरी भ्रोर व्यंग्यार्थ के साथ सौन्दर्य की भी शर्त लगाई है। जिस व्यंग्यार्थ से चारुत्व या सौन्दर्य का प्रकाशन होता है उसी को ध्वित के ग्रन्तर्गत स्थान दिया गया है। 'ध्वित' की परिभाषा करते हुए 'ध्वन्यालोक' में कहा गया है—''जो चारुत्व भ्रन्य उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसी को प्रकाशित करनेवाला व्यंजना-व्यापार-यक्त शब्द (वाक्य) ही ध्वित कहलाता है।'' यहाँ

स्पष्ट ही चारुत के प्रकाशन एवं व्यंजना-व्यापार—दोनों को व्विन के ग्राधारभूत तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है, जिनमें से प्रथम साव्य है तथा द्वितीय उसका साधन। ग्रतः हम 'चारुत्व' या सौन्दर्य को ही काव्य की ग्रात्मा क्यों न मानें ? ग्रागे चलकर ग्रन्य प्रसंगों में भी 'व्वन्यालोक' के रचियता ने काव्य के विभिन्न साधनों एवं ग्रंगों को चारुत्व एवं सौन्दर्य के हेतु के रूप में उल्लिखित किया है। ग्रतः व्विन-सिद्धान्त भी सौन्दर्य को ही काव्य का सर्वोपरि तत्त्व स्वीकार करता हुग्रा ग्रग्रत्यक्ष रूप में उसे काव्य की ग्रात्मा मान लेता है।

४. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय—म्याचार्य कुन्तक ने वक्रता या वैचित्र्य से युक्त उक्ति को ही 'वक्रोक्ति' के रूप में स्वीकार करते हुए उसे काव्य की ग्रात्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। पर साथ ही वक्रता या वैचित्र्य की व्याख्या करते समय उन्हें काव्य-सौन्दर्य (कवि-कर्म-कौशलजन्य शोभा या चारुता) के पर्यायवाची के रूप में भी उल्लिखित किया । वस्तुतः कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्रता, वैचित्र्य, चारुत्व एवं सौन्दर्य का उल्लेख एक दूसरे के पर्याय के रूप में किया है। वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के प्रसंग में भी वक्रता के विभिन्न प्रकारों का लक्ष्य सौन्दर्य का प्रस्फुटन ही माना है। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप में सुन्दर ग्रर्थ को ही काव्य का सर्वस्व मानते हुए कहा है—'काव्य में वही ग्रर्थ ग्रर्थ कहा जाता है जो ग्रपने स्वभाव से ही सुन्दर ग्रौर सहृदयों को ग्रानन्द देनेवाला हो।' यदि वक्रोक्ति के स्थान पर कोई सहजोक्ति या स्वभावोक्ति भी सौन्दर्य-युक्त हो तो कुन्तक उसे काव्यत्व से युक्त मानने में कोई संकोच नहीं करते। ग्रतः कहना चाहिए कि वक्रोक्ति भी अन्ततः काव्य-सौन्दर्य के विभिन्न अङ्गों में से एक अङ्ग है; उसकी वक्रता सौन्दर्य-सृष्टि का ही एक प्रकार है। ग्राचार्य कुन्तक वक्रता को ग्रपने-ग्रापमें सौन्दर्य मानते हैं, किन्तु हम उसे सौन्दर्योत्पत्ति के अनेक साधनों में से एक साधन मात्र मान सकते हैं, क्योंकि वक्रता सर्वत्र ही सौन्दर्य में परिणत नहीं होती। इस प्रकार वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार भी काव्य की आत्मा के रूप में सौन्दर्य को स्वीकृति देते हुए वक्रोक्ति को उसका एक ग्रङ्ग माना जा सकता है।

६. ग्रीचित्य-सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ग्राचार्य क्षेमेन्द्र ने विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य का प्रयास करते हुए ग्रीचित्य सिद्धान्त की स्थापना की । उन्होंने ग्रलङ्कार, रीति, गुण ग्रादि विभिन्न तत्त्वों के उचित प्रयोग—ग्रीचित्य—को ही काव्य की ग्रात्मा सिद्ध किया, किन्तु यह उनके ही कथन से प्रमाणित हो जाता है कि ग्रीचित्य ग्रपने-ग्रापमें साध्य नहीं है, ग्रपितु वह भी काव्य-सौन्दर्य का साधन है । यहाँ उनके कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

''ग्रलङ्कार तभी शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं जब कि उनका विन्यास उचित स्थान पर हो।''

"ग्रौचित्य के विना न ग्रलङ्कार रुचिरता देते हैं न गुण।"

''प्रतिपाद्य ग्रर्थ के ग्रनुरूप ग्रलङ्कार का प्रयोग हो तो इस श्रीचित्य से काव्य-भारती इस प्रकार शोभित होती है, जैसे पीन स्तनों पर पड़े हार से सुन्दरी।''

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि ग्रन्ततः ग्रीचित्य काव्यगत शोभा, रुचिरता या सौन्दर्य का ही संयोजक तत्त्व है। पर केवला ग्रीहिट्या है। दे केवला ग्रीहिट्या है। दे केवला ग्रीहिट्या है। दे के ग्रभाव में

कोई उक्ति काव्यात्मक नहीं हो जाती; जैसे—'राम दशरथ के पुत्र थे' या 'दो ग्रीर दो चार होते हैं' में पूरा ग्रीचित्य है, किन्तु ये काव्यात्मक नहीं हैं। ग्रतः काव्य का प्रमुख तत्त्व तो सौन्दर्य ही है, ग्रीचित्य उसके ग्रनेक सहायकों में से एक है।

इस प्रकार विभिन्न भारतीय मतों के निरीक्षण-परीक्षण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग्रलंकार, गुण (रीति), व्विन, वक्रोक्ति, ग्रौचित्य ग्रादि काव्य में सौन्दर्यो-त्पित्त के विभिन्न साधन एवं उपादान हैं—काव्य की ग्रात्मा के रूप में इन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। काव्य की ग्रात्मा सौन्दर्य है जिसे भारतीय ग्राचार्यों ने शोभा, रुचिरता, चारुत्व, ग्रादि पर्यायवाचियों के माध्यम से स्वीकृति प्रदान की है। रस इसी काव्य-सौन्दर्य की ग्रनुभूति है, जिसे ग्राधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र की शब्दावली में 'Aesthetic Experience' या 'सौन्दर्यानुभूति' कहा जा सकता है। संक्षेप में—

काव्य के विभिन्न साधन

काव्य की ग्रात्मा

काव्य का फल

श्रलंकार, गुण (रीति), व्विन, सौन्दर्य रस या वक्रोक्ति, श्रौचित्य ग्रादि → (शोभा, चारुता, रुचिरता) → सौन्दर्यानुभूति

'सौन्दर्यं' क्या है ?--उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि विभिन्न भारतीय मत ग्रप्रत्यक्ष रूप में सौन्दर्य को ही काव्य की ग्रात्मा स्वीकार करते हैं, किन्तु इससे एक नया प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सौन्दर्य क्या है ? पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के म्राचार्यों ने भी न केवल काव्य, ग्रपितु सभी ललित कलाग्रों के प्रमुख तत्त्व के रूप में सौन्दर्य को मान्यता प्रदान की है, किन्तु सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में वे भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये हैं। फिर भी यदि सौन्दर्य सम्बन्धी विभिन्न मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जाय तो एक वात स्पष्ट है कि सौन्दर्य किसी भी वस्तु का वह गुण है, जो हमें ग्राकर्षित करता है। विभिन्न वस्तुग्रों के ग्राकर्षण व विकर्षण की क्षमता को ही व्यावहारिक क्षेत्र में सौन्दर्य एवं ग्रसौन्दर्य का नाम दिया जाता है। 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग भी हम ग्रिभिघात्मक एवं लक्षणात्मक—संकीर्ण एवं व्यापक—ग्रथों में करते हैं। ग्रपने ग्रभिधात्मक या संकीर्ण ग्रर्थ में सौन्दर्य का सम्बन्ध किसी भी वस्तु के वाह्य ग्राकार, रूप एवं रंग ग्रादि ऐसे स्थूल गुणों से है जिनका बोध केवल चक्षुग्रों के माध्यम से ही किया जा सकता है। जिस प्रकार सुगन्ध एवं दुर्गन्ध का म्रनुभव केवल घ्राणेन्द्रिय से ही किया जा सकता है, उसी प्रकार सुन्दर एवं ग्रसुन्दर का निर्णय चक्षु-रिन्द्रिय से किया जा सकता है। इस प्रकार ग्रिभिधात्मक ग्रर्थ में सौन्दर्य वस्तु के उस गुण का नाम है, जो हमारी चक्षुरिन्द्रिय को ग्राकिंत करता है। नेत्रों के इसी ग्राक-र्षण को किवयों ने वार-वार सौन्दर्य-लोलुपता कहा है। लाक्षणिक या व्यापक ग्रर्थ में 'सौन्दर्य का सम्बन्ध वस्तुग्रों के केवल बाह्य रूप-रंग से ही नहीं है, ग्रपितु उसकी उन सूक्ष्म विशेषतास्रों से भी है जिनका स्रनुभव चक्षुरिन्द्रिय की सहायता के बिना भी किया जा सकता है। यथा—'वह बहुत सुन्दर गाती है!' गीत की मधुरता का सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से है, चक्षुग्रों से नहीं, फिर भी यहाँ 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है। काव्य-कला के क्षेत्र में भी सौन्दर्य का प्रयोग प्रायः लाक्षणिक रूप में होता है क्योंकि काव्यगत वस्तुग्रों को हम प्रत्यक्ष न देखकर कल्पना के माध्यम से ही देखते हैं। इस प्रकार व्यापक अर्थ में सौन्दर्य, ग्राकर्षण-शक्ति का ही दूसरा नाम है। किसी भी वस्तु, पढार्थ, व्यक्ति का वाह्य रूप-रंग, स्थूल चेष्टाएँ, या उनकी कोई भी आन्तरिक विशेषता जो हमारी इन्द्रियों को, मन को या बुद्धि को आकर्षित कर ले—वह सौन्दर्य है। ग्रस्तु, सौन्दर्य-ग्रार्काषत करने की क्षमता या ग्राकर्षण-शक्ति।

श्राकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त—उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि साहित्य की म्रात्मा या मूल शक्ति सौन्दर्य या म्राकर्षण-शक्ति है। वस्तुतः साहित्य के प्रसंग में सौन्दर्य का प्रयोग अभिधात्मक अर्थ में न होकर लाक्षणिक अर्थ में ही होता है, श्रतः अपने विवेचन को श्रधिक स्पष्ट, एवं प्रामाणिक वनाने के लिए 'सौन्दर्य' के स्थान पर 'म्राकर्षण' का प्रयोग म्रधिक संगत है। समय समय पर भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यकार एवं ग्रालोचक साहित्य-चर्चा के प्रसंग में 'ग्राकर्षण' एवं 'ग्राकर्षण-शक्ति' का उल्लेख भी प्रायः करते रहे हैं जिससे उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। भारतीय स्थानार्यों में भामह, दंडी, रूय्यक, रामचंद्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरवास, डा० गुलाबराय, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, सुमित्रानन्दन पंत, प्रभृति ने तथा पाश्चात्य लेखकों में लोंजाइनस, होरेस, विविध्तियस, रिविध्तियस, रिविध्तियस, विविध्तियस, रिविध्तियस, रिविधिक, रिवि

१. 'शब्द-रचना को चतुराई जितनी 'चित्ताकर्षक' होती है उतनी प्रयस्किंगर

नहीं।" (भामह)।

२. ''....विषय-वस्तु को रूप-संपत्ति का गुण-सौन्दर्य सहृदय काव्य-रसिकों के चित्त को 'ग्राकृष्ट' कर लेता है।" (दंडी)

३. ' वाक्य का श्रर्थभूत व्यंग्य हो काव्य का जीवन है, यही पत्त सहृदय पुरुषों

का 'श्राकर्षण' है।'' (रुय्यक)

४. ''इनकी उक्तियों में विरोध श्रीर श्रसम्भव का चमत्कार लोगों को बहुत 'म्राकर्षित' करता था।'' (रामचन्द्र शुक्ल)

५. 'अलंकार का प्रयोजन ग्रंग विशेष को ग्रविक 'ग्राकर्षक' बना देता है...।''

(डाक्टर श्यामसुन्दरदास)

६. ''कबीर के प्रति रवीन्द्रनाथ के 'ग्राकर्षण' के कई कारण थे...।'' (डा० गुलाबराय)

७. ''....प्रसाद के नाटकों के 'श्राकर्षक' तत्त्व हैं।'' (श्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी)

प्त. ''....काव्य में घटना हमको निश्चय ही 'श्राक्रुव्ट' करती है।....किन्तु इस 'ग्राकर्षण' का रहस्य घटना की क्रिया-प्रतिक्रिया में न होकर उसमें निहित मानव-तत्त्व एवं भाव में होता है।" (डा० नगेन्द्र)

 ...कविता की भाषा का प्राग राग है। 'राग' का अर्थ है 'श्राकर्षण': यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिचकर हम शब्दों की म्रात्मा तक पहुँचते हैं।"

(सुमित्रानन्दन पंत)

१०. ''पाठक कुछ तो घटनाश्रों के चयन से 'श्राकित' होता है श्रौर कुछ उनके पारस्परिक संघटन-कौशल से।" (लोंजाइनस)

११. "कविताओं का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं, वे 'श्राकषंक' भी होनी चाहिए—उनमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच ले।"

(होरेस) १२. "प्रायः विषय-वस्तु 'ग्राकर्षणहोन' ग्रौर विकर्षक होती है, किन्तु लेखक उसे श्रपनी चारुता का स्पर्श प्रदान करता है।" (दिमित्रियस)

१३. ''अलंकारों की सबसे बड़ी शक्ति स्रिभभाषण को 'स्राकर्षण' युक्त बना देना है।" (क्विण्टिलियन)

पोप, कालरिज, मैथ्यू श्रानंल्ड, वाल्टरपेटर ग्रादि ने साहित्य-विवेचन के प्रसंग में श्राकर्षणशक्ति का उल्लेख करते हुए इसके श्रस्तित्व को मान्यता प्रदान की है, पर यह विचित्र
वात है कि ग्रव तक किसी ने न तो इस काव्य-गत ग्राकर्षण-शक्ति के रहस्य को ही
उद्घाटित करने का प्रयास किया ग्रीर न ही 'ग्राकर्षण-शक्ति' जैसा कोई सिद्धान्त स्थापित
किया। विना किसी पूर्व-प्रचलित सिद्धान्त के ही ग्राकर्षण-शक्ति की चर्चा होना इस वात
का प्रमाण है कि यह एक सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक तत्त्व है जिसे विना किसी प्रचार
के मान्यता प्राप्त है। पर साहित्य की मूल शक्ति को ग्रीर ग्राधिक स्पष्टता एवं गंभीरता
से समभने के लिए ग्राधुनिक ज्ञान-विज्ञान के ग्राधार पर इसे एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त का
रूप दिया जा सकता है। वस्तुतः 'साहित्य-विज्ञान' में प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने ऐसा
ही करने का प्रयास किया है—यहाँ उसी के ग्राधार पर संक्षेप में इस सिद्धान्त का परिचय दिया जाता है।

श्राकर्षण-शक्ति का वैज्ञानिक श्राधार-ग्रव तक साहित्य के जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गयी थी, वे मूलतः दार्शनिक दृष्टिकोण पर श्राधारित थे, क्योंकि प्राचीन युग में दर्शन को ही प्रमाण माना जाता था, किन्तु ग्राघुनिक युग विज्ञान का है, श्रतः इस युग में किसी भी सिद्धान्त को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उसे दर्शन के स्थान पर विज्ञान के ग्राधार पर प्रतिष्ठित किए जाने की ग्रावश्यकता है। ग्राकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त भी ग्राधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों पर ग्राधारित है। भौतिक विज्ञान के ग्रनुसार ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थी में दो ग्राधारभूत तत्त्वों का ग्रस्तित्व है-द्रव्य (Matter) ग्रौर शक्ति (Energy)। ये दोनों तत्त्व भी मूलतः एक हैं क्योंकि समस्त द्रव्य का रूपान्तरण शक्ति में तथा शक्ति का रूपान्तरण द्रव्य में होता रहता है। ग्रस्तु, मूलतत्त्व शक्ति ही है। यह शक्ति ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त है तथा समय-समय पर विभिन्न तत्त्वों, एवं पदार्थों के रूप में श्रपना रूपान्तरण करती रहती है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त समस्त शक्ति को न तो घटाया जा सकता है, न बढ़ाया जा सकता है ग्रौर न ही उसे नष्ट किया जा सकता है-अतः वह अनन्त, अक्षय और अमर है। पर इस शक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं-एक सिक्रिय ग्रौर दूसरी निष्क्रिय। इसी को हम 'जागृत' एवं 'सुषुप्त' रूप कह सकते हैं। जब भी शक्ति जागृत एवं सक्रिय होती है तो वह एक साथ दो रूपों में कार्य करती है-श्राकर्षण एवं विकर्षण । एक दिशा का विकर्षण ही दूसरी दिशा में श्राकर्षण है, श्रतः संक्षेप में शक्ति के सभी सिक्रय रूपों को ग्राकर्षण-शक्ति भी कह दिया जाय तो भ्रनुचित न होगा।

ब्रह्माण्ड में व्याप्त यह ग्राकर्षण-शक्ति ग्रलग-ग्रलग क्षेत्रों, स्तरों, व माध्यमों में ग्रलग-ग्रलग रूपों में कार्य करती है जिससे इस एक शक्ति को ग्रनेक नाम दिये जाते हैं—यथा—गुरुत्वाकर्षण-शक्ति, चुम्बक-शक्ति, विद्युत्-शक्ति, ग्राणिवक शक्ति, यौनाकर्षण-शक्ति, मानसिक शक्ति ग्रादि । क्षेत्र ग्रौर माध्यम का ग्रन्तर होते हुए भी ये सभी शक्तियाँ मूलतः एक हैं, इस तथ्य को ग्राधिनक विज्ञान ने स्वीकार किया है क्योंकि एक रूप का परिवर्तन दूसरे रूप में होना संभव है । दूसरे, ये सभी शक्तियाँ ग्राकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती हैं तथा इनकी ग्रनेक प्रवृत्तियाँ समान हैं । हमने भौतिक विज्ञान, CC-0. Jangamwadi Math Collection. Varanasi.

रसायन-विज्ञान, जीव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के श्राधार पर शक्ति के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक भ्रष्ययन करने के बाद भ्राकर्षण-शक्ति की भ्राठ ऐसी प्रवृत्तियों का अनुसंघान किया है जो शक्ति के प्रायः सभी रूपों में प्रत्यक्ष-ग्रप्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होती हैं। वे ये हैं—(१) शक्ति सदा म्राकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती है। (२) शक्ति का संगठन त्रिगुणात्मक तत्त्वों के रूप में होता है जिन्हें धनात्मक (Positive), ऋणात्मक (Negative) एवं उभयात्मक (Neutral) तत्त्वों की संज्ञा दी जा सकती है। (३) शक्ति के धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्त्वों में परस्पर श्राकर्षण रहता है जविक स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है। (४) शक्ति की दो श्रवस्थाएँ होती हैं-जागृत एवं सुषुप्त । जागृत अवस्था में शक्ति कार्य करती है और सुषुप्त में निष्क्रिय हो जाती है। शक्ति के जब धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्त्वों में परस्पर संतुलन या साम्य रहता है तो शक्ति निष्क्रिय रहती है जबिक इस सन्तुलन के भंग हो जाने पर शक्ति जागृत एवं सिक्रिय हो जाती है। (५) सक्रिय हो जाने के बाद शक्ति चार प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है संपर्क स्थापना या संयोजन, संप्रेषण, द्रवण ग्रौर ग्रमिव्यक्ति। (६) ग्राकर्षण-शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में कार्य करती है, एक स्तर पर कार्य करनेवाला रूप दूसरे स्तर के लिए प्रायः ग्रनुपयोगी हो जाता है। (७) ग्राकर्षण-शक्ति सदा वक्र एवं चक्राकार गित से आवर्त्तन-परिवर्तन के रूप में आगे बढ़ती है। (८) शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ग्रोर, वैषम्य से साम्य से की ग्रोर तथा ग्रसंतुलन से सन्तुलन की ग्रोर अग्रसर होने का रहता है।

म्राकर्षण-शक्ति की उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य की शक्ति में भी उपलब्ध होती हैं—इसका स्पष्टीकरण 'साहित्य-विज्ञान' या 'साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन' में विस्तार से किया गया है।

साहित्य की ग्राकर्षण-शक्ति जैसा कि पीछे कहा गया है, साहित्य की ग्राकर्षण-शक्ति विश्व में व्यास शक्ति का ही एक रूप है। शक्ति के ग्रन्य रूपों से वह क्षेत्र, स्तर एवं माघ्यम की दृष्टि से ही पृथक् है, किन्तु उसकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ वे ही हैं जो सामान्य रूप में शक्ति के भ्रन्य रूपों में मिलती हैं। जिस प्रकार वैज्ञानिक विभिन्न भौतिक पदार्थों से उनमें निहित शक्ति को जगाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी विभिन्न मानसिक तत्त्वों की शक्ति को जगाकर उसे एक ऐसा माघ्यम या रूप प्रदान करता है जिसे हम साहित्य कहते हैं। (साहित्यकार का द्रव्य मानसिक क्षेत्र का होता है तथा उसका माघ्यम भाषा का होता है, ग्रतः उसकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त सूक्ष्म एवं अदृश्य होती है। कलाकार के मन में जो कुछ घटित होता है, उसे हम रसायन-शाला के प्रयोगों की भाँति प्रत्यक्ष रूप में नहीं देख पाते, पर उसकी ग्रान्तरिक प्रक्रिया बहुत-कुछ शक्ति के बाह्य एवं स्थूल रूपों के ग्रनुरूप ही होती है 🗸

साहित्यकार द्वारा प्रयुक्त द्रव्य को भी मुख्यतः तीन तत्त्वों में विभक्त किया जाता है—(१) भाव (२) विचार भ्रौर (३) कल्पना । ये तत्त्व क्रमशः धनात्मक, ऋणात्मक एवं उभयात्मक कोटि के कहे जा सकते हैं। साहित्य की ग्राकर्षण-शक्ति को उद्दीम करने के लिए धनात्मक एवं ऋण!त्मक तत्त्वों का सम्पर्क ही पर्याप्त नहीं है, श्रपितु कल्पना-CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

शक्ति का जागरण भी अपिक्षित है। भावों और विचार। का सम्पर्क तो सामान्य जीवन में भी रहता है, किन्तु कला और साहित्य में कल्पना की शक्ति सर्वाधिक सिक्रय रहती है जिससे कटु भाव और शुष्क विचार भी आकर्षक वन जाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साहित्य में कोरे भाव, कोरे विचार या कोरी कल्पना-शक्ति से आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति सम्भव नहीं, अपितु इनमें से एक का दूसरे के साथ सम्पर्क एवं सहयोग अपिक्षित है क्योंिक आकर्षण-शक्ति की यह प्रवृत्ति है कि वह विरोधी तत्त्वों के सम्पर्क से ही उद्दीप्त होती है। उदाहरण के लिए काले रंग और पीले रंग में या सफेद और नीले में परस्पर विरोध है, अतः चित्रकार इन विरोधी रंगों के सम्पर्क से ही आकर्षण की उद्दीप्ति करता है। यही वात साहित्य की शक्ति पर लागू होती है।

सभी रचनाग्रों में भाव, विचार ग्रौर कल्पना की मात्रा समान नहीं होती, किसी में भाव की प्रमुखता होती है तो किसी में विचार की ग्रौर किसी में कल्पना की तथा शेष दो तत्त्व गौण रूप में होते हैं। इस भेद के कारण साहित्य की ग्राकर्षण-शक्ति के भी तीन भेद हो जाते हैं—भावात्मक ग्राकर्षण, वौद्धिक ग्राकर्षण ग्रौर कल्पनात्मक ग्राकर्षण (या रूपात्मक ग्राकर्षण)। यहाँ क्रमणः तीनों के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं:

(क) भावात्मक ग्राकर्षण-

वहै चतुराई सों चिताई, चाहिबे की छिब वहै छैलताई न छिनक बिसरित है। ग्रानैंद-निघान प्रान प्रीतम सुजान जू की, सुधि सब भाँतिन सों बेसुध करित है।।

—घनानन्द

या-

राति ना सुहात, ना सुहात परभात श्राली, जब मन लागि जात, काहू निरमोही सौँ।

--पद्माकर

(ख) बौद्धिक भ्राकर्षण-

करत-करत ग्रभ्यास के जड़मित होत सुजान । रसरी ग्रावत जात ते सिल पै परत निसान ।।

या-

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय। पवन जगावत ग्राग को दीर्पोसह देत बुक्ताय।।

(ग) कल्पनात्मक ग्राकर्षण-

माली श्रावत देखि के कलियाँ करें पुकार। फूले-फूले चुनि लिये काल हमारी बार।।

--कबोर

या-

मृग-मरीचिका के चिर पथ पर, सुख आता प्यासों के पग घर, CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

रुद्ध हृदय के पट लेता कर, गर्वित कहता "मैं मधु हूँ मुक्ससे क्या पतकड़ का नाता।।

—महादेवी

उपर्युक्त ग्रंशों में क्रमशः भाव, विचार एवं कल्पना की प्रधानता के कारण आकर्षण की उद्दीसि हुई है। साहित्य की विषय-वस्तु में इन तीन तत्त्वों में से किसी एक की प्रधानता के कारण उसकी भाषा-शक्ति में भी ग्रन्तर ग्रा जाता है। जब विचार की प्रमुखता होती है तो वह रचना ग्रिभिधात्मक, भाव की प्रमुखता होने पर लाक्षणिक तथा कल्पना की प्रमुखता होने पर व्यंग्यात्मक हो जाती है।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति साहित्यकार और पाठक के मन में क्रमशः चार प्रक्रियः ओं के रूप में कार्य करती है—(१) संयोजन (२) संप्रेषण (३) द्रवण और (४) अभिव्यक्ति। आकर्षण-शक्ति के कारण ही किव और पाठक की सर्वप्रथम विषय-वस्तु में रुचि उत्पन्न होती है जिससे उनका विषय के साथ सम्पर्क-स्थापन या संयोजन होता है, तदनन्तर विषय के साथ तादातम्य स्थापित होता है जिसे संप्रेषण की प्रक्रिया कहा जा सकता है। संप्रेषण के अनन्तर क्रमशः द्रवण एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ सम्पन्न होती हैं जिनके द्वारा साहित्यकार एवं पाठक की अन्तरचेतना द्रवित होकर व्यक्त होने लगती है। साहित्यकार में यह अभिव्यक्ति जहाँ रचना के रूप में होती है, वहाँ पाठक में हर्ष, उल्लास एवं आनन्द की अभिव्यक्ति के रूप में होती है। इस प्रकार ये चारों प्रक्रियाएँ क्रमशः पहले साहित्यकार के मन में तथा फिर पाठक के मन में सम्पादित होती हैं। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-शास्त्र की साधारणीकरण, तादात्म्य, विवेचन, सम्प्रेषण, अभिव्यंजना आदि की क्रियाएँ इन्हीं चारों प्रक्रियाओं के विभिन्न पक्षों को सूचित करती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार साहित्य की साहित्यकता का मूल आधार साहित्यकार द्वारा उद्दीस आकर्षण-शक्ति ही है। अन्य सिद्धान्तों के साथ भी इस सिद्धान्त का मेल हो जाता है। रस वस्तुत: आकर्षण की ही व्यापक एवं गम्भीर अनुभूति है तो अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, व्वनि आदि आकर्षण की उद्दीसि के ही विभिन्न साधन हैं। वस्तुत: यही आकर्षण-शक्ति काव्य की आत्मा या साहित्य की शक्ति है। पाश्चात्य आचार्य होरेस ने ठीक कहा था—"काव्य का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं है, वह आकर्षक भी होना चाहिए—उसमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच सके।"

: चार :

साहित्य में कल्पना ऋौर बिम्ब

- १. सामान्य परिचय।
 - २. कल्पना : स्वरूप-मीमांसा ।
 - ३. साहित्य में कल्पना-शक्ति।
 - ४. कल्पना ग्रौर विम्व।
 - ५. 'विम्व' क्या है ?
 - ६. विस्व ग्रीर ग्रलंकार।
 - ७. विम्व ग्रौर प्रतीक।
 - विम्ब-विधान की प्रक्रिया।
 - ६. विम्व का काव्यात्मक मूल्य।
 - १०. विम्ब-विधान ग्रौर रस-सिद्धान्त ।

प्राचीन युग में साहित्य-मीमांसकों का घ्यान कल्पना-शक्ति की ग्रोर बहुत कम गया था जिससे वे काव्य-सर्जन की प्रक्रिया की यथोचित मीमांसा करने में ग्रसफल रहे। एक वर्ग ने यदि किव की रचना-शक्ति को ग्रनुकरण की प्रक्रिया के रूप में ग्रहण करते हुए उसे मिथ्या जगत् की मिथ्या ग्रनुकृति प्रस्तुत करनेवाला घोषित कर दिया, तो दूसरे वर्ग ने काव्य-मृजन की प्रक्रिया को किसी दिव्य शक्ति या दैवी प्रेरणा पर श्राधारित मानकर किव को ईश्वर का प्रतिनिधि सिद्ध कर दिया। वस्तुतः ये दोनों ही मत ग्रति-वादो थे तथा वास्तिवकता से दूर थे, जबिक काव्य-प्रतिभा न तो शुद्ध ग्रनुकृति पर ग्राधारित है, न ही उसमें कोई दैवी शक्ति है। वस्तुतः उसका मूलाधार किव की उस मानसिक शक्ति में निहित्त है, जो कि ग्रप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष में, ग्रतीत को वर्तमान में, स्थूल को सूक्ष्म में ग्रीर ग्रसुन्दर को सुन्दर में परिणत कर देने की क्षमता से युक्त है। इसी शिक्षा-दीक्षा एवं पूर्वाभ्यास पर श्राधारित है ग्रीर न ही इसके पीछे किसी दैवी शक्ति का हाथ है—वस्तुतः यह मानव की एक प्राकृतिक मानसिक शक्ति है, जो कि न्यूनाधिक मात्रा में सभी में होती है; किन्तु किव में यह ग्रपक्षाकृत ग्रधिक मात्रा में होती है, इसी से वह काव्य-रचना में सफल होता है।

कल्पना : स्वरूप मीमांसा—कल्पना एक मानसिक तत्त्व है, ग्रतः उसके सम्बन्ध में साहित्यिक दृष्टि से विचार करने से पूर्व मनोविज्ञान के ग्राधार पर उसका स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए। सुप्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता मैक्डूगल महोदय ने कल्पना की स्पष्ट कर लेना चाहिए । अप्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता मैक्डूगल महोदय ने कल्पना की

परिभाषा करते हुए कहा है—'ग्रप्रत्यक्ष वस्तुग्रों से सम्बन्धित चिन्तन-मनन ही कल्पना है। ' वुडवर्थ महोदय के विचारानुसार कल्पना 'एक मानसिक कौशल है।' एक ग्रन्य लेखक ने कल्पना की परिभाषा करते हुए लिखा है—'कल्पना ग्रपने सरलतम रूप में एक ऐसी शक्ति कही जा सकती है, जो कि पूर्व-स्रनुभवों की प्रतिलिपि पुनरुत्पादित करती है। इसी प्रकार जे. पी. सार्त्र ने भ्रपने कल्पना-सम्बन्धी ग्रन्थ में इसके चार प्रमुख लक्षण बताये हैं--(१) उसका सम्बन्ध चेतना से होता है। (२) उसमें ग्रर्द्ध निरीक्षण की प्रवृत्ति होती है। (३) उसका भ्रालम्बन शून्य या सत्ताहीन होता है। (४) वह स्वच्छन्द होती है। इन परिभाषात्रों एवं लक्षणों को घ्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है, जो व्यक्ति के पूर्व-ग्रनुभवों के ग्राधार पर ग्रप्र-त्यक्ष, सूक्ष्म एवं नूतन वस्तुग्रों या विचारों का ग्राविष्कार, निर्माण या पुनर्निर्माण करती है। ग्रतीत के ग्रनुभव हमारे मन में विम्ब रूप में संचित होते हैं, उन्हीं विम्बों का पर-स्पर जोड़-तोड़ करके वह नये रूपों का निर्माण करती है। यद्यपि कल्पना इच्छा-प्रेरित होती है, पर बुद्धि का ग्रंकुश वह बहुत कम स्वीकार करती है-यह दूसरी बात है कि वह ग्रपने पीछे बुद्धि को भी ले चले - इसलिए वह स्वच्छन्द कही जा सकती है। जब कल्पना बुद्धि के हो नेतृत्व एवं नियंत्रण में कार्य करने लगती है तो उसी स्थिति में उसे कल्पना न कहकर चिन्तन या मौलिक चिन्तन कहा जाता है। जब यही कल्पना भावा-नुभूतियों से प्रेरित होकर भाषा के माघ्यम से कार्य करती है तो वह उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियों के सर्जन में सक्षम होती है। इस प्रकार कल्पना ही वह मूल शक्ति है, जो जीवन ग्रौर जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में नूतन विचारों, नयी वस्तुग्रों एवं नये क्रिया-कलापों का ग्राविष्कार करती है।

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना के विभिन्न भेदोपभेद भी किए हैं। मूलतः कल्पना के दो भेद माने जाते हैं—(१) ग्रहणात्मक (Receptive) ग्रौर (२) सर्जनात्मक (Creative)। ग्रहणात्मक कल्पना से हम ग्रग्रत्यक्ष वस्तु के वर्णन के ग्राधार पर उसका बोध प्राप्त करते हैं, जबिक सर्जनात्मक कल्पना द्वारा स्वयं नयी वस्तु का निर्माण करते हैं। सर्जनात्मक कल्पना के भी दो भेद किए गये हैं—(१) व्यवहारोन्मुख (Pragmatic) ग्रौर (२) सौन्दर्योन्मुख। इनमें से प्रथम का उपयोग जीवन की व्यावहारिक समस्याग्रों के समाधान में, नयी योजनाग्रों के निर्माण में एवं नूतन विचारों व सिद्धान्तों की स्थापना में होता है, जबिक दूसरी—सौन्दर्योन्मुख—का उपयोग कलाकृतियों के ग्रौर दिवास्वप्तों के निर्माण में होता है। वस्तुतः साहित्य-रचियता का सम्बन्ध कल्पना के इसी दूसरे भेद से है।

साहित्य में कल्पना-शक्ति—साहित्य में कल्पना-शक्ति के महत्त्व की प्रतिष्ठा का श्रेय सबसे ग्रधिक स्वच्छन्दतावादी किवयों को है। ग्रंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दता-वाद (Romanticism) के प्रवर्त्तकों ने परम्परागत ग्रनुकृति-सिद्धान्त के स्थान पर कल्पना-शक्ति की प्रतिष्ठा करते हुए उसे काव्य का सर्वोपरि तत्त्व घोषित किया। एस॰ टी॰ कालरिज ने ग्रपने ग्रन्थ 'वायग्राफिया लिट्रेरिया' (साहित्य की जीवन-कथा) में कल्पना-शक्ति का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तृत करते हुए कार्वित का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तृत करते हुए कार्वित का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तृत करते हुए कार्वित कार्व कार्वित कार्वित कार्वित कार्वित कार्वित कार्वित कार्वित कार्य कार्व कार्व कार्व कार्व कार्व कार्व कार्व कार्य कार्व कार्व कार्व कार्व कार्य कार्व कार्य कार्व कार्व कार्य कार्य

में दिया—"Finally, good sense is the body of poetic genius, fancy its drapery, motion its life and imagination the soul that is everywhere and in each, and forms all into one graceful and intelligent whole." ग्रर्थात् 'ग्रंततोगत्वा, विवेक-शक्ति काव्यात्मक प्रतिभा का शरीर है, ग्रनुमान-शक्ति उसका वस्त्र, भावावेग उसका जीवन है तथा कल्पना-शक्ति ही वह ग्रात्मा है, जो कि (प्रत्येक काव्य में) सर्वत्र होती है तथा जो समस्त तत्त्वों को एक सुष्ठु एवं बोध-गम्य रूप प्रदान कर देती है।

साहित्य में कल्पना-शक्ति कई कार्य करती है, जिन्हें मुख्यतः पाँच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विषय-वस्तु का चेतन-स्तर पर प्रस्तुतीकरण। साहित्यकार जिस द्रव्य-सामग्री या वस्तु का उपयोग ग्रपनी रचना में करता है, वह प्रायः उसके ग्रव-चेतन एवं भ्रचेतन मन में विभिन्न श्रनुभूतियों, संस्कारों, विम्बों एवं धारणाश्रों के रूप में विद्यमान रहती है, जिसे स्मृति एवं कल्पना की सहायता से चेतन स्तर पर लाया जाता है। पर स्मृतियाँ वस्तु को मूलरूप में ही पुनरुत्पादित करती हैं जिससे उसमें रूपगत नवी-नता एवं साहित्यिक ग्राकर्षण का ग्राविभीव नहीं हो पाता, जबिक कल्पना उसे नूतन एवं ग्राकर्षक रूप में प्रस्तुत करती है। इसलिए कल्पना द्वारा प्रस्तुत विषय ही काव्या-त्मक गनित से युक्त हो पाता है। (२) कल्पना का दूसरा कार्य-इव्य या विषय-वस्तु का विस्तार करना है। इसी से वस्तु विस्तृत, स्पष्ट एवं ग्रनुभूतिगम्य रूप प्राप्त करती है। (३) नये द्रव्य का म्राविर्भाव या नयी वस्तु की कल्पना करना भी कल्पना-शक्ति का तीसरा कार्य है। इसी से साहित्यकार नयी घटनाग्रों एवं नूतन पात्रों की सृष्टि करता है। (४) द्रव्य या विषय-वस्तु को अनुभूतिगम्य बनाना कल्पना का चौथा कार्य है। कल्पना श्रपनी वस्तु को विम्बों या सजीव चित्रों के रूप में प्रस्तुत करती है, इससे वे सहज ही पाठक के लिए ग्रनुभूतिगम्य हो जाते हैं। (५) देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्ति —यह कल्पना का पाँचवाँ या अन्तिम कार्य है। दैनिक जीवन में हम अपने अनुभव दूसरे व्यक्तियों को सुनाते हैं, पर फिर भी वे सामान्य श्रोता को श्राकिषत नहीं कर पाते। इसका मूल कारण यह है कि वहाँ हमारा अनुभव देश-काल की सीमाओं से बँघा हुआ तथा वैयक्तिकता से ग्रस्त होता है जिससे उसका साधारणीकरण या समाजीकरण नहीं हो पाता, जबिक कला में वस्तु के पूर्ण प्रभावोत्पादक एवं सम्यक् ग्रास्वादन के लिए उसका साधारणीकरण ग्रपेक्षित है। वस्तुतः वस्तु का वैयक्तिक व देश-काल की सीमाओं से मुक्त हो जाना ही साधारणीकरण है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामग्री इन सीमाग्रों से मुक्त हो ज'ती है-ग्रतः वह काव्य के साधारणीकरण में योग देती है। भारतीय ग्राचार्यों के ग्रनुसार साधारणीकरण ही काव्य की वह प्रक्रिया है, जो काव्यास्वादन के चरम लक्ष्य की पूर्ति का साधन है-इस दृष्टि से कल्पना के इस कार्य का महत्त्व बहुत म्रधिक है।

कल्पना ग्रौर बिम्ब-कल्पना साहित्य में कई प्रकार के कार्य करती है, उनमें

१. कल्पना के इन क्रिया-व्यापारों के स्पष्टीकरण के लिए द्रष्टक्य 'साहित्य विज्ञान' का द्वितीय खण्डिल- 'सम्बद्धिस अप्रेशन्सिन dollection, Varanasi.

एक सूक्ष्म विचार को स्थूल विम्ब के रूप में प्रस्तुत करने का भी है। यद्यपि स्वच्छन्दता-वादी किवयों ने कल्पना को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया था, किन्तु परवर्ती युग में कल्पना की अपिक्षा विम्ब को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ड में अंग्रेजी किवता में अनेक ऐसे आन्दोलनों का प्रवर्त्तन हुआ जिन्होंने विम्ब-विधान को ही किव-कर्म का लक्ष्य घोषित करते हुए उसका घोर समर्थन किया। वस्तुतः विम्ब-विधान के समर्थकों ने एक प्रकार से 'विम्बवाद' की ही स्थापना करते हुए विम्ब की ऐसी विस्तृत एवं व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की जिसके अनुसार काव्य का सब-कुछ विम्ब में ही समाविष्ट हो जाता है। वस्तुतः काव्य-शास्त्रियों की यह दुर्वलता सदा से रही है कि वे एक सिद्धान्त और उसका इतना विस्तार दे देते हैं कि वह अपनी मूल सीमाओं से भी आगे बढ़कर विकृत हो जाता है। यही अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं व्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने किया और यही विम्बवादी कर रहे हैं। अस्तु, हमारे विचार में विम्व-विधान श्रेयस्कर होते हुए भी विम्ववाद की कट्टर एवं अध्धारणाएँ आह्य नहीं हैं। यहाँ हम विम्ब-सिद्धान्त को उसके सीमित एवं संतुलित रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके पक्षों का परिचय देने का प्रयास करेंगे।

'बिम्ब' क्या है ?— शाब्दिक दृष्टि से 'बिम्ब' (Image) का ग्रर्थ है— प्रतिभा, ग्राकृति, रूप, चित्र ग्रादि । मनोविज्ञान के ग्रनुसार जब हम इन्द्रियों के माध्यम से स्थूल जगत् की विभिन्न वस्तुग्रों के सम्पर्क में ग्राते हैं, तो उनका प्रतिबिम्ब या चित्र हमारे मन में ग्रंकित हो जाता है तथा ये प्रतिबिम्ब ही समय-समय पर हमारी वासना, संस्कार, स्मृति, भावना ग्रादि को जागृत करने का कार्य करते हैं । ये बिम्ब एक प्रकार से संचित ग्रनुभूतियों के रूप में हमारे ग्रवचेतन मन में सदा विद्यमान रहते हैं, पर समय-समय पर स्मृति एवं कल्पना की सहायता से पुनः हमारे चेतन स्तर पर उदित होकर हमें भाँति-भाँति के बोध प्रदान करते हैं । कवि या कलाकार इन्हीं विम्बों को ग्रपनी रचना में प्रस्तुत करता है, जिन्हों ग्रहण करते हुए पाठक या दर्शक सामाजिक विषय का बोध प्राप्त करते हैं । दूसरे शब्दों में विम्ब ऐन्द्रिय ग्रनुभूति का प्रतिबिम्ब है, जो कि मन में ग्रंकित हो जाता है ।

साहित्यिक दृष्टि से विम्ब की अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं। सी. डी. लेविस महोदय ने विम्ब के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन करते हुए कहा है—'काव्यात्मक विम्ब शब्दों के माध्यम से निर्मित एक ऐसा चित्रं है, जिसका किसी न किसी प्रकार के ऐन्द्रिक गुण से सम्पर्क हो।' राविन स्कैल्टन के विचारानुसार 'बिम्ब एक ऐसा शब्द है जो कि ऐन्द्रियानुभूति का भाव जाग्रत करता है।' इसी प्रकार डा॰ नगेन्द्र के मत से 'काव्य-विम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छिब है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।'

काव्य-विम्व या काव्यगत विम्ब के स्वरूप के सम्यक् बोध के लिए उसके पाँच

२. 'साहित्य की शैली', पृष्ठ ३१३।

१. बिम्ब-सिद्धान्त के परिचय के लिए द्रष्टव्य—डा० नगेन्द्र कुत 'काव्य-

लक्षणों पर भी विचार किया जा सकता है। काव्य-विम्ब का पहला लक्षण है—िचत्रातमकता। इससे ग्राशय यह कि जिस प्रकार चित्र में वस्तु का प्रतिविम्ब होता है, उसी
प्रकार विम्ब में भी उसका ऐसा प्रतिविम्ब होता है, जो पाठक के मन में उस वस्तु की
ग्रनुभूति जगा सके। दूसरा लक्षण शब्दरूपात्मकता है—ग्रर्थात् काव्य में विम्ब चित्र की
भाँति रेखाओं में नहीं; ग्रपितु शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत होता है। तीसरा लक्षण ऐन्द्रिकता है—जिसका ग्रर्थ है कि वह चित्र केवल स्थूल वस्तु का ही प्रतिविम्ब न हो, ग्रपितु
उसका सम्बन्ध ऐन्द्रियबोध से होना चाहिए या यों कहिए कि उसमें हमारी इन्द्रियों को
गुदगुदा देने की क्षमता होनी चाहिए। चौचा लक्षण भावोत्पादकता है ग्रर्थात् काव्य-विम्ब
में भावोत्पादन की क्षमता का होना ग्रनिवार्य है। पाँचवें लक्षण के ग्रनुसार उसमें ग्रारोपण का ग्रभाव होना चाहिए ग्रर्थात् वह ग्रलंकारों की भाँति मूल वस्तु पर ऊपर से या बाहर
से ग्रारोपित नहीं होना चाहिए, उसका वस्तु से सीधा सम्बन्ध होना चाहिए, ग्रन्यथा
विम्ब ग्रीर ग्रलंकार में कोई ग्रन्तर नहीं रह जायगा।

काव्य-विम्व के विभिन्न ग्राचार्यों ने भेदोपभेद भी किए हैं तथा पश्चिम के कुछ विद्वानों ने तो इसे इतना विस्तार दे दिया है कि उससे काव्य की प्रत्येक वस्तु बिम्व में ही आ जाती है। हिन्दी के विद्वानों ने भी प्रायः इन्हीं का अनुसरण किया है जो ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में सबसे ग्रधिक विवाद का विषय यह है कि क्या विम्ब चाक्षुष <mark>श्रनुभूति से ही सम्बद्ध है श्रथवा श्रन्य इन्द्रियों से भी। पश्चिम के श्रनेक मीमांसकों ने</mark> विम्व का सम्बन्ध प्रायः सभी प्रकार की ऐन्द्रियानुभूतियों से माना है, पर हमारे विचार में यह मान्यता विम्व के मूल स्वरूप के प्रतिकूल है। एक ग्रोर वे विम्व को वस्तु का प्रतिरूप या चित्र मानते हैं, तो दूसरी ग्रोर उसे श्रवसेन्द्रिय एवं घ्रासेन्द्रिय से भी सम्ब-न्धित मानते हैं --- यह परस्पर-विरोधी वस्तु है। गुलाव के फूल का विम्व हमारे मन में श्रंकित हो सकता है, पर उसकी सुगन्ध का चित्र कैसे सम्भव है ? गानेवाली का इमेज हमारे मन में उभर सकता है, पर उसके स्वर-माधुर्य का प्रभाव विम्ब रूप में कैसे ग्रंकित हो सकता है ! वस्तुतः जहाँ चाक्षुष भ्रनुभूतियाँ विम्व रूप में ग्रंकित होती हैं, वहाँ घ्राएो-न्द्रियों एवं श्रवसेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त सूक्ष्म एवं श्रगोचर गुणों की श्रनुभूतियाँ हमारे मन में 'संस्कार' रूप में ही विद्यमान रहती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गन्ध एवं घ्विन का विम्व नहीं, संस्कार-मात्र ग्रंकित होता है, क्योंकि इनका बिम्ब या चित्र सम्भव ही नहीं। ऐसी स्थिति में गंध या घ्विन के चित्र (विम्ब) की वात करना या तो 'विम्ब' शब्द का ग्रनर्थ करना है ग्रथवा भाषा के साथ खिलवाड़ है। यदि विम्ब के ग्रन्तर्गत हम सभी अनुभूतियों को लेना चाहते हैं तो फिर हमें बिम्ब की परिभाषा में से 'चित्र', 'मूर्त्त रूप', 'प्रतिबिम्ब', 'मूर्त्ति' श्रादि शब्दों को निकाल देना चाहिए। परिभाषा को ज्यों का त्यों रखते हुए भी विम्ब से सभी अनुभूतियों को सम्बद्ध कर देना सर्वथा अवैज्ञानिक एवं असंगत प्रयास है।

श्रौर यदि विम्ब की परिभाषा को वदलते हुए प्रत्येक प्रकार के विचार, भाव या श्रनुभूति के ग्रगोचर रूप के वर्णन को ही हम 'विम्ब' संज्ञा देने लगे, तो फिर कविता में ही क्यों, हमारे मुख से उच्चरित प्रत्येक शब्द को विम्ब सिद्ध किया जा सकता है। अस्तु, CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

साहित्याचार्यों से हमारा निवेदन है कि वे शास्त्र-मीमांसा के समय भावुकता से नहीं, वौद्धिकता से काम लें तो ग्रपने विवेचन के साथ ग्रधिक न्याय करेंगे।

ग्रतः विम्व के विभिन्न भेदों के ग्रन्तर्गत विभिन्न इन्द्रियों के ग्राघार पर उन्हें घाणपरक, स्वादपरक, ध्विनपरक, चाक्षुष ग्रादि भेदों में विभाजित करना हमें मान्य नहीं है, क्योंकि विम्व ग्रपने सही ग्रथ में केवल चाक्षुष होता है—ग्रन्य भेद भ्रामक हैं। इनके ग्रितिक्त भी विम्व के ग्रनेक भेद किए गये हैं; यथा—'सरल विम्व', 'तात्कालिक विम्व', 'विष्टुङ्खिलत विम्व', 'प्रतिमागून्य विम्व' (Abstract Image), 'रूपकात्मक विम्व', 'प्रालंकारिक विम्व', 'प्रतीकात्मक विम्व' ग्रादि। ये भेद न केवल ग्रनावश्यक हैं ग्रिपतु कहीं-कहीं तो विम्व के मूल स्वरूप के भी प्रतिकृत हैं। यथा 'प्रतिमागून्य विम्व' लीजिए; यह ऐसा है जैसा कि कोई कहें कि 'मधुरतागून्य भिठाई' या 'लावण्यणून्य लवण'। जब विम्व का लक्षण ही प्रतिमायुक्त होना है तो उसका एक भेद प्रतिमाणून्य मानना स्वतोव्याघात दोष का उदाहरण प्रस्तुत करना है! इसी प्रकार विम्वों को रूपकों ग्रीर ग्रलंकारों से सम्बद्ध करके भी विम्ब, रूपक, ग्रलंकार ग्रादि भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की सीमाग्रों के पार्थक्य को मिटाकर उन्हें घुला-मिला देने का प्रयास मात्र है।

विस्व और अलंकार—यद्यपि कुछ ग्रलंकारों में विस्वात्मकता का एवं कुछ विस्वों में ग्रालंकारिकता का गुण दृष्टिगोचर होता है, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। विम्व-योजना का लक्ष्य जहाँ केवल वस्तु के रूप-रंग को ही गोचर रूप में प्रस्तुत करते हुए उसको ऐन्द्रिक वोघ प्रदान करना होता है, जबिक ग्रलंकार का लक्ष्य प्रस्तुत के साथ ग्रप्रस्तुत का सादृश्य या वैषम्य प्रदर्शित करते हुए बौद्धिक चमत्कार उत्पन्न करना भी होता है। दूसरे, विम्व जहाँ केवल प्रस्तुत या उपमेय का ही बोघ प्रदान करता है, वहाँ ग्रलंकार में प्रस्तुत या उपमान का भी संयोग होता है। तीसरे, विम्व मूलतः स्वभावोक्ति पर ग्राधारित होता है, जबिक ग्रलंकार का ग्राधार ग्रतिश्योक्ति या ग्रत्युक्ति या ग्रत्युक्तिपूर्ण कथन होता है। दूसरे शब्दों में जहाँ विम्व वस्तु के प्रत्यक्ष चित्रण द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है, वहाँ ग्रलंकार ग्रप्रत्यक्ष या ग्रन्य विषय के सहयोग से यह कार्य संपादित करता है—ग्रतः इन दोनों के इस ग्रन्तर को व्यान में रखते हुए दोनों को पृथक् सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण करना उचित होगा।

विम्ब और प्रतीक—विम्ववादियों ने 'प्रतीकात्मक विम्व' तथा प्रतीकवादियों ने 'विम्वात्मक प्रतीक' जैसे भेदों की कल्पना करके एक-दूसरे के क्षेत्र में अनुचित अधिकार करने का प्रयास किया है। वस्तुतः बिम्ब और प्रतीक में गहरा अन्तर है—(१) विम्ब में विषय-वस्तु का वोध प्रत्यक्ष एवं अभिधा में प्रस्तुत किया जाता है, जबिक प्रतीक के मूल में लक्षणा एवं व्यंजना कार्य करती हैं। (२) विम्ब में शब्दावली सदा एकार्थक होती है, जबिक प्रतीक में शब्दों के कम से कम दो अर्थ होते हैं, जैसे—'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल' में दीपक प्रतीक है, जिसके दो अर्थ हैं—दिया और जीवन। (३) विम्ब का लक्ष्य चित्रात्मकता है, जबिक प्रतीक वक्रता के द्वारा आकर्षण उत्पन्न करता है। अतः

विम्ब और प्रतीक प्रत्येक स्थिति में भिन्न कोटि के तत्त्वों पर ग्राधारित सिद्धान्त सिद्ध होते हैं।

विस्व-विधान की प्रक्रिया—डा० नगेन्द्र ने विस्व-रचना की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उसके तीन सोपान निर्धारित किए हैं—(१) ग्रनुभूति का निर्वेयक्तीकरण (२) साधारणीकरण ग्रौर (३) शब्दार्थ के माव्यम से ग्रिभव्यक्ति । इन प्रक्रियाग्रों द्वारा कवि की सर्जन-प्रक्रिया का भी पता चलता है। कवि या साहित्यकार किसी भी अनुभूति के व्यावहारिक योग के समय काव्य का सर्जन करने में ग्रसमर्थ रहता है, क्योंकि उस समय वह अनुभूति में इतना तल्लीन रहता है कि उससे ऊपर उठकर उसे तटस्थ रूप में नहीं देख पाता । जब श्रागे चलकर किव की श्रनुभूति संस्कार-रूप में श्रविशष्ट रहती तो उसो स्थिति में वह उसे निर्वेयक्तिक रूप में प्रस्तुत कर पाता है। इस निर्वेयक्तीकरण की ही अगली अवस्था साधारणीकरण है- अर्थात् किव की अनुभूति सबकी अनुभूति वनने योग्य हो जाती है। तीसरी स्थिति है—शब्दार्थ के माव्यम से ग्रभिव्यक्ति। कवि की साधारणीकृत अनुभूति शब्दों में व्यक्त होती है। यद्यपि डा॰ नगेन्द्र ने इन तीनों स्थितियों का विवेचन अत्यन्त मौलिक एवं सूक्ष्म रूप में किया है, पर एक स्थल पर हम उनसे सहयत नहीं है। वे लिखते हैं—'लक्षणा के प्रयोग द्वारा रूप-रेखाओं में रंग भर-कर....(किव) विम्व को पूर्णता प्रदान करता है। हमारे विचार में यह बात वक्रोक्ति एवं प्रतीक योजना पर तो लागू होती है, पर विम्ब-योजना पर नहीं, क्योंकि विम्ब के मूल में स्वभावोक्ति एवं ग्रभिधा-शक्ति ही कार्य करती है। सम्भवतः उन्होंने भी पाश्चात्य विम्ववादियों की भाँति विम्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण कर लिया है जिसके अनुसार अलंकार, वक्रोक्ति, प्रतीक आदि सभी विस्व में आ जाते हैं। फिर भी यदि डा॰ नगेन्द्र विम्ब और प्रतीक को भिन्न-भिन्न मानते हैं तो हमारा निवेदन है कि वे ग्रपनी उपर्युक्त धारणा पर पुनर्विचार करें।

विस्व का काव्यात्मक मूल्य—जिस प्रकार ग्रलंकार, वक्रोक्ति, प्रतीक ग्रादि का लक्ष्य काव्य में सौन्दर्य या ग्राकर्षण उत्पन्न करना है, उसी प्रकार विम्व-योजना का भी लक्ष्य यही है। विम्व-योजना में मूल वस्तु को ही इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, जिससे वह हमारी कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करती हुई ग्रनुभूतिगम्य हो सके। जहाँ विम्व-योजना से इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती ग्रर्थात् न तो वह हमारी कल्पना-शक्ति को ही उत्तेजित करती है ग्रौर न ही भावानुभूति प्रदान करती है—वहाँ वह काव्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है। विम्व-योजना में यह शक्ति उसी स्थित में ग्राती है, जविक एक तो वह भावानुभूति से प्रेरित हो तथा दूसरे, विम्व ग्रपने ग्रापमें पूर्ण हो। भावानुभूति से शन्य विम्ब तथा खंडित विम्ब काव्य के सौन्दर्य में ग्रभिवृद्धि नहीं करते, यथा—विहारी से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

इत आवित चिल जाित उत चली छ-सातक हाथ। चढ़ी हिंडोरें सें रहैं, लगी उसासनु साथ।।

यहाँ विरहिणी नायिका का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्थूल दृष्टि

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

से बिम्ब के सभी बाह्य लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, पर फिर भी अनुभूति की यथार्थता के श्रभाव में वह काव्यात्मक दृष्टि से श्राकर्षण-शून्य है। दूसरी श्रोर यहाँ सफल विम्ब-योजना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

- भौंह उँचे, आँचर उलटि, मीरि-मीरि मुंह मोरि। नीठि नीठि भीतर गई, डीठि-डीठि सों जोरि।।
- (ख) बैंदी भाल, तमोल मुख, सीस सिलसिले बार। आंजे राजे खरी, बेई सहज सिगार।।

यहाँ दोनों दोहों में ग्रनुभूतिपूर्ण विम्ब-योजना उपलब्ध होती है। वस्तुतः कल्पना यदि विम्व की उत्पादिका है तो अनुभूति उसकी संगिनी है—उसके ग्रभाव में विम्व म्राकर्पणशून्य सिद्ध होता है। इसलिए कॉलरिज ने लिखा था—"Images however beautiful...do not of themselves characterize the poet. They become proofs of original genius only as far as they are modified by predominant passion; or by associated thoughts or images awakened by that passion." अर्थात् विम्ब चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों...वे अपने-आपमें कवित्व के प्रमाण नहीं हैं। वे कवि की मौलिक प्रतिभा को उसी सीमा तक प्रमाणित करते हैं, जहाँ तक वे पूर्ववर्ती भावावेग के प्राबल्य से ग्रनुप्राणित होते हैं या फिर तत्सम्बन्धित किसी विशेष विचार या भावावेग की अनुभूति को जगाते हैं। ऐसी स्थिति में विम्ब को काव्य में भावानुभूति व्यंजना का एक माध्यम या साधन ही मानना उचित होगा, साघ्य से परे साधन का कोई स्वतंत्र महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता । फिर भी, दुर्भाग्य से अनेक आधुनिक कवि शुष्कं विचारों या दूरारूढ़ कल्पना के बल पर अनु-भूतिशून्य विम्बों के निर्माण में लगे हुए हैं, उनके विम्ब काव्यानुभूति में सहयोग देने के स्थान पर बाधक सिद्ध हो रहे हैं, फिर भी वे ग्रपनी बिम्ब-योजना का गुण-गान करते नहीं ग्रघाते । वस्तुतः विम्ब-योजना की सफलता इसी में है कि वह स्व-प्रेरित एवं ग्रनु-भूति से अनुप्राणित हो, काव्य-वस्तु में वह ऊपर से ग्रारोपित या चेष्टापूर्वक कल्पित प्रतीत न हो, अन्यथा वह काव्यत्व के लिए घातक सिद्ध होती है। ऐसे ही विम्ब-विधान की भर्त्सना करते हुए श्री सी० डी० लेविस ने उसे 'खण्डित', 'मृत' एवं 'निरर्थक' विशेषणों से भूषित किया है।

विम्ब-विधान और रस-सिद्धान्त—यदि विम्ब-विधान पर रस-सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो वह काव्य में तथायी भाव के चित्रण का ही माध्यम सिंद्ध होता है। स्थायी भाव एवं ग्रन्य भावों का काव्य में उल्लेख एक प्रकार का काव्य-दोष माना जाता है, क्योंकि भावों का उल्लेख ग्रनुभूति में सहायक सिद्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि हम कहें कि 'परशुराम को लक्ष्मण पर क्रोध ग्रा गया' तो यहाँ क्रोध की कोई अनुभूति नहीं होती, अतः क्रोध को अनुभाव एवं संचारी भावों के माघ्यम से प्रस्तुत किया जाता है। यदि विम्ब-सिद्धान्त की शब्दावली में इसी बात को दोहराया जाय तो कहा जा सकता है कि काव्य में क्रोध का नामोल्लेख नहीं, श्रपितु उसका बिम्ब-विधान होना चाहिए। वस्तुतः स्थायी भाव एवं रस के विभिन्न ग्रवयव-ग्रालम्बन, ग्राश्रय,

उद्दीपन, श्रनुभाव, संचारी श्रादि—नाटक में तो साकार रूप से प्रस्तुत किए जा सकते हैं, पर काव्य में तो उनका विम्व ही प्रस्तुत किया जाता है। विहारी ने नायिका के हावों एवं श्रनुभावों को विम्व रूप में ही प्रस्तुत किया है, इस क्षेत्र में यही उनकी सफलता का रहस्य है।

रस और विम्ब के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता का दूसरा प्रमाण यह है कि स्वयं विम्बवादी याचार्यों ने भी विम्ब को भावों की ग्रिम्ब्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। कल्पना-सिद्धान्त के घोर समर्थक कॉलरिज से लेकर काव्यात्मक विम्ब के व्याख्याता सी० डी० लेविस तक विभिन्न ग्राचार्यों ने विम्ब ग्रीर भाव के सह्योग को ग्रावश्यक माना है। लेविस महोदय के ग्रनुसार तो काव्यात्मक विम्ब का लक्षण ही यही है कि वह भावावेग से ग्रनुप्राणित हो। हिन्दी में रस-सिद्धान्त के समर्थक ग्राचार्य डा० नगेन्द्र द्वारा ही विम्ब-सिद्धान्त की सर्वप्रथम सांगोपांग विवेचना होना भी यही सिद्ध करता है कि ये सिद्धान्त परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। ऐसी स्थिति में क्या हम यह कह सकते हैं कि काव्य में भावानुभूति का विम्ब-रूप में प्रस्तुतीकरण ही रस-निष्पत्ति का ग्राधार है? शायद यह प्रश्न उन व्यक्तियों को, जो कि या तो भरत, दंडी, भामह की वात को ही वेद-वाक्य मानते हैं या फिर पश्चिम के किसी भी सिद्धान्त की तुलना में भारत के प्रत्येक विचार को ग्रग्नाह्य एवं निन्दनीय मानते हैं, ग्रष्टिकर प्रतीत होगा। फिर भी यदि हम ग्रपने चिन्तन को संतुलित एवं सर्वांगीण रूप देना चाहते हैं, तो इस प्रकार के प्रश्नों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

: पाँच :

काव्य की मूल प्रेरणा श्रीर उसका प्रयोजन

- १. 'प्रेरणा' ग्रौर 'प्रयोजन' में भ्रम तथा दोनों का स्पष्टीकरण।
- २. कुछ ग्रन्य भ्रान्तियाँ।
- ३. भारतीय किवयों के आधार पर विचार—(क) वाल्मीकि, कालिदास, गाथा-सप्तशतीकार, जयदेव, विद्यापित, तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, मीरा, रीतिवढ़ किव—केशवादि, भारतेन्दुयुगीन, द्विवेदीयुगीन व छायावादी किव, प्रगतिवादी श्रीर प्रयोगवादी । (ख) विभिन्न निष्कर्ष एवं उनका समन्वय ।
- ४. विभिन्न काव्य-शास्त्रीय विद्वानों के मत—(क) पाश्चात्य विद्वान्—सुकरात, प्लेटो, ग्ररस्त्, हीगेल ग्रादि । (ख) भारतीय विद्वान्—रवीन्द्र तथा हिन्दी के ग्रालोचक ।
- ५. विभिन्न मनोविश्लेषकों की धारणाएँ फायड, एडलर, युंग म्रादि ।
- ६. काव्य के विभिन्न रूप ग्रौर काव्य-प्रेरणा।
- ७. काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी मत ।
- जपसंहार ।

साहित्य या काव्य का मूल प्रेरणा-स्रोत ग्रीर उसका प्रयोजन क्या है-इन प्रश्नों को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद हुमा है, किन्तू फिर भी इनका कोई एक स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। इसका एक कारण तो यह है कि अधिकांश विद्वानों ने 'प्रेरणा' शब्द को ठीक अर्थ में ग्रहण नहीं किया, श्रायः उन्होंने 'प्रेरणा' ग्रौर 'प्रयोजन' को एक ही ग्रर्थ में लेकर 'प्रेरणा' सम्बन्धी विवेचन को प्रयोजन सम्बन्धी बातों में उलभा दिया है। 'प्रेरणा' का सम्बन्ध उस व्यक्ति, वस्तु, घटना या दृश्य से है, जो कवि को काव्य-विशेष की रचना में प्रवृत्त करता है, जबिक प्रयोजन से तात्पर्य काव्य-रचना के उद्देश्य या उससे प्राप्त होनेवाले लाभ से है। 'प्रेरणा' से सम्बन्धित विषय की स्थिति काव्य-रचना से पूर्व रहती है, जबिक 'प्रयोजन' से सम्बन्ध रखनेवाला पदार्थ काव्य-रचना के ग्रनन्तर उपलब्ध होता है। कई बार प्रेरणा ग्रीर प्रयोजन एकाकार भी हो जाते हैं। जब किंव का प्रेरणा-स्रोत कोई ग्रौर न होकर उसकी रचना से होनेवाले लाभ का विचार ही होता है, तो वहाँ काव्य-रचना का प्रेरणा-स्रोत ग्रीर उसका प्रयोजन-दोनों एक ही माने जाएँगे, किन्तु इस विशेष परिस्थिति को छोड़कर अन्यत्र हमें इन दोनों के पारस्परिक ग्रन्तर को व्यान में रखना चाहिए। दूसरा कारण यह है कि काव्य-प्रेरणा पर विचार करते समय किवयों, ग्रालोचकों, दार्शनिकों ग्रीर मनोवैज्ञातिकों के परस्पर-विरोधी मतों को बिना किसी क्रम या विश्लेषण के एकत्र संकलित कर दिया गया है, इससे यह प्रश्न

सुलभने के स्थान पर अधिक उलभता गया। तीसरे, कियों और साहित्यकारों की व्यक्तिगत हिंच और देश के अनुसार भी उनके प्रेरणा-स्रोत में अन्तर आ जाता है। किन्तु इसका भी हमारे विवेचकों ने विशेष घ्यान नहीं रखा। चौथे, काव्य के विभिन्न रूपों और उनकी शैली के अनुसार भी उनके प्रेरणा-स्रोतों में परस्पर अन्तर आ जाता है, अतः कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विभिन्न प्रकार की रचनाओं के पीछे सर्वत्र एक-जैसा ही प्रेरक तत्त्व ढूँढ़ना उचित नहीं, जबिक इस प्रश्न पर विचार करनेवाले विद्वानों ने प्रायः इस तथ्य की उपेक्षा की है। अस्तु, काव्य की मूल प्रेरणाओं पर सम्यक् रूप से विचार करने के लिए हमें उपर्युक्त चारों असावधानियों से वचकर चलना चाहिए।

सबसे पूर्व हमें अपने किवयों के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। आदिकवि वाल्मीिक के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्हें काक्य-रचना की प्रेरणा क्रींच-बध की प्रसिद्ध घटना से प्राप्त हुई। एकाकी पक्षी की शोक-विह्वल दशा देखकर कि का हृदय शोकानुभूति से उद्देलित हो उठा और उनके मुँह से अनायास ही दो पंक्तियों का श्लोक उच्चरित हो गया। इस साक्ष्य के आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(१) प्रत्यक्ष जीवन की घटनाओं से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। (२) शोकानुभूतियों से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती है। (२) शोकानुभूतियों में किसे अधिक महत्त्व दें—घटना को या अनुभूति को ? 'घटना' के अभाव में 'अनुभूति' का उद्देक नहीं होता और दिना अनुभूति के उद्देक के घटना प्रभाव-शून्य सिद्ध होती है, अतः दोनों का ही महत्त्व है। जीवन में घटनाएँ तो बहुत होती हैं; किन्तु वे सभी ऐसी अनुभूति प्रदान नहीं करतीं कि जिससे काव्य-रचना की प्रेरणा मिले। अतः इन दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए कहा जा सकता है कि मार्मिक घटनाओं की अनुभूति काव्य-रचना की प्रेरणा प्रदान करती है।

महाकिव कालिदास के 'मेघदूत' का प्रेरणा-स्रोत स्वयं किव का प्रिया-विरह बताया जाता है, ग्रतः यहाँ भी उपर्युक्त निष्कर्ष का ही समर्थन होता है। गाथासमजती-कार ने ग्रपने काव्य के ग्रारम्भ में ही रिसक जनों को काम की शिक्षा देना ग्रपनी काव्य-रचना का निमित्त माना है, जिसे हम प्रेरणा न कहकर 'उद्देश्य' मानना उचित समभते हैं। गीतगोविन्दकार जयदेव ने भी हरिस्मरण ग्रौर विलास-कला का ग्रौत्सुक्य शान्त करना ग्रपने काव्य का लक्ष्य माना है, यह भी काव्य-प्रेरणा का कारण न होकर उसका प्रयोजन या लक्ष्य ही है।

हिन्दी के किवयों में विद्यापित का बहुत ऊँचा स्थान है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने रस-पूर्ण गीतों की रचना राजा शिविसह और रानी लिखमादेवी की प्रेरणा से की थी और तथ्य का प्रमाण उनके गीतों की अंतिम पंक्ति में मिल भी जाता है—वे प्रायः अपने गीतों के अन्त में राजा शिविसह और रानी लिखमादेवी का उल्लेख करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का प्रभाव भी उनसे सम्बन्धित कवियों को काव्य-रचना की प्रेरणा दे सकता है।

एवं चरित्र ही रहा है, किन्तु फिर भी उनमें परस्पर थोड़ा-बहुत ग्रन्तर मिलता है। तुलसी के लिए तो 'एक भरोसो, एक बल' ग्रौर 'एक ग्रास'—उनका ग्राराघ्य देव ही रहा, किन्तु सूरदास की किवता-बाला को दैन्य ग्रौर ग्लानि की पंकिल-भूमि में से निकाल-कर सौन्दर्य, श्रृङ्गार ग्रौर प्रेम की वाटिका में उपस्थित करने का श्रेय भहाप्रभु बल्लभा-चार्य को ही है। प्रेम-दीवानी मीरा के गीतों का उद्गम स्रोत उनकी हृदय की प्रणयवेदना का ग्रजस्र प्रवाही स्रोत ही रहा है—''घायल की पीड़ा घायल जाणें'' के स्वरों में घायल हृदय की छटपटाहट ही व्यंजित है! जिस प्रकार पत्थर, लकड़ी या धातु पर चोट मारने से स्वतः ही एक घ्वनि निकल पड़ती है, कुछ वैसे ही विरह की चोट से कवीर, जायसी ग्रौर मीरा के गान शत-शत स्वरों में फूट पड़े! इन भक्त-किवयों में कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें काव्य-प्रेरणा ग्रपने मित्रों से प्राप्त हुई। नन्ददास ने 'रस-मंजरी' की रचना का ऐसा ही कारण बताया है। इस प्रकार भक्त-किवयों के काव्य के ग्राधार पर ये चार काव्य-प्रेरणाएँ सिद्ध होती हैं—(१) इष्टदेव या ग्राराघ्य का स्वरूप व चरित्र, (२) ग्राचार्य या गुरु का निर्देशन, (३) भितत-भाव ग्रौर प्रणय-वेदना की ग्रनुभूति ग्रौर (४) मित्रों की जिजासा।

रीतिकाल के प्रवर्त्तक ग्राचार्य केशवदास ने 'किव-प्रिया' की रचना ग्रपनी प्रिय शिष्या प्रवीणराय पातुर की शिक्षा के लिए तथा 'रिसक-प्रिया' की रिसकों के लिए (रिसकन को रिसक प्रिया कीन्हीं केशवदास) की है। इन्हें काव्य-प्रेरणा न कहकर काव्य-प्रयोजन के ग्रन्तर्गत लेना चाहिए। किन्तु ग्रिधकांश रीति-काव्य के मूल में ग्राश्रयदाता की शिक्षा, उसकी प्रसन्तता या उसके मनोरंजन का विचार ही प्रेरणा का कार्य करता रहा है, ग्रतः इसे भी प्रेरणा का एक स्रोत मानना उचित होगा। किन्तु रीतिमुक्त श्रृङ्गारी किवयों ने ग्रपनी प्रणयानुभूतियों की प्रेरणा से काव्य-रचना की, जैसा कि घनानन्द ने लिखा है—'लोग है लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत!''

भारतेन्दु-युग के किव प्रायः ग्रपने समाज ग्रीर राष्ट्र की दुर्दशा से क्षुब्ध होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं। भारतेन्द्र जी की ग्रनेक रचनाग्रों में देश की ग्रधोगित का क्षोभ ही विभिन्न भावनाग्रों के रूप में व्यक्त हुग्रा है। इसी प्रकार द्विवेदी-युग का साहित्य-कार भी समाज-सुधार ग्रीर राष्ट्रोत्थान की लहर से प्रेरित दिखाई देता है। इस युग के महापुरुषों—दयानन्द, रवीन्द्र ग्रीर गांधी का प्रभाव भी ग्रनेक रचनाग्रों के मूल में प्रेरक-शक्ति का कार्य करता रहा है। विश्व-किव रवीन्द्र के उिमला सम्बन्धी लेख से 'साकेतकार' को प्रेरणा मिलने की बात सर्वविदित है।

ख्रायावादी किवयों ने अपने प्रेरणा-स्रोत का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है, अतः उनके सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता से विचार किया जा सकता है। प्रसाद जी की प्रेरणा का स्रोत प्रायः वह लौकिक या अलौकिक आलम्बन रहा है, जो "आलिंगन में आते-आते मुसक्याकर भाग गया।" श्री सुमित्रानन्दन पंत. ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उन्हें किवता लिखने की प्रेरणा कूर्मीचल के प्राकृतिक वातावरण से मिली है, किन्तु आगे चलकर उन्होंने विरह-वेदना को भी काव्य-रचना का मूल कारण बताया CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान ! निकलकर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान !!

इस प्रकार पंत जी ने प्रकृति के सौन्दर्य ग्रौर लौकिक प्रणय दोनों को ही काव्य-रचना का प्रेरक स्वीकार किया है। महादेवी जी के काव्य की मुख्य प्रवृत्ति दुःखवाद ही है ग्रौर इस दुःखवाद का मूल-स्रोत है—

> इन ललचाई पलकों पर, पहरा था जब न्नीड़ा का ! साम्राज्य मुक्ते दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का !!

ग्रस्तु, उनके काव्य का स्रोत उनकी हृदयगत पीड़ा है ग्रौर उस पीड़ा का स्रोत किसी ग्रलौकिक की प्रेम-भरी चितवन है। दूसरे शब्दों में ग्रलौकिक प्रणय ही महादेवी जी के भव्य उद्गारों का मूल स्रोत है!

प्रगतिवादी किवयों का प्रेरणा-स्रोत मार्क्सवादी जीवनदर्शन, सामाजिक विषमता, शोषक वर्ग की विलासिता ग्रौर शोषित वर्ग की दीनता ग्रादि में ढूँढ़ा जा सकता है। इसी-लिए इलाहाबाद की सड़क पर मध्याह्न में पत्थर तोड़ती हुई मजदूरिन या गाँवों के ग्रर्ध-नग्न मनुष्यों पर किवता लिखी गई। नवीनतम प्रयोगवादी किवता में तो ग्रनियंत्रित काम-चेतना ग्रौर ग्रदम्य ग्रहंकार ही प्रेरक के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि विभिन्न युगों में तथा विभिन्न वर्गों के कवियों में काव्य-प्रेरणा के मुलाधार भी भिन्त-भिन्त रहे हैं । इन्हें हम मुख्यतः निम्नांकित शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं—(१) बाह्य प्रकृति ग्रौर जगत् के किसी दृश्य, घटना, परि-स्थिति या ग्रवस्था का प्रभाव। (२) किसी ग्रन्य व्यक्ति, ग्राश्रयदाता, गुरु, ग्राचार्य या मित्र की प्रेरणा। (३) किसी विचार या जीवन-दर्शन का प्रभाव। (४) लौकिक का ग्रलौकिक प्रणय, विरह या शोक की ग्रनुभूति । वस्तुतः प्रथम तीन वर्ग के उपादान भी उसी स्थिति में प्रभावित करते हैं, जविक वे किव की अनुभूति के विषय वन जाते हैं, श्रतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि प्रकृति, जगत्, व्यक्ति श्रादि के सम्पर्क से उत्पन्न किसी विचार या भाव की अनुभूति ही काव्य-प्रेरणा की मूल स्रोत है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारी सभी अनुभूतियाँ काव्य-प्रेरणा का रूप ग्रहण क्यों नहीं करतीं ? इसका उत्तर होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति काव्य-प्रेरणा नहीं बन सकती-जिस व्यक्ति में काव्य-रचना की प्रतिभा ग्रौर शक्ति होगी, उसी की ग्रनुभृतियाँ काव्य-रचना की प्रेरणा दे सकती हैं। साथ ही अनुभूतियों की सघनता एवं मार्मिकता का परिणाम भी महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की कुछ विशेष समय की कुछ विशेष मार्मिक ग्रनुभतियाँ ही कवि के हृदय को काव्य-रचना के लिए प्रेरित कर पाती हैं, सभी अनुभृतियाँ नहीं।

विभिन्न विद्वानों के मत

श्रनेक पाश्चात्य श्रौर पूर्वी विद्वानों ने भी काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में विचार किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने दैवी प्रेरणा को ही काव्य-प्रेरणा माना है। उनका विचार था कि जब ईश्वर जनस्विका भनुष्योगिष्स असिधित प्रतिका चाहता है तो वह कवियों की वाणी के माध्यम से अपने आपको व्यक्त करता है। संभवतः इस विचार से किवयों और उनकी किवता के गौरव में अभिवृद्धि होती है, किन्तु इससे काव्य-प्रेरणा सम्बन्धी प्रश्न का कोई यथार्थ उत्तर उपलब्ध नहीं होता। यदि सभी किवताओं के पीछे दैवी-प्रेरणा होती तो काव्य के क्षेत्र में अनेक अश्लील, अपिवत्र एवं कामुकतापूर्ण दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होते और न ही किवता के नाम पर तुकबिन्दियाँ तैयार होतीं। सुकरात के शिष्य प्लेटो और प्रशिष्य अरस्तू ने अनुकरण की वृत्ति को काव्य-प्रेरणा का आधार बताया है। संभवतः नाटक के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति स्वीकार की जा सकती है, किन्तु काव्य के अन्य अंगों—किवता, कहानी, उपन्यास आदि के क्षेत्र में ऐसा मानना उचित नहीं। अनुकरण किसी प्रस्तुत वस्तु, रूप या घ्विन का ही किया जाता है; जबिक काव्य-कृतियों का निर्माण सर्वथा मौलिक रूप में होता है, अतः इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रसिद्ध विचारक हीगेल ने सौन्दर्य, प्रेम ग्रौर ग्रात्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को काव्य-रचना का मूल कारण बताया है। ग्रिभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे महोदय ने भी ग्रात्माभिव्यंजना को ही काव्य-प्रेरणा माना है। भारतीय विद्वानों में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है—''हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह ग्रनेक हृदयों में ग्रपने को ग्रनुभूत करना चाहता है।.... हृदय-जगत् ग्रपने को व्यक्त करने के लिए ग्राकुल रहता है, इसलिए चिरकाल से मनुष्य के ग्रन्दर साहित्य का वेग है।''

हिन्दी के प्रसिद्ध म्रालोचक एवं विद्वान् श्री नन्दवुलारे वाज्येयो ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करते हुए लिखा है—''काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचिरत-मानस की रचना करते समय लिखा था—'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिवंधमितमंजुल मातनोति।' यहाँ 'स्वान्तः सुखाय' से उनका तात्पर्य म्रात्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धान्त का निरूपण करनेवाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उत्पादन विभाव, अनुभाव, संचारी भाव म्रादि को वताया है। साहित्य मात्र के मूल में म्रनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।"

डॉ॰ गुलाबराय जी ने स्रात्म-विस्तार को काव्य का प्रेरक तत्त्व मानते हुए स्पष्ट किया है—"भारतीय दृष्टि में स्रात्मा का ग्रर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार में ही ग्रात्मा की पूर्णता है।....ये सभी हृदय के ग्रोज को उद्दीस कर काव्य के प्रेरक बन जाते हैं।"

इस प्रकार विभिन्न काव्य-शास्त्रियों ने ग्रात्माभिव्यंजना, ग्रनुभूति ग्रौर ग्रात्म-विस्तार को काव्य का प्रेरक माना है। ये तीनों शब्द भी स्थूल दृष्टि से परस्पर ग्रन्तर रखते हुए भी सूचम दृष्टि से एक ही ग्रर्थ के द्योतक हैं। ग्रनुभूति से ही ग्रात्माभिव्यक्ति होती है—जब ग्रनुभूति ही नहीं तो ग्रभिव्यक्ति किसकी होगी—तथा भावानुभूति ग्रौर ग्रात्माभिव्यक्ति से ही हृदय का विस्तार होता है, ग्रतः यह तीनों मत एक ही प्रक्रिया— भावानुभूति के पोषक हैं। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

मनोविश्लेषकों के सत

पश्चिम के विभिन्न मनोविश्लेषकों ने भी काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में अनेक मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। फ्रायड ने अतृप्त काम-वासना को ही काव्य-प्रेरणा माना है। हमारी कुंठाएँ और दवी हुई वासनाएँ अपने विकास का मार्ग खोजती हुई काव्य, कला तथा स्वप्न आदि की सृष्टि करती हैं। फ्रायड के शिष्य एडलर ने हीनता की भावना को काव्य-प्रेरणा का स्रोत माना है। उनके विचार से मानव अपने अभावों और न्यूनताओं की पूर्ति साहित्य के द्वारा करता है। यंग के विचारानुसार मानव की सम्पूर्ण कियाओं का उद्देश्य अपने अस्तित्व की रक्षा ही है। साहित्य भी मनुष्य की आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। वस्तुतः इन विद्वानों ने साहित्य को एकांगी एवं संकुचित दृष्टिकोण से देखते हुए अपने मत स्थापित किए हैं। यदि हम उनकी मान्यताओं को व्यापक रूप में ग्रहण करें तो उनके निष्कर्ष ठीक अर्थ के द्योतक हो सकते हैं। फ्रायड जिसे 'अतृप्त वासनाओं की तृति' कहता है, उसे ही यदि 'अव्यक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति' कहा जाय या एडलर की 'हीन भावना' की पूर्ति के स्थान पर 'संकुचित भावना का विस्तार' अथवा युंग के 'आत्म-रक्षा' में आत्मा का अर्थ 'सूक्ष्म भाव-लोक' से लिया जाय तो इनकी व्याख्याएँ किसी सीमा तक संगत सिद्ध हो सकती हैं।

काव्य के विभिन्न रूप ग्रीर काव्य-प्रेरणा

यहाँ हमें यह भी व्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार विभिन्न कियों की काव्य-प्रेरणा के स्थूल ग्राधारों में परस्पर ग्रन्तर होता है, वैसे ही काव्य-रूप के मूल प्रेरक भौतिक ग्राधारों में भी भेद होता है। जिस प्रकार प्रवन्ध-काव्य मुख्यतः चिरत-नायक के गुण-गान की प्रेरणा से प्रेरित होता है, वैसे ही मुक्तक काव्य ग्रीर गीतिकाव्य में रचियता की स्वानुभूतियों की प्रेरणा ग्रधिक सगक्त होती है। उपन्यास ग्रीर कहानी में लेखक के ग्रन्तजंगत् की ग्रपेक्षा बाह्य-जगत् के प्रभाव की प्रेरणा ग्रधिक होती है, जबिक निवन्ध ग्रीर ग्रालोचना में निजी विचारों की व्यंजना का लक्ष्य प्रमुख होता है। ग्रस्तु, व्यक्ति ग्रीर ग्रालोचना में निजी विचारों की व्यंजना का लक्ष्य प्रमुख होता है। ग्रस्तु, व्यक्ति ग्रीर विषय के ग्रनुसार काव्य-प्रेरणा के ग्रसंख्य स्थूल ग्राधार ढूँढ़े जा सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म रूप में सभी में भावानुभूति का कोई-न-कोई ग्रंण ग्रवश्य विद्यमान होता है। भावना ही काव्य की शक्ति है, ग्रीर इस शक्ति की प्रेरणा के विना कोई भी वाक्य, विचार या तर्क गतिशील होकर काव्य का रूप धारण नहीं कर सकता। ग्रतः हमारे विचार से किसी भी प्रकार की भावानुभूति कि को ग्रिभव्यक्ति की प्रेरणा दे सकती है ग्रीर उसकी यह ग्रिभिव्यक्ति ही किवता का रूप धारण कर लेती है।

काव्य का प्रयोजन

काव्य की प्रेरणा पर विचार कर लेने के भ्रनन्तर ग्रव हम काव्य के प्रयोजन के प्रश्न को लेते हैं। इस प्रश्न पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है—किव काव्य की रचना क्यों करता है भीर पाठक काव्य का भ्रनुशीलन किसलिए करता है शप्रायः विद्वानों ने इस विषय पर-विभादवाक्यको सम्मायः विद्वानों ने इस विषय पर-विभादवाक्यक्यको सम्मायः विद्वानों ने इस विषय पर-विभादवाक्यक्यके स्वाप्त स्वा

जो उचित नहीं। किव ग्रौर पाठक दोनों के काव्य-प्रयोजन में थोड़ा-बहुत ग्रन्तर होना ग्रुनिवार्य है; ग्रतः हम यहाँ पहले किव के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। 'काव्य-प्रकाश' के रचियता मम्मट ने ग्रुपने ग्रन्थ में काव्य-निर्माण का प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

काव्यं यशसेऽथंकृते व्यवहारिवदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिवृतये कान्ता-सिम्मततयोपदेशयुजे।।

---काव्य-प्रकाश १।२

श्रर्थात् यश की प्राप्ति, सम्पत्ति लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का नाश, तुरन्त ही उच्चकोटि के श्रानन्द का श्रनुभव श्रीर प्रेयसी के समान मधुर उपदेश देने के लिए काव्य-ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) हैं।

उपर्युक्त श्लोक के ग्राधार पर काव्य के निम्नांकित प्रयोजन स्वीकार किए जा सकते हैं:—

- १. यश-प्राप्ति—प्रायः किवगण यश-प्राप्ति के उद्देश्य से ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं। कुछ महान् किव ऐसे भी हो सकते हैं जिनका उद्देश्य भले ही प्रारम्भ में यश-प्राप्ति न रहा हो, किन्तु काव्य-रचना के ग्रनन्तर वे ग्रपनी रचना की प्रशंसा ग्रवश्य चाहते हैं। महाकिव जायसी ने ग्रपने काव्य पद्मावत के सम्बन्ध में लिखा है, "ग्रौ मैं जानि किवत्त ग्रस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।" महाकिव तुलसीदास जी ने यद्यपि 'स्वांतः सुखाय' की घोषणा की है, किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि "जो प्रबन्ध बुध निंह ग्रादरहीं। सो स्रम वादि वाल किव करहीं।।" इसके ग्रितिरक्त 'निज किवत्त केहि लाग न नीका' से भी यही ध्वनित होता है कि इस महाकिव का भी हृदय यश की इच्छा से सर्वथा शून्य नहीं था। ग्रस्तु, जैसा कि ग्रंग्रेजी में कहा जाता है—Fame is the last infirmity of noble minds. (प्रसिद्धि बड़े ग्रादिमयों की सबसे ग्रन्तिम कमजोरी है), यह बात किवयों ग्रौर साहित्यकारों पर भी लागू होती है।
- २. अर्थ-प्राप्ति काव्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोजन ग्रर्थ या घन है। मध्यकाल के श्रिविकांश दरबारी किवयों ने धन-प्राप्ति के उद्देश्य से ही ग्रपने ग्राश्रयदाताग्रों की प्रशंसा में काव्य लिखे हैं। बिहारी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उन्हें प्रत्येक दोहे के लिए एक स्वर्ण मुद्रा दिये जाने का वचन दिया गया था। ग्राधुनिक युग में भी ग्रनेक किवयों पर यह बात लागू होती है।
- ३. व्यवहार-ज्ञान—बहुत से किव ग्रपने निकट सम्बन्धियों, मित्रों या पुत्रादि को नीति एवं व्यवहार की शिक्षा देने के लिए भी काव्य-रचना करते हैं।
- ४. लोक-हित-- अपने युग और समाज को अनिष्ट से बचाने के लिए भी काव्य-रचना की जाती है। 'कुरुक्षेत्र' के रचियता दिनकर ने अपने काव्य में विश्व को युद्ध के अनिष्ट से बचाने के लिए ही शान्ति का संदेश दिया है।
 - ५. आत्म-शान्ति-_{CC}काञ्चतुक्कतात्रावकोलकात्रकारःकई स्वारणकवियों को अपूर्व शान्ति

एवं ग्रानन्द का ग्रनुभव होता है, ग्रतः इसे भी काव्य का एक प्रयोजन स्वीकार किया जा सकता है।

६. कान्ता-सम्मित उपदश—श्रपने उपदेश, विचार या सिद्धान्त को मर्मस्पर्शी वनाने के लिए भी काव्य का माध्यम ग्रपनाया जाता है। कवीर, नानक ग्रादि सन्त किवयों ने ग्रपने विचारों का प्रकाशन इसीलिए किवता के माध्यम से किया है। महाकिव विहारों ने भी विभिन्न ग्रवसरों पर ग्रपने ग्राश्रयदाताग्रों को उपदेश देने के लिए कुछ दोहों की रचना की थी, जैसे—

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहंग विचार । बाज पराये पानि परि, तू न विहंगनु मार ॥

कहते हैं कि जब महाराजा जयसिंह ग्रौरंगजेव के ग्रादेश पर महाराजा शिवाजी से युद्ध की तैयारी कर रहे थे, तब बिहारी ने यह दोहा उन्हें सुनाया था। संभवतः इसी के प्रभाव से महाराजा ने शिवाजी ग्रौर ग्रौरंगजेब में संधि करवाने का प्रयत्न किया था।

मम्मट के ग्रतिरिक्त हमारे ग्रनेक ग्राचार्यों ग्रौर कियों ने भी काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। साहित्य-दर्पणकार ने काव्य को धर्म, ग्रर्थ, काम ग्रौर मोक्ष का दाता स्वीकार किया है। महाकिव तुलसीदास ने ग्रपना प्रयोजन 'स्वान्तः सुखाय' ही माना है, किन्तु ग्रन्य कियों के लिए वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं—

"कोरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥"

रीतिकाल के प्रसिद्ध ग्राचार्य एवं किव भिखारीदास ने काव्य के ग्रनेक प्रयोजन स्वीकार किए हैं—''कुछ सूर ग्रीर तुलसी की माँति काव्य-साधना के रूप में तपस्याग्रों का फल प्राप्त करते हैं; कुछ केशव ग्रीर भूषण की माँति धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं; कुछ को रसखान ग्रीर रहीम की भाँति केवल यश से ही प्रयोजन होता है। दास के विचार से किवता की चर्चा बुद्धिमान् को सभी स्थानों पर सुखदायी सिद्ध होती है।'' ग्राधुनिक युग के सुप्रसिद्ध किव मैथिलीशरण गुप्त ने कला का व्यापक प्रयोजन समाजहित स्वीकार करते हुए कहा है—"भानते हैं जो कला को कला के ग्रर्थ ही, स्वाधिनी करते कला को व्यर्थ ही।'' इस प्रकार हमारे किवयों ने कला का प्रयोजन केवल स्वार्थ-साधन तक ही सीमित न मानकर परमार्थ ग्रीर लोक-हित की साधना को स्वीकार किया है।

श्राधृनिक हिन्दी ग्रालोचकों के विचार 🛩

श्राचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करते हुए लिखा है—''प्रायः सुनने में ग्राता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह ग्राये हैं कि कविता का ग्रन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

१. इस सम्बन्ध में भिखारीदास का यह छन्द है—
एक लहें तपपुंजन्ह के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाँई।
एक लहें बहु सम्पत्ति केशव भूषन ज्यों बर बीर बड़ाई।।
एकन्ह को जस ही सौं प्रयोजन है रसखानि रहीम की नांई।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुद्धिवन्तन को सुख दै सब ठाँई।।

उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य-स्थापन है।" वे कविता से केवल मनोरंजन के उद्देश्य का विरोध करते हुए लिखते हैं--"मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या ग्रानन्द पहुँचाना ही यदि कविता का ग्रन्तिम लक्ष्य माना जाय, तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।" वस्तुतः कविता ग्राचार्य शुक्ल के विचार से एक दिव्य ग्रनुभति प्रदान करनेवाली शक्ति है, ग्रतः कवि का लक्ष्य भी वे पाठक के हृदय का विस्तार करना मानते हैं।

भाचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य का लक्ष्य मनुष्य जाति का हित करना मानते हैं । वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं--"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता भ्रौर परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी ब्रात्मा को तेजोद्दीस न बना सके, जो उसके हृदय को परदु:खकातर भौर संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुक्ते संकोच होता है।"

श्राचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य का प्रयोजन श्रात्मानुभूति बताया है। उनके णब्दों में-- "....हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वतः एक ग्रखंड श्रात्मिक व्यापार है जिसे किसी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खंड-ब्यापार या वाद से जोड़ने की ग्रावश्यकता नहीं। समस्त साहित्य में इस ग्रनुभूति या श्रात्मिक व्यापार का प्रसार रहा है।....काव्य का प्रयोजन मनोरंजन श्रथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन से भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में श्रात्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा। उसकी रचना भ्रघूरी भ्रौर अपंग रहेगी।" डा॰ नगेन्द्र ने अपने एक लेख में साहित्य का प्रयोजन श्रात्माभिव्यक्ति स्वीकार किया है। श्राचार्य गुलाबराय जी ने विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए लिखा है--''भारतीय दृष्टि में ग्रात्मा का ग्रर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार ही में ग्रांत्मा की पूर्णता है। लोकहित भी एकात्मवाद की दृढ़ ग्राधार-शिला पर खड़ा हो सकता है। यश, अर्थ, यौन सम्बन्ध, लोक-हित सभी आत्म-हित के नीचे या ऊँचे रूप हैं।....इन सब प्रयोजनों में वही उत्तम है, जो म्रात्मा की व्यापक-से-व्यापक श्रीर श्रधिक-से-श्रधिक सम्पन्न ग्रनुभूति में सहायक हो। इसी से लोक-हित का मान है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राचार्य मम्मट से लेकर ग्राचार्य गुलाबराय तक विभिन्न विद्वानों ग्रौर कवियों ने 'काव्य-प्रयोजन' के सम्बन्ध में विभिन्न वातें कही है। इन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक, जिन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण से विचार करते हुए, इस प्रश्न पर विचार किया है कि कवि काव्य में किस प्रयोजन से प्रवृत्त होता है ? दूसरे, वे जिन्होंने ग्रादर्शवादी दृष्टिकोण से यह बताने का प्रयत्न किया है कि काव्य-प्रयोजन क्या होना चाहिए ? ग्राचार्य मम्मट, भिखारीदास, ग्राचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी श्रौर डा० नगेन्द्र ने किसी ग्रादर्श को थोपने के प्रयत्न से बचते हुए यथार्थ दृष्टि से विचार किया है, जबिक ग्रन्य विचारकों ने कविता के महान् प्रयोजन का दिग्दर्शन आदर्शवादी दृष्टिकोण से कराया है। किव का प्रयोजन क्या होता है और क्या होना चाहिए-ये दो ग्रलग-ग्रलग प्रश्न हैं। पहले प्रश्न के उत्तर में प्रायः सभी विदान् एक मत हो सकेंगे, किन्तु दूसरे के सम्बन्ध में ऐसी श्राशा नहीं की जा सकती। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

प्रत्येक पाठक और ग्रालोचक ग्रपने दृष्टिकोण को ही सर्वोपिर रखेगा। एक समाज-सुधारक पाठक कि से यह ग्रागा करेगा कि वह सुधारवादी दृष्टिकोण से काव्य में प्रवृत्त हो, एक रिसक मनोविनोद के प्रयोजन का समर्थन करेगा, तो एक साम्यवादी सामाजिक क्रान्ति का प्रयोजन ग्रपनाने का परामर्श देगा। इसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्र-दायों एवं राजनीतिक दलों के संचालक व्यक्ति किवयों को ग्रपनी-ग्रपनी ग्रावश्यकता के ग्रनुरूप परामर्श दे सकते हैं—ग्रतः हमारे दृष्टिकोण से हमारा विवेच्य विषय "काव्य प्रयोजन क्या है?" है— "क्या होना चाहिए?" नहीं। पहले प्रश्न का भी ग्रन्तिम निर्णय करने से पूर्व हम पाश्चात्य ग्रालोचकों के मन्तव्यों पर विचार कर लेना ग्रावश्यक समभते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के विभिन्न मन्तव्य

पाश्चात्य देशों में काव्य को एक कला मानते हुए प्रयोजन के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रकाश में श्राये हैं, जिनमें कुछ ये हैं—(१) कला कला के लिए (२) कला जीवन के लिए (३) कला जीवन से पलायन के लिए (४) कला जीवन में प्रविष्ट होने के लिए (४) कला सेवा के लिए (६) कला ग्रात्मानुभूति के लिए (७) कला ग्रानन्द के लिए (६) कला विनोद के लिए (६) कला सर्जन की ग्रदस्य ग्रावश्यकता-पूर्ति के निमित्त ।

'कला के लिए कला' इस मत के प्रवर्त्तक एवं समर्थकों में श्री ए० सी० ब्रेडले, ग्रास्कर वाइल्ड, जे० ई० स्पिनगार्न ग्रादि प्रमुख हैं । इनके विचार से कला का या कलाकार का एकमात्र लक्ष्य कला या सौन्दर्य की सृष्टि करना मात्र होता है, स्रतः कलाकार से नीति, धर्म या उपदेशों के प्रतिपादन की ग्राणा करना ग्रनुचित है। श्री जे० ई॰ स्पिनगार्न महोदय के शब्दों में — "We have done with all moral judgment of art. Some said that poetry was meant to instruct, some merely to please, some to do both. Romantic criticism first enunciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete; that beauty its own excuse for being." "अर्थात कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करने की परम्परा को हमने समाप्त कर दिया है । कुछ कहते थे कि कविता का उद्देश्य शिक्षा देना है, कुछ केवल प्रसन्नता प्रदान करना उसका लक्ष्य मानते थे ग्रौर कुछ दोनों पर ही बल देते थे। किन्तु रोमांटिक समीक्षा-पद्धति ने सबसे पूर्व यह सिद्धान्त स्थापित किया कि कला का लक्ष्य केवल ग्रभिव्यक्ति है-ग्रिभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। सौन्दर्य स्वयं ही ग्रपना साघ्य है, उसकी उपयोगिता का कोई ग्रौर कारण ढूँढ़ना ग्रनावश्यक है।" इस प्रकार इस मत के ग्रनुयायियों ने कलाकार या किव को समस्त वाह्य-बन्धनों से मुक्ति प्रदान कर दी। कला का सर्व-प्रथम लक्ष्य कला को माना जा सकता है, किन्तु फिर भी उसका सम्बन्ध कुछ ग्रन्य वातों से भी है। एक कलाकार जब किसी कला-कृति का निर्माण कर लेता है तो उसका लक्ष्य पूरा हो जाता है, फिर भी वह ग्रपनी रचना को प्रकाशक के पास भेजता है-ऐसा क्यों ? किव या लेखक अपनी रचना को अपने ही तक सीमित क्यों नहीं CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

रखते ? ग्रवश्य ही इसमें यश-प्राप्ति, धन-प्राप्ति या ग्रौर कुछ प्राप्ति का विचार रहता है— ग्रतः कला का प्रयोजन भले ही रहे, किन्तु कलाकार का प्रयोजन उससे थोड़ा मिन्न ग्रवश्य होता है। उदाहरण के लिए एक सड़क का लक्ष्य दिल्ली हो सकता है; किंतु उस सड़क पर चलनेवाले पथिक का लक्ष्य कोरा दिल्ली न होकर 'वह कार्य होता है जो दिल्ली में ही सम्पन्न' हो सकता है। ग्रस्तु, ''कला कला के लिए'' का ग्रर्थ ''कलाकार कला के लिए'' नहीं है। हमारा प्रश्न कलाकार के प्रयोजन से सम्बन्धित है, जिसका उत्तर यहाँ नहीं मिलता।

दूसरा मत 'कला जीवन के लिए' की घोषणा करता है। प्रश्न है जीवन किसका? लेखक का या पाठक का? जीवन का सम्बन्ध एक थ्रोर रोटी, भोजन थ्रौर वस्त्र से भी है—जो कि घन के माध्यम से प्राप्त होते हैं—तो दूसरी थ्रोर उच्चकोटि के विचारों, भावनाओं थ्रौर सौन्दर्य से भी है। ग्रनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इस नारे की थ्राड़ में कविता का लक्ष्य नैतिकता, उपयोगिता थ्रादि सिद्ध किया है। पर प्रश्न है कि समाज को नीति की शिक्षा देने से स्वयं किव को क्या मिलता है। वह समाज को शिक्षा देने का कार्य किस उद्देश्य से या किस प्रयोजन से करे? फिर क्या जीवन में कोरी नैतिकता ही सब कुछ है—सौन्दर्य का क्या कोई मूल्य नहीं? इन प्रश्नों का उपयुक्त उत्तर इस मत के समर्थक नहीं दे पाते। वस्तुतः स्वयं 'जीवन' शब्द ही इतना व्यापक है कि इसका जो चाहें धर्म किया जा सकता है।

'कला को जीवन से पलायन के निमित्त' का ग्रर्थ भी स्पष्ट है। जीवन से पलायन का ग्रथं है मृत्यु का ग्रालिंगन करना। भला, जो मृत्यु का ग्रालिंगन करना चाहता है, वह किवता क्यों लिखेगा? वस्तुतः इस मत के प्रचारक 'जीवन' शब्द का ग्रर्थ 'जीवन की किठनाइयाँ' करते हैं। उनके विचार से जो लोग संसार की विषमताग्रों ग्रौर कर्कश-ताग्रों का सामना नहीं कर पाते, वे काव्य-उपवन में शरण लेते हैं या दूसरे शब्दों में ग्रपने दुःख को भुलाने के लिए काव्य-रचना करते हैं। इस मत के समर्थन में विभिन्न किवयों के काव्यों से कुछ पंक्तियाँ ढूँढी भी जा सकती हैं, जैसे—

ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक ! धीरे-घीरे ! जिस निर्जन में सागर-लहरी, श्रम्बर के कानों में गहरी ! निश्चल प्रेम-कथा फहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे!

—प्रसाद

X

X

X

मन मेरा खोजा फरता है, क्षण भर को वह ठौर! छिपा लूं श्रपना शीश जहाँ, अरे है वह वत्तस्थल कहाँ? —बच्चन

यह ठीक है कि उपर्युक्त पंक्तियों में 'पलायन' की कल्पना मिलती है; किन्तु इसी को काव्य-रचना का निमित्त मानना श्रनुचित है। किव के हृदय में शत-शत कल्पनाएँ एवं भावनाएँ समय-समय पर उद्देलित होती रहती हैं, श्रतः उन्हें ही काव्य-प्रयोजन मानना उचित नहीं। एक किव स्वर्ग-प्राप्ति की श्राकांक्षा व्यक्त करता है, दूसरा वीर भावनाश्रों की ग्रिमिव्यक्ति करता है श्रीर तीसरा गरीबों का चित्रण करता है, इसका यह तात्पर्य CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

नहीं कि वे क्रमणः स्वर्ग-प्राप्ति के लिए या युद्ध करने के लिए ग्रध्वा गरीव वनने के लिए काव्य-रचना करते हैं। ग्रौर फिर सभी रचनाग्रों में पलायन की भावनाग्रों का चित्रण नहीं होता—ग्रतः समस्त कवियों का प्रयोजन पलायनवाद मान लेना सर्वथा ग्रनुचित है।

कुछ अन्य विद्वान् उपर्युक्त मत से सर्वथा विरोधी वात कहते हैं कि 'कला जीवन में प्रविष्ट होने के लिए' है। यहाँ भी शब्दों का अनर्य किया गया है। हमारा जीवन में प्रवेश तो उसी दिन हो जाता है, जिस दिन हम माता के उदर से जन्म लेते हैं—अतः यहाँ जीवन का अर्थ है जीवन का सौन्दर्य या जीवन का रहस्य। आलोचकों की बुद्धि का चमत्कार देखिए कि वे एक ही किव में पलायनवाद और जीवन में प्रवृत्ति दोनों को सिद्ध करने में सफल हो जाते हैं। अपर हमने वे पंक्तियाँ उद्धृत की थीं, जिनके आधार पर प्रसाद को पलायनवादी सिद्ध किया गया है। अब वे पंक्तियाँ देखिए जिन्हें प्रवृत्ति-मूलक वताया गया है—

जिसे तुम समभे हो श्रिभशाप, जगत् की ज्वालाओं का मूल, ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाश्रो भूल।

ये ग्रव्द कामायनी की श्रद्धा के हैं, इनका प्रसाद के काव्य-प्रयोजन से क्या सम्बन्ध है—यह हमारी समक्ष में नहीं ग्राता। यदि इसी प्रकार काव्य-प्रयोजन ढूँढने लगें तो ग्रकेली कामायनी के ग्राधार पर प्रसाद के दस-बीस से ग्रधिक काव्य-प्रयोजन सिद्ध किए जा सकते हैं—जैसे—प्रलय करना, नई सृष्टि का निर्माण करना, यज्ञ करना, जीव-हिंसा का समर्थन ग्रौर विरोध करना ग्रादि-ग्रादि। वस्तुतः जीवन से पलायन या जीवन में प्रवेश—दोनों के ही लिए कविता लिखने की ग्रपेक्षा नहीं होती; हाँ, पाठक भले ही काव्य की छाया में वैठकर ग्रपने दुःख को भूल सकता है या जीवन के निगूढ़ रहस्य को समक्ष सकता है।

'कला सेवा के ग्रर्थ'—की व्याख्या करते हुए ग्राचार्य गुलावराय जी ने लिखा है—''ग्रस्पतालों में मरीजों को किवता सुनाना, संगीत सुनाना यह कला का सेवा-पक्ष ही है।'' हमारी ग्राचार्य जी के प्रति पूरी श्रंद्धा है, किन्तु फिर भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि मरीजों के लिए काव्य-रचना की जाती है। कम-से-कम हिन्दी साहित्य के इति-हास में तो ग्रभी तक किसी ऐसे किव का नाम नहीं ग्राता। कदाचित् यह बात ग्राचार्य जी ने विदेशी विद्वानों के मत के ग्राधार पर ही लिखी हो। सम्भव है, वहाँ ऐसे भी कलाकार हों जो मरीजों के लिए ही काव्य-साधना करते हों। हाँ, वैसे किव ग्रवश्य मिलते हैं जो कला-साधना करते-करते स्वयं मरीज वन जाते हैं।

'कला ग्रात्मानुभूति के लिए' ग्रौर 'कला ग्रानन्द के लिए' इन| दोनों विचारों में परस्पर इतना साम्य है कि दोनों को एक ही कहा जा सकता है। कलाकार को ग्रानन्द की ग्रनुभूति तो होती ही है, पर उससे भिन्न भी उसका कोई-न-कोई प्रयोजन ग्रवश्य होता है, ग्रन्थया वह ग्रपनी रचना को किसी ग्रन्थ के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता। जो लोग 'मनोविनोद के लिए' कला मानते हैं, उनकी बात भी इससे मिलती-जुलती है। हमारे विचार से ग्रात्मानुभूति, ग्रानन्द, मनोविनोद ग्रादि का सम्बन्ध कलाकार की ग्रपेक्षा CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

पाठक या द्रष्टा से ग्रधिक है। हाँ, यह ग्रवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि ग्रनेक कवि 'सृजन की ग्रदम्य ग्रावश्यकता' से प्रेरित होकर ही काव्य-रचना करते हैं, इसके ग्रतिरिक्त उनका ग्रीर कोई प्रयोजन नहीं होता।

उपर्युक्त मंतव्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इनमें हमारे प्रश्न का कोई यथार्थ उत्तर उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों के मत एकांगी दृष्टिकोण पर ग्राधारित हैं, जिनमें ग्रांशिक सत्य है। हमारे विचार से सभी किवयों का काव्य-प्रयोजन एक जैसा ही नहीं होता। कुछ सृजन की ग्रदम्य ग्राकांक्षा से प्रेरित होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं तो कुछ यश, घन तथा मान-मर्यादा की प्राप्ति के लिए तथा कुछ ग्रपने ग्राराघ्य देव या ग्राश्रयदाता की संतुष्टि के निमित्त, तो कुछ ग्रपने मत, विचार या सिद्धान्तों के प्रचार के प्रयोजन से काव्य-रचना करते हैं। ग्राचार्य मम्मट की उक्ति में इन सभी तथ्यों का संकेत मिल जाता है, ग्रतः हम उनके मत का ही समर्थन करना उचित समभते हैं।

पाठक के दृष्टिकोण से

दूसरा प्रश्न है—पाठक काव्य में किस प्रयोजन से प्रवृत्त होता है ? इसके दो उत्तर दिये जा सकते हैं—(१) ग्रानन्द-प्राप्ति के लिए, (२) ग्रपने ज्ञान में ग्रिभवृद्धि के लिए । हमारे विचार से पाठक काव्य में उस विशेष प्रकार की ग्रानन्दानुभूति के लिए ही प्रवृत्त होता है, जो किसी ग्रन्य साधन से उपलब्ध नहीं होती । कुछ लोग पाठक का लक्ष्य ज्ञान-वृद्धि भी मान सकते हैं, किन्तु यह लच्य गौण ही होगा । ज्ञान-वृद्धि के लिए काव्य की ग्रपेक्षा इतिहास, राजनीति, ग्रर्थशास्त्र, दर्शन-शास्त्र, नीति-शास्त्र ग्रादि के ग्रन्थ ग्रधिक उपयोगी होंगे, ग्रतः इन्हें छोड़कर काव्य में प्रवृत्त होने की ग्रावश्यकता नहीं । हाँ, जो लोग साहित्य सम्बन्धी परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के लिए काव्यानुशीलन करते हैं, उन पर ग्रवश्य यह बात लागू होती है ।

SAI JAGADGURU VISHWARAUHTYA

Digitized By Siddhanta Gangotri Gyaan Kosha LIBRARY

Amgamawadi Matri, Varansai

: छ: :

कला कला के लिए

१. मनुष्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ ग्रीर उनका लक्ष्य ।

२. भावना का लक्ष्य सौन्दर्य व ग्रानन्द ।

३. 'कला भीर म्रादर्शवाद' या 'कला जीवन के लिए'।

४. 'कला कला के लिए' के समर्थक क्रोचे का ग्रिमिव्यंजनावाद, ग्रास्कर वाइल्ड एवं जे० ई० स्पिनगार्न के मंतव्य, ब्रेडले महोदय के विचार, फायड का ग्रभिव्यक्तिवाद, इनके मंतव्यों की ग्रालोचना।

५. कलावाद के विरोधी तथा नैतिकता के पक्षपाती सुकरात, प्लेटो, रस्किन,

मैथ्य आर्नल्ड आदि के मत।

६. भारतीय दृष्टिकोण-प्राचीन आचार्यों का दृष्टिकोण, आधुनिक विद्वानों का दुष्टिकोण ।

सूचम-सत्ता (परमात्मा) के विभिन्न दार्शनिकों ने मुख्यतः तीन लक्षण स्वीकार किए हैं --- सत्, चित् ग्रौर ग्रानन्द । मनुष्य उसी सूक्ष्म-सत्ता का व्यक्त रूप माना गया है । मनुष्य का भी सूदम-जीवन तीन वातों पर ग्राधारित रहता है—ज्ञान, भावना ग्रौर क्रिया। इसमें ज्ञान का सम्बन्ध सत् से है, क्रिया का चित् से ग्रीर भावना का ग्रानन्द से । ग्रतः परमात्मा के ग्रनुरूप ही मानव-जीवन में इन तीनों तत्त्वों की प्रमुखता है । आधुनिक युंग के मनोवैज्ञानिक भी मानव-जीवन में उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियों-जान, क्रिया ग्रौर भावना (to know, to will, to feel) की ही प्रमुखता स्वीकार करते हैं। मानव-जीवन से सम्बन्धित विभिन्न विषय इन्हीं तीनों प्रवृत्तियों से प्रेरित हैं। ज्ञान की प्रवृत्ति ने विज्ञान ग्रीर दर्शन को, क्रिया की प्रवृत्ति ने धर्म ग्रीर व्यवसाय को ग्रीर भावना की प्रवृत्ति ने साहित्य ग्रौर कला को जन्म दिया। यद्यपि विज्ञान, व्यवसाय ग्रौर कला-तीनों का सम्बन्ध मानव-जीवन से है, फिर भी तीनों के लच्य में परस्पर गहरा अन्तर सिद्ध होता है, जहाँ विज्ञान का लच्य सत्यं है, व्यवसाय का शिवं, वहाँ कला का सुन्दरम् है। इनमें से यदि कोई भी विषय ग्रपने लक्ष्य को भूलकर ग्रन्यत्र दृष्टिपात करने लगेगा तो उससे वह तो पथ-भ्रष्ट हो ही जावेगा, साथ ही जीवन में भी विकृति उत्पन्न कर देगा। यदि एक वैज्ञानिक किसी सुन्दर पुष्प के दुकड़े-टुकड़े करके उनके मूल तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करने के स्थान पर यदि वह उसके सौन्दर्य से ग्रिभिभूत होकर कविता लिखने लग जाय तो वह वैज्ञानिक न रहकर कवि वन जायगा। इसी प्रकार एक शिवं का रक्षक न्यायाधीश यदि किसी ग्रभियुक्ता बाला के ग्रधिकारों को भूलकर उसके सौन्दर्य पर ही मुग्ध होने लगेगा तो वह भी भ्रपने कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट हो जायगा। ठीक इसी प्रकार सौन्दर्य-साधना में रत कलाकार जब श्रपने मूल लक्ष्य को भूलकर सत्यं धौर शिवं

की ग्रोर ग्राकर्षित होने लगेगा तो वह ग्रपनी कला को कला के स्थान पर दर्शन या नीति-शास्त्र का रूप दे देगा। ग्रस्तु, जीवन की सफलता इसी में है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य और क्षेत्र को ही प्रमुखता दे। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कर्त्तव्य-क्षेत्र में प्रवेश करेगा तो इससे उसका महत्त्व तो नष्ट हो ही जायगा, संसार में भी वड़ी अव्यवस्था और विकृति आ जायगी। जल का गुण शीतलता है और अग्नि का उष्णता, उनका धर्म इसी बात में है कि दोनों ग्रपने-ग्रपने गुणों को बनाए रखें। किन्तु ग्राश्चर्य की बात तो यह है कि संसार के अनेक विद्वान् जो एकांगी दृष्टिकोण से ही सभी वस्तुओं को देखने के अभ्यस्त हैं, एक वस्तु का गुण दूसरी वस्तु में ढुँढ़ने का प्रयास करते हैं। उसी दृष्टिकोण का परिणाम है कि साहित्य और कला में विज्ञान, दर्शन और नीतिशास्त्र के तत्त्वों की श्राशा की जाती है। विभिन्न विद्वानों के विचार से जीवन में केवल सौन्दर्य से काम नहीं चल सकता, उपयोगिता की दृष्टि से भी सौन्दर्य का विशेष महत्त्व नहीं है, ग्रतः वे चाहते हैं कि कला सौन्दर्य के साथ-साथ कुछ ऐसी उपयोगी वातों या नैतिकता की भी शिक्षा दे जिससे कि जीवन की उन्नति हो । इसी दुष्टिकोण के समर्थन ग्रीर विरोध को लेकर विचारकों के दो पक्ष हो गए हैं, एक उनका जो कला का चरम लक्ष्य सीन्दर्य मानते हैं, इनका नारा है— "कला कला के लिए," श्रीर दूसरा, उनका जो कला का चरम लक्ष्य नैतिकता की शिक्षा देना मानते हुए कहते हैं — "कला जीवन के लिए।" ग्रतः इन दोनों पक्षों के विचारों के ग्रध्ययन के ग्रनन्तर ही हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

कला जीवन के लिए—सुश्री महादेवी वर्मा ने जीवन तथा कला में श्रादर्श का महत्त्व बताते हुए लिखा है—

""ग्यादर्श हमारी दृष्टि की मिलन संकीर्णता घोकर, उसे बिखरे यथार्थ के भीतर छिपे हुए सामंजस्य को देखने की शक्ति देता है, हमारी व्यष्टि में सीमित चेतना को मुक्ति के पंख देकर समिष्ट तक पहुँचने की दिशा देता है ग्रीर हमारी खिष्डत भावना को ग्रखण्ड जागृति देकर उसे जीवन की विविधता नाप लेने का वरदान देता है। जब ग्रादर्श जलभरे बादल की तरह ग्राकाश का ग्रसीम विस्तार लेकर पृथ्वी के ग्रसंख्य रंगों, ग्रनन्त रूपों में नहीं उतर सकता तब शरद के सूने मेघ-खण्ड के समान शून्य का घड्या बना रहना ही उसका लक्ष्य हो जाता है...।"

विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में 'ग्रादर्शवाद' शब्द का प्रयोग विभिन्न विशिष्ट धारणाग्रों एवं मान्यताग्रों के ग्रर्थ में किया जाता है। दर्शन के क्षेत्र में ग्रादर्शवाद भौतिकवाद का विरोधी है। ''भौतिकवादी भौतिक द्रव्य को सत्य मानता है ग्रौर मन ग्रथवा चेतना को उसका उपजात एवं ग्रनुगामी। इसके ठीक विपरीत दार्शनिक ग्रादर्शवादी मन ग्रथवा चेतना को परम सत्य एवं परम तत्त्व ग्रौर भौतिक द्रव्य को उससे उद्भूत मानता है। उसकी मान्यता यह है कि परम तत्त्व मन जैसा चेतन है।'' (हिन्दी साहित्य कोष: पृष्ठ ६५)। इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में ग्रादर्शवाद को ग्रध्यात्मवाद का पर्यायवाची कहा जा सकता है। किन्तु देश ग्रौर काल के भेद से इसके स्वरूप में परस्पर थोड़ी-बहुत विभिन्नता भी सदा रही है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) के क्षेत्र में भी विचारकों का एक ऐसा समूह रहा है जो 'श्रादर्शवादी' कहा जा सकता है। इस वर्ग में वे चिन्तक श्राते हैं जो वस्तु का सौन्दर्य उसके भौतिक तत्त्वों में न मानकर या तो उसकी उपयोगिता में मानते हैं श्रथवा द्रष्टा की दृष्टि में मानते हैं। सुकरात, प्लेटो, हरवर्ट, रिचर्ड्स श्रादि विचारक इसी श्रेणी में श्राते हैं। सुकरात ने उपयोगिता को ही सौन्दर्य का पर्यायवाची मानते हुए एक स्थान पर लिखा था—"A dung basket if it answers its end may be a beautiful thing while a golden shield not well for use, is ugly thing" अर्थात् एक गोवर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि वह श्रपना कोई उपयोग रखती है, जब कि चमचमाती हुई स्वर्ण-घटित ढाल भी श्रसुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से श्रपूर्ण है।

(सुकरात के शिष्य प्लेटों ने प्रत्यक्ष संसार को किसी अप्रत्यक्ष जगत् की प्रतिच्छाया घोषित करते हुए समस्त सौन्दर्य को किसी एक अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित माना है। / हमारी आत्मा सौन्दर्य की खोज में भटकती रहती है, किन्तु सौन्दर्य के सच्चे स्वरूप का आस्वादन करना कोई सरल कार्य नहीं। उसके विचारानुसार विभिन्न शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन एवं सनन से विकसित एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति से ही हम सौन्दर्य-बोध कर सकते हैं। यद्यपि सौन्दर्य-बोध की यह अपूर्व क्षमता तर्क-बद्ध अध्ययन से ही उदित होती है, फिर भी वह तर्क से शून्य होती है। सौन्दर्य तर्क-गम्य नहीं अनुभूति-गम्य है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों में आई० ए० रिचर्ड्स ने भी सौन्दर्य की व्याख्या आदर्शवादी वृष्टिकोण से करते हुए कहा कि हमारी भावात्मक संतुष्टि का नाम ही सौन्दर्य है। किसी वस्तु को देखकर जब हमारी भावनाओं में एकाग्रता या तन्मयता आ जाती है तो हम तृप्ति का अनुभव करते हैं और हम उस वस्तु को भूल से सुन्दर कह बैठते हैं, जबिक वास्तव में सौन्दर्य हमारी इस मानसिक तृप्ति की देन है। इस प्रकार आदर्शवादी दार्शनिकों की ही भाँति आदर्शवादी सौन्दर्य-शास्त्रियों ने भी भौतिकता की अपेक्षा आध्या-रिमकता को, स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता को, और यथार्थ की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्त्व दिया है।

साहित्य के क्षेत्र में ग्रादर्शवाद का प्रयोग किसी एक वर्ग या एक काव्य-धारा के लिए नहीं होता—जैसा कि कुछ ग्रन्य वादों के सम्बन्ध में होता है—ग्रपितु व्यापक रूप में उसका प्रयोग एक विशिष्ट दृष्टिकोण के लिए होता है। वस्तुतः इसका प्रयोग 'यथार्थ-वाद' के विरोध में किया जाता है। काव्य में विषय-वस्तु का चित्रण वास्तविक रूप में करना यथार्थवाद कहलाता है, जबिक उसे वास्तविक से ऊपर उठाकर प्रस्तुत करना ग्रादर्शवाद है। यथार्थवाद जहाँ 'क्या है?' का उत्तर देता है, वहाँ ग्रादर्शवाद यह बताता है कि 'क्या होना चाहिए?' यथार्थवादी मनुष्य की दुर्बलताग्रों का चित्रण करके उसके पतन को चित्रित करता है, जबिक ग्रादर्शवादी उसकी उदात्त प्रवृत्तियों को उभार करके उसे उत्थान की ग्रोर ग्रग्नसर करता है! यथार्थवादी समाज की समस्याग्रों को नग्न रूप में प्रस्तुत करके ही चुप हो जाता है, जबिक ग्रादर्शवादी उनका समाधान भी करने का प्रयत्न करता है चिश्रीश्वीदी इस करता है, जबिक ग्रादर्शवादी उनका समाधान भी करने का प्रयत्न करता है

नहीं करता, जबिक ग्रादर्शवादी इन सबमें विश्वास करता है। यथार्थवादी की दृष्टि घरती पर रहती है, जबिक ग्रादर्शवादी ग्रासमान की ग्रोर ताकता है। यथार्थवादी को केवल वर्तमान से प्रेम होता है, जबिक ग्रादर्शवादी ग्रतीत के गौरव ग्रौर भविष्य की कल्पनाग्रों में डूबा रहता है। (यथार्थवादी काव्य की रचना का ग्रन्त प्रायः निराशा, वेदना, पराजय एवं दु:ख में होता है, जबिक ग्रादर्शवादी के काव्य में नए जीवन के मधुर स्वप्नों, भावी सफलता की ग्राशाग्रों, पाप पर पुष्य की विजय का का चित्रण होता है। प्रश्न है ऐसे सुन्दर, मधुर, दिव्य एवं ग्रलौिकक ग्रादर्शवाद में कौन से दोष हैं जिससे सभी कलाकार या सभी पाठक इसे पसन्द नहीं कर पाते ?)

इसका सीधा सा कारण यह है कि वह कल्पना के गगन में उड़ान भरता है, जबिक हमारा वास्तिविक जीवन यथार्थ की ठोस भूमि पर ग्राधारित है। वह हमें कला का ग्राश्वासन देता है जबिक हम ग्राज की पीड़ा से घायल हो रहे हैं। वह हमारी रोटी की ग्रावश्यकता के उत्तर में संगीत की मीठी रागिनी सुनाता है। ग्रादर्शवाद की ग्रित सूक्ष्मता, ग्रित काल्पनिकता ग्रौर ग्रलौकिकता से ही ऊबकर लोग यथार्थवाद की गरण लेते हैं।

दूसरा प्रश्न है कि जब ग्रादर्शवाद इतना बुरा है तो इसमें कौन से गुण हैं जिससे कुछ लोग इसका समर्थन करना उचित समभते हैं? इसका उत्तर यही है कि यथार्थवाद हमारा शरीर है तो ग्रादर्शवाद हमारी ग्रात्मा है। यदि हमारे जीवन के लिए रोटी, कपड़े ग्रौर मकान की ग्रावश्यकता सर्व-प्रमुख है, तो मीठी कल्पनाग्रों, मधुर स्वप्नों एवं उच्च ग्रादर्शों के बिना भी जीवन जीवन नहीं रह सकता। संसार की वाटिका में यदि हम यथार्थ के काँटों को ही देखते रहें, तो भय है कि कहीं हम निराश होकर ग्रात्महत्या ही न कर लें, ग्रतः उसके ग्रादर्श के फूलों को भी देखना नितान्त ग्रावश्यक है। ग्रतः जीवन ग्रौर साहित्य—दोनों में यथार्थ ग्रौर ग्रादर्श का उचित संतुलन ग्रावश्यक है। जैसा कि श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है—''ग्रादर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का वालक है ग्रौर यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक, ग्रतः उनकी ग्रन्योन्याश्रित स्थिति न अपर से कभी प्रकट हो सकती है ग्रौर न भीतर से कभी मिट सकती है। उनकी गित विपरीत दिशोन्मुख होकर भी जीवन की परिधि को दो ग्रोर से स्पर्श करने का एक लक्ष्य रखती है।''

कला कला के लिए

कला का उद्देश्य विशुद्ध कला या सौन्दर्य को माननेवाले विद्वानों में क्रोचे, ग्रास्कर वाइल्ड, वाल्टर पेटर, जे॰ ई॰ स्पिनगार्न ग्रादि प्रमुख हैं। क्रोचे का मत 'ग्रिमिन्यंजना-वाद' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने ग्रात्मा की दो प्रवृत्तियाँ मानी हैं—एक विचारात्मक या सैद्धान्तिक (Theoretic) ग्रौर दूसरी न्यावहारिक (Practical)। इस विचारात्मक या सैद्धान्तिक प्रवृत्ति के भी दो उपभेद हैं, एक स्वानुभूति से प्रेरित (Intuition) ग्रौर दूसरी क्रिक्न क्री कि स्वानुभूति हैं प्रवृत्तियों के भी क्रोचे ने दो भेद किए हैं—ग्राधिक ग्रौर नैतिक। इस प्रकार ये चार प्रवृत्तियाँ के भी क्रोचे ने दो भेद किए हैं—ग्राधिक ग्रौर नैतिक। इस प्रकार ये चार प्रवृत्तियाँ

निश्चित हुई—(१) स्वानुभूति से प्रेरित (Intuition), (२) तर्क की क्रिया से उत्पन्न (Logic), (३) ग्रार्थिक (Economic) ग्रौर (४) नैतिक (Ethical)। कला का सम्बन्ध इनमें से प्रथम प्रवृत्ति—स्वानुभूति—से ही है, ग्रतः शेष प्रवृत्तियाँ जिनमें नैतिक प्रवृत्तियाँ भी सम्मिलत हैं, कला से ग्रसम्बद्ध हैं। कला-सृष्टि की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है जब कोई भी कलाकार स्वानुभूति को सहज स्वाभाविक रूप में ग्रिम्थिक कर देता है, तो वही कला का रूप धारण कर लेती है। ग्रतः ग्रिम्थिक की पूर्णता ही कला की पूर्णता है। ग्रिम्भियिक ही उसका सौन्दर्य है। इस प्रकार क्रोचे विभिन्न प्रवृत्तियों के वर्गीकरण के द्वारा कला का क्षेत्र नैतिकता से भिन्न मानता है। यदि कलाकार ग्रनैतिक तत्त्वों की ग्रिमिथ्यंजना करता है, तो यह दोष स्वयं कलाकार का नहीं है, ग्रिपतु उस समाज का है जिसके वातावरण के प्रभाव से उसने ऐसी ग्रनुभूति ग्रहण की। ग्रतः जो ग्रालोचक कला में नैतिकता देखना चाहते हैं, वे पहले समाज के वातावरण में नैतिकता को प्रतिष्ठित करें।

श्री ग्रास्कर वाइल्ड श्रीर स्पिनगार्न महोदय ने भी कला का क्षेत्र नैतिकता से भिन्न मानते हुए "कला कला के लिए" का समर्थन किया है। श्रास्कर वाइल्ड ने स्पष्ट रूप में घोषित किया है—"समालोचना में सबसे पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला श्रीर श्राचार के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं।" जे० ई० स्पिनगार्न के शब्दों में—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढना ऐसा ही जैसा कि रेखा-गणित के समित्रकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना श्रीर समिद्धवाहु त्रिभुज को दुरा-चारपूर्ण।"

श्री ब्रेडले महोदय ने भी "कला कला के लिए" मत का समर्थन करते हुए कहा है कि कला को सौन्दर्य के माप-दण्ड से हो नापना चाहिए। हाँ, ग्रनैतिकतापूर्ण रचनाओं को नागरिकों की दृष्टि से प्रकाशित न भी किया जाय तो कोई बात नहीं। ब्रेडले ने बतलाया है कि रोसिटी (Rossetti) ने ग्रपनी एक कविता को जिसे मर्यादावादी टेनीसन ने भी पसन्द किया था, लोक-मर्यादा के भय से प्रकाश में नहीं ग्राने दिया। इस सम्बन्ध में ब्रेडले महोदय का कहना था कि उसका यह निर्णय नागरिक को दृष्टि से था, कलाकार की हैसियत से नहीं।

ग्राधुनिक मनोविश्लेषकों में भी ग्रनेक ने कलावाद का समर्थन किया है। फायड ने काव्य को ग्रतृप्त वासनाग्रों की ग्रिभव्यक्ति माना है। ऐसी स्थिति में काव्य में कामुकता ग्रीर ग्रश्लीलता का ग्रा.जाना स्वाभाविक है। इस धारणा से साहित्यकारों को नग्न दृश्यों के चित्रण की छूट मिल गई है। वे कला के ग्रावरण में ग्रपने कुत्सित मन की गन्दगी को प्रस्तुत करने लगे हैं। यदि क्रोचे ने स्वाभाविक ग्रिभव्यक्ति को काव्य का लक्ष्य माना था, तो फायडवादी ग्रश्लील ग्रिभव्यक्ति को ही ग्रपना साध्य मानने लगे हैं।

वस्तुतः क्रोचे, स्पिनगार्न, ब्रेडले, फायड ग्रादि सभी कलावाद के समर्थकों के विचार ग्रितवादी हैं। सर्वप्रथम क्रोचे ने ग्रिमिन्यिक्त को ही सौन्दर्य मानकर एक बड़ी भारी भ्रान्ति का प्रचार किया। प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी-बहुत ग्रनुभूति की मात्रा तो होती ही है ग्रीर वह किसीटर-किसी क्रिप्रभूषे अपे अपे क्रिस्टिस्ट के भी क्रान्ता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति

की प्रत्येक भावाभिव्यक्ति काव्य का रूप घारण नहीं करती। जब दो व्यक्ति परस्पर भगड़ते हैं तो उनकी उक्तियों में क्रोघ की सफल ग्रभिव्यक्ति होती है, पर क्या उसे हम काव्य की संज्ञा दे सकते हैं? ग्रभिव्यक्ति काव्य का साधन है, साघ्य नहीं। दूसरे व्यक्ति का चरित्र भी उसकी विकसित भावनाग्रों पर ग्राधारित होता है, ग्रतः चारित्रिक वृत्तियों — नैतिकता ग्रादि—का हमारी भावनाग्रों से गहरा सम्बन्ध होता है तथा काव्य की भी मूलाधार भावनाएँ होती हैं। इस दृष्टि से नैतिकता ग्रौर काव्यात्मकता—दोनों का प्रेरणास्त्रोत एक ही है। ग्रतः कला को नैतिकता से सर्वथा पृथक् मानना उचित नहीं।

यह ठीक है कि कला का सर्वोपिर गुण उसका सौन्दर्य है, किन्तु यह सौन्दर्य यदि नैतिकता से शून्य होगा तो उसके प्रभाव में न्यूनता श्रायगी। स्वयं सौन्दर्य को सौन्दर्य बनाए रखने के लिए भी नैतिकता की प्रधान रूप में न सही, गौण रूप में श्रावश्यकता है। जैसा कि हमने प्रारम्भ में प्रतिपादित किया था कि सौन्दर्य का लक्ष्य हमारे जीवन में श्रानन्द की प्रतिष्ठा करना है, किन्तु जो तत्त्व ऐसा करने में समर्थ न हो, उसे सौन्दर्य की उपाधि से कैसे विभूषित कर सकते हैं?

महात्मा टालस्टाय ने भी कला का मानदण्ड नैतिकता को सिद्ध करते हुए लिखा है—''In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what bad, common to the whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art.'' अर्थात् ''प्रत्येक युग में तथा प्रत्येक समाज में कुछ सामान्य घार्मिक एवं नैतिक घारणाएँ प्रचलित रहती हैं और इन्हीं के आघार पर किसी भी कला द्वारा प्रतिपादित भावनाओं का मूल निर्घारित किया जाता है।''

श्राधृनिक युगीन पाश्चात्य विद्वानों में रिस्किन ने कला में नैतिकता का समर्थन दृढ़तापूर्वक किया। रिस्किन महोदय ने सौन्दर्य का सम्बन्ध ग्राध्यात्मिकता से स्थापित करते हुए बताया है कि हमारी सौन्दर्यानुभूति हमारी इन्द्रियों, या हमारी मानसिक शिक्तियों पर ग्राधारित नहीं है, ग्रिपतु उसका सम्बन्ध हमारी ग्रास्तिक भावनाग्रों से है। साथ ही उसका यह भी विश्वास है कि सच्चरित्र व्यक्ति ही उच्च कोटि की कला का सृजन ग्रीर ग्रास्वादन कर सकता है। इसी प्रकार मैथ्यू ग्रानिल्ड, रिचर्ड्स ग्रादि विद्वानों ने भी नैतिकता का समर्थन किया है।

जहाँ कलावादियों ने सौन्दर्य को इतना श्रधिक महत्त्व दिया है कि उससे नैतिकता श्रस्वस्थ हो जाती है, तो नैतिकता को इतना बढ़ावा भी दिया है कि उससे सौन्दर्य का दम घुट जाता है।

भारतीय दुष्टिकोण

हमारे प्राचीन ग्राचार्यों ने इस सम्बन्ध में एक सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। (रस-सिद्धान्त के ग्रनुसार कला का लक्ष्य सामाजिक को रसानुभूति या ग्रानन्द प्रदान करना है।) स्थूल दृष्टि से रस-सिद्धान्त पाश्चात्य कलावाद के निकट प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों ही कलाग्रों का लक्ष्य सौन्दर्य या ग्रानन्दानुभूति स्वीकार किया गया है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों में गहरा ग्रन्तर दृष्टिगोचर होगा। पाश्चात्य कलावाद में जहाँ स्वयं रचयिता का ग्रानन्द ही साव्य है, वहाँ रस-सिद्धान्त में सामाजिक या पाठक का। इस स्थिति में कला समाज-विरोधी रूप धारण नहीं कर सकती। यदि कला नैतिकता का विरोध करेगी, तो वह सामाजिक के हृदय को प्रभावित करने में ग्रसमर्थ सिद्ध होगी। यही कारण है कि हमारे यहाँ किवयों की उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों पर ग्रंकुण के लिए 'रसाभास' जैसे विशेषणों का ग्राविष्कार किया गया है।

रस-सिद्धान्त के ग्रतिरिक्त ग्रन्य सम्प्रदायों के ग्राचार्यों ने भी कला का मानदण्ड तो सौन्दर्य को ही रखा है, किन्तु वे उसका लक्ष्य सामाजिक की तृष्ति ही मानते हैं। ग्रस्तु, भारतीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में कला स्वतन्त्र रहती हुई भी नैतिकता के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करती रही है, ग्रतः दोनों में कोई विरोध नहीं मिलता। हाँ, जब-जब समाज के दृष्टिकोण में भी नैतिकता सम्बन्धी मान्यताश्रों में परिवर्तन हुग्रा तो उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। नायिका-भेद के ग्रन्तर्गत परकीया को भी स्थान दिया जाना इसी तथ्य का द्योतक है।

ग्राधुनिक भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण में ग्रवश्य पाश्चात्य प्रभाव के कारण थोड़ी ग्रतिवादिता ग्रा गई है। जहाँ ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कला का चरम लक्ष्य मानव-जाति का हित-साधन करना मानते हैं वहाँ इलाचन्द्र जोशी कला में नीति को ढूँढ़ना पाप समभते हैं। उनके शब्दों में — "उच्च ग्रंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" यदि राष्ट्रकवि मैथिली-शरण गुप्त एक ग्रोर लिखते हैं— "मानते हैं जो कला को कला के ग्रर्थ ही, स्वाधिनी करते कला को अयर्थ हो।" तो दूसरी ग्रोर महाकवि दिनकर जी का विचार है-"मैं यह मानता हूँ कि वसन्त का गुलाब और किव के स्वप्न अपने में पूर्ण होते हैं, वे किसी को कुछ सिखाने के लिए नहीं होते !" हमारे विचार से काव्य में कला का मूल लक्ष्य तो सौन्दर्य ही होना चाहिए, किन्तु उसमें ग्रनैतिक तत्त्वों का ऐसा मिश्रण न हो कि वह समाज को क्षति पहुँचाने लगे। हाँ, यदि उसकी कलात्मकता को ठेस पहुँचाए बिना कुछ उपयोगी तत्त्वों का भी समावेश किया जा सके तो यह उसका विशेष गुण होगा । कला के क्षेत्र में सौन्दर्य को नष्ट कर देनेवाली अति नैतिकता और नैतिकता के ठेस पहुँचानेवाली सुन्दरता-ये दोनों ही त्याज्य हैं। यदि एक मिष्ठान्न-विक्रेता अपने मिष्ठान्न में ऐसी गुणकारी वस्तुएँ मिलाता है जिनसे उसका स्वाद ही विगड़ जाता है या उसके स्वाद को बढ़ाने के लिए ऐसी वस्तुएँ मिलाता है कि खानेवाले को तुरन्त हैजा हो जाता है—तो दोनों ही स्थितियों में उसकी मिठाई हमें स्वीकार्य नहीं होगी। सौन्दर्य के नाम पर कला को समाज-विरोधी रूप देना ऐसा ही है, जैसा स्वाद की वृद्धि के लिए हैजा फैलानेवाली मिठाई का निर्माण करना । वस्तुतः कला में सौन्दर्य ग्रौर नैतिकता का सन्तुलित एवं समन्वित रूप ही श्रेयस्कर है। कला जीवन-साध्य है तथा जीवन कला-साध्य । कला जीवन से दूर कोई एकान्समग्री अक्तोकी काला ता हों अपे ए वास की दूर कोई जड़ पदार्थ है। कला और जीवन दोनों समाज सापेक्ष है; दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। उत्कृष्ट कला में दोनों का समन्वित रूप ही दृष्टिगोचर होता है। ग्रतः कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है—''सौन्दर्य-मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है ग्रौर मंगल-मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।''

: सात :

कविता क्या है ?

पाश्चात्य विचारकों के मत—सुकरात का दैवी-प्रेरणा सम्बन्धी विश्वास,
 प्लेटो का मिथ्या-अनुकृति सम्बन्धी मत, ग्ररस्तू का ग्रनुकृतिवाद ।

२. भारतीय दृष्टिकोण—रस-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से, ग्रलंकार-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से, ग्रीचित्य-सम्प्रदाय का दृष्टिकोण।

- ३. कविता के विभिन्न रूप-प्रवन्ध, मुक्तक, गीति ग्रादि ।
- ४. कविता के विभिन्न लक्षण ।
- ४. कविता के तत्त्व।
- ६. कविता और काव्य के भ्रन्य रूप।
- ७. कविता का महत्त्व।

कविता क्या है ? इस छोटे से प्रश्न को लेकर ग्राज तक विश्व के न जाने कितने विद्वानों, दार्शनिकों ग्रीर ग्राचार्यों ने विचार किया है किन्तु फिर भी इसका कोई एक सर्व-सम्मत उत्तर प्राप्त नहीं हो सका । प्रसिद्ध विचारक सुकरात ने किवता की व्याख्या करते हुए इसे दैवी प्रेरणा से प्रेरित सन्देश का रूप दिया है । उनके विचार से जब ईश्वर हमसे वातचीत करना चाहता है तो वह किवयों की वाणी के माध्यम से ग्रपने शब्दों को व्यक्त कर देता है । किव के सहज स्वाभाविक उद्गार दैवी उद्गार हैं । निःसन्देह सुक-रात की इस व्याख्या से किवता ग्रीर रचिताग्रों के महत्त्व में पर्याप्त ग्रीमवृद्धि होती है, किन्तु इससे किवता के यथार्थ रूप का बोध नहीं होता । सभी किवयों के उद्गार किसी दिव्य सन्देश को व्यक्त करते हैं—इसे स्वीकार करना उचित नहीं ।

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने किवता को ग्रत्यन्त हेय एवं घृणापूणं दृष्टिकोण से देखा। उनकी धारणाग्नों का मूलाधार अनुकृति का सिद्धान्त है। यह समस्त स्थूल जगत् किसी अलौकिक सूक्ष्म जगत् की प्रतिच्छाया मात्र है, ग्रतः वह तो मिथ्या है ही, जबिक किवगण ग्रपनी किवताग्नों में इस मिथ्या जगत् के मिथ्या पदार्थों की भी मिथ्या अनुकृतियाँ ग्रंकित करते हैं। इस प्रकार किवता में मिथ्या की मात्रा द्विगुणित हो जाती है। दूसरे, किव या साहित्यकार हमारे ज्ञान की ग्रिभवृद्धि न करके हमारी वासनाग्नों, इच्छाग्नों एवं भावनाग्नों को ग्रान्दोलित करते हैं जिससे हमारे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में दुर्बलता, ग्रशक्तता एवं ग्रनियमितता ग्राती है। इन ग्राक्षेपों के ग्राधार पर प्लेटो ने ग्रपने देशिविसिग्रीं को प्रान्दोलक किकिकार कि कि परामर्श दिया था।

उनके शब्दों में—"We should expel poetry from the city such being her nature. In case she should accuse us of brutality and boorishness,....let us state that if the pleasure producing poetry and imitation have any arguments to show that she is in her right place in a well-governed city, we shall be very glad to receive her back again." (Greek Literary Criticism, page 87) अर्थात् "किंवता की मूल प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उसे अपने राज्य में से निकाल देना चाहिए। यदि वह हम पर निर्देयता या अन्याय का आरोप लगाये तो हमें उसे बता देना चाहिए कि हमारे इस सुव्यवस्थित राज्य में उसे तभी स्थान मिल सकता है, जब वह अपने आपको निर्दोष एवं उपयोगी सिद्ध करे।" वस्तुत: प्लेटो ने किंवता के केवल असुन्दर पक्ष को ही एकांगी दृष्टिकोण से देखा, इसी से उनका किंवता सम्बन्धी विवेचन ऊहात्मक एवं दोषपूर्ण हो गया है।

ग्ररस्त् ने किवता का विवेचन यथार्थवादी शैली में करते हुए एक ग्रोर जहाँ मुक-रात की दिव्य प्रेरणा की वात का खंडन किया, वहीं दूसरी ग्रोर प्लेटो के ग्राक्षेपों का भी निराकरण किया। काव्य-प्रेरणा के उसने दो कारण वताये—'एक तो मृष्य में स्वभाव से ही श्रनुकरण की प्रवृत्ति विद्यमान है तथा दूसरे, ग्रनुकरणात्मक रचनाग्रों से हमें ग्रानन्द की उपलिब्ध होती है।' प्लेटो की भाँति ग्ररस्त् ने भी किवता का मूल रूप ग्रनुकृति को ही माना है, किन्तु इसे उन्होंने दोष के स्थान पर उसका गुण माना है। यद्यपि वे तथ्य जिनका ग्रनुकरण काव्य में किया जाता है, ग्रपने ग्रापमें शोकपूर्ण होते हैं, किन्तु फिर भी उनके कलागत स्वरूप से हमें ग्रानन्द ही प्राप्त होता है। किवता से ग्रानन्द क्यों प्राप्त होता है? ग्ररस्तू की शब्दावली में कह सकते हैं कि कोई नई बात सीखना किसी नई वस्तु को समभना ग्रपने-ग्राप में सबसे बड़ी प्रसन्नता है। जब हम किसी चित्र को देखकर उसका ग्रर्थ समभते हैं तो हमें उससे प्रसन्नता का ग्रनुभव होता है। किवता की परिभाषा करते हुए ग्ररस्तू ने उसे 'छन्दोबद्ध ग्रनुकृति' बताया है।

यद्यपि ग्ररस्तू ने ग्रपने पूर्ववर्ती ग्राचार्यों की विचार-परम्परा को ग्रागे बढ़ाया है, किन्तु किवता के सम्बन्ध में उनके निष्कर्ष भी भ्रान्ति-शून्य नहीं हैं। एक तो किवता को ग्रनुकृति मानना सबसे बड़ी भ्रान्ति है। ग्रनुकृति स्थल पदार्थों, प्रत्यक्ष क्रिया-व्यापारों एवं वास्तिवक तथ्यों की ही की जा सकती है, जबिक किवता में सूक्ष्म भावनाग्रों एवं काल्पिनक घटनाग्रों का चित्रण होता है। दूसरे, काव्य-जन्य ग्रानन्दों को वस्तुग्रों ग्रीर तथ्यों के ज्ञान-जन्य ग्रानन्द के तुल्य बताना भी भ्रामक है। वास्तव में इन यूनानी दार्शनिकों का घ्यान किवता के सर्वप्रमुख तत्त्व—भाव की ग्रोर नहीं गया। उनकी दृष्टि किवता के स्थूल ग्रवयवां एवं उसके बाह्य रूप तक ही सीमित रही, ग्रतः उनकी विवेचना के ग्राधार पर किवता के स्वरूप का सम्यक् रूप से ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं।

भारतीय दृष्टिकोण

कविता क्या है-इसी-प्रश्म की भारतीय प्राचीयाँ ने दूसरे शब्दों में--- काव्य

की ग्रात्मा क्या है ?'—उठाया था। सम्भवतः शाब्दिक दृष्टि से दोनों प्रश्न परस्पर भिन्न प्रतीत हों, किन्तु ग्रर्थ ग्रौर लक्ष्य की दृष्टि से दोनों में गहरी समानता है। पहले प्रश्न में किवता के समग्र रूप के सम्बन्ध में पूछा गया है, जबिक दूसरे में उसके सर्व-प्रमुख तत्त्व पर ही वल दिया गया है—ग्रतः दूसरा प्रश्न पहले का ही पूरक है। जब हमें काब्य की ग्रात्मा का ज्ञान हो जायगा, तो उसके शेष ग्रंगों तथा पूरे स्वरूप का निर्णय करना हमारे लिए कठिन नहीं रहेगा। ग्रतः काब्य की ग्रात्मा सम्बन्धी वाद-विवाद का ग्राच्ययन इस प्रसंग में उपयोगी ही सिद्ध होगा।

काव्य की ग्रात्मा के सम्बन्ध में हमारे यहाँ छः प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं—
रसः सम्प्रदाय, ग्रलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, व्वति-सम्प्रदाय ग्रौर ग्रीचित्य-सम्प्रदाय। रस-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक ग्राचार्य भरतमृति थे। यद्यपि उन्होंने काव्य की ग्रात्मा सम्बन्धो वाद-विवाद में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया, किन्तु उन्होंने ग्रप्रत्यक्ष रूप से काव्य का उद्देश्य पाठक को रसानुभूति प्रदान करना वताया है। काव्य की वह शक्ति जिससे रस की निष्पत्ति होती है, वही काव्य की ग्रात्मा है। काव्य में यह शक्ति आवनाग्रों के चित्रण द्वारा उत्पन्न होती है। ग्रतः रस-सिद्धान्त के ग्रनुयायी भाव, भावनाग्रों ग्रौर उनसे सम्बन्धित विभिन्न ग्रंगों—विभाव, ग्रनुभावादि को ही काव्य का प्राण मानते हैं। संक्षेप में रस-सम्प्रदाय के ग्रनुसार काव्य की ग्रात्मा उसकी भावोत्पादिनी ग्रक्ति है। व्यान रहे, भावनाग्रों का वर्णन इस ढंग से भी किया जा सकता है कि पाठक उससे जरा भी प्रभावित न हो, ऐसी स्थित में वह वर्णन काव्य का रूप धारण नहीं कर सकेगा। इसीलिए रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तकों ने कोरे भाव के स्थान पर रस (= भावोत्पा-दिनी ग्रक्ति) को महत्त्व दिया है।

ग्रलंकार-सम्प्रदाय के श्रनुसार काव्य की ग्रात्मा उसका सौन्दर्य है। इस सम्प्रदाय के उन्नायकों में भामह, दंडी ग्रौर रुद्रट का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इनके विचारानुसार काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि ग्रलंकारों के प्रयोग से ही होती है, ग्रतः वे ग्रलंकार को ही काव्य का सर्व-प्रमुख तत्त्व मानते हैं। यद्यपि इन्होंने श्रलंकार को वहुत ही व्यापक ग्र्ग्य में ग्रहण किया है, किन्तु फिर भी उसके काव्य के मूल रूप का स्पष्टी-करण नहीं होता। रस का सम्बन्ध जहाँ काव्य की मूल विषय-वस्तु से है, वहाँ ग्रलंकार केवल उसके कथन के प्रकार से सम्बन्ध रखता है। दूसरे, रस में एक ग्रावश्यक गर्त यह है कि काव्य से पाठक को ग्रानन्द की उपलब्धि हो, जबिक ग्रलंकार सम्प्रदाय इस ग्रोर कोई ध्यान नहीं देता। ग्रस्तु, कोरी ग्रालंकारिकता काव्य की मूल ग्रात्मा न होकर उसका वाह्य उपकरण मात्र है; वह साधन ही है, साध्य नहीं।

'रीति-सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक वामन ने 'विशिष्ट-पद-रचना' या रीति को ही काव्य की ग्रात्मा मानते हुए काव्य-रचना की विभिन्न शैलियों को ही काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व घोषित किया है। इसी प्रकार 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक ग्राचार्य कुन्तक ने शैली की वक्रता या ग्रसाधारणता को ही काव्य की ग्रात्मा के रूप में प्रस्तुत किया। घ्वन्यालोक के रचियता ग्रानन्दवर्धन ने काव्य का महत्त्व उसकी व्यंजना-शक्ति के वैभव को प्रदान किया। वस्तुतः ग्रलंकार, रीति, वक्रोक्ति ग्रौर ध्विन—ये चारों सम्प्रदाय काव्य СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

की श्रात्मा की श्रपेक्षा उसके श्रन्य श्रंगों की व्याख्या श्रिष्ठिक करते हैं। रस को यदि काव्य की श्रात्मा या प्राण कहा जा सकता है, तो ये चारों उसके शरीर के विभिन्न श्रंग व तत्त्व माने जा सकते हैं। श्रीचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक क्षेमेन्द्र ने इन सभी के उचित प्रयोग को ही काव्य की श्रात्मा माना है। श्रतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य की श्रात्मा या उसका सर्वप्रमुख तत्त्व रस या भावोत्पादिनी शक्ति (संक्षेप में—भाव-तत्त्व) ही है।

काव्य की ग्रात्मा का निर्णय हो जाने के ग्रनन्तर हम उसके बाह्य रूप पर भी विचार कर सकते हैं। काव्य के भी ग्रनेक रूप एवं भेद मिलते हैं, जिनमें से एक 'किवता' भी है। सबसे पूर्व काव्य के तीन भेद हैं—गद्यबद्ध, पद्यबद्ध एवं चम्पू (गद्य-पद्य मिश्रित)। पद्यबद्ध काव्य को ही किवता कहते हैं। इनके भी ग्रनेक रूप हैं—प्रबन्ध, काव्य, मुक्तक—काव्य ग्रीर गीति-काव्य। प्रबन्ध काव्य में प्रारम्भ से लेकर ग्रंत तक दीर्घ कथा चलती रहती है। मुक्तक काव्य के छन्द एक दूसरे से विश्वप्रक्षालित रहते हैं। गीति-काव्य में संगीतात्मकता का समावेश होता है। ग्रस्तु, रूप-ग्राकार ग्रादि की दृष्टि से प्रवन्ध, मुक्तक एवं गीति में परस्पर ग्रन्तर है, किन्तु ये सभी पद्यबद्ध होते हैं—ग्रतः रस यदि किवता की ग्रात्मा है तो पद्यबद्धता या छन्दोबद्धता उसका शरीर है, ध्विन उसका रूप-रंग है, ग्रलंकार उसके ग्राभूषण हैं, वक्रोक्ति उसकी वाणी का माधुर्य है ग्रीर रीति उसके व्यवहार की कमनीयता है।

कविता के विभिन्न लक्षण

किता के इस समग्र रूप को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषाओं ग्रीर लक्षणों के संकीर्ण वृत्त से बाँधने का प्रयत्न किया है। काव्य-प्रकाश के रचियता मम्मट के शब्दों में ग्रालंकार हो या न हो, दोषरिहत, गुणसिहत, शब्द ग्रीर ग्राथंमयी रचना काव्य है (तद-दोषों शब्दार्थों सगुणावनलंकृति पुनः क्वािप)। ग्राचार्य विश्वनाथ के विचारानुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—है। पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीय ग्राथं के प्रतिपादक शब्द को काव्य बताते हुए लिखा है—''रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्दः काव्यम्।'' वस्तुतः यहाँ 'काव्य' शब्द को साहित्य के ग्राथं में प्रयुक्त किया गया है, ग्रतः इन परिभाषाग्रों से कितता के लक्षण स्पष्ट नहीं होते। ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्त ने भी कितता को व्यापक ग्राथं में प्रयुक्त करते हुए लिखा है—''जिस प्रकार ग्रात्मा की मुक्ता-वस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती ग्राई है, उसे कितता कहते हैं।'' (चिन्तामणि, भाग १)। यह लक्षण केवल किता पर ही नहीं, काव्य के ग्रन्य रूपों पर भी लागू होता है, ग्रतः इससे भी कितता के स्वरूप का बोध स्पष्ट रूप में नहीं होता।

ग्रनेक पाश्चात्य विद्वानों ने विशुद्ध किवता के लक्षणों को घ्यान में रखकर उसकी परिभाषा की है, ग्रतः उन पर भी विचार कर लेना उचित होगा। प्रसिद्ध विद्वान् ग्ररस्तू की परिभाषा पर पीछे विचार कार्कित होगा। प्रसिद्ध विद्वान् ग्ररस्तू की परिभाषा पर पीछे विचार कार्कित की मूलतः

जीवन की आलोचना बताया है—"Poetry is at bottom a criticism of life." —िकन्तु यह लक्षण तो दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास ग्रौर ग्रात्मकथाग्रों में भी मिलता है, अतः इसे कविता का लक्षण वताना, कविता का उपहास करना है। महा-कवि वर्ड्सवर्थ ने कविता को शांति के समय स्मरण की गई उत्कट भावनाग्रों का सह-जोद्रेक वताया है—"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquility." इन शब्दों से कविता की उत्पत्ति ग्रौर उसके मूल तत्त्व 'भाव' पर तो प्रकाश पड़ता है, किंतु उसके ग्रन्य लक्षणों का पता इनसे नहीं चलता। उसी युग के ग्रन्य महाकवि कालरिज ने कविता को उत्तमोत्तम क्रम-विधान—"Poetry, the best words in the best order" वताकर उसकी प्रशंसा-मात्र की है, जो उपन्यास पर भी लागू हो सकती है। कारलायल (Carlyle) ने कविता को संगीतमय विचार घोषित करके उसके भाव-पक्ष की उपेक्षा कर दी है—''Poetry we will call musical thought.'' डा॰ जानसन (Dr. Johnson) के शब्दों में कविता सत्य ग्रीर ग्रानन्द के सम्मिश्रण की वह कला है, जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है-"Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason." वस्तुतः ये लक्षण साहित्य की प्रत्येक रचना में किसी-न-किसी मात्रा में उपलब्ध होते हैं, श्रतः इसे विशुद्ध कविता की परिभाषा नहीं कह सकते। हडसन ने कविता की परिभाषा करते हुए उसे कल्पना ग्रौर भावना के द्वारा जीवन की व्याख्या करनेवाली वताया है—"Poetry is interpretation of life through imagination and emotion." इस परिभाषा से कविता के भावपक्ष का ही बोध होता है, उसके शैली-पक्ष की चर्चा उसमें नहीं है।

हमारी दृष्टि में ये सभी परिभाषाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु किता के महत्त्वपूर्ण लक्षणों का परिचय उनमें से किसी भी एक से नहीं मिलता। किसी में भाव-पक्ष गौण है तो किसी में कला-पक्ष। डा॰ सूर्यकान्त ने एक स्थान पर किता के दो लक्षण निर्घारित किए हैं—भावों को तरंगित करने की शक्ति ग्रौर पद्यबद्धता। भले ही ग्राज के युग में किता गद्यात्मक होती जा रही है। (ग्रौर साथ में वह उतनी ही प्रभावशून्य होती जा रही है), किन्तु फिर भी उसका पद्य, छन्द या लय में से कोई न कोई बन्धन तो उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। ग्रतः इन दो प्रमुख लक्षणों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि कितता, पद्य-छन्द या लय में बँधे हुए ऐसे शब्दों की निधि है, जो हमारी भावनाग्रों को तरंगित करके हमें रसानुभूति प्रदान कर सके।

कविता के तत्त्व

सामान्य रूप से तो किवता में भी वे ही चार तत्त्व—भाव, कल्पना, बुद्धि भौर शैली—पाए जाते हैं, जिनकी चर्चा हमने भ्रपने लेख—'साहित्य ग्रौर उसके तत्त्व' में की है। यहाँ हम किवता सम्बन्धी कुछ विशेष बातों की ही व्याख्या करेंगे। जैसा कि पीछे कहा गया है, किवता के मुख्यतः तीन रूप प्रचलित हैं—प्रवन्ध-काव्य, मुक्तक ग्रौर गीति । तात्विक दृष्टि से इन तीनों रूपों में परस्पर गहरा ग्रन्तर है । प्रवन्धकाव्य ग्रौर मुक्तक में गीतिकाव्य की ग्रपेक्षा ये तत्त्व ग्रधिक होते हैं—(१) कथावस्तु, (२) पात्रों का चरित्र-चित्रण । (३) विभिन्न दृश्यों का विस्तृत रूप में वर्णन । (४) विभिन्न समस्याग्रों, विचारधाराग्रों एवं जीवन-दर्शन की व्यंजना । मुक्तक काव्य में विविधता के स्थान पर एकरूपता होती है, ग्रतः उसमें किसी एक प्रसंग, एक दृश्य या एक भाव-दशा का ही ग्रंकन प्रमुख रूप में होता है । दूसरे, मुक्तककार की शैलों में संक्षिप्तता एवं व्यंजना ग्रपेक्षित होती है । गीतिकाव्य के ये पाँच लक्षण स्वीकार किए गये हैं—(१) भावात्मकता, (२) संगीतात्मकता, (३) वैयक्तिकता, (४) संक्षिप्तता ग्रौर शैलों की कोमलता । वस्तुतः प्रवन्धकाव्य तो ग्रपनी इतिवृत्तात्मकता एवं विचारा-त्मकता के कारण गद्य-काव्य के बहुत समीप पहुँच जाता है; किवता का सच्चा रूप ग्रौर किव की सच्ची भावात्मकता की परीक्षा गीतिकाव्य में ही होती है । 'भावोद्गार' या 'भावोच्छ्वास' के रूप में उच्छ्वसित होनेवाली किवता का दर्शन गीतिकाव्य में ही होता है ।

कविता श्रौर साहित्य के श्रन्य रूप

कविता के इन तीनों रूपों की तुलना साहित्य के श्रन्य रूपों से भी की जा सकती है। जिस प्रकार पद्य के तीन रूप-प्रवन्ध, मुक्तक ग्रौर गीतिकाव्य हैं, वैसे ही गद्य के तीन रूप-उपन्यास, कहानी भ्रौर एकांकी हैं। प्रवन्धकाव्य भ्रौर उपन्यास में परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों में ही कथावस्तु का संघटन, पात्रों का चरित्र-चित्रण, विभिन्न दृश्यों का विस्तृत रूप में भ्रंकन तथा विचारधारा की ग्रभिव्यक्ति होती है। ग्रतः यह कहना कि उपन्यास भ्राधुनिक युग का महाकाव्य है, बहुत कुछ ठीक जँचता है। फिर भी दोनों की प्रकृति में थोड़ा ग्रन्तर होता है, महाकाव्य में उपन्यास की अपेक्षा अधिक रागात्मकता, अधिक आदर्शवादिता एवं अधिक संगीतात्मकता होती है। जैसा साम्य प्रवन्धकाव्य थ्रौर उपन्यास में मिलता है, वैसा कहानी थ्रौर मुक्तक काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। मुक्तक का क्षेत्र कहानी की अपेक्षा बहुत ही सीमित होता है; कहानी में वस्तु, पात्र एवं संवाद की श्रायोजना किसी-न-किसी श्रंश में श्रवश्य रहती है, किन्तु मुक्तक काव्य में प्रायः किसी एक परिस्थिति, एक भाव-दशा या एक विचार का ही चित्रण होता है। छोटे भावात्मक पत्र या भावात्मक गद्यकाव्य गीतिकाव्य की शैली के निकट पड़ते हैं, पर दोनों में प्रभाव की दृष्टि से गहरा ग्रन्तर होता है। गीतिकाव्य की स्वर-लहरियों में एक ही भाव की गूँज भ्रादि से भ्रन्त तक सुनाई देती है, जबकि गद्य-काव्य ग्रीर पत्रों में ग्रनेक भावों ग्रीर ग्रनेक विचारों के लिए स्थान होता है। वस्तुतः गद्य के क्षेत्र में ऐसी कोई विधा ग्रभी तक प्रचलित नहीं हुई, जो मुक्तक काव्य ग्रौर गीतिकाव्य की तलना में रखी जा सके। हाँ, छोटी-छोटी टिप्पणियाँ भ्रौर भावात्मक गद्यांशों का विकास इस रूप में किया जा सकता है।

कविता का महत्त्व

कविता का महत्त्व पूर्वी श्रौर पश्चिमी सभी देशों में समान रूप से स्वीकार किया गया है। एक श्रोर श्रिग्निपुराण का रचियता काव्य-रचियता को ब्रह्मा के समकक्ष महत्त्व प्रदान करता है तो दूसरी श्रोर शेक्सपीयर किव को एक नूतन सृष्टि का रचियता घोषित करता है, देखिए—

भ्रमारे खलु संसारे कविरेव प्रजापितः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

--व्यास

The forms of things unknown, the poet's pen Turns them to shapes and gives to airy nothings A local habitation and a name.

-Shakespeare

वस्तुतः भावनाधों को ग्रान्दोलित करने की जो शक्ति किवता में है, वह साहित्य के किसी ग्रन्य रूप में नहीं मिलती। ग्राधुनिक युग में वौद्धिकता के विकास के साथ-साथ मानवीय जीवन में रागात्मक तत्त्वों का ह्यास होता जा रहा है, ग्रतः कुछ विद्वानों के मत में किवता का महत्त्व भी न्यून होता जा रहा है, िकन्तु यह मत भ्रान्तिमूलक है। जिस वस्तु का जितना ग्रधिक ग्रभाव होगा, उतनी ही उसके मूल्य में ग्रभिवृद्धि होगी—इस नियम के ग्रनुसार भावी युग की वौद्धिक शुष्कता से पीड़ित मानवता को काव्य-उपवन की शीतल हिरयाली ग्रौर भी ग्रधिक ग्रपेक्षित होगी। ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—''ज्यों-ज्यों सम्यता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों किवयों के लिए काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले रूपों ग्रौर व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सम्यता के नए-नए ग्रावरण चढ़ते जायँगे, त्यों-त्यों एक ग्रोर तो किवता की ग्रावश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ग्रोर किव-कर्म किठन होता जायगा।'' ग्रतः किवता का महत्त्व भविष्य में भी ग्रक्षुण्ण रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। हाँ, इतना भय ग्रवश्य है कि कहीं कृतिम किवयों के बौद्धिक क्रिया-कलापों के फेर में पड़कर स्वयं किवता का रूप ही विकृत न हो जाय, जैसा कि ग्राजकल हो रहा है।

: भ्राठ :

नाटकः स्वरूप ग्रौर तत्त्व

- १. 'नाटक' शब्द की व्याख्या।
- २. नाटक के लक्षण।
- ३. नाटक के तत्त्व—(क) वस्तु, (ख) पात्र, (ग) रस, (घ) ग्रभिनय, (ङ) वृत्तियाँ।
- ४. उपसंहार ।

विभिन्न विद्वानों ने 'नाटक' या 'नाट्य' शब्द की व्याख्या करते हुए इसकी व्युत्पत्ति, परिभाषा एवं उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है। पाणिनि ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से सिद्ध की है, जबिक 'नाट्य-दर्पण' के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्' धातु से 'नाट्य' की उत्पत्ति मानी है। बेबर और मोनियर विलियम्स ने सिद्ध किया है कि 'नट्', 'नाट्' थ्रादि धातुएँ 'नृत्' (नाचना) धातु से विगड़कर बनी हैं। किन्तु ऋग्वेद में 'नट्' और 'नृत्' दोनों धातुग्रों का प्रयोग मिलता है। ग्रतः 'नट्' को विकृत रूप मानना उचित नहीं। धनंजय ने ग्रपने 'दश-रूपक' में नृत्त, नृत्य और नाट्य का ग्रन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि नृत्त ताल-लय के ग्राश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित और नाट्य रसाश्रित होता है। हमारे विचार से नृत्त ग्रीर नृत्य में विशेष ग्रन्तर नहीं है—इन दोनों में ही ताल-लय ग्रीर भाव का ग्राश्रय लिया जाता है, जबिक नट्, नाट्य ग्रीर नाटक में ग्रनुकरण व ग्रिमनय की प्रमुखता होती है। नृत्य नाट्य का एक ग्रंग हो सकता है, किन्तु नाट्य नृत्य का नहीं; स्पष्टतः ही 'नाटक' 'नृत्य' से ग्रिधक व्यापक ग्रर्थ को सूचित करता है।

'नाटक' के पर्यायवाची के रूप में 'रूपक' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, किन्तु मूलतः दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है। नाटक में मूल पात्रों की विभिन्न चेष्टाओं आदि का अनुकरण मात्र अपेक्षित है, जबिक रूपक में इसके साथ-साथ मूल पात्रों के रूप का आरोपण भी आवश्यक है। 'नाटक' शब्द में गित एवं क्रियात्मकता की प्रमुखता होती है, जबिक रूपक में स्थूल रूप—वेष-भूषा—आदि को अधिक महत्त्व दिया जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने 'रूपक' को 'नाटक' से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए उसके अठारह भेद किए हैं जिनमें से एक भेद नाटक भी है।

नाटक के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों को धारणा भारतीय विद्वानों की धारणा से किंचित् भिन्न है। ग्रंग्रेजी में 'नाटक' का पर्यायवाची 'ड्रामा' (Drama) शब्द है। ग्राइवर ब्राउन ने 'ड्रामा' का ग्रर्थ स्पष्ट करते हुए इसका सम्बन्ध यूनानी के एक शब्द-विशेष से स्थापित किया है. जिद्वाला मार्थ है लाइ कि है लाइ कि है जाई कि सा हिया है जाई की हम

नाटक: स्वरूप और तस्व

'कार्य' कह सकते हैं । वस्तुतः पाश्चात्य नाटकों में 'कार्य' को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है, किन्तु भारतीय नाटकों में 'ग्रभिनय-कला' या 'रस' को प्रमुखता दी जाती है । इसी दृष्टिकोण-भेद के कारण दोनों के स्वरूप, लक्षण एवं तत्त्वों में ग्रन्तर मिलता है ।

नाटक के लक्षण

संस्कृत के प्राचीन ग्राचार्यों ने नाटक के विभिन्न लक्षणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। भरतमुनि ने ग्रपने 'नाट्य-शास्त्र' में लिखा है "योऽयं स्वभावो लोकस्य मुखदुःख समन्वितः । सोऽगाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ।" ग्रर्थात् जिसमें स्वभाव से ही लोक का सुख-दुःख समन्वित होता है तथा ग्रंगों ग्रादि के द्वारा ग्रभिनय किया जाता है उसी को 'नाटक' कहते हैं। ग्राचार्य ग्रभिनवगुप्त ने इसी की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रत्यत्र कल्पानुष्यवसायविषयो लोकप्रसिद्धः सत्यासत्यादिविलक्षणत्वात् यच्छब्द-वाच्यो लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चव्यमाणोऽर्थो नाट्यम्' ग्रर्थात नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं ग्रव्यवसाय का विषय वन सत्य एवं ग्रसत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को ग्रानन्दोपलब्धि प्रदान करता है । महिम भट्ट का मत है कि श्रनुभव-विभावादि के वर्णन से जब रसानुभूति होती है तो उसे काव्य कहते हैं और जब काव्य को गीतादि से रंजित एवं अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो वह नाटक का स्वरूप धारण कर लेता है । रामचन्द्र ने ऋपने 'नाट्य-दर्पण' में नाटक के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, जो प्रसिद्ध श्राद्य (पौराणिक एवं ऐतिहासिक) राजचरित पर ग्राधारित हो, जो धर्म, काम एवं ग्रर्थ का फलदाता हो और जो ग्रंक ग्राय (पंच ग्रर्थ प्रकृति), दशा (पंचावस्था) से समन्वित हो, उसे नाटक कहा जाता है।

नाटक के लक्षणों का ग्रीर भी ग्रधिक विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण ग्राचार्य विश्वनाथ ने किया है। उन्होंने 'साहित्य-दर्पण' में लिखा है—'' 'नाटक' का वृत्त (कया) प्रसिद्ध
हो, उसमें पाँचों संधियों का समन्वय होना चाहिए। उनमें विलास, समृद्धि ग्रादि गुणों
तथा ग्रनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक ग्रंक
होते हैं। पुराणादि से प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् कोई राजिं
ग्रथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुष्ठ नाटक का नायक होता है। श्रृङ्गार या वीर इनमें से
कोई एक रस प्रधान होता है—ग्रन्य सब रस ग्रंगभूत रहते हैं। इसे निर्वहण सिन्ध में
ग्रत्यन्त ग्रद्भुत (कौतूहलवर्द्धक) बनाना चाहिए। इसमें चार या पाँच पुष्ठ प्रधान
कार्य के साधन में रत रहने चाहिए तथा गी के पूंछ के ग्रग्रभाग के समान इसकी रचना
होनी चाहिए।'' ('साहित्य-दर्पण': शालिग्रामकृत भाष्य, पृष्ठ १७०-१७१)

नाटक के उपर्युक्त लक्षणों पर विचार करते समय सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारे ग्राचार्यों ने 'ख्यात वृत्त' पर इतना ग्रधिक दल क्यों दिया है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। नाटक की रचना उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों को ही नहीं, निम्न वर्ग के ग्रिशित जन-समुदाय को भी ध्यान में रखकर की जाती है, ग्रतः 'ख्यात-वृत्त' होने पर वे उसे ग्रिधिक स्पष्टता से ग्रहण कर सकते हैं। दूसरे किल्पत ग्राख्यानों के नये-नये पात्रों के उसे ग्रिधिक स्पष्टता से ग्रहण कर सकते हैं। दूसरे किल्पत ग्राख्यानों के नये-नये पात्रों

के प्रति हमारी भावना का विकास एकाएक उतनी गम्भीरता से नहीं हो सकता जितना कि स्थात नायकों—राम, युधिष्ठिर, धर्जुन, ध्रशोक, प्रताप ग्रादि—से हो सकता है। रसानुभूति में हमारे पूर्व-संस्कार एवं प्रारम्भिक धारणाओं का भी गहरा योग होता है। महाराणा प्रताप का नाम सुनते ही जिस उदात्त भावना का संचार हमारे हृदय में हो जाता है, वह किसी कल्पित 'चन्द्रसिंह' या 'भानुप्रताप' के दर्शन से नहीं होती। कल्पित पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य नाटक का कुछ ग्रंग देख लेने के ग्रनन्तर ग्रागे चलकर होता है; फलतः हमारी ग्रनुभूति में पूर्ण सघनता ग्राने में ग्रधिक देर लग जाती है। भारतीय ग्राचार्यों ने रस-निष्पत्ति को उद्देश्य मानते हुए नाटक के लक्षणों का प्रतिपादन किया है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने 'कार्य' को महत्त्व देते हुए संघर्ष, संकलन-त्रय, दुःखान्त, सुखान्त ग्रादि लक्षणों को प्रमुखता दी है।

नाटक के तत्त्व

भारतीय श्राचार्यों ने नाटक के पाँच तत्त्व निर्धारित किए हैं—(१) वस्तु, (२) पात्र, (३) रस, (४) ग्रिभनय ग्रीर (५) वृत्ति । पाश्चात्य ग्रालोचक सामान्यतः ये ६ तत्त्व--वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली ग्रौर उद्देश्य स्वीकार करते हैं। प्रथम दो तत्त्व तो भारतीय एवं स्रभारतीय विद्वानों में समान रूप से प्रचलित हैं ही, शेष तत्त्वों में भी किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। हमारे यहाँ ग्रिभिनय के उपभेदों में 'वाचिक अभिनय' का उल्लेख किया गया है जिसे हम पाश्चात्य विद्वानों के 'कथोपकथन' का पर्याय मान सकते हैं। ग्रभिनय के भेदोपभेदों में वेश-भूषा एवं क्रिया-कलापों की स्वाभाविकता पर वल दिया गया है जिसमें 'देश-काल' के धर्म का पालन हो जाता है। भारतीय नाटकों का रस ही उद्देश्य है ग्रतः पाश्चात्य 'उद्देश्य' तत्त्व का समाहार भारतीय नाटकों के रस में तथा 'शैली' का समाहार 'वृत्ति' में किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वों में पाश्चात्य तत्त्वों का समाहार हो जाता है, किन्तु पाश्चात्य तत्त्वों में भारतीय तत्त्वों का समन्वय नहीं हो पाता । नाटक में ही नहीं, काव्य के प्रत्येक ग्रंग में भावतत्त्व की प्रमुखता होती है, ग्रतः भावानुभूति या रसतत्त्व का नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु पाश्चात्य ग्रालोचकों ने इस ग्रोर घ्यान नहीं दिया । इसी प्रकार ग्रमिनय भी 'नाटक' को 'नाटक' बनाता है, किन्तु इसका यूरोपीय विद्वानों ने उल्लेख नहीं किया। (पाश्चात्य विद्वान् जो ६ तत्त्व नाटक में गिनाते हैं, वे ही उपन्यास ग्रौर कहानी में भी गिना देते हैं -इसका तात्पर्य है नाटक, उपन्यास ग्रौर कहानी में तात्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः भारतीय भ्राचार्यों के द्वारा किया गया तात्विक विवेचन एवं विश्लेषण ग्रधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक है तथा वह नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने में ग्रिविक समर्थ है, ग्रतः हम यहाँ भारतीय दृष्टिकोण को प्रमुख रूप से ग्रहण करते हुए विभिन्न तत्त्वों का परिचय देंगे।

१. वस्तु—नाटक की वस्तु या कथावस्तु (Plot) के मुख्यतः दो भेद किए गए हैं—(१) ग्राधिकारिकः अप्रौद्धावनारिकः विश्वीकारिकः विश्विति विश्वित

को अधिकारी या नायक कहते हैं, ग्रतः उससे सम्बन्धित कथा को, जो कि नाटक की प्रमुख कथा होती है, ग्राधिकारिक कहते हैं। गौण पात्रों से सम्बन्धित प्रसंगवश उपस्थित कहानी को प्रासंगिक कहते हैं। नाटक में प्रासंगिक कथाओं का समावेश प्रमुख या ग्राधिकारिक कथा की ग्रावश्यकता-पूर्ति के निमित्त या उसे बढ़ाने के लिए ही किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि 'रामचरित नाटक' लिया जाय तो उसमें वालि-सुग्रीव सम्बन्धी प्रकरण प्रासंगिक रूप में ही ग्रहण किया जायगा।

प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है—पताका तथा प्रकरी। पताका मुख्य कथा के साथ-साथ ग्रन्त तक चलती रहती है, जबिक प्रकरी बीच में ही समाप्त हो जाती है। कथावस्तु के ग्राधार की दृष्टि से भी तीन भेद किए गये हैं—(१) प्रख्यात जिसका ग्राधार इतिहास, पुराण या लोक-ग्राख्यान होता है। (२) उत्पाद्य जो नाटककार के द्वारा कल्पित होता है। (३) मिश्र जिसमें इतिहास ग्रीर कल्पना का मिश्रण किया जाता है।

कथावस्तु को क्रमशः नाटक में या रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है, जिसे सम्यक् इप से ग्रहण करने के लिए पाँच श्रवस्थाओं में वाँटा जाता है—(१) प्रारम्भ—इसमें कथानक का श्रारम्भिक भाग श्राता है, जिससे नायक की इच्छा या उसके प्रमुख उद्देश्य का पता चलता है। (२) प्रयत्न—इसमें नायक के उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त किए गए प्रयत्नों का चित्रण होता है। (३) प्राप्त्याशा—इस ग्रंश में नायक का उत्कर्ष होने लगता है, उसके मार्ग की कठिनाइयाँ दूर होने लगती हैं जिनसे उनकी फल-प्राप्ति की ग्राशा होने लगती है। (४) नियतासि—इसमें नायक की फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है। श्रीर (५) फलागम—इसमें नायक को सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी नाटक की पाँच ग्रवस्थाएँ मानी हैं—(१) प्रारम्भ, (२) विकास, (३) चरम सीमा, (४) उतार ग्रौर (५) ग्रन्त या समाप्ति। कहने की ग्रावश्यकता नहीं कि ग्रवस्थाग्रों का यह विश्लेषण भारतीय ग्राचार्यों के विवेचन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

कथानक की एक अवस्था से दूसरी अवस्था के विकास का पता उसकी कुछ प्रमुख घटनाओं से चलता है जिन्हें 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। कथा-वस्तु की अवस्थाओं के अनुसार इसकी भी संख्या ५ मानी जाती है—वीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। प्रत्येक अवस्था और अर्थ-प्रकृति में मेल कराने का कार्य सन्धियों द्वारा सम्पन्न होता है जिनकी संख्या भी ५ मानी गई है—१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. अवमर्श, और ५. निर्वहण या उपसंहार। निम्नांकित तालिका द्वारा अर्थ-प्रकृति, अवस्था एवं संधियों के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिक स्पष्टतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है—

1. 1	The state of the s		
भ्रर्थ-प्रकृति	ग्रवस्था	सन्धि	
१. बीज	प्रारम्भ	मुख	
२. बिंदु	प्रयत्न	प्रतिमुख	
३. पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ	
४. प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श (ग्रवमर्श)	
५. कार्य	फ्लागम CC-0. Jangamwadi Math Collection,	निर्वहण या उपसंहार Varanasi	
	o o o o o o o o o o o o o o o o o o o		

नाटक में सारी कथावस्तु को प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर प्रस्तुत करना किन होता है, श्रतः उसके कुछ ग्रंश की केवल सूचना ही किसी प्रकार दे दी जाती है। इस सूच्य वस्तु की सूचना देनेवाले साधनों को 'ग्रथोंपक्षेपक' कहते हैं। ये भी पाँच प्रकार के वताये गए हैं—(१) विष्कम्भक—नाटक के ग्रारम्भ में या दो ग्रंकों के वीच में दो गौण पात्रों के वार्तालाप द्वारा जब सूचना दी जाती है तो उसे विष्कम्भक कहते हैं। (२) चुलिका—पर्दे के पीछे से दी जानेवाली सूचना को चुलिका कहा जाता है। (३) ग्रंकास्य—ग्रंक के ग्रंत में जहाँ वाहर जानेवाले पात्रों द्वारा ग्रगले ग्रंक की कथा की सूचना दिलाई जाती है, उसे ग्रंकास्य कहते हैं। (४) ग्रंकावतार—जहाँ पर पहले ग्रंक के पात्र ही वाहर जाकर फिर लौट ग्राते हैं, उसे ग्रंकावतार कहते हैं। (५) प्रवेशक—नवागन्तुक निम्नकोटि के पात्र द्वारा दी जानेवाली सूचना को 'प्रवेशक' कहते हैं।

इस प्रकार कथावस्तु, उपर्युक्त भेदोपभेदों, विभिन्न ग्रंगों व साधनों के सूक्ष्म विश्लेषण से भारतीय ग्राचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। ग्राधुनिक विद्वान् इन शास्त्रीय भेदोपभेदों के पचड़े से वचने के लिए प्रायः ग्रर्थ-प्रकृतियों, ग्रवस्थाग्रों, संधियों व 'ग्रर्थोपक्षेपक' को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

२. पात्र—भारतीय ग्राचार्यों ने नाटक के पात्रों को नायक, नायिका, प्रतिनायक, पीठमर्द, विदूषक, दूतिका ग्रादि वर्गों में विभाजित किया है। नाटक के प्रधान
पात्र को ही नेता कहते हैं। 'नेता' शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका ग्रर्थ है 'ले
चलना', जो कथा को फल की ग्रोर ले जाता है, वही नेता होता है। फल-प्राप्ति नायक
को ही होनी चाहिए। कई बार नाटकों या उपन्यासों में यह पता लगाना किटन हो
जाता है कि इसका नायक कौन है ? ग्राचार्य गुलाबरायजी के शब्दों में—''नायक जानने
का यही साधन है कि हम देखें कि कथा का फल किसके साथ लगा हुग्रा है। श्रोता, द्रष्टा
या पाठक किसके उत्थान या पतन में ग्रधिक-से-ग्रधिक रुचि रखते हैं। फल हमेशा मूर्त्त
नहीं होता। प्रतिज्ञा का पूर्ण होना भी एक प्रकार का फल होता है।''

चारित्रिक दृष्टि से नायक के चार प्रमुख भेद किए गए हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीर-लिलत, (३) धीर-प्रशांत ग्रौर (४) धीरोद्धत । धीरोदात्त सर्वोत्कृष्ट श्रेणी का व्यक्ति होता है । उसका चरित्र उदार होता है । उसमें शक्ति के साथ क्षमा तथा दृढ़ता ग्रौर ग्रात्म-गौरव के साथ विनय ग्रौर निरिभमानिता रहती है । इसके उदाहरण रामचंद्र हैं । धीर-लिलत कोमल स्वभाव का होता है तथा इसमें रिसकता एवं कला-प्रेम का उन्मेष ग्रिधक पाया जाता है । श्रुङ्गार रस-प्रधान नाटकों का नायक धीर-लिलत ही होता है । धीर-प्रशांत संतोषी, विनम्र एवं शांत स्वभाव का होता है । कुटिल, नीतिज्ञ, कपटी एवं प्रचंड व्यक्तित्व वाले नायक को धीरोद्धत की कोटि में रखा जाता है । नायकों का यह वर्गीकरण ग्रायुनिक परिस्थितियों एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से कहाँ तक उचित है, इस सम्बन्ध में गवेषणा की ग्रपेक्षा है ।

नायिका के भेदोपभेदों को भी संस्कृत व हिन्दी के भ्राचार्यों ने पर्याप्त विस्तार दिया है। विशेषतः श्रृङ्गार रस के नाटकों में ही नायिका को भ्रधिक महत्त्व दिया जाता है। भ्रतः श्रृङ्गार व प्रेम की परिस्थितियों м्रामृत्स्थायों त्र भावानु हु शाभों के दृष्टिकोण से

नायिका के सहस्राधिक भेद किये गए हैं। सबसे पूर्व सामाजिक स्थिति के ग्राधार पर नायिका के तीन भेद—स्वकीया, परकीया ग्रीर सामान्या किये जाते हैं। इनके भी प्रत्येक के नायिका की ग्रवस्था के ग्रनुसार तीन-तीन ग्रवान्तर भेद—मुग्धा, मध्या ग्रीर प्रौढ़ा किए गए हैं, इनके भी ग्रनेक ग्रवान्तर भेद किए गये हैं। इसके ग्रतिरिक्त नायिका की परिस्थितियों के ग्रनुसार भी स्वाधीन-पितका, वासक-सज्जा, उत्कंठिता, ग्रभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहांतरिता, प्रवत्स्य-त्पितका, प्रोषित-पितका, ग्रागत-पितका ग्रादि भेद किए गये हैं। नायिका-भेद प्रारम्भ में काम-शास्त्र ग्रीर नाट्य-शास्त्र का विषय था, किन्तु ग्रागे चलकर यह काव्य-शास्त्र ग्रीर काव्य-रचना का ग्राधार वन गया, जिससे इसका भेदोपभेदों में पर्याप्त विस्तार हुग्रा।

नायक की सहायता करनेवाले प्रमुख पात्र को 'पीठमर्द' तथा उसका विरोध करनेवाले को प्रतिनायक कहते हैं। संस्कृत के नाटकों में एक विशेष-पात्र हास्य-रस की सृष्टि के लिए भी रखा जाता था जिसे 'विदूषक' कहा जाता है। वह प्रायः नायक का कोई मुँह-लगा ग्रन्तरंग मित्र होता था तथा ग्रपनी मूर्खतापूर्ण उक्तियों द्वारा हास्य-रस का संचार करता था। कभी-कभी विदूषक नायक की गंभीर-परिस्थित में सहायता करके श्रद्धा का पात्र भी वन जाता है।

पाश्चात्य नाटकों में भी पात्रों के चिरत्र-चित्रण को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है। प्राचीन भारतीय नाटकों में प्रायः पात्रों का चिरत्र ग्रादि से लेकर ग्रन्त तक एक जैसा दिखाया जाता था, जबिक ग्राधुनिक नाटकों में पात्रों के मानसिक संघर्ष का चित्रण करते हुए उनके चिरत्र का उत्थान या पतन दिखाया जाता है। नाटक में पात्रों के चिरत्र पर प्रकाश डालने के मुख्यतः तीन साधन हैं—(१) कथोपकथन द्वारा, (२) स्वगत कथन द्वारा ग्रौर (३) क्रिया-कलापों द्वारा। इसके ग्रितिक पात्रों की वेश-भूषा, विभिन्न चेष्टाग्रों ग्रादि से भी उनकी चारित्रिक प्रवृत्तियों का पता चलता है।

३. रस—भारतीय काव्य-शास्त्र में साहित्य के सभी ग्रंगों का प्रमुख उद्देश्य पाठकों को रसानुभूति प्रदान करना है। ग्रादि ग्राचार्य भरतमृनि ने भी नाट्य-रचना का लक्ष्य 'रस-निष्पत्ति' स्वीकार करते हुए रस-सिद्धान्त पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। उन्होंने विभाव, ग्रनुभाव ग्रीर संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति मानी है। रस-सिद्धान्त का ग्राधार मानसिक क्रियाग्रों व भावोत्पत्ति सम्बन्धी सूच्म ज्ञान है, ग्रतः इसका मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। मनोविज्ञान-शास्त्र के विद्वान् ग्रार० एम० वुडवर्थ महोदय ने भावोत्पत्ति के सम्बन्ध में चार वातें विचारणीय निश्चित की हैं—(१) भाव, (२) भाव को प्रेरित करनेवाला व्यक्ति या पदार्थ, (३) भावोत्तेजित होनेवाले व्यक्ति के ग्रंग-प्रत्यंगों को ग्रवस्था ग्रौर (४) बाह्य परिस्थितियाँ जो भाव को उद्दीप्त करती हैं। इन्हें हम क्रमशः भाव, ग्रालंबन-विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर उद्दीपन-विभाव कह सकते हैं। श्री शैण्ड ग्रौर मैक्ड्रगल महोदय ने भाव के दो भेदों का प्रतिपादन किया है—इमोशन ग्रौर सेंटीमेंट। भारतीय ग्राचार्यों ने भी भावों का वर्गीकरण संचारी भाव ग्रौर ग्रस्थायी भाव के रूप में किया है जो क्रमशः इमोशन ग्रौर सेंटीमेंट से गहरा साम्य रखते हैं। वस्तुतः रस-सिद्धान्त मनोविज्ञान के गृढ़ तत्त्वों एवं सूक्ष्म ज्ञान के ग्राधार पर

आश्रित है, किन्तु डा॰ राकेश गुप्त जैसे विद्वान् ने इसे भली प्रकार न समभ सकने के कारण इस पर अनेक आक्षेप अस्तुत किए हैं जो भ्रान्त घारणाओं पर आधारित हैं।

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को लेकर भी भारतीय श्राचार्यों ने इसकी सूक्ष्म मीमांसा की है तथा ग्रनेक नये-नये विचार प्रस्तुत किए हैं। इस क्षेत्र में सर्वश्री भट्ट लोल्लट. शंकुक, भट्टनायक, ग्रभिनव गुप्त, धनंजय, जगन्नाथ, श्यामसून्दर दास, रामचन्द्र शक्ल. नगेन्द्र, गुलाबराय श्रादि के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि यहाँ इन सब विद्वानों के मत-मतान्तर पर प्रकाश डालना संभव नहीं, किन्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि ग्रिभ-नेताओं के कुशल भ्रमिनय के कारण दर्शकगण नाट्यरचना के मूल भाव में इस प्रकार तन्मय हो जाते हैं कि वे ग्रपने-पराये का भेद भूल जाते हैं। उनका नाटककार एवं उनके द्वारा चित्रित पात्रों की ग्रात्मा के साथ तादातम्य हो जाता है। इस प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' कहते हैं। साधारणीकरण द्वारा एक ग्रनिर्वचनीय ग्रानन्द की ग्रनुभूति होती है। इस ग्रानन्दानुभृति का दूसरा नाम 'रस' है।

रस-सिद्धान्त के ग्राचार्यों ने भाव, विभाव, ग्रनुभाव, संचारी भाव ग्रादि के भी श्रनेक सूक्ष्म भेदोपभेद किए हैं। भाव या स्थायी भाव मुख्यतः नौ माने गये हैं--रित, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय ग्रौर निर्वेद । इन्हीं से क्रमशः इन नौ रसों की उत्पत्ति मानी गई है-शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, श्रद्भुत श्रौर शान्त । नाटक के लिए रस को श्रनुपयुक्त माना गया है। विभाव के दो भेद हैं -- ग्रालम्बन ग्रौर उद्दीपन । ग्रनुभावों के भी ग्रनेक उपभेद किए गये हैं -- जैसे शारीरिक, मानसिक ग्रौर सात्त्विक। ये सात्त्विक ग्रनुभाव ग्राठ माने गये हैं स्तम्भ, स्वेद, प्रलय, रोमांच, वैवर्ण्य (रंग फीका पड़ जाना), वेपथु (काँपना), स्रश्रु स्रौर वैवर्ण्य (स्वर का बदल जाना)। संचारी भावों की संख्या ३३ निर्धारित की गई है, किन्तु इससे ग्रधिक भी हो सकती है।

४. अभिनय साहित्य की दूसरी विधाग्रों ग्रीर नाटकों में सबसे बड़ा ग्रन्तर यह है कि जहाँ ग्रन्य विधाग्रों की रचना पठन या श्रवण के उद्देश्य से होती है, वहाँ नाटक की रचना दर्शन के निमित्त होती है। नाटक श्रव्य या पाठ्य नहीं भ्रपितु दृश्य काव्य है, श्रीर उसे 'दृश्य काव्य' में परिणत करनेवाला प्रमुख तत्त्व श्रभिनय है। श्रतः कहना न होगा कि यह नाटक का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

नाटक खेलनेवाले पात्र या ग्रिभिनेता रंगमंच पर उपस्थित होकर जो रूप परि-वर्तन, चेष्टाएँ, वार्तालाप, कार्य ग्रादि करते हैं, वह सब 'ग्रिमनय' के ग्रन्तर्गत लिया जाता है। ग्रिमनय को चार प्रकार का माना गया है—ग्रांगिक, वाचिक, श्राहार्य ग्रौर सात्त्रिक । ग्रांगिक के भी ग्रनेक भेद किए गए हैं-शारीर, मुखज ग्रौर चेष्टाकृत । श्रांगिक श्रभिनय में श्रंगों के संचालन के भिन्न-भिन्न प्रकार निश्चित किए गए हैं। प्रत्येक रस के ग्रंगों का संचालन उसी के ग्रनुकूल होता है। ग्रभिनय में पात्रों के संभाषण भ्रादि का विवेचन किया जाता है। भरतमुनि ने पात्रों के स्तर एवं उनकी शिक्षा के अनु-कूल भाषा में संभाषण की श्रायोजना का समर्थन किया है। श्राहार्य के श्रन्तर्गत पात्रों के रूप, आकृति, वेश-भूषा श्राभूषणादि पर विचार किया जात्ए है । नाट्य-शास्त्र में विभिन्न

वर्गों के ग्राहार्य सम्बन्धी ग्रभिनय की विस्तृत विवेचना की गई है। यहाँ तक कि उन्होंने भिन्त-भिन्त स्थिति के लोगों के वालों और मूँछों की सजावट की भी विधि दी है; जैसे विदूषक को गंजा दिखाना चाहिए, वच्चों की तीन चोटियाँ होनी चाहिए, नौकरों की लम्बी चोटियाँ, ग्रादि-ग्रादि।

सात्त्विक ग्रभिनय के ग्रन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, ग्रश्रु ग्रादि की चर्चा की जाती है। ग्रभिनय में सबसे ग्रधिक कठिन सात्त्विक ग्रभिनय है। ग्राजकल फिल्मों के क्षेत्र में ग्रश्न्

यादि के लिए ग्रनेक कृत्रिम विधियों का प्रयोग किया जाता है।

५. वृत्तियाँ — कुछ विद्वान् वृत्ति ग्रौर शैली को समान ग्रथं में ग्रहण करते हैं जो ठीक नहीं है । शैली का सम्बन्ध मुख्यतः नाट्य-वस्तु के बहिरंग-उसकी भाषा ग्रादि से है; जबिक वृत्ति उसकी मूल प्रकृति से सम्बन्ध रखती है। वृत्तियाँ चार बताई गई हैं— कैशिकी, सात्त्वती, ग्रारभटी ग्रौर भारती। कैशिकी में श्रुङ्गार, हास्य, गीत ग्रौर नृत्य का वाहुल्य रहता है। सात्वती में शौर्य, दान, दया ग्रादि वीरोचित कार्यों का निरूपण रहता है। ग्रारभटी में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष, घात-प्रतिघात ग्रादि का निरूपण रहता है । भारती वृत्ति में स्त्रियाँ वर्जित मानी गई है । ग्राधुनिक नाटकों ग्रौर फिल्मों का भी इन वृत्तियों के भ्राधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं। प्रेम भीर रोमांस सम्बन्धी, समाज-सुधार एवं देश-प्रेम सम्बन्धी, जासूसी एवं रहस्यात्मक ग्रीर मारकाट सम्बन्धी चल-चित्रों को क्रमशः कैशिकी, सात्त्वती, श्रारभटी ग्रौर भारती में रखा जा सकता है।

नाटक के विभिन्न तत्त्वों का उपर्युक्त विवेचन मुख्यतः प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र के ग्राधार पर किया गया है। ग्राधुनिक युग में पाश्चात्य नाटककारों — इब्सन, बर्नार्ड शॉ—ग्रादि के प्रभाव से भारतीय नाटकों के स्वरूप में पर्याप्त विकास हुग्रा है। ग्रव नाटकों में ऐतिहासिक या ख्यात वृत के स्थान पर किल्पत ग्राख्यानों को स्थान दिया जाता है। दूसरे, नाटक का नायक कोई महापुरुष या उच्चवर्ग का व्यक्ति हो, यह भी ग्रावश्यक नहीं। तीसरे, व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति द्वेष की ग्रपेक्षा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह ग्रधिक दिखाया जाता है। चौथे, वाह्य संघर्ष की ग्रपेक्षा ग्रान्तरिक या मानसिक संघर्ष को प्रधानता दी जाती है। पाँचवें, गीतों ग्रीर स्वगत-कथनों को प्रायः हटा दिया गया है । वस्तुतः श्राधुनिक नाटक चम्पू (गद्य-गद्य) न रहकर विशुद्ध गद्य की श्रेणी में ग्रा गया है।

यद्यपि नाटक का प्राचीन स्वरूप बहुत कुछ लुप्त हो गया है या यों कहिए कि विकसित हो गया है, किन्तु चल-चित्रों के रूप में उसने एक ऐसा नवीन रूप प्राप्त किया है, जो साहित्य के अन्य सभी अंगों की अपेक्षा सर्वाधिक लोकप्रिय है। विश्व स्वयं एक श्रद्भुत नाटक है ग्रौर नाटक उसका भी एक नाटक है। ग्रतः इसका रूप भले ही देश-काल के ग्रनुसार परिवर्तित होता रहे, किन्तु इसका ग्राकर्षण सदैव ज्यों का त्यों बना रहेगा।

: नौ :

रस-सिद्धान्त श्रीर रस-निष्पत्ति

- १. 'रस' शब्द की व्यापकता।
- २. रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक एवं ग्राचार्य।
- ३. भावों का वर्गीकरण—संचारी भाव ग्रौर स्थायी भाव में ग्रन्तर । मनोविज्ञान के 'इमोशन' ग्रौर 'सेण्टीमेंट' से तुलना । डा० नगेन्द्र का मत ।
- ४. रस के विभिन्न भ्रवयव—श्रालम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, संचारी भाव, स्रमुभव भ्रादि ।
- ५. रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मत ।
- ६. रस-सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप।
- ७. रस-सिद्धान्त का महत्त्व—दार्शनिक दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, साहित्यिक दृष्टि से, राजनैतिक दृष्टि से।
- प्रसंहार ।

'रस' शब्द भारतीय संस्कृति ग्रौर साहित्य के चरम विकास से सम्बन्धित है। भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में 'रस' शब्द का प्रयोग सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के लिए होता है। खाद्य-पदार्थों ग्रौर फलों के क्षेत्रों में रस मधुरतम तरल पदार्थ का द्योतक है। संगीत के क्षेत्र में कर्णेन्द्रिय द्वारा प्राप्त 'ग्रानन्द' का नाम 'रस' है। चिकित्सा के क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट प्राणदायिनी ग्रौषिधयों को 'रस' कहा जाता है। ग्रध्यात्म के क्षेत्र में स्वयं परमात्मा को ही रस या रस को ही परमात्मा घोषित किया गया है—''रसो वै सः'' ग्रर्थात् रस ही परमात्मा है। इसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी काव्य के ग्रास्वादन से प्राप्त ग्रानन्दानु भूति को ही रस की संज्ञा दी गई है। ग्रस्तु, काव्यानन्द ही रस है।

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक ग्राचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। उन्होंने ग्रपने नाट्यशास्त्र में रस के विभिन्न ग्रवयवों का विवेचन किया है। भरतमुनि का समय ग्रनुमानतः ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के निकट माना जाता है। भरत से पूर्व भी रस-सिद्धान्त के ग्रस्तित्व का प्रमाण मिलता है। स्वयं भरत ने ग्रपने पूर्ववर्ती ग्राचार्यों की ग्रोर संकेत करते हुए लिखा है—''एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता दुहिशोन महात्मना।'' फिर भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ ग्रनुपलब्ध होने के कारण भरत को ही ग्रादि ग्राचार्य माना गया है। भरतमुनि के कार्य को ग्रनेक परवर्ती ग्राचार्यों—भट्ट-लोल्लट, शंकुक, भट्टनायंक, ग्रभिनवगुप्त, भोज-राज, विश्वनाथ, जगन्नाथ ग्रादि ने ग्रागे बढ़ाया। ग्रागे चलकर हिन्दी के कवियों ग्रौर ग्राचार्यों ने भी रस-सिद्धान्त का महत्त्व स्वीकार किया है। ग्राधुनिक युग में ग्राचार्य СС-0. Jangamwadi Math Collection, श्रवावार्वां युग में ग्राचार्य

रामचन्द्र शुक्ल ग्रीर डा॰ नगेन्द्र ने रस-सिद्धान्त की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। वस्तुतः लगभग वीस शताब्दियों से भारत में रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा ग्रक्षुण्ण रूप से रही है। यद्यपि ग्रलंकार, रीति, वक्रोक्ति, घ्विन ग्रादि संप्रदायों के प्रवर्त्तकों ने रस के विरोध में नये-नये सम्प्रदायों की स्थापना करने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें सफलता न मिली ग्रीर ग्रन्त में उन्हें भी किसी-किसी रूप में रस का महत्त्व स्वीकार करना पड़ा। भावों का वर्गीकरण

रस-सिद्धान्त के समर्थक काव्य का लक्ष्य पाठक को ग्रानन्दानुभूति प्रदान करना स्वीकार करते हैं। इस काव्य-जन्य ग्रानन्द का ही दूसरा नाम 'रस' है। यह ग्रानन्दानुभूति या रसानुभूति पाठक की भावनाग्रों के उद्देलन के द्वारा सम्पन्न होती है। ग्रतः काव्य में भी ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि वह पाठक की भावनाग्रों का उद्देलन कर सके। यह क्षमता तभी ग्राती है जब कि काव्य में विभिन्न भावों, भावनाग्रों एवं उनसे सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों का चित्रण सुचार रूप में हुग्रा हो। ग्रतः रस-सिद्धान्त एक ग्रोर तो काव्य के सर्वप्रमुख तत्त्व के रूप में भाव को स्वीकार करता है तथा दूसरी ग्रोर वह भावों के विभिन्न रूपों ग्रीर उनके विभिन्न ग्रंगों की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

रस-सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम भावों का दो रूपों में वर्गीकरण किया जाता है—(१) स्थायी भाव ग्रौर (२) संचारी भाव। स्थायी भाव घीरे-घीरे विकसित होता है—दीर्घकाल तक हृदय में स्थित रहता है जबिक संचारी भाव विद्युत् की भाँति एका-एक प्रकाशित होकर कुछ ही क्षणों के ग्रनन्तर लुप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रेम, घृण , उत्साह ग्रादि स्थायी भाव हैं जब कि रोष, हर्ष, भय ग्रादि परिस्थितियों के ग्रनु-सार संचारी रूप में प्रकट होते हैं। भावों का यह वर्गीकरण ग्राधुनिक मनोविज्ञान के भी सर्वथा श्रनुकूल सिद्ध होता है। मनोविज्ञान से श्रनुसार भी भावों के दो रूप हैं— (१) इमोशन (Emotion) ग्रीर (२) सेंटीमेंट (Sentiment)। ये दोनों क्रमश: हमारे संचारी भाव भौर स्थायी भाव के ही पर्यायवाची हैं। इन दोनों के भ्रन्तर को स्पष्ट करते हुए मनोवैज्ञानिकों के द्वारा कहा गया है कि इमोशन भावानुभव की प्रवृत्ति मात्र या यों कहिए कि भाव की उत्तेजित ग्रवस्था मात्र (Emotion is a moved or stirred up state of feeling) है, जब कि सेंटोमेंट वह भावात्मक प्रवृत्ति है जो किसी भ्रालम्बन-विशेष से सम्बद्ध होकर व्यवस्थित ढंग से विकसित होती है। (A sentiment is an organised system of emotional dispositions centred about the idea of some object —McDougall) श्री मैक्डूगल महोदय ने ग्रपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलोजी' में इस पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा—''प्रत्येक सेंटीमेंट के पीछे उसके उद्भव का पूरा इतिहास होता है। यह घीरे-धीरे विकसित होता हुम्रा म्रधिक गम्भीर भ्रौर शक्तिशाली होता जाता है। जब कोई इमोशन-विशेष बार-बार ग्रालम्बन-विशेष के कारण उद्दीत होता रहता है तब वह दृढ़ भ्रौर जटिल होता जाता है भ्रौर उसकी मूल ग्रवस्था निर्मित हो जाती है सेंटीमेंट के उदाहरण प्रेम ग्रौर घृणा हैं।" हमारे ग्राचार्यों ने स्थायी भाव ग्रौर संचारी भाव का ग्रन्तर बताते हुए इसी से मिल्रुती-जुलती बात कही है। रस-गंगाधरकार ने लिखा है—''स्थायी भाव चित्त में चिरकाल तक वासना-रूप से स्थित रहता हुग्रा ग्रालम्बन से सम्बद्ध रहता है। वह विरोधी संचारी भावों से विच्छिन्न नहीं होता तथा ग्राश्रय के हृदय में जीवन के दीर्घ भाग तक स्थित रहता है, जैसे प्रेम नामक चित्तवृत्ति।"

डा० नगेन्द्र ने 'सेन्टीमेंट' का श्रनुवाद 'मनोवृत्ति' करते हुए रस-सिद्धान्त के 'स्थायी भाव' से सेन्टीमेंट या मनोवृत्ति में सूक्ष्म ग्रन्तर वताया है—(१) मनोवृत्ति (Sentiment) एक व्याप्त मनः स्थिति मात्र है जिसके समग्र रूप का ग्रनुभव कभी नहीं हो सकता । मनोवृत्ति के संचारी का ही ग्रास्त्रादन हो सकता है, स्वयं मनोवृत्ति का नहीं। परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह वात नहीं है। (२) मनोवृत्ति (Sentiment) सदैव ही मनोविकार (Emotion) की ग्रावृत्ति वन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह सत्य नहीं है, हर्ष की भ्रावृत्ति करते रहिए पर वह रित नहीं वन पायेगा। (३) मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है परन्तु स्थायी भाव विचारमूलक नहीं, प्रवृत्तिमूलक है । डा॰ नगेन्द्र के ये निष्कर्ष हमें स्वीकार्य प्रतीत नहीं होते। एक तो उन्होंने 'सेन्टीमेंट' का अनुत्राद 'मनोवृत्ति' करके उसके रूप के सम्बन्ध में भ्रांति उत्पन्न कर दी है। 'सेन्टीमेंट' हमारे 'भावना' शब्द का समानार्थक है। मनोवृत्ति सामान्य मानसिक प्रवृत्ति मात्र होती है, उसमें भावात्मकता कम होती है जब कि भावना में भावात्मकता का ग्रंश ग्रधिक होता है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने सेन्टीमेन्ट की जो व्याख्या की है, वह भावना से साम्य रखती है। दूसरे, डा॰ नगेन्द्र ने जो विशेषताएँ सेन्टीमेन्ट की वताई हैं वे सव स्थायी भाव में भी मिलती हैं तथा जो न्यूनताएँ स्थायी भाव में ढूँढ़ी गई हैं वे सेन्टीमेंट में भी विद्यमान हैं। हर्ष की भ्रावृत्ति करते रहने से यदि रित स्थायी भाव का विकास नहीं होता तो यह भी सत्य है कि हर्ष की ग्रावृत्ति से प्रेम सेन्टीमेन्ट का भी विकास नहीं होता । अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि रस-सिद्धान्त के भ्राचार्यों द्वारा स्थायी श्रौर संचारी का वर्गीकरण श्राधुनिक मनोविज्ञान के भी श्रनुकूल है।

रस के विभिन्न ग्रवयव

भावोद्देलन के लिए ग्रावश्यक तत्त्वों की विवेचना करते हुए भरतमुनि ने भावनाग्रों से सम्बन्धित मुख्यतः तीन ग्रवयवों—विभाव, ग्रनुभाव ग्रौर संचारी भाव की चर्चा
की है। विभाव क्या है ? वे व्यक्ति या पदार्थ जे भावोत्तेजना के मूल कारण हैं, विभाव
कहलाते हैं। विभाव के भी दो भेद माने गये हैं—ग्रालम्बन ग्रौर उद्दीपन। मानव-हृदय में
भावनाग्रों का प्रस्फुटन किसी बाह्य वस्तु, दृश्य या किसी परिस्थिति-विशेष की कल्पना
द्वारा ही होता है, इसी प्रमुख कारण को ग्रालम्बन कहते हैं। जैसे सिंह को देखकर हमारे
हृदय में भय उत्पन्न होता है, ग्रतः यहाँ 'सिंह' ग्रालम्बन है। किन्तु बाह्य कारण का
प्रभाव भी मनुष्य पर परिस्थितियों के ग्रनुसार ही पड़ता है। यदि हम सिंह को पिजरे
में वन्द देखते हैं, या हम हवाई जहाज में बैठे हुए ऊपर से सिंह को देखते हैं तो हमारे
हृदय में भय का संचार नहीं होता—ग्रतः भावोद्दीपन के लिए परिस्थितियों की ग्रनुकूलता भी ग्रपेक्षित है। इसी को 'उद्दीपन' कहा गया है। ग्रालम्बन यदि ग्राग लगानेवाला ग्रंगारा है तो उद्दीपन असुकुत्र हुन्न हिन्न हुन्न हिन्न हुन्न हिन्न हुन्न हुन

प्रकार वर्षा के वीच ग्राग वुक्त जाती है, ठीक वैसे ही 'उद्दीपन' की प्रतिकूलता में 'ग्रालम्बन' का प्रभाव भी नष्ट हो सकता है। श्मशान भूमि में रमणी की मनोरम छवि को देखकर भी रित का विकास नहीं होता।

जिस व्यक्ति के हृदय में ग्रालम्बन ग्रौर उद्दीपन के प्रभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, उसे 'ग्राश्रय' कहा जाता है। हृदयगत भावों के उद्देलन से ग्राश्रय की शारी-रिक एवं मानसिक ग्रवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन ग्रा जाता है; जैसे क्रोध में नेत्रों का लाल हो जाना, शोक में चीखना, ग्रांसू बहाना ग्रादि। इस परिवर्तन के द्योतक चिह्नों को 'ग्रनुभाव' की संज्ञा दी गई है। हृदयस्थ भावों की व्यंजना ग्रनुभावों के माध्यम से होती है। भावनाग्रों का रूप ग्रत्यन्त सूक्ष्म होता है जिनका वर्णन काव्य में नहीं किया जा सकता, अतः अनुभावों के चित्रण के द्वारा ही भाव की व्यंजना की जाती है, अतः काव्य में अनुभावों की व्यंजना भावश्यक मानी गई है।

एक ही स्थायी भाव के वीच-वीच में परिस्थितिवश श्रनेक भावों का भी संचार होता रहता है। उदाहरण के लिए प्रेम (स्थायी भाव) के क्षेत्र में प्रिय के मिलन पर 'हर्प', उसके वियोग पर 'दुःख', उसकी उपेक्षा पर 'क्षोभ', ग्रहित की ग्राणंका पर 'चिता' ग्रादि भावों की ग्रनुभूति होती है—इन्हें 'संचारी' कहा जाता है। 'संचारी भाव' स्थायी भाव के विकास में सहायक होते है, किन्तु यदि उनकी ग्रायोजना प्रतिकूल रूप में हो तो वे वाधक भी सिद्ध हो सकते हैं। काव्य में स्थायी भाव को पुष्ट करने के लिए उसके अनुकूल संचारियों की ही आयोजना की जाती है।

इस प्रकार स्थायी भाव ग्राश्रय के हृदय में ग्रालम्बन के द्वारा उत्तेजित होकर उद्दीपन के प्रभाव से उद्दीम होकर, संचारी भावों से पुष्ट होता हुआ अनुभावों के माध्यम से व्यक्त होता है। जब काव्यगत स्थायी भाव की ग्रनुभूति पाठक को होती है तो वही 'रसानुभूति' या 'रस-निष्पत्ति' कहलाती है।

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया

काव्य के ग्रव्ययन से पाठक को रस या ग्रानन्द की ग्रनुभूति किस प्रकार होती है—यह प्रश्न भी रस-सिद्धान्त के ग्राचार्यों में गहरे वाद-विवाद का विषय रहा है। ग्राचार्य भरतमुनि ने ग्रपने 'नाट्य-शास्त्र' में इस विषय पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए लिखा था—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" ग्रर्थात् विभाव, ग्रनुभाव, व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती ग्राचार्यों ने इस श्लोक की व्याख्या ग्रपने-ग्रपने दृष्टिकोण से करते हुए ग्रनेक मत स्थापित किए हैं। इन ग्राचार्यों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) प्राचीन ग्रीर (२) ग्रवीचीन । प्राचीन ग्राचार्यों में भट्ट-लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक ग्रीर ग्रभिनवगुप्त तथा ग्रवीचीन ग्राचार्यों में रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, नगेन्द्र एवं गुलावराय प्रभृति विद्वान् उल्लेखनीय हैं। इनके मन्तव्यों पर यहाँ क्रमशः प्रकाश डाला जाता है।

भट्ट-लोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्ट-लोल्लट ने भरतमुनि के द्वारा प्रयुक्त दो शब्दों—'संयोग' श्रौर 'निष्पत्ति' CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

—की व्याख्या मौलिक रूप से करते हुए वताया कि 'संयोग' का तात्पर्य यहाँ सम्वन्ध या मेल है तथा निष्पत्ति का ग्रर्थ 'उत्पत्ति' है। उनके मतानुसार विभावों से रस की उत्पत्ति होती है, संचारियों से पुष्टि तथा अनुभावों से अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार से रस-सामग्री का रस से तीन प्रकार का सम्बन्ध हुग्रा : रस ग्रौर विभावों में उत्पाद्य-उत्पादक, रस और संचारियों में पोष्य-पोषक तथा रस भीर भ्रनुभावों में गम्य-गमक सम्बन्ध होता है। इस प्रक्रिया को समभने के लिए हम दही की लस्सी का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। दही, पानी, वर्फ थ्रौर चीनी ग्रादि को मिलाकर तथा मथकर लस्सी तैयार की जाती है। दही मूल उपादान है जिससे लस्सी तैयार होती है; पानी, वर्फ ग्रौर चीनी से वह बढ़ती है या पुष्ट होती है ग्रौर मन्थन-क्रिया से उत्पन्न भाग यह सूचित करते हैं कि ग्रव लस्सी तैयार हो गयी। इस उदाहरण को रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया पर लागू करते हुए कहा जा सकता है कि दही विभाव है, जिसका लस्सी रूप से उत्पादक-उत्पाद्य सम्बन्ध है; पानी, वर्फ, चीनी म्रादि संचारी हैं, जिनका लस्सी रूप से पोष्य-पोषक सम्बन्ध है तथा भाग अनुभाव है जो लस्सी-रूपी रस को व्यक्त या सूचित करते हैं। यद्यपि विद्वानों ने भट्ट-लोल्लट के मत को 'उत्पत्तिवाद' का नाम दिया है, किन्तु यह नाम भ्रामक है क्योंकि 'निष्पत्ति' के अन्तर्गत लोल्लट ने केवल उत्पत्ति को ही नहीं, पुष्टि और अभिव्यक्ति को भी स्थान दिया है।

रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरी समस्या है---मूल भाव ग्रौर नट में क्या सम्बन्ध है ? रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन नाटक की दृष्टि से हुग्रा था, ग्रतः इस समस्या पर भी विचार करना ग्रावश्यक था। इस सम्बन्ध में भट्ट-लोल्लट ने कई प्रश्नों पर विचार किया—रस की स्थिति किसके हृदय में होती है ? क्या नट या ग्रिभनेता भी इस रस का अनुभव करते हैं ? सामाजिक या दर्शक श्रिभनेता के कृत्रिम प्रदर्शन से किस प्रकार प्रभावित होते हैं ? उनके विचारानुसार मूल भाव या स्थायी भाव की स्थिति तो मूल पात्रों में ही रहती है, किन्तु ग्रभिनेता मूल ऐतिहासिक पात्रों का ग्रनुकरण करते हैं तथा सामा-जिक या दर्शक ग्रभिनेताग्रों पर मूल पात्रों का ग्रारोपण करके रस का ग्रनुभव प्राप्त करते हैं। लोल्लट के इन निष्कर्षों में स्थूल दृष्टि से अनेक दोष दिखाई पड़ते हैं। प्रथम तो ऐतिहासिक पात्र ग्रमिनेताग्रों के सामने प्रस्तुत नहीं होते, ग्रतः ऐसी स्थिति में वे मूल पात्रों का श्रनुकरण किस प्रकार कर सकते हैं; जैसे राम का श्रभिनय करनेवाले श्रभिनेता के सामने स्वयं राम प्रस्तुत नहीं होते, श्रतः वह उनका श्रनुकरण किस प्रकार करता है ? दूसरे, कृत्रिम प्रदर्शन या मिथ्या आरोप के द्वारा रस की प्रतीति कैसे सम्भव है ? जब हम रस्सी को साँप समभते हैं तो हमें भय की अनुभूति होती है, किन्तु जान-बूभकर रस्सी पर साँप का ग्रारोपण करने से भय की ग्रनुभूति नहीं होती—ग्रतः नाटक में भी कृत्रिम ग्रारोप से रसानुभूति किस प्रकार सम्भव है ?

हमारे विचार से उपर्युक्त ग्राक्षेपों का निराकरण किया जा सकता है। यह ठीक है कि मूल पात्र ग्रिभनेताग्रों के सम्मुख उपस्थित नहीं होते किन्तु वे कल्पना के द्वारा उनका श्रनुकरण करते हैं। वे मूल पात्रों का साह्याह्याह्याह्याह्याह्या से करते हैं। कालिदास ने ग्रपने 'ग्रभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त एवं शकुन्तला के जिस रूप का चित्रण किया है उसी रूप का श्रभिनय श्रभिनेता करते हैं । दूसरा श्राक्षेप है—िमथ्या श्रारोप से भावनाओं की श्रनुभूति नहीं होती है, यह भी ठीक नहीं है। चित्रपट पर हम ग्रनेक ग्रभिनेत्रियों को भिखारिन, विधवा या वेश्या का ग्रभिनय करते देखते हैं; हम उन ग्रभिनेत्रियों का वास्तविक नाम—नरगिस, वैजयन्तीमाला, नूतन ग्रादि भी जानते हैं, किन्तु फिर भी हमें रसानुभूति होती है। हम जानबूभ कर उस ग्रभिनेत्री को थोड़ी देर के लिए उसके कृत्रिम रूप में ग्रहण कर लेते हैं। यह एक तथ्य है कि हम अभिनेताओं के मूल नाम, रूप एवं स्थिति को जानते हुए भी रजतपट पर उन्हें भिन्न नाम, रूप एवं स्थिति में ग्रहण करके रसानुभूति प्राप्त करते हैं । वस्तुतः रसानुभूति का कारण प्रत्यक्ष या वास्तविक रूप न होकर, मिथ्या रूप-विधान ही है। हम सड़क पर वास्तविक भिखारी को देखकर तो उसके प्रति घृणा प्रकट करते हैं, सच्चे चोर को घर में घुसते देखकर शोर मचाते हैं या प्रत्यक्ष दुर्घटना को देखकर खेद प्रकट करते हैं, किन्तु रंगमंच के भिखारी, चीर या किसी ग्रसुन्दर दृश्य को देखकर प्रसन्नता का ग्रनुभव करते हैं। कई बार छोटे वच्चे या नये दर्शक रंगमंच की भ्रवास्तिविक वस्तु को भी वास्तिविक समक्र बैठते हैं, ऐसी स्थिति में वे वीभत्स ग्रौर भयानक दृश्यों से ग्रानन्द ग्रनुभव नहीं कर पाते । रंगमंच के कृत्रिम सिंह को वास्तविक सिंह समक्त लेनेवाले वच्चे नाट्यशाला से चले जाने का ग्राग्रह करने लगते हैं। ग्रस्तु, भट्ट-लोल्लट का 'ग्रारोपवाद' वास्तविकता पर ग्राधारित है।

यद्यपि परवर्ती श्राचार्यों श्रौर श्रालोचकों ने भट्ट-लोल्लट के मत की तीव्र श्रालोच्या की है, किन्तु फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। भट्ट-लोल्लट ही पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विवाद का श्रीगणेश किया। दूसरे, उन्होंने रस-सामग्री का विश्लेषण करते हुए उसके विभिन्न ग्रवयवों—विभाव, श्रनुभाव, संचारी—का क्रिमक महत्त्व निश्चित किया। रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में उन्होंने विभावों, ग्रनुभावों ग्रौर संचारियों का योगदान स्पष्ट किया, निष्पत्ति की क्रिया के तीन रूपों—उत्पत्ति, पुष्टि ग्रौर ग्रिमव्यक्ति—की कल्पना करके इसे सहज बोधगम्य बनाया। भावानुभूति के तीन संस्कारों—मूलपात्रों की श्रनुभूति, श्रीभनेताग्रों की ग्रनुभूति ग्रौर सामाजिक की ग्रनुभूति—के पारस्परिक सूक्ष्म ग्रन्तर का भी निर्देश सबसे पूर्व भट्ट-लोल्लट के द्वारा ही हुग्रा। रसानुभूति का ग्राधा प्रत्यक्ष रूप-विधान के स्थान पर मिथ्या रूप के ग्रारोपण को स्वीकार करके उन्होंने ग्रपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया। ग्रतः इसमें कोई संदेह नहीं कि भट्ट-लोल्लट का मत पूर्ण न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

शंकुक का ग्रनुमितिवाद

श्री शंकुक ने ग्राचार्य लोल्लट के मत के विरोध में ग्रपने ग्रनुमितिवाद की स्थापना की । वे 'निष्पत्ति' का ग्रर्थ 'ग्रनुमिति' तथा 'संयोग' का ग्रर्थ 'ग्रनुमान' मानते हैं । रस सामग्री—विभाव, ग्रनुभाव, संचारी—के ग्राधार पर पाठक या दर्शक रस का ग्रनुमान करता है । स्थायी भाव ग्रौर रस का ग्रनुभव प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया जा सकता—

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

उसका अनुमान मात्र ही रस-सामग्री से किया जा सकता है। अस्तु, रस की 'निष्पत्ति' नहीं, अनुमिति या प्रतीति मात्र होती है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुमान तो बुद्धि की प्रिक्रिया है जबिक रस का सम्बन्ध भावनाओं से है, अतः अनुमान के द्वारा रसानुभूति किस प्रकार सम्भव है ? इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि शंकुश के द्वारा प्रयुक्त 'अनुमिति' शब्द ठीक उसी अर्थ का द्योतक नहीं है, जो हिन्दी का 'अनुमान' शब्द देता है। शंकुक का 'अनुमिति' या 'अनुमान' न्याय-शास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ 'अनुमान' से बहुत अधिक व्यापक है। इस अर्थ को समक्षने के लिए हमें न्याय-शास्त्र की थोड़ी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

न्याय-शास्त्र के अनुसार ज्ञान के चार साधन माने गए हैं—(१) प्रत्यक्ष प्रमाण, (२) अनुमान, (३) उपमान और (४) शब्द। इस अनुमान (ज्ञान-प्राप्ति के साधन) के भी तीन प्रकार माने गए हैं—(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट। जहाँ प्रत्यक्ष कारण को देखकर अप्रत्यक्ष कार्य की कल्पना की जाती है, वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है; जैसे—वादलों को देखकर वर्षा का ज्ञान। जब प्रत्यक्ष कार्य को देखकर अप्रत्यक्ष कारण का अनुमान किया जाता है तो इसे शेषवत् कहते हैं। जहाँ सामान्य अनुभव के आधार पर अप्रत्यक्ष कारण या कार्य का अनुमान किया जाता है उसे 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं; जैसे प्रतिवर्ष सावन में वर्षा होती है, अतः सावन के महीने में वर्षा का अनुमान करना। न्याय-शास्त्र के अनुसार विभाव पूर्ववत् अनुमान है, अनुभाव शेषवत् अनुमान और संचारी सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। वस्तुतः न्याय-शास्त्र में ज्ञान और अनुमान दोनों ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किए जाते हैं, जो क्रमशः अनुभृति और अनुभव के अर्थ से भी समन्वित हैं। शंकुक की 'अनुमिति' को प्रचलित अर्थ के अनुसार 'अनुभृति' कहना अधिक उचित है। सामान्य अर्थ में इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को अनुभव कहते हैं, जबकि न्याय-शास्त्र में उसे ज्ञान ही कहते हैं। यही वात अनुमान और अनुभव पर लागू होती है।

इस प्रकार शंकुक ने न्याय-शास्त्र के ग्राधार पर रस-निष्पत्त की व्याख्या की ।
नट ग्रीर सामाजिक के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उसने 'चित्र-तुरंग-न्याय' का उदाहरण दिया, ग्रर्थात् जिस प्रकार घोड़े के चित्र को देखकर घोड़े की ग्रनुमिति या ग्रनुभूति
होती है, उसी प्रकार ग्रिमिनेताग्रों के ग्रिमिनय से मूल पात्रों की प्रतीति होती है । भट्टलोल्लट की माँति शंकुक भी मूल भाव की स्थिति ऐतिहासिक या काव्यगत पात्रों में ही
मानता है तथा नट में भावानुभूति का निषेध दोनों ने ही किया है । सामाजिक की ग्रनुभूति में मूल पात्रों की ग्रनुभूति से ग्रन्तर दोनों ही स्वीकार करते हैं, किन्तु शंकुक रस
को उत्पत्ति न मानकर केवल ग्रनुमिति मानता है । वस्तुतः शंकुक की देन इस क्षेत्र में
बहुत ग्रिमिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, जो बात भट्ट-लोल्लट ने सीध-सादे शब्दों में कही थी,
उसी को न्याय-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में शंकुक ने उलभा दिया । जो न्यूनताएँ
लोल्लट के मत में थीं वे शंकुक अक्षेत्रसात्र सी स्वीकारयों बिक्वित्यों विवासमान हैं । इन दोनों ही

विद्वानों ने इस वात का कोई उत्तर नहीं दिया कि मूल पात्रों के स्थायी भाव की ग्रिभ-व्यक्ति या अनुमिति से सामाजिक को आनन्द की अनुभूति क्यों होती है ? इस प्रश्न पर ग्रागे चलकर भट्टनायक ने विचार किया।

भट्टनायक का भोगवाद

भट्टनायक ने 'संयोग' का ग्रर्थ 'भोज्य-भोजक' सम्बन्ध (या भावना) तथा 'निष्पत्ति' का ग्रर्थ भिक्त या भोग करते हुए ग्रपने मत की स्थापना की । पूर्ववर्ती व्याख्याग्रों— भट्ट-लोल्लट ग्रौर शंकूक--ने रस-निष्पत्ति की व्याख्या केवल नायक की दुष्टि से की थी जबिक भट्टनायक ने इस पर सामान्य काव्य की दृष्टि से विचार किया। उनके विचारा-नुसार काव्य का रूप शब्दात्मक है। शब्दात्मक काव्य की तीन क्रियाएँ हैं --- ग्रिभिधा, भावकत्व (भावना) ग्रौर भोजकत्व (भोग)। ग्रिभिधा के द्वारा हम शब्द के सामान्य अर्थ को ग्रहण करेंगे। वह अर्थ हमारे मस्तिष्क को ही प्रभावित करेगा किन्तु भावकत्व शक्ति के द्वारा उस अर्थ की अनुभूति हमारे हृदय को होगी। किव की भाषा में मूर्तिमत्ता, रूपात्मकता या विम्ब की प्रधानता होती है जिससे वह हमें केवल वस्तु का ज्ञान ही प्रदान नहीं करती-उसका चित्र भी उपस्थित कर देती है; वह हमारी बुद्धि को ही नहीं, कल्पना-शक्ति को भी जागृत कर देती है। भाषा की इस प्रक्रिया को भावकत्व का नाम दिया गया है। भावकत्व की जिस प्रक्रिया के कारण पाठक को काव्यगत विषय की अनु-भूति प्राप्त होती है उसी को दूसरा नाम 'साधारणीकरण' का दिया गया है। साधारणी-करण में भावकत्व की शक्ति की दोहरी प्रक्रिया होती है—एक ग्रोर तो वह विषय-वस्तु को 'पर' से मुक्त करती है तथा दूसरी भ्रोर वह पाठक के 'स्व' को विगलित करती है। काव्य में चित्रित शकुन्तला का प्रेम किसी ग्रन्य का प्रेम नहीं रह जाता तथा दूसरी ग्रोर हम ग्रपने स्वार्थ की भूमि से ऊपर उठ जाते हैं; इस प्रकार पाठक का हृदय ग्रौर काव्य-वस्तु दोनों मिलकर उसी प्रकार एकाकार हो जाते हैं जिस प्रकार नमक पानी में घुल जाता है। यदि पानी जमा हुग्रा हो तो वह नमक को नहीं घुला सकता ग्रौर यदि नमक भी पत्थर की तरह कठोर हो तो भी घुल नहीं पाता। भावकत्व की प्रक्रिया के कारण काव्य-वस्तु में द्रवणशीलता ग्रौर पाठक के हृदय में तरलता दोनों का संचार एक ही साथ होता है।

प्रश्न है साधारणीकरण या काव्य की विषय-वस्तु के साथ तादात्म्य के कारण पाठक को रंस या ग्रानन्द की ग्रनुभूति क्यों होती है ? इस प्रश्न का उत्तर भट्टनायक ने दर्शन के ग्राधार पर दिया है। भारतीय दर्शन के ग्रनुसार हमारे तीन गुण हैं सत्त्वगुण, रजोगुण ग्रौर तमोगुण। जब हमारे हृदय में सत्त्वगुण का ग्राविर्भाव होता है तो हमें श्रानन्द की श्रनुभृति होती है, रजोगुण के कारण ही ब्रह्म या परम सत्ता को सदैव श्रानन्द की अनुभति होती रहती है, किन्तु हमारी आत्मा माया के बन्धन में पड़कर रजोगण से युक्त हो जाती है जिसके फलस्वरूप हममें अपने-पराये की भेद-भावना उत्पन्न होती है। यही भावना समस्त दुःखों की मूल है। काव्य के द्वारा हम ग्रपने-पराये की भावना से मुक्त होते हैं—या यों किहए कि साधारणीकरण के कारण हमारी भ्रात्मा से रजोगुण CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. लुप्त हो जाता है तथा सत्त्वगुण का उद्रेक होता है जिससे हमें ग्रानन्द की ग्रनुभूति होती है। इस दार्शनिक भाषा से बचकर सीदे-साधे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्यगत विषय की ग्रनुभूति से हमारे हृदय का विस्तार होता है जिससे हमें ग्रानन्द की ग्रनुभूति होती है। ग्राचार्य शुक्ल के शब्दों में यही 'हृदय की मुक्त ग्रवस्था' होती है।

इस प्रकार भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति के प्रश्न पर सर्वथा मौलिक ढङ्ग से प्रकाश डालते हुए भ्रनेक महत्त्वपूर्ण बातें कहीं। उनके द्वारा काव्य की भावोत्पादिनी गिक्त—

भावकत्व तथा साधारणीकरण-की खोज एक ग्रंत्यन्त महत्वपूर्ण देन है।

ग्रभिनवगुप्त का ग्रभिव्यक्तिवाद

ग्रिभनवगुप्त ने भट्टनायक की ग्रनेक मान्यताग्रों का खण्डन करते हुए ग्रपने ग्रिभिन्यित्वाद की स्थापना की। एक तो उन्होंने 'भावकत्व' ग्रीर 'भोजकत्व' की प्रक्रिया को ग्रस्वीकार कर दिया, क्योंकि भट्टनायक ने इसकी कल्पना किसी शास्त्रीय प्रमाण के ग्राघार पर नहीं की थी। दूसरे उन्होंने सिद्ध किया कि रित ग्रादि स्थायी भाव पाठकों के ग्रन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप से सदैव विद्यमान रहते हैं, उनके ही 'विभाव' ग्रादि के संयोग से—काव्य के श्रवण या दशन से व्यंजना-वृत्ति के ग्रलौकिक विभावन व्यापार द्वारा रसानुभव होता है। उनके विचारानुसार 'संयोग' का ग्रर्थ व्यंजना ग्रौर 'निष्पत्ति' का ग्रर्थ ग्रिमव्यक्ति है। मानव-हृदय में भावानुभूति की क्षमता स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान है, ग्रतः 'भावकत्व' शक्ति की कल्पना ग्रावश्यक है। इसी प्रकार रसानुभूति का ग्राघार व्यंजना शक्ति है। ग्रतः 'भोजकत्व' की कल्पना ग्रावश्यक नहीं। काव्यों के पढ़ने से भावनाग्रों की उत्पत्ति या निष्पत्ति नहीं होती, ग्रपितु वे केवल व्यक्त होती हैं, ग्रतः भाव पहले से ही हमारे हृदय में विद्यमान होते हैं। इस प्रकार ग्रभिनव-गृप्त के मतानुसार काव्य हमारी भावोत्तेजना या भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र है, नये भावों की सुष्टि नहीं करता।

परवर्ती ग्राचार्यों ने प्रायः ग्रिमनवगुप्त के मत को ही स्वीकार किया है किन्तु कुछ विद्वानों ने उसमें यत्र-तत्र संशोधन भी किए हैं। धनंजय ने 'व्यंजना-शिवत' के स्थान पर 'तात्पर्य' वृत्ति का प्रयोग किया है। नाट्य-दर्पण के रचिंयता रामचन्द्र गुणकर ने चमत्कार को रसानुभूति का कारण बताया है। जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में शत्रु के भी पराक्रम से चमत्कृत होकर, कुछ क्षणों के लिए हम निज हानि के विचार को भूल जाते हैं, ग्रीर 'वाह! वाह' कह बैठते हैं, ठीक इसी प्रकार काव्यजन्य चमत्कार के कारण हमारा हृदय एक विशिष्ट ग्रनुभूति से ग्रान्दोलित हो उठता है, संक्षेप भें यही रामचन्द्र गुणकर का मत है। किन्तु इनका मत परवर्ती विद्वानों द्वारा ग्रिधिक मान्य नहीं हुग्रा। ग्राधिक युग के विभिन्न विद्वानों ने भी इसकी व्याख्या मौलिक ढंग से की है, जिसकी

ग्राघुनिक विद्वानों के मंतव्य

चर्चा ग्रागे की जायगी।

हिन्दी के ग्रनेक ग्राघुनिक विद्वानों ने भी साधारणीकरण ग्रौर रसानुभूति का

१-२. स्पष्टीकरण के लिए ब्रष्टव्य—'रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन'। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

स्पष्टीकरण किया है। डा० श्यामसुन्दर दास ने साधारणीकरण की श्रवस्था को योग की उस मधुमती-भूमिका के समान बताया जिसमें हमारा मस्तिष्क तर्क-वितर्क से शून्य होकर श्रानन्दानुभूति में लीन हो जाता है। उनके शब्दों में—"मधुमती-भूमिका चित्त की वह विशेष श्रवस्था है जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, ग्रर्थ श्रौर ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध श्रौर वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों का भेद श्रनुभव करना ही वितर्क है। "इस पार्थक्यानुभव को श्रपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस श्रवस्था में सम्बन्ध श्रौर सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु-मात्र का श्राभास मिलता रहता है, उसे प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुश्रा पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का श्रालम्बन हो सकता है। "योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस सधुमती-भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रातिभ ज्ञान-संपन्न सत्किव की पहुँच स्वभावतः हुश्रा करती है।" (साहित्यालोचन, पृष्ठ २००-२०२)

याचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—
"साधारणीकरण का ग्रभिप्राय यह है कि काव्य में विणत ग्रालम्बन केवल भाव की व्यंजना करनेवाले पात्र (ग्राश्रय) का ही ग्रालम्बन नहीं रहता बिल्क पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं, ग्रनेक पाठकों ग्रौर श्रोताग्रों का भी ग्रालम्बन हो जाता है। ग्रतः उस ग्रालम्बन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताग्रों का भी हृदय योग देता हुग्रा उसी भाव का रसात्मक ग्रनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि रस-दशा में ग्रपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है ग्रर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम ग्रपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते, ग्रपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। " इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन व्यापार का ग्रलौकिकत्व।" (चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० २४६-२४७)। कहना न होगा कि ग्राचार्य शुक्ल का मत भट्टनायक के मत से सर्वथा मिलता-जुलता है, ग्रतः इसकी विस्तृत चर्चा ग्रपेक्षित नहीं।

डा॰ नगेन्द्र ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि साधारणीकरण किव की अनुभूति का होता है। एक ही पात्र तिभिन्न किवयों द्वारा विभिन्न रूपों में चित्रित किया जाता है, किन्तु पाठक उसी रूप का साक्षात्कार करेगा जिसका किव ने चित्रण किया है। किव चाहे तो रावण को अत्याचारी के रूप में प्रस्तुत कर सकता है और यदि वह चाहे तो उसे अपनी आन की रक्षा के लिए मर-मिटने वाला दिखाकर उसके प्रति पाठक की सहानुभूति जगा सकता है। अतः काव्य के माध्यम से किव की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।

हमारे विचार से किव से हमारा तादात्म्य होता है। किव जिस वस्तु को जिस भावात्मक दृष्टिकोण से देखता है, उसी वस्तु को हम भी उसी दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। इसका श्रर्थ हुग्रा उस वस्तु का साधारणीकरण हो जाता है तथा किव के CC 0. Jangamwad Math Collection, Varanasi. दृष्टिकोण के साथ हमारे दृष्टिकोण का तादात्म्य हो जाता है। ग्रतः कहना चाहिए कि किन के साथ हमारा तादात्म्य ग्रीर कान्य का साधारणीकरण होता है। इस दृष्टि से भट्टनायक, ग्रिमनवगुस, ग्राचार्य शुक्ल एवं डा॰ नगेन्द्र के मत में मूलतः कोई गहरा भेद नहीं है। ग्रनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस साधारणीकरण की क्रिया को स्वीकार किया है। श्री ए॰ ई॰ मैन्डर महोदय लिखते हैं—"Empathy connotes state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen." ग्रयात् भाव-तादात्म्य या तदनुभृति पाठक या दर्शक की वह मानसिक दशा है जिसमें कि वह थोड़ी देर के लिए ग्रपनी वैयक्तिक ग्रात्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा के किसी पात्र के साथ ग्रपना तादाम्त्य स्थापित कर लेता है। ग्रतः इस सम्बन्ध में ग्रिधक शंका करना ग्रनावश्यक है।

रस-सिद्धान्त पर कुछ ग्राक्षेप

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त और रस-निष्पत्त सम्बन्धी मत मनोविज्ञान पर ग्राघारित हैं, किन्तु यह ग्राश्चर्य की बात है कि डा॰ राकेश गुप्त ने ग्रपने शोध-प्रबन्ध—'Psychological Studies in Ras'—में ग्राधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इस पर ग्रनेक ग्राक्षेप ग्रारोपित किए हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—(१) स्थायी भाव ग्रीर संचारी भाव मनोविज्ञान की दृष्टि से एक ही हैं, ग्रतः इनमें ग्रन्तर मानना ग्रनुचित है। (२) ग्राचार्यों द्वारा परिगणित संचारियों में से दस भाव कोटि में नहीं ग्राते। (३) विभावों की भावों से उत्पत्ति मानना ग्रनुचित है। (४) ग्रनुभावों की सूची दोषपूर्ण ग्रीर ग्रपूर्ण है। (४) रस-दोषों में से नामोल्लेख ग्रादि को दोष मानना ग्रनुचित है। (६) रस ग्रीर सामान्य भावावेग में ग्रन्तर मानना ग्रनुचित है। (७) शोकपूर्ण काव्यों से ग्रानन्द की ग्रनुभूति नहीं होती। (८) काव्यास्वादन का मूल कारण रस-प्रक्रिया नहीं, काव्य-रुचि है।

इनमें से कुछ विषयों पर प्रारम्भ में विचार किया जा चुका है। स्थायी भाव ग्रीर संचारी भाव में वही ग्रन्तर है, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र में इमोशन ग्रीर सेन्टीमेन्ट में है, किन्तु डा॰ राकेश ने इन दोनों को भी एक ही सिद्ध करने का साहस किया है। उनका तर्क है—''सेन्टीमेन्ट एक मानसिक प्रवृत्ति मात्र है, भाव-जागृति की दशा नहीं। ग्रतः जब भी सेन्टीमेन्ट विकसित होकर भाव-जागृति की दशा में परिणत होता है तो वह 'सेन्टीमेन्ट' न रहकर 'इमोशन' बन जाता है।'' यह तर्क भ्रान्तिमूलक है। जब एक प्रेमिका का हृदय प्रेमी के मिलन पर हर्ष-विभोर हो जाता है तो क्या यह कहा जायगा कि यहाँ प्रेम सेन्टीमेन्ट न रहकर 'हर्ष'—इमोशन ही रह गया ? ग्रीर यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तो भी दोनों के भेद को नहीं भुलाया जा सकता। दूध दही में परिणत हो जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि दूध ग्रीर दही—दोनों एक ही हैं। वस्तुतः डा॰ राकेश के ग्राक्षेप ऐसे ही निराधार तर्कों पर ग्राधारित हैं, जिनका निराकरण हम ग्रपने शोध-प्रबन्ध—'हिन्दी काव्य में प्रकुतर-परम्परा ग्रीर महाकवि CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

विहारी'—में विस्तार से कर चुके हैं। ग्रतः इस सम्बन्ध में हम यहाँ पुनरावृत्ति न करते हुए केवल इतना ही कहना पर्याप्त समर्भेगे कि डा॰ राकेश के ग्राक्षेपों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

रस-सिद्धान्त का महत्त्व

मनोविज्ञान के ग्रतिरिक्त दर्शन, समाज, राजनीति, साहित्य ग्रादि की दृष्टि से भी रस-सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। शुद्धाद्वैतवाद के ग्रनुसार मानवात्मा परमात्मा के तीनों गुणों—सत्, चित् ग्रीर ग्रानन्द—से युक्त होती है। किन्तु जीव का ग्रानन्द गुण तिरोहित होता है; काव्य ग्रीर कलाग्रों के द्वारा इसी ग्रानन्द को जागृत किया जाता है। रस-सिद्धान्त भी काव्य का यही लक्ष्य—ग्रानन्दानुभूति—स्वीकार करता है। ग्रद्धैतवाद के श्रनुसार मानवात्मा माया के ग्रावरण के कारण जगत् के नाना रूपों में भेद का ग्रनुभव करती है, जबिक मूलतः सभी रूप एक ही परम-सत्ता से सम्बन्धित हैं। रसानुभूति के द्वारा हम माया के इस ग्रावरण को भूलकर विभिन्न रूपों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—'ग्रात्मा की मुक्तावस्था का नाम ही रस-दणा है।''

पाश्चात्य काव्यवादियों ने साहित्य का एकमात्र लक्ष्य किव या लेखक का निजी ग्रानन्द घोषित किया है जिससे उनकी रचनाएँ समाज-विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण होने लगीं, किन्तु रस-सिद्धान्त काव्य के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण स्थापित करता है जिससे काव्य समाज-विरोधिता से दूर रहता है। रस-सिद्धान्त के ग्रनुसार कलाग्रों का लक्ष्य स्वयं कलाकार का ग्रानन्द नहीं—सामाजिक का ग्रानन्द है। ऐसी स्थिति में कोई भी कला सामाजिक की रुचि, मान्यता ग्रीर इच्छाग्रों के प्रतिकूल नहीं हो सकती। यदि कोई किव ग्रपने काव्य में समाज विरोधी तत्त्वों का समावेश करने का साहस कर बैठता है तो रस-सिद्धान्त का ग्रनुयायी उसे 'रसाभास' की संज्ञा देकर उसकी कुत्सित प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने की क्षमता से युक्त है।

रस-सिद्धान्त एवं किन-कर्म को भी उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाता है। कृति-कृम या काव्य-निर्माण की तीन श्रवस्थाएँ होती हैं—(१) किन द्वारा विषय की श्रनुभूति, (२) किन द्वारा श्रभिव्यक्ति श्रौर (३) पाठक के द्वारा रसास्वादन। पाश्चात्य विद्वानों में जहाँ क्रोचे जैसे निद्वान् श्रनुभूति को तथा फायड श्रावि श्रभिव्यक्ति को ही काव्य-रचना का सारा महत्त्व प्रदान कर देते हैं, वहाँ रस-सिद्धान्त के श्राचार्य पाठक की रसानुभूति को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हुए किन-कर्म को उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचाने पर बल देते हैं। इसके श्रतिरिक्त रस-सिद्धान्त काव्य के क्षेत्र में बाह्य-सौन्दर्य—श्रक्षर-विन्यास, शब्द-क्रीड़ा, उक्ति-वैचित्र्य श्रादि—के स्थान पर सूक्ष्म भाव-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है।

रस-सिद्धान्त जीवन के सुन्दर ग्रीर कुरूप सभी पक्षों को काव्य में स्थान देने का पक्षपाती है। इसके ग्रनुसार केवल श्रृङ्गार, वीर, करुण में ही नहीं, बीभत्स, भयानक, रौद्र ग्रादि में भी रसम्ब्रुभूति anक्की अस्तरा है। यही कारण है कि रस-सिद्धान्त गांधी-

वादियों की करुणा श्रीर साम्यवादियों की घृणा—दोनों को काव्य में स्थान देने की सामर्थ्य रखता है। विश्व की किसी भी विचार-धारा से रस-सिद्धान्त का कोई विरोध नहीं है—यदि उन विचारों की व्यंजना भावात्मक शैली में की जाय।

रस-सिद्धान्त की न्यूनताएँ

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ-साथ रस-सिद्धान्त में कुछ न्यूनताएँ भी विद्यमान हैं। एक तो इसमें पाठक के ही दृष्टिकोण का-काव्य के भोग-पक्ष का-ही विश्लेषण अधिक हुम्रः है, कवि या काव्य के सर्जन-पक्ष की उपेक्षा हुई है। दूसरे, इसकी प्रतिष्ठा श्रमी तक शास्त्रीय आलोचना के रूप में ही अधिक है, इसे व्यावहारिक रूप देने की ग्रौर भावश्यकता है । भ्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र, डा० गुलावराय, डा० म्रानन्दप्रकाण दीक्षित द्वारा इस क्षेत्र में जो कार्य किया गया है, उसे ग्रागे बढ़ाने की ग्रावश्यकता है। तीसरे, रस-सिद्धान्त मूलतः नाटक के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया गया था, साहित्य के ग्रन्य रूपों की दृष्टि से भी इसका विकास भ्रपेक्षित है। इसके ग्रतिरिक्त ग्राधुनिक मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के ग्राधार पर भी इसकी शुद्ध रूप में मीमांसा होनी चाहिए। यदि इन न्यूनता घों को दूर किया जा सके तो रस-सिद्धान्त विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। देश ग्रीर विदेश के सभी प्रमुख विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व भाव है। भाव के कारण ही काव्य काव्य का रूप धारण करता है। रस-सिद्धान्त सीधे भाव-तत्त्व की व्याख्या करता है, वस्तुतः रस-सिद्धान्त ही एक ऐसा मानदण्ड है जो साहित्य को विभिन्न मत-वादों के चक्कर से बचाता हुआ उसकी मूल आत्मा की रक्षा करता है। युग और देश के श्रनुसार समीक्षा के मानदण्ड बदलते रहते हैं, किन्तु रस-सिद्धान्त एक ऐसा मानदण्ड है, जो सभी युगों भ्रौर सभी देशों की काव्य-रचनाग्रों की समीक्षा का श्राधार सफलतापूर्वक बन सकता है। ग्रस्तु, जब तक साहित्य का सम्बन्ध मानवीय भाव-नाग्रों से रहेगा तब तक रस-सिद्धान्त का महत्त्व ग्रक्षुण्ण है।

0

१. इस लच्य की पूर्ति का प्रयास लेखक के 'रस-सिद्धान्त का पुर्नीववेचन' में किया गया है। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

: दस :

ग्रलंकार-सम्प्रदाय ग्रौर उसके सिद्धान्त

- १. 'ग्रलंकार' का शाब्दिक ग्रर्थ।
- २. ग्रलंकार-संप्रदाय की परम्परा।
- ३. ग्रलंकार : परिभाषा एवं स्वरूप।
- ४. अलंकार भीर अलंकार्य का भन्तर।
- ५. ग्रलंकारों का वर्गीकरण।
- ६. ग्रलंकारों के भेद।
- ७. ग्रलंकारों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व।
- s. उपसंहार I

'ग्रलंकार' का शाव्दिक ग्रर्थ है—'सुशोभित करनेवाला' या वह 'जिससे सुशो-भित हुआ जाता है'। इन दोनों अर्थों में परस्पर थोड़ा अन्तर है-पहला अर्थ जहाँ ग्रलंकार को कत्ती या विधायक सूचित करता है, वहाँ दूसरे ग्रर्थ से वह साधन-मात्र रह जाता है। काव्यशास्त्र में 'ग्रलंकार' इन दोनों ही ग्रर्थों में प्रयुक्त हुम्रा है। जहाँ वामन ग्रादि ने ग्रलंकार को व्यापक ग्रथं में ग्रहण करते हुए सौन्दर्य के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया है, वहाँ वह काव्य को सुशोभित करनेवाला माना गया है, किन्तु जहाँ वह संकुचित ग्रर्थ में — विशिष्ट कथन-शैलियों के रूप में प्रयुक्त हुग्रा है, वहाँ वह काव्य-सौन्दर्य का साधन-मात्र रह गया है। यहाँ भी हम इसका प्रयोग दूसरे ग्रर्थ में ही कर रहे हैं।

ग्रलंकार-सम्प्रदाय की परम्परा

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में रस के ग्रातिरिक्त शेष सम्प्रदायों में सबसे पुराना ग्रलंकार-सम्प्रदाय ही है। वैसे तो स्वयं भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में चार ग्रलंकारों— उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक-की विवेचना की है किन्तु उन्होंने इन्हें ग्रधिक महत्त्व नहीं दिया। ग्रलंकारों को काव्य की ग्रात्मा घोषित करते हुए पृथक् रूप में ग्रलंकार-सम्प्रदाय की स्थापना करने का श्रेय 'काव्यालंकार' के रचयिता भामह (छठी शताब्दी) को ही प्राप्त है। भरत श्रौर भामह के बीच भी राम शर्मा, मेधाविन, राजमित्र श्रादि विद्वान् हो चुके थे, जिन्होंने भ्रलंकारों की चर्चा की थी, किन्तु उनके ग्रन्थ भ्रनुपलब्ध हैं। इन विद्वानों के नाम केवल भामह के ही 'काव्यालंकार' में श्राये हैं। ऐसी स्थिति में ग्रलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भामह ही माने जाते हैं।

भामह का काव्यालंकार छः परिच्छेदों में विभाजित है जिसमें क्रमशः काव्य-शरीर-निर्णय, ग्रलंकृति-निर्णय, दोष-निर्णय, न्याय-निर्णय ग्रौर शब्द-शुद्धि पर विचार किया गया है। भामह ने वक्रोक्ति को ही समस्त ग्रलंकारों का मूल मानते हुए उनकी संख्या ३८ निर्धारित की है। भामह के परवर्ती दण्डी (सातवीं शताब्दी) ने 'काव्यादर्श' लिखकर श्रलंकार-सम्प्रदाय की परम्परा को ग्रागे बढ़ाया। उन्होंने भामह के ग्रलंकार-विवेचन में संशोधन करते हुए ग्रलंकारों की संख्या ३५ तक ही सीमित रक्खी, किन्तु 'काव्यालंकार सार-संग्रह' के रचयिता उद्भट (नवीं शती) ने भामह का ही समर्थन करते हए तथा कुछ नये अलंकार और जोड़कर इस संख्या को ४१ तक पहुँचा दिया। लगभग इसी समय रुद्रट ने 'काव्यालंकार' की रचना की जिसमें उन्होंने एक ग्रोर तो ग्रलंकारों का वर्गीकरण किया तथा दूसरी ग्रोर उनकी संख्या ५० से भी ग्रधिक निश्चित की । इतना ही नहीं, उन्होंने ग्रलंकार-सम्प्रदाय की ग्रनेक परम्परागत भ्रान्तियों का भी निराकरण किया। जैसे कि उनसे पूर्व भ्रनेक भ्रलंकारवादियों ने रस, भाव भ्रादि को भी भ्रलंकार मानने की भूल को थी, जबिक रुद्रट ने इसका स्पष्ट विरोध किया। श्रागे चलकर श्रनेक श्राचार्यों ने अलंकारों का अपने-अपने ढंग से निरूपण किया जिनमें मम्मट (काव्य प्रकाश : ११वीं शती), रुय्यक (ग्रलंकार-सर्वस्व : १२वीं शती), जयदेव (चन्द्रालोक : १३वीं शती), विद्याधर (एकावली : १३-१४वीं शती), विश्वनाथ (साहित्य-दर्पण : १४वीं शतो), केशव मिश्र (ग्रलंकार शेखर : १६वीं शती), ग्रप्पय दीक्षित (कुवलयानन्द : १७वीं शती) श्रादि उल्लेखनीय है। इनमें से मम्मट श्रीर विश्वनाथ को छोड़कर शेष सभी श्रलंकारवादी थे, जो कि श्रलंकार को ही काव्य की श्रात्मा मानते थे, जबकि मम्मट ध्वनि को व विश्वनाथ रस को मानते थे। रुद्रट-परवर्ती युग में ग्रलंकारों के क्षेत्र में संख्या-वृद्धि की ही मुख्य प्रवृत्ति रही — जिसके फलस्वरूप 'कुवलयानन्द' तक पहुँचते-पहुँचते उनकी संख्या लगभग सवा सौ हो गई।

संस्कृत की यह परम्परा श्रागे हिन्दी में भी श्रवाध रूप से चलती रही है। शरम्भ में मध्यकालीन किवयों ने ब्रजभाषा पद्य में शताधिक ग्रलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, जिनका मौलिकता या नवीनता की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, एक प्रकार से संस्कृत ग्रन्थों के ही छायानुवाद मात्र है। ग्राधुनिक युग में मुरारीदान, भगवानदीन, श्रर्जुनदास केड़िया, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदिहन मिश्र श्रादि ने खड़ीबोली गद्य में श्रलंकारों का विवेचन किया। नवीनता इनमें भी नहीं है, किन्तु फिर भी लक्षणों एवं उदाहरणों की स्पष्टता की दृष्टि से ये महत्त्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक स्तुत्य कार्य डा० नगेन्द्र का है जिन्होंने संक्षेप में ग्राधुनिक दृष्टिकोण से इनका पुनर्मू ल्यांकन करते हुए पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं मनोविज्ञान के ग्राधार पर इनकी उपयोगिता प्रदिशत की है। डा० श्रोमप्रकाश ने भी 'हिन्दी ग्रलंकार साहित्य' के रूप में हिन्दी के ग्रलंकार-साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रलंकार-विवेचन की परम्परा भामह से लेकर ग्रव तंक ग्रक्षुण्ण रूप से चलती रही है—हाँ, उसका महत्त्व ग्रवश्य सर्वदा एक सा नहीं रहा है।

ग्रलंकार: परिभाषा एवं स्वरूप

यद्यपि हमने ग्रारंभ में 'ग्रलंकार' शब्द की विवेचना कर दी है, किन्तु ग्रलंकारों के स्वरूप को सम्यक रूप में ग्रहण करने की दृष्टि से वह पर्याप्त नहीं है। सौन्दर्य के उपादान एवं साधन के रूप सें अनेक जिल्ला क्रिक्स क्रिक्स क्रिक्स के स्था 'ग्रलं- कार' के क्षेत्र में नहीं ग्राते । ग्रलंकार का सामान्य ग्रर्थ है -- ग्राभूषण । ग्राभ्षण जिस प्रकार शरीर के ग्रंग नहीं हैं, ऊपर से घारण किए जानेवाले पदार्थ हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य में भी अलंकार मूल विषय-वस्तु के अंग न होकर उसकी शैली से सम्बन्धित तत्त्व हैं। संक्षेप में हमारे विचार से ग्रलंकार कथ्य न होकर कथन-शैली के विशिष्ट प्रकार मात्र हैं । किन्तु ग्रलंकारत्रादी ऐसा नहीं मानते । उनकी धारणाएँ इस प्रकार हैं—

(क) भामह—"काव्य के रूपक ग्रादि ग्रलंकारों का ग्रन्य ग्राचार्यों ने ग्रनेक प्रकार से वर्णन किया है। स्त्री का सुन्दर मुख भी विना भूषण के नहीं सजता।"

(ख) दंडी-- 'काव्य के सौन्दर्य-कारक धर्मों को अलंकार कहते हैं।''

(ग) जयदेव--- "जो ग्रलंकार-शून्य शब्दार्थ में भी काव्यत्व स्वीकार करते हैं, वे चतुर मनुष्य ग्रग्नि में भी ग्रनुष्णता को स्वीकार करें।" ग्रर्थात् उष्णता का जो सम्बन्ध श्रग्नि से है, वही श्रलंकार का काव्य से है।

उपर्युक्त उक्तियों में ग्रलंकार को काव्य का स्थिर एवं ग्रनिवार्य तत्त्व माना गया है जबिक वामन, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृत्ति ग्राचार्यों ने इसका खंडन किया है। साथ ही इन उक्तियों से ग्रलंकार के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण नहीं होता। ग्राघुनिक युग में ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रलंकारों के स्वरूप की स्पष्ट रूप में मीमांसा करते हुए लिखा है-''वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने ग्रीर भाव को ग्रधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का ग्राकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप-रंग या गुण की भावना को उस प्रकार के ग्रौर रूप-रंग मिलाकर तीव करने के लिए समान रूप ग्रीर धर्मवाली वस्तुग्रों को सामने करना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिरा कर भी कहना पड़ता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विघान ग्रीर कथन के ढंग ग्रलंकार कहलाते हैं।"

ग्रलंकार ग्रीर ग्रलंकार्य का ग्रन्तर

भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने साहित्य में ग्रलंकार ग्रौर ग्रलंकार्य में परस्पर ग्रन्तर माना है। उन्होंने वर्णनीय वस्तु को अलंकार्य तथा वर्णन-शैली या शैलीगत विशेषताओं को ग्रलंकार बताया है। जैसे 'मुख-चन्द्र' में 'मुख' ग्रलंकार्य है जबिक 'चन्द्र' ग्रलंकार है। किन्तु ग्राधुनिक युग के ग्रनेक पाश्चात्य विद्वान् इस धारणा का खंडन करते हैं। क्रोचे का कहना है कि ग्रलंकार ग्रौर ग्रलंकार्य में कोई ग्रन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं। उनका तर्क है-"One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally? In that case it must always remain separate. Internally? In that case either it does not assist expression and mars it, or it does form part of it, and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole."

ग्रर्थात् यह पूछा जा सकता है कि उक्ति में ग्रलंकार का समावेश कैसे हो सकता है। बाहर से ? तब तो फिर वह सदा ही उक्ति से पृथक् रहेगा। यदि भीतर से ? तो उस दशा में वह या तो उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायगा या फिर उसका अंग बनकर श्रलंकार ही न एह् जायमपुर्वा was सामिति में वह उक्ति का ही ग्रंग वनकर उससे

सर्वथा ग्रभिन्न हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सच्चे काव्य में वस्तु ग्रौर ग्रलंकार मिलकर एकाकार हो जाते हैं, उन्हें ग्रलग-ग्रलग कर देने पर काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, किन्तु फिर भी वस्तु ग्रौर ग्रलंकार का भेद मिटाया नहीं जा सकता। पानी में लाल रंग घुलकर एकाकार हो जाता है, किन्तु इसी से हम यह नहीं कह सकते कि पानी ग्रौर लाल रंग—दोनों एक ही होते हैं। श्रतः क्रोचे का तर्क हमें निस्सार प्रतीत होता है।

घ्रलंकारों का वर्गीकरण

जैसा कि ग्रारम्भ में कहा चुका है, भारतीय ग्राचार्यों ने ग्रलंकारों के शताधिक मेद किए हैं, जिन्हें स्थूल रूप में ६-७ श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन श्रेणियों के सम्बन्ध में भी ग्राचार्यों में परस्पर थोड़ा मतभेद रहा है। जहाँ रुद्रट से वास्तव, ग्रीपम्य, ग्रतिशय ग्रीर श्लेष—ये चार श्रेणियाँ मानीं, वहाँ रुय्यक ने निम्नांकित ७ श्रेणियाँ निश्चित की हैं—(१) सादृश्य गर्भ, (२) विरोध मूलक, (३) श्रुङ्खलावद्ध, (४) तर्क-न्याय मूल, (५) वाक्य न्याय मूल, (६) लोक-न्याय मूल, (७) गूढ़ार्थ-प्रतीति मूल। परवर्ती विद्वानों ने भी प्रायः इसी वर्गीकरण को स्वीकार किया है, ग्रतः इसका यहाँ संक्षिप्त परिचय देना उपयोगी सिद्ध होगा।

- (१) सादृश्य गर्भं—इनमें वस्तु ग्रौर श्रलंकार के उपमेय ग्रौर उपमान के गुण-धर्म ग्रादि में किसी न किसी प्रकार से सादृश्य दिखाकर मूल भाव के प्रभाव की ग्रभि-वृद्धि की जाती है। इस वर्ग में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा ग्रादि ग्रलंकार ग्राते हैं, जिनकी संख्या पं० रामदिहन मिश्र ने २८ मानी है।
- (२) विरोध मूल—इनमें वस्तु ग्रीर ग्रलंकार के गुण-धर्मों में वैषम्य या विरोध की प्रमुखता रहती है। इस वर्ग में विरोध, विभावना, विशेषोक्ति ग्रादि १२ ग्रलंकार गिने जाते हैं।
- (३) श्रृङ्खलाबद्ध—इनमें विषय-वस्तु को क्रम या श्रृङ्खला के रूप में प्रस्तुत करके सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है। जिस प्रकार कमरे में विखरी हुई वस्तुग्रों को एक क्रम से सजा देने पर उनकी शोभा बढ़ जाती है, वैसे ही श्रृङ्खलाबद्ध ग्रलंकारों से काव्य-सौन्दर्य में ग्रिभवृद्धि होती है। इसमें कारणमाला, एकावली ग्रादि ग्रलंकार ग्राते हैं।
- (४) तर्क-न्याय मूल---न्यायशास्त्रीय तर्क-ग्रनुमानादि के द्वारा उक्ति को प्रभाव-शाली बनाया जाता है।
- (५) वाक्य-न्याय मूल-जिससे तर्कपूर्ण सामान्य उक्ति या वाक्य के द्वारा वस्तु को प्रभावशाली वनाया जाय।
- (६) लोक-न्याय मूल-जिसमें लोक-व्यवहार (या नीति) के तत्त्वों के द्वारा उक्ति में प्रभाव उत्पन्न किया जाय।
- (७) गूढ़ाथं-प्रतोति मूल—इसमें मुख्यतः व्यंजना-शक्ति का वैभव रहता है। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में डा॰ नगेन्द्र का मत है—''उपर्युक्त कोई भी वर्गी-करण सर्वथा संगत नहीं हैं-d. सामुक्तां असील साम्बन्धः स्वाप्त स्वाप्त

वाक्य-क्याय ग्रादि में स्वयं ग्रलंकारों का स्वरूप-निर्धारण ही किसी निश्चित ग्राधार को लेकर नहीं चलता है। उसका ग्राधार शैली की सीमा को लाँघकर वस्तु तक ही नहीं, वरन् न्याय, दर्शन, वाणी ग्रीर क्रिया तक फैल गया है।....स्वभ वतः ही मनोविज्ञान के प्रकाश में साहित्य का ग्रध्ययन करने वाले ग्राज के ग्रालोचक का इनसे परितोष होना कठिन है।"

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि ग्रलंकारों का उपर्युक्त वर्गीकरण पूर्णतः संतोषजनक तो नहीं है, किन्तु वह उतना ग्रनर्गल भी नहीं है। 'न्याय' शब्द के कारण ऐसा प्रनीत होता है कि कदाचित् इन ग्रलंकारों का सम्बन्ध न्यायशास्त्र या दर्शनशास्त्र से होगा, जब कि वास्तविकता यह नहीं है। न्यायशास्त्र के एक भाग में तर्क-विद्या सम्बन्धी विवेचन है। यह एक तथ्य है कि कोई वात जब तर्क-संगत ढंग से कही जाती है तो वह प्रायः प्रभावशाली हो जाती है, इसी से न्याय व तर्क सम्बन्धी कुछ तत्त्वों को भी ग्राचार्यों ने ग्रलंकारों में स्थान दे दिया है जो ग्राधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी ग्रनुचित नहीं है। इसी प्रकार लोक-व्यवहार सम्बन्धी कुछ वातें भी कई वार वाणी की साज-सज्जा में उपयोगी होती हैं। ग्रतः इन सबको ग्रपनाकर ग्रलंकारवादियों ने एक प्रकार से कथन-शैली की समृद्धि एवं वैभवशालिता के ही मार्ग का दिग्दर्शन कराया है।

अलंकारों के भेद

मुख्यतः ग्रलंकारों के भेद हैं—शब्दालंकार ग्रीर ग्रथिलंकार। शब्दालंकारों में ग्रलंकार का सौन्दर्य केवल किसी शब्द-विशेष की ध्विन ग्रीर ग्रथि पर श्राश्रित होता है, जो उस शब्द को बदल देने पर लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत ग्रथिलंकारों का सम्बन्ध पूरे वाक्य के ग्रथि से होता है। शब्दालंकारों के ग्रनेक उपभेद किए गए हैं, जैसे—ग्रनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, श्लेप ग्रादि। ग्रनुप्रास में किसी वर्ण या ग्रनेक वर्णों की ग्रावृत्ति होती है। वस्तुतः ग्रनुप्रास का सौन्दर्य ग्रावृत्ति पर ही ग्राश्रित है। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) लपट से भट रूख जले-जले, नव नदी घट सूख चले-चले।

(ख) तरिंग के ही संग तरल तरंग से, तरिंग डूबी थी हमारी ताल में।

(ग) रस सिगार मज्जन किये कंजनु भंजनु दैन। श्रंजन रंजन हू बिना खंजन भंजनु नैन।।

श्रनुप्रास से ही मिलता-जुलता यमक है। इसमें निरर्थक या भिन्नार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति होती है, जैसे—

सुन कपे जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है।
यहाँ 'का रण' ग्रीर 'कारण' की ग्रावृत्ति में यमक है।
वक्रोवित में किसी ब्लाब क्रांक क्रांक

जैसे---

मैंने कहा, 'प्रिये जाश्रो मत, बैठो।' वह भोली समभी कि 'जाश्रो, मत बैठो।'

'श्लेष' अलंकार में एक ही शब्द को दो या उससे ग्रधिक ग्रयों से प्रयुक्त किया जाता है। यथा—'पानी गये न ऊवरें, मोती, मानस, चून।' यहाँ पानी के क्रमशः तीन अर्थ हैं—कान्ति, प्रतिष्ठा ग्रौर जल। इसी प्रकार शब्दालंकारों के ग्रौर भी ग्रनेक भेद हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं।हैं।

अव अर्थालंकारों को लीजिए। जैसा कि हमने पीछे बताया है, अर्थालंकारों को सात वर्गों में विभाजित किया जाता है तथा उनकी कुल संख्या शताधिक है। यहाँ केवल

कुछ महत्त्वपूर्ण अलंकारों का ही सोदाहरण परिचय दिया जाता है-

(क) उपमा—सबसे ग्रधिक महत्त्वपूर्ण ग्रलंकार है। कुछ ग्राचार्यों ने तो केवल इसे ही ग्रलंकार माना है, शेष सबको उपमा के ही भेदों में गिना है। उपमा में वर्ण्य वस्तु का सादृश्य किसी ग्रन्य वस्तु से बताया जाता है। इसके सामान्यतः चार ग्रंग माने जाते हैं—(१) उपमेय ग्रर्थात् वर्ण्य वस्तु। (२) उपमान, जिससे सादृश्य बताया जाता है। (३) धर्म—दोनों वस्तुग्रों का सामान्य गुण। (४) वाचक—वह शब्द जिससे दोनों की तुलना का बोध होता है। जहाँ ये चारों ग्रवयव विद्यमान हों उसे 'पूर्णोपमा' कहते हैं ग्रन्यथा उसे उपमा ही कहते हैं। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

तापत-बाला सी गंगा कल, शशि मुख से दीपित मृदु कर-तल। लहरें उर पर कोमल कुन्तल।

यहाँ गंगा उपमेय है, तापस-बाला उपमान है, कल (सौन्दर्य) सामान्य गुण-धर्म है। तथा 'सो' वाचक शब्द है। ग्रस्तु, यह पूर्णोपमा है। उपमा के कतिपय ग्रन्य उदा-हरण—

(१) कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई। हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या श्रलि नल सा निष्ठ्र कोई!

(२) पड़ी थी बिजली सी विकराल । लपेटे थे घन जैसे बाल ।। कौन छेड़े ये काले साँप ! ग्रवनिपति उठे अचानक काँप !!

(ख) रूपक—इसमें उपमेय ग्रौर उपमान का केवल सादृश्य ही नहीं दिखाया जाता, ग्रिपतु दोनों को एक ही बना दिया जाता है या यों कहिए कि उपमेय को उपमान का ही रूप दे दिया जाता है; जैसे—

बीती विभावरी जाग री।

श्रम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी।

यहाँ ग्रम्बर को पनघट का, तारों को घट का तथा ऊषा को नागरी का रूप दे दिया गया है। इसके भी भेद होते हैं ॥ जहाँ कि पक्षा उपर्युक्त जुद्दाहुरण की भाँति समस्त

भ्रवयवों के साथ हो तो उसे सावयव रूपक कहते हैं, किन्तु जहाँ सब भ्रवयव न हों उसे निरवयव रूपक कहते हैं। निरवयव रूपक का उदाहरण देखिए—

ग्रो चिन्ता की पहली रेखा,

ग्ररी विश्व वन की व्याली।

यहाँ चिता को 'व्याली' का रूप तो दे दिया गया है, किन्तु व्याली के विभिन्न

ग्रवयवों का चित्रण यहाँ नहीं किया गया।

(ग) उत्प्रेका—उत्प्रेक्षा की स्थिति उपमा ग्रौर रूपक के बीच की है। इसमें न तो उपमा की भाँति उपमेय ग्रौर उपमान का केवल सादृश्य बताया जाता है ग्रौर न ही रूपक की भाँति दोनों को एकाकार कर दिया जाता है। इसमें केवल उपमान की सम्भावना या कल्पना मात्र की जाती है। देखिए—

उपना-मुख चाँद सा सुन्दर है। रूपक--मुख-चन्द्र के सौन्दर्य का क्या कहना! उत्प्रेचा--मुख मानों चाँद है।

उत्प्रेक्षा के भी ग्रनेक भेद किए गए है। जैसे, वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलो-त्प्रेक्षा ग्रादि। इनमें क्रमणः विषय-वस्तु, कारण या परिणाम के सादृश्य की कल्पना की

जाती है। जैसे-

(१) वस्तूत्प्रेज्ञा—इसके अनन्तर ग्रंक में रक्खे हुए मुस्नेह से, शोभित हुई इस भाँति वह निर्जीव पित के देह से, मानो निदाघारम्भ में संतप्त ग्रातप जाल से, छादित हुई विपिन स्थली नव पितत किंशुकशाल से।

—मैथिलीशरण गुप्त

(२) हेतूरप्रेज्ञा—मोर मुकुट की चिन्द्रकिन यों राजत नद नन्द। मनु सिस सेखर को श्रकस किय सेखर सत चन्द।

—विहारी

(३) फलोत्प्रेक्षा—नाना सरोवर खिले नव पंकजों को ले ग्रंक में विहंँसते मन मोहते थे, मानों प्रसार ग्रपने शतशः करों को, वे माँगते शरद से विभूतियाँ थे।

—हरिग्रौध

(घ) ग्रातिशयोक्ति—ग्रातिशयोक्ति में प्रस्तुत विषय का निरूपण इस तरह से किया जाता है कि वह वास्तिवकता से वहुत दूर चला जाता है। इसके भी ग्रनेक भेद किए गए हैं, जैसे—रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, ग्रसम्बन्धातिशयोक्ति, कारणा-तिशयोक्ति ग्रादि। यहाँ इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) रूपकातिशयोक्ति—बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से। मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ है होरों से।। Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(२) भेदकातिशयोक्ति—अनियारे दीरघ दृगिन किती न तस्ति समान। वह चितविन औरे कछू जेहि बस होत सुजान।।

—बिहारी

(३) श्रसम्बन्धातिशयोक्ति—औषवालय भी अयोध्या में बने तो ये सही। किन्तु उनमें रोगियों का नाम तक भी था नहीं।।

-रा० च० उपाध्याय

(४) कारणातिशयोक्ति—मैं जब ही तोलने का करती उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ। भुज-लता फँसाकर नर-तरु से, भूले सी भोंके खाती हूँ।

—प्रसाद

(ङ) दीपक—इसमें उपमेय ग्रौर उपमान दोनों के एक से गुणों का ग्राख्यान होता है। जैसे—

काहू के केहू घटाश्रो घटें नहिं, सागर औं गुन श्रागर प्रानी।

(च) प्रतिवस्तूपमा—इसमें भी दीपक की भाँति उपमेय ग्रीर उपमान के समान गुणों की चर्चा होती है, किन्तु दीपक में दोनों के लिए एक से ही शब्दों का प्रयोग होता है जबिक इसमें ग्रलग-ग्रलग शब्दों का प्रयोग किया जाता है। देखिए—

सिंह सुता क्या कभी स्यार से प्यार करेगी? क्या पर-नर का हाथ कुल-स्त्री कभी धरेगी।

(छ) व्यतिरेक-जहाँ उपमेय को उपमान से भी ग्रधिक उत्कृष्ट बताया जाय, उसे व्यतिरेक कहा जाता है। उदाहरण-

स्वर्ग की तुलना उचित ही है, किन्तु वहाँ, सुर-सरिता कहाँ ? सरयू कहाँ। वह मरों को मात्र पार उतारती, यह यहीं से जीवों को तारती!

(ज) समासोक्ति—इसमें प्रस्तुत वर्णन के द्वारा ग्रप्रस्तुत ग्रर्थ ध्वनित किया जाता है; जैसे चाँदनी के सम्बन्ध में कविवर पन्त की निम्नांकित पंक्तियाँ—

जग के दुःख-दैन्य-शयन पर यह रुग्णा बाला; रे कब से जाग रही वह श्रांसू की नीरव माला। पीली पड़ निर्बल कोमल देह लता कुम्हलाई। दिवसना लाज में लिपटी साँसों में शून्य समाई।।

- (भ) व्याज-स्तुति—जहाँ स्तुति के रूप में निन्दा या निन्दा के रूप में स्तुति की जाय । उदाहरण—'श्राप तो बहुत बड़े बलवान हैं, यह बच्चा भी श्रापसे डरता है।'
- (त्र) विरोधाभास—जहाँ मूलतः विरोध न होते हुए भी विरोध का ग्राभास हो। उदाहरण—

तुम मांसहीन, तुम रक्तहीन, हे अस्थिशेष तुम श्रस्थिहीन, तुम शुद्ध बुद्ध श्रात्मा केवल, हे चिर पुराण, हे चिर नवीन।

(ट) कार्ब्यॉलग—जहाँ कारण वताकर कोई वात सिद्ध की जाय । जैसे— प्रयाम गौर किमि कहीं बखानी ।

गिरा ग्रनयन नयन बिनु बानी ।।

इसके ग्रतिरिक्त ग्रलंकारों के ग्रौर ग्रनेक भेद हैं जिनकी चर्चा यहाँ स्थानाभाव से सम्भव नहीं।

प्रलंकारों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्व

प्रायः यह कहा जाता है कि ग्रलंकारों के प्रयोग से भाषा में कृत्रिमता ग्राती है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो यह ज्ञात होगा कि अलंकार न केवल काव्य-भाषा के लिए अपितु लोक-व्यवहार की सामान्य भाषा के लिए भी ग्रावश्यक है। इतनी ही नहीं, ग्रसम्य से ग्रसम्य या सर्वथा निरक्षर भट्टाचार्य की वाणी में भी हमें ग्रलंकारों के ग्रस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। जब सामान्य लड़ाई-भगड़ों में अशिक्षित लोग परस्पर गालियाँ देते हैं या अपने शत्रु को कहते हैं, "तुम्हें पीस डाल्गा" या "तुम्हारी चमड़ी उधेड़ दूँगा" तो वहाँ ग्रतिशयोक्ति, ग्रत्युक्ति ग्रादि का ही प्रयोग समभना चाहिए। इस प्रकार के प्रयोग करनेवाला निश्चित रूप से जानता है कि वह जो कुछ कह रहा है, वैसा वह कर नहीं सकेगा, फिर भी वह ऐसा कहता है—क्यों ? वस्तुतः वह भ्रपने क्रोध की पूर्ण ग्रिभिव्यक्ति के लिए ही ऐसा करता है। इसी प्रकार ग्रन्य भावों — प्रेम, वात्सल्य, घृणा ग्रादि में भी भाषा का प्रयोग ग्रलंकारमय रूप में करते है । वास्तव में, भावोद्वेलित हृदय से जो शब्द स्फुरित होते हैं, उनकी न केवल शब्दावली ग्रौर ग्रर्थ में भिन्नता ग्रा जाती है, ग्रपितु उस समय वक्ता के लहजे, उच्चारण तथा उसकी मुखाकृति म्रादि में भी विकार भ्रा जाता है। यही विचार सुन्दर भावों या सुन्दर प्रसंगों से सम्बद्ध होकर उसी प्रकार श्राकर्षक एलं प्रभावोत्पादक वन जाता है, जिस प्रकार रमणी की प्रत्येक चेष्टा हाव का सौन्दर्य प्राप्त कर लेती है। ग्रस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि भावों की प्रेरणा से उच्चरित भाषा में विकृति या श्रलंकृति का श्राना सर्वथा स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, यदि कोई व्यक्ति क्रोध या प्रेम व्यक्त करते समय भी ग्रपनी वात सामान्य ढंग से ही सामान्य लहजे में कहता है, तो वह ग्रस्वाभाविक होगा तथा उसके क्रोध या प्रेम पर सन्देह होने लगेगा। सच्चे किव भावाभिव्यक्ति से प्रेरित होकर सहज स्वामाविक रूप में ही ग्रलंकारों का प्रयोग करते हैं, या यों कहना चाहिए कि उनसे प्रयोग हो जाता है। किन्तु कई बार चमत्कारवादी किव विना भाव की प्रेरणा से ही चेष्टापूर्वक अपनी भाषा को अलंकृत करने का प्रयास करते हैं - ऐसी स्थिति में भवश्य ही उसकी भाषा कृत्रिम एवं भ्रस्वाभाविक हो जाती है, जो स्तुत्य नहीं है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि अलंकार स्वतः ही भाषा में आ जाते हैं तो

फिर उनकी विवेचना एवं शिक्षा से क्या लाभ ? क्या कवियों को ग्रलंकार की शिक्षा देने से उनकी भाषा कृत्रिम नहीं हो जाएगी ? इसके उत्तर के लिए हमें थोड़ी गंभीरता से विचार करना चाहिए। यह एक तथ्य है कि हम ग्रपने भावों की ग्रिभिव्यक्ति भी उसी माघ्यम से सफलतापूर्वक एवम् स्वाभाविकता के साथ कर सकते हैं जिसे हमने पहले से श्रीजत कर रखा है। भाषा का जो रूप एवं स्तर हम सीख लेते हैं, भावाभिव्यक्ति के समय भी वही प्रयुक्त होता है। जहाँ एक ग्रसंस्कृत व्यक्ति ग्रपना क्रोध व्यक्त करने के लिए किसी का पिता या बहनोई दन जाना ग्रावश्यक समभता है, वहाँ दूसरा व्यक्ति जो कि सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत है, केवल 'दुष्ट' कहकर ही सन्तुष्ट हो जाता है। स्रतः भाषा एवं व्यवहार के जिस स्तर के हम ग्रम्यस्त हो जाते हैं, वही हमारे लिए सामान्य एवं स्वाभाविक बन जाता है। यही बात अलंकारों पर लागू होती है। जिसने पहले से अलं-कारों का पूर्णतः ज्ञान प्राप्त एवं श्रम्यास कर लिया हो, वह भावाभिव्यक्ति के समय भी उनका प्रयोग सहज-स्वाभाविक रूप में कर सकेगा, जैसे कि एक ग्रम्यस्त टाइपिस्ट दूसरों से वात करता हुआ भी सहज-स्वाभाविक रूप में अपनी गति बनाए रखता है या एक अच्छा साइकिल चलानेवाला साथी से वातें करता हुग्रा भी पूरी रफ्तार के साथ दौड़ सकता है। किन्तु जो ग्राग लगने पर कुर्गां खोदते हैं - वे पानी का इच्छित उपयोग नहीं कर पाते। ग्रस्तु, हमारे विचार से ग्रलंकारों के प्रयोग के लिए भावों की प्रेरणा के साथ-साथ उनका पूर्व-अभ्यास भी अपेक्षित है। यह अभ्यास पूर्व-किवयों की रचनाओं के सूक्ष्म अध्ययन से भी किया जा सकता है।

ग्रव पाठक की दृष्टि से भी ग्रलंकारों के मनोवैज्ञानिक ग्राधार पर विचार किया जा सकता है। भारतीय ग्राचार्यों ने ग्रलंकारों का निरूपण करते हुए मुख्यतः ग्रावृत्ति, सादृश्य, ग्रतिशयोक्ति, वक्रोक्तिक्रम ग्रादि को ही ग्राधार बनाया है। ग्रनुप्रास, यमक ग्रादि शब्दालंकारों में श्रावृत्ति का ही सौन्दर्य होता है। जो व्विन सामान्यतः उपेक्षणीय होती है, वही बार-बार की ग्रावृत्ति से सुन्दर एवं ग्राकर्षक बन जाती है। उदाहरण के लिए, चर्-चर्र करनेवाला खिलीना या 'सी ई ई' 'सी ई ई' करनेवाली सीटी के प्रति वच्चे इतने ग्राकर्षित हो जाते हैं कि वे मीठी गोलियों को ठुकराकर भी इन्हें लेना पसन्द करेंगे। खिलौने या सीटी में भ्रावृत्ति का जो सौन्दर्य है उसी का विकसित रूप अनुप्रासादि में मिलता है।

श्रयलिंकारों में उपमा, रूपक ग्रादि का मूलाधार सादृश्य है। प्रश्न है, केवल सादृश्य से उक्ति में सौन्दर्य की सृष्टि कैसे होती है ? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि कोरे सादृश्य से सौन्दर्य उत्पन्न नहीं हो सकता । उदाहरण के लिए, हम कहें कि 'उर्मिला सीता सी सुन्दर है' या 'काजल कोयले सा काला है' तो इससे उक्ति में कोई म्राकर्षण नहीं म्रा पाएगा । वस्तुतः सादृश्यमूलक ग्रलंकारों में भी हीन वस्तु को किसी ग्रन्य महत्त्वपूर्ण वस्तु के सदृश बताकर ही उसके महत्त्व में श्रिभवृद्धि की जाती है। इस बात को श्रौर श्रिधक स्पष्ट करने के लिए हम कुछ सामान्य सौन्दर्य-प्रसाधनों का उदाहरण दे सकते हैं। नेत्र पहले से काले होते हैं ग्रतः उनमें काजल लगाया जाता है। जबिक लाल ग्रोठों की लालिमा की ग्रतिरंजना के लिए लिपस्टिक लगाया जाता है। कल्पना की जए, यदि इस CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

क्रम को उलट दिया जाय—यानी काजल भ्रोठों पर तथा लाली भ्राँखों में लगा ली जाय तो क्या होगा ? वस्तुतः वहाँ 'सादृश्य' का लोप हो जायगा । ठीक इसी प्रकार भ्रलंकारों में सादृश्य भ्रीर भ्रतिरंजना—दोनों का समन्वय होना चाहिए ।

श्रृंखलामूलक श्रलंकारों में 'क्रम' का सौन्दर्य होता है जबिक तर्क-न्याय-मूलक तथा लोक-न्याय-मूलक ग्रादि में ग्रौचित्य का। कोई भी वस्तु ठीक क्रम से या उचित ढंग से प्रस्तुत होने पर सुन्दर लगती है। कमरे की बिखरी हुई पुस्तकों को क्रम से लगा दीजिए—देखिए उससे कमरे की कितनी शोभा वढ़ जाती है! ग्रस्तु, हम कह सकते हैं कि ग्रलंकारों के उपर्युक्त ग्राधार सर्वधा मनोवैज्ञानिक हैं, बाकी यदि कोई ग्रनुचित रूप से उनका प्रयोग करे तो इसमें ग्रलंकारों का क्या दोष!

उपसंहार

ग्रन्त में हम कह सकते हैं कि ग्रलंकारों का निश्चित रूप से काव्य में महत्त्व है। उनसे भावों की स्पष्ट एवं उचित रूप में ग्रभिव्यक्ति ग्रौर उक्ति के प्रभाव में वृद्धि होती है तथा वे श्रोता के मन को ग्राकिषत एवं ग्रान्दोलित करते हैं। किन्तु यह सव कुछ तभी होता है जबिक उनके पीछे भावों की प्रेरणा हो। ग्रलंकार के लिए ग्रलंकार का अयोग सफल नहीं होता। इसके ग्रतिरक्त, जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, ग्रलंकारों के प्रयोग के लिए पूर्वाभ्यास की भी ग्रपेक्षा है। प्रायः यह कहा जाता है कि ग्राज का युग ग्रलंकारों का युग नहीं है। ग्रतः काव्य से भी ग्रलंकारों का बहिष्कार होना चाहिए—किन्तु इस तर्क का ग्राधार ही खोखला है। क्या सचमुच ही ग्राज का युग ग्रलंकार का युग नहीं है? क्या ग्राज विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनों—विभिन्न फैशन के वस्त्रा-भूषणों, रंग-विरंगे पाउडर, लिपस्टिक ग्रादि का प्रयोग नहीं होता? वस्तुतः ग्रलंकारों का रूप बदल गया है किन्तु ग्रलंकार की मूल भावना ग्राज भी मनुष्यों में ज्यों की त्यों विद्यमान है।

ग्रलंकारों की प्रशंसा के साथ-साथ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि ग्रन्ततः ग्रलंकार ग्रलंकार ही हैं। ग्रलंकार के लिए हम ग्रपने नाखून तो कटवा सकते हैं किन्तु यदि कोई ग्रंगुलियाँ कटाने के लिए कहे तो हम कभी स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरे शब्दों में, ग्रलंकार काव्य की ग्रात्मा नहीं है काव्य के शरीर भी नहीं, वे केवल उसके वाह्य पक्ष को सुसज्जित करने के साधन मात्र हैं। ग्रलंकारों से कुरूप को सुन्दर नहीं वनाया जा सकता, केवल सुन्दर के ही सौन्दर्य को बढ़ाया जा सकता है, ठीक वैसे ही यदि किव के पास ग्रनुभूतियों का संचित कोष है तो ग्रलंकार भी उसकी वैभव-वृद्धि में योग दे सकते हैं, ग्रन्यथा कोरे ग्रलंकारों की पूँजी से कोई व्यक्ति किव नहीं वन सकता।

: ग्यारह

रीति-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त

- १. 'रीति' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीर उसके विभिन्न ग्रर्थ।
- २. रीति की परम्परा— भरत, भामह, दंडी, वामन, राजशेखर, कुन्तक, भोजराज ग्रादि का रीति-विवेचन।
- ३. रीति-सम्प्रदाय का काव्य के प्रति दृष्टिकोण।
- ४. रीति के श्राघारभूत तत्त्व।
- ५. रीति के प्रकार।
- ६. रीति भौर भ्रन्य भारतीय काव्य-सम्प्रदाय।
- ७. रीति ग्रीर पाश्चात्य शैली।
- रीति-सम्प्रदाय का महत्त्व ।

'रीति' के भ्रथं पर विचार करते हुए ग्राचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—
"'रीति' शब्द रीङ् धातु से क्विन् प्रत्यय के योग से बनता है। ग्रतः रीति का व्युत्पत्तिलम्य
ग्रथं है—मार्ग। पन्था, वीथि, गित, प्रस्थान—सब रीति के ही पर्यायवाची शब्द हैं।'
काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी 'रीति' का प्रयोग दो भ्रथों में होता है—एक काव्य-रचना को
सामान्य पद्धति, शैली ग्रादि के भ्रथं में तथा दूसरा, संस्कृत के एक सम्प्रदाय-विशेष के
ग्रथं में। वह सम्प्रदाय है, श्राचार्य वामन (६वीं शती) द्वारा प्रवितित रीति-सम्प्रदाय।
यहाँ इस सम्प्रदाय विशेष के ही सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना हम।रा लक्ष्य है।

'रीति' की परम्परा

यद्यपि रीति को एक स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय ग्राचार्य वामन को ही प्राप्त है, किन्तु यह उनका सर्वथा नूतन सिद्धान्त नहीं है। उनसे पूर्व भी ग्रानेक ग्राचार्यों ने रीति की विवेचना विभिन्न रूपों में की थी, जिसका लाभ निश्चित ही वामन ने उठाया। ग्राचार्य भरत ने ग्रापने 'नाट्य-शास्त्र' में रीति से मिलते-जुलते शब्द 'प्रवृत्ति' का प्रयोग करते हुए इसके चार भेदों की व्याख्या की है। प्रत्येक देश के रहन-सहन ग्रीर ग्राचार-विचार में एक दूसरे से थोड़ा-बहुत ग्रन्तर होता है—ग्रतः इसी ग्राघार पर भरत ने 'प्रवृत्ति' के भेद निश्चित किए थे। यदि ग्राधुनिक शब्दावली में कहें तो भरत की प्रवृत्ति स्थानीय विशेषताग्रों (Local colours) को सूचित करती है। उन्होंने चारों भेदों का नामकरण भी भौगोलिक ग्राघार पर किया है—ग्रावन्ती, दाक्षिणात्य, ग्रीड्र, मागधी ग्रीर पांचाली। सही बात तो यह है कि भरत के इस प्रवृत्ति सम्बन्धी विवे-

चन का सम्बन्ध नाटक के वाह्य उपकरणों—वेश-भूषादि से ही ग्रधिक है, काव्य के ग्राधार-भूत तत्त्वों से कम । फिर भी इसका इतना महत्त्व ग्रवश्य है कि परवर्ती ग्राचार्यों में से भी ग्रनेक ने भौगोलिक ग्राधार पर वर्गीकरण की परम्परा को ग्रपनाया है।

'प्रवृत्ति' के ग्रतिरिक्त ग्राचार्य भरत ने नाटक में प्रयुक्त होनेवाले काव्य के गुण-दोपों एवं लक्षणों की विशव व्याख्या की है। रीति-सिद्धान्त के ग्राधारभूत प्रायः सभी तत्त्व भरत के इन गुण-दोषों एवं लक्षणों के ग्रन्तर्गत मिल जाते हैं। ग्रतः कहना चाहिए कि रीति की परम्परा ग्राचार्य भरत से ही प्रवर्तित हो जाती है।

भामह (६ठी शती) ने अपने काव्यालंकार में 'वैदर्भ' ग्रीर 'गौड़' नाम से दो 'मार्गों' का उल्लेख किया है जिन्हें हम रीति के ही पर्यायवाची मान सकते हैं। यह वर्गी-करण स्वयं भामह का किया हुम्रा नहीं है। ग्रतः किसी ऐसे ग्रज्ञात व्यक्ति द्वारा कृत माना जा सकता है, जो भरत और भामह के बीच के समय में हुआ हो। खैर, भामह के विवेचन से इतना स्पष्ट है कि उस युग में एक ग्रोर तो इन 'मार्गों' का महत्त्व बहुत ग्रधिक था जबिक दूसरी ग्रोर स्वयं भामह ने इनको हेय दृष्टि से देखते हुए ग्रलंकार-विहोन वैदर्भ एवं गौड़—दोनों मार्गों को ही उपेक्षणीय बताया है। उनके शब्दों में— "यदि वैदर्भी में भो पुष्टार्थता न हो, वक्रोक्ति का ग्रभाव हो, केवल प्रसादयुक्त कोमल शब्दों की सत्ता हो तो वह केवल गान की भाँति श्रुति-पेशल हो सकती है --- काव्यत्व उसमें कहाँ ?" भामह के अनन्तर दंडी ने भी 'रीति' के स्थान पर 'मार्ग' का ही प्रयोग करते हुए उसके उपर्युक्त दो भेदों की विवेचना की है। किन्तु उनका दृष्टिकोण इनके प्रति भामह की ग्रपेक्षा ग्रधिक सम्मानपूर्ण है। यही कारण है कि उन्होंने न केवल वैदर्भ मार्ग को उत्तम तथा गौड़ को निकृष्ट माना है, ग्रपितु इनके ग्राधार-भूत गुणों की भी व्याख्या की है। उनके विचार से वैदर्भ में श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, ग्रर्थ-व्यक्ति, उदारता, ग्रोज, समाधि, कान्ति ये दस गुण होते हैं, जबिक इनसे विपरीत गुणोंवाला मार्ग गौड़ होता है। इस प्रकार वैदर्भ में सब गुणों का संग्रह होता है जबिक गौड में सव दोषों का।

वामन ने ग्रपने 'काव्यालंकार-सूत्र' में रीति को इतना ग्रधिक महत्त्व प्रदान किया कि उसे काव्य की ग्रात्मा तक घोषित कर बैठे। रीति का लक्षण स्पष्ट करते हुए उन्होंने वताया कि 'विशिष्टपद-रचना रीतिः' ग्रर्थात् विशेष प्रकार की शब्द-रचना ही रीति है। वह विशेष प्रकार, या शब्द-रचना की वह विशेषता क्या है, जिससे रीति का सम्पादन होता है? उसका उत्तर है—'विशेषो गुणात्मा' ग्रर्थात् गुण का होना ही विशेषता है। इस प्रकार कहना चाहिए कि वामन काव्य का ग्राधार रीति को तथा रीति का ग्राधार गुण को मानते हैं—ग्रतः 'गुण' ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व सिद्ध होता है। वामन के द्वारा प्रस्तुत गुणों की सूची भी बहुत कुछ भरत एवं दंडी की सूची से ही मिलती-जुलती है, ग्रतः इसे वामन की मौलिक देन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, वामन ने एक तो 'मार्ग' के स्थान पर 'रीति' नाम का प्रचलन किया ग्रौर दूसरे उसके भेदों में भी वृद्धि को—वैदर्भी ग्रौर गौड़ी के ग्रतिरिक्त उन्होंने एक तीसरे भेद 'पांचाली' की ग्रौर कल्पना की—इसे हम ग्रवश्य उनकी मौलिकता मान सकते हैं।

वामन-परवर्ती ग्राचार्यों ने भी रीति का थोड़ा-बहुत विवेचन करते हुए इस पर-म्परा को भागे बढ़ाया है। रुद्रट ने वामन की तीन रीतियों के भ्रतिरिक्त एक चौथे भेद-'लाटी' की कल्पना की । साथ ही उन्होंने रीतियों के एक सामान्य ग्राधार की भी उद्भावना की । उनके विचार से समास ही रीति का निर्णायक ग्राधार है—जहाँ समास विल्कुल न हों वह वैदर्भी, जहाँ लघु हों वह पांचाली ग्रौर जहाँ मध्य समास व दीर्घ समास हों, वे क्रमशः लाटी व गौड़ी रीति मानी जानी चाहिए। इसके ग्रतिरिक्त किस रस में कौन सी रीति प्रयुक्त होनी चाहिए इसका भी स्पष्टीकरण उन्होंने किया है, जैसे श्रृंगार, करुण ग्रादि में वैदर्भी ग्रीर पांचाली या रौद्र में गौडी प्रयुक्त होनी चाहिए।

राजशेखर (६वीं शती) ने प्रवृत्ति, वृत्ति एवं रीति के ग्रन्तर को स्पष्ट करते हुए पूर्व-विवेचन को अधिक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इनके पार-स्परिक अन्तर उनके भव्दों में इस प्रकार है—"वेष-विन्यास क्रमः प्रवृत्ति, विलास-विन्यास क्रमो वृत्तिः, वचन-विन्यास क्रमो रीतिः" श्रर्थात् वेष-विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है, विलास-विन्यास का प्रकार वृत्ति तथा वचन-विन्यास का प्रकार रीति है। दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति का सम्बन्ध वेषभूषादि से है, वृत्ति का क्रिया-कलाप-व्यवहार ग्रादि से तथा रीति का भाषा एवं दोल-चाल ग्रादि से। राजशेखर का यह स्पष्टीकरश निश्चित रूप से ही स्तृत्य है। रीति के भेदों के ग्रन्तर्गत राजशेखर ने रुद्रट के लाटी को स्वीकार नहीं किया— उन्होंने वैदर्भी, पांचाली एवं गौड़ी को ही मान्यता देते हुए उनका विवेचन किया है।

दसवीं शती के ग्राचार्य कुन्तक ने रीति के इतिहास में एक वड़ा भारी परिवर्तन किया। अब तक रीति का सम्बन्ध प्रदेश-विशेष से माना जाता रहा था, जबिक कुन्तक ने इसे किन-स्वभाव से सम्बन्धित सिद्ध किया। ग्रपने इसी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने रीति के विभिन्न भेदों का नामकरण भी नये ढंग से किया-सुकूमार मार्ग (वैदर्भी रीति), विचित्र मार्ग (गौड़ी) श्रौर मध्यम मार्ग (पांचाली) । कुन्तक का यह प्रयास बहुत सुन्दर था किन्तु परवर्ती ग्राचार्यों ने इसकी उपेक्षा की, जिससे यह नामकरण प्रचलित न हो सका।

भोजराज (११वीं शती) ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली श्रौर लाटो के श्रतिरिक्त दो थ्रौर नये भेदों—ग्रावन्तिका थ्रौर माधवी—की सृष्टि करके उनकी संख्या छः तक पहुँचा दी, किन्तु परवर्ती विद्वान् वामन के तीन भेदों को ही मानते रहे। ग्रानन्दवर्द्धन ने रीति का प्रयोग वक्ता, कथ्य, विषय एवं रस के ग्रीचित्य के ग्रनुसार ही करने का परामर्श दिया। इस प्रकार रीति-विवेचन की परम्परा ११-१२वीं शती तक ग्रक्षुण्ण रूप से चलती रही। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कुन्तक, राजशेखर, भोज ग्रादि ग्राचार्य रीति-सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे, किन्तु फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में रीति-विवेचन को स्थान दिया। इतना ही नहीं, 'नैषघ चरित' के रचियता श्रीहर्ष ने तो परम सुन्दरी दमयन्ती को ही रीति-विशेष का रूप दे डाला-

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि । इतः स्तुतिः का खलु चिन्द्रकाया यदिष्यमप्युत्तरलीकरोति ।

ग्रर्थात् हे वैदर्भी (दमयन्ती) ! तू सचमुच धन्य है जिसने ग्रपने उदार गुणों से नैपध को ग्राकृष्ट कर लिया है। चिन्द्रका की इससे बढ़कर स्तुति क्या हो सकती है कि

वह समुद्र को भी ग्रविक तरल (चंचल) बना दे।

इससे प्रतीत होता है कि ग्यारहवीं-बारहवीं शती तक रीति-सिद्धान्त पक्षी-विप-क्षियों के द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, किन्तु परवर्ती युग में रस, व्वनि ग्रीर श्रलंकार के आगे यह गौण हो गया। यही कारण है कि हिन्दी के शताधिक कवि-आचार्यों (रीतिकालीन) में से कुछ ने ही रीति का उल्लेख किया है। केशव ने तो रीति के स्थान पर भरत की चार वृत्तियों को ही ले लिया है जबिक चिन्तामणि ने कुन्तक का अनुकरण करते हुए इसे कवि-स्वभाव से सम्बन्धित रूप में ग्रहण किया है। कुलपति, देव ग्रौर दास ने भी रीति का उल्लेख ग्रत्यन्त मितव्ययितापूर्वक किया तथा उन्होंने वामन के दृष्टिकोण की प्रायः उपेक्षा की है। श्रतः कहा जा सकता है कि हिन्दी के मध्यकालीन श्राचार्यों ने इस सिद्धान्त को प्रायः ठुकरा दिया।

रोति-सम्प्रदाय का काव्य के प्रति दृष्टिकोण

रीति-सम्प्रदाय के ग्राधारभूत सिद्धान्तों का ग्रध्ययन करने से पूर्व हमें उसका काव्यसम्बन्धी दृष्टिकोण समभ लेना चाहिए। ग्राचार्य वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' के प्रथम ग्रधिकरण में ही काव्य के लक्षण, स्वरूप, प्रयोजन ग्रादि का विवेचन किया है जिसके ग्राधार पर हम उनके दृष्टिकोण से ग्रवगत हो सकते हैं। सबसे पहला प्रश्न है— काव्य क्या है ? वामन की दृष्टि से इसका उत्तर है—'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते । अर्थात् यह काव्य शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है। यदि वामन के इस लक्षण की उनके पूर्ववर्ती श्राचार्यों के द्वारा निरूपित लक्षणों से तुलना करें तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि उनका लक्षण कितना ग्रिधिक व्यापक है। जहाँ भामह केवल ''शब्दार्थीं सिहतीं काव्यम्'' प्रर्थात् शब्द ग्रीर ग्रर्थ मिलकर ही काव्य होता है-कहकर रह जाते हैं, वहाँ वामन गुण तथा अलंकारों से संस्कृति की भी वात कहते हैं। प्रत्येक सार्थक शब्द काव्य नहीं हो सकता, कुछ विशेष गुणों वाले शब्द ही मिलकर काव्य का रूप धारण कर सकते हैं। ग्रतः स्पष्ट ही वामन के द्वारा गुण ग्रौर ग्रलंकारों की वात कहा जाना, ग्रधिक उचित प्रतीत होता है। ग्रस्तु, यदि उपर्युक्त लक्षण की व्याख्या करें तो उससे वामन की निम्नांकित मान्यताग्रों पर प्रकाश पड़ता है :--

(क) काव्य में शब्द ग्रौर ग्रर्थ के संस्कृत या परिष्कृत रूप का प्रयोग होता है या

यों कहिए कि काव्य में परिष्कृत भाषा का प्रयोग होता है।

(ख) भाषा में यह परिष्कार गुण ग्रौर ग्रलंकारों के द्वारा ग्राता है।

(ग) वामन शब्द ग्रौर ग्रर्थ दोनों के परिष्कार की वात कहते हैं—इससे स्पष्ट है कि वे काव्य के दोनों पक्षों — व्विन ग्रीर ग्रर्थ दोनों — को महत्त्वपूर्ण समभते हैं।

यहाँ कुछ प्रश्न उठ सकते हैं, जैसे कि क्या भाषा में परिष्कार केवल गुण और ग्रलंकार से ही ग्रा सकता है, ग्रन्य साधनों से नहीं ? या क्या काव्य केवल परिष्कृत या सुसज्जित भाषा में हो रिचित हो समिति है प्रमध्या मही विकास प्रमों के उत्तर में हम कह सकते हैं कि वामन के दृष्टिकोण से गुण और ध्रलंकार ही काव्य के ध्राधारभूत तत्त्व हैं, ध्रतः यदि वे केवल इन्हें ही भाषा के परिष्कार का साधन मानें तो स्वाभाविक ही है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में भी जहाँ तक वामन के दृष्टिकोण की बात है, वे केवल परिष्कृत भाषा में ही रचित काव्य को काव्य मानेंगे। वामन की यह मान्यता कहाँ तक तर्क-संगत है, इस पर हम ध्रागे वामन के ध्राधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना करते समय विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना ही याद रखना पर्याप्त होगा कि वामन के ध्रनुसार गुण और ध्रलंकार ही दो ऐसे तत्त्व हैं जिनसे परिष्कृत-सुसज्जित होकर भाषा काव्य का रूप धारण करती है।

काव्य के सम्बन्ध में उसके लक्षण के श्रतिरिक्त दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि उसकी ग्रात्मा क्या है ? ग्रर्थात् वह कौन-सा ग्राधारभूत तत्त्व है जिसके कारण काव्य, काव्य कहलाता है तथा जिसके ग्रभाव में काव्य काव्यत्व से हीन हो जाता है ? यह प्रश्न भारतीय श्राचार्यों में पर्याप्त वाद-विवाद का विषय रहा है (ग्राचार्य वामन ने इसके उत्तर में 'रीति' को काव्य की श्रात्मा वताया। किन्तु सही बात तो यह है कि उनके द्वारा विवेचित 'रीति' श्रपने-ग्रापमें साघ्य न होकर काव्य के सौन्दर्य की साधन मात्र है। वामन ने यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि "काव्यं ग्राह्ममलंकारात् सौन्दर्यमलं-कारः।'' (प्रथम ग्रधिकरण १-२) ग्रर्थात् काव्य ग्रलंकार के कारण ग्राह्य होता है ग्रौर ग्रलंकार का ग्रर्थ है सौन्दर्य। इस प्रकार सौन्दर्य ही काव्य का मुख्य तत्त्व है तथा दोषों का परित्याग, गुण ग्रौर ग्रलंकारों का प्रयोग—ये सब तो सौन्दर्य-सृष्टि के साधन मात्र हैं] दोषों के त्याग और गुण व श्रलंकारों के ग्रहण का सामान्य नाम ही 'रीति' है-श्रतः कहना चाहिए कि रीति तो काव्य-सौन्दर्य की साधन मात्र है। जिस प्रकार मनुष्य वायु, जल, भोजन म्रादि के द्वारा जीवन धारण करता है, किन्तु फिर भी इन्हें मनुष्य का प्राण या उसकी श्रात्मा नहीं माना जा सकता, ठीक वैसे ही काव्य में सौन्दर्य रूपी जीवन के लिए रीति को उसका साधन ही माना जा सकता है, साध्य नहीं। ग्रस्तु, वामन ने एक ग्रोर रीति को काव्य की ग्रात्मा घोषित करके तथा दूसरी ग्रोर सौन्दर्य को ही उसका साध्य मान करके दो परस्पर विरोधी मान्यताएँ व्यक्त की हैं जिनसे उनके दृष्टिकोण की श्रस्पष्टता प्रकट होती है।

इसी प्रकार काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में भी वामन ने अपना मत अस्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है—''सुन्दर काव्य प्रीति का और कीर्ति का हेतु होने से दृष्ट और अदृष्ट फलवाला होता है।'' डा॰ नगेन्द्र ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—''वामन ने विस्तार में न जाकर काव्य के प्रयोजन केवल दो माने हैं—दृष्ट प्रयोजन प्रीति-आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन कीर्ति। उन्होंने अपने स्तर को न तो धर्म और मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थों तक ऊँचा उठाया है और न वे अर्थोपार्जन के निम्नतर स्तर तक ही उतरे हैं। उनकी वृत्ति से प्रतीत होता है कि साधारणतः कीर्ति कि वि सिद्धि और आनन्द पाठक का प्राप्य है, तथापि मूलतः इन दोनों की व्यवस्था कि और पाठक दोनों के लिए ही की गई है।'' निस्संदेह डा॰ नगेन्द्र की इस व्याख्या से वामन का पक्ष बहुत सबल हो जिति है, कि किसी अन्य

व्यक्ति की रचना से पाठक को कीर्ति किस प्रकार मिल सकती है ? हमारे विचार से वामन ने अपना मत केवल किव के दृष्टिकोण से ही व्यक्त किया है, क्यों कि उसे काव्य-रचना करते समय आनन्द प्राप्त होता है तथा उसके पश्चात् कीर्ति मिलती है । काव्य-प्रयोजन सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेख के अनन्तर वामन ने यह भी लिखा है—''काव्य-रचना की प्रतिष्ठा यश की प्राप्ति की सरणि मानी जाती है । अतः कीर्ति को प्राप्त करने के लिए औष्ठ किवयों को 'काव्यालंकार सूत्र' का अर्थ भली प्रकार हृदयंगम कर लेना चाहिए।'' (प्रथम अधिकरण, प्रथम अध्याय, सत्र पाँचवाँ) इस कथन से यह प्रमाणित होता है कि वामन ने किव के दृष्टिकोण से ही काव्य-प्रयोजन पर विचार किया था, पाठक के दृष्टिकोण से नहीं।

ग्रस्तु, ग्राचार्य वामन के काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण को संक्षेप में प्रस्तुत करें तो कह सकते हैं—(१) काव्य की रचना गुणों ग्रौर ग्रलंकारों से परिष्कृत एवं सिष्जित भाषा में होनी चाहिए। (२) गुणों ग्रौर ग्रलंकारों से ही काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है, यह सौन्दर्य या सौन्दर्य उत्पन्न करने की विधि (रीति) ही काव्य की ग्रात्मा है। (३) सौन्दर्य के कारण ही पाठक काव्य को पसन्द करता है तथा उसी से किव को ग्रानन्द व कीर्ति की उपलब्धि होती है। एक शब्द में सौन्दर्य ही वामन के सारे दृष्टिकोण एवं उनकी समस्त मान्यताग्रों का मूलाधार है। वामन का विवेचन सर्वथा दोष-शून्य एवं तर्क-संगत चाहे न हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने कला के प्रति सच्चे सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण को ग्रपना कर उसके साथ न्याय करने का पूरा प्रयत्न किया है।

'रीति' के ग्राधारभूत तत्त्व

जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है, वामन का दृष्टिकोण विशुद्ध सौन्दर्यवादी था, ग्रतः उन्होंने उन सव गुणों को जिनसे काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि हो सकती है, रीति के ग्राधारभूत तत्त्वों के रूप में संकलित किया है। किन्तु यदि किसी वस्तु में गुणों के साथ-साथ दोष भी विद्यमान हों तथा उसमें उचित साज-सज्जा का ग्रभाव हो तो वहाँ गुण भी प्रभावहीन हो जाते हैं। इसी तथ्य को घ्यान में रखते हुए वामन ने एक ग्रोर यह स्पष्ट किया है कि सौन्दर्य दोषों के त्याग तथा गुणों ग्रौर ग्रलंकारों के योग से उत्पन्न होता है, तो दूसरी ग्रोर उन्होंने ग्रपने ग्रन्थ में गुण, दोष ग्रौर ग्रलंकार का निरूपण विस्तार से ग्रलग-ग्रलग ग्रघ्यायों में किया। प्रायः हिन्दी के ग्रनंक विद्वान् रीति-सिद्धांत की चर्चा करते समय केवल गुणों तक ही ग्रपना विषय सीमित रखते हैं जबिक वास्त-विकता यह है कि दोष ग्रौर ग्रलंकार भी इस सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण ग्रंग हैं। ग्रस्तु, हम यहाँ इन तीनों का ही क्रमणः विवेचन करते हुए इस सिद्धान्त को समभने का प्रयत्न करेंगे।

(१) गुण

यद्यपि गुणों को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करने का श्रेय वामन को ही है, किन्तु इनकी कल्पना उन्होंने अपने मस्तिष्क से नहीं की । उनसे पूर्व अनेक आचार्य इनकी चर्चा कर चुके थे। आचार्य-अपने क्रिक्ति के क्रिक्ति के क्रिक्ति के क्रिक्ति के क्रिक्ति के क्रिक्ति क्रिक्ति के क्रिक्

समृद्ध करते हैं, गुण माना था। इन गुणों की गणना भी उन्होंने इस प्रकार की थी--? श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. श्रोज, ७. पद-सौकुमार्य, ८. श्रर्थ-व्यक्ति, ६. उदारता एवं १०. कान्ति । भ्रागे चलकर दण्डी ने भी दस गणों की विस्तत विवेचना की है किन्तु उनका कोई सामान्य लक्षण निर्धारित नहीं किया। वस्तुतः गुणों का लक्षण स्पष्ट भी सर्वप्रथम वामन ने ही किया। उनके विचार से 'काव्य के शोभा-कारक धर्म गुण कहलाते हैं'—(काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः)। स्पष्ट ही यह लक्षण इतना व्यापक है कि इसके ग्रनुसार वे सारे तत्त्व जिससे कि काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि होती है, गुणों के ग्रन्तर्गत ग्रा जाते हैं। फिर वामन को इसी से संतोष नहीं हुग्रा, उन्होंने उन्हें काव्य के स्थायी तत्त्व घोषित कर दिया ग्रर्थात् जहाँ काव्य है वहाँ गुण अवश्य है, और जहाँ गुण नहीं वहाँ काव्य भी नहीं। ऐसी स्थिति में गुणों की गणना सम्भव नहीं थी, किन्तु वामन ने उनकी संख्या बीस निश्चित कर दी-दस शब्द-गुण ग्रीर दस ग्रर्थ-गुण । वस्तुतः ये बीस गुण ग्राचार्य भरत के द्वारा उल्लिखित दस गुण ही हैं, वामन ने केवल शब्द और अर्थ का भेद करके उनकी संख्या द्विगुणित कर दी। कहना न होगा कि वामन के परवर्ती विद्वानों ने भी इस संख्या-विस्तार में ग्रपनी रुचि प्रदर्शित की है, जैसे कि भोजराज ने गुणों की संख्या ७२ तक पहुँचा दी । किन्तु यह संख्या वृद्धि विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, श्रतः हम श्रपना विवेचन वामन तक ही सीमित रखेंगे। वामन द्वारा निरूपित गुणों का परिचय संक्षेप में स्वयं उन्हीं के दृष्टिकोण से इस प्रकार दिया जा सकता है-

(क) शब्द-गुण

- १. ओज—'गाढ़वन्धत्वमोजः' श्रर्थात् रचना की गाढ़ता या गाढ़वन्धत्व 'ग्रोज' गुण कहलाता है। दण्डी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि जब वाक्यों में समासयुक्त पदों की बहुलता होती है तो श्रोज गुण का उदय होता है। हमारे विचार से वामन का भी श्रिमिप्राय संश्लिष्ट शब्द-रचना से ही था।
 - २. प्रसाद- 'शैथिल्यं प्रसादः' श्रर्थात् रचना की शिथिलता ही प्रसाद गुण है।
 - ३. श्लेष--'मसृणत्वं श्लेषः' ग्रर्थात् मसृणत्व या कोमलता को श्लेष कहते हैं।
- ४. समता—'मार्गाभेदः समता' ग्रथित् मार्ग का ग्रभेद या शैली की एकरूपता समता गुण है।
- ४. समाधि—'ग्रारोहाऽवरोहकमः समाधिः' ग्रर्थात् (शैली में) उतार-चढ़ाव ही समाधि है।
 - ६. माघुर्य- 'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' शब्दों की पृथकता ही माधुर्य गुण है।
- ७. सोकुमार्यम् 'ग्रजरठत्वं सोकुमार्यम्' ग्रर्थात् कठोरता का ग्रभाव ही सोकु-मार्य है।
- प्रवारता—'विकटत्वमुदारता' ग्रर्थात् रचना-शैली की विकटता ही उदारता
 कहलाती है।
- है. स्रथं-व्यक्ति—'म्रथंव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः' स्रर्थात् वह गुण जिससे भ्रर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, सर्थं व्यक्ति कहाती है, सर्थं व्यक्ति कहाती है। सर्थं व्यक्ति कहाती स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, सर्थं व्यक्ति कहाती स्पष्ट स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, सर्थं व्यक्ति कहाती स्पष्ट स्पष्ट

१०. कान्ति—'ग्रीज्ज्वल्यं कान्तिः' ग्रर्थात् रचना-शैली की उज्ज्वलता या नवीनता का नाम ही कान्ति है।

णब्द-गुणों की उपर्युक्त सूची बड़ी विचित्र-सी है। पहले हम देखते हैं कि वामन ने रचना के गम्भीर-बन्धत्व को ग्रोज गुण माना है तो ग्रागे उसके सर्वथा विरोधी गुण—रचना की शिथिलता को भी उसने प्रसाद गुण मान लिया है। एक ग्रोर वे शैली की एक स्पता गुण मानते हैं तो दूसरी ग्रोर वे शैली के उतार-चढ़ाव को भी गुण मान लेते हैं। इसके ग्रतिरिक्त कई गुण ऐसे भी हैं जिनके नाम ग्रौर ग्रर्थ में परस्पर संगति नहीं बैठती—उदाहरण के लिए श्लेष, माधुर्य, उदारता ग्रादि गुण ऐसे ही हैं। वस्तुतः स्वयं वामन को भी इन ग्रसंगतियों का थोड़ा ग्राभास हो गया था, ग्रतः उन्होंने प्रथम ग्रसंगित के निराकरण का प्रयास भी किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

(ख) ग्रर्थ-गुण

जिन दस शब्द-गुणों की चर्चा ग्रभी हमने की है, वे ही दस ग्रर्थ-गुण भी हैं— उनकी संख्या ग्रौर नाम में कोई ग्रन्तर नहीं है, किन्तु उनकी व्याख्या दूसरे ढंग से की गई है । जहाँ शब्द-गुणों में रचना के प्रगाढ़ बन्धन को ग्रोज कहा गया है, वहाँ ग्रर्थ-गुणों में अर्थ की प्रीढ़ता को भ्रोज गुण माना गया है—''अर्थस्य प्रीढ़िरोजः'' इसी प्रकार अर्थ की विमलता को प्रसाद, क्रमिक घटना को श्लेष, ग्रर्थ की सुगमता को समता, ग्रर्थ के दर्शन को समाधि, उक्ति-वैचित्र्य को माधुर्य, ग्रर्थ की सुकुमारता को सौकुमार्य, ग्रग्राम्यत्व को उदारता, वस्तु के स्वभाव की स्पष्टता को ग्रर्थ-व्यक्ति तथा रस की दीप्ति को कान्ति गुण कहते हैं। कहना न होगा कि शब्द-गुणों की ही भाँति अर्थ-गुणों में से भी अनेक ग्रस्पष्ट एवं ग्रसंगत हैं। फिर यह भी विचित्र-सा है कि ग्रर्थ-गुणों का शब्द-गुणों से कोई साम्य न होते हुए भी उन्हें वे ही नाम दिये गये हैं जो कि शब्द-गुणों के लिए निर्घारित थे---क्या वामन के शब्द-कोष में नये नामों का भी ग्रभाव था ? फिर क्या उन्होंने ग्रपने इन गुणों के छोटे-छोटे प्यालों में परम्परागत काव्य-शास्त्र के बड़े-बड़े उदिधयों को समेट लेने का दुःसाहस किया है-कहाँ रस-सिद्धान्त के विभिन्न ग्रंगों, ग्रवयवों, भेदों एवं उपभेदों का विशाल सागर और कहाँ वामन का यह नन्हा सा 'कान्ति' गुण । दोनों में पहाड़ ग्रौर तिल का ग्रन्तर है किन्तु वामन ने यह समभ लिया कि रस-दीप्ति को कान्ति गुण वता देने से ही समस्त रसिसद्धान्त का प्रतिनिधित्व हो जायगा। खैर, इससे इतना तो सिद्ध ही है कि ग्रन्ततः वामन रस-सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सके — उसे उन्हें किसी न किसी रूप में ग्रपनाना ही पड़ा।

(२) दोष

 किन्तु उनकी कोई सामान्य परिभाषा किसी ने नहीं दी। वामन के अनुसार दोष की परिभाषा है—''गुणविपर्ययात्मानो दोषः'' अर्थात् गुण के विपर्यय का नाम दोष है या यों कहिए कि जो गुण का उल्टा है वही दोष है।

दोषों की संख्या के सम्बन्ध में भी विभिन्न ग्राचार्यों में प्रायः मतभेद रहा है। ग्राचार्य भरत ने दस दोष माने थे—१. गूढ़ार्थ (क्लिष्ट ग्रर्थ), २. ग्रर्थान्तर (ग्रवण्यं का वर्णन), ३. ग्रर्थहीन, ४. भिन्नार्थ, ४. एकार्थ (एक ग्रर्थ के लिए ग्रनेक शब्दों का प्रयोग), ६. ग्रिमप्लुतार्थ (विभिन्न ग्रर्थों में ग्रन्वित का ग्रभाव), न्यायादपेत (तर्करहित), ८. विषम (छन्दोभंग), ६. विसन्धि (सन्धि का ग्रभाव), १०. शब्दहीन (हीन शब्द का प्रयोग)। ग्रागे चलकर भामह ने इनकी संख्या २१ तथा दंडो ने दस मानी है, जबिक वामन ने इन्हें चार भेदों—पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष ग्रीर वाक्यार्थ-दोष में वर्गीकृत करते हुए इनकी संख्या बीस मानी है। उनके द्वारा निरूपित दोषों की सूची इस प्रकार है—

- (क) पाँच पद-दोष—१. ग्रसाघु (व्याकरण की दृष्टि से ग्रशुद्ध शब्द का प्रयोग), २. कष्ट (कर्ण-कटु शब्द), ३. ग्राम्य, ४. ग्रप्रतीत (ग्रप्रचलित शब्द का प्रयोग), ५. ग्रनर्थक (निरर्थक)।
- (ख) पाँच पदार्थं-दोष—१. ग्रन्यार्थ—जहाँ शब्द का भिन्न ग्रर्थ में प्रयोग हो, २. नेयार्थ—जिसका ग्रर्थ कल्पना से लगाना पड़ता हो, ३. गूढ़ार्थ—ग्रप्रसिद्धार्थ, ४. ग्रश्लील, ४. क्लिब्ट—जहाँ ग्रर्थ ग्रत्यन्त दूरारूढ़ हो।

(ग) तीन वाक्य-दोष—१. भिन्न वृत्ति, २. यतिभ्रष्ट, ३. विसंधि ।

(घ) सात वाक्यार्थ-दोष—१. व्यर्थ—पूर्वापर विरोधी, २. एकार्थ—जिसमें एक ही अर्थ की आवृत्ति हो, ३. संदिग्ध, ४. अप्रयुक्त, ५. अप्रकम—जहाँ अर्थ में कम न हो, ६. अलोक—जिसका अर्थ देश, काल और प्रवृत्ति के विरुद्ध हो, ७. विद्या-विरुद्ध—जिसका अर्थ कला और शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रतिकृत हो।

यद्यपि वामन ने दोष-विवेचन में भी विचार की प्रवृत्ति का परिचय दिया है, किन्तु फिर भी उसमें उनको पर्याप्त सफलता मिली है। उनका वर्गीकरण भ्रौर विवेचन पर्याप्त स्पष्ट, संगत एवं महत्त्वपूर्ण है। नि:सन्देह हमारी दृष्टि में उनका दोष-दर्शन भ्रधिक गुणवान् है जबिक उनका गुण-विवेचन सर्वथा दोष-पूर्ण है।

(३) ग्रलंकार

गुण और दोष के ग्रनन्तर ग्रब हम रीति के तीसरे महत्त्वपूर्ण ग्रंग ग्रलंकार को लेते हैं। यहाँ एक शंका का निराकरण कर देना चाहिए—वह यह है कि क्या वामन ग्रलंकार को भी मान्यता देते थे ? यदि ऐसा था तो फिर रीति-सम्प्रदाय को ग्रलंकार-सम्प्रदाय से पृथक् कैसे माना जा सकता है ? इन शंकाग्रों के सम्बन्ध में हमारा समाधान यह है कि वामन ग्रपने सिद्धान्त को नवीन एवं स्वतन्त्र घोषित करते हुए भी ग्रलंकार की जपेक्षा नहीं कर सके। यही नहीं, उन्होंने एक स्थान पर तो ग्रलंकार को व्यापक ग्रथं में—सौन्दर्य के ग्रथं में—ग्रहण करते हुए उसे ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मान लिया है—''काव्यं ग्राह्ममलंकारात । सौन्दर्यमलंकार: ।'' किन्तु साथ ही ये ग्रलंकार को उसके СС-0. Jangamwadi Main Collection साथ ही ये ग्रलंकार को उसके

संकुचित ग्रर्थ में भी ग्रहण करते हैं। इसीलिए वे लिखते हैं कि काव्य में सौन्दर्य दोषों के अभाव व गुण और अलंकारों के योग से उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि वामन चाहे ग्रलंकारवादी न हों, किन्तु ग्रलंकार के महत्त्व को वे ग्रवश्य स्वीकार करते थे। पर इसक यह भी तात्पर्य नहीं है कि वे म्रलंकारों को उतना ही महत्त्व देते थे जितना कि स्वयं अलंकारवादी भामह, दण्डी भ्रादि देते थे—नहीं, यह वात नहीं है। जब अलंकार-वादी ग्रलंकार को काव्य का स्थायी, नित्य व ग्रावश्यक ग्रंग मानते हैं, वहाँ वामन उनका काव्य से अनित्य सम्बन्ध मानते हैं। वे सौन्दर्य उत्पन्न नहीं कर सकते, अपितु सौन्दर्य में (यदि वह पहले से हो तो) केवल ग्रिभवृद्धि कर सकते हैं। सौन्दर्य को उत्पन्न करने की शक्ति तो वामन के विचार से गुणों में ही है - ग्रतः निश्चित रूप से रीति-सम्प्रदाय में ग्रलंकारों का स्थान गुणों के ग्रनन्तर ही है—वे उनसे हीन माने जाते हैं। यहाँ हमें यह भी न भूलना चाहिए कि जैसा व्यवहार वामन ने ग्रलंकारों के साथ किया है, लगभग वैसा ही अलंकारवादियों ने गुणों के साथ किया है, अर्थात् ये गुणों को मानते हैं किन्तु उन्हें ग्रलंकारों से हीन समभते हैं। खैर, यह इन दोनों का ग्रापस का भगड़ा है-हम बीच में क्यों पड़ें!

ग्रलंकारों के विवेचन में वामन ने प्रायः पूर्वागत परम्परा का ही ग्रनुसरण किया है—यह दूसरी बात है कि उनकी संख्या में परिवर्तन करके तथा उनके नये वर्गीकरण के दृरा उन्होंने ग्रपनी किंचित् मौलिकता का भी परिचय दिया है। पहले उन्होंने सब ग्रलंकार को दो वर्गों में विभाजित किया है-शब्दालंकार ग्रौर ग्रथीलंकार । शब्दालंकारों में उन्होंने केवल यमक ग्रौर ग्रनुप्रास को ही मान्यता दी है—शेष को इन्हीं के भेदों के रूप में स्थान दिया है। ग्रथलिंकार में से उन्होंने उपमा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इसका विवेचन ग्रलग पूरे ग्रघ्याय में किया है तथा ग्रगले ग्रघ्याय में लगभग २८-२६ ग्रथिलंकारों का ही उपमा के विभिन्न रूपों में निरूपण किया है। वस्तुतः वामन का ग्रलंकार-सम्बन्धी विवेचन भी पर्याप्त तर्क-संगत एवं प्रौढ़ है।

रीति के प्रकार

जैसा कि हमने ग्रारम्भ में उल्लेख किया था, ग्राचार्य वामन ने रीति के तीन भेद किए हैं—(१) वैदर्भी, (२) गौड़ी ग्रौर (३) पांचाली । वैदर्भी के सम्बन्ध में उनकी धारणा है—''समग्रगुणा वैदर्भी'' ग्रथीत् जिसमें सारे गुण हों वह वैदर्भी है। गौड़ी में केवल ग्रोज ग्रीर कान्ति—ये दो गुण ही होते हैं तथा इसी प्रकार पांचाली में भी माधुर्य भीर सौकुमार्य ये दो गुण रहते हैं। इस प्रकार गुणों की संख्या के ग्राधार पर वामन ने वैदर्भी को ही स्वीकार्य बताया है, शेष दो तो उपेक्षणीय हैं। इसका तात्पर्य यह हुम्रा कि जो रचना सभी गुणों से सम्पन्न हो, वही-वैदर्भी-ही काव्य है; शेष का कोई महत्त्व नहीं। ऐसी स्थिति में इस वर्गीकरण का लाभ ही क्या है। फिर कोई रचना ऐसी भी हो सकती है जिसमें दो के स्थान पर चार या ग्राठ गुण हों—उन्हें रीतिवादी कहाँ स्थान देंगे ? वस्तुतः वामन के इस वर्गीकरण में भ्रनेक ग्रसंगतियाँ एवं दोष विद्यमान हैं जिन पर भ्रागे इस सम्प्रदाय के महत्त्व पर विचार करते समय प्रकाश डाला जायगा।

उपर्युक्त वर्गिकरणा के बामकर Wath Collection, Varanasi.

इन रीतियों का विभिन्न भौगोलिक प्रदेशों—विदर्भ, गौड़, पांचाल—से क्या सम्बन्ध है ? इसका समाधान करते हुए स्वयं वामन ने लिखा है—''यह वात नहीं है (कि रीतियों का देश-विशेष से सम्बन्ध हो)। देश-विशेष से 'द्रव्य-गुण' या 'काव्य-गुणों' की उत्पत्ति नहीं होती है श्रीर न इस कारण रीतियों के नाम देशों के नाम पर रक्खे गए हैं। श्रिपतु जिन-जिन देशों के लोगों ने जिस-जिस प्रकार की रचना-शैलियों का श्राविष्कार किया है, उन्हीं के श्राधार पर इनका नामकरण किया गया है। फिर भी देशों का काव्य-शैलियों से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि इस प्रकार वामन ने समाधान करने का प्रयत्न किया है किन्तु उनके कथन में स्वतोव्याघात दोष होने के कारण उन्हें उसमें सफलता नहीं मिली। यही कारण है कि श्रागे चलकर कुन्तक ने वैदर्भी, गौड़ी श्रीर पांचाली के स्थान पर क्रमशः सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम मार्ग की कल्पना की जो श्रिषक तर्कसंगत है।

रीति श्रौर ग्रन्य भारतीय सम्प्रदाय

यदि श्रन्य भारतीय काव्य-सम्प्रदायों से तुलना की दृष्टि से रीति-सिद्धान्त पर विचार करें तो इसका महत्त्व उनकी ग्रपेक्षा न्यून ही सिद्ध होता है। जहाँ रस-सिद्धान्त काव्य में भावात्मकता को प्रश्रय देता हुग्रा उसे एक ग्रत्यन्त गम्भीर एवं उदात्त स्वरूप प्रदान करता है, वहाँ रीति-सम्प्रदाय काव्य के केवल वाह्य-पक्ष या शैली-पक्ष की ही व्याख्या प्रस्तुत करता है। रीति-सिद्धान्त में जिन गुणों को ग्राधार बनाया गया था, वे भी रस-सिद्धान्ती भ्राचार्य भरत से ही उधार लिये हुए थे—किन्तु इस थोड़ी-सी पूँजी के बल पर ही काव्य-शास्त्र का पूरा भवन खड़ा करना बहुत कठिन था। इसी प्रकार भ्रलंकार-सम्प्रदाय के भी ऋण से वामन मृक्त नहीं कहे जा सकते। गुणों की अपेक्षा अलंकारों को हीन सिद्ध करने का जो प्रयास वामन ने किया, उसमें भी उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर भी वामन शैली-पक्ष को ही महत्त्व देने के कारण रस-सिद्धान्त की ग्रपेक्षा ग्रलंकार-सिद्धान्त के ग्रधिक समीप पड़ते हैं। (वक्रोक्ति ग्रौर घ्वनि की ग्रपेक्षा भी रीति का क्षेत्र श्रधिक संकीर्ण है।) जहाँ कुन्तक ने वक्रोक्ति के श्रन्तर्गत काव्य के सूदमातिसूदम श्रवयव से लेकर उसके दीर्घतम रूप की व्याख्या भ्रत्यन्त स्पष्टता से की है, वहाँ वामन की सारी शक्ति गुणों के स्पष्ट विवेचन एवं अलंकार एवं दोषों के संग्रह में ही लग गई है फिर भी विशुद्ध सौन्दर्यवादी होने के नाते उनका आधारभूत दृष्टिकोण कुन्तक के दृष्टिकोण से बहुत कुछ मिलता है।

घ्वित-सम्प्रदाय की तुलना में भी रीति-सम्प्रदाय अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। घवित-सम्प्रदाय ने रस, अलंकार आदि को सम्मानपूर्वक अपना कर अपने गौरव को स्थायी बनाने का प्रयास किया जब कि रीति के प्रवर्त्तक ने रस और अलंकार को हेय स्थान देने का प्रयत्न किया। वस्तुतः घ्वित मत की सूचमता एवं व्यापकता के साथ रीति की कोई तुलना नहीं।

रोति श्रौर पाश्चात्य शैली

भारतीय रीति की ही भाँति पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी शैली की विवेचना बराबर होती रही $^{\mathrm{Cg}}$ $^{\mathrm{Jangarawadi Math-Collection, Varanasi.}}$ से भिन्न हो गया है

किन्तु प्राचीन युग में दोनों का विवेचन एवं वर्गीकरण जिस ढंग से हुम्रा है उसमें परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है। प्रसिद्ध ग्रीक ग्राचार्य प्लेटो ने शैली के तीन भेद किए थे—(१) सहज सरल, (२) विचित्र, (३) मिश्र । कहना न होगा कि यह वर्गीकरण रीति के भेदों से बहुत मिलता-जुलता है। इसी प्रकार श्ररस्तू ने शैली के दो मूल गुण बताए थे स्पष्टता ग्रौर ग्रौचित्य । साथ ही उन्होंने एक ग्रन्य स्थान पर शैली के चार दोषों का भी ग्राख्यान किया—(१) समासों का ग्रधिक प्रयोग, (२) ग्रप्रचलित शब्दों का प्रयोग, (३) दीर्घ, अनुपयुक्त तथा अधिक विशेषणों का प्रयोग, (४) दूरारूढ़ तथा अनुपयुक्त रूपकों का प्रयोग । ग्ररस्तू के ये दोष भारतीय ग्राचार्यों के दोष-निरूपण के ग्रनुकूल ही हैं।

उपर्युक्त ग्राचार्यों के ग्रतिरिक्त ग्रीर भी ग्रनेक पाश्चात्य ग्राचार्यों ने शैली का विवेचन रीति से मिलता-जुलता किया है। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के रोमन विद्वान् सिसरो ने शैलो के श्राधारभूत तत्त्वों के अन्तर्गत इन चार गुणों की गणना की है— (१) उपयुक्त शब्द-चयन, (२) स्पष्टता, (३) सामंजस्यपूर्ण पद-रचना ग्रीर (४) वर्ण-ुम्फ ग्रथीत् स्वर ग्रौर व्यंजनों की मधुर योजना । ग्रागे चलकर डायोनीसियस ने भी शैली के तीन प्रमुख गुणों - शुद्धता, स्पष्टता ग्रीर समास तथा ग्रनेक गौण गुणों -सजीवता, उदात्तता, गरिमा, शक्ति, शोभा ग्रादि का ग्राख्यान करते हुए उसके तीन भेद किए हैं — कठिनोदात्त, मसृण या सज्जित और मिश्र । क्विन्टीलियन ने भारतीय भ्राचार्यों की भाँति शैलियों का नामकरण भी भौगोलिक ग्राधार पर किया, जैसे—ऐटिक, एशियाटिक और रहोडियन। पं० बलदेव उपाध्याय ने तीनों को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी ग्रीर पांचाली के समकक्ष रक्खा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली सम्बन्धी प्राचीन पाश्चात्य विवेचन भारतीय रीति के सर्वथा अनुकूल है, किन्तु आधुनिक युग तक आते-आते पाश्चात्य विद्वानों के शैली-सम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर श्रा गया। उन्नीसवीं शताब्दी में वर्ड्सवर्थ तथा ग्रन्य स्वच्छन्दतावादी साहित्यकारों ने सहज-स्वाभाविक शैली के पक्ष में प्रचार किया तथा चेष्टापूर्वक प्रयुक्त शैली को साहित्य के लिए अनुपयुक्त सिद्ध किया। दूसरी ग्रोर क्रोचे के ग्रभिव्यंजनावाद ने भी सहज-स्वाभाविक ग्रभिव्यंजना को ही काव्य के लिए वांछनीय सिद्ध किया। वस्तुतः उनके विचार से तो शैली की पृथक् सत्ता मानना ही श्रनुचित है। पेटर ग्रीर रैले ने भी शैली का सम्बन्ध मस्तिष्क ग्रीर ग्रात्मा से बताते हुए उसे रचिता के व्यक्तित्व का ग्रविच्छेद्य ग्रंग माना । इस प्रकार पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में शैली व्यक्ति-सापेक्ष हो गई-अर्थात् हर व्यक्ति की अपनी शैली होती है-इस तथ्य को मान लिया गया। ऐसी स्थिति में शैली का सामान्य रूप निश्चित करना स्वतः ही ग्रनावश्यक हो गया। यद्यपि भारतीय विद्वानों में से भी श्रनेक ने शैली को व्यक्ति-सापेक्ष माना है, फिर भी उन्होंने उसके सामान्य गुणों की उपेक्षा नहीं की। ग्रस्तु, ग्राज की शैली सम्बन्धी मान्यताग्रों में रीति के निम्नांकित भेद मिलते हैं—

(१) रीति के कुछ निश्चित भेद किए जा सकते हैं जबिक शैली का कोई निश्चित

रूप या भेद निर्धारित करना कठिन है । CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

- (२) रीति विषय-सापेक्ष है जबिक शैली व्यक्ति-सापेक्ष ।
- (३) रीति में पाठक या सामाजिक की दृष्टि को प्रमुखता प्राप्त है जबिक शैली में किव या रचियता की दुष्टि को।
- (४) रीति के लिए अध्ययन, अभ्यास एवं प्रयत्न अपेक्षित है जबिक शैली सहज-स्वाभाविक रूपों को सूचित करती है।
 - (५) रीति परम्परा की प्रतीक है जबिक शैली स्वच्छन्दता की।

रोति-सम्प्रदाय का महत्त्व

रीति-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के अनन्तर अव हम अपने दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन कर सकते है। सबसे पहले तो हमें यह देखना है कि रीति-सिद्धान्त ने भारतीय काव्य-शास्त्र को क्या कुछ नया दिया ? क्या वामन के ग्रन्थ के कारण काव्य की ग्रात्मा सम्बन्धी समस्या के समाधान में कोई सहायता मिली ? इन प्रश्नों के उत्तर में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वामन ने जो कुछ दिया वह उनका अपना नहीं है। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, उनके सिद्धान्त मुख्यतः गुण, दोष भ्रौर मलंकारों पर भ्राधारित हैं भ्रौर ये तीनों ही पूर्व विद्वानों द्वारा विवेचित हैं। उनका गुण-दोषों का विवेचन तो बहुत कुछ भरत के नाट्यशास्त्र पर श्राघारित है जबिक ग्रलंकार सम्बन्धी सारी सामग्री भामह ग्रौर दण्डी से ली हुई है। इस क्षेत्र में वामन को मौलिकता यह है कि एक तो उन्होंने गुण ग्रौर दोषों का शब्द ग्रौर अर्थ आदि के आधार पर अलग-अलग वर्गीकरण किया तथा दूसरे, उन्होंने गुणों को अलंकार से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया। किन्तु उनका गुणों का विवेचन इतना श्रधिक ग्रस्पष्ट है कि उनके प्रयास को सफल नहीं माना जा सकता।

रीतियों का वर्गीकरण भी वामन का सर्वथा श्रपना नहीं है। जैसा कि श्रारम्भ में कहा जा चुका है, वामन से पूर्व भी वैदर्भी एवं गौड़ी मार्ग का भेद प्रचलित हो चुका था, ग्रतः उसमें एक नया भेद ग्रौर बढ़ा देना कोई ग्रधिक महत्त्व की बात नहीं है। हाँ, रीति को काव्य की ब्रात्मा घोषित करने का साहस ब्रवश्य ही ब्रपने ब्राप में ब्रद्भुत है। पर यहाँ भी वे बड़ी भारी दुविधा में पड़ गए-एक ग्रोर वे सौन्दर्य को ही काव्य का प्रमुख गुण घोषित कर बैठे तो दूसरी भ्रोर वे रीति को उसकी ग्रात्मा मान बैठे। काव्य में सौन्दर्य ही साध्य होता है, रीति तत्त्व तो उसका साधन मात्र है, किन्तु उन्होंने साधन को साध्य से भी श्रधिक महत्त्व दे डाला । इसके श्रतिरिक्त उन्होंने विभिन्न रोतियों का क्षेत्र-विभाजन भी भली-भाँति नहीं किया-वैदर्भी को दस गुणोंवाली तथा शेष को दो-दो गुणोंवाली घोषित कर दिया। ऐसी स्थिति में जहाँ दो से लेकर नौ तक गुण हों, उन्हें कौन-सी रीति में स्थान दिया जाय इसका निर्णय करना ग्रसम्भव है। दूसरे, वैदर्भी के दस गुणों में भी परस्पर विरोध है (जैसे—ग्रोज ग्रौर माघुर्य), ऐसी स्थिति में उन सबको एक स्थान पर कैसे एकत्रित किया जा सकता है ? साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि वामन ने जिन गुणों की गणना की है, केवल उन्हीं के भ्राघार पर किसी रचना में काव्यत्व की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए विज्ञान की पुस्तक भी सरल,

स्पष्ट एवं गम्भीर शैली में लिखी जा सकती है, किन्तु इसी से उसे काव्य नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वामन का गुण-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर्याप्त ग्रसंगत, ग्रस्पष्ट एवं ग्रव्या-वहारिक है। यदि वामन को कहीं सफलता मिली भी है तो वह उनके ग्रंथ के ग्रलंकार एवं दोष सम्बन्धी ग्रंश हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक किसी पूर्व-प्रचलित सिद्धान्त को समभने-समभाने की बात है, वामन उसमें पर्याप्त कुशल हैं, किन्तु ज्योंही वे कुछ नया कहने का प्रयास करते हैं, वहीं वे ग्रस्पष्ट एवं दुविधा-ग्रस्त हो जाते हैं।

ग्रस्तु, ग्राचार्य वामन के प्रति हमारी पूरी श्रद्धा होते हुए भी हम उनकी देन को बहुत वड़ी न मानने के लिए विवश हैं। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उन्होंने एक नये सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन का साहस किया—ग्रल्प शक्ति के वल पर ही महान् कार्य करने का प्रयास किया। उनकी रीति काव्य की ग्रात्मा भले ही न वन पाए, किन्तु उसका काव्य से कोई-न-कोई सम्वन्ध तो है ही। कम-से-कम जो लोग शैली पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करते हैं, उनके लिए तो वामन का मत चेतावनी देने के लिए पर्याप्त है। ग्रतः डा० नगेन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है—''वाणी के विना ग्रर्थ गूँगा है। शैली के ग्रभाव में भाव उस कोकिल के समान ग्रसहाय है जिसे विधाता ने हृदय की मिठास देकर भी रसना नहीं दी। ''इस दृष्टि से शैली तत्त्व की ग्रनिवार्यता ग्रसंदिग्ध है ग्रौर रीतिवाद ने उस पर वल देकर काव्य-शास्त्र का निःसन्देह ही उपकार किया है।''

: बारह :

ध्वनि-सम्प्रदाय ग्रौर उसके सिद्धान्त

- १. विषय-प्रवेश ।
- २. शब्द-शक्तियाँ ।
- ३. घ्वनि की परिभाषा।
- ४. ध्वनि का ग्रस्तित्व।
- ५. वाच्यार्थं ग्रौर व्यंग्यार्थं में ग्रन्तर।
- ६. काव्यत्व का ग्रधिवास कहाँ ?
- ७. घ्वनि के भेद।
- ५. व्विन-सम्प्रदाय का महत्त्व।

भारतीय काव्य-सम्प्रदायों में ध्विन-सम्प्रदाय का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ ग्रानन्दवर्धन द्वारा रिचत 'ध्वन्यालोक' है, किन्तु स्वयं ग्रानन्दवर्धन ने एक स्थान पर लिखा है—''काव्यस्यात्मा ध्विनिरिति बुधैर्यः समाम्नात-पूर्वः'' जिससे पता चलता है कि ध्विन की परम्परा उनसे पहले भी रही है। फिर भी ग्रानन्दवर्धन से पूर्व का कोई ग्रंथ न मिलने के कारण ध्विन की प्रतिष्ठा एवं उसकी परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय उन्हें ही दिया जाता है। ध्विन-सम्प्रदाय के ग्रनुसार काव्यकी आत्मा ध्विन है तथा ध्विन का सम्बन्ध व्यंजना-शक्ति से है—ग्रतः ध्विन-सिद्धान्त को सम्यक् रूप से समभने के लिए पहले शब्द-शक्तियों का थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लेना उचित होगा।

शब्द-शक्तियाँ

भारतीय शास्त्रों में भाषा की ग्रर्थ सूचित करने की क्षमता को शक्ति या वृत्ति के नाम से पुकारा गया है। इन शक्तियों की गणना विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है, जिनसे इनकी कुल संख्या ६-७ तक पहुँच जाती है—जैसे, ग्रमिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य, रसना, भावना, भोग ग्रादि। इनमें से प्रथम तीन शब्द-शक्तियाँ हैं, चतुर्थ का सम्बन्ध शब्द से न होकर वाक्य से है तथा शेष तीन काव्य की ही विशिष्ट शक्तियाँ हैं जो ग्रर्थ के भावन या रसास्वादन में योग देती हैं। ध्विन का सम्बन्ध मुख्यतः शब्द-शक्तियों से ही है—ग्रतः यहाँ केवल शब्द-शक्तियों—ग्रभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना—का ही विवेचन क्रमशः किया जायगा।

(क) ग्रिभिधा—शब्द की जिस शक्ति के कारण उसका साक्षात्संकेतित ग्रर्थ सूचित होता है, या यों किहए कि उसका सामान्य सर्वप्रचलित या उससे सीधा सम्बन्ध रखनेवाला ग्रर्थ प्रकट होता है, उसे ग्रभिधा शक्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए—मकान, कुर्सी, मनुष्य, गधा ग्रादि के उच्चारण मात्र से जो ग्रर्थ-बोघ होता है, वही ग्रभिघात्मक ग्रर्थ है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि इस ग्रभिधात्मक ग्रर्थ को बनानेवाला कौन है? इसके उत्तर में विद्वानों ने विभिन्न वातें कही हैं। प्रसिद्ध भारतीय नैयायिक गदाधर भट्टाचार्य के मत से परम्परागत सामान्य शब्दों का ग्रर्थ ईश्वर ने निश्चित किया है जव कि शास्त्रीय या पारिभाषिक शब्द शास्त्रकारों द्वारा गढ़े हुए हैं। भट्टाचार्य का यह मत भ्रव बहुत पुराना हो गया है। यदि हमारे शब्द या शब्दार्थ स्वयं ईश्वर के द्वारा गढ़े हुए होते तो सभी मनुष्यों के द्वारा एक जैसे ही शब्द प्रयुक्त होते, इतनी भाषाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। वस्तुतः श्राज के युग में जविक स्वयं ईश्वर के ही श्रस्तित्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुग्रा है, भट्टाचार्य के मत को मान्यता देना बहुत कठिन है।

पाश्चात्य विकासवादियों के मत से मानव जाति की उन्नति एवं समाज के आर्थिक विकास के साथ-साथ शब्दों ग्रीर भाषा का विकास क्रमशः होता गया। निःसंदेह सामा-जिक विकास के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हो सकते हैं जिन्होंने अभिघात्मक ग्रर्थ के सूचक शब्दों के विकास में योग दिया होगा, किन्तु फिर भी मूल कारण के सम्बन्ध में हम उपर्युक्त विकासवादी मत को ही स्वीकार करना उचित समभते हैं।

- (ख) लक्कणा—ग्रभिधा के ग्रनन्तर दूसरी महत्त्वपूर्ण शब्द-शक्ति लक्षणा है। इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है—''मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्धित ग्रन्य ग्रर्थ लक्षित हो, उसे लक्षणा कहते हैं। इसे भली-भाँति समभने के लिए लक्षणा के मुख्यतः तीन लक्षण निर्घारित किए जा सकते हैं—(१) मुख्यार्थ की बाधा—मुख्यार्थ से तात्पर्य है—वाच्यार्थ या ग्रिभिधेयार्थ। जहाँ लक्षणा शक्ति होती है वहाँ वाच्यार्थ या ग्रिभिघेयार्थ लागू नहीं होता । उदाहरण के लिए यदि किसी मनुष्य के लिए कहा जाय कि 'वह गधा है' तो गधे शब्द का सामान्य प्रचलित ग्रर्थ लागू नहीं होगा। (२) लक्षणा का दूसरा लक्षण यह है कि वह भिन्न ग्रर्थ जो कि लागू होता है विल्कुल ऊपर से थोपा हुग्रा भी नहीं होना चाहिए, उसका वाच्यार्थ से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। जैसे, गधे को सामान्यतः मूर्ख समभा जाता है, अतः इसी सम्बन्ध से गधे का अर्थ भी मूर्ख कर लिया जाता है। (३) तीसरे, लक्षणा में भिन्न ग्रर्थ का प्रयोग दो कारणों से होता है—यह तो परम्परा के निर्वाह के कारण या फिर किसी विशेष प्रयोजन से। उदाहरण के लिए—जंगल जाना, नित्य-कर्म, हरिजन ग्रादि शब्द परम्परा-निर्वाह को सूचित करते हैं तो 'गरीब की कुटिया'—'चरण-सेवक' श्रादि विशेष प्रयोजन को प्रकट करते हैं। ग्रस्तु, उपर्युक्त तीन लक्षणों के श्राधार पर ही श्रिभिधा और लक्षणा का भेद स्पष्ट किया जा सकता है।
 - (ग) व्यंजना—ग्रभिधा और लक्षणा से भिन्न ग्रर्थ-शक्ति को व्यंजना कहा जाता है। साहित्य-दर्पणकार के शब्दों में, "ग्रपना-ग्रपना ग्रर्थ बोधन करके ग्रिमधा ग्रादि वृत्तियों के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ बोधन होता है, वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहनेवाली वृत्ति व्यंजना कहलाती है।" डा॰ भोलाशंकर व्यास ने इसे भ्रौर भ्रधिक स्पष्ट CC-0: Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

करते हुए लिखा है—''जिस प्रकार कोई वस्तु पहले से ही विद्यमान किन्तु गूढ़ वस्तु को प्रकट कर देती है, उसी प्रकार यह शक्ति मुख्यार्थ या लक्ष्यार्थ के भीने पर्दे में छिपे हुए व्यंग्यार्थ को स्पष्ट कर देती है। यह वह शक्ति है, जो वाह्य सौन्दर्थ के रेशमी पर्दे को हटाकर काव्य के वास्तविक लावण्य को व्यक्त करती है। इसीलिये इसे व्यंजना माना गया है, क्योंकि यह 'एक विशेष प्रकार का ग्रंजन' है ग्रंथीत् ग्रभिधा या लक्षणा द्वारा ग्रप्तकाशित ग्रंथ को प्रकाशित कर देता है। उदाहरण के लिए ग्राफिस में बैठा हुन्ना कोई ग्रफ्त अपने क्लकं से कहे ''मैं जा रहा हूँ', तो इसका मुख्यार्थ इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना इसका यह व्यंग्यार्थ कि ''ग्रव ग्राफिस का काम तुम सम्हालो।'' वस्तुतः इसी व्यंजना-शक्ति को ध्वनि-सम्प्रदाय में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। व्यंजना के द्वारा व्यक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान ग्रंथ कहते हैं। ग्रानन्दवर्धन ने ग्रपने ग्रंथ में प्रतीयमान ग्रंथ की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसे ही काव्य की ग्रात्मा स्वीकार किया है। इसके सम्बन्ध में वे लिखते हैं:

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाग्गीषु महाकवीनाम्। यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवांगनासु।। काव्यस्यात्मा स एवार्यंस्तथा च।दिकवेः पुरा। क्रौंच-द्वन्द्व-वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।

श्रयात् "प्रतीयमान (ग्रयं) कुछ श्रौर ही वस्तु है जो रमिणयों के प्रसिद्ध श्रवयवों (मुख, नेत्रादि) से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में भासित होती है। काव्य की श्रात्मा का वही श्रयं है। इसी से प्राचीनकाल में क्रौंच पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न श्रादिकवि वाल्मीकि का शोक श्लोक रूप में परिणत हो गया।" श्रस्तु, इससे स्पष्ट है कि घ्वनि-सम्प्रदाय में व्यंग्यार्थ का कितना श्रधिक महत्त्व है।

घ्वनि की परिभाषा

घ्वित की परिभाषा करते हुए घ्वन्यालोककार ने लिखा है—''जहाँ ग्रर्थ स्वयं को तथा शब्द ग्रपने ग्रभिधेय ग्रर्थ को गौण करके प्रतीयमान ग्रर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने घ्वित कहा है।'' इसका ग्रभिप्राय यह है कि घ्वित में व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान) ग्रर्थ तो होता ही है, किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है; उस प्रतीयमान ग्रर्थ का वाच्यार्थ से ग्रधिक महत्त्वपूर्ण होना ग्रपेक्षित है। या यों कहिए कि जहाँ व्यंग्यार्थ प्रमुख एवं वाच्यार्थ गौण हो, वहीं घ्वित मानी जा सकती है। प्रश्न है व्यंग्यार्थ को प्रमुखता किस कारण से प्राप्त हो सकती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि सौन्दर्य के ग्राधार पर ही व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान हो सकता है। ग्रतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से ग्रधिक सुन्दर हो, वहीं घ्वित का ग्रस्तित्व स्वीकार किया जायेगा। किन्तु साथ ही, ग्रानन्दवर्धन ने दूसरी स्थित की भी पूर्ण ग्रपेक्षा नहीं की—ऐसा काव्य जहाँ कि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम सुन्दर हो तथा वह वाच्यार्थ का ग्रंग वन जाता हो, उसे उन्होंने 'गुणीभूत व्यंग्य' की संज्ञा दी है ग्रौर जहाँ व्यंग्यार्थ ग्रस्कुट रहता है, उसे 'चित्र काव्य' कहा है। इस प्रकार काव्य की तीन श्रेणियाँ व्यंग्यार्थ ग्रस्कुट रहता है, उसे 'चित्र काव्य' कहा है। इस प्रकार काव्य की तीन श्रेणियाँ

हुई—ध्विति, गुणीभूत व्यंग्य ग्रौर चित्र, जो क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट कोटि के काव्य को सूचित करती हैं। ध्वनि का ग्रस्तित्व

क्या गुण, अलंकार आदि से पृथक् घ्विन नाम का भी कोई अलग तत्त्व होता है—यह शंका भी अनेक बार अनेक विद्वानों द्वारा उठाई गई है। इतना ही नहीं, घ्वनि के विरोधियों ने तो व्विन के मूलाधार व्यंग्यार्थ तक के ग्रस्तित्व को भी ग्रस्वीकार किया है। व्वित-विरोधियों के मुख्यतः ये चार वितर्क हैं—(१) व्यंजना की ग्रिभिधा से पृथक् सत्ता नहीं है। (२) व्यंजना की लक्षणा से पृथक् सत्ता नहीं है। (३) प्रतीयमान ग्रर्थ या तथाकथित व्यंग्यार्थ अनुमान से ग्रहण होता है, अतः व्यंजना ग्रीर व्विन को मानने को ग्रावश्यकता नहीं। (४) ध्वनि का समन्वय समासोक्ति, ग्रप्रस्तुत-प्रशंसा ग्रादि ग्रलंकारों में किया जा सकता है। इनमें से ग्रनेक ग्राक्षेपों का खंडन स्वयं घ्वन्या-लोककार ग्रपने ग्रन्थ के ग्रारम्भ में कर चुके हैं । हम यहाँ पर पुनः संक्षेप में विचार कर सकते हैं।

सर्वप्रथम हम ग्रभिधावादियों को ले सकते हैं। इनके भी पाँच वर्ग हैं—(१) ग्रभिहितान्वयवादी, (२) ग्रन्विताभिधानवादी, (३) निमित्तवादी, (४) दीर्घतरा-भिधाव्यापारवादी, (५) तात्पर्यवादी । म्रिभिहितान्वयवादियों के मत से वाक्य में प्रयुक्त शब्द सबसे पहले ग्रपने-ग्रपने ग्रभिधेय ग्रर्थ को सूचित करते हैं, तदनंतर वे परस्पर मिल-कर पूरे वाक्य का ग्रर्थ प्रकट करते हैं, जिसे तात्पर्यार्थ कहते हैं। व्यंग्यार्थ को वे तात्पर्यार्थं का ही ग्रगला रूप मानते हैं, उससे पृथक् नहीं मानते । निस्संदेह, इस वर्ग के विद्वानों का यह तर्क बहुत कमजोर है। वे व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ का ग्रगला रूप मानकर न केवल दोनों का पार्थक्य स्वीकार कर लेते हैं, ग्रपितु यह भी मान लेते हैं कि व्यंग्यार्थ

तात्पर्यार्थ से अधिक विकसित होता है।

ग्रन्विताभिधानवादियों के ग्रनुसार भी व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से पृथक् नहीं है—वह शब्दों के अन्वित अर्थ से ही प्रकट होता है। इस वर्ग के विद्वान् अभिधा पर इतना बल देते हैं कि वे तात्पर्य-शक्ति को भी स्वीकार नहीं करते।

तीसरा वर्ग निमित्तवादियों का है, जिसके विचार से प्रतीयमान ग्रर्थ के निमित्त शब्द ही हैं-शब्द ग्रीर प्रतीयमान ग्रर्थ में कारण-कार्य सम्बन्ध है। ग्रस्तु, वे व्यंग्यार्थ का निमित्त शब्द एवं ग्रिभिधा शक्ति को मानते हुए व्यंजना की कल्पना को ग्रावश्यक मानते हैं। इस मत का खंडन भी ग्रागे चलकर मम्मट ने सफलतापूर्वक कर दिया है।

चौथा वर्ग दीर्घतराभिधाव्यापारवादियों का है। इस मत के अनुसार किसी भी शब्द भ्रौर वाक्य से जितने भी मर्थ प्रतीत होते हैं, उन सभी में भ्रमिधा शक्ति का ही कार्य होता है। ग्रिभिधा शक्ति किसी एक ही ग्रर्थ को प्रकट करके क्षीण नहीं हो जाती, ग्रिपितु वह ग्रन्य ग्रथों की भी प्रतीति करती रहती है। ग्रिभिधा के इस दीर्घतर व्यापार को तीर या बाण के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। जब एक तीर किसी के शरीर में लगता है तो वह उस व्यक्ति के कवच को विद्ध करता है, हृदय में घुसता है भौर उसके प्राण ले लेता है। ग्रब बताइए कि ये तीनों कार्य श्रकेले तीर की शक्ति से ही हुए या किन्हीं अन्य शक्तियों से ? यदि इसका उत्तर 'अकेले तीर की शक्ति से ही' है, तो फिर यह भली-भाँति कहा जा सकता है कि वाक्य से प्रकट होने वाले वाच्यार्थ. लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ ग्रादि सभी ग्रकेली ग्रभिधा की ही देन हैं।

इस मत के प्रवर्तक भट्टलोल्लट का एक अन्य तर्क यह है कि शब्द का अर्थ वही है जिसकी प्रतीति के लिए उसका प्रयोग किया गया हो। यदि कोई शब्द या वाक्य भिन्न श्चर्य सूचित करता है तो श्रवश्य ही वहाँ वक्ता ने उसे भिन्नार्थ में प्रयोग किया होगा तथा ऐसी स्थिति में उस भिन्नार्थ को ही वाच्यार्थ मानना चाहिए। ग्रस्तु, इस दृष्टिकोण से व्यंग्यार्थं का श्रस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। इसमें कोई संदेह नहीं कि भट्टलोल्लट के उपर्युक्त दोनों तर्क ही उनकी गहरी सूभ-बूभ एवं प्रवल तर्क-शक्ति को सूचित करते हैं किन्तु इनका खंडन भी किया जा सकता है। पहले तर्क में उन्होंने एक ही तीर के द्वारा होने वाले कार्यों की तुलना विभिन्न भ्रथों से की-किन्तु सादृश्य की दृष्टि से यह तुलना ठीक नहीं बैठती । वाच्यार्थ ग्रौर व्यंग्यार्थ में उतना ही ग्रन्तर नहीं है जितना कि हृदय में तीर लगने ग्रौर प्राणान्त हो जाने में है। हमारे विचार से यदि तीर का उदाहरण दिया ही जाय तो वह इस प्रकार होना चाहिए--शत्रु का तीर सेनापित को लगता है, उससे सेनापित घायल हो जाता है, सेनापित के घायल हो जाने के कारण सारी सेना भाग जाती है, पराजित हो जाती है। श्रस्तु, तीर लगने में श्रौर सेना के पराजित होने में जितना अन्तर है, लगभग उतना ही अन्तर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार तीर लगने का परिणाम होते हुए भी सेना की पराजय को उससे ग्रिभिन्न नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वाच्यार्थ ग्रौर व्यंग्यार्थ को भी एक नहीं कहा जा सकता।

दूसरे तर्क के सम्बन्ध में निवेदन है कि प्रत्येक वक्ता शब्दों का प्रयोग सदा वाच्यार्थ में ही नहीं करता, वह जान-बूभकर कई बार उन्हें व्यंग्यार्थ में प्रयुक्त करता है। जो सिद्धि उसे व्यंग्यार्थ से उपलब्ध होती है, वह उसे वाच्यार्थ से नहीं मिलती । ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाता है। कविवर विहारी ने जो बात 'निहं पराग निहं मधुर मधु' के माघ्यम से व्यंग्यपूर्वक कही थी, वही यदि वाच्यार्थ में कह दी गई होती तो उन्हें ग्रपने लक्ष्य में सफलता नहीं मिलती। ग्रस्तु, यह एक भ्रान्त धारणा है कि जान-बूभकर व्यंग्य का प्रयोग किए जाने पर वह 'वाच्यार्थ' या वाच्यार्थ की कोटि का हो जाता है।

श्रमिवावादियों में पाँचवाँ वर्ग तात्पर्य-शक्ति को मानता है। घनंजय के श्रनुज धनिक ने व्यंजना के स्थल पर तात्पर्य-शक्ति का समर्थन करते हुए लिखा था-- 'व्यंग्यार्थ वस्तुतः तात्पर्य ही है। प्रतीयमान ग्रर्थं तात्पर्य से भिन्न नहीं है। ग्रतः उसे व्यंजना द्वारा प्रतिपाद्य नहीं माना जा सकता न उसका व्यंजक काव्य ही ध्विन है। तात्पर्य तो वस्तुतः जहाँ तक कार्य होता है वहाँ तक फैला रहता है । तात्पर्यं को तराजू पर तोलकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह इतना ही है, यहीं तक है इससे श्रधिक नहीं। निस्संदेह विद्वान् व्याख्याता को मौलिकता प्रशंसनीय है, किन्तु यदि वे म्रर्थ का सारा कार्य-भार CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

ग्रुकेले तात्पर्य के कन्धे पर न डालकर उसका कुछ भाग व्यंग्य को भी सौंप देते तो सचमुच तात्पर्य ग्रौर व्यंग्य—दोनों के साथ ही ग्रधिक न्याय होता।

ग्रभी तक हम ग्रभिधावादियों से ही जूभते रहे हैं, किन्तु इनसे भी एक ग्रधिक सबल दल—लक्षणावादियों का हमारे सामने ग्रीर विद्यमान है। इतना ही नहीं, उधर ग्रनुमानवादी महिम भट्ट तो इस प्रकार प्रचंड हो रहे हैं, मानों वे ध्विन को विल्कुल धराणायी करके ही छोड़ेंगे। खैर, सबसे पहले हम लक्षणावादियों से ही वात करते हैं। उनकी प्रमुख दलील है—''जिस प्रकार मुख्यार्थ की संगति न बैठने पर उपचार से लक्ष्यार्थ का ग्रहण होता है, ठीक उसी प्रकार वाच्यार्थ की संगति बैठने पर ही प्रतीयमान ग्रर्थ की प्रतीति होती है, ग्रतः क्यों न प्रतीयमान ग्रर्थ को लक्ष्यार्थ का ही एक भेद मान लिया जाय?'' इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि व्यंग्यार्थ सदा लक्षणा के माध्यम से ही प्राप्त नहीं होता, उसकी उपलब्धि सीधे वाच्यार्थ या मुख्यार्थ से भो हो सकती है। जहाँ लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ के निष्क्रिय हो जाने पर ही काम करता है, वहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिक्रयता की द्या में भी ग्रपने कार्य में संलग्न हो जाता है। यों कहना चाहिए कि लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ की हिसा करके ही ग्रागे वढ़ता है जबिक व्यंग्यार्थ पूरा ग्रहिसक होता है। ऐसी स्थिति में भला दोनों एक कैसे हो सकते हैं?

घ्विन के सबसे बड़े विरोधी ग्राचार्य मिहम भट्ट ने तो इसके विरोध में पूरा एक ग्रन्थ--व्यक्ति-विवेक-ही लिख डाला । इसमें उन्होंने व्विन की परिभाषा, उसके भेदोप-भेदों ग्रादि का खंडन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि व्विन वस्तुतः भ्रनुमान से पृथक् नहीं है, भ्रतः उन्होंने घ्वनि के स्थान पर 'काव्यानुमिति' नाम प्रस्तावित किया। उनके विचार से ग्रर्थ के भी केवल दो ही प्रकार हैं - वाच्य तथा ग्रनुमेय। वाच्य भ्रयं से अनुमित अन्य अर्थ हेतु से जिसकी अनुमिति हो, वही अनुमेय है। इसी को व्विन-वादियों ने व्यंग्य या प्रतीयमान ग्रर्थ कहा है। इस प्रकार महिम जिस तत्त्व का खंडन करना चाहते थे, उसी को उन्होंने दूसरा नाम देकर स्वीकार कर लिया है। ग्रतः व्विन को चाहे 'व्यनि' कहा जाय या 'काव्यानुमिति', इसमें कोई विशेष म्रन्तर नहीं पड़ता। हाँ, घ्वनि के विरोध में एक प्रवल युक्ति और है—वह यह कि क्या घ्वनि को समासोक्ति, भ्रप्रस्तुत प्रशंसा ग्रादि ग्रलंकारों में समन्वित नहीं किया जा सकता ? इस युक्ति पर भी ग्रानन्दवर्धनाचार्य विचार कर चुके हैं ग्रौर इन ग्रलंकारों से घ्वनि की तुलना करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि एक तो इनमें घ्वनि की भाँति व्यंग्यार्थ को प्रमुखता प्राप्त नहीं होती, दूसरे घ्विन का क्षेत्र ग्रलंकारों से ग्रधिक व्यापक है, ग्रतः घ्विन में भले ही ग्रलंकारों का समन्वय किया जा सके, किन्तु ग्रलंकारों में व्विन को ग्रन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से यहाँ ग्रानन्दवर्धन के मत में थोड़ी दुर्वलता है। यह ठीक है कि जिन ग्रलंकारों से उन्होंने घ्वनि की तुलना की है, वे घ्वनि से थोड़े भिन्न हैं, किन्तु यदि उन्हें कोई साम्य रखने वाला ग्रलंकार मिल भी जाता तो क्या वे उसे व्वित का पर्याय स्वीकार कर लेते ? ग्रीर सही बात तो यह है कि एक ऐसा ग्रलंकार विद्यमान भी है-वह 'ग्रन्योक्ति' है। ग्रन्योक्ति में भी व्यंग्योक्ति की ही भाँति दो ग्रर्थ होते हैं तथा व्यंग्यार्थ CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

वाच्यार्थ से प्रमुख होता है। उदाहरण के लिए विहारी के इस दोहे को लीजिए— नींह पराग नींह मधुर मधु निहं विकास इहिं काल। प्रली कली ही सीं बंध्यो आगे कौन हवाल।।

उपर्युक्त दोहा यदि अलंकारवादियों की दृष्टि से अन्योक्ति है तो व्विनवादियों की दृष्टि से व्यंग्योक्ति या व्विन है—अतः कहना चाहिए कि व्विन भी एक विशेष प्रकार का अलंकार ही है, किन्तु उसे व्विनवादियों ने अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान कर दिया है। यहाँ हमारा लक्ष्य केवल व्विनि-सिद्धान्त का परिचय देना ही है, उसका खंडन करना नहीं, अतः इस सम्बन्ध में हम अधिक विचार अन्यत्र करेंगे।

वाच्यार्थ ग्रौर व्यंग्यार्थ में श्रन्तर

वाच्यार्थ ग्रौर व्यंयार्थ में निश्चित रूप से ग्रन्तर है, इसे स्पष्ट करने के लिए हमारे भ्राचार्यों ने ग्रनेक स्पष्ट ग्राधार निश्चित किए हैं, जो इस प्रकार हैं—

- (क) बाद्धा के अनुसार—वाच्यार्थ की प्रतीति प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है, जब कि व्यंग्यार्थ कुछ व्यक्ति ही समभ सकते हैं।
- (ख) स्वरूप—वाच्यार्थ ग्रीर व्यंग्यार्थ के स्वरूप में भी प्रायः ग्रन्तर होता है। उदाहरण के लिए यदि कहा जाय कि 'ग्राप तो बहुत दुबले हैं' तो इसका व्यंग्यार्थं वाच्यार्थ से बिल्कुल उलटा होगा।
- (ग) संख्या—वाच्यार्थ प्रायः एक ही होता है जब कि व्यंग्यार्थ भ्रनेक हो सकते हैं।
- (घ) निमित्त—वाच्यार्थ केवल शब्द-ज्ञान से ही समक्त में श्रा सकता है जब कि व्यंग्यार्थ को समक्तने के लिए प्रतिभा एवं बुद्धि भी श्रपेक्षित है।
- (ङ) काल—वाच्यार्थ की प्रतीति तुरन्त हो जाती है जब कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति उसके अनन्तर होती है।
- (च) कार्य—वाच्यार्थ से केवल विषय का ज्ञान होता है जब कि व्यंग्यार्थ ग्रानन्द या चमत्कार भी उत्पन्न करता है।
- (छ) ग्राश्रय—वाच्यार्थ केवल शब्दों पर ग्राश्रित रहता है जब कि व्यंग्यार्थ शब्द, श्रर्थ, वक्ता के लहजे, प्रसंग ग्रादि पर निर्भर होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाच्यार्थ ग्रौर व्यंग्यार्थ में निश्चित रूप से ग्रन्तर है, ग्रतः दोनों का पार्थक्य ही मानना उचित है।

काव्यत्व का ग्रधिवास कहाँ ?

घ्वित के सम्बन्ध में यह भी एक विवाद प्रचलित है कि काव्यत्व का ग्रिधवास उसके किस पक्ष में हैं:—वाच्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ? इस सम्बन्ध में ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रपने इन्दौर वाले भाषण में कहा था—''वाच्यार्थ के ग्रयोग्य ग्रौर ग्रनुपपन्न होने पर योग्य ग्रौर उपपन्न ग्रर्थ प्राप्त करने के लिए लक्षणा ग्रौर व्यंजना का सहारा लिया जाता है। ग्रव प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है ? वाच्यार्थ में ग्रथवा लक्ष्यार्थ में या व्यंग्यार्थ में ? इसका बेधहक जार प्राप्त प्राप्त वाच्यार्थ में , चाहे

वह योग्य हो या उपपन्न हो ग्रथवा ग्रयोग्य ग्रौर ग्रनुपपन्न ।' ग्रागे उन्होंने 'साकेत' से उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया—''ग्राप ग्रविध वन सक् कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ। में ग्रपने को ग्राप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।'—इसका वाच्यार्थ वहुत ग्रत्युक्त, व्याहत तथा बुद्धि को सर्वथा ग्रग्राह्य है। उमिला ग्राप ही मिट जायगी, तब ग्रपने प्रियतम लक्ष्मण को वन से लायेगी क्या ! पर सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत ग्रौर बुद्धि को ग्रग्राह्य वाच्यार्थ में ही है, इस योग्य ग्रौर बुद्धि-ग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उमिला को ग्रत्यन्त ग्रौत्मुक्य है। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।''

पं० रामदहिन मिश्र ने ग्राचार्य शुक्ल के इस मत का खंडन करते हुए शास्त्रीय ग्राधार पर काव्यत्व का ग्रधिवास व्यंग्यार्थ में ही सिद्ध किया है। इसी मत का समर्थन करते हुए डा॰ नगेन्द्र ने भी लिखा है—"िकसी रसात्मक वाक्य को पढ़कर हमें जो श्रानन्दानुभूति होती है, उसके लिए उस वाक्य का कौन-सा तत्त्व उत्तरदायी है ? उस वाक्य का वाच्यार्थ जिसमें शब्दार्थगत चमत्कार रहता है ? ग्रथवा व्यंग्यार्थ जिसमें प्रत्यक्ष या श्रप्रत्यक्ष रूप से भाव की रमणीयता रहती है ?....इस उक्ति की वास्तविक रमणीयता का सम्बन्ध रितजन्य व्यग्रता में ही है जो व्यंग्य है।" ग्रागे चलकर उन्होंने ग्रीर भी ग्रिधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है-शुक्ल जी का यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत ग्रीर बुद्धि को ग्रग्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य ग्रीर बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थं में नहीं कि उमिला को ग्रत्यन्त ग्रीत्सुक्य है। इसमें दो त्रुटियाँ हैं; एक तो र्जीमला को 'ग्रत्यन्त ग्रौत्सुक्य है' यह व्यंग्यार्थ नहीं रहा, वाच्यार्थ हो गया। ग्रौत्सुक्य की व्यंजना ही चित्त की चमत्कृति का कारण है, उसका कथन नहीं। दूसरे, जिस श्रनुपपन्नता पर वे इतना वल दे रहे हैं, वह रमणीयता का कारण नहीं, उसका एक साधन मात्र है। उसका यहाँ वही योग है जो रस की प्रतीति में ग्रलंकार का। उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है मानो विरोध करते-करते ग्रनायास ही किसी दुर्वल क्षण में शुक्ल जी पर क्रोचे का जादू चल गया हो।"

इस प्रकार यह विवाद एक साधारण बात से गम्भीर विषय बन गया है। इसके सम्बन्ध में हम दोनों ही ग्राचार्यों के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए ग्रपनी धारणा इस प्रकार निवेदित कर देना चाहते हैं—

- (क) वाच्यार्थ ग्रौर व्यंग्यार्थ में से काव्यत्व का ग्रधिवास कहाँ है ? यह प्रश्न वैसा ही है जैसा कि यह पूछना कि प्राण घड़ में रहते हैं या सिर में ? वस्तुतः जब तक सिर ग्रौर घड़ संयुक्त रहते हैं तब तक ही दोनों में प्राण रहते हैं, दोनों को पृथक् कर देने पर दोनों ही प्राण-हीन हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जब तक वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ में समन्वित है या व्यंग्यार्थ से ग्रावृत्त है तब तक ही उक्ति में काव्य-तत्त्व की सत्ता रहती है।
 - (ख) व्विन की परिभाषा एवं उसके किए गए पाँच ग्रथों के ग्रनुसार व्यंग्यार्थ से सम्बन्धित शब्द, ग्रर्थ (वाच्यार्थ), व्यंग्यार्थ, व्यंजना शक्ति, व्यंजित वस्तु, ग्रलंकार, रस ग्रादि ये सब 'व्विन' संज्ञा से ही ग्राभभाषित होने योग्य हैं। ग्रतः व्यंग्यार्थ जैसी निधि CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha का स्वामी वाच्यार्थ भी सामान्य दरिद्र वाच्यार्थ ही नहीं रहता, ग्रपितु वह घ्विन नामधारी वैभवशालियों की ही पंक्ति में श्रा विराजता है।

(ग) यदि किसी घ्विन-काव्य के दो अनुवाद तैयार करवाए जायँ, एक में केवल उसका वाच्यार्थ हो तथा दूसरे में उसका केवल व्यंग्यार्थ हो तो इस स्थिति में अवश्य ही काव्य-रिसक पहले अनुवाद को ही पसंद करेंगे; जैसे बिहारी के 'नीह पराग निह मधुर मधु' वाले दोहे के दोनों प्रकार के अनुवाद देखिए—

१-- ग्रनुवाद (केवल वाच्यार्थ)

इस कली में न तो ग्रभी पराग है, न ही मघुर मघु, ग्रौर न ही यह पूरी तरह खिल ही पाई है। हे भ्रमर! तू श्रभी से इसके वशीभूत हो गया, न जाने ग्रागे क्या हाल होगा ?

२—ग्रनुवाद (केवल व्यंग्यार्थ)

राजा जयसिंह से बिहारी कह रहे हैं कि तुम्हारी यह नवेली वधू अभी तो अल्प-वयस्क ही है, इसमें सौंन्दर्य, यौवन एवं अनुराग का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाया है फिर भी तुम इसके वशीभूत हो रहे हो तो फिर न जाने आगे क्या हाल होगा ?

निस्सन्देह यहाँ दूसरे धर्थ की ग्रपेक्षा पहला ही ग्रधिक ग्राकर्षक है, ग्रीर इसका कारण डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में दूसरे ग्रथं का वाच्यार्थ में परिणत हो जाना है। यही तो बेचारे व्यंग्यार्थ की सबसे बड़ी दुर्वलता है—वह वाच्यार्थ के विना जीवित नहीं रह पाता, जबिक वाच्यार्थ उसी के बल पर ऐश्वर्य एवं सम्मान का भागी होता है। ग्रस्तु, ग्राचार्य शुक्ल ने दुर्वल क्षणों में नहीं—ग्रपितु सोच-समभकर व्यंग्यार्थ की इस दुर्वलता का लाभ उठाया है। बाकी, 'व्यंग्यार्थ-समन्वित वाच्यार्थ' का ही नाम ध्विन है। ग्रतः दोनों के सह-ग्रस्तित्व में ही सौन्दर्य की सत्ता मानी जा सकती है, किसी एक में नहीं।

घ्वनि के भेद

घ्विन के सर्वप्रथम दो भेद किए जाते हैं—(१) ग्रिभधामूला ग्रौर (२) लक्षणामूला। जैसा कि इनके नाम से ही प्रतीत होता है, ग्रिभधामूला में सीधे ग्रिभधेय ग्रर्थ से
ही व्यंग्यार्थ घ्विनत हो जाता है, जबिक लक्षणामूला में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति
होती है। इसके भी ग्रनेक उपभेद हैं। ग्रिभधामूला के दो उपभेद हैं—(१) ग्रसंलच्यक्रम
घ्विन ग्रौर (२) संलक्ष्यक्रम घ्विन। जहाँ वाच्यार्थ के साथ-साथ ही व्यंग्यार्थ घ्विनत हो
जाता है—दोनों के बीच में कोई ग्रन्तर प्रतीत नहीं होता, वहाँ ग्रसंलच्यक्रम घ्विन कहते
हैं। जैसे—'ग्रिरे! घी तो यहाँ रुपये का दो छटाँक मिलता है।'' इसका व्यंग्यार्थ है कि
यहाँ महँगाई बहुत है। संलक्ष्यक्रम घ्विन में वाच्यार्थ ग्रौर व्यंग्यार्थ के बोघ होने का क्रम
प्रतीत हो जाता है, जैसे—

माली श्रावत देख के कलियाँ करें पुकार । फूले फूले चुनि लिए कालि हमारी बार ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

यहाँ माली के स्थान पर काल या मृत्यु सम्बन्धी जिस अर्थ का वोध होता है, वही व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अनुभूति के किंचित् वाद प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दो भेदों के भी अनेक भेद और किए गए हैं। असंलक्ष्यक्रम घ्वित के छः प्रकार—पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, वर्णगत, रचनागत और प्रवन्धगत तथा संलक्ष्यक्रम के तीन भेद—शब्द शक्त्युद्भव, अर्थ-शक्त्युद्भव और शब्दार्थोभय-शक्त्युद्भव किये गये हैं, जिनका सोदाहरण विवेचन पं० रामदिहन मिश्र ने अपने 'काव्यदर्पण' में किया है। हम यहाँ इन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण न समभक्षर छोड़ रहे हैं।

प्रव लक्षणामूला व्विन के भेदों को लीजिए। सर्वप्रथम इसके दो भेद—(१) प्रयान्तरसंक्रमित वाच्य एवं (२) ग्रत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—िकये गये हैं। यह तो हम पहले ही वता चुके हैं िक लक्षणा में मूल वाच्यार्थ की उपेक्षा होती है, िकन्तु उस उपेक्षा की भी दो कोटियाँ हैं—एक जहाँ थोड़ी उपेक्षा हो जाती है, दूसरी जहाँ विल्कुल हो जाती है। लक्षणामूला ध्विन के ये दोनों भेद क्रमणः इन्हीं दो कोटियों पर ग्राश्रित हैं। ग्राश्रित हैं। ग्राश्रित वाच्य में वाच्यार्थ थोड़ा-सा ग्रन्य ग्रर्थ में संक्रमित हो जाता है, जैसे—''राखी सजी पर कलाई नहीं है।'' यहाँ 'कलाई' का व्यंग्यार्थ है भाई की कलाई या वह भाई जिसको राखी बाँधी जा सके। स्पष्ट है िक यहाँ 'कलाई' का ग्रर्थ संक्रमित हो गया है। इसके विपरीत 'ग्रत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' में वाच्यार्थ का विल्कुल तिरस्कार हो जाता है; जैसे ''पेट में तो चूहे कूद रहे हैं।'' यहाँ व्यंग्यार्थ में 'चूहे' शब्द का ग्रर्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है।

ग्रिंभधामूला की भाँति लक्षणामूला के भी ग्रनेक उपभेद ग्रीर होते हैं जिनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है। हम ग्रपने लेख में इन सबको स्थान देना ग्रनावश्यक समभते हैं। हाँ, एक ग्रन्य प्रकार से घ्वनित काव्य का ग्रीर वर्गीकरण किया गया है, जो उल्लेखनीय है। इस वर्गीकरण के ग्रनुसार घ्वनि के तीन भेद होते हैं—(१) रस घ्वनि, (२) ग्रलंकार घ्वनि ग्रीर (३) वस्तु घ्वनि। इन तीनों में क्रमणः रस, ग्रलंकार ग्रीर वस्तु (तथ्य या विषय) की व्यंजना होती है तथा इनमें रस घ्वनि को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार घ्वनि-सम्प्रदाय ने रस को ग्रपने यहाँ सर्वोच्च स्थान देकर उसके साथ समभौता कर लिया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय का महत्त्व

जैसा कि हमने श्रभी कहा है, ध्वित-सम्प्रदाय ने रस को सर्वोच्च स्थान देकर उसके साथ समभौता कर लिया, किन्तु फिर भी यह विचारणीय है कि रस श्रीर ध्वित में से किसका श्रिषक महत्त्व है ? क्या ध्वित इतनी व्यापक है कि रस उसमें समा जाय ? हमारे विचार से ऐसा नहीं है। रस यदि साध्य है तो ध्वित उसकी साधिका मात्र है। रस का सम्बन्ध काव्य के श्राधारभूत तत्त्वों से है जबिक ध्वित केवल एक श्रिभव्यिक-प्रणाली है। यह ठीक है कि वह श्रिभव्यिक्त प्रणाली रसानुभूति के लिए सहायक सिद्ध होती है किन्तु फिर भी उसे श्राधारभूत तत्त्वों के समान महत्त्व नहीं दिया जा सकता। फिर यदि प्रतीयमान धर्शवाब्बी अभाग्यसा क्रीके उसकी सूल अर्थी को लिया जाय तो किव को

भ्रपनी सारी बात ऐसी भाषा में कहनी पड़ेगी, जहाँ दोहरे भ्रथं हों। यह घ्यान रहे कि घ्विन-सम्प्रदाय वालों ने रस घ्विन, अलंकार घ्विन आदि के भेद बना करके अपनी इस दोहरे भ्रथं वाली धारणा में थोड़ा संशोधन कर लिया, किन्तु फिर भी घ्विन का मूल लच्य तो प्रतीयमान भ्रथं ही है। इसके अतिरिक्त घ्विन-सम्प्रदाय भ्रपने भ्रापमें एक पूर्ण सिद्धान्त नहीं है, भ्रन्ततः वह रस भौर भ्रलंकार सम्प्रदाय को भ्राधार बनाकर ही आगे बढ़ सका।

घ्वित-सम्प्रदाय में अन्य सम्प्रदायों की भाँति कई त्रुटियाँ और असंगितयाँ भी हैं। एक और घ्वितकार प्रतीयमान अर्थ को ही काव्य की आत्मा मानते हैं तो दूसरी ओर घ्वित के पाँच अर्थों में प्रतीयमान अर्थ के अतिरिक्त घ्वित के अन्य अवयव भी सम्मिलत कर लिये गये हैं। प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता, अप्रधानता और शून्यता के आधार पर ही काव्य को उत्तम, मध्यम एवं अधम घोषित कर देना भी घ्वित्वादियों का अतिवाद है। सही बात तो यह है कि प्रतीयमान अर्थ भी चारुत्व या सौन्दर्य के हेतुओं में से एक है—यदि किसी अन्य हेतु से काव्य में चारुत्व आ जाता है तो काव्य मानने में क्या आपित है ? हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि वस्तुतः काव्य की आत्मा वह चारुत्व या सौन्दर्य ही है जिसका उल्लेख बार-बार घ्वन्यालोककार द्वारा हुआ है तथा घ्वित, अलंकार, रीति आदि ये सब उसी चारुत्व की उपलब्धि के साधन मात्र हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि घ्वित का स्थान इन साधनों में महत्त्वपूर्ण है।

: तेरह :

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय ग्रीर उसके सिद्धान्त

- १. 'वक्रोक्ति' शब्द की व्याख्या।
- २. वक्रोक्ति की परम्परा।
- ३. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण।
- ४. वक्रोक्ति : स्वरूप ग्रौर भेद ।
- ५. वक्रोक्ति सिद्धान्त ग्रौर ग्रभिव्यंजनावाद ।
- ६. उपसंहार।

'वक्रोक्ति' का ग्रर्थ है वह उक्ति जिसमें वक्रता हो; वक्रता का शाब्दिक ग्रर्थ है, टेढ़ापन, ग्रसामान्य, विचित्र ग्रादि। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक ग्राचार्य कुन्तक ने वक्रता का ग्रर्थ 'प्रसिद्ध कथन से भिन्न' ग्रर्थात् ग्रसामान्य या विचित्र ही किया है। ग्रस्तु, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के ग्रनुसार काव्य का सौन्दर्य उक्ति की विशिष्टता व विचित्रता में है तथा ऐसी उक्ति ही काव्य की ग्रात्मा है। इसी दृष्टिकोण को लेकर ग्राचार्य कुन्तक ने लगभग दसवीं शताब्दी में ग्रपने नये मत की स्थापना करते हुए 'वक्रोक्तिजीवितम्' की रचना की। इस ग्रंथ में प्रतिपादित ग्राधारभूत सिद्धान्त चाहे हमें स्वीकार्य हो या न हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्राचार्य कुन्तक में पर्याप्त प्रतिभा एवं नूतन विवेचन की क्षमता थी। यद्यपि परवर्ती विद्वानों ने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को ग्रपेक्षित महत्त्व प्रदान नहीं किया, किन्तु फिर भी हमारे विचार में मौलिकता एवं व्यापकता की दृष्टि से इसकी देन ध्विन-सम्प्रदाय से कम नहीं है।

वक्रोक्ति की परम्परा

श्रागे चलकर दंडी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति से पृथक् मानते हुए इसे भामह् की भाँति विभिन्न श्रलंकारों का मूलाधार माना है। किन्तु वामन ने इसे एक विशिष्ट श्रलंकार मात्र मानकर इसके क्षेत्र को संकुचित कर दिया। वामन परवर्ती छ्द्रट तो वक्रोक्ति के श्रौर भी श्रधिक विरोधी निकले—उन्होंने इसका स्वरूप इतना श्रधिक संकीणं कर दिया कि वह केवल एक शब्दालंकार मात्र रह गई। इस प्रकार भामह से लेकर ख्रुट तक वक्रोक्ति के क्रमिक हास की पूरी एक श्रृंखला चलती रहती है। यह ग्राश्चर्यं की वात है कि इस वैभव-वंचिता वक्रोक्ति को व्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता ग्राचार्य श्रानन्दवर्धन ने इतनी श्रधिक सम्मान प्रदान किया कि एक ही बार में श्रपनी समस्त खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः पा सकने में समर्थ हुई। ग्राचार्य ग्रानन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा—

सेवा । सर्वत्र वक्रोवितरनयाऽर्थो विभाव्यते । यत्नोऽस्यां कविना कार्यः, कोऽलंकारोऽनया विना ॥

अर्थात् यह सब वही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा अर्थ चमक उठता है। कवियों को इसमें विशेष प्रयत्न करना चाहिए। इसके बिना अलंकार है ही क्या ?

सम्भवतः ग्रानन्दवर्धन की इस प्रशंसा के कारण ही कुन्तक को इतना वल मिला कि वे व्विन-सम्प्रदाय के विरोध में वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए वक्रोक्ति को काव्य की श्रात्मा घोषित कर सके। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वक्रोक्ति के प्रति कुन्तक का दृष्टिकोण ग्रानन्दवर्धन से पर्याप व्यापक है। किन्तु परवर्ती ग्राचार्यों ग्रौर विद्वानों ने वक्रोक्ति को एक ग्रलंकार-विशेष के रूप में ही स्वीकार किया, उसका व्यापक रूप उन्हें मान्य नहीं हो सका।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के ग्राधारभूत सिद्धान्तों को समभने से पूर्व उसके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण से परिचित हो जाना ग्रधिक उपयोगी सिद्ध होगा। ग्राचार्य कुन्तक ने ग्रपने ग्रन्थ के ग्रारम्भ में ही ग्रपनी काव्य सम्बन्धी ग्रनेक धारणाग्रों को व्यक्त किया है। सबसे पूर्व वे 'काव्य' शब्द की विवेचना करते हुए वताते हैं— 'कवे: कर्म काव्यम्' ग्रथीत् किव का कर्म ही काव्य है। यहाँ प्रश्न उठता है—किव किसे कहते हैं ? कुन्तक इस सम्बन्ध में मौन हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'किव' शब्द की व्याख्या करना उन्होंने ग्रावश्यक नहीं समभा। खैर, ग्रागे चलकर वे काव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

शब्दार्थों सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि । बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।।

श्रयात्—काव्य-मर्गज्ञों को श्रानन्द देनेवाली सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार-युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द श्रौर ग्रर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। श्राचार्य कुन्तक की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि एक तो वे काव्य में शब्द श्रौर ग्रर्थ दोनों को समान महत्त्व देते हैं, दूसरे वे प्रत्येक रचना के लिए 'श्राह्लाद-कारिणी' होना श्रावश्यक मानते

१. यह उक्ति मूलतः भामह की है जिसे आनन्दबर्धन ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

हैं। डा॰ नगेन्द्र ने कुन्तक की इन्हीं मान्यताओं का सूक्ष्म विवेचन करते हुए निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं जो ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) ग्राचार्य कुन्तक के विचार से काव्य में वस्तु-तत्त्व एवं माच्यम या ग्रनुभूति

श्रीर श्रभिव्यक्ति—दोनों का तादात्म्य होता है।

- (२) काव्य का वस्तु-तत्त्व साधारण न होकर विशिष्ट होता है ग्रर्थात् उसमें ऐसे तथ्यों का वर्णन नहीं होता जो ग्रति प्रचलित होने के कारण प्रभावहीन हो गये हों।
 - (३) काव्य की ग्रभिव्यंजना-शैली ग्रसाधारण या ग्रहितीय होती है।

(४) ग्रलंकार काव्य का मूल तत्त्व है, केवल वाह्य भूषण मात्र नहीं।

(४) काव्य का काव्यत्व कवि-कौशल पर ग्राश्रित है—दूसरे शब्दों में काव्य एक कला है।

(६) काव्य की कसौटी काव्य-मर्मज्ञों का मनःप्रसादन है।

उपर्युक्त निष्कर्षों से स्पष्ट है कि कुन्तक का दृष्टिकोण विशुद्ध कलावादी या सौन्दर्यवादी था। किन्तु ग्राधुनिक कलावादियों की भाँति वह एकांगी नहीं था। ग्राधुनिक कलावादी केवल ग्रपने मनःप्रसादन को ही काव्य की कसौटी मानता है जविक कुन्तक विद्वान् पाठकों की ग्रनुभूति को ही प्रमाण मानते हैं—इसी ग्रन्तर के कारण कुन्तक संकीर्ण व्यक्तिवाद से ऊपर उठ जाते हैं।

वक्रोक्ति: स्वरूप श्रीर भेद

जैसा कि हमने ग्रारम्भ में कहा था, ग्राचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को ग्रत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण किया था। सर्वप्रथम तो उन्होंने उसकी परिभाषा ही ग्रत्यन्त व्यापक रूप में की ; दूसरे, उसके भेदोपभेद का निरूपण इतने विस्तार से किया कि उसमें वर्ण-विन्यास से लेकर प्रवन्ध-कल्पना तक काव्य के सभी ग्रंगों का सन्निवेश हो जाता है। कुन्तक द्वारा की गई वक्रोक्ति की परिभाषा इस प्रकार है—

उभावेतावलङ्कार्यो तयोः पुनरलंकृति । वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी-भणितिरुच्यते ॥—१।१०

ग्रर्थात् 'यह दोनों (शब्द ग्रौर ग्रर्थ) ग्रलंकार्य होते हैं तथा विदग्धतापूर्ण कयन

रूपी वक्रोक्ति ही उन दोनों की ग्रलंकार होती है।

यहाँ ग्रलंकार का ग्रर्थ व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए 'सौन्दर्य' समम्भना चाहिए। उद्भृत पंक्तियों में वक्रोक्ति को न केवल शब्द से या ग्रर्थ से—ग्रिपतु दोनों से सम्बद्ध माना गया है। वह मूल वस्तु न होकर उसकी साज-सज्जा होती है; उसमें कथन-शैली का समस्त चारुत्व समन्वित हो जाता है।

ग्राचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किये हैं—(१) वर्ण-विन्यास-वक्रता, (२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता, (३) पद-परार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता

भौर (६) प्रवन्ध-वक्रता । यहाँ हम प्रत्येक की भ्रलग-ग्रलग विवेचना करेंगे ।

१. वर्ण-विन्यास-वक्रता—कुन्तक के शब्दों में "जिसमें एक या दो या बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े श्रन्तर से वार-बार ग्रथित होते हैं, वह वर्ण-विन्यास-वक्रता ग्रथीत् वर्ण-

रचना की वक्रता कही जाती है।" यहाँ वर्ण से तात्पर्य व्यंजन से है। वस्तुतः व्यंजनों की इस आवृत्ति को अलंकार-सम्प्रदाय के शब्दों में अनुप्रास का नाम दिया जा सकता है। इस वर्ण-विन्यास-वक्रता के भी तीन प्रकार माने गये हैं--(१) वर्गान्त से युक्त स्पर्श ग्रर्थात् कसे लेकर मतक के व्यंजनों का ङ, ब, ण, न, म ग्रादि से योग। (२) तलनादय:--ग्रर्थात् त, ल, न ग्रादि द्वित्व रूप में बार-बार ग्रावृत्त हों। (३) उप-र्युक्त दोनों भेदों के ग्रतिरिक्त तीसरा भेद यह है कि जहाँ 'र' का वार-बार प्रयोग हो। वस्तुतः ये भेद भी रीति-गुणों—माधुर्य, ग्रोज, प्रसाद ग्रादि—के समन्वय की दृष्टि से किए गए प्रतीत होते हैं। इनके य्रतिरिक्त 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' के ग्रौर भी ग्रनेक उपभेद किये गए हैं जिससे सभी प्रकार के अनुप्रासों, वृत्तियों, यमकों आदि का इसमें अन्तर्भाव हो जाता है। साथ ही म्राचार्य कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के लिए कुछ म्रावश्यक प्रतिवन्ध भी निश्चित किये हैं । जैसे—एक तो वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत विषय के ग्रनु-कूल होनी चाहिए । दूसरे, वर्ण-विन्यास-वक्रता के लिए ग्रत्यन्त चेष्टा करना या ग्रसुन्दर वर्णों का प्रयोग उचित नहीं है। तीसरे, उसमें नवीन सौन्दर्य होना चाहिए। चौथे, उसमें प्रसाद गुण का होना भ्रावश्यक है। पाँचवें, वह श्रुति-सुखद भी होनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि कुन्तक ने वक्रता का उसी सीमा तक ही समर्थन किया है, जहाँ तक कि वह काव्य के सहज स्वाभाविक सौन्दर्य की ग्रिभवृद्धि में सहायक सिद्ध हो -- कृत्रिम रूप में प्रयुक्त वक्रोक्ति का समर्थन वे नहीं करते।

- २. पद-पूर्वार्घ-वक्रता—शब्द के ग्रारम्भ में उत्पन्न वक्रता या यों कहिए कि मूल धातु से सम्बन्धित वक्रता को ही पद-पूर्वार्घ-वक्रता कहते हैं। इसके भी ग्राठ भेद हैं: १. रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता, २. पर्याय-वक्रता, ३. उपचार-वक्रता, ४. विशेषण-वक्रता, ४. संवृत्ति-वक्रता, ६. वृत्ति-वक्रता, ७. लिंग-वैचित्र्य-वक्रता, ६. क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता। इनका पृथक्-पृथक् विवेचन यहाँ किया जाता है:—
- (१) **रूढ़ि-वेचित्र्य-वक्र**ता—जहाँ किव ग्रपनी प्रतिभा के वल पर किसी शब्द के रूढ़ या वाच्य ग्रर्थ को इस प्रकार परिवर्तित कर दे जिससे उक्ति में सौन्दर्य ग्रा जाय, उसे रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता कहते हैं। जैसे—
 - (क) तब ही गुन सोभा लहें, सहृदय जबहिं सराहिं। कमल कमल हैं तबहिं जब रवि-कर सों विकसाहि।।
 - (स्त) सीता हरण तात जिन कहहु पिता सन जाई। जो मैं राम तो कुल सहित कहिह दशानन आई।।

उपर्युक्त ग्रंशों में क्रमशः 'कमल' ग्रौर 'राम' रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता के उदाहरण

हैं।
(२) पर्याय-वक्रता—एक ही अर्थ के द्योतक अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं
किन्तु कवि उनमें से किसी एक को चुनकर उक्ति में वक्रता या सौन्दर्य उत्पन्न कर देता
है—इसी को पर्याय-वक्रता कहते हैं। जैसे—

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी!'

यहाँ यदि 'ग्रवला' के स्थान पर उसका दूसरा पर्यायवाची 'नारी' रख दिया जाय तो उसका मूल सौंदर्य नष्ट हो जायगा । ग्रस्तु, पर्यायवाची का कवि द्वारा ऐसा चुनाव ही पर्याय-वक्रता का उदाहरण है ।

(३) उपचार-वक्रता—'उपचार' शब्द का ग्रर्थ है—''ग्रत्यन्त विभिन्न पदार्थों में ग्रत्यन्त सादृश्य के कारण उत्पन्न होने वाली समानता या एकता, जैसे, 'मुख रूपी चन्द्र'।'' जहाँ भेद होते हुए भी ग्रभेद का ग्रनुभव हो, ऐसी वक्रता को ही उपचार-वक्रता कहते हैं। ग्रमूर्त्त पर मूर्त्त का ग्रारोप, ग्रचेतन पर चेतन का ग्रारोप, तथा रूपकादि ग्रलंकार इसी के ग्रन्तर्गत ग्राते हैं। इसका एक उदाहरण—

भींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर।

यहाँ 'तीर' ग्रौर 'चीर' उपचार-वक्रता के उदाहरण हैं क्योंकि भींगुर का स्वर मूलतः भिन्न होता हुग्रा भी यहाँ चीरने वाले तीर से ग्रभिन्न प्रतीत हो रहा है।

(४) विशेषण-वक्रता—जहाँ विशेषणों की विचित्रता या वक्रता के कारण काव्य में सौंदर्य हो, उसे विशेषण-वक्रता कहते हैं। उदाहरण—

सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप, जड़ित-पद, निमत-पलक—दृग-पात।

(५) संवृत्ति-वक्रता—जहाँ सर्वनाम ग्रादि के द्वारा वस्तु का संवरण या गोपन करके वक्रता उत्पन्न की जाती है। जैसे—

'वह चितविन ग्रौरे कछु, जिहि बस होत सुंजान !' 'धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ !'

(६) वृत्ति-वक्रता—यहाँ वृत्ति से ग्रभिप्राय व्याकरण के समास, तिद्धत ग्रादि से है। इनसे सम्बन्धित वक्रता को ही वृत्ति-वक्रता कहते हैं — जैसे — 'को घटि ए बृषभानुजा, वै हलधर के वीर।'

यहाँ वृषभानुजा में समास की वक्रता है।

(७) लिंग-वैचित्र्य-वक्रता—यह वक्रता लिंग-परिवर्तन के द्वारा उत्पन्न होती है,

(क) कामायनी में श्रद्धा के लिए— कौन हो तुम वसंत के दूत

विरस पत्रभड़ सुकुमार !

(ख) पंत की निम्नांकित पंक्ति में— सिखा दो ना हे मधुप-कुमारी! मुक्ते भी श्रपने मीठे गान।

भौंरे का सामान्यतः पुल्लिंग में प्रयोग होता है, जबिक यहाँ उसे स्त्री-लिंग में प्रयुक्त किया गया है जो कि चारुत्ववर्द्धक है।

(८) क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता—क्रिया सम्बन्धी विचित्रता । इसके श्रनेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उन्नत वर्चों में म्रालिङ्गन-सुख लहरों सा तिरता परिहै मनो रूप भ्रब धरि च्वै। आनन ते छलकी परें म्राँखें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद-पूर्वार्ध-वक्रता का क्षेत्र ग्रत्यन्त व्यापक है। इसमें लक्षण ग्रौर शब्द-सम्बन्धी विचित्रता के ग्रधिकांश प्रकार समन्वित हो जाते हैं।

 पद-परार्ध-वक्रता—इसका सम्बन्ध शब्द के उत्तरार्द्ध ग्रंश या प्रत्यय ग्रादि से हैं। इसके भी भ्रनेक भेद किये गये हैं, किन्तु यहाँ केवल कुछ उदाहरण देकर ही ग्रागे बढ़ जायेंगे—

पिय सों कहहु संदेसड़ा हे भौरा, हे काग। विकम्पित मृदु पुलिकत गात।

यहाँ 'संदेसड़ा' ग्रीर 'विकम्पित' में क्रमणः 'ड़ा' ग्रीर 'वि' के प्रयोग के कारण जो सौन्दर्य ग्रा गया है वह पद-परार्ध-वक्रता का उदाहरण है।

४. वाक्य-वक्रता—यहाँ वक्रता का भ्राधार पूरा वाक्य होता है। स्वयं वक्रोक्ति-कार के शब्दों में— "वस्तु का उत्कर्ष-युक्त, स्वभाव से सुन्दर रूप में केवल सुन्दर शब्दों द्वारा वर्णन भ्रर्थ या वस्तु की वक्रता कहलातो है।" यह लक्षण जरा स्पष्ट है, स्पष्ट शब्दों में कहें तो जहाँ किसी वस्तु या विषय के स्वाभाविक रूप का ही ऐसा सहज वर्णन हो कि उसमें किसी प्रकार का भ्रर्थ-सौन्दर्य उत्पन्न हो गया हो, उसे वाक्य-वक्रता कहते हैं। इसके भी भ्रनेक भेद किये गये हैं—जिनमें मुख्य दो हैं—(१) स्वभावोक्ति, (२) ग्रर्थालंकार। दोनों के क्रमशः दो उदाहरण—

(१) मैया मोहि दाऊ बहुत खिकायो। मो सों कहत मोल को लीन्हों, तोहीं जसुमित कब जास्रो।

(२) उषा सुनहले तीर बरसती,

जय लक्मी-सी उदित हुई।

. वस्तुतः वाक्य-वक्रता के ग्रन्तर्गत प्रमुख ग्रर्थालंकारों का समावेश हो जाता है।

५. प्रकरण-वक्रता—प्रकरण-वक्रता की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं मिलती।

हमारे विचार से प्रसंगगत वक्रता ही प्रकरण-वक्रता मानी जानी चाहिए। इसके भी

श्रनेक भेद किये गये हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—

- (क) भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना ।
- (ख) प्रसंग की मौलिकता।
- (ग) पूर्व-प्रचलित प्रसंग में संशोधन ।
- (घ) रोचक प्रसंगों का विस्तृत वर्णन।
- (ङ) प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर ग्रप्रधान प्रसंग की उद्भावना । CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

(च) प्रसंगों का पूर्वापर क्रम से अन्वय।

विस्तार-भय से यहाँ इनका विस्तृत विवेचन नहीं किया जायगा, वैसे नाम से इनका ग्रर्थ स्पष्ट है।

६. प्रबन्ध-वक्रता—इसके अन्तर्गत प्रवन्ध-काव्य, महाकाव्य, नाटक, (उपन्यास) आदि का सौन्दर्य आता है। इसके भी ६ भेद वताये गये हैं: (१) मूल-रस-परिवर्तन— ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि जिससे उसका मूलभाव और रस परिवर्तित हो जाय। (२) नाटक के चरित्र में संशोधन। (३) कथा के मध्य में किसी ऐसे कार्य की अवतारणा करना जो कि प्रधान कार्य की सिद्धि में योग दे। (४) नायक द्वारा मुख्य फल के साथ-साथ अनेक फलों की प्राप्ति। (५) प्रवन्ध का नामकरण प्रधान कथा या घटना का सूचक। (६) एक ही मूल कथा पर आश्रित प्रवन्धों का वैचित्र्य वैविध्य।

वक्रोक्ति के भेदोपभेदों के संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट है कि कुन्तक ने उसे इतना व्यापक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया था कि जिससे वह काव्य के सभी अवयवों एवं क्षेत्रों से सम्बन्धित हो सके । वर्ण-योजना से लेकर प्रवन्ध-योजना तक के सभी कवि-व्यापार वक्रोक्ति के इस व्यापक स्वरूप के अन्तर्गत आ जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्य से परवर्ती विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया । आगे चलकर वक्रोक्ति एक शब्दालंकार मात्र रह गई जिसके दो भेद माने गये—(१) काकु वक्रोक्ति एवं (२) श्लेष वक्रोक्ति । काकु में स्वर के उतार-चढ़ाव या वोलने के लहजे के द्वारा अर्थ में चमत्कार उत्पन्न किया जाता है । जैसे—

भैंने कहा—प्रिये ! जाओ मत, बैठो ! वह भोली समभी कि, जाओ, मत बैठो !

श्लेष-वक्रोक्ति में शब्द के अन्य अर्थ को ग्रहण करके अर्थ बदल दिया जाता है। यथा—''अरे घनश्याम, हो तो यहाँ क्या काम, जाकर वर्षा करो।'' वस्तुतः वक्रोक्ति का यह संकुचित स्वरूप कुन्तक की मान्यता के सर्वथा विपरीत है। यह संकुचित रूप उसे काव्य की आत्मा तो क्या, उसके शरीर की एक अंगुली बनने लायक भी नहीं छोड़ता। वक्रोक्ति सिद्धान्त और अभिव्यंजनावाद

एक वार ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पाश्चात्य ग्रिमिक्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्ति सिद्धान्त का ही विलायती उत्थान बताया था। तब से ही इन दोनों का नाम साथ-साथ लेने की एक परम्परा बन गई है, किन्तु वस्तुतः दोनों में गहरा भेद है। ग्रिमिक्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे की मान्यता थी कि कला का सम्बन्ध स्वयंप्रकाश्य ज्ञान से है जबिक कुन्तक शास्त्रीय ज्ञान को भी कला से ग्रसम्बद्ध नहीं मानते। दूसरे, क्रोचे उक्ति की सहज स्वाभाविकता में काव्य का सौन्दर्य मानते हैं, जबिक कुन्तक वक्रता या विचित्रता को ही सौन्दर्य का मूल ग्राधार बताते हैं। तीसरे, क्रोचे मानसिक ग्रिमिक्यंजना को ही प्रमुख मानते हैं, बाह्य ग्रिमिक्यक्ति उनके लिए गौण है, इसके विपरीत कुन्तक बाह्य ग्रिमिक्यक्ति—शाब्दिक ग्रिमिक्यक्ति उनके लिए गौण है, इसके विपरीत कुन्तक बाह्य ग्रिमिक्यक्ति—शाब्दिक ग्रिमिक्यक्ति की ही चर्चा करते हैं, क्रोचे की तरह मानसिक ग्रिमिक्यक्ति की वे कल्पना ही नहीं करते। चौथे, क्रोचे कला को ग्रविभाज्य मानते हैं CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

जबिक कुन्तक ने उसके विभिन्न भेदांपभेदों का निरूपण किया है। पाँचवें, क्रोचे केवल कवि की ग्रात्म-तूष्टि को ही काव्य का लक्ष्य मानते हैं जबिक कुन्तक इसके स्थान पर सहदय के मन को प्रसन्नता प्रदान करना लक्ष्य मानते हैं। वस्तुतः इस प्रकार ग्रिभिव्यंजना-वाद और वक्रोक्ति-सिद्धान्त में गहरा भ्रन्तर दृष्टिगोचर होता है, किन्तु डा॰ नगेन्द्र ने कई ऐसे विन्दु भी ढुँढ़े हैं जहाँ दोनों में साम्य हो जाता है। जैसे-

- (क) दोनों श्रभिव्यंजना को ही काव्य का प्राण-तत्त्व मानते हैं।
- (ख) दोनों ने काव्य में कल्पना-तत्त्व को प्रमखता दी है।
- (ग) दोनों ही मुलतः उक्ति को अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय मानते हैं। क्रोचे की भाँति कुन्तक ने भी अलंकार और अलंकार्य का भेद नहीं माना है।
- (घ) दोनों ही सफल ग्रभिव्यंजना ग्रथवा सौन्दर्य-ग्रभिव्यंजना में श्रेणियाँ नहीं मानते ।

यद्यपि डा॰ नगेन्द्र ने श्रपनी प्रतिभा शक्ति के बल पर दोनों में थोड़ा साम्य खोज निकाला है, किन्तु यह साम्य भी केवल शाब्दिक है, ऊपरी है-प्रर्थ की दृष्टि से भीतर प्रवेश किया जाय तो वहाँ भी दोनों में गहरा वैषम्य दृष्टिगोचर होगा। उदाहरण के लिए इसी निष्कर्ष को लीजिए कि दोनों ही ग्रभिव्यंजना को काव्य का प्राण-तत्त्व मानते हैं। श्रभिव्यंजना से सामान्यतः काव्य के माध्यम या शैली का तात्पर्य लिया जाता है किन्तु क्रोचे के लिए अनुभूति वस्तु से अलग शैली का कोई अस्तित्व ही नहीं है जबकि कुन्तक शैली की वक्रता को ही काव्यत्व का सारा श्रेय दे डालते हैं। ग्रतः कुन्तक ग्रीर क्रोचे के ग्रभिव्यंजना सम्बन्धी दृष्टिकोणों में ग्राकाश-पाताल का ग्रन्तर है। इसी प्रकार उक्ति की श्रखण्डता के सम्बन्ध में भी दोनों का दृष्टिकोण परस्पर विरुद्ध है। क्रोचे वस्तुतः उसे ग्रखण्डता मानते हैं जबिक कुन्तक वर्ण-विन्यास-वक्रता, पद-परार्ध-वक्रता ग्रादि के भेदों का निरूपण करके उसे खण्ड-खण्ड रूप में देखते हैं। ग्रस्तु, जैसा कि ग्रागे चल-कर डा॰ नगेन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है, यही कहना उचित है कि दोनों के सिद्धान्तों में साम्य की श्रपेक्षा वैषम्य ही श्रधिक है।

उपसंहार

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के उपर्युक्त पर्यालोचन के ग्रनन्तर हम ग्रन्त में कह सकते हैं कि इसके सिद्धान्त श्रधिक मान्यता एवं प्रचार नहीं पा सके, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। वक्रोक्ति के व्यापक रूप में रीति, ग्रलंकार, घ्वनि, रस ग्रादि सभी पूर्वप्रचलित सिद्धान्तों का समन्वय किसी न किसी मात्रा में हो जाता है। कुन्तक की 'वर्ण-विन्यास वक्रता' में रीति के गुणों का, 'पद पूर्वार्ध-वक्रता' ग्रौर 'पद परार्ध-वक्रता' में शब्दालंकारों का, 'वाक्य-वक्रता' में ग्रथलिंकारों का, 'प्रकरण-वक्रता' में घ्वनि का ग्रीर 'प्रबन्ध-वक्रता' में रस का प्रतिनिधित्व माना जा सकता है। वस्तुतः वर्ण-योजना से लेकर प्रबन्ध-योजना तक का समस्त कित-कौशल एवं काव्य-सौन्दर्य इसमें किसी न किसी रूप में समाविष्ट हो जाता है। फिर भी यह ग्राश्चर्य की बात है कि इतना व्यापक होते हुए भी यह सिद्धान्त युग की मान्यता प्राप्त करने में सफल क्यों न हो सका ? हमारे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं। एक तो यह सिद्धान्त इतनी देर से भ्राया कि इससे पूर्व रस, भ्रलं-

कार, घ्वनि, रीति ग्रादि विद्वानों के हृदय में स्थान बना चुके थे। ग्रव लोगों में इतना उत्साह नहीं रह गया था कि वे किसी नव-ग्राविष्कृत सिद्धान्त को समभने का कष्ट करते। दूसरे, यह सिद्धान्त शैली-पक्ष की दृष्टि से तो ठीक है, किन्तु काव्य के मूल विषय की वैसी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता जैसी कि रस-सिद्धान्त करता है। वस्तुतः जिन पक्षों की वक्रोक्ति-सिद्धान्त व्याख्या करता है उन्हों की रीति, ग्रलंकार, घ्विन से भी हो जाती है। तीसरे, इसका विवेचन तथा भेदोपभेदों का वर्गीकरण भी थोड़ा ग्रस्पष्ट एवं जटिल हो गया है। सम्भवतः इन्हों कारणों से यह लोक-प्रिय नहीं हो सका। किन्तु यदि हम 'लोक-प्रियता' को ही किसी सिद्धान्त की कसौटी न मानें तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त ग्राचार्य कुन्तक की ग्रद्भुत प्रतिभा, व्यापक दृष्टि एवं व्यवस्थित चिन्तन के समन्वय से उद्भूत एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। मौलिकता एवं व्यापक्ता की दृष्टि से यदि इसे रीति, ग्रलंकार ग्रीर घ्विन सिद्धान्त से भी ग्रधिक महत्त्वपूर्ण बता दिया जाय तो कोई ग्रनुचित नहीं होगा—हाँ, रस-सिद्धान्त से ग्रवश्य यह हलका पड़ता है। ग्रस्तु, प्राचीन ग्राचार्यों के शब्दों में पुनः कहा जा सकता है—' सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः कोऽलंकारोऽनया विना'' (यह सर्वत्र वक्रोक्ति ही है "कौन-सा सौन्दर्य है जो इसके विना हो।)

: चौदह :

त्रौचित्य-सम्प्रदाय त्रौर उसके सिद्धान्त

- १. भूमिका।
- २. ग्रौचित्य की पूर्व-परम्परा।
- ३. ग्रीचित्य का लक्षण ।
- ४. ग्रीचित्य के ग्रंग ।
- ५. ग्रीचित्य-ग्रनौचित्य के कुछ उदाहरण।
- ६. क्षेमेन्द्र-परवर्ती भ्राचार्य।
- ७. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र ग्रौर ग्रौचित्य ।
- **द. उपसंहार** ।

ईसा की ग्यारह्वीं शताब्दी के ग्रारम्भ तक भारतीय काव्य-शास्त्र के चेत्र में पाँच प्रमुख सम्प्रदाय—रस, ग्रलंकार, रीति, घ्विन ग्रौर वक्रोक्ति—प्रतिष्ठित हो चुके थे किन्तु फिर भी काव्य के ग्राधारभूत तत्त्व के सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य निर्णय नहीं हो सका। इतना ही नहीं, ग्रनेक सम्प्रदायों की स्थापना के कारण 'काव्य की ग्रातमा' संबंधी विवाद सुलभने के स्थान पर ग्रौर ग्रधिक उलभ गया था—रस, ग्रलंकार रीति ग्रादि प्रत्येक सम्प्रदाय ग्रपने-ग्रपने मत को प्रमुखता देते थे तथा दूसरे के मत को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे। ऐसी स्थिति में काव्य के सामान्य ग्रध्येता के सामने यह समस्या थी कि वह किस मत को माने ग्रौर किसको नहीं। ठीक इसी समय ग्राचार्य क्षेमेन्द्र ने ग्रौचित्य की स्थापना करके इस विवाद को सुलभाने में गहरा योग दिया। उन्होंने कहा कि काव्य में रस, गुण, ग्रलंकार ग्रादि सभी का महत्त्व है, किन्तु उसी ग्रवस्था में जबकि ये सब ग्रौचित्य से समन्वित हों। ग्रौचित्य के ग्रभाव में ये सभी तत्त्व व्यर्थ हैं। इस प्रकार ग्रौचित्य सम्प्रदाय इन सबके लिए उचित समन्वय का सन्देश लेकर उपस्थित हुग्रा।

श्रौचित्य को पूर्व-परम्परा

यद्यपि 'ग्रौचित्य' की एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में स्थापना करने का श्रेय ग्राचार्य क्षेमेन्द्र को ही है, किन्तु उनसे पूर्व भी ग्रनेक ग्राचार्य इसकी चर्चा सामान्य रूप से कर चुके थे। भरत ने नाट्य-शास्त्र में ग्रौचित्य का ग्राधार लोक की रुचि, प्रवृत्ति एवं उसके रूप को मानते हुए लिखा—'जो लोक-सिद्ध है वह सब ग्रथों में सिद्ध है ग्रौर नाट्य का जन्म लोक-स्वभाव से हुग्रा है, ग्रतः नाट्यप्रयोग में लोक ही प्रमाण है।' ग्रागे चल-कर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि जैसा पात्र हो, उसी के ग्रनुरूप उसकी भाषा, वेष, चरित्र ग्रादि होने चाहिए—

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः वेषानुरूपश्च गति-प्रचारः । गति-प्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ।

ग्रर्थात् 'वय के ग्रनुरूप वेष होना चाहिए, वेष के ग्रनुरूप गति, गति के ग्रनुरूप पाठ्य तथा पाठ्य के ग्रनुरूप ग्रिभनय होना चाहिए।' इस प्रकार ग्राचार्य भरत ने स्वाभाविकता के रूप में ग्रौचित्य का प्रतिपादन किया है—इतना ग्रवश्य है कि उन्होंने 'ग्रौचित्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया।

ग्रागे चलकर दंडी ने भी यह संकेत किया कि काव्य में ग्रौचित्य का स्थान है। उपमा के प्रसंग में उन्होंने वताया कि यदि सहदयों को उद्देग न हो, तो उपमान ग्रौर उपमेय के लिंग-वचन ग्रादि में परस्पर भेद होना भी कोई दोष नहीं है। वस्तुतः भामह, दंडी, वामन, रुद्रट ग्रादि का दोष-विवेचन एक प्रकार से ग्रौचित्य के ग्रभाव या ग्रनौ-वित्य की ही व्याख्या है। किन्तु ग्रौचित्य की स्पष्ट रूप से व्याख्या करने वाले ग्राचार्यों में सर्वप्रथम ग्रानन्दवर्धन ग्राते हैं। उन्होंने 'ग्रौचित्य' शब्द का प्रयोग करते हुए उसके छः प्रकार निश्चित किए—(१) रसौचित्य, (२) ग्रलंकारौचित्य, (३) गुणौचित्य, (४) संघटनौचित्य, (४) प्रवन्धौचित्य, (६) रीति-ग्रौचित्य। इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परि-चय यहाँ दिया जाता है।

- (१) रसौचित्य—इसका सम्बन्ध रस से हैं। काव्य में रस का उचित रूप से प्रतिपादन तब ही सम्भव है जबिक उसमें रसौचित्य हो। रसौचित्य के लिए ग्रानन्द-वर्धन ने मुख्यतः दस नियम निर्धारित किए हैं—(क) शब्द ग्रीर उसके ग्रर्थ का नियोजन वर्धन ने मुख्यतः दस नियम निर्धारित किए हैं—(क) शब्द ग्रीर उसके ग्रर्थ का नियोजन ग्रीचित्यपूर्ण हो (ख) व्याकरण की दृष्टि से प्रयोग शुद्ध हो (ग) प्रवन्धकाव्य में संधि, घटना ग्रादि का प्रयोग रसानुकूल हो (घ) विरोधी रस के ग्रंगों का वर्णन न हो (ङ) गौण वस्तु, घटना, पात्र तथा वातावरण का इतना विस्तार न हो कि उससे मुख्य रस ही विज्ञ ज्ञाय (च) ग्रंगरस ग्रीर ग्रंगीरस का सम्बन्ध ग्रापस में ठीक ग्रनुपात में हो (छ) ग्रव्य रसों की नियोजना में पारस्परिक ग्रनुकूलता हो (ज) प्रवन्ध-काव्य या नाटक में रस ग्रन्य रसों की नियोजना में पारस्परिक ग्रनुकूलता हो (ज) प्रवन्ध-काव्य या नाटक में रस ग्राचित्य की रक्षा की जाय। हमारे विचार से इनमें से कुछ भेद तो ग्रनावश्यक हैं। चौथे भेद (घ) में जो वात कही गई है, लगभग उसी को ग्रगले तीन भेदों (ङ, च, छ) में दोहराया गया है। इसी प्रकार के ग्रन्य भेदों में से भी ग्रनेक को निकाला जा सकता है। रसौचित्य के सम्बन्ध में संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य में रस के विभिन्न ग्रवयवों तथा विरोधी रसों का समन्वय उचित रूप से होना चाहिए, तब ही उससे रस-निष्पत्त हो सकेगी।
 - (२) अलंकारौचित्य—इसके भी पाँच भेद वताये गये हैं—(क) अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में हो (ख) अलंकार लाने के लिए किव को प्रयत्न नहीं करना चाहिए (ग) अलंकार भावों की पुष्टि में योग देने वाले होने चाहिए (घ) उनका स्थान CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

काव्य में गौण होना चाहिए, मुख्य नहीं (ङ) यमक, श्लेष ग्रादि शब्दालंकार कोरे चमत्कार के लिए प्रयुक्त न हों।

- (३) गुणौचित्य-काव्य में विभिन्न गुणों का समन्वय रस के श्रनुकूल होना चाहिए। जैसे — ग्रोज का वीर रस में, माधुर्य का प्रृंगार ग्रौर करुण में।
- (४) संघटनौचित्य-संघटना या रचना का उद्देश्य रस है, श्रतः उसमें विभिन्न तत्त्वों का नियोजन रस के अनुकूल होना चाहिए। इसके भी विचार नियामक हैं—
 - (क) संघटना रसानुकुल हो।
 - (ख) पात्र की प्रकृति, स्थिति तथा मानसिक दशा के ग्रनुसार इसकी योजना हो ।
 - (ग) प्रतिपाद्य विषय के ग्रनुकूल हो।
 - (घ) काव्य की प्रकृति के ग्रनुकूल हो।
- (५) प्रवन्यौचित्य-प्रवन्धगत ग्रौचित्य के लिए श्रानन्दवर्धन ने निम्नांकित नियम निर्घारित किए हैं-(क) प्रसिद्ध तथा किल्पत वृत्तों में समानुपात रहना चाहिए। (ख) वर्ण्य वस्तु का प्रयोग प्रकृत रस के विपरीत नहीं होना चाहिए। (ग) जो घटनाएँ काव्य के मुख्य घ्येय में बाधक सिद्ध होती हों उन्हें परिवर्तित कर देना चाहिए। (घ) प्रासंगिक घटनाओं का विस्तार ग्रंगीरस की दृष्टि से करना चाहिए। (ङ) वर्णन विषय से दूर न जाना चाहिए। (च) ग्रंग-घटना का विस्तार इतना न किया जाय कि वह ग्रंगी वन जाय। (छ) प्रकृत रस के अनुकूल ही घटनाओं का चयन होना चाहिए। (ज) पात्रों की प्रकृति परिवर्तित न करनी चाहिए।
- (६) रीति-औचित्य--रीति का प्रयोग भी उचित रूप से यानी वक्ता, रस, म्रलं-कार तथा काव्य के स्वरूप के ग्रनुकूल करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भ्रानन्दवर्धन ने भ्रोचित्य का प्रतिपादन पर्याप्त विस्तार से किया था। उनके ग्रनन्तर कुन्तक एवं महिम भट्ट ने भी इसका उल्लेख श्रत्यन्त संक्षेप में श्रपने ग्रंथों में किया। कुन्तक ने इसकी परिभाषा करते हुए लिखा— "जिसके द्वारा स्वभाव का महत्त्व पुष्ट होता हो ग्रथवा जहाँ वक्ता या श्रोता के श्रति स्वाभाविक सौन्दर्यं के कारण वाच्य वस्तु भ्राच्छादित हो जाती हो वह भ्रौचित्य है।" दूसरे शब्दों में किसी वस्तु के स्वामाविक सौन्दर्य का वर्णन ही श्रौचित्य है। महिम भट्ट ने ग्रपने 'व्यक्ति-विवेक' में ग्रौचित्य के दो भेद माने—शब्दौचित्य ग्रौर ग्रथौंचित्य । इस प्रकार भौचित्य की परम्परा चली भ्रा रही थी कि क्षेमेन्द्र ने 'भ्रौचित्य-विचार' लिखकर उसे काव्य का प्राण घोषित किया और साथ ही उसे ग्रत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया।

ग्रौचित्य का लक्षण

याचार्य क्षेमेन्द्र ने ग्रौचित्य का लक्षण निर्घारित करते हुए कहा—''जो उसके योग्य है भ्राचार्य लोग उसे उचित कहते हैं - उसका भाव भ्रौचित्य है।" इसे भ्रौर श्रधिक स्पष्ट करते हुए डा॰ मनोहर गौड़ ने लिखा है—''काव्य में भी संयोजन-क्रिया की प्रमु॰ खता रहती है। कल्पना का यही कार्य होता है। जीवन में ग्रनेकत्र ग्रनेकदा दृष्ट एवं

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

भ्रनुभूत पदार्थों का किसी भाव या कथा के सहारे सामंजस संयोजन किया जाता है। इस सामंजस्य को सादृश्य ग्रथवा संतुलन को ही ग्रौचित्य कहा जाता है। यह सापेक्ष वस्तु है। नीम का चारा गों के लिए ग्रसदृश ग्रीर ऊँट के लिए सदृश है। ग्रधिक भूषणों का उप-योग ग्रामीण स्त्री के लिए उचित एवं नागरिक के लिए ग्रनुचित है। इस प्रकार ग्रीचित्य एक विधेयात्मक तत्त्व सिद्ध होता है। यही समस्त सौन्दर्य का मूल है।" हमारे विचार से भ्रौचित्य को ग्रायुनिक शब्दावली में 'स्वाभाविकता' कहना ग्रधिक उचित होगा। काव्य में घटनाश्रों श्रीर पात्रों के श्रायोजन में स्वाभाविकता होने पर ही वह प्रेषणीय हो पाता है। ग्रस्तु, स्वाभाविकता ही ग्रौचित्य है।

श्रीचित्य के ग्रंग

ग्राचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य के सूक्ष्मातिसूचम भ्रवयव से लेकर उसके विशालतम रूप को ध्यान में रखते हुए ग्रौचित्य के २० ग्रंग या (भेद) निर्धारित किए हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) पद, (२) वाक्य, (३) प्रवन्धार्थ, (४) गुण, (५) ग्रलंकार, (६) रस, (७) क्रिया, (६) कारक, (६) लिंग, (१०) वचन, (११) विशेषण, (१२) उपसर्ग, (१३) निपात, (१४) काल, (१५) देश, (१६) कुल, (१७) व्रत, (१८) तत्त्व, (१६) सत्त्व, (२०) ग्रभिप्राय, (२१) स्वभाव, (२२) सार-संग्रह, (२३) प्रतिभा, (२४) ग्रवस्था, (२५) विचार, (२६) नाम, (२७) ग्राशीर्वाद ग्रीर (२८) काव्य के ग्रन्य विविध ग्रंग। इन २८ तत्त्वों को सुगमता की दृष्टि से निम्नांकित चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है-

(क) शब्द—पद, वाक्य, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात।

(ख) काव्यशास्त्रीय तत्त्व —प्रवन्धार्थ, गुण, ग्रलंकार, रस, सार-संग्रह, तत्त्व, भ्राशीर्वाद, काव्य के भ्रन्य ग्रंग।

(ग) चरित्र संबंधी-वृत, सत्त्व, ग्रभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम।

(घ) परिस्थिति संबंधी—काल, देश, कुल, ग्रवस्था।

उपर्युक्त ग्रंगों के पर्यालोचन से पता चलता है कि श्राचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य की विषय-वस्तु और उनकी शैली—दोनों में ही ग्रौचित्य का विधान किया है।

श्रौचित्य-ग्रनौचित्य के कुछ उदाहरण

ग्राचार्य क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को सम्यक रूप से समभने के लिए हम यहाँ उनके द्वारा विवेचित ग्रीचित्य के कुछ उदाहरणों का ग्रवलोकन कर सकते हैं। पद-ग्रीचित्य की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं—''सूक्ति में किसी विशेष पद का उचित प्रयोग इस प्रकार शोभाकारक होता है, जैसे चन्द्रमुखी युवती के मस्तक पर कस्तूरी तथा श्यामा के मस्तक पर चन्दन का तिलक । जैसे—'हे देव ! युद्ध के समय तुम्हारी इस खड्गधारा में शत्रुम्नों के कुल डूब गए। दस प्रकार की प्रशंसा बहुशः बन्दियों से सुनकर, भोली गुर्जर-नरेश की पत्नी जंगल में चिकत होकर जल की भ्राशा से पित के कृपाण की भ्रोर देखती है। यहाँ 'भोली' शब्द से ग्रर्थ के ग्रौचित्य का चमत्कार उत्पन्न होता है।" इसके विपरीत किसी ध्रनुचित शब्द के प्रयोग से जिस प्रकार काव्य-सौन्दर्य को ठेस पहुँचती है, इसका स्पष्टी-

करण करते हुए एक उदाहरण दिया गया है—''सौन्दर्य रूपी धन के व्यय का कुछ सोच नहीं किया; महान् क्लेश उठाया, स्वच्छन्द ग्रौर सुख से रहने वाले लोगों को चिन्ता के ज्वर से पीड़ित किया। यह बेचारी भी योग्य पति के स्रभाव में दुखी है। विधाता ने इस तन्वी को जन्म देने में क्या प्रयोजन सोचा था।" इसकी विवेचना करते हुए ग्राचार्य क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि यहाँ 'तन्वी' शब्द केवल ग्रनुप्रास लोभ से प्रयुक्त हुग्रा है, वह किसी प्रकार के अर्थीचित्य के चमत्कार को प्रकट नहीं करता। उनके विचार से यहाँ 'सून्दरी' शब्द का प्रयोग उचित था।

ग्रलंकार-ग्रौचित्य के सम्बन्ध में ग्राचार्यवर ने स्पष्ट किया है कि प्रतिपाद्य ग्रर्थ के अनुरूप ही अलंकार का प्रयोग होना चाहिए । उदाहरण के लिए ''अपना उत्सव देखने के लिए उत्सुक होकर वत्सराज कामदेव की भाँति इघर ही ग्रा रहे हैं। लड़ाई की चर्चा समाप्त हो चुकी है। ग्रतः वे प्रेमो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवासित साक्षात् कामदेव के समान लगते हैं।" यहाँ वत्सराज की कामदेव से उपमा श्रृङ्गार रस के प्रसंग में वड़ी चारुता उत्पन्न करती है। ग्रतः यह ग्रौचित्य चमत्कार का कारण बनता है। इसी प्रकार रसौचित्य की व्याख्या करते हुए भ्रनेक महत्त्वपूर्ण वातें कही गई हैं-- ''श्रौचित्य के द्वारा रस श्रौर ग्रघिक श्रास्वादनीय वनकर सब हृदयों में व्याप्त हो जाता है। मधुमास जैसे ग्रशोक को ग्रंकुरित कर देता है, उसी प्रकार यह भी भावुक हृदयों को ग्रंकुरित कर देता है।.... मध्र, तिक्त ग्रादि रसों को चतुराई से मिलाने पर जिस प्रकार एक विचित्र ग्रास्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ऋङ्गार ग्रादि रसों को परस्पर समन्वित करने पर एक विलक्षण रसानुभूति होती है।" अस्तु, ग्राचार्य क्षेमेन्द्र ने ग्रीचित्य का प्रतिपादन सर्वत्र काव्य-सौन्दयं की ग्रमिवृद्धि के लक्ष्य से ही किया है—ग्रलंकार, गुण, रस ग्रादि का ऐसा श्रायोजन जो काव्यत्व के विरुद्ध पड़ता है, उनके द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया है।

क्षेमेन्द्र-परवर्ती श्राचार्य

क्षेमेन्द्र-परवर्ती ग्राचार्यों में से कुछ ने 'ग्रौचित्य' की चर्चा तो की है किन्तु उन्होंने उसे काव्य का प्राण-तत्त्व स्वीकार नहीं किया। मम्मट ने कहा है कि ग्रौचित्य के कारण गुण भी दोष या दोष भी गुण बन सकता है—ग्रतः उसके ग्राधार पर गुण-दोषों की ही परीक्षा की जा सकती है। इससे भ्रधिक उसका महत्त्व नहीं है। भ्राचार्य हेमचन्द्र ने श्रपने 'काव्यानुशासन' में श्रौचित्य की चर्चा गौण रूप से की है। उन्होंने यह बताया है कि पूर्वकवियों का अनुकरण कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित । आगे चलकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ ने भी इसे गुण-दोषों तक ही सीमित रक्खा । हाँ, ग्राधुनिक युग के कतिपय ग्राचार्यों ने ग्रवश्य ही इसकी प्रशंसा की है। साहित्याचार्य वलदेव उपाच्याय ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—''सच्ची बात तो यह है कि ग्रौचित्य भारतीय ग्रालंकारिकों की संसार के ग्रालोचना-शास्त्र को महती देन है। जितना प्राचीन तथा सांगोपांग विवेचन इसका भारत में हुग्रा है, उतना ग्रन्यत्र नहीं । यह हमारे साहित्य के महत्त्व का पर्याप्त परिपोषक है।" इस सम्बन्ध में हम ग्रपना मत लेख का उपसंहार करते समय व्यक्त करेंगे।

पाश्चात्त्य काच्य-शास्त्र ग्रौर ग्रीचित्य

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी ग्रौचित्य पर पर्याप्त विचार हुग्रा है। प्रसिद्ध यवनाचार्य ग्ररस्तू ने ग्रपने 'पोइटिक्स' में चार प्रकार के ग्रौचित्य की मीमांसा की है—(१) घटनौचित्य, (२) रूपकौचित्य, (३) विशेषणौचित्य, (४) विषयौचित्य। घटनौचित्य के सम्बन्ध में उनका विचार है कि साहित्य में वींणत घटना जगत् से सम्बद्ध ग्रौर स्वाभाविक होनी चाहिए। दूसरे, प्रासंगिक घटना मुख्य घटना से उचित रूप में सम्बन्धित होनी चाहिए। रूपकौचित्य के सम्बन्ध में उनका मत है कि गद्य को प्रभाव-शाली एवं सुन्दर बनाने के लिए ही उसका प्रयोग करना चाहिए। रूपक-प्रयोग में इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि वस्तु का उत्कर्ष दिखाने के लिए उत्कृष्ट गुणों से युक्त विशेषण प्रयुक्त करने चाहिए तथा ग्रपकर्ष दिखाने के लिए हीन गुणों वाले विशेषण। साथ ही उपमान ग्रौर उपमेय में जाति, गुण, धर्म ग्रादि का भी साम्य ग्रपेक्षित है। विशेषणौचित्य में विशेषण का लक्ष्य वर्ण्य विषय के भावार्थ को पुष्ट करना होता है। विषयौचित्य के लिए भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। भाव यदि उदात्त है तो भाषा क्षुद्र या ग्रमक्त नहीं होनी चाहिए। ग्ररस्तू ने ग्रपने दूसरे ग्रन्थ 'रेटारिक्स' में भी ग्रौचित्य (Propriety) की विशद रूप में विवेचना की है। इसमें शैली सम्बन्धी विभिन्न गुणों एवं तत्त्वों के ग्रौचित्य पर प्रकाश डाला गया है।

लौंजाइनस (२१३—२७६ ई०) ने ग्रपने उदात्त-तत्त्व सम्बन्धी ग्रन्थ (On the Sublime) में दो प्रकार के ग्रौचित्य—ग्रलंकारौचित्य एवं शब्दौचित्य—की विवेचना की है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि ग्रलंकारों ग्रौर शब्दों के उचित

प्रयोग से ही काव्य के प्राण-तत्त्व—उदात्त तत्त्व की सिद्धि होती है।

ग्रागे चलकर एक ग्रन्य पाश्चात्य ग्राचार्य होरेस ने ग्रपने 'काव्य-कला' सम्बन्धी प्रबन्ध में कवियों के लिए तीन उपदेश दिए हैं, जिनमें एक ''काव्य में ग्रौचित्य का सदा ध्यान रखना है।'' इसका ग्रधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि यदि ऐति-हासिक कथा को लेकर काव्य-रचना की जाय तो उसके पात्रों का स्वभाव परम्परा के ग्रनुसार ही दिखाना उचित है। इसके ग्रतिरिक्त ग्रभिनय ग्रादि में भावानुरूपता एवं स्वाभाविकता का ध्यान रखा जाना चाहिए, छन्दों के ग्रौचित्य के सम्बन्ध में उनकी सम्मित है कि जिस प्रकार का विषय हो, उसी के ग्रनुकूल छन्द का चुनाव करना चाहिए।

ग्रागे चलकर "यूरोप के क्लासीकल युग में ग्रौचित्य की पूरी-पूरी मान्यता रही। इसी मार्ग के ग्रनुयायी किव तथा ग्रालोचकों की दृष्टि में कला के क्षेत्र में ग्रनुशासन की मान्यता वर्तमान थी। शास्त्र तथा लोक—दोनों का ही ग्रनुशासन कला में उन्होंने माना था। लोक का ग्रनुशासन ग्रौचित्य ही है। क्षेमेन्द्र ने काव्य-समीक्षा के प्रेरणा-तत्त्व जिस प्रकार जीवन से लिये थे, उसी प्रकार क्लासीकल समीक्षकों ने भी काव्यालोचन का ग्रादर्श लोक को माना है। लोक के उदात्त, शिष्ट रूप को ग्रादर्श बताया है। यही ग्रीचित्य की मूल भावना है।" (डा० मनोहरलाल गौड़)

ग्रठारहवीं शती के महाकवि पोप ने भी श्रौचित्य पर बड़ा बल दिया है। उन्होंने CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. श्रपनी समीक्षा सम्बन्धी पद्यात्मक लेख में भावानुकूल वर्ण-योजना पर विचार करते हुए लिखा है—

It is not enough no harshness gives offence,
The sound must seem an echo of sense,
Soft is the strain when zephyr gently blows,
And the smooth stream in smoother number flows,
But when loud surges lash the sounding shore,
The hoarse rough verse should like a torrent roar.

श्रथीत् किवता में केवल उद्वेगकारी कर्ण-कटुता का श्रभाव ही पर्याप्त नहीं माना जा सकता, प्रत्युत वर्ण भाव की प्रतिष्विन के रूप में होना चाहिए। मलयानिल के वहने के श्रवसर पर प्रयुक्त शब्दों में सुकुमारता तथा कोमलता होनी चाहिए, मंद-मंद प्रवाही निर्भर और भी सुकोमल पदों में प्रवाहित होता है, किन्तु जब प्रचंड कंकावात का थपेड़ा खाकर भीषण ऊर्मियाँ किनारों से टकराती हैं, तब श्रोजस्वी पद्य भी तुमुल प्रवाह की माँति घोर गंभीर गर्जना करता है। कहना न होगा कि पोप का यह निर्देश भारतीय श्राचार्यों के पदौचित्य एवं गुणौचित्य के ही श्रनुकूल है। वस्तुतः श्रौचित्य को भारतीय एवं पाश्चात्य श्राचार्यों ने समान रूप से महत्त्व प्रदान किया है।

उपसंहार

अन्त में श्रीचित्य-सम्प्रदाय के महत्त्व के सम्बन्ध में हम निजी दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं। जहाँ तक उसकी उपलब्धियों का सम्बन्ध है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि काब्य-शास्त्र में श्रीचित्य की प्रतिष्ठा से एक बहुत बड़े श्रभाव की पूर्ति हुई। एक श्रोर तो इससे अलंकारियों, रीतिवादियों एवं वक्रोक्तिवादियों की श्रति चमत्कारवादी प्रवृत्तियों के नियंत्रण में योग मिला, दूसरी श्रोर काब्य में स्वाभाविकता को ग्रत्यधिक सम्मान प्राप्त होने लगा। क्षेमेन्द्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल अलंकार श्रीर रीति का प्रयोग काब्य के सौन्दर्य के बढ़ाने में सहायता तो देता ही नहीं, श्रपितु उसे ठेस भी पहुँचा सकता है। यदि हम छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक की संस्कृत रचनाश्रों को देखें तो पता चलेगा कि इस युग का साहित्य किस प्रकार कृत्रिम अलंकार-योजना से आच्छादित होकर सौन्दर्यविहीन, शुष्क एवं जटिल हो गया था। श्रीचित्यवाद ने इसका घोर वहिष्कार करके परवर्ती युग की काव्य-रचनाश्रों को—भले हो वे संस्कृत भाषा की न होकर श्रन्य भाषा की हों—नया दृष्टिकोण प्रदान किया।

क्षेमेन्द्र का ग्रौचित्य या स्वाभाविकता सम्बन्धी दृष्टिकोण ग्राधुनिक युग की धारणाग्रों के भी ग्रनुकूल है। इतना ग्रवश्य है कि जहाँ ग्राधुनिक युग का साहित्यकार साहित्य को नियमों से सर्वथा मुक्त कर देने में उसकी स्वाभाविकता मानता है, वहाँ क्षेमेन्द्र ग्रावश्यक नियमों का पालन करते हुए यथार्थ चित्रण में स्वाभाविकता मानते हैं। किन्तु यह ग्रन्तर भी युग के दृष्टिकोण के ग्रनुकूल ही है। उस युग का पाठक या सामाजिक प्राचीन नियमों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था, ग्रतः उनका पालन उस युग के साहित्यकार के लिए ग्रपेक्षित था, जबिक ग्राज का दृष्टिकोण बदल गया है।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि क्या ग्रीचित्य को काव्य का जीवन या प्राण माना जा सकता है ? क्या ग्रौचित्य ग्रपने-ग्रापमें इतना समर्थ है कि वह काव्य में सौन्दर्य-तत्त्व की प्रतिष्ठा कर सके ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें निषेधात्मक ही देना पड़ेगा ! इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीचित्य से काव्य के मूल सौन्दर्य की रक्षा होती है, उसके ग्रभाव में सौन्दर्य सौन्दर्य नहीं रहता-कुरूपता में परिणत हो सकता है, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि वह मूल सीन्दर्य का स्थानापन्न नहीं बन सकता। श्रीचित्य में श्रपने-ग्रापमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह काव्य-सीन्दर्य की सृष्टि कर सके। उदाहरण के लिए विज्ञान, दर्शन एवं इतिहास की पुस्तकें भी ग्रीचित्य से युक्त होती हैं-भाषा, शैली एवं विचार ग्रादि में से किसी का भी ग्रनौचित्य वहाँ स्वीकार नहीं होता, किन्तु फिर भी उनमें वह सौन्दर्य नहीं ग्रा पाता जो कि काव्य में उपलब्ध होता है। यह ठीक है कि कई वार ग्रौचित्य या स्वाभाविकता के कारण ही कोई उक्ति सुन्दर वन जाती है, किन्तु यदि हम सूक्ष्म दुष्टि से देखें तो वहाँ भी उसके सौन्दर्य के मूल में श्रौचित्य के साथ-साथ कोई अन्य तत्त्व भी मिश्रित होगा। उदाहरण के लिए सूरदास के वाल-वर्णन की प्रशंसा में कई वार उसकी स्वाभाविकता की चर्चा की जाती है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि केवल स्वाभाविक या उचित होने के कारण ही वह सुन्दर है। वस्तुतः सूर के बाल-वर्णन में भावात्मकता का पुट ही सौन्दर्य का मूल कारण है, स्वाभाविकता तो उस मूल कारण की एक विशेषता मात्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रस्वाभाविक रूप में प्रस्तुत भाव-व्यंजना काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि में सहायक नहीं होगी, किन्तु साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि भावना-शून्य होने पर एक स्वाभाविक वर्णन भी दंडी द्वारा कथित 'वार्ता' मात्र रह जायगा, काव्य की संज्ञा उसे नहीं दी जा सकेगी।

श्रस्तु, कहना चाहिए कि श्रौचित्य वह तत्त्व है जो कविता-कामिनी के मुख-चंद्र को निखारकर निष्कलंक, श्रम्लान एवं स्वच्छ तो बनाता है, किंतु उसे ज्योत्स्ना का नया वैभव प्रदान करना उसके वश की बात नहीं है। प्रयोगवादी शब्दावली में कहें तो वह श्रिधक से श्रधिक 'लक्स की टिकिया' है, 'सौन्दर्य की पुड़िया' उसे नहीं कह सकते। या बिहारी के शब्दों में—

'वह चितविन और कछु, जिहि बस होत सुजान।'

: पन्द्रह :

प्लेटो का आदर्शवाद

- १. सामान्य परिचय।
- २. प्लेटो के दार्शनिक विचार।
- ३. राजनीतिक विचार।
- ४. साहित्य सम्बन्धी दष्टिकोण ।
- ५. पहला ग्राक्षेप : मिथ्यात्व ।
- ६. दूसरा आक्षेप : ग्रमौलिकता एवं ग्रज्ञानता ।
- ७. तीसरा ग्राक्षेप : श्रनुपयोगी।
- कि दुर्वलता एवं भ्रनाचार का पोषक ।
- ग्राक्षेपों पर पुनर्विचार।
- १० तपलविधयाँ।

पाश्चात्य संस्कृति एवं सम्यता का ग्रादिस्रोत युनान रहा है। यूनान के दार्श-निकों, विचारकों एवं काव्य-चिन्तकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन ईसा से चार-पाँच शताब्दियों पूर्व किया था, उन्हीं की अनुगूँज परवर्ती युग में यूरोप के विभिन्न विचारकों की शब्दावली में सुनाई देती है। यूनान के गौरवशाली चिन्तकों एवं महान् दार्शनिकों में सुकरात के शिष्य प्लेटो (४२८ ई० पू—३४७ ई० पू०) का नाम सर्वीर्परि है। प्लेटो मूलतः दार्शनिक एवं ग्राचार्य थे - उन्होंने ई० पू० ३८८ में ग्रपनी जन्मभूमि एथेन्स में एक विद्यालय की भी स्थापना की थी तथा ग्रपने ग्रन्तिम समय तक उसी में ग्रम्यापन कार्य करते रहे। विद्यालय की स्थापना से पूर्व वे विदेश-भ्रमण के लिए चले गये थे। लगभग ग्यारह वर्ष तक उन्होंने एशिया माइनर से लेकर इटली तक विभिन्न देशों की यात्रा करते हुए विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों एवं विद्याग्रों का ज्ञान प्राप्त किया । कदाचित् यही कारण है कि हम प्लेटो में पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों से भिन्न, सर्वथा नूतन एवं मौलिक विचारों का उन्मेष देखते हैं। वैसे वे पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिकों—मुख्यतः पाइथो-गोरस एवं सुकरान्त के भी पर्याप्त ऋणी हैं। फिर भी प्लेटो का दृष्टिकोण सर्वत्र स्वतन्त्र एवं मौलिक दिखाई पड़ता है जिसका प्रकटीकरण उनके द्वारा रचित विभिन्न दार्शनिक एवं राजनीतिक ग्रन्थों में हुग्रा । उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'दि रिपब्लिक' (गणराज्य), 'दि स्टेट्समैन' (राजनेता), 'दि लाज' (विधि) श्रादि उल्लेखनीय हैं।

प्लेटो के साहित्यिक विचार उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक सिद्धांतों से प्रभावित हैं, श्रतः उनकी साहित्य-सम्बन्धी धारणाग्रों के विवेचन से पूर्व उनके दार्शनिक एवं राज-नीतिक विचारों को समभ लेना श्रावश्यक है। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

प्लेटो के दार्शनिक विचार—दर्शन का चरम लक्ष्य सत्य या ग्रन्तिम सत्य की खोज करना होता है, पर ग्रन्तिम सत्य के सम्बन्ध में भी दार्शनिकों के मुख्यतः दो वर्ग रहे हैं-एक, जो किसी सूक्ष्म सत्ता या परोक्ष शक्ति को-जिसे परमात्मा का भी नाम दिया जाता है - ग्रंतिम सत्य या शाश्वत तत्त्व मानते हैं, जबिक दूसरे वर्ग में वे आते हैं, जो इस स्थूल एवं भौतिक जगत् को ही सृष्टि का ग्राधारभूत तत्त्व एवं सत्य मानते हैं। इन्हें क्रमशः श्रादर्शवादी एवं यथार्थवादी कहा जाता है। प्लेटो प्रथम वर्ग में श्राते हैं। वे मानते थे कि इस भौतिक जगत् के पीछे किसी सूक्ष्म, शाश्वत एवं ग्रलौकिक जगत् का ग्राधार है या यों कहिए कि यह जगत् किसी ग्राव्यात्मिक लोक की प्रतिच्छाया है; ग्रतः यह जगत् ग्रौर इसके पदार्थ मिथ्या हैं, जबिक उनका वास्तविक रूप विचार (Idea) रूप में ग्रध्यात्म-लोक में विद्यमान है। इस सृष्टि का निर्माण किसी ग्रलौकिक शक्ति या परमात्मा के विचारों (Ideas) के अनुसार हुआ-अतः विचार ही मूल तत्त्व है जविक वस्तु मिथ्या है। प्लेटो के अनुसार इस संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी विचाररूप में अलौकिक जगत् में विद्यमान हैं। सांसारिक पदार्थ अपूर्ण, परिवर्तनशील एवं नाशवान् हैं, ग्रतः वे मिथ्या हैं जबिक ग्रलौिकक जगत् में विद्यमान उनका विचार या प्रत्यय अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत होने के कारण—सत्य है। इस प्रकार वस्तु की अपेक्षा विचार या तत्त्व (Idea) को ही प्रमुखता देने के कारण ही प्लेटो के विचारों को तत्त्ववाद या म्रादर्शवाद (Idealism) कहा जाता है। ध्यान रहे म्रंग्रेजी का 'म्राइडियलिज्म' (म्रादर्शवाद) शब्द भी 'म्राइडिया' (विचार) से बना है—जो इस तथ्य का सूचक है कि यह वाद पदार्थों की अपेक्षा उनके विचार को ग्रधिक महत्त्व देता है। ग्रागे चलकर यही 'ग्रादर्शवाद'--ग्राध्यात्मिक विचारों, नैतिक सिद्धान्तों एवं उच्च कोटि के मानव-मूल्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा । ग्रस्तु, प्लेटो भारतीय ग्रद्वैतवादियों की भाँति जगत् को मिथ्या और विचाररूपी बहा को सत्य मानता था—उसकी इस धारणा का प्रभाव उसके राजनीतिक एवं साहित्यिक विचारों पर भी पड़ा, जिसे भ्रागे स्पष्ट किया जायगा।

राजनीतिक विचार—प्लेटो के समय यूनान की राजनीति श्रत्यन्त श्रस्त-व्यस्त दशा में थी। स्वयं प्लेटो के नगर में प्रजातंत्रीय व्यवस्था थी, पर वह भी श्रत्यन्त शोचनीय स्थिति में पहुँच गयी थी। प्रजातंत्र में जव शक्ति कुछ श्रदूरदर्शी, स्वार्थी, विलासी धन-लोलुपों के हाय में चली जाती है तो वह मूर्खों का शासन सिद्ध होता है। एथेन्स के इस मूर्ख-शासन ने ही प्लेटो के गुरु सुकरात के प्राण ले लिये थे जिसकी प्रतिक्रिया प्लेटो के मन में भी श्रत्यन्त तीत्र रूप में हुई थी। कदाचित् इसीलिए वह एक ऐसी शासन-प्रणाली का ग्राविष्कार करने के लिए लालायित थे, जिसमें सत्य के पुजारियों को सर्वोपिर स्थान प्राप्त हो। यह तभी संभव है जबिक शासन की सत्ता किसी सत्यवेत्ता विद्वान् एवं सदाचारी कर्मनिष्ठ व्यक्ति के हाथ में रहे। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने एक ऐसे 'गणराज्य' की कल्पना की, जिसका शासक कोई महान् दार्शनिक ग्राचार्य या महात्मा होगा। ग्रपने ग्रन्थ 'दि रिपब्लिक' में प्लेटो ने विस्तार से एक ऐसी योजना-पद्धित का प्रतिपादन किया है जिससे इस प्रकार के शासक का चयन हो सके। उसके विचारानुसार विद्यालयों में ही

इस प्रकार के चयन की प्रक्रिया का सूत्रपात हो जाना चाहिए। सात से लेकर बीस वर्ष तक की ग्राय के विद्यार्थियों में से जो सर्वोच्च स्तर के सिद्ध हों, उन्हें सैनिक के रूप में चुना जाना चाहिए। इन सैनिकों को भी विशेष शिक्षा दी जानी चाहिए श्रौर उनमें से जो उच्च स्तर के सिद्ध हों, उन्हें शासक वर्ग में ले लिया जाना चाहिए। इस शासक वर्ग को भी विशेष शिक्षा-दीक्षा देकर उसमें से भी जो सर्वोच्च स्तर का सिद्ध हो, उसे राजा या प्रमख शासक चना जाना चाहिए। इस प्रकार प्लेटो के स्वप्नों का शासक न केवल दर्शन, विज्ञान एवं शासन-पद्धति में पारंगत होगा, श्रपितु वह श्रपने वैयक्तिक एवं चारि-त्रिक गुणों की दृष्टि से भी सम्पन्न होगा । सम्भव है, सत्ता-प्राप्ति के अनन्तर यह शासक भी स्वार्थी एवं लोभी होकर प्रजा के साथ अन्याय करने लगे-इस सम्भावना को समाप्त करने के लिए प्लेटो ने उसके लिए व्यक्तिगत धन-सम्पत्ति एवं परिवार का निषेध किया। प्लेटो का ग्रादर्श शासक ग्रपने उचित उपयोग के लिए राज्य की सम्पत्ति को काम में ले सकेगा तथा सीमित एवं ग्रस्थायी रूप में किसी स्त्री से यौन-सम्पर्क भी स्थापित कर सकेगा, किन्तु वह विवाह करके ग्रपना ग्रलग घर कभी नहीं वसाएगा। सच पूछें, तो अधिकांश शासकों या मंत्रियों को प्रायः उनके बेटे-बेटियाँ ही अधिक वदनाम करते हैं या यों किह ए कि सन्तान-प्रम के कारण ही कई बार शासकगण नियमों की भ्रवहेलना कर देते हैं अथवा पक्षपात ग्रौर सिफारिश का भ्राश्रय ग्रहण करते हैं जिससे शासन में भ्रष्टा-चार का बीज-वपन होता है। प्लेटो इस यथार्थ से भली-भाँति परिचित थे--इसीलिए उन्होंने शासक के निजी परिवार एवं सम्पत्ति का सर्वथा निषेध किया है।

प्लेटो का लक्ष्य एक ऐसे राज्य की स्थापना करने का था जिसमें सत्य, न्याय, धर्म श्रौर सदाचार की पूर्ण प्रतिष्ठा हो सके। इसके लिए एक ग्रोर शासक में इन सबकी प्रतिष्ठा ग्रावश्यक है, तो दूसरी ग्रोर राज्य की सारी व्यवस्था एवं उसका वातावरण भी उसके श्रनुकूल होना चाहिए। इस व्यवस्था ग्रौर वातावरण को श्रनुकूल या प्रतिकूल बनाने में कला ग्रौर साहित्य क्या योग दे सकते हैं—इसी दृष्टिकोण से प्लेटो ने इन पर विचार किया है। वस्तुतः कला ग्रौर साहित्य पर स्वतंत्र एवं निरपेक्ष दृष्टि से विचार करना उसका लक्ष्य नहीं था, ग्रपितु ग्रादर्ण गणराज्य की सहयोगिनी शक्तियों के रूप में ही इनकी ग्रालोचना की गयी है, कदाचित् इसीलिए वे इनके साथ पूरा न्याय नहीं कर सके।

साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण—प्लेटो के लिए साहित्य का महत्त्व उसी सीमा तक था, जहाँ तक वह उसके भ्रादर्श गण-राज्य के नागरिकों में सत्य, न्याय भ्रौर सदा-चार की भावना की प्रतिष्ठा में सहायक सिद्ध होता है। कला भ्रौर साहित्य से भ्रसीम भ्रानन्द प्राप्त होता है—इस तथ्य को प्लेटो महोदय भ्रस्वीकार नहीं करते, किन्तु वे ऐसे भ्रानन्द को जो उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति में वाधक सिद्ध हो, कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते। दूसरे शब्दों में, कला भ्रौर साहित्य की कसौटी उनके लिए सौन्दर्य या भ्रानन्द न होकर उपयोगिता थी। इतना ही नहीं, स्वयं सौन्दर्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि जो वस्तु उपयोगी है वही सुन्दर है। 'एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि वह भ्रमना कोई उपयोग रखती हो, भ्रन्यथा एक स्वर्णजटित चमचमाती

हुई ढाल भी ग्रसुन्दर है यदि वह उपयोग की दृष्टि से महत्त्वशून्य हो। संक्षेप में उन्होंने शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही साहित्य पर विचार किया। दुर्भाग्य से उस समय का यूनानी साहित्य कामोत्तेजक एवं भावोद्देलन-प्रवान था--- श्रतः सामाजिक हित की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होता था; फलतः प्लेटो ने साहित्य के विरुद्ध मोर्चा लगाते हुए उस पर ग्रनेक ग्राक्षेप ग्रारोपित किए, जिन पर ग्रागे क्रमशः विचार किया जायगा।

पहला आक्षेप : विण्यात्व-प्लेटो ने ग्रपने पूर्वोक्त दार्शनिक सिद्धान्त के ग्रनु-सार काव्य या साहित्य को मिथ्या जगत् की मिथ्या ग्रनुकृति सिद्ध किया। उनके विचा-रानुसार साहित्यकार जिन वस्तुत्रों या व्यक्तियों ग्रथवा क्रिया-कलापों का वर्णन करता है, वे पहले से ही भौतिक जगत् में विद्यमान हैं—जिनकी श्रनुकृति वह ग्रपनी रचनाग्रों में प्रस्तुत करता है। पर यह अनुकृति भी दो प्रकार की हो सकती है—एक कुर्सी को देखकर अनुकृति के द्वारा दूसरी अनुकृति प्रस्तुत करना है। यह दूसरे प्रकार की अनुकृति एक प्रकार की मिथ्या एवं भ्रामक अनुकृति है तथा चित्रकार, कवि और कथाकार भी ऐसी ही मिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करते हैं। ग्रौर इससे भी बुरा यह है कि वे जिन वस्तुओं की ग्रनुकृति प्रस्तुत करते हैं वे स्वयं मिथ्या हैं, क्योंकि उनका सत्य रूप तो केवल विचार (Idea) रूप में ग्रलौकिक जगत् में ही है। ऐसी स्थिति में कलाकार की स्थिति उस नकलची की सी हो जाती है, जो नकल भी भूठ की कर रहा हो। कल्पना कीजिए, परीक्षा-भवन में एक परीक्षार्थी किसी दूसरे परीक्षार्थी की नकल कर रहा है, और उस नकल में भी एक तो वह बहुत सी अशुद्धियाँ कर रहा है, दूसरे जिस उत्तर की वह नकल कर रहा है, वह भी अपने-आप में गलत हो ! ऐसी स्थिति में वह परीक्षार्थी एक नहीं —तीन प्रकार की गलतियाँ कर रहा है; नकल करना, गलत नकल करना ग्रीर गलत वस्तु की नकल करना ! प्लेटो के विचार से साहित्यकार की भी स्थिति ऐसी ही है ! वह मिथ्या जगत् की सिथ्या अनुकृति प्रस्तुत करता है और इस प्रकार वह सत्य से तिगुना दूर है या यों किहए कि वह तिगुने भूठ का भ्राविष्कारक है—ग्रतः वह प्रशंसनीय नहीं, दंडनीय है !

दूसरा आक्षेप: अमोलिकता एवं अज्ञानता-किव या चित्रकार दस्तुत: कृति नहीं, अनुकृति एवं प्रतिकृति मात्र प्रस्तुत करता है, अतः उस पर दूसरा आरोप अमौलि-कता एवं ग्रज्ञानता का ग्रारोपित किया जा सकता है। एक मोची के कार्य को देखकर जब दूसरा मोची श्रनुकृति द्वारा जूतों की जोड़ी बनाता है, तो हम उसे श्रमौलिक तो कह सकते हैं किन्तु ग्रज्ञानी नहीं, क्योंकि वह जब तक जूता बनाने के सारे ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अनुकृति प्रस्तुत नहीं कर सकता। पर चित्रकार या कवि पर यह बात लागू नहीं होती ! चाहे उन्हें इस बात का भी पता न हो कि जूते में जो चमड़ा लगता है, वह कहाँ से भ्राता है या उसमें गाय की खाल का उपयोग होता है या वकरी की खाल का-पर फिर भी वे उसका प्रतिविम्ब प्रस्तुत कर सकते हैं ! ऐसी स्थिति में किव का ज्ञान मोची के ज्ञान से भी कम होता है! फिर मोची के बनाये जूतों को तो पहनकर श्राप सड़क पर चल सकते हैं, काँटों से बच सकते हैं, सर्दी-गरमी से बच सकते CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

हैं, पर क्या चित्रकार या किव के द्वारा प्रतिविम्बित जूतों से ऐसा कर सकते हैं? उनका क्या उपयोग है! उपयोग न सही, उनसे तो यह भी पता नहीं चलता कि जूते कैसे बनाये जाते हैं, या कहाँ मिलते हैं! इस प्रकार प्लेटो के अनुसार तो किव या चित्रकार का महत्त्व मोची यां बढ़ई जितना भी नहीं है! प्लेटो के शब्दों में—'एक चित्रकार मोची, बढ़ई या अन्य कारीगर की कला से सर्वथा अनिभन्न होते हुए भी उनके कार्यों को इस प्रकार चित्रित कर देगा कि उससे सरल प्रकृति के लोगों अथवा वच्चों के मन में उसके वास्तिवक कारीगर होने का अम उत्पन्न हो जायगा!' इस प्रकार किव न केवल स्वयं अज्ञानी है, अपितु वह अज्ञान के प्रसार में भी योग देता है!

तीसरा आक्षेप : अनपयोगिता-कवि या साहित्यकार अनुकृति के वल पर जो रचना प्रस्तुत करता है, वह किसी भी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होती, ग्रतः प्लेटो के विचार से कलात्मक रचनाएँ समाज के लिए सर्वथा अनुपयोगी हैं। कवि द्वारा वर्णित विषय से न तो उसकी यथातथ्य जानकारी प्राप्त हो सकती है और न ही उससे हमारे ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। और तो और उससे शिक्षा-उपदेश भी प्राप्त नहीं होता ! इसलिए प्लेटो ने कवियों को चुनौती देते हुए कहा है कि वे सिद्ध करें कि कविता की समाज के लिए क्या उपयोगिता है ? किवयों में सर्वश्रेष्ठ उस युग में होमर माना जाता था तथा प्लेटो भी उसका कम सम्मान नहीं करता था, फिर भी उसकी महानता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाते हुए उसने कहा—"हमें होमर से यह पूछना है....क्या Asclepius की भाँति उसने कभी रोगियों को रोग-मुक्त किया है श्रथवा श्रपने पीछे श्रपने द्वारा वर्णित भेषज विद्या तथा ग्रन्य कलाग्रों की किसी परम्परा को छोड़ा है ?....युद्ध सम्बन्धी विभिन्न व्युह-रचनाम्रों, राजनीति-शिक्षण-विधि म्रादि जो उनकी कविताम्रों के सर्वोच्च ग्रौर श्रेष्ठतम विषय हैं-इनके बारे में हम उससे क्या कोई जानकारी प्राप्त कर सकते हैं ? उसे सम्बोधित करते हुए हम कह सकते हैं—'मित्रवर होमर! यदि तुम इस विवेचन में सक्षम हो कि किन प्रवृत्तियों द्वारा व्यक्ति निजी ग्रौर सार्वजनिक जीवन में उच्चतर ग्रीर हेय बनता है तो हमें बताग्रो कि तुम्हारी सहायता से किस राज्य ने श्रेष्ठ जासन का लाभ उठाया है ? लकेदेमान की श्रेष्ठ व्यवस्था लाइसरगुस के कारण है तथा इसी तरह और भी कई छोटे-बड़े नगर दूसरों के द्वारा लाभान्वित हुए हैं, पर क्या कोई यह कहता है कि तुम एक श्रेष्ठ विधायक रहे हो ग्रौर तुम्हारे द्वारा किसी (राज्य) का हित सधा है !....क्या कोई ऐसा युद्ध है, जो उसके द्वारा अथवा उसकी सलाह मान कर लड़ा गया हो ?....परन्तु होमर ने यदि सार्वजनिक सेवा का कोई कार्य सम्पन्न नहीं किया तो भी व्यक्तिगत रूप से क्या वह किसी का शिक्षक या मार्ग-दर्शक रहा है ?....यदि होमर वास्तव में मनुष्य जाति के शिक्षण और उन्नयन में समर्थ हुआ होता—यदि वह मात्र ध्रनुकर्ता न होकर ज्ञाता होता तो उसके पद-चिह्नों पर चलने वाले ध्रनेकानेक शिष्य होते, जो उसकी परम्परा को ग्रागे बढ़ाते ग्रौर उसकी ग्रपने सम्मान ग्रौर प्यार का पात्र बनाते !" (ग्रीक-साहित्य-शास्त्र : पृष्ठ २२-३३)

इस प्रकार प्लेटो होमर जैसे किव की भ्रपेक्षा उस व्यक्ति को भ्रधिक महत्त्व देता है, जो किसी की चिकित्सा करके उसे रोग-मुक्त कर सके, या युद्धों का ज्ञान प्रदान CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. कर सके ग्रथवा राज्य की शासन-प्रणाली में कोई सुधार कर सके । दूसरे शब्दों में वह किव में किव के नहीं, श्रिपितु चिकित्सक योद्धा, नेता या श्रघ्यापक के गुणों की खोज करता है! उसका यह प्रयास वैसा ही है जैसा कि कोई किसी फिल्म-श्रिभनेत्री से पूछे कि तुम्हें कमीज के वटन टाँकने श्राते हैं या नहीं—श्रौर उसके 'ना' कहने पर उसे सर्वथा घटिया ग्रौर वदसूरत करार दे दे!

कवि : दुर्बलता एवं अनाचार का पोषक—प्लेटो के विचार से कवि न केवल श्रनुपयोगी एवं महत्त्वशून्य है, श्रिपितु वह समाज में दुर्वलता एवं श्रनाचार के पोषण करने का भी ग्रपराध करता है। प्लेटो के विचार से किसी भी समाज ग्रीर राज्य में सत्य, न्याय ग्रीर सदाचार की प्रतिष्ठा तभी संभव है जबिक उसके सभी व्यक्ति श्रपनी वासनाग्रों एवं भावनात्रों पर पूरा नियंत्रण रखते हुए विवेक-बुद्धि एवं नीति-ज्ञान के स्रनुसार चलें। इसके विपरीत कवि ग्रपनी रचनाग्रों के माध्यम से व्यक्तियों की वासनाग्रों एवं भावनाग्रों को उद्देलित कर देता है-ऐसी स्थिति में उसकी भावनाएँ प्रवल हो जाती हैं और वृद्धि का ग्रंकुश ढीला पड़ जाता है। यह स्थिति व्यक्ति को न केवल दुर्वल एवं ग्रशक्त बनाती है, ग्रिपतु उसे कुमार्ग की ग्रोर भी ग्रग्रसर करती है ! यह ठीक है कि कविता से ग्रानन्द मिलता है-इसे प्लेटो महोदय अस्वीकार नहीं करते, पर ऐसे आनन्द से क्या लाभ जो हममें दुर्वलता एवं दुराचार की प्रवृत्ति का संचार करे ! इसीलिए उसकी स्पष्ट घोषणा है कि यदि हम राज्य में सत्य, न्याय भ्रौर सदाचार की रक्षा करना चाहते हैं तो कविता का वहिष्कार करना होगा ! कवियों को राज्य से निकाल देना होगा। उन्हें राज्य में वापस ग्राने की भी छूट दी जा सकती है, बशर्ते कि वे यह सिद्ध कर सकें कि कविता न केवल ग्रानन्ददायक है, ग्रपितु राज्य ग्रौर मानव-समाज के लिए हितकर भी है। पर घ्यान रहे वह किवयों को ग्रपनी वकालत किवता में नहीं, ग्रपितु गद्य में ही करने की अनुमति देता है, क्योंकि उसे भय है कि कविता में बोलने की छूट दी गयी, तो कदाचित् वे हमें फुसला लेने में सफल हो जायँ !

अक्षेपों पर पुनिवचार—इस प्रकार प्लेटो ग्रपनी घोर ग्रादर्शवादिता के कारण किवता का पूर्णतः बिह्ष्कार कर देता है, किन्तु यदि उसके ग्राक्षेपों पर पुनिवचार किया जाय तो वे एकांगी एवं निरर्थक सिद्ध होंगे। सबसे पहले मिथ्या जगत् की मिथ्या ग्रनुकृति की ही बात लीजिए—प्लेटो के विचार से प्रत्यक्ष या तत्त्व (Idea) सत्य है, पदार्थं या वस्तु मिथ्या है; इस दृष्टि से किव सत्य का विज्ञापक सिद्ध होता है, क्योंकि वह वस्तु विचार में पुनः रूपान्तरित कर देता है। वह व्यक्ति, नगर, उपवन, भवन ग्रादि स्थूल पदार्थों को पदार्थ-रूप में नहीं, ग्रपितु विचार-रूप में परिणत कर देता है। दूसरे शब्दों में यदि ग्रघ्यात्मलोक का विचार-जगत् चिरन्तन, शाश्वत एवं सत्य है तथा भौतिक लोक नाशवान् एवं मिथ्या है, तो किव भौतिक लोक के नाशवान् पदार्थों को पुनः वैचारिक सत्ता में परिणत करता हुग्रा उन्हें शाश्वत रूप प्रदान कर देता है। किव जिन वस्तुग्रों एवं पात्रों की रचना करता है, वे ग्रमर होते हैं; ग्रतः कहना चाहिए कि यह मिथ्या जगत् को सत्य में पुनः परिणत कर देता है। गिणत का नियम है कि दो निषेघात्मक तथ्य एक विघेयात्मक तथ्य में परिणत हो जाते हैं (Two negatives make one positive)—

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नियम के श्रनुसार भी 'मिथ्या जगत् की मिथ्या ग्रनुकृति = सत्यकृति' कही जा सकती है। श्रतः उसका पहला श्राक्षेप भ्रामक एवं ग्रसंगत सिद्ध होता है।

दूसरे श्राक्षेप के अनुसार किव अमौलिक एवं अज्ञानी है, क्योंकि वह सांसारिक वस्तुओं के अनुसार ही वर्णन करता है तथा उन वस्तुओं का शास्त्रीय (technical) ज्ञान भी उसे नहीं होता। उदाहरण के लिए जूता बनाने की कला से अभिज्ञ न होते हुए भी वह जूतों का वर्णन अपनी रचना में कर देता है—अतः वह अज्ञानी है। पर प्लेटो महोदय भूल गये कि यदि वह जूता बनाने की कला भी जानता होता, तो उससे उसकी रचना में कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि किवता में इसका कोई उपयोग होना किन था और यदि वह अपने ज्ञान-प्रदर्शन के लिए इसका उपयोग चेष्टापूर्वक करता भी, तो उससे उसकी रचना किवता न बनकर शास्त्र बन जाती। वस्तुतः इस विद्या का ज्ञान मोचियों के लिए ही अपेक्षित है—किवयों के लिए नहीं। कला और शास्त्र के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, अतः कलाकार से शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा करना अनुचित है।

तीसरे और चौथे ग्राक्षेपों के ग्रनुसार किवता ग्रनुपयोगी, दुर्वलता की पोषक एवं ग्रनाचार की प्रचारक है, इसिलए वह त्याज्य है। यहाँ हम सबसे पहले यही पूछते हैं कि 'उपयोगिता' क्या है ? किसी वस्तु को उपयोगी बताने की कसौटी क्या है ? क्या रोटी, वस्त्र ग्रीर मकान उपयोगी हैं ? यदि हैं तो क्यों ? इनके उत्तर में कदाचित् कहा जाय कि ये प्दार्थ व्यक्ति के जीवन की रक्षा करते हैं— पर प्लेटो के विचार से तो व्यक्ति का जीवन भी नाशवान है ग्रीर ये वस्तुएँ भी नाशवान् हैं, ग्रतः सब मिथ्या हैं। जब जीवन ग्रीर जगत् मिथ्या ही हैं तो उन्हें बचाने का ग्रर्थ होगा मिथ्या की रक्षा करना ग्रीर सत्य को नष्ट करना!

शायद उपयोगिता की कसौटी यह बताई जाय कि जो वस्तु मानव-समाज को सुख पहुँचाती है, वह उपयोगी है। पर सुख की क्या कसौटी है ? एक व्यक्ति किसी के बाग से चुराकर श्राम खाता है—उससे उसे सुख मिलता है, तो क्या हम कहेंगे कि चुराकर श्राम खाना उपयोगी है ? कदाचित् यहाँ कहा जाय कि चोरी करना श्रनैतिकता है इसिलए उचित नहीं। दूसरे शब्दों में, ऐसा कार्य जो श्रनैतिक न होते हुए भी किसी को या समूह को सुख पहुँचावे, तो वह उपयोगी कहा जा सकता है ! इस दृष्टि से किता को देखा जाय तो वह भी कम उपयोगी सिद्ध न होगी। कितता के लिए श्रनैतिकता का होना श्रावश्यक नहीं है—वह सारे समाज को श्रानन्द पहुँचाती है, श्रतः उसे उपयोगी कहा जा सकता है। सच पूछा जाय तो जहाँ दूसरी वस्तुएँ श्रप्रत्यक्ष रूप से निम्नकोटि का सुख (ऐन्द्रिक श्रानन्द) पहुँचाती हैं वहाँ कितता उच्च कोटि का बौद्धिक श्रानन्द प्रत्यक्ष रूप में पहुँचाती है।

यह कहना भी अनुचित है कि भावनाएँ सदा व्यक्ति को दुर्बल एवं कुमार्गी ही बनाती हैं। यदि युद्ध-भूमि में प्राणों का बिलदान करने वाले सिपाही में राष्ट्र-प्रेम एवं कर्त्तव्य-परायणता की भावना न हो तो वह क्यों आत्म-त्याग करेगा ? कोरी बुद्धि एवं शुष्क विचार हमें किसी भी भले-बुरे कार्य से विमुख तो कर सकते हैं, पर किसी भी अहान् कार्य में प्रवृत्त नहीं कर पाते। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब तक हमारे विचार,

चाहे वे कितने ही उच्च एवं उदात्त क्यों न हों, हमारी भावनाओं के अंग नहीं बन जाते या यों किहए कि वे भावानुभूति में परिणत नहीं हो जाते, तब तक उन्हें क्रियान्वित करना किठन होता है। मानसिक प्रवृत्तियों का क्रम यह है—बुद्धि > भावना > क्रिया। यदि हम अपने जीवन से भावना को विल्कुल निकाल दें—यद्यपि यह असंभव है—तो हम सर्वथा गितिहीन एवं कर्मशून्य हो जाएँगे। अतः प्लेटो का यह संदेह अनावश्यक था कि किवता के कारण होनेवाले प्रत्येक भावोद्देलन से व्यक्ति दुर्वल एवं दुराचारी बनता है। हाँ, निम्नकोटि की वासना-प्रधान कुछ किवताओं पर भले ही यह बात लागू होती हो।

कविता प्रत्यक्ष रूप में नीति-नियमों एवं सदाचार की शिक्षा नहीं देती, पर अप्र-त्यक्ष रूप में वह जैसा गंभीर प्रभाव उत्पन्न करती है, वैसा किसी अन्य साधन से संभव नहीं। इसीलिए अनेक वार दार्शनिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक विचारों के प्रति-पादन के लिए कविता का माध्यम अपनाया गया है। कवीर, तुलसी, भारतेन्दु जैसे कवियों ने वैचारिक क्रांति में जो सफलता प्राप्त की, उसका श्रेय उनकी काव्य-कला को ही है। वस्तुतः भारतीय आचार्यों ने काव्य को 'कान्तासम्मित उपदेश' मानकर इस तथ्य की पुष्टि की है कि कविता नीति और सदाचार की शिक्षा भी अप्रत्यक्ष रूप में दे सकती है।

सच पूछें तो काव्य या साहित्य वौद्धिक ग्रानन्द प्रदान करने के साथ-साथ हमारी सामाजिक चेतना का परिष्कार करता हुग्रा हमें व्यक्तिगत स्वार्थों के बन्धनों एवं निजी ग्रहं की सीमाग्रों से मुक्त करता है। ग्राचार्य शुक्ल की शब्दावली में वह हमें भाव-योग के मार्ग से मुक्ति प्रदान करता है। ग्रतः कलात्मक, सामाजिक, नैतिक एवं ग्राच्यात्मिक—इन सभी दृष्टिकोणों से कविता मूल्यवान सिद्ध होती है। यह दूसरी बात है कि संकीण दृष्टि, क्षुद्र मनोवृत्ति एवं निजी सीमाग्रों के कारण कोई कवि ग्रपनी रचना का उपयोग वासनाग्रों के उत्तेजन, क्षुद्रताग्रों के प्रसार एवं ग्रनैतिकता की स्थापना के लिए करे, पर इसमें कविता का क्या दोष है! यदि कोई स्वर्णघटित प्याले में ग्रमृत के स्थान पर विष ढालकर परोसे तो इसमें बेचारे प्याले का क्या दोष !

प्लंटो की उपलब्धियाँ—ग्रस्तु, सामान्य रूप में प्लंटो के सभी श्राक्षेप निरर्थक एवं भ्रामक सिद्ध होते हैं, पर यह बात केवल सच्चे साहित्यकारों की सात्विक रचनाश्रों के ग्राधार पर ही कही जा सकती है। कई बार किव ग्रीर कलाकार भी युगीन प्रवृत्तियों में बहकर ग्रपनी रचनाश्रों को वासनाश्रों, कुण्ठाश्रों एवं ग्रनाचारों की ग्रिभव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। वे किव-कर्म को जीवन की उदात्त एवं गंभीर साधना बनाने की ग्रपेक्षा उसे कामुक लम्पटों एवं व्यभिचारियों की कला का रूप दे देते हैं—ऐसी स्थिति में किवता सचमुच ग्रपने उच्च सिहासन से लुढ़ककर बाजार की गंदी-गिलयों में—कूड़े के ढेर पर ग्रासीन हो जाती है! दुर्भाग्य से प्लेटो भी ऐसे ही वातावरण में जी रहा था। ग्रीर यह सच है कि जब-जब किवता वासना से उन्मत्त, क्षुद्र व्यक्तियों ग्रथवा प्रतिभाशून्य नपुंसकों के हाथों में पड़ जाती है, तब-तब वह कला-प्रदर्शन के स्थान पर नग्न होकर भोंडा नाच करने ग्रथवा ग्रस्पष्ट, बेसुरे एवं कर्कश स्वर में गाने के लिए विवश

0

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होती है! ऐसी स्थिति में समाज कविता को उपेक्षित या निर्वासित कर देने के लिए भी प्रस्तुत हो तो स्वाभाविक है।

किवता की बुराई करते हुए भी उसकी प्रकृति एवं प्रक्रिया के वारे में प्लेटो ने जो संकेत दिये थे, वे म्रनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो उसने किवता को म्रनुकृति बताकर काव्य-मीमांसा के क्षेत्र में एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, जो परवर्ती युग में विकसित होकर काव्य-समोक्षा का म्राधार बना। दूसरे, उसने काव्यानुभूति का स्वरूप मानन्ददायक एवं उसका म्राधार भावोद्धेलन को स्वीकार करते हुए म्रास्वादन-प्रक्रिया के म्राधारभूत सूत्रों की स्थापना की। इस दृष्टि से प्लेटो की स्थापनाएँ भारतीय रस-सिद्धान्त के बहुत निकट पड़ती हैं, क्योंकि दोनों ही काव्यानुभूति को भावोद्धेलन के द्वारा म्रानन्दानुभूति की उपलब्धि मानते हैं। फिर भी म्रपने दृष्टिकोण की एकांगिता एवं म्रपने युग के काव्य की दृष्टित प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण वह किवता को निष्पक्ष एवं संतुलित दृष्टि से नहीं देख सका। सच पूछा जाय तो वह मूलतः काव्य-मीमांसक नहीं, दार्शनिक एवं राजनीतिज्ञ था, उसका सर्वोच्च लक्ष्य ग्रपने सपनों के म्रादर्श गणराज्य की प्रतिष्ठा करना था—ऐसी स्थिति में उसके हाथों यदि किवता का म्रपमान हुम्रा तो क्या म्राश्चर्य ! साथ ही हमें यह भी न मूलना चाहिए कि जब-जब किव म्रपने उदात्त लक्ष्य से च्युत होकर वासना के कर्दम में लिस होता है, तब-तब उसकी वही गित होती है, जो प्लेटो के द्वारा हुई ! ऐसी स्थिति में किसे दोष दिया जाय !

: सोलह :

अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त

- १. ग्ररस्तू का सामान्य परिचय।
- २. अनुकृति-सिद्धांत ।
- ३. ग्रनुकृति-सिद्धान्त की व्याख्या एवं समीक्षा ।
- ४. विरेचन-सिद्धान्त ।
- ५. काव्य-रूपों का विवेचन ।
- ६. उपसंहार।

पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में यूनानी विद्वान् ग्ररस्तू (३७४ ई० पू०—३२२ ई० पू०) का स्थान इतना ग्रधिक महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें यदि पाश्चात्य विद्याग्रों का ग्रादि ग्राचार्य भी कह दिया जाय तो ग्रत्युक्ति नहीं होगी। वे एक ग्रोर प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के ग्रिष्य थे तो दूसरी ग्रोर विश्व-विजेता सिकन्दर महान् के गुरु होने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है। उन्होंने ग्रपने जीवन में लगभग चार सौ ग्रन्थों की रचना की जिनमें तर्क-शास्त्र, भौतिकशास्त्र, मनोविज्ञान, ज्योतिविज्ञान, राजनीति-शास्त्र, ग्राचार-शास्त्र, काव्य-शास्त्र ग्रादि ग्रनेक विषयों की सार-गिमत विवेचना मिलती है। उनके साहित्य-सम्बन्धी विचार "काव्य-शास्त्र" (Poetics) एवं "भाषण-शास्त्र" (Rhetorics) में उपलब्ध होते हैं। इन्हीं के ग्राधार पर हम यहाँ उनके प्रमुख काव्य-सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

धनुकृति सिद्धान्त

ग्ररस्तू का सबसे ग्रधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'ग्रनुकृति-सिद्धान्त' है। वे ग्रनुकृति को ही विभिन्न कलाग्रों—जिनमें काव्य-कला भी सम्मिलित है—का मूलाधार मानते हैं। यदि भारतीय शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि ग्ररस्तू के विचार से काव्य की ग्रात्मा 'ग्रनुकृति' है। उन्होंने इस ग्रनुकृति के माध्यम, विषय ग्रौर विधान का विस्तार से विचार किया है। यद्यपि सभी कलाग्रों का मूल तत्त्व ग्रनुकृति ही है, किन्तु उन सबके माध्यम ग्रादि के पारस्परिक ग्रन्तर के कारण ही वे एक दूसरी से पृथक् की जाती हैं, ग्रतः काव्य के विशिष्ट ग्रध्ययन के लिए उसके माध्यम ग्रादि का ज्ञान ग्रपेक्षित है।

(१) काव्य में भ्रनुकृति का माध्यम—जिस प्रकार संगीत में सामंजस्य भ्रौर लय का, नृत्य में केवल लय का, उपयोग होता है, उसी प्रकार काव्य-कला में भ्रनुकृति के लिए भाषा का उपयोग किया का क्ष्मिक किया है असिक आधारण सुद्धा प्रदान होनों में से किसी भी रूप में प्रयुक्त हो सकती है। सामान्यतः लोग इस ग्रनुकृति के तत्त्व को भूलकर केवल छन्द को ही कविता का प्रमुख लक्षण मान लेते हैं, किन्तू अरस्तू ने इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'....it is the way with people to talk on 'poet' to the name of a metre, and talk of elegiac-poets, and epicpoets thinking that they call them poets not by reason of the imitative nature of their work, but indiscriminately by reason of the metre they write in. Even if a theory of medicine or physical philosophy be put forth in a metrical form, it is usual to describe the writer in this way....' अर्थात् 'प्रायः लोग 'छन्द' के साथ 'कवि' शब्द इस तरह जोड़ देते हैं, भीर शोक-गीति-रचियताओं की चर्चा इस प्रकार करते हैं मानों वे अनुकृति के नहीं, वरन् छन्द के ही भ्राघार पर, निर्विवेक रूप से कविपद के भ्रधिकारी हों। यदि चिकित्सा-शास्त्र या भौतिक-दर्शन का कोई भी सिद्धान्त छन्दोबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय तो उसके भी प्रस्तुत-कत्ती को प्रथानुसार कवि कहा जायगा। वस्तुतः ग्ररस्तू के विचार से साहित्य को भौतिक-शास्त्र से पृथक् करनेवाला तत्त्व छन्द नहीं ग्रपितु 'ग्रनुकृति' है तथा उस ग्रनुकृति के लिए छन्द ही माष्यम हो-ऐसा ग्रावश्यक नहीं, भाषा का कोई भी रूप काव्यात्मक अनुकृति का माघ्यम बन सकता है।

- (२) अनुकरण के विषय—काव्य में क्रिया-कलापों की अनुकृति प्रस्तुत होती है श्रीर इन क्रिया-कलापों के प्रतिनिधि होते हैं—मनुष्य। इन मनुष्यों को भी दो वर्गों में वाँटा जा सकता है—ग्रच्छे श्रीर बुरे। यह विभाजन मुख्यतः नैतिक श्राचरण पर श्राधा-रित है तथा नैतिक श्राचरण के विभेदक लक्षण हैं—सद्वृत्ति श्रीर दुवृ्ति । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में या तो यथार्थ जीवन से श्रेष्ठतर व्यक्तियों के कार्य प्रस्तुत होते हैं या हीनतर या फिर यथावत् रूप में। यह भेद चित्रकारी, नृत्य, संगीत श्रादि में भी मिलता है। काव्य के त्रासदी श्रीर कामदी—दो भेदों में से कामदी का लक्ष्य हीनतर रूप को प्रस्तुत करना होता है, जबिक त्रासदी का लक्ष्य है भव्यतर चित्रण करना। इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि काव्य में मानवीय क्रिया-कलापों का श्रनुकरण होता है।
- (३) अनुकृति की विधि काव्य के विभिन्न रूपों में भ्रनुकृत विषय एवं उनके माध्यम की समानता होते हुए भी उनमें परस्पर विधि या शैली का ग्रन्तर विद्यमान रहता है श्ररस्तू ने सामान्यतः तीन शैलियों का उल्लेख किया है—(१) जहाँ किव कहीं श्रपने विषय का वर्णन करता है तथा कहीं भ्रपने पात्रों के मुंह से कुछ कहलवा देता है। उदाहरण के लिए होमर का काव्य देखा जा सकता है। (२) प्रारम्भ से लेकर भ्रन्त तक किव सर्वत्र एक जैसा ही रूप रखे। (३) किव स्वयं दूर रहकर समस्त पात्रों को नाट-कीय शैली में प्रस्तुत करे। भ्ररस्तू के इस वर्गीकरण को भ्रौर भ्रधिक स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि पहली शैली प्रवन्धात्मक है, जिसमें किव तथा विभिन्न पात्र प्रसंगानुसार कुछ कह सकते हैं। दूसरी भ्रात्माभिव्यंजनात्मक है, जिसमें स्वयं किव या कोई एक पात्र ही भ्रादि से लेकर भ्रन्त तक सारी विषयान्त्र स्तुत्व करता है। तीसरी

नाट्य शैली है, जिसमें सभी पात्र वक्ता हो सकते हैं, जबिक किव की मौन हो जाना पडता है।

(४) काव्य में अनुकृति का सहत्त्व—ग्ररस्तू ने ग्रनुकृति को इतना ग्रधिक महत्त्व प्रदान किया है कि उनके विचार से काव्य की सृष्टि ग्रौर उसके ग्रास्वादन का मूल कारण ग्रनुकृति ही है। वे काव्य के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि कविता सामा-न्यतः दो कारणों से प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है। इनमें से पहला कारण है—मानव की सहज स्वाभाविक ग्रनुकरण की प्रवृत्ति। "ग्रनुकरण की यह प्रवृत्ति मनुष्य में शैशवा-वस्था से ही विद्यमान रहती है। मनुष्य ग्रौर ग्रन्य प्राणियों में एक ग्रन्तर यह है कि वह जीवधारियों में सबसे ग्रधिक ग्रनुकरणशील होता है तथा ग्रारम्भ में वह सव कुछ ग्रनु-करण के द्वारा ही सीखता है।" कविता की उत्पत्ति के दूसरे कारण के रूप में उसने सामंजस्य ग्रौर लय की प्रवृत्ति का ग्राख्यान किया है।

काव्य-सृष्टि के साथ-साथ काव्यास्त्रादन का रहस्य भी मनुष्य की अनुकरण की प्रवृत्ति में ही निहित है। अरस्तू के विचार से—''अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभीम नहीं है। अनुभव इसका प्रमाण है—जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है, उन्हीं की यथावत् प्रतिकृति को देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।'' यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुकृति को देखकर हमें प्रसन्नता क्यों होती है ? इसका उत्तर देते हुए अरस्तू ने बताया है कि ज्ञान के अर्जन से प्रत्येक व्यक्ति को प्रवल आनन्द प्राप्त होता है। ''अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उससे वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, वह वस्तुओं का अर्थ-प्रहण करता हुआ सोचता है—''अरे, यह तो वह व्यक्ति है...''

उपर्युक्त मान्यता के विपरीत कई बार हम यह भी देखते हैं कि जिस वस्तु को हमने पहले नहीं देखा, उसे भी देखकर हम प्रसन्नता का अनुभव करते हैं—अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि कलाजन्य आनन्द अनुकृति-जन्य आनन्द ही है। अरस्तू भी इसे स्वीकार करता हुआ कहता है कि "यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा—वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृत होगा।"

भ्रनुकृति-सिद्धान्त की व्याख्या एवं समीक्षा

श्ररस्तू के अनुकृति-सिद्धान्त की परवर्ती विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से व्याख्या करते हुए उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया। सबसे पूर्व तो अनेक विद्वानों ने अरस्तू के द्वारा प्रयुक्त 'मीमेसिस' (Mimesis) शब्द की ही मीमांसा की। यद्यपि यह शब्द अरस्तू का अपना आविष्कार नहीं था, तथा यूनानी भाषा में यह बहुत पूर्व से प्रवित्त था। काव्य के क्षेत्र में इसका प्रयोग अरस्तू से पूर्व प्लेटो भी कर चुके थे, किन्तु फिर भी आलोचकों का विचार है कि अरस्तू ने इसका प्रयोग प्लेटो से अधिक सूच्म अर्थ में किया था। बूचर महोदय के विचारानुसार 'अनुकृति' का अर्थ सादृश्य-विधान अथवा मूल का पुनष्टसहन् उनहीं होता, अपितु

जैसा वह इंद्रियों को प्रतीत होता है वैसा उत्पादन होता है। प्रो० गिलवर्ट मरे ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए बताया कि 'अनुकरण' शब्द में 'करण' या 'सृजन' विद्यमान है, अतः अनुकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है, अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आश्य है ऐसे प्रभाव का उत्पादन, जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध, प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है। 'स्कॉट जेम्स ने अनुकरण को कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्यायवाची माना है। अस्तु, विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से 'अनुकरण' का स्पष्टी-करण करने का प्रयास किया है, किन्तु हमारे विचार से 'अनुकरण' शब्द अपने-आपमें इतना स्पष्ट है कि स्पष्टीकरण का वहाना वनाकर वे विद्वान् अपनी-अपनी मान्यताओं को अरस्तू पर थोपने का प्रयत्न करते रहे हैं। यही कारण है कि इनके द्वारा नई व्याख्याएँ ही अधिक हुई हैं, स्पष्टीकरण नहीं।

श्ररस्तू के भारतीय व्याख्याता डा० नगेन्द्र ने भी उनके श्रनुकृति सिद्धान्त की व्याख्या एवं समीक्षा करने का सफल प्रयास किया है। एक श्रोर उन्होंने 'मीमेसिस' (श्रनुकरण) शब्द की श्रावश्यकता को स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है— "मीमेसिस" का श्रर्थ 'इमीटेशन' के श्रर्थ से इतना भिन्न नहीं है कि उसमें सर्जना का भी श्रन्तर्भाव हो सके, श्रतएव यह श्राक्षेप श्रसंगत नहीं हो सकता कि श्ररस्तू ने उचित शब्द का प्रयोग नहीं किया। जो श्रर्थ उन्होंने श्रनुकरण शब्द में भरना चाहा है, वह उसकी सामर्थ्य के बाहर है।'—तो दूसरी श्रोर उन्होंने उसके श्रर्थ-तत्त्व का श्रनुसंधान करते हुए कहा—''परन्तु शब्द को लेकर विवाद करना श्रधिक सार्थक नहीं होगा— विवेच्य विषय तो श्रर्थ है। यह सिद्ध है कि श्रनुकरण का श्रर्थ यथार्थ प्रत्यंकन-मात्र नहीं है—वह पुनः सर्जन का पर्याय है श्रौर उसमें भाव-तत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का यथेष्ट श्रन्तर्भाव है, उसमें सर्जना श्रौर सर्जना के श्रानन्द की श्रस्वीकृति कदापि नहीं है।'' (श्ररस्तू का काव्य-शास्त्र: भूमिका, पृ० ११)

विरेचन सिद्धान्त

अरस्तू का कला सम्बन्धी दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त—विरेचन सिद्धान्त है। 'विरेचन' का अर्थ है, विचारों का निष्कासन या शुद्धि। मूलतः इस शब्द का सम्बन्ध चिकित्सा-शास्त्र से है, जिसमें रेचक श्रौषधि के द्वारा शारीरिक विकारों की शुद्धि को विरेचन कहते हैं। अरस्तू से पूर्व भी यह शब्द यूनान में प्रचलित था, किन्तु साहित्य पर इसे लागू करने का श्रेय अरस्तू को ही है। प्लेटो ने कला श्रौर काव्य पर यह आक्षेप लगाया था कि इनसे हमारी दूषित वासनाएँ श्रौर मनोवृत्तियाँ उत्तेजित एवं पुष्ट होती हैं—सम्भवतः इसी का खण्डन करने के लिए अरस्तू ने प्रतिपादित किया कि कला श्रौर साहित्य के द्वारा हमारे दूषित मनोविकारों का उचित रूप में विरेचन हो जाता है—अतः वे समाज के लिए हानिकारक नहीं हैं। संगीत के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उसने लिखा—"संगीत सुनते समय हम कार्य श्रौर श्रावेग को श्रीभव्यक्त करनेवाले रागों का भी श्रानन्द ले सकते हैं, क्योंकि करणा श्रौर आवेग को श्रीभव्यक्त करनेवाले रागों का भी श्रानन्द ले सकते हैं, क्योंकि करणा श्रौर आवेग को श्रीभव्यक्त करनेवाले रागों का भी श्रानन्द ले सकते हैं, क्योंकि करणा श्रौर आवेग को श्रीभव्यक्त करनेवाले रागों का भी श्रानन्द ले सकते हैं, क्योंकि करणा श्रौर आवेग को श्रीमव्यक्त करनेवाले रागों में बड़े

प्रवल होते हैं ग्रौर न्यूनाधिक प्रभाव तो प्रायः सभी पर रहता है। कुछ व्यक्ति हाल को दशा में ग्रा जाते हैं; किन्तु हम देखते हैं कि धार्मिक रागों के प्रभाव से—ऐसे रागों के प्रभाव से, जो कि रहस्यात्मक ग्रावेश को उद्वुद्ध करते हैं—वे शान्त हो जाते हैं, मानो उनके ग्रावेश का शमन ग्रौर विरेचन हो गया हो। करुणा ग्रौर त्रास से ग्राविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति इस प्रकार का ग्रनुभव करता है ग्रौर दूसरे भी ग्रपनी-ग्रपनी संवेदनशक्ति के ग्रनुसार प्रायः सभी—इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का ग्रनुभव करते हैं,

उनकी ग्रात्मा विशद ग्रौर प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष ग्रानन्द प्रदान करते हैं।" (ग्ररस्तू का काव्य-शास्त्र: भूमिका, पृ० ५६) इसी प्रकार त्रासदी के प्रसंग में भी ग्ररस्तू ने लिखा कि करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन हो जाता है। ग्रतः स्पष्ट है कि ग्ररस्तू कलाग्रों का

लक्ष्य मनोविकारों का विरेचन मानते हैं।

ग्ररस्तु-परवर्ती विद्वानों ने 'विरेचन' शब्द की व्याख्या करते हुए इसके विभिन्न ग्रर्थ किए हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं--(१) धर्म-परक ग्रर्थ, (२) नीति-परक-ग्रर्थ, (३) कला-परक-ग्रर्थ। धर्म-परक-ग्रर्थ के ग्रनुसार विरेचन का ग्रर्थ है—वाह्य विकारों की उत्तेजना और उनके शमन के द्वारा आत्मा की शुद्धि और शान्ति । नीति-परक-ग्रर्थ है---मनोविकारों की उत्तेजना द्वारा विभिन्न ग्रन्तवृं तियों का समन्वय या मन की शान्ति ग्रौर परिष्कृति । विरेचन सिद्धान्त की कला-परक-व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों के विचार से कलाजन्य ग्रानन्द भी विरेचन की परिधि में ग्राता है तो कुछ इसे ग्रस्वीकार भी करते हैं। उनके विचार से 'विरेचन' केवल ग्रभावात्मक (विकारों का ग्रभाव मात्र) क्रिया है, परितोष या ग्रानन्द का भाव उसकी सीमा से बाहर है किन्तु प्रो॰ बूचर ने इस प्रकार के तर्कों का खंडन करते हुए बताया है कि विरेचन के दो पक्ष हैं — एक ग्रभावात्मक ग्रीर दूसरा भावात्मक । मनोवेगों के उत्तेजन ग्रौर तत्पश्चात् उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति उसका ग्रभावात्मक पक्ष है, इसके उपरान्त कलात्मक परितोष उसका भावात्मक पक्ष है । डा० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुए वूचर की मान्यता को ग्रस्वीकार करते हुए लिखा है—"हमारा मत है कि विरेचन कला-स्वाद का साधक तो ग्रवश्य है—समंजित मन कला के ग्रानन्द को ग्रिधिक तत्परता से ग्रहण करता है, परन्तु विरेचन में कला-स्वाद का सहज भ्रन्तर्भाव नहीं है, ग्रतएव विरेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित् न्याय नहीं है, यह व्याख्या कार की अपनी घारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उनके शमन से उत्पन्न मनःशान्ति तक ही सीमित है। 'विरेचन' शब्द से मन की वह विशवता ही ग्रभिप्रेत है, जिसके ग्राधार पर वर्तमान भ्रालोचक रिचर्ड्स ने, 'ग्रन्तर्वृत्तियों के समंजन' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विरेचन' की कला-परक व्याख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। हमारी दृष्टि में इस मतभेद का मूल कारण यह है कि विरेचन एक अपूर्ण एवं सीमित सिद्धान्त है, जो केवल दुःखान्त रचनाओं पर ही लागू होता है; किन्तु अरस्ट्र के आधुआता का क्षेत्र परिपूर्ण सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करके व्याख्या

करने का प्रयास करते हैं। काव्य और कलाओं द्वारा हमारी सभी प्रकार की भावनाओं की उद्दीप्ति और ग्रिभव्यक्ति होती है जबिक विरेचन का सम्बन्ध केवल 'विकृत' या 'ग्रशुद्ध' भावनाओं से ही है। ग्रशुद्ध एवं कलुषित भावों के रेचन से मन के ग्रानन्द प्राप्त करने की बात मानी जा सकती है, किन्तु पवित्र एवं शुद्ध भावों के रेचन के सम्बन्ध में क्या कहा जायगा! ग्रवश्य ही इस प्रसंग में विरेचन की बात नहीं कही जा सकती। ग्रस्तु, इस एकांगी सिद्धान्त को सर्वाङ्गीण रूप देना उचित प्रतीत नहीं होता।

विरेचन-सिद्धान्त ग्रौर ग्रभिनवगुप्त का ग्रभिव्यक्तिवाद

श्ररस्तू के विरेचन सिद्धान्त की तुलना भारतीय श्राचार्य श्रभिनवगुप्त के श्रभिव्यक्तिवाद से भी की जा सकती है, क्योंकि दोनों श्राचार्य काव्यानन्द या रसास्वादन के
मूल में वासनाग्रों के रेचन या उनकी श्रभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं।
श्रभिनवगुप्त ने साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि
काव्य के माघ्यम से पाठक की हृदयस्थित वासनाग्रों की उदीित एवं श्रभिव्यक्ति होती
है—उनका यह 'श्रभिव्यक्ति' शब्द यहाँ श्ररस्तू के रेचन का समानार्थक माना जा सकता
है। इस दृष्टि से दोनों सिद्धान्त एक ही हैं, किन्तु उनमें परस्पर थोड़ा श्रन्तर भी है।
जहाँ श्ररस्तू महोदय केवल दूषित वासनाग्रों के ही रेचन की बात कहते हैं, वहाँ श्रभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। वे सभी प्रकार की वासनाग्रों की ग्रभिव्यक्ति की वात स्वीकार
करते हैं। दूसरे श्ररस्तू का विरेचन सिद्धान्त मुख्यतः करुणा एवं त्रास भाव की दृष्टि
से प्रतिपादित है, जबिक श्रभिनवगुप्त का ग्रभिव्यक्तिवाद सभी भावों पर लागू होता है।
श्रस्तु, इस थोड़े से श्रन्तर के होते हुए भी इन दोनों को पर्याप्त निकट माना जा
सकता है।

काव्य-रूपों का विवेचन

श्ररस्तू ने विभिन्न काव्य-रूपों की भी विस्तार से मीमांसा करते हुए ग्रनेक महत्त्वपूर्ण वातें कही हैं। उन्होंने मुख्यतः काव्य के ये पाँच रूप माने हैं—(१) महाकाव्य,
(२) त्रासदी, (३) कामदी, (४) रौद्र स्तोत्र, (५) गीतकाव्य। इनमें से उन्होंने प्रथम
तीन को ही महत्त्वपूर्ण माना है, शेष की चर्चा गौण रूप से की है। महाकाव्य को उन्होंने
'उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्मबद्ध ग्रनुकृति' मानते हुए उसकी ग्रनेक विशेषताएँ वर्ताई
हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) महाकाव्य काव्य का एक भेद हैं। (२) इसमें एक ही
समय में घटित होनेवाली ग्रनेक घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। (३) इसमें उच्चकोटि के
पात्रों का चित्रण होता है। (४) इसका ग्राकार विपुल होता है। (६) इनमें एक ही छन्द
का प्रयोग होता है। इसके ग्रतिरिक्त ग्ररस्तू ने महाकाव्य के चार मूल तत्त्वों पर प्रकाश
डाला है—कथावस्तु, चरित्र, विचार-तत्त्व ग्रौर पदावली। महाकाव्य के कथानक में
सामान्यतः ये विशेषताएँ होती हैं—(क) वह प्रख्यात होता है। (ख) उसका क्षेत्र विस्तृत
होता है। (ग) महाकाव्य का कथानक विस्तृत होते हुए भी किसी एक विशेष कार्य या
घटना से सुसम्बद्ध होना चाहिए। (घ) उसमें पूर्वापर क्रम, संभाव्यता तथा कुतूहल ग्रादि
के गुण भी होने चाहिए । (घ) उसमें पूर्वापर क्रम, संभाव्यता तथा कुतूहल ग्रादि

महाकाव्य के पात्रों के सम्बन्ध में श्ररस्तू की सम्मित यह है कि उनका भद्र, वैभवणाली, यशस्वी, कुलीन, सहज मानव-गुणों से विभूषित, एवं उदात्त होना अपेक्षित है। इसी प्रकार उन्होंने उसकी शैली में गरिमा और प्रसाद की आवश्यकता वताई है। अस्तु, वस्तु, पात्र, शैली आदि सभी की दृष्टि से महाकाव्य एक आदर्श रचना होती है। अरस्तू की यह धारणा भारतीय आचार्यों के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। जैसा कि डॉ॰ नगेन्द्र ने 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र' की भूमिका में सिद्ध किया है—कथानक की ऐतिहासिकता, क्षेत्र की व्यापकता, कार्य की एकता, एवं प्रवन्ध की सुव्यवस्था आदि की दृष्टि से अरस्तू एवं भारतीय आचार्यों के महाकाव्य, सम्बन्धी लक्षण परस्पर अभिन्न हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि अरस्तू की दृष्टि महाकाव्य के बाह्य तत्त्वों पर ही अधिक रही—वे उसके भावतत्त्व की सूक्ष्मता तक नहीं पहुँच सके जबकि भारतीय विद्वानों ने ऐसा किया है।

नाटक के विभिन्न रूपों की व्याख्या करते हुए श्ररस्तू ने उसके मुख्यतः दो भेद निर्धारित किए हैं—(१) त्रासदी श्रीर (२) कामदी। इन दोनों का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। त्रासदी (Tragedy) की परिभाषा करते हुए उन्होंने बताया है कि इसमें किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित ग्रायाम से युक्त कार्य की ग्रनुकृति होती है। इसका माध्यम विभिन्न रूपों में प्रयुक्त ग्रलंकार भाषा होती है। यह वर्णनात्मक न होकर ग्रिभनयात्मक होती है तथा इसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक के द्वारा इन मनो-विकारों का उचित विवेचन किया जाता है। त्रासदी के मुख्यतः ये छः ग्रंग माने गए हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार-तत्त्व, दृश्य-विधान ग्रीर गीत। इनमें से भी कथानक, चरित्र-चित्रण ग्रीर विचार-तत्त्व ग्रनुकरण के विषय हैं जबिक दृश्य-विधान माध्यम है ग्रीर पद-रचना तथा गीत उसकी शैली है।

कामदी (Comedy) को ग्ररस्तू ने त्रासदी से हलकी मानते हुए लिखा है कि कामदी का लक्ष्य मनुष्य के हीन रूप का चित्रण करना होता है जबिक त्रासदी में उसका भव्य रूप प्रस्तुत किया जाता है। कामदी का मूल भाव भी हास्य होता है। उसकी विषय-वस्तु के ग्राधार के रूप में किसी ऐसे दोष या चारित्रिक विकृति को ग्रहण किया जाता है, जो कि दर्शकों के मन में हास्य का संचार कर सके। ग्रतः दोष ग्रधिक गम्भीर नहीं होना चाहिए, ग्रन्यथा वह हास्य की सृष्टि न करके किसी ऐसे गम्भीर भाव की उद्दीस कर देगा, जो कि कामदी के ग्रनुकूल न हो। इन भेदों के ग्रतिरिक्त तात्विक दृष्टि से कामदी ग्रीर त्रासदी में कोई गहरा ग्रन्तर नहीं हैं।

उपसंहार

ऊपर विभिन्न शीर्षकों के ग्रन्तर्गत ग्ररस्तू के प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर लेने के ग्रनन्तर ग्रन्त में हम कह सकते हैं कि काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में ग्ररस्तू के सिद्धान्त पूर्णतः स्वीकार्य न होते हुए भी ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ उनका ग्रनुकृति-सिद्धान्त कला की मूलभूत प्रकृति का परिचय देता है, वहाँ विरेचन से पाठक की ग्रानन्दानुभूति का रहस्य प्रकृति होता है । किन्तु साथ ही इनसे कला व काव्य के सम्बन्ध में भ्रांति का भी प्रचार होता है। श्रनुकृति-सिद्धान्त कला की नवीनता व मौलिकता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा देता है, तो विरेचन सिद्धान्त उसे मल एवं विकारों की शृद्धि करने-वाला सिद्ध कर देता है। ये दोनों ही सिद्धान्त कला को ग्रभावात्मक रूप दे देते हैं। यदि पहले से कोई वस्तु विद्यमान न हो तो कलाकार अनुकृति किसकी करेगा—और पाठक के मन में पहले से मल या विकार न हों तो कला किसका विरेचन करेगी! खैर, श्ररस्तू ने जिस युग के लिए ये सिद्धान्त प्रस्तुत किए थे, उस युग के लिए ये ठीक थे, किन्त्र भ्राज इन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करना किठन है ! हमारे विचार से अरस्तू के 'अनुकृति' के स्थान पर 'ग्रनुभति' ग्रौर 'विरेचन' के स्थान पर 'ग्रभिव्यक्ति' को रखना ग्राधनिक मान्यतास्रों के अधिक अनुकूल होगा। वैसे कुछ पाश्चात्य स्रालोचकों ने स्ररस्तू के इन शब्दों को इस तरह से घिसने का प्रयास किया है जिससे कि इनका अर्थ क्रमशः अनुभृति श्रौर अभिव्यक्ति हो जाय । ग्ररस्त के भारतीय व्याख्याता डा० नगेन्द्र ने भी उनके विचारों को नये सौन्दर्य से विभूषित करते हुए लिखा है—"वह अनुकृति नहीं है "परन्तू यह तो श्ररस्तू भी नहीं कहते । पहले तो 'ग्रनुकृति' शब्द के विषय में भी विद्वानों को यह ग्रापत्ति है कि ग्ररस्तू के 'मीमेसिस' शब्द का ग्रर्थ ग्रनुकरण नहीं है, परन्तु यदि इस शब्द को सदोष मान भी लिया जाये, तो भी उनका ग्राशय तो साधु है। यह निर्विवाद है कि वे काव्य को वस्तु का कल्पनात्मक पुर्नानर्माण या पुनःसृजन ही मानते हैं, स्थूल प्रतिरूपण नहीं।" ग्रतः हमें मानना चाहिए कि ग्ररस्तू के सिद्धान्त शाब्दिक दृष्टि से भले ही दोष-पूर्ण हों- उनका आशय तो ठीक ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि अरस्तू का 'साधू आशय' अरस्तू के ही शब्दों में अभिव्यक्त हो पाता तो अधिक अच्छा होता. क्योंकि आज यह शंका की जा सकती है कि कहीं यह साधु श्राशय, स्वयं श्ररस्तू का न होकर उनके साध व्याख्यातात्रों का ही न हो।

: सत्रह:

लोंजाइनस का औदात्य विवेचन

- १. सामान्य परिचय।
- २. ग्रीदात्य : स्वरूप-मीमांसा ।
- ३. श्रीदात्य का मूलाधार।
- ४. ग्रीदात्य के पाँच स्रोत ।
- ५. ग्रीदात्य के बाधक तत्त्व।
- ६. लोंजाइनस का पुनर्मूल्यांकन ।

यूनान के साहित्य-चिन्तकों की परम्परा में लोंजाइनस (Longinus) का गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी एक छोटी-सी रचना उपलब्ध है—On the Sublime ('ग्रीदात्य' पर विचार) जो कि ग्रनेक शताब्दियों तक ग्रज्ञात एवं ग्रप्रकाशित रही। ग्राधुनिक काल के विद्वानों को इसके ग्रस्तित्व का पता सर्वप्रथम १४५४ ई० में चला तथा तदनन्तर १६५२ ई० में इसका ग्रंगेजी ग्रनुवाद हुग्रा जिससे इसका प्रचलन योरप के विभिन्न भागों में हुग्रा। स्वयं लोंजाइनस के जीवन-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, कुछ उन्हें पहली शताब्दी का कोई ग्रप्रसिद्ध लेखक मानते हैं, तो दूसरे उन्हें तीसरी शताब्दी के सुप्रसिद्ध लोंजाइनस के रूप में स्वीकार करते हैं, जो कि महारानी जेनोविया का मन्त्री था तथा जिसने ग्रपनी स्वामि-भक्ति की प्रेरणा से ग्रात्मोत्सर्ग कर दिया था। हमारे विचार से लोंजाइनस का उदात्त चरित्र उन्हें 'ग्रौदात्य' ग्रन्थ का रचिता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, ग्रतः हम भी उन्हें तीसरी शताब्दी के महान् लोंजाइनस के रूप में स्वीकार करें तो ग्रनुचित न होगा।

'औदात्य' स्वरूप-मीमांसा—'ग्रीदात्य' (Sublime) ग्रन्थ का मूल प्रतिपाद्य ग्रीदात्य सिद्धान्त ही है जिसकी विवेचना विस्तार से की गई है। सबसे पहला प्रश्न उठता है—ग्रीदात्य क्या है। इसका समाधान करते हुए लोंजाइनस ने ग्रनेक बातें कही हैं—(१) ग्रीदात्य ग्रिमेन्यिक्त की उच्चता ग्रीर उत्कृष्टता का नाम है…। (२) ग्रिमेन्यिक्त की यह उच्चता (उदात्तता) श्रोता के तर्क का समाधान नहीं करती, वरन् उसे पूर्णत्या ग्रिमेमूत कर लेती हैं। (३) किसी वस्तु पर विश्वास करें या नहीं, यह ग्रपने वश में है, पर ग्रीदात्य ग्रपनी प्रवल एवं दुनिवार शक्ति के कारण प्रत्येक पाठक को ग्रनायास ही वहा ले जाता है। (४) किसी भी सर्जना के शिल्प, उसकी सुस्पष्ट व्याख्या ग्रीर तथ्यों के प्रस्तुतीकरण के गुणों का ज्ञान उसके एक या दो ग्रंशों से नहीं, ग्रपितु सम्पूर्ण रचना के शिल्प-विधान से घीरे-घीरे होता है, जबकि उदात्त विचार यदि ग्रवसर के ग्रनुकूल हो

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

तो एकाएक विद्युत की भाँति चमककर समूची विषय-वस्तु को प्रकाशित कर देता है तथा वक्ता के समस्त वाग्वैभव को एक क्षण में ही प्रकट कर देता है।

यदि उपर्युक्त कथनों का विश्लेषण करें तो श्रौदात्य के श्रनेक लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है—(क) श्रौदात्य को ग्रभिव्यक्ति की उच्चता से सम्बन्धित किया गया है, इसका श्रथं है कि वह शैली का कोई विशेष गुण है। (ख) दूसरे उद्धरण से ज्ञात होता है कि श्रौदात्य तर्क का समाधान नहीं करता, श्रपितु वह श्रोता को ग्रभिभूत कर लेता है, इसका तात्पर्य हुग्रा कि वह बौद्धिक तत्त्व न होकर भावोत्पादक गुण है, क्योंकि उसी स्थित में वह श्रोता को बहा सकेगा। (ग) तीसरे कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि ग्रौदात्य श्रोता को बलात् बहा ले जाता है ग्रर्थात् वह श्रत्यन्त प्रभावशाली होता है। (घ) चौथे कथन के श्रनुसार श्रौदात्य एक ऐसा विचार है, जो कि श्रवसरानुकूल हो रचना में एका-एक चमत्कार की भाँति स्फुरित होता है।

सच पूछें तो ये लक्षण परस्पर-विरोधी दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि एक स्थान पर ग्रीदात्य को शैली का गुण कहा गया है, तो दूसरे स्थान पर उसे भावावेग एवं तीसरे पर उसे चामत्कारिक विचार बताया गया है। ऐसी स्थिति में ग्रीदात्य को शैली से सम्बन्धित मानें या भाव ग्रथवा विचार से? इसका उत्तर जैसा कि लोंजाइनस की ग्रन्य स्थापनाग्रों से स्पष्ट होता है, यही है कि (ग्रीदात्य एक भाव भी है, विचार भी ग्रीर शैली भी! ग्रीदात्य को यहाँ इतने व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है कि उसकी सत्ता रचना के वस्तु पक्ष से लेकर शैली पक्ष तक—सर्वत्र व्यापक दिखाई देती है। इतना ही नहीं, लोंजाइनस के विचार से तो यह केवल कला का ही नहीं कलाकार का भी गुण है—जब कलाकार के व्यक्तित्व में ग्रीदात्य होता है तो वह उदात्त विषय, उदात्त भाव एवं उदात्त विचारों को ग्रपनाता है, परिणामस्वरूप उसकी शैली में भी ग्रीदात्य का संचार हो जाता है तथा ग्रन्त में यही ग्रीदात्य ग्रपने सुसमन्वित रूप में प्रकट होकर श्रोता या पाठक की ग्रात्मा को भंकृत कर देता है—जिसे हम 'चमत्कार' या 'ग्रानन्द' कहते हैं। इस धारणा का स्पष्टीकरण परवर्ती विवेचन से होता है ।

अौदात्य का मूल आधार—ग्रौदात्य का मूल ग्राधार क्या है ? क्या वह वक्ता या लेखक की जन्मजात प्रतिभा पर ही ग्राधारित होता है या उसका प्रस्फुटन शिक्षा-दीक्षा से किया जा सकता है ? वह सहज है या ग्रम्यास पर निर्भर है ? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए लोंजाइनस ने मध्य मार्ग का ग्रनुसरण किया है । उसके विचार से ग्रौदात्य न तो सर्वथा प्रतिभा-सापेक्ष्य है ग्रौर न ही पूर्णतः ग्रम्यास-सापेक्ष्य है । वे ग्रौदात्य की मूल प्रेरक शक्ति प्रतिभा को मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि नियमों के ज्ञान एवं ग्रम्यास के द्वारा प्रातिभ ज्ञान का नियमन ग्रपेक्षित है । जिस प्रकार मूल भावों को यदि सर्वथा स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वे व्यक्ति को भटकाकर सर्वनाश की ग्रोर ले जा सकते हैं, ग्रतः उन पर बुद्धि का नियंत्रण ग्रपेक्षित है, उसी प्रकार ग्रौदात्य के लिए भी प्रतिभा के साथ शिक्षा का समन्वय ग्रपेक्षित है । पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि ग्रलंकारों या शब्दाडम्बर के ज्ञान से ग्रौदात्य की उपलब्धि हो सकती है वस्तुतः ग्रौदात्य का ग्राधार व्यक्ति का कोई एक पक्ष, एक गुण या एक प्रवृत्ति नहीं है, ग्रपितु उसके पीछे

सम्पूर्ण व्यक्तित्व की भलक होती है। केवल प्रतिभाशाली व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से हलका छिछोरा हो सकता है, उसकी वासनाएँ अपरिष्कृत एवं प्रवृत्तियाँ क्षुद्र भी हो सकती हैं-ऐसी स्थिति में उससे ग्रीदात्य की ग्राशा कैसे की जा सकती है! इसी प्रकार एक सूपिटत विद्वान् महान् शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी स्वार्थी, ग्रहंवादी एवं दंभी हो सकता है, ग्रतः उससे भी ग्रौदात्य सर्जना संभव नहीं । वस्तुतः ग्रौदात्य का स्रष्टा तो उदात्त व्यक्तित्व ही हो सकता है। एक महान् प्रतिभाशाली, उच्च विद्वान् एवं यशस्वी चरित्र-वान व्यक्ति हो उदात्त का उद्घोषक हो सकता है । लोंजाइनस के शब्दों में -Sublimity is, so to say, the image of greatness of soul......true eloquence can be found only in those whose spirit is generous and aspiring. For those whose whole lives are wasted in paltry any illiberal thoughts and habits cannot possibly produce any work worthy of the lasting reverence of mankind. It is only natural that their words be full of sublimity whose thoughts are full of majesty." ग्रर्थात् 'ग्रौदात्य ग्रात्मा को महानता का प्रतिविम्व है ।....सच्चा ग्रौदात्य केवल उन्हीं में प्राप्य है जिनकी चेतना उदात्त एवं विकासोन्मुख है। जिनका सारा जीवन तुच्छ एवं संकीण विचारों के अनुसरण में व्यतीत होता है, वे सम्भवतः कभी भी मानवता के लिए कोई स्थायी महत्त्व की रचना प्रस्तुत करने में सफल नहीं होते। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाग्रों से परिपूर्ण हैं; उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द भंकृत हो सकते हैं।'

इस प्रकार ग्रौदात्य का सम्बन्ध केवल प्रतिभा, केवल ग्रघ्ययन ग्रौर केवल भाषा-म्यास से नहीं, ग्रिपितु व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व से हैं। लोंजाइनस की यह धारणा उन्हें साहित्य-चिन्तन की परम्परा में एक विशिष्ट स्थान का ग्रिधकारी प्रमाणित करती हैं। इससे पूर्व कदाचित् किसी भी ग्रन्य ग्रालोचक ने साहित्य का उसके रचियता के व्यक्तित्व से इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया था जितना कि यहाँ किया गया है। इस दृष्टि से उन्हें साहित्य में व्यक्तिवादी दृष्टि का मूल प्रवर्त्तक कहा जा सकता है।

श्रौदात्य के पाँच स्रोत—यद्यपि श्रौदात्य का मूलाधार साहित्यकार के व्यक्तित्व की ही महानता में निहित है, फिर भी स्पष्टता के लिए वस्तुगत दृष्टि से श्रौदात्य के पाँच ऐसे स्रोतों की भी स्थापना की गई है जिनके द्वारा किसी भी कृति में श्रौदात्य का संचार होता है। वे पाँच स्रोत क्रमशः ये हैं:—

(१) उदात्त विचार—काव्यगत श्रौदात्य के स्रोतों के श्रन्तर्गत सर्वप्रथम उदात्त विचार (grandeur of thought) को लिया गया है। यही उदात्त व्यक्तित्व या महान् ग्रात्माश्रों का प्रतिविम्ब होता है, श्रतः इसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है। व्यक्ति में ग्रौदात्य नैसींगक हो होता है, पर फिर भी शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कारों से उसका सम्यक् विकास या पोषण सम्भव है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उदात्त विचार महान् व्यक्तियों की वाणी से स्वतः घ्वनित होते हैं, श्रतः इसके लिए किसी विशेष बाह्य प्रयास की श्रपेक्षा नहीं होती। जिस लेखक या वक्ता का निजी व्यक्तित्व उदात्त होगा, वह स्वतः

ही उदात्त विषयों, महान् कार्यों एवं महापुरुषों के चित्रण में रुचि लेता हुआ उनका चित्रण उदात्त रूपों में कर सकेगा। महापुरुषों एवं महान् क्रिया-कलापों के सम्यक् चित्रण के लिए उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक है तथा यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तादात्म्य केवल उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा सम्भव है, जो स्वयं उदात्त व्यक्तित्व के घनी हों। इसका उदाहरण 'ईलियद' के रचियता होमर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से दिया जा सकता है। होमर की महान् धारणाएँ ही उनकी रचनाओं में उस महानता का संचार कर पायी हैं, जिसे दूसरे शब्द में 'औदात्य' कहा गया है।

(२) भावों का उदात रूप में चित्रण—काव्यगत ग्रौदात्य का दूसरा स्रोत उदात्त भावों का चित्रण है। लोंजाइनस से पूर्व कितपय लेखकों ने या तो भाव ग्रौर ग्रौदात्य की पृथकता को स्वीकार नहीं किया या फिर उन्होंने भावावेग को ग्रौदात्य में वाधक माना है। पर लोंजाइनस ने इस मत का तीव्र रूप में खंडन करते हुए भावावेग को ग्रौदात्य का सहायक माना है। "मेरे विचार में जो ग्रावेग उन्मद उत्साह एवं उद्दामता से फूट पड़ता है ग्रौर एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा ग्रौदात्य ग्राता है, वैसा ग्रन्यत्र दुर्लभ है।" (ग्रीक साहित्य-शास्त्र, पृ० १६१)

भावावेग की श्रमिव्यक्ति के विभिन्न साधनों के श्रन्तर्गत लोंजाइनस ने सर्वाधिक महत्त्व परिस्थितियों (भारतीय शब्दावली में श्रालम्बन एवं उद्दीपन के संयोग) को दिया है। उपयुक्त परिस्थितियों का चयन एवं उनका सम्यक् रूप में संघटन ही भावावेग का जनक सिद्ध होता है। इसके श्रतिरिक्त भावों के चित्रण में विस्तारण एवं विम्व-विधान से भी सहायता ली जा सकती है।

(३) अलंकार नियोजन—ग्रौदात्य का तीसरां स्रोत ग्रलंकारों का नियोजन है। ग्रलंकारों के सम्बन्ध में लोंजाइनस का विचार है कि इनके सम्यक् प्रयोग से ग्रौदात्य की सिद्धि में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस प्रसंग में उन्होंने ग्रलंकारों के विभिन्न भेदों का भी निरूपण किया है, जिनमें से प्रमुख ये हैं—१. शपथोक्ति २. प्रश्नालंकार ३. विपर्यय ४. व्यतिक्रम ६. पुनरावृत्ति ६. प्रत्यक्षीकरण ७. संचयन ६. सार ६. रूप-परिवर्तन १०. पर्यायोक्ति ११. रूपक १२. उपमा ग्रादि। (विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य—'ग्रीक साहित्य-शास्त्र')

लोंजाइनस के मतानुसार श्रलंकारों का प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि श्रोता या पाठक को उनके प्रयोग का पता न चले। दूसरे शब्दों में, श्रलंकार भावावेग की प्रेरणा से सहज स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त होने चाहिए, उसी स्थिति में वे प्रभावशाली एवं श्रीदात्य के उत्पादक सिद्ध होते हैं।

(४) उत्कृष्ट भाषा—ग्रौदात्य का चतुर्थ स्रोत उत्कृष्ट भाषा है। यह तथ्य है कि उपयुक्त एवं प्रभावोत्पादक शब्दावली श्रोता को ग्राक्षित करती हुई उसे भावाभिभूत कर लेती है। ऐसी शब्दावली, जिसमें भव्यता, सौन्दर्य, मार्दव, गरिमा, ग्रोज, शक्ति ग्रादि श्रेष्ठ गुणों की ग्रभिव्यक्ति हो, प्रत्येक वक्ता या लेखक के लिए स्पृहणीय है। 'सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचारों को विशेष प्रकार का ग्रालोक प्रदान करते हैं, किन्तु इससे

यह तात्पर्य नहीं है कि गरिमामयी भाषा ही प्रत्येक अवसर के अनुकूल है, क्योंकि छोटी-मोटी वातों को भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे से वालक के मुँह पर पूरे आकार-वाला मुखौटा लगा देने के समान है।

उत्कृष्ट भाषा की विभिन्न विशेषताओं के अन्तर्गत सुन्दर शब्दावली के अतिरिक्त भ्रोज, प्रवाहपूर्णता, रूपकों का सीमित प्रयोग, उपमाओं एवं अत्युक्तियों का उचित प्रयोग आदि को स्थान दिया गया है। वस्तुतः भाषा के विभिन्न गुणों की उपयोगिता औदात्य की सृष्टि में है—यदि उसके ये गुण इस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं तो स्वीकार्य हैं, अन्यथा नहीं।

(५) गरिमामय रचना-विधान—ग्रौदात्य का पाँचवाँ स्रोत गरिमामय रचना-विधान है। इसके ग्रन्तर्गत सर्वप्रथम सामंजस्य (Harmony) को स्थान दिया गया है। सामंजस्य का एक प्रकार शब्दों को विशेष क्रम में व्यवस्थित करना है। सामंजस्य में एक ऐसी शक्ति होती है जिससे कि वह न केवल स्रोता को प्रसन्नता प्रदान करता है, ग्रिपतु एक सीमा तक वह उसे द्रवित करके वहा भी ले जाता है। बाँसुरी की मधुर तान की भाँति रचना का सामंजस्य भी हमारे मन में विभिन्न भावों को उद्देलित करता हुग्रा ग्रौदात्य की ग्रनुभूति प्रदान करता है। विभिन्न छन्दों का ग्राविष्कार सामंजस्य की स्थापना के लिए ही हुग्रा है।

इस प्रकार किसी भी रचना में ग्रौदात्य की सृष्टि उदात्त विचार, उदात्त भावा-वेग, सम्यक् ग्रलंकार-नियोजन, उत्कृष्ट भाषा एवं रचनागत सामंजस्य के द्वारा ही होती है। पर ये सभी तो साधन मात्र हैं—इनका साध्य तो केवल ग्रौदात्य ही है, ग्रतः इनकी सफलता एवं महत्ता उसी सीमा तक है, जहाँ तक वे साध्य की उपलिध्ध में सफल सिद्ध होते हैं।

आंदात्य के बाधक तत्त्व—ग्रौदात्य के साधक तत्त्वों की भाँति उसके बाधक तत्त्व भी हैं, जिन्हें 'दोष' कहा जा सकता है। इनके ग्रन्तर्गत मुख्यतः भाषा की ग्रव्यवस्था प्रवाह-शून्यता, विषय से ग्रिधक लय की प्रमुखता, उक्ति की ग्रत्यधिक संक्षिप्तता, ग्रस्पष्टता, ग्राडम्बरपूर्ण शैली, ग्रनुचित विचार, ग्रिमिव्यक्ति की क्षुद्रता, ग्राम्य पदों का प्रयोग, कर्णकटु भाषा, विषयानुरूप शब्दावली का ग्रभाव ग्रादि दोषों को लिया गया है। इन दोषों से रचना का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

लोंजाइनस: पुनर्मूल्यांकन—भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों को घ्यान में रखते हुए लोंजाइनस के विचारों का पुनर्मूल्यांकन किया जाय तो हमारे विचार में उसकी निम्नांकित उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ स्वीकार की जा सकती हैं:

(क) उपलब्धियाँ—जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, ग्रीक साहित्य-चिन्तन-परम्परा में लोंजाइनस पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने काव्य-वस्तु एवं काव्य-गरिमा का सम्बन्ध रचिता के व्यक्तित्व से स्थापित करते हुए उसे महत्त्व प्रदान किया। उनसे पूर्व ग्ररस्तू ने ग्रनुकृति सिद्धान्त द्वारा प्रकृति को ही काव्य का ग्राधार-स्रोत मानते हुए किव के निजी व्यक्तित्व को सर्वथा उपेक्षित एवं तिरोहित कर दिया था। ग्रनुकृति सिद्धान्त के अनुसार कला प्रकृति की ग्रनुकृति है, इसका तात्पर्य है कि कला का सौन्दर्य प्रकृति के सौन्दर्य

की ही अनुकृति-मात्र हैं, जां ऐसी स्थिति में किलिकार कि किया था विदान है ? केवल अनुकृति प्रस्तुत कर देना तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। लों जाइनस ने अनुकृति सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा करते हुए कि के व्यक्तित्व की विशिष्टता एवं रचना की मौलिकता का प्रतिपादन किया, जो उसकी नूतन दृष्टि का प्रमाण है। वस्तुतः जहाँ प्लेटो घोर आदर्शनवादी था, अरस्तू वस्तुवादी या यथार्थवादी, वहाँ लों जाइनस स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) था। पाश्चात्य परम्परा में किव व्यक्तित्व को महत्त्व प्रदान करने के कारण ही लों जाइनस को पहला रोमांटिक आलोचक माना जाता है जो ठीक ही है।

दूसरे, श्रौदात्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा भी सर्वप्रथम लोंजाइनस द्वारा हुई। श्रागे चलकर विभिन्न पाश्चात्य श्रालोचकों एवं कला-मीमांसकों ने कला के दो प्रमुख तत्त्वों के श्रन्तर्गत सौन्दर्य एवं श्रौदात्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है, तथा कान्ट, हीगल, कैरिट, सैंतायन प्रभृति सौन्दर्य-शास्त्रियों ने इनकी विस्तार से मीमांसा की है। वस्तुत: श्राधुनिक कला-समीक्षा में श्ररस्तू के श्रनुकृति-सिद्धान्त की श्रपेक्षा श्रौदात्य को ही श्रधिक महत्त्व प्राप्त है।

तीसरे, लोंजाइनस का दृष्टिकोण जितना गम्भीर है, उनका विवेचन-विश्लेषण भी उतना ही सूच्म एवं व्यापक है। वे ग्रौदात्य को एक व्यापक रूप प्रदान करते हैं कि उसके ग्रन्तर्गत किव का व्यक्तित्व विचार-तत्त्व, भाव-तत्त्व, शैली का ग्रलंकरण, शब्द-चयन, रचना के गुण-दोष ग्रादि सभी प्रमुख तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं। वे रचना की सर्जना-प्रक्रिया से लेकर उसकी ग्रास्वादन-प्रक्रिया तक की स्थितियों को घ्यान में रखते हुए उसके सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों की व्याख्या सर्वथा नूतन, मौलिक एवं प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि लोंजाइनस महान् चिन्तक एवं व्याख्याता थे।

भारतीय दृष्टि से लोंजाइनस का भावावेगों को महत्त्व देते हुए ग्रलंकार, गुण-दोष ग्रादि की मीमांसा करना विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि लोंजाइनस ने मूलतः ग्रौदात्य को लक्ष्य माना है, पर भावावेगों के उद्देलन एवं तज्जन्य ग्रानन्द की वात भी उन्होंने स्थान-स्थान पर की है जो भारतीय रस-सिद्धान्त के ग्रनुकूल है। इसी प्रकार उनका रीति विवेचन भी भारतीय ग्रलंकार एवं रीति सिद्धान्त के ग्रनुकूल है।

(ख) सीमाएँ—जहाँ ग्रौदात्य की व्यापक रूप में प्रतिष्ठा करते हुए लोंजाइनस ने उसका सम्बन्ध विचार, भाव, शैली ग्रादि सभी पक्षों से स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वहाँ उनकी यह सीमा भी है कि ऐसा करते समय उन्होंने ग्रौदात्य के मूल क्षेत्र को भुला दिया है। ग्रौदात्य का मूल ग्रर्थ है—उच्च विचार या ऐसी भावनाएँ जो त्याग, ग्रात्मबलिदान या परोपकार की प्रेरक हों। इस दृष्टि से ग्रौदात्य एक चारित्रिक या नैतिक तत्त्व है, उसका कला से सीधा सम्बन्ध नहीं है। महिष् दयानन्द सरस्वती के विचारों में या महात्मा गाँधी के जीवन-चरित में पर्याप्त मात्रा में ग्रौदात्य के होते हुए भी यह ग्रावश्यक नहीं है कि वे कलात्मक सौन्दर्य से युक्त हों। कला का प्राथमिक गुण सौन्दर्य है, ग्रौदात्य उसका ग्रितिरक्त गुण है। फिर कला या काव्य में ग्रौदात्य को स्थान

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ग्रीदात्य के कारण नहीं, ग्रिपितु उसके काव्य-सौन्दर्य के कारण ही मिलता है, ग्रन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए कवीर की निम्नांकित उक्ति को लीजिए—

माली आवत देखि कै कलियाँ कर पुकार। फूले-फूले चुनि लिए कालि हमारी बार।

यहाँ जिस उदात्त विचार की ग्रिभिव्यक्ति की गई है, वह ग्रपने कलात्मक सौन्दर्य के कारण ही स्वीकार्य है, ग्रन्यथा नहीं। यदि कोई ग्रिभिधा में लिख दे—'हम सबको मरना है ग्रतः संसार का मोह छोड़ो'—तो यह वाक्य काव्य की कोटि में नहीं ग्रायेगा, यद्यपि इसमें ग्रीदात्य है।

वस्तुतः ग्रौदात्य केवल शान्त रसात्मक काव्य का ही प्रमुख गुण है, ग्रन्य प्रकार के काव्य में उसका होना ग्रावश्यक नहीं है। ग्रौदात्य सौन्दर्य की ग्रभिवृद्धि करने में, उसे ग्रिधक गम्भीरता प्रदान करने में सहायक तो सिद्ध हो सकता है, पर वह उसका स्थानापन्न या जनक नहीं वन सकता। ग्रौदात्य की इस दुर्वलता को जानते हुए लोंजाइनस ने इसका सम्बन्ध भाव, ग्रलंकार, गुण ग्रादि से स्थापित कर दिया, पर यह सम्बन्ध ग्रस्वाभाविक एवं ग्रसंगत है। ग्रलंकार, वस्तुतः ग्रौदात्य के नहीं, सौन्दर्य, माधुर्य एवं ग्रानन्द के स्रोत हैं, ग्रन्थथा रीतिकाल के श्रृङ्गारों किवयों का परकीया-वर्णन ग्रौदात्यशून्य होता हुग्रा भी हमें प्रभावित नहीं करता। लगता है लोंजाइनस महोदय ने ग्रौदात्य का विस्तार करते-करते उसके मूल रूप को ही वदल डाला—वह उनके निबन्ध में, 'सौन्दर्य' का पर्यायवाची बन गया। ग्रस्तु, हम ग्रौदात्य के इस व्यापक रूप को जो कि ग्रारोपित एवं ग्रनुपयुक्त है—ग्रस्वीकार करते हुए भी उसे महानता के ग्राधार रूप में स्वीकार कर सकते हैं। कला ग्रौर काव्य का मूल गुण तो सौन्दर्य या ग्राकर्षण ही है, पर यदि उसमें साथ ही ग्रौदात्य भी हो तो वह कला से महान् कला ग्रौर काव्य से महान् काव्य बन जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

: भ्रठारह :

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

- १. विषय-प्रवेश ।
- २. क्रोचे का ग्राधारभूत दर्शन।
- ३. सहजानुभूति ।
- ४. सहजानुभूति श्रीर कला।
- ५. कला में विषय और शैली की भ्रभिन्नता।
- ६. कला की ग्रखंडता।
- ७. कलाकार के साधन।
- सामाजिक के लिए भ्रपेक्षित क्षमताएँ।
- ६. सामान्य ग्रनुभूति ग्रौर कलाजन्य ग्रनुभूति ।
- १०. क्रोचे के विचारों पर पुनर्विचार।

श्रमिन्यंजना के प्रवर्त्तक क्रोचे (१८६६-१९५२ ई०) का जन्म इटली में हुआ था। वे न केवल एक कला-मीमांसक ग्रपितु एक गम्भीर तत्त्ववेत्ता दार्शनिक भी थे। उन्होंने इतिहास के स्वरूप, सौन्दर्य-शास्त्र, मार्क्सवादी ग्रर्थ-व्यवस्था, ग्रात्म-दर्शन ग्रादि ग्रन्के विषयों पर नवीन दृष्टिकोण से विचार किया। सन् १६०० में उन्होंने एक गोष्ठी में एक लेख—'Fundamental thesis of an aesthetic as science of expression and general linguistics' पढ़ा था। यही लेख उनके ग्रमिन्यंजनावादी विचारों का मूलाधार बना। ग्रागे चलकर उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लेख ग्रौर लिखे तथा एक लेख 'एनसाइक्लोपोडिया ब्रिटानिका' में भी दिया—इन सबसे उनकी प्रसिद्धि चारों ग्रोर हो गई। उनका कला-सम्बन्धी सर्व-प्रमुख ग्रन्थ 'एस्थेटिक' (सौन्दर्य-शास्त्र) के नाम से प्रकाशित हुग्रा, जो ग्रव विश्व की ग्रनेक भाषाग्रों में ग्रनूदित हो चुका है।

क्रोचे का श्राधारभूत दर्शन

क्रोचे के विचार प्रसिद्ध दार्शनिक हीगल से प्रभावित हैं, किन्तु उसने उनका अन्धानुकरण नहीं किया। जहाँ वह एक श्रोर हीगल का श्रनुयायी है, वहाँ दूसरी श्रोर वह उनका कठोर श्रालोचक भी है। हीगल ने पक्ष श्रौर विपक्ष के समन्वित रूप को ही सत्य मानते हुए एक नवीन दर्शन-पद्धित का श्राविष्कार किया या। श्रपनी इसी पद्धित के श्रनुसार हीगल ने कला को पक्ष, धर्म को विपक्ष श्रौर दर्शन को दोनों का समन्वित पक्ष माना है। क्रोचे ने हीगल की मूल-पद्धित का तो समर्थन किया, किन्तु कला के संबंध

में उसके प्रयोग को उसने त्रुटिपूर्ण बताया। उसके मत से धर्म को कला का विपक्षी या विरोधी मानना श्रनुचित है।

हीगल ने ग्रात्मा की भी त्रयात्मक स्थित निर्धारित करते हुए उसकी तीन प्रवृतियाँ मानी थीं—(१) ज्ञानात्मक प्रवृत्ति (पक्ष), (२) व्यावहारिक प्रवृत्ति (विपक्ष) ग्रौर
(३) ग्राच्यात्मिक प्रवृत्ति (समन्वय)। क्रोचे ने इसके स्थान पर केवल दो ही मूलभूत प्रवृतियाँ मानीं—ज्ञानात्मक ग्रौर व्यावहारिक। इनमें से भी प्रत्येक के उन्होंने दो-दो भेद
किये—ज्ञानात्मक के दो भेद (१) सहजानुभूति ग्रौर (२) विचारात्मक क्रिया। व्यावहारिक प्रवृत्ति के दो भेद—(१) ग्राधिक या निजी योग-क्षेम से सम्बद्ध ग्रौर (२) नैतिक।
इस प्रकार क्रोचे के मत से सभी प्रवृत्तियों को उपर्युक्त चार वर्गों में विभाजित किया जा
सकता है। कला ग्रौर काव्य का सम्बन्ध इनमें से प्रथम प्रवृत्ति—सहजानुभूति से है।
ग्रतः ग्रागे इसी पर विशेष रूप से विचार किया जावेगा।

सहजानुभूति

सहजानुभूति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए क्रोचे ने 'नेति-नेति' के मार्ग को अपनाते हुए उसे वौद्धिक ज्ञान, प्रत्यक्षीकरण, संवेदना ग्रादि से भिन्न वताया है। सहजानुभूति ग्रीर वौद्धिक ज्ञान की पृथकता का प्रतिपादन करते हुए वह लिखते हैं ''पहली वात जो मस्तिष्क में ग्रच्छी तरह विठा लेनी चाहिए, वह यह है कि सहजानुभूत ज्ञान को किसी स्वामी की ग्रावश्यकता नहीं होती। उसे किसी का सहारा नहीं चाहिए, उसके लिए यह ग्रावश्यक नहीं कि वह दूसरे की ग्रांखें उधार ले, कारण उसकी ग्रांखें स्वयं काफी तेज हैं।'' क्रोचे इस बात को स्वीकार करता है कि कई वार सहजानुभूति में भी वौद्धिक ज्ञान समन्वित हो जाता है, या वौद्धिक ज्ञान के मूल में सहजानुभूति हो सकती है, किन्तु फिर भी वह दोनों है, या वौद्धिक ज्ञान के मूल में सहजानुभूति हो सकती है,

किन्तु फिर भी वह दोनों को एक नहीं मानता।

सहजानुभूति ग्रीर प्रत्यक्ष-बोध के ग्रन्तर को स्पष्ट करते हुए क्रोचे ने वताया है कि सहजानुभूति में यथार्थ ग्रीर ग्रयथार्थ का भेद नहीं होता जबिक प्रत्यक्ष-बोध में ऐसा होता है। इसी प्रकार सहजानुभूति ऐन्द्रिक संवेदनों से भी भिन्न है। सहजानुभूति साह-चर्य या स्मृति व संस्कारों से भी भिन्न है। इस प्रकार सहजानुभूति को एक ग्रच्छी पहेली वना देने के बाद क्रोचे ने ग्रपने पाठकों पर दया करते हुए ग्रन्त में रहस्योद्धाटन किया है कि सहजानुभूति ग्रिमिक्यंजना है। सामान्यतः सहजानुभूति ग्रीर ग्रिमिक्यंजना—दो पृथक्-पृथक् क्रियाएँ प्रतीत होती हैं, किन्तु क्रोचे महोदय ऐसा नहीं मानते। उनके शब्दों में—"सहजानुभूति की क्रिया उसी ग्रंश तक सहजानुभूति है जहाँ तक वह उसे ग्रिमिक्यक्त करती है। यदि इस उक्ति में विरोधाभास प्रतीत हो तो इसका कारण यह है कि साधारणतः 'ग्रिमिक्यंजना' का प्रयोग एक ग्रत्यन्त सीमित ग्रर्थ में किया गया है। इसे प्रायः 'शाब्दिक ग्रिमिक्यंजना' तक ही सीमित रखा जाता है। किन्तु ग्रशाब्दिक ग्रिमिक्यंजनाएँ भी होती हैं, जैसे रेखा, रंग ग्रीर घ्विन की ग्रिमिक्यंजनाएँ। इन सब तक हमारी मान्यता का विस्तार होक्राक्ष स्वास्त्र प्रकार प्रकार करते हुए स्वरंत संगीत या

ग्रन्य किसी भी रूप में क्यों न हो, सहजानुभूति ग्रिमिंग्यंजना का कोई न कोई रूप ढूँढ़ ही लेती है; वस्तुतः ग्रिमिंग्यंजना सहजानुभूति का एक ग्रिमिंग्न ग्रंग है। '' इन पंक्तियों को पढ़कर सामान्यतः ग्रमेक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं—एक ग्रोर तो यह कहा गया है कि सहजानुभूति ग्रीर ग्रिमिंग्यंजना ग्रिमिंग्न हैं, दूसरी ग्रोर प्रतिपादित किया गया है कि सहजानुभूति ग्रिमिंग्यंजना का कोई न कोई रूप ढूँढ़ लेती है, जिसका तात्पर्य है 'कि ढूँढ़ने-वाला ग्रीर जिसे ढूँढ़ा जाता है—दोनों भिन्न हैं। प्रश्न है जब तक सहजानुभूति उस रूप को नहीं ढूँढ़ पाती, तब तक उसे क्या कहेंगे? वस्तुतः सहजानुभूति ग्रीर ग्रिमिंग्यंजना को लेकर क्रोचे ने यहाँ परस्पर विरोधी वातों कही हैं। क्रोचे ग्रधिक से ग्रधिक यह कह सकता था कि सहजानुभूति ग्रनुभूति की प्रारम्भिक ग्रवस्था है जबिक ग्रिमिंग्यंजना उसकी ग्रन्तिम दशा, किन्तु उसने दोनों को सर्वधा ग्रिमिंग घोषित करके ग्रपनी वात को ग्रविश्वसनीय रूप दे डाला। यहाँ यह भी घ्यान देने की वात है कि एक ही वस्तु के दो रूपों को भी ग्रिमिंग नहीं कह सकते—दूध ग्रीर दही एक ही वस्तु के दो रूप हैं, फिर भी दही को दूध कहना भ्रमोत्पादक ही सिद्ध होगा। क्रोचे का प्रयास भी लगभग ऐसा ही है।

सहजानुभूति ग्रौर कला

ग्रमी हम एक पहेली भली-भाँति सुलभा ही नहीं पाये थे कि एक दूसरी पहेली भीर प्रस्तुत हो गई है। पहले हमने बताया था कि सहजानुभूति भ्रभिन्यंजना होती है— यहाँ इस घारणा पर प्रकाश डाला जायगा कि सहजानुभूति कला होती है। क्रोचे के विचार से प्रत्येक सहजानुभूति श्रमिव्यंजना है, श्रीर प्रत्येक श्रमिव्यंजना कला है, श्रतः यदि प्रत्येक सहजानुभूति को कला कह दिया जाय तो यह तनिक भी भ्रनुचित नहीं होगा। शायद कुछ लोग कहना चाहेंगे कि "प्रत्येक सहजानुभृति नहीं, कुछ विशिष्ट प्रकार की ही सहजानुभूति कला होती हैं किन्तु क्रोचे इसे स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में हमें यह सोचना पड़ेगा कि कदाचित् सहजानुभूति का सम्बन्ध केवल कलाकार से ही होता होगा, पर यह बात भी क्रोचे के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। वह किव में श्रीर साधारण व्यक्ति में गुण या प्रतिभा का कोई श्रन्तर नहीं मानता । वस्तूतः सामान्य व्यक्ति ग्रौर कलाकार में —दोनों में ही सहजानुभूति होती है। किन्तू दोनों की ही सहजानुभूति की मात्रा में भ्रन्तर होता है। कलाकार की सहजानुभूति भ्रधिक व्यापक एवं विस्तृत होती है-किन्तु इससे यह भी नहीं समभना चाहिए कि सामान्य व्यक्ति की सहजानुभूति का कोई महत्त्व ही नहीं है। जिस प्रकार जीव-शास्त्री के लिए चाहे मेढक का शरीर हो या ब्रादमी का-दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, वैसे ही क्रोचे के लिए प्रत्येक व्यक्ति की सहजानुभूति का महत्त्व है। वह लिखता है—'किसी को यह जानकर ग्रचरज नहीं होता कि पत्थर का एक टुकड़ा जिन रासायनिक तत्त्वों से निर्मित है, वे ही एक उन्नत पर्वत में भी विद्यमान हैं। छोटे-छोटे जानवरों ग्रौर बड़े-बड़े जानवरों की शरीर क्रिया भी एक ही होती है श्रीर न ही पत्थरों के लिए पर्वतों से भिन्न, कोई विशिष्ट रासायनिक सिद्धांत हीता है वार्क अवस्था प्रकार यह बात भा सम्भव नहीं कि छोटी सहजान- भूति का एक शास्त्र हो ग्रौर वड़ो सहजानुभूति का कोई ग्रन्य, या एक शास्त्र सामान्य सहजानुभूति का हो ग्रौर दूसरा कलात्मक सहजानुभूति का हो। सौन्दर्य-शास्त्र केवल एक है, जो सहजानुभूति ग्रथवा ग्रभिव्यंजनात्मक ज्ञान का है।

कला के सम्बन्ध में प्रचलित इस प्राचीन विचार का कि कला प्रकृति की अनुकृति है क्रोचे खण्डन करता है। उसके शब्दों में— "यदि प्रकृति की अनुकृति से यह
समभा जाय कि कला प्राकृतिक वस्तुओं को यांत्रिक प्रतिकृतियाँ, लगभग पूर्ण प्रतिलिपियाँ
उपस्थित करती है और उनके समक्ष उसी प्रकार का भाव उद्देलन होता है जैसा कि
प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा, तो नि:संदेह यह स्थापना गलत है। मोम की रंगीन पुतिलयाँ
जो जीवन की नकल करती हैं, जिनके सामने संग्रहालयों में हम अवाक् खड़े रहते हैं,
सौन्दर्यात्मक सहजानुभूतियाँ नहीं उत्पन्न करतीं।" अस्तु, उसके विचार से प्रकृति की
अनुकृति का वास्तविक अर्थ सहजानुभूति ही है—अर्थात् प्रकृति के स्वरूप का जो विम्ब
हमारे मस्तिष्क में सहजानुभूति के रूप में उदित होता है, वही कला है।

कला में विषय भ्रौर शैली की भ्रभिन्नता

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, क्रोचे अनुभूति और ग्रभिव्यक्ति को एक ही मानता है; सहजानुभूति और ग्रभिव्यंजना—दोनों उसके लिए एक हैं, ग्रतः इसी आधार पर वह कला की विषय-वस्तु और उसकी शैली को भी अभिन्न घोषित करता है। उसकी मान्यता है कि जब कलाकार अपनी सहजानुभूति को अभिव्यंजना का रूप देता है तो उसमें वह नया कुछ भी नहीं जोड़ता—शैली के द्वारा वह विषय को प्रस्तुत नहीं करता, अपितु विषय ही शैली के रूप में अवतरित होता है। विषय और शैली में कोई अन्तर नहीं है, इसे स्पष्ट करते हुए उसने एक उदाहरण दिया है—"....Like water put into filter, which reappears the same and yet different on the other side" अर्थात् जैसे फिल्टर में से पानी छानने पर, किंचित् अंतर के साथ वहो पुनः प्रकट होता है, ठीक वैसे ही अभिव्यक्त विषय (अर्थात् विषय + शैली) अनुभूत विषय का व्यक्त रूप है।

कला की ग्रखण्डता

क्रोचे जिस प्रकार विषय और शैली में ग्रिभन्नता मानता है, वैसे ही कला के श्रन्य तत्त्वों एवं विभिन्न ग्रंगों में भी वह एकता का ही प्रतिपादन करता है। उसके विचार से कला-कृति का विभिन्न तत्त्वों या विभिन्न ग्रंगों के रूप में विश्लेषण करना सर्वथा ग्रनुचित है। "कलाकृति को हम खण्डों में, किवता को दृश्यों, उपाख्यानों, उपमाग्रों व वाक्यों में, एक चित्र को ग्रलग-ग्रलग ग्राकृतियों ग्रीर वस्तुग्रों, पृष्ठ-भूमि, पुरो-भूमि ग्रादि में विभक्त करते हैं—यह क्रिया एकता का विरोध करती हुई प्रतीत होती है इस प्रकार वर्गीकरण कृति को नष्ट कर देना है, जिस प्रकार जीव को हृदय, मिस्तिष्क, धमिनयों, मांस-पेशियों में बाँट देना जीवित प्राणी को शव में बदल देना है।" इसी प्रकार वह कला कि विभिन्नक क्यों जिस्सी स्थानिक कि सिक्षी स्थान का भी विरोध करता है।

उसके विचार से जैसे सौन्दर्य की कोटियाँ नहीं हो सकतीं। वैसे ही कला की भी कोटियाँ नहीं हो सकतीं।

कलाकार के साधन

कला-सृजन की प्रक्रिया या विश्लेषण करते हुए क्रोचे कलाकार के लिए चार साधन ग्रंपेक्षित मानते हैं। सर्वप्रथम तो उसके पास सजग इच्छा-शक्ति होनी चाहिए, जिससे कि वह सदैव कला-सृजन के लिए प्रस्तुत रहे। दूसरे, उसे कला के माध्यम का ज्ञान होना चाहिए कला-सृजन के विभिन्न साधनों के उपयोग के ज्ञान एवं ग्रम्यास के ग्रभाव में कला की सृष्टि में वाधा उपस्थित हो जायगी। तीसरे, कला-सृजन के ग्रारम्भ में कलाकार के लिए चिंतन ग्रंपेक्षित है। जब उसे एकाएक किसी कलात्मक विचार की ग्रन्भूति होती है तो वह उसे ग्रंभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। वह कई प्रकार से ग्रंभिव्यक्ति का प्रयत्न करता है। ग्रन्त में एकाएक मार्ग खुल जाता है ग्रीर ग्रंभिव्यक्ति का प्रवाह चल पड़ता है। इसी से कलाकार को कला-सम्बन्धी ग्रानन्द की ग्रन्भूति होती है। चौथे, कलाकार में पर्याप्त कल्पना-शक्ति होनी चाहिए जिससे कि वह कलात्मक विम्बों की ग्रायोजना कर सके।

सामाजिक के लिए श्रपेक्षित क्षमताएँ

कलाकार की भाँति, सामाजिक के लिए कुछ क्षमताएँ अपेक्षित हैं। क्रोचे के विचार से सामाजिक को कला का आस्वाद प्राप्त करने के लिए एक तो कलाकार के दृष्टिकोण के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना चाहिए जिससे कि वह कला-कृति के माध्यम से कलाकार द्वारा अनुभूत कलात्मक विम्बों को पुनः अनुभूत कर सके। इसके लिए उसे जल्दवाजी, सुस्ती, उत्तेजना, बौद्धिक मान्यताओं, व्यक्तिगत सद्भावनाओं से मुक्त होकर कला का अध्ययन या मनन करना चाहिए।

सामाजिक जिस शक्ति से कला के सौन्दर्यात्मक बिम्बों का पुनः उत्पादन करता है उसे 'रुचि' कहते हैं। यह रुचि कलाकार की प्रतिभा का ही दूसरा नाम है। सामाजिक कलाकार के स्तर तक उठ पाने में और उसकी ग्रात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने में जितना ग्रिधिक सफल हो सकेगा, उतना ही वह कला का ग्रिधिक ग्रास्वादन कर सकेगा। वस्तुतः उसके विचार से कलात्मक ग्रास्वादन की चरमावस्था के समय सामाजिक ग्रीर कलाकार के बीच ग्रात्मिक तादातम्य स्थापित हो जाता है।

क्रोचे के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वह कला-सृजन ग्रौर कला-ग्रास्वादन की प्रक्रिया में कोई ग्रन्तर नहीं मानता। दोनों क्रियाएँ एक ही क्रिया के दो रूप हैं या यों कहिए कि जिस मार्ग पर चलकर कलाकार जिस मंजिल पर पहुँचता है, उसी मंजिल पर सामाजिक भी उसी मार्ग से पहुँचता है। हाँ, इतना ग्रन्तर ग्रवश्य है कि कलाकार की क्षमताएँ ग्रधिक होती हैं, ग्रतः वह नेतृत्व करता है, जबिक सामाजिक कलाकार का ग्रनुकरण करता है। यह ग्रन्तर भी हम ग्रपनी ग्रोर से बता रहे हैं, क्रोचे शायद इसे भी न मानता रहा हो। ICC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

सामान्य अनुभूति ग्रीर कलाजन्य अनुभूति

क्रोचे के विचार से सामान्य अनुभूति और कलाजन्य अनुभूति में गहरा अन्तर है। सामान्य ग्रनुभूति के मुख्यतः दो रूप हैं—(१) सुख ग्रौर (२) दुःख। सुख-दुःख का सम्बन्ध हमारी चार मूलभूत प्रवृत्तियों में से ग्राधिक-व्यावहारिक से है, जबिक कला का सम्बन्ध सहजानुभूति से है। ग्रतः सामान्य ग्रनुभूति का क्षेत्र ही कला से पृथक् सिद्ध होता है-ऐसी स्थिति में उसे कलाजन्य अनुभूति के समकक्ष कैसे रक्खा जा सकता है। फिर भी क्रोचे सामान्य प्रसन्नता और कलाजन्य ग्रानन्द में गुणों का नहीं --- मात्रा का अन्तर मानता है। नाटक के नायक की विभिन्न परिस्थितियों को देखकर हम हँसते हैं, ग्रांसू वहाते हैं, ग्रौर ग्रानन्द ग्रनुभव करते हैं-किन्तु हमारा यह हँसना, ग्रांसू बहाना या आनन्द सामान्य सुख-दुःख से हलका होता है। सामान्य जीवन के सुख-दुःख वास्त-विक एवं गम्भीर होते हैं जब कि कलाजन्य सुख-दुःख श्रवास्तविक-काल्पनिक-एवं ऊपरी होते हैं । ग्रस्तु, क्रोचे इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कलाजन्य ग्रनुभूति सामान्य ग्रनुभूति से भिन्न होती है।

क्रोचे के विचारों पर पुनर्विचार

क्रोचे के विभिन्न विचारों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के ग्रनन्तर ग्रव हम निजी दृष्टिकोण से उनकी विवेचना कर सकते हैं। क्रोचे की घारणाएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं-

१ — सहजानुभूति, म्रभिन्यंजना ग्रौर कला तीनों पर्यायवाची हैं।

२-कला में विषय ग्रौर शैली की ग्रभिन्नता रहती है।

३—कला का तात्विक या भ्रांगिक विश्लेषण करना कला की हत्या करना है।

४-कला सृजन की प्रक्रिया ग्रीर कला-ग्रास्वादन की प्रक्रिया मूलतः एक

ही है। ५-सामान्य अनुभूति श्रीर कलाजन्य अनुभूति में मात्रा का अन्तर है। उपर्युक्त घारणाय्रों के ग्रौचित्य पर क्रमणः विचार करते हुए हम सर्वप्रथम सहजानुभूति, ग्रमिन्यंजना एवं कला की एकता पर विचार करते हैं। क्रोचे की तर्क-पद्धित की यह विशेषता है कि वह किन्हीं दो तत्त्वों या पदार्थों की किसी एक समानता के ग्राधार पर ही वह दोनों को ग्रभिन्न घोषित कर देता है। उदाहरण के लिए यदि हम क्रोचे की तर्क-पद्धति का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि गाय, मैंसें ग्रौर कौग्रा तीनों एक ही हैं - कैसे ? देखिए - गाय और भैंस दोनों दूध देती हैं, ग्रतः दोनों एक हैं। भैंस ग्रीर कौग्रा, दोनों काले रंग के होते हैं, ग्रतः दोनों एक हैं। ग्रतः यह निश्चित हुआ गाय = भैंस = कौआ । ठीक ऐसा ही फार्मूला यह है; सहजानुभूति = अभिव्यंजना = कला। एक इटालियन विद्वान् ने क्रोचे के इस फार्मूले की भत्सीना करते हुए लिखा था कि क्रोचे को कला के समानार्थक शब्द ढूँढ़ने का इतना चाव था कि वह उचित ग्रौर श्रनुचित को भी भूल जाता था। उक्त विद्वान् की यह उक्ति हमें भी ठीक प्रतीत होती है।

इसी प्रकार कला में विषय और शैली की अभिन्तता की बात है। एक ही विषय को लेकर अनेक रचनाएँ लिखी जा सकती हैं, किन्तु उनकी शैली में अन्तर रहेगा। जुलसी ने राम के ही जीवन-चरित को लेकर 'रामचरित-मानस' और 'कवितावली' की रचना की, किन्तु क्या दोनों में अन्तर नहीं है ? यह ठीक है कि सदैव विषय के अनुरूप ही शैली का प्रयोग करना पड़ता है तथा दोनों में परस्पर गहरे समन्वय की अपेक्षा होती हैं किन्तु केवल इसी आधार पर दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो काव्य के विभिन्न रूपों के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्द—उपन्यास, नाटक, गीति आदि निरर्थक हो जाते तथा इन सबकी शैली में शैली का कोई अन्तर न होता, विषय का ही अन्तर होता। किन्तु वस्तु-स्थित यह नहीं है, अतः क्रोचे की मान्यता को स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता।

क्रोचे का यह विचार कि कला का सात्विक या ग्रांगिक रूप में विश्लेषण करने से वह प्राण-शून्य हो जाती है-डरावना होता हुम्रा भी सत्य नहीं है। यह विचार वस्तुतः एक अत्यन्त भ्रान्त घारणा पर ग्राश्रित है। किसी रचना का तात्विक विवेचन या विश्लेषण करने का यह तात्पर्य नहीं है कि उसके सचमुच टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं। यह बात ऐसी है, जैसी कि चिकित्सा-विज्ञान की कक्षा में प्राध्यापक के यह कहने पर कि, "मानव-शरीर को हम ग्रनेक तत्त्वों में वाँट सकते हैं—रक्त, मांस, मज्जा, हड्डी...." कोई विद्यार्थी कहे कि-"नहीं साहब, ऐसा मत कीजिए, रक्त, मांस, हड्डी को अलग-अलग कर देंगे तो वह शरीर जीवित कैसे रहेगा।" जब हम 'गोदान' या 'कामायनी' के विभिन्न तत्त्वों की विवेचना करते हैं तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम कैंची लेकर पुस्तक के तत्त्वों को ग्रलग-ग्रलग कर देते हैं, ग्रपितु केवल विवेचन-सुविधा के लिए ही ग्रलग-ग्रलग तत्त्वों की मीमांसा मौखिक रूप से की जाती है। जिस प्रकार 'म्राई स्पेशलिस्ट' को एक श्रांख दिखाने से वह ग्रांख शरीर से ग्रलग नहीं हो जाती, ठीक वैसे ही कला के विभिन्न श्रंगों की विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षा करने से वे श्रंग कला से पृथक् नहीं हो जाते। ग्रतः क्रोचे को यह केवल वहम था कि कला के विश्लेषण से उसकी मृत्यु हो जाती है। हाँ, यदि कला श्रौर कलाहीनता में भेद न कर सकने वाले किसी दार्शनिक के हाथ में वह पड़ जाय तब ग्रवश्य ऐसा हो सकता है।

कला-सृजन की प्रक्रिया थ्रौर कलास्वादन की प्रक्रिया को एक बताना भी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भोजन पकाना थ्रौर भोजन खाना—दोनों एक ही हों। साथ ही किव की प्रतिभा को पाठक की रुचि का पर्याय बताना भी बिल्कुल विचित्र-सा लगता है। हमारी शेक्सपीयर के नाटकों में रुचि है, तो इसका तात्पर्य है कि हममें शेक्सपीयर बनने की प्रतिभा है, थ्रौर यदि किसी को जैनेन्द्र के उपन्यास पसन्द हैं तो इसका मतलब है कि वह भी जैनेन्द्र जैसा उपन्यासकार बन सकता है। खैर, इसमें क्रोचे का दोष नहीं है, उसकी शैलो ही ऐसी है, जिसे वह विषय से पृथक् नहीं कर पाता। फिर भी इस प्रसङ्गं में उसने एक बात ग्रवश्य महत्त्वपूर्ण कही है—वह यह कि पाठक का किव के साथ तादात्म्य हो जाता है। थह जिस्सा अस्ति स्थान सिक्षा कि साथ सिक्षा हो। जाता है। थह जिस्सा अस्ति सिक्षा सिक्षा कि सिक्षा सिक्षा कि सी ग्रमुकूल है।

सामान्य ग्रनुभूति ग्रौर कलाजन्य ग्रनुभूति के ग्रन्तर के सम्बन्ध में क्रोचे ने परस्पर-विरोधी वातें कही हैं। एक ग्रोर यदि उसने दोनों का क्षेत्र भिन्न माना है, तो दूसरी ग्रोर उसने उनमें ग्रन्तर गुणों का नहीं, मात्रा का माना है। कलाजन्य ग्रनुभूति को उसने लौकिक ग्रनुभूति से हलका माना है। ऐसी स्थिति में हमारे लौकिक सुख-दु:ख का हलका रूप कलाजन्य ग्रनुभूति के समकक्ष सिद्ध होता है, जो ठीक नहीं।

ग्रस्तु, इस प्रकार से क्रोचे का ग्रिमिंग्यंजनावाद विचारों की दृष्टि से विशुद्ध ग्रिमिंग्यंजनावाद है। वह ग्रपनो वात को इस ढंग से कहता है कि पाठक पढ़कर चौंकता है, सोचता है, उलभता है ग्रौर ग्रन्त में वह जब तक स्वयं को या क्रोचे को ग्रित बुद्धिमान नहीं मान लेता तब तक वह सुलभ नहीं पाता। क्रोचे की वेतुकी वार्तों से चिढ़कर एक वार 'Making of Literature' के रचियता जेम्स महोदय ने लिखा था "the artist about whom he is Philosophizing exists no where but in his own mind."—ग्रर्थात् जिस कलाकार (या कला?) की क्रोचे व्याख्या कर रहा है, उसका निवास उसके दिमाग में ही है ग्रौर कहीं नहीं !! क्रोचे के समकालीन ग्रौर भी ग्रनेक विद्वानों ने उसकी भर्त्सना की, किन्तु इससे उसका हित ही हुग्रा—क्योंकि 'वदनाम हुए तो क्या नाम नहीं हुग्रा!' ग्रौर सचमुच यदि क्रोचे इससे थोड़ी भी भिन्न शैली ग्रपनाता तो शायद उसका इतना व्यापक प्रचार नहीं हो पाता।

कोचे की उपर्युक्त ग्रसङ्गितियों एवं त्रुटियों के वावजूद इतना ग्रवश्य स्वीकार कोचे की उपर्युक्त ग्रसङ्गितियों एवं त्रुटियों के वावजूद इतना ग्रवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि उसके प्रभाव के कारण कला ग्रौर साहित्य को दार्शिनकता, वौद्धिकता, नैतिकता एवं उपयोगिता के नियन्त्रण से मुक्ति मिली तथा साथ ही शैली के वाह्य कता, नैतिकता एवं उपयोगिता के नियन्त्रण से मुक्ति मिली तथा साथ ही शैली के वाह्य एवं ग्रारोपित चामत्कारिक तत्त्वों की ग्रपेक्षा ग्रनुभूति की सहज ग्रिमव्यक्ति को वल मिला। ग्रतः कला का लक्ष्य केवल कला या सौन्दर्य माननेवालों की दृष्टि से कोचे का महत्त्व ग्रत्थिक है—ऐसा निस्संकोच कहा जा सकता है।

: उन्नीस :

त्राई० ए० रिचर्ड्स के काव्य-सिद्धान्त

- १. विषय-प्रवेश।
- २. मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन ।
- ३. मूल्य का सिद्धान्त ग्रीर साहित्य।
- ४. प्रेषणीयता का सिद्धान्त ।
- ५. काव्य की भाषा।
- ६. काव्यास्वादन की प्रक्रिया।
- ७. रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का महत्त्व।

श्राधुनिक युगीन पाश्चात्य समीक्षकों में डॉ॰ श्राई॰ ए॰ रिचर्ड्स का स्थान श्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में नूतन दृष्टिकोण का परिचय देते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की है। डॉ॰ रिचर्ड्स ने पहले मनोविज्ञान एवं ग्रर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य किया था, ग्रतः साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने मनोविज्ञान व अर्थ-विज्ञान को ग्रपनी स्थापनाग्रों के ग्राधार के रूप में ग्रहण किया। उनके समीक्षा-सिद्धान्तों को कतिपय शीर्षकों के ग्रन्तर्गत यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन

किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करते समय हमारे मन में पहले से ही मूल्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा होती है, या यों किहए कि हम किसी पूर्व निश्चित मानदंड के आधार पर ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करते हैं। हम किसी वस्तु को अच्छी कह देते हैं और किसी को बुरी। प्रश्न है कि इस 'अच्छे होने' या 'बुरे होने' का मूलाधार क्या है? रिचर्ड्स ने इसी समस्या को उठाते हुए बताया है कि प्रायः लोग नैतिक दृष्टि से ही अच्छे-बुरे का निर्णय कर डालते हैं, किन्तु स्वयं नैतिक दृष्टि का मूलाधार क्या है—इस पर किसी ने स्पष्ट रूप में विचार नहीं किया। अतः सबसे पहले 'अच्छे' और 'बुरे' की धारणा का मनोविज्ञान के आधार पर सामान्य रूप में विश्लेषण किया जाना चाहिए।

डॉ॰ रिचर्ड्स के विचार से हमारी मूल्यांकन सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध मानसिक उद्देगों से हैं। जो वस्तु हमारे उद्देगों को संतुष्ट करती है, उसी को सामान्यतः मूल्यवान् कहा जाता है। ये उद्देग (Impulses) भी दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रवृत्ति-मूलक और (२) निवृत्ति-मूलक। उदाहरण के लिए प्रथम में श्राकांक्षाएँ श्राती हैं तो दूसरे वर्ग में घृणा, निर्वेद श्रादि को ले सकते हैं। इन उद्देगों में परस्पर संघर्ष भी हो सकता है। सम्भव है कि किसी एक उद्देग की तृष्टि से दूसरे जुद्धेंग को ठेस पहुँचे।

यदि हम ग्रपना कीमती पेन किसी को दान कर दें तो हमारी उदारता की भावना तो तुष्ट होगी, किन्तु साथ ही हमारी ग्रधिकार की भावना को ठेस भी लग सकती है। ऐसी स्थिति में हमारा प्रयास यह होता है कि हम ग्रपने उद्देगों को इस प्रकार शांत करें कि जिससे दूसरे उद्देगों से विरोध न हो। इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है, जबिक हम प्रमुख उद्देगों को ग्रधिक महत्त्व देते हुए गौण उद्देगों की उपेक्षा करें। प्रश्न है—प्रमुख उद्देग कीन से हैं ग्रौर क्यों? जिस उद्देग की सन्तुष्टि करने पर ग्रधिकाधिक उद्देग तुष्ट होते हों तथा कम से कम उद्देगों का विरोध होता हो, वही प्रमुख उद्देग है। इन्हीं को ग्रर्थशास्त्रियों ने मूलभूत ग्रावश्यकताग्रों का नाम दिया है।

प्रेरणाओं की संतुष्टि में न केवल व्यक्ति की दूसरी प्रवृत्तियाँ, श्रपितु अन्य व्यक्तियों की प्रेरणाएँ भी वाधक वन सकती हैं। इससे व्यक्तियों में विरोध एवं संघर्ष का श्रारम्भ होता है। इसी विरोध एवं संघर्ष से वचने के लिए समाज में ऐसे नीति-नियमों का विकास हुग्रा है जिनसे विना विरोध के ही ग्रधिक से ग्रधिक व्यक्तियों की सन्तुष्टि हो सके या उनकी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। अस्तु, वह नियम जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों को विना किसी पारस्परिक विरोध के उनकी प्रमुख प्रेरणाग्रों को तुष्ट करने का विधान करता है-वही सबसे अच्छा नियम है, उसी को हम नैतिक नियम कहते हैं। संक्षेप में 'नैतिक' या 'ग्रच्छा' या 'मूल्यवान्' का ग्रर्थ है जो 'प्रेरणाग्रों की तुष्टि में सर्वाधिक सहायक हो।' स्वयं रिचर्ड्स के शब्दों में-"Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some equal or more unimportant appetency; in other words, the only reason which can be given for not satisfying a desire is that more important desires will thereby be thwarted. Thus morals become purely prudential and ethical codes merely the expression of the most general scheme of expediency to which an individual or a race has attained," (Principles of Literary Criticism: Page 48) अर्थात् कोई भी वस्तु जो किसी एक इच्छा को इस प्रकार शान्त करती है कि उससे उसके समान या ग्रधिक महत्त्वपूर्ण इच्छा का ग्रवरोध नहीं होता—मूल्यवान् है। या दूसरे शब्दों में किसी इच्छा को यदि तुष्ट नहीं करने दिया जाता तो उसका केवल यही ग्राधार हो सकता है कि वैसा करने से उससे भी ग्रधिक महत्त्वपूर्ण इच्छाएँ कुण्ठित हो जाएँगी । इसी प्रकार व्यक्ति या जाति के द्वारा श्रनुमोदित (इच्छा-पूर्ति की) प्राथमिकता पर भ्राधारित सामान्य योजना की ही भ्रमिव्यक्ति नैतिकता या नियमों के रूप में होती है।

मूल्य का सिद्धान्त ग्रौर साहित्य

मूल्य के उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का नैतिकता से क्या सम्बन्ध है— इसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इसी सिद्धान्त को डा० रिचर्ड्स साहित्य पर भी लागू करते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे सीधे नैतिकता के स्राधार पर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। इस सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को स्रधिक घ्यान से समभना Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनके विचार से समाज ग्रौर धर्म के सभी नैतिक नियमों, प्रथाग्रों, ग्रन्धविश्वासों ग्रादि के पीछे मूलतः वही इच्छाग्रों की तुष्टि का लक्ष्य होता है। किन्तु फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमें सभी नैतिक नियमों, प्रथाग्रों ग्रादि को सर्वत्र महत्त्वपूर्ण समभना चाहिए। यद्यपि प्रारम्भ में इनका विकास समाज की किसी ग्रवस्था एवं परिस्थिति की ग्रावश्यकता के ग्रनुसार होता है, किन्तु समय के साथ-साथ वे परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। ऐसी स्थिति में उन नियमों एवं प्रथाग्रों को भी बदल जाना चाहिए, पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। परिस्थितियाँ जिस तेजी से बदलती हैं, उस तेजी से हमारे नैतिक ग्रादर्श एवं नियम नहीं बदलते। परिणाम यह होता है कि हम युग से पिछड़ जाते हैं, हमारी ग्रान्तरिक एवं बाह्य व्यवस्था में व्याघात तथा हमारे जीवन में ग्रसंतोष उत्पन्न होता है।

समाज को ग्रव्यवस्था एवं ग्रसंतोष की इस प्रचण्ड ग्राग से बचाने के लिए परम्परागत ग्रादशों एवं मान्यताग्रों में संशोधन एवं परिवर्तन की गहरी ग्रावश्यकता का ग्रनुभव होता है। यह परिवर्तन कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर है "ग्रन्य (महान्) व्यक्तियों के मस्तिष्क (या विचारों) के प्रभाव से।" कला ग्रीर साहित्य के द्वारा ऐसे प्रभाव उत्पन्न किए जाते हैं जिससे कि हम ग्रव्यवस्था से व्यवस्था की ग्रोर ग्रग्नसर होते हैं। इस प्रकार ग्रप्तयक्ष रूप में साहित्य समाज की मान्यताग्रों के संशोधन में योग देता है। उनके शब्दों में—"कलाकार का काम तो उन ग्रनुभूतियों को ग्रंकित कर देना एवं चिर स्थायी बना देना होता है, जिन्हें वह सबसे ग्रधिक मूल्यवान समभता है।....कलाकार वह बिन्दु है, जहाँ मन का विकास सुव्यक्त हो उठता है। उसकी ग्रनुभूतियों में—कम से कम उन ग्रनुभूतियों में जो उसकी कृति को मूल्यवान बनाती हैं—ऐसे ग्रावेगों का सामंजस्य लक्षित होता है जो ग्रधिकांश लोगों के मन में ग्रस्त-व्यस्त, परस्पर ग्रन्तर्भूत तथा द्वन्दरत हुग्रा करते हैं। जो कुछ ग्रधिकांश लोगों के मन में ग्रव्यवस्थित रूप में विद्यमान होता है, उसकी कृति उसी को व्यवस्था देती है।" (पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २६३)

प्रेषणीयता का सिद्धान्त

रिचर्ड स का काव्य सम्बन्धी दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'प्रेषणीयता का सिद्धान्त' (a theory of communication) है। जैसा कि स्वयं रिचर्ड्स ने बताया है, किसी भी काव्य की समीक्षा के लिए मूल्य के वैज्ञानिक ग्राधार एवं प्रेषणीयता—दोनों को ग्राधार बनाना चाहिए। 'प्रेषणीयता' शब्द का प्रचार समीक्षा के क्षेत्र में रिचर्ड्स से बहुत पूर्व हो चुका था, किन्तु इसका ग्रर्थ स्पष्ट नहीं था। इसके सम्बन्ध में ग्रनिक रहस्यात्मक बातें प्रचलित थीं। कुछ लोग ऐसा सममते थे कि प्रेषणीयता में किन की ग्रनुमूति पाठक के हृदय में इस प्रकार संक्रमित की जाती है, जैसे कि एक सिक्का एक जेब से दूसरी जेव में चला जाता है। रिचर्ड्स ने इन धारणाग्रों का विरोध करते हुए स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया कि प्रेषणीयता कोई ग्रद्भुत या रहस्यमय व्यापार नहीं है, ग्रिपतु मन की एक सामान्य क्रिया मात्र है। उनके शब्दों में—"All that occurs is

that, under certain conditions, separate minds have closely similar experiences." अर्थात् प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्रायः एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की वात है कि रिचर्ड्स ने इन विभिन्न अनुभूतियों में आधार की ही एकता मानी है—उन अनुभूतियों का पारस्परिक ऐक्य उसने स्वीकार नहीं किया है। इसका और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जब किसी वातावरण-विशेष से एक व्यक्ति का मस्तिष्क प्रभावित होता है तथा दूसरा उस व्यक्ति की क्रिया के प्रभाव से ऐसी अनुभूति प्राप्त करता है कि जो पहले व्यक्ति की अनुभूति के समान होती है तो उसे प्रेषणीयता कहते हैं। वस्तुतः किसी अन्य की अनुभूति को अनुभूत करना ही प्रेषणीयता है।

प्रेषणीयता के ग्राधारभूत तथ्यों की मीमांसा करते हुए रिचर्ड्स महोदय ने इसका श्रेय मुख्यतः किव की वर्णन-क्षमता एवं श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति को दिया है। किन्तु इन दोनों के ग्रितिरक्त ग्रौर भी बहुत से कारण हैं। सामान्यतः (विषय का) दीर्घ एवं घनिष्ठ परिचय, व्यापक जानकारी, जीवन की परिस्थितियों एवं ग्रनुभूतियों की समानता ग्रादि के कारण भी प्रेषणीयता सम्भव है। कुछ विशिष्ट एवं जिटल विषयों में सफल प्रेपणीयता के लिए यह ग्रावश्यक है कि सम्बन्धित व्यक्तियों के ग्रितीत-कालीन संचित ग्रनुभव (या किहए—संस्कार) बहुत कुछ एक से हों। साथ ही किसी एक विषय की प्रेपणीयता पर इस बात का भी गहरा प्रभाव पड़ता है कि उसे कौन से दूसरे विषयों एवं तत्त्वों के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि रिचर्ड्स के विचार से विचारात्मक एवं विश्लेषणात्मक निबन्धों में भावोद्दीप्ति का समन्वय नहीं होना चाहिए, ग्रन्थशा वे ग्रस्पष्ट हो जायेंगे।

कला के लिए प्रेषणीयता श्रत्यन्त ग्रावश्यक है, किन्तु क्या इसके लिए कलाकार को विशेष प्रयत्न करना चाहिए ? यदि कलाकार स्वयं ग्रपनी कला को प्रेषणीय बनाने का प्रयत्न करने लगेगा तो इससे सम्भव है कि उसकी रचना में कृत्रिमता ग्रा जाय, क्योंकि कला में स्वाभाविकता का गुण तभी सम्भव है, जब कि कलाकार उसमें किसी प्रकार का बाह्य प्रयत्न न करे । ग्रतः रिचर्ड्स महोदय ने एक ग्रोर तो यह माना है कि कला में प्रेषणीयता ग्रावश्यक है, किन्तु कलाकार को इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए । सही बात तो यह है कि यदि कलाकार तल्लीनतापूर्वक कला की रचना करता है तो उसमें प्रेषणीयता स्वतः ही ग्रा जायगी ।" कलाकार जितना ग्रिषक सामान्य रूप से कार्य करेगा, ग्रपनी ग्रनुभूतियों के ठीक प्रकार से प्रस्तुतीकरण में वह उतना ही ग्रिषक सफल होगा तथा उतने ही ग्रिषक तदनुकूल भाव पाठकों के मन में उत्पन्न होंगे ।"

प्रेषणीयता का सिद्धान्त कला के इस महत्त्व की ओर भी संकेत करता है कि उसमें मानव जाति के ग्रतीतकालीन ग्रनुभव संचित हैं या यों कहिए कि "हमारे ग्रतीत-कालीन ग्रनुभव के मूल्यांकन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष हैं।" ग्रतः कलाओं का महत्त्व कभी न्यून नहीं हो सकता।

काव्य की भाषा

काव्य में प्रेषणीयता की माघ्यम मुख्यतः भाषा है, स्रतः रिचर्ड्स महोदय ने इसका भी सूदम विवेचन किया है। भाषा का उपयोग मुख्यतः ग्रर्थ को सूचित करने के लिए होता है। रिचर्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Practical Criticism", में अर्थ के चार भेद किए हैं—(१) वाच्यार्थ (Sense), (२) भाव (feeling), (३) वक्ता की वाणीगत चेष्टा (tone), भीर (४) म्रिभप्राय (Intention)। इन चारों की क्रमशः रिचर्ड्स के दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि सेन्स ग्रर्थात् वाच्यार्थ में किसी वस्त विशेष, या किसी विधेय को शब्दों के द्वारा सूचित किया जाता है। हम किसी वस्तू की सूचना इसलिए देते हैं कि उसका हमारे किसी न किसी भाव से सम्बन्ध होता है। केवल गणित जैसे कुछ विषयों को भ्रपवाद-स्वरूप छोडकर यह कहा जा सकता है कि भाषा का प्रयोग ही भावों की प्रेरणा से होता है। टोन या लहजे के द्वारा हमारा श्रोता के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त होता है। किसी से सम्मानपूर्वक वात करते समय हमारा लहजा विनम्रतापूर्ण होगा तो किसी को डाँटते समय वह दूसरे रूप में होगा। रिचर्ड स के शब्दों में "The tone of his utterance reflects his awareness of this relation." अर्थात् उद्गारों का लहजा (वक्ता ग्रीर श्रोता के पारस्परिक) सम्बन्ध का सूचक है। इन तीनों के श्रतिरिक्त चौथा भेद श्रभिप्राय (Intention) है। सामान्यतः कोई भी व्यक्ति किसी प्रयोजन से कुछ कहता है, ग्रतः इसका भी भाषा से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है।

भाषा से सामान्यतः उपर्युक्त चारों प्रकार के भ्रयं ही सूचित होते हैं, किन्तु विषय एवं परिस्थिति भेद से इनका अनुपात बदलता रहता है। विज्ञान की पुस्तकों एवं चर्चा में यदि पहले रूप-वाच्यार्थ (Sense) का भ्रधिक प्रयोग होता है तो काव्य में दूसरे रूप या भाव की ग्रतिशयता होती है। फिर भी ये ग्रर्थ परस्पर सर्वथा ग्रसम्बद्ध नहीं हैं-वे एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। काव्य में भाव (या भावार्थ) की इतनी प्रधिक महत्ता होती है कि वहाँ वाच्यार्थ या सूच्य तथ्य गौण हो जाते हैं। वहाँ तथ्य साधन होते हैं साघ्य नहीं, ग्रतः जो लोग केवल तथ्यों ग्रथवा विचारों से ग्राधार पर ही कविता का मृल्यांकन करते हैं, वे काव्य के साथ न्याय नहीं करते । ऐसे ग्रालोचकों का विरोध करते हुए डॉ॰ रिचर्ड स लिखते हैं—"The statements which appear in the poetry are there for the sake of their effects upon feelings, not for their own sake. Hence to challenge their truth or to question whether they deserve serious attention as statements claiming their truth, is to mistake their function. The point is that many, if not most, of the statements in poetry are there as a means to the manipulation and expression of feelings and attitudes, not as contribution to any body of doctrine of any type whatever.' (Practical Criticism, page 184) ग्रर्थात् जब कविता में किसी प्रकार के विचारों की ग्रमि-

व्यक्ति होती है तो वहाँ वे भावों के प्रभाव के लिए होती हैं न कि स्वयं अपने लिए। अतः उनकी सत्यता को ललकारना या उन्हें सत्य के प्रतिपादक मानकर उनकी गंभीरता पर विचार करना, उनके मूल कार्य को गलत रूप देना है। मूल विन्दु यह है कि यदि अधिकतम नहीं तो अधिकांश विचार काव्य में भावों और दृष्टिकोणों को अभिव्यक्ति के निमित्त होते हैं—किसी सिद्धान्त विशेष के प्रतिपादक के रूप में नहीं—वह सिद्धान्त चाहे कैसा ही क्यों न हो।''

श्रर्थ ग्रौर भाव के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करते हुए रिचर्ड्स ने उसके तीन रूप माने हैं—प्रथम, जहाँ ग्रर्थ ही भाव का बोधक हो। दितीय, जहाँ ग्रर्थ भाव की ग्रनुभूति का सूचक हो। तृतीय, जहाँ प्रसंग-विशेष के कारण ही ग्रर्थ विभिन्न भावों का सूचक हो। वस्तुतः रिचर्ड्स का यह वर्गीकरण ग्रधिक स्पष्ट नहीं हो पाया, फिर भी इससे ग्रर्थ ग्रौर भाव के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता पर प्रकाश ग्रवश्य पड़ता है।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया

काव्यास्वादन या काव्य-भेषण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए रिचर्ड्स ने उसे ६ ग्रवस्थाग्रों में बाँटा है—(१) मुद्रित शब्दों का नेत्रों के माध्यम से ग्रहण, (२) नेत्रों द्वारा प्राप्त संवेदनाग्रों से सम्बन्धित विम्बों का ग्रहण, (३) स्वतन्त्र विम्बों का ग्रहण, (४) विभिन्न वस्तुग्रों का बोध, (५) भाषानुभूति, (६) दृष्टिकोण से सामञ्जस्य।

इनमें से प्रत्येक ग्रवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए डॉ॰ रिचर्ड्स ने बताया है कि सर्वप्रथम काव्य के पठन से उसके ग्रक्षरों की छपाई, स्पष्टता, शुद्धता ग्रादि का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार मुद्रित ग्रक्षरों के ऐन्द्रियक बोध में किवता के बाह्य-पक्ष या शैली-पक्ष का पर्याप्त महत्त्व होता है। विम्बों की स्वतन्त्र कल्पना के सम्बन्ध में उन्होंने एक नवीन तथ्य का उद्घाटन किया है। उनके विचार से किसी किवता को पढ़कर दो पाठकों के मन में एक जैसे ही विम्ब उत्पन्न नहीं होंगे। सम्भव है कि एक पंक्ति को पढ़कर पचास पाठकों के मन में पचास प्रकार की मूर्तियाँ उदित हों। ग्रतः काव्य में मूर्तिविधान का बहुत ग्रधिक महत्त्व नहीं है। डॉ॰ रिचर्ड्स के विचार से मूर्ति-विधानजन्य ग्रनुभूति से भी ग्रधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वे हैं, जिनके कारण विभिन्न पाठकों के ग्रनुभक में समानता ग्राती है। वे तत्त्व भाव-सम्बन्धी हैं।

विभिन्न शब्दों के अर्थ-बोध एवं बिम्ब-ग्रहण से हमें काव्य की सूच्य वस्तु का या उसके अर्थ का बोध होता है। शिक्षा और अम्यास के कारण ही हम सूच्य वस्तु का बोध कर पाते हैं। सूच्य वस्तु के बोध के फलस्वरूप भावों और भावात्मक दृष्टिकोणों में (attitudes) की अनुभूति होती है। काव्यानुभूति के अन्तिम तथा सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण अंग ये ही हैं। डॉ॰ रिचर्ड्स लिखते हैं—"Emotion are primarily signs of attitudes and owe their great prominence in the theory of art to this. For it is the attitudes evoked which are the all important parts of any experience. Upon the texture and form of the attitudes involved its value depends." (Principles of Literary

Criticism, page 132) ग्रर्थात् भाव दृष्टिकोण के चिह्न हैं तथा इसी कारण उनका कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों में बहुत महत्त्व है। किसी की अनुभूति का महत्त्व उसमें जागृत होनेवाले दृष्टिकोणों पर निर्भर है। दृष्टिकोणों के ग्रायोजन ग्रौर उनका रूप ही उनके मूल्यांकन का भ्राधार है।" यहाँ 'दृष्टिकोण' शब्द का प्रयोग वस्तुतः भावना (Sentiment) के ग्रर्थ में किया गया है, जिसे भारतीय रस-सिद्धान्त की शब्दावली में 'स्थायी-भाव' कह सकते हैं। 'इमोशन' ग्रौर 'एटीच्यूड' के बीच रिचर्ड्स ने वही सम्बन्ध माना है, जो संचारी भाव ग्रीर स्थायी भाव के मध्य है। ग्रतः स्थायी भाव की उद्दीप्ति को ही काव्य का लक्ष्य मानना रस-सिद्धान्त के ग्रनुकूल है। किन्तु स्वयं स्थायी भाव की उद्दीप्ति का लक्ष्य क्या है-इसके उत्तर के सम्बन्ध में भारतीय ग्राचार्यों एवं रिचर्ड स के विचारों में पर्याप्त मतभेद है। भारतीय ग्राचार्य रस या ग्रानन्द की निष्पत्ति को ही लक्ष्य मानते हैं, जबिक रिचर्ड्स इसे सर्वथा गीण मानते हैं। उनके विचार से "It is not the intensity of the conscious experience, its thrill, its pleasure or its poignancy which gives its value, but the organisation of its impluses for freedom and fullness of life." अर्थात् अनुभृति की गहराई या इसकी उत्तेजना या इससे प्राप्त होनेवाली प्रसन्नता या इससे प्राप्त होने वाली वेदना-ग्रादि पर इसका (काव्यानुभूति का) मूल्य निर्भर नहीं है। ग्रपित, इससे सम्पन्न होनेवाली ग्रावेगों की वह व्यवस्था, जिससे कि जीवन में मुक्तावस्था एवं परिपूर्णता श्राती है, ही (मृल्य का श्राधार) है।

श्रस्तु, रिचर्ड्स महोदय काव्यानुभूति में भावोद्दीप्ति को लक्ष्य मानते हुए भी उसका उद्देश्य हमारे स्थायी श्रावेगों को सुव्यवस्थित करना बताते हैं। प्रसन्नता या श्रानन्द को काव्य का उद्देश्य मानना उन्हें स्वीकार्य नहीं है।

रिचर्इ स के सिद्धान्तों का महत्त्व

'रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का संक्षेप में श्रव्ययन कर लेने के श्रनन्तर श्रव हम उनकी श्रपनं दृष्टिकोण से समीक्षा कर सकते हैं। सबसे पूर्व उनके मूल्य के मनोवैज्ञानिक श्राधार सम्बन्धी सिद्धान्त को ही लीजिए। उन्होंने किसी भी वस्तु या कार्य के मूल्य का श्राधार हमारी प्रमुख प्रेरणाश्रों, इच्छाश्रों या प्रवृत्तियों की तृष्टि को ही माना है। इस तृष्टि के लिए यह श्रपेक्षित है कि हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों में परस्पर ऐसा समन्वय हो कि जिससे एक की तृष्टि से दूसरों का विरोध न हो। साहित्य का मूल्यांकन वे इसी श्राधार पर करते हैं। कहने के लिए इसे रिचर्ड्स की बहुत बड़ी देन माना जा सकता है, किन्तु इसमें शब्दावली की जितनी नवीनता है, उतनी विचारों की नवीनता नहीं है। इच्छाश्रों की पूर्ति ही सुख है, श्रानन्द है—यह तथ्य प्राचीन युग से ही हमें ज्ञात है, जिसे रिचर्ड्स ने नये शब्दों में प्रस्तुत किया है। किन्तु श्रपने इस सिद्धान्त को काव्य पर लागू करते समय वे यह स्पष्ट नहीं कर पाये कि काव्य में ''प्रमुख प्रवृत्तियों की व्यवस्था'' की पहचान क्या है। सामान्यतः किसी भी काव्य के श्रघ्ययन से दो प्रकार के प्रभाव उत्पन्न होते हैं— एक जो उसे पढ़ने के साथ-साथ प्रसन्नतादायक प्रभाव, दूसरे, वे प्रभाव जो हमारे विचारों

का परिष्कार करते हुए हमारे व्यक्तित्व के स्थायी ग्रंग वन जाते हैं। रिचर्ड्स महोदय इनमें से प्रथम प्रभाव को गौण मानकर द्वितीय को ही प्रमुख मानते हैं। काव्य से प्राप्त होनेवाले तात्कालिक ग्रानन्द के स्थान पर दृष्टिकोण के स्थायी परिष्कार को महत्त्व प्रदान करने का प्रयास नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसे व्यावहारिक समीक्षा का रूप कैसे दिया जाय, इस पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला। प्रेषणीयता का सिद्धान्त कला के स्वतन्त्र महत्त्व की दृष्टि से प्रतिपादित है, किन्तु इसका वे मूल्य के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से कोई सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके। इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर ऐसी संगति नहीं विठाई जा सकी जिससे कि यह कहा जा सके कि ये दोनों एक ही व्यक्ति या एक ही दृष्टिकोण की देन हैं। मूल्य के मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त में जहाँ वे काव्य के वस्तु पक्ष को ग्रधिक महत्ता प्रदान करते हैं, वहाँ प्रेषणीयता में उसके शैली-पक्ष को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है—ग्रतः इन दोनों सिद्धान्तों में हमें सामंजस्य का ग्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

काव्य की भाषा को उन्होंने ग्रर्थ की दृष्टि से चार भेदों—वाच्यार्थ, भाव, चेष्टा (लहजा) स्रीर स्रभिप्राय में वाँटा है, किन्तु यह विभाजन वैज्ञानिक एवं सुसंगत नहीं है। एक स्थान पर वे लिखते हैं--भाषा का प्रयोग भाव की प्रेरणा से होता है, ग्रागे चलकर वे प्रतिपादित करते हैं कि हम ग्रपनी वात किसी ग्रभिप्राय से कहते हैं। ऐसी स्थिति में 'भाव की प्रेरणा' ग्रौर 'वात का ग्रभिप्राय' दोनों ग्रलग-ग्रलग नहीं माने जा सकते। वाणीगत चेष्टा (tone) को उन्होंने वक्ता ग्रौर श्रोता के पारस्परिक सम्बन्ध पर ग्राधारित माना है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। सामान्यतः एक ही वक्ता एक ही श्रोता से विभिन्न श्रवसरों पर विभिन्न लहजों में बात कर सकता है, जबकि उसका सम्बन्ध वही रहता है । पिता श्रपने पुत्र को कभी प्यार से कोमल स्वर में पुचकारता है तो कभी क्रोध में जोर से डाँटता भी है। यहाँ दोनों का सम्बन्ध वही है, किन्तु वक्ता की मनोदशा या भावदशा के परिणामस्वरूप ही उसका लहजा परिवर्तित हो जाता है। ग्रतः लहजे (tone) का ग्राधार सम्बन्ध न होकर भाव-दशा है। सही वात तो यह है कि रिचर्ड्स के भाव, लहजा और ग्रभिप्राय—ग्रर्थ के तीन भेद, भेद न होकर एक दूसरे के ग्रंग हैं। ग्रर्थों के इस वर्गीकरण की ग्रपेक्षा भारतीय ग्राचार्यों का वर्गीकरण—ग्रमिधा, लक्षणा, व्यंजना सम्बन्धी—ग्रधिक वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत हैं । किन्तु रिचर्ड्स महोदय इस वर्गीकरण से परिचित न होने के कारण लाभ नहीं उठा सके।

काव्यास्वादन की प्रक्रिया के विश्लेषण में भी डॉ॰ रिचर्ड्स को ग्रधिक सफलता नहीं मिली। उनके द्वारा ६ ग्रवस्थाग्रों का निरूपण ग्रत्यधिक जटिल एवं दुर्बोध है। फिर भी इतना ग्रवश्य है कि उनके इस निरूपण में तथ्यों की वास्तविकता मिलती है। पहले हम किसी रचना में शब्दों को पढ़ते हैं, उनका ग्रर्थ ग्रहण करते हैं, उस ग्रर्थ से सम्बन्धित वस्तु की कल्पना उदित होती है, उस कल्पना से संचारीभाव की ग्रनुभूति होती है ग्रौर उन संचारी भावों से स्थायी भाव की पुष्टि या उद्दीप्ति होती है—इन्हीं तथ्यों को रिचर्ड्स ने ऐसे शीर्षकों में प्रस्तुत किया है, जो कि नए पाठक को विचित्र से लगते हैं। जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है, काव्यास्वादन की प्रक्रिया रस-सिद्धान्त की मान्यताग्रों से CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

मिलती-जुलती है। किन्तु रस-सिद्धान्त में भावों की उद्दीप्ति के द्वारा स्थायीभाव की श्रभिव्यक्ति के सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है, जबिक रिचर्ड्स संचारी भावों श्रौर स्थायीमाव दोनों के लिए ही 'उद्दीप्ति' की ही बात कहते हैं। इसके ग्रतिरिक्त रिचर्ड्स की यह भी एक विचित्र कल्पना है कि काव्य से प्राप्त होनेवाला तात्कालिक ग्रानन्द सर्वथा गौण है। यह मान्यता स्वयं उनके प्रेषणीयता के सिद्धान्त के ही विपरीत पड़ती है। प्रेपणीयता का प्रमुख लक्षण प्राप्त होने वाला श्रानन्द ही है। इस लक्षण के विना प्रेषणीयता का निर्णय करना कठिन है, किन्तु रिचर्ड्स इसी लक्षण की विल्कुल उपेक्षा कर देते हैं। साय ही प्रवृत्तियों की तुष्टि का भी बोध रस-दशा या ग्रानन्द की निष्पत्ति से ही होता है-किन्तू उन्होंने काव्य से पड़ने वाले स्थायी संस्कारों के श्रागे इस रस-दशा को हेय एवं उपेक्षणीय घोषित करके कला के लिए एक ऐसा मानदंड प्रस्तुत किया है, जो कि अव्याव-हारिक है। ग्रस्तु, हमारे विचार से रिचर्ड्स के सिद्धान्त भाषा की दृष्टि से मौलिक विचारों की दृष्टि से गम्भीर एवं क्षेत्र की दृष्टि से व्यापक होते हुए भी परस्पर सुसम्बद्ध एवं व्यवस्थित नहीं हैं। वे प्रपनें सभी सिद्धान्तों को लक्ष्य के किसी एक सूत्र में भली-भाँति गूँथकर प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सके । उनकी श्राधारभूत धारणाएँ महत्त्व-पूर्ण हैं, किन्तु उनकी व्याख्या करते-करते वे उनसे बहुत दूर निकल जाते हैं। फिर भी उन्होंने अपने युग के विद्वानों एवं कलाकारों का व्यान कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ग्रोर श्राकर्षित किया है तथा उनके दृष्टिकोण को पर्याप्त प्रभावित भी किया है। सम्भवतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने साहित्य का एक ऐसा मान-दंड खोजने का प्रयास किया, जो भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र के भ्राधारभूत तत्त्वों से समन्वित हो। यह प्रयास यद्यपि पूर्णतः सफल नहीं हो सका, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। ग्रतः निश्चित ही भ्राधुनिक युग के साहित्य-चिन्तकों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

हिन्दी-साहित्य का विकास (काव्य-धाराओं एवं काव्य-रूपों के विकास सम्बन्धो निबन्ध)

: बीस :

हिंदी-साहित्य का आविर्माव-काल

 विभिन्न मत—ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदो ।

२. हिन्दी : ग्रर्थ एवं क्षेत्र ।

३. हिन्दी : उद्भव एवं विकास ।

४. हिन्दी का प्रथम कवि कौन ?

५. निर्णय ।

हिन्दी-साहित्य के श्राविर्भाव-काल के सम्बन्ध में ग्रव तक विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर उनमें से ग्रिघ-कांश-प्रायः सभी, ग्रसंगत एवं भ्रामक सिद्ध होते हैं। हिन्दी के प्रथम इतिहास-लेखक गार्सां द ताँसी ने तो इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया था, उनके ग्रनन्तर इस क्षेत्र में कार्य करने वाले शिवसिंह सेंगर ने भ्रपने 'शिवसिंह सरोज' (१८८३ई०) में किसी पुरानी अनुश्रुति के ग्राधार पर सातवीं शताब्दी के पुष्य नामक किव को हिन्दी का पहला किव घोषित करते हुए ग्रप्रत्यक्ष रूप में इसी समय से हिन्दी-साहित्य का ग्राविर्भाव माना । किन्तु परवर्ती अनुसंघान से ज्ञात हुआ कि इस नाम के किसी कवि के अस्तित्व का कोई प्रमाण या उसकी कोई रचना प्राप्य नहीं है, ऐसी स्थिति में उसे हिन्दी का ग्रादि किव कैसे माना जा सकता है ? ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में ग्रनुमान किया है कि यह पुष्य संभवतः ग्रपभ्रंश का प्रसिद्ध किव पुष्पदंत ही है, जिसका ग्रविर्भाव नवीं शती में हुआ था। हमारे विचार से यह अनुमान ठीक है किन्तु यदि ऐसा न भी हो तो भी हिन्दी के किसी पुष्य का कोई ग्रस्तित्व ग्रब स्वीकार्य नहीं है, ग्रतः उसके ग्राधार पर हिन्दी के ग्राविर्माव-काल का निर्णय करना ठीक नहीं। पर दुर्भाग्य से हिन्दी-साहित्य के परवर्ती इतिहासकार भी, जिनमें सर जार्ज ग्रियसन एवं मिश्रदन्धु का नाम उल्लेख-नीय है, इस पुष्य सम्बन्धी भ्रान्ति में पड़ जाने के कारण हिन्दी-साहित्य का ग्राविर्भाव सातवीं शती में ही मानने को विवश हो गये। वैसे पुष्य के श्रस्तित्व की संदिग्धता का पता इन्हें था, क्योंकि ग्रियर्सन ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'यह (पुष्य कवि) प्राचीनतम भाषा कवि है, जिसका कोई उल्लेख मुक्ते देशी लेखकों की कृतियों में नहीं मिला है। 'शिवसिंह सरोज' का कथन है कि यह ७१३ ई० में उपस्थित था और 'भाषा की जड़' यही कवि है। इस विवरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि इसका नाम पुष्प या पुष्प था श्रथवा पुंड था।....यदि भाषा से अभिप्राय प्राकृत के पश्चात्कालीन भाषा रूप से है, तब तो यह पूर्णरूपेण ग्रस्वाभाविक वक्तव्य प्रतीत होता है। मुफे तो टाड में सरोज के CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. इस कथन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। टाड में किसी पुष्य का उल्लेख ग्रवश्य है पर यह एक उत्कीर्ण लेख का रचयिता है....पर यह उत्कीर्ण लेख किस भाषा में लिखा गया था, टाड में मुफे इसका कोई उल्लेख नहीं मिला।'—इससे स्पष्ट है कि हिन्दी के एक कि के रूप में पुष्य को मान्यता देना ग्रियर्सन को ग्रस्वीकार्य था, किन्तु फिर भी कई वार जो लीक पड़ जाती है, उससे हटना परवर्ती चिन्तकों के लिए ग्रसम्भव हो जाता है।

परवर्ती यग में ग्राचार्य रामचन्द्र शक्ल ने ग्रपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (१९२६ ई०) में पुष्य को कोई स्थान नहीं दिया तथा उन्होंने ग्राविभीव-काल के सम्बन्ध में भी परम्परागत धारणा में संशोधन करते हुए सम्वत् १०५० से हिन्दी साहित्य के श्रादि काल का श्रारम्भ माना। यद्यपि शक्लोत्तर इतिहास लेखकों ने प्रायः इसी मत को स्वीकार किया है तथा भ्राज भी सर्वाधिक मान्यता इसी को प्राप्त है, किन्तु यदि हम भाचार्य शक्ल के निर्णय की पुनर्परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि वह भी उतना ही निराधार एवं ग्रसंगत है जितना कि उससे पूर्व प्रचलित मत था। ग्राचार्य शुक्ल का यह निर्णय मुख्यतः दो धारणाओं पर ग्राधारित है-एक, ग्रपभ्रंश हिन्दी का ही एक रूप है, जिसे उनके शब्दों में 'प्राकृताभास हिन्दी' या 'पुरानी हिन्दी' कहा जा सकता है। ग्रपभ्रंश को हिन्दी मान लेने पर उसका भ्राविभवि-काल सातवीं शताब्दी ही सिद्ध हो जाता है। इस निष्कर्ष पर पहुँचते हुए वे लिखते हैं—"श्रपश्चंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक ग्रौर योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाग्रों के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है।' ऐसी स्थित में उन्हें हिन्दी-साहित्य का ब्रारम्भ भी सातवीं शताब्दी से ही मान लेना चाहिए था, किन्तु उनकी दूसरी धारणा इसके विपरीत पड़ती थी। वह दूसरी धारणा यह थी कि ग्रपभ्रंश का प्रारंभिक साहित्य-१०५० विक्रमी तक का साहित्य-उनकी दृष्टि से सांप्रदायिक साहित्य मात्र था, उसे विशुद्ध काव्य-कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। इस निष्कर्ष को उन्होंने बार-बार दोहराया है, कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं यथा, :

- (क) "सिद्धों में सरह सबसे पुराने भ्रर्थात् वि० सं० ६६० के हैं। ग्रतः हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के भ्रन्तिम चरण से लगता है।"
- (ख) ''उनकी (सिद्धों ग्रौर योगियों की) रचनाग्रों का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, ग्रनुभूतियों ग्रौर दशाग्रों से कोई सम्बन्ध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, ग्रतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं ग्रा सकतीं।''
- (ग) "मुंज श्रीर भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी श्रपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य का काव्य रचनाश्रों में भी पाया जाता है। ग्रतः श्रर्थात् हिन्दी-साहित्य का श्रादि काल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है।"

यहाँ विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि ग्राचार्य शुक्ल ने संवत् १०५० का CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

निर्णय यों ही 'मुंज ग्रौर भोज के समय' के ग्राधार पर एकाएक कर लिया—मानों मुंज ग्रौर भोज हिन्दी के कोई किव हों—िकसी निश्चित साहित्यिक ग्राधार पर नहीं किया। वस्तुतः हिन्दी का पहला किव किसे माना जाय, इस प्रश्न को शुक्लजी वड़ी चतुराई से टाल गये हैं। मुंज ग्रीर भोज का हिन्दी-साहित्य से क्या सम्बन्ध था, उनके समय को ही यहाँ ग्राघार क्यों वनाया गया, इस सम्बन्ध में भी ग्राचार्य शुक्ल मीन हैं। ग्रतः यह निर्णय ग्रपने-ग्राप में बहुत-कुछ ग्रस्पष्ट है, या यों किहए कि उसका ग्राधारभूत कारण स्पष्ट नहीं । किन्तु इससे भी ग्रधिक प्रतिकूल स्थिति तो यह है कि ग्राचार्य शुक्ल ने इस सम्बन्ध में जिन दो धारणाओं को 'ग्राधार' रूप में ग्रहण किया था, वे भी ग्रव विल्कुल अमान्य हो गई हैं। अब न तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' या 'प्राकृताभास हिन्दी' कहा जा सकता ग्रौर न ही ग्रपभ्रं श के प्रारम्भिक किवयों की रचनाग्रों को केवल सांप्रदायिक शिक्षा मात्र कहकर काव्य-क्षेत्र से वहिष्कृत किया जा सकता है। यदि ग्रप-भ्रंग ग्रौर हिन्दी को एक मानते हैं तो निश्चित ही हमें सरह पाद को हिन्दी के पहले कवि के रूप में स्वीकार करते हुए हिन्दी-साहित्य का ग्राविभीव-काल सातवीं शती से मानना होगा तथा ग्रपभ्रं श के सभी कवियों को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देना होगा । वस्तुतः भाषावैज्ञानिक, साहित्यिक एवं व्यावहारिक—सभी दृष्टियों से भ्रव ग्रप-भ्रंग की हिन्दी से भिन्नता सिद्ध हो गई है। वैसे राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य कितपय विद्वान् ग्राज से कुछ वर्षों पूर्व तक ग्रपभ्रंश ग्रौर हिन्दी को एक मानने का समर्थन करते रहे हैं, किन्तु इस मत को मान्यता देने में दो वड़ी कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि यदि हिन्दी की जननी ग्रपभ्रंश को भी हिन्दी कहें तो फिर ग्रपभ्रंश की जननी प्राकृत एवं प्राकृत की जननी पूर्ववर्ती भाषाग्रों को भी हिन्दी कहने में क्या 'ग्रापित है ? इस दृष्टि-कोण को ग्रपनाने पर तो सभी पूर्ववर्ती भाषाग्रों को हिन्दी में स्थान दिया जा सकता है जो उचित नहीं होगा। दूसरे, श्रपभ्रंश से केवल हिन्दी का ही नहीं, उत्तरी भारत की भ्रन्य भ्राधुनिक भाषाभ्रों—पंजाबी, गुजराती, वंगाली, मराठी, उड़िया, भ्रसमी भ्रादि— का भी सम्बन्ध है। ये सभी श्रपभ्रंश से विकसित होने के कारण हिन्दी की वहिनें लगती हैं, यदि ग्रपभ्रंश ग्रौर हिन्दी को ग्रमिन्न मान लिया जाय ते इन सबकी जननी हिन्दी सिद्ध हो जायगी, कदाचित् यह स्थिति हिन्दी वालों को मान्य हो भी सके, किन्तु भ्रन्य भाषा-भाषी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। वस्तुतः अपभ्रंश पर जितना अधिकार हिन्दी का है उतना ही पंजाबी, गुजराती, बँगला म्रादि भाषाम्रों का भी है, म्रतः उस पर हिन्दी का एकाधिकार सिद्ध करना ग्रनधिकार चेष्टा है।

ऐसा प्रतोत होता है कि यद्यपि भाचार्य शुक्ल ने सिद्धान्त रूप में तो भ्रपभ्रंश को हिन्दी से ग्रभिन्न घोषित कर दिया, पर व्यवहार-रूप में वे भी इसकी यथार्थता में सन्देह करते थे, कदाचित् इसी का परिणाम है कि उन्होंने ग्रपभ्रं ग ग्रौर हिन्दी काव्य का परिचय ग्रलग-ग्रलग ग्रघ्यायों में दिया है। जहाँ वे ग्रादिकाल के प्रकरण संख्या २ का शीर्षक 'ग्रपभ्रं श' 'काल' रखते हैं, वहाँ उन्होंने प्रकरण संख्या ३ का शीर्षक 'देश-भाषा काव्य' रखा है। इन दोनों में क्या ग्रन्तर है ? तथा क्या दोनों ही हिन्दी से ही सम्बन्धित हैं या नहीं;—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया, किन्तु यह उन्होंने स्पष्ट

रूप में स्वीकार किया है कि "इस काल की जो साहित्यक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है, उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बढ़) हिन्दी है।" इसका तात्पर्य यह हुग्रा कि यदि हम अपभ्रंश के साहित्य को हिन्दी से अलग कर दें तो शुक्ल जी के इस आदिकाल के पास केवल संदिग्ध सामग्री शेष रह जायगी जिसके आधार पर किया गया निर्णय भी संदिग्ध एवं अवास्तविक सिद्ध होगा। वस्तुतः आज यही स्थित है। आचार्य शुक्ल के द्वारा कथित हिन्दी की आदिकालीन रचनाग्रों में से अब कुछ अपभ्रंश की सिद्ध हो गई हैं, कुछ अस्तित्वहीन प्रमाणित हुई हैं और कुछ बहुत वाद की रचित हैं। अस्तु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन धारणाग्रों एवं तथ्यों के आधार पर हिन्दी-साहित्य का आरम्भ संवत् १०५० से माना था, वे सभी अब अस्पष्ट, असंगत, संदिग्ध एवं अमान्य सिद्ध हो गये हैं, ऐसी स्थिति में अब उसी निर्णय को मानते रहना अपनी रूढ़िवादिता का परिचय देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

श्राचार्य शुक्ल के श्रनन्तर डा॰ रामकुमार वर्मा एवं श्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इतिहास को नये रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, किन्तु जहाँ तक उपर्युक्त प्रश्न का सम्बन्ध है, ये विद्वान् भी कोई स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त उत्तर नहीं दे पाये हैं। डा॰ रामकुमार वर्मा एक ग्रोर तो हिन्दी को ग्रपभ्रंश से विकसित उससे भिन्न भाषा के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं—'ग्रपभ्रंश भाषा दसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही, उसके बाद उसे भी 'साहित्य-मरण' के लिए बाव्य होना पड़ा ग्रौर दसवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा ने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किए। फलतः हिन्दी ग्रादि भाषाग्रों का सूत्रपात हुग्रा'—इससे स्पष्ट है कि वे हिन्दी भाषा का सूत्र-पात अपभ्रंश के साहित्यिक मरण के बाद दसवीं शताब्दी में मानते हैं, पर दूसरी ग्रोर वे हिन्दी-साहित्य के विकास काल को 'संधिकाल' कहते हुए, उसकी काल-सीमा ७५०-१२०० रखते हैं भ्रौर श्रपभ्रंश के सारे साहित्य को हिन्दी-साहित्य में स्थान दे देते हैं। वे ऐसा ग्रनजान में नहीं, ग्रपितु बहुत सोच-समभ कर करते हैं। वे लिखते हैं—'ग्रर्ध-मागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के श्रन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।' डा० वर्मा का यह विचित्र निर्णय श्रनेक शंकाग्रों को जन्म देता है-एक तो उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि 'छाप' से उनका क्या ग्राशय है। अपभ्रंश में हिन्दी भाषा का पूर्वरूप मिलना संभव है, यदि इसी को 'छाप' कहते हैं तो इस स्थिति में न केवल अपभ्रंश, अपितु प्राकृत और संस्कृत पर भी हिन्दी की छाप मानी जा सकती है। वस्तुतः छाप पूर्ववर्ती की परवर्ती पर पड़ती है, न कि पर-वर्ती की पूर्ववर्ती पर, ग्रतः दसवीं शती में उत्पन्न होनेवाली हिन्दी की छाप सातवीं शताब्दी की श्रपभ्रंश पर मानना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। दूसरे, पहले भाषा का उद्भव होता है तदनन्तर उसमें साहित्य-रचना होती है, जबिक डा॰ वर्मा के अनुसार हिन्दी-साहित्य का ग्राविर्भाव-काल (७वीं शती) हिन्दी भाषा के उद्भव-काल (१०वीं CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

शती) से तीन शताब्दी पूर्व पड़ता है। वस्तुतः डा॰ वर्मा के प्रति पूरी श्रद्धा होतें हुए भी उनके निष्कर्षों को स्वीकार करना हमारे लिए वहुत किठन है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन निष्कर्षों के पीछे डा॰ वर्मा के उस किव-हृदय की प्रेरणा है, जो अपभ्रंश काव्य की सौन्दर्य-श्री को किसी न किसी प्रकार हिन्दी के अधिकार-क्षेत्र में ले आने के लिए विवश हो गया होगा। किन्तु इतिहास को शुद्ध एवं वैज्ञानिक रूप देने के लिए इस प्रकार के लोभों का संवरण किए विना काम नहीं चलता।

भ्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इतिहास-लेखन के समय अपभ्रंश भ्रौर हिन्दी की भिन्नता को पूरी तरह घ्यान में रखते हुए स्पष्ट रूप में घोषित किया है कि भाषा-शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक दृष्टि से ये दोनों भाषाएँ एक नहीं हैं। उनके विचारानुसार हिन्दी का विकास ग्राचार्य हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित उस ग्राम्य ग्रपभ्रंश से हुग्रा, जिसमें रासक, डोम्बिका, ग्रादि लिखे जाते थे। यह विकास कव हुग्रा-इसका स्पष्ट निर्णय तो वे नहीं देते, पर उनके शब्दों में 'यही भाषा (हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित ग्राम्य भ्रपभ्रंश) ही ग्रागे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है। यदि हम 'आगे चलकर' का तात्पर्य एक शताब्दी भी लें तो इस दृष्टि से हिन्दी का आविर्भाव आचार्य हेमचन्द्र (१०८८--१५७२ ई०) के सौ साल वाद लगभग १३वीं शताब्दी में सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में हिन्दी-साहित्य का ग्राविर्माव-काल तो इसके ग्रीर भी वाद में माना जाना चाहिए था, पर यह विचित्र वात है कि वे भी यहाँ पूर्ववर्ती इतिहासकारों की रूढ़ियों को स्वीकार करते हुए श्रादिकाल की प्रारम्भिक सीमा १००० ई० ही मान लेते हैं। ऐसा उन्होंने कदाचित् पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रति श्रति सौजन्य एवं सहिष्णुता की प्रवृत्ति के कारण ही किया है, ग्रन्यथा वे स्पष्ट रूप में मानते हैं कि चौदहवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी का कोई साहित्य नहीं मिलता । उनके शब्दों में — 'दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का ग्रादिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से ग्रपभ्रंण का ही बढ़ाव है।' यहाँ 'भाषा की दृष्टि' से यह भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि कदाचित् ग्रन्य दृष्टियों से यह साहित्य हिन्दी का होगा, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। किसी भी साहित्य को हिन्दी का साहित्य कहलाने के लिए उसका भाषा की दृष्टि से हिन्दी का होना श्रनिवार्य है, श्रन्यथा कालिदास भ्रौर रवीन्द्र को भी हिन्दी का कहा जा सकता है। म्रादिकाल सम्बन्धी ग्रव्याय की अन्तिम पंक्ति—'इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य-रूप अंकुरित हुए हैं' तथा भक्तिकाल सम्बन्धी श्रध्याय के श्रारम्भ में उनके द्वारा अयुक्त यह उपशीर्षक 'वास्तविक हिन्दी-साहित्य का ग्रारम्भ'—ये दोनों तथ्य भी यह ध्वनित करते हैं कि ग्राचार्य दिवेदी वास्तव में तो हिन्दी-साहित्य का श्रस्तित्व चौदहवीं शताब्दी पूर्व नहीं मानते, किन्तु उनकी इस घ्वनिवादी शैली के कारण सामान्य पाठक वास्तविक हिन्दी-साहित्य ग्रौर ग्रवास्तविक हिन्दी-साहित्य के भेद को स्पष्ट रूप में ग्रहण नहीं कर पाता ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य के ग्राविर्माव-काल के सम्बन्ध में किए गये ग्रव तक के प्रयास मुख्यतः तीन प्रकार की भ्रान्तियों एव ग्रसंगतियों पर ग्राधारित हैं। एक तो ग्रधिकांश विद्वान् ग्रपभ्रंश ग्रौर हिन्दी के भेद को ध्यान में नहीं CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. रख सके, कुछ ने सिद्धान्त रूप में तो दोनों को श्रलग माना, किन्तु व्यवहार में दोनों के साहित्य को घुला-मिलाकर एक कर दिया। दूसरे, वे हिन्दी भाषा के उद्भव-काल एवं उसके साहित्य के श्राविभीव-काल में संगित नहीं बनाए रख सके, जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने साहित्य का श्राविभीव भाषा के उद्भव से भी पूर्व माना। तीसरे, श्रनेक विद्वानों ने संदिग्ध, श्रप्रामाणिक परवर्ती एवं श्रस्तित्वहीन रचनाश्रों को हिन्दी-साहित्य की प्रारम्भिक रचनाश्रों के रूप में स्वीकार कर लिया। ऐसी स्थिति में उनके निष्कर्षों में श्रसंगित एवं श्रनौचित्य का श्रा जाना स्वाभाविक था। श्रस्तु, इस सम्बन्ध में किसी सही निर्णय पर पहुँचने के लिए हमें सबसे पहले उपर्युक्त तीनों विषयों—हिन्दी का क्षेत्र, उसका उद्भव-काल एवं उसकी प्रथम प्रामाणिक रचना—पर सम्यक् रूप से विचार कर लेना चाहिए, तथा उसी से उपलब्ध निष्कर्षों के श्राधार पर ही प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में श्रपना निर्णय देना चाहिए। श्रागे हम ऐसा ही करने का प्रयास करेंगे।

हिन्दी : म्रर्थ एवं क्षेत्र

हिन्दी भाषा के क्षेत्र में किन-किन भाषाश्रों एवं उपभाषाश्रों को स्थान देना चाहिए—इस सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी मत मिलते हैं। एक श्रोर प्रारम्भिक इतिहास-कारों ने जहाँ ग्रपभ्रंश को भी 'प्राकृताभास हिन्दी' या ''पुरानी हिन्दी' कहकर उसे हिन्दी का ही एक रूप मान लिया, वहाँ नवीनतम दृष्टिकोण के अनुसार हिन्दी की एक उपभाषा 'खड़ी बोली' तक ही हिन्दी को सीमित रखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। इस पारस्परिक विरोध का मूल कारण यह है कि हिन्दी का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें अनेक भाषाश्रों, उपभाषाश्रों एवं बोलियों को स्थान प्राप्त है। इतना ही नहीं, समय श्रीर परिस्थितियों के अनुसार उसमें कभी कोई भाषा प्रमुखता प्राप्त करती रही है तो कभी कोई तथा इसके साथ ही उसकी सीमाएँ भी बदलती रही हैं। उसके विकास का इतिहास देखें तो यह तथ्य भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है।

यह ग्राश्चर्य की बात है कि हिन्दी का नामकरण उसके ग्राविर्भाव से भी बहुत पहले हो गया था। पाँचवीं-छठी शताब्दी में ग्ररब-फारस के लोग जहाँ 'भारत' को 'हिन्द' कहते थे, वहाँ वे यहाँ की सभी भाषाग्रों को सामान्य रूप में 'जबाने हिन्दी' (हिन्दी भाषा) के नाम से पुकारते हुए उसके ग्रन्तर्गत संस्कृत, पालि, प्राकृत, ग्रपभ्रं श ग्रादि को सम्मिलित करते थे। इस बात का प्रमाण यह है कि छठी शती ईस्वी में बादशाह नौशेरवाँ के दरबारी किन ने 'पंचतन्त्र' का ग्रनुवाद करते हुए इसे 'जबाने हिन्द' का ग्रन्थ कहा है, जब कि यह वस्तुतः संस्कृत का है। इसी प्रकार ग्रत्वेशनी (११वीं शती), फारसी किन ग्रीफी (१३ वीं शती), ग्रमीर खुसरो (१३-१४ वीं शती) ग्रादि मुस्लिम लेखकों ने भी 'हिन्दी' का प्रयोग भारत की सभी भाषाग्रों के लिए किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में 'हिन्दी' का ग्रर्थ भारत की किसी एक विशिष्ट भाषा से न होकर सामान्य रूप से भारत की सभी सामान्य भाषाग्रों से था। जैसा कि हा० व्रजेश्वर वर्मी ने स्पष्ट किया है, इस स्थिति में 'हिन्दी' एक सामूहिक नाम था।

ग्रागे चलकर चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती से लेकर ग्रठारहवीं शती तक भारत में विभिन्न नयी भाषाग्रों का उदय एवं विकास हो गया, तथा उन्होंने प्रान्तीय ग्राधार पर नये-नये नाम ग्रहण किए, फिर भी भारतीय भाषाग्रों के लिए सामान्य रूप में हिन्दी, हिन्दुस्तानी ग्रादि नामों का प्रयोग होता रहा। उदाहरण के लिए बाबर ने एक स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' का तथा जायसी ने 'हिन्दवी' नाम का प्रयोग किया है। फिर भी इस वीच के युग में हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी नामों का प्रचार कम रहा, इनके स्थान पर विभिन्न भाषाग्रों को ग्रलग-ग्रलग प्रान्तीय नामों से ही पुकारा जाता रहा।

उन्नीसवीं शती में श्रंग्रेजों एवं मुसलमान लेखकों द्वारा पुनः हिन्दवी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी नामों के प्रयोग में वृद्धि होने लगी। उदाहरण के लिए 'ग्रनुराग वाँसुरी' के रचियता नूर मोहम्मद (१८वीं शती) ने अवधी भाषा के लिए तथा इंशाअल्ला खाँ (१६वीं शती) ने 'रानी केतकी की कहानी' की ब्रज मिश्रित खड़ी बोली के लिए तथा ग्रनेक भूँग्रेज लेखकों ने खड़ी बोली के लिए 'हिन्दुस्तानी' एवं 'हिन्दी' का प्रयोग किया। इस प्रकार पुनः 'हिन्दी' या 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग व्यापक स्तर पर होने लग गया । वस्तुतः श्राज स्थिति यह है कि हिन्दी कोई एक भाषा नहीं है, वह राष्ट्र की एक ऐसी सामान्य भाषा है, जिसके विभिन्न रूप विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न वर्गों में पाये जाते हैं। राष्ट्र की कुछ भाषाएँ भिन्न लिपियों में ग्रावद्ध होकर या भिन्न साहित्य के रूप में सीमित होकर स्वतन्त्र हो गयी हैं, जबिक शेष सभी भाषाएँ—राजस्थानी, व्रज, अवधी, खड़ी वोली, मैथिली म्रादि तथा उनसे सम्बद्ध वोलियाँ हिन्दी में म्राती हैं। दूसरे शब्दों में हिन्दी भारत की केन्द्रीय एवं राष्ट्रीय भाषा है। जिस प्रकार भारत का नक्शा ग्रीर उसकी सीमाएँ समय-समय पर राजनीतिक कारणों से बदलती रही हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय भाषा हिन्दी की भी सीमाएँ समय-समय पर बदलती रही हैं —िकसी समय वह सारे भारत का प्रति-निधित्व करती थी, तो ग्रव वह केवल उन भाषाग्रों का प्रतिनिधित्व करती है, जो सहर्ष उसमें सम्मिलित हैं। ग्रन्यथा हिन्दी का पंजाबी ग्रौर गुजराती से भी उतना ही सम्बन्ध है, जितना राजस्थानी से है, (सही पूछा जाय तो राजस्थानी तथा पश्चिमी हिन्दी पूर्वी हिन्दी की अपेक्षा गुजराती के अधिक निकट पड़ती है) या अवधी और मैथिली से उसका उतना ही सम्बन्ध है जितना कि ग्रसमी ग्रौर बँगला से है। ग्रस्तु, हमारे विचार से ग्राज भी हिन्दी किसी एक भाषा का नाम नहीं हैं, श्रपितु भारत की श्रनेक भाषाओं के समूह का नाम है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि वे कौन से सूत्र हैं, जो कि इन विभिन्न भाषात्रों को एक समूह—हिन्दी—में बाँघे हुए हैं ? इसके उत्तर में तीन तत्त्वों पर प्रकाश डाला जा सकता है—एक तो इस समूह की सभी भाषात्रों की एक सामान्य लिपि है, वे ग्रन्थ लिपियों में भी लिखी जा सकती हैं फिर भी उनमें मुख्य रूप से देवनागरी का ही प्रयोग होता है। दूसरा तत्त्व भौगोलिक एकता सम्बन्धी है। ये सभी भाषाएँ भारतवर्ष के केन्द्रीय भू-भाग में प्रचलित हैं, जिसे विद्वानों ने 'मध्य देश' की संज्ञा दी है। ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी' की परिभाषा ही इस भौगोलिक ग्राधार पर करते हुए लिखा है—'राजस्थान ग्रौर पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी

सीमान्त तक तथा उत्तर प्रदेश के उत्तरी सीमान्त से लेकर मध्यप्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्यक भाषा को हम हिन्दी कहते आए हैं। इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित हैं। सबका भाषा-शास्त्रीय ढाँचा एक जैसा ही नहीं है। फिर भी साहित्य की चर्चा करने वाले सभी देशी-विदेशी विद्वान् इस विस्तृत प्रदेश के साहित्यक प्रयत्नों के लिए व्यवहृत भाषा या भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। जिस विशाल भूभाग को आज हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र कहा जाता है, उसका कोई एक नाम खोजना कठिन है, परन्तु इसके मुख्य भाग को पुराने जमाने से ही मध्य देश कहते रहे हैं।

लिपि की समानता और भौगोलिक एकता के अतिरिक्त तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व सांस्कृतिक एकता है। मैथिली, ग्रवधी, राजस्थानी, ब्रज ग्रादि भाषाएँ बाह्य दृष्टि से परस्पर कितनी ही भिन्न क्यों न हों, किन्तु ग्रान्तरिक दृष्टि से-मूलभूत चेतना एवं दार्शनिक दृष्टि से, परम्परागत मान्यताग्रों एवं धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से, तथा प्रेरणा-स्रोत एवं भ्रान्दोलनों की दृष्टि से वे सब एक हैं। इतना ही नहीं, इन भाषाभ्रों के प्रयोग-कत्तियों में भी सदा एक य्रान्तरिक एकता की भावना रही है जिससे एक प्रदेश के लाग प्रसन्नतापूर्वक दूसरे प्रदेश की भाषा को ग्रपनाते रहे हैं। यही कारण है कि ग्रनेक कवियों ने एक साथ ब्रज, ग्रवधी, राजस्थानी ग्रादि का प्रयोग किया है। ग्रस्तु, जिस प्रकार विभिन्न प्रदेशों में पारस्परिक भेद के होते हुए भी उनकी सामान्य एकता के ग्राधार पर उन्हें एक राष्ट्र की संज्ञा दी जाती है, वैसे ही उपर्युक्त समानताग्रों—लिपि की समानता, भौगोलिक समानता एवं सांस्कृतिक समानता—के श्राधार पर भारत के मध्य भाग (उत्तर में काश्मीर एवं पंजाव को, पूर्व बंगाल, उड़ीसा, ग्रसम ग्रादि को, पश्चिम में गुजरात को तथा दक्षिण में दक्षिणी सीमावर्ती प्रान्तों को छोड़कर शेष भारत) की भाषात्रों के समूह को 'हिन्दी' का नाम दिया जाता है, जिनमें समय, स्थान एवं परिस्थिति के भेद से कभी कोई भाषा प्रमुख हो गई है तो कभी किसी ग्रन्य ने प्रमुखता प्राप्त कर ली है।

जिस प्रकार एक राष्ट्र का केन्द्र—या उसकी राजधानी समय-समय पर परिस्थित्यों के अनुकूल बदलती रहती है, वैसे ही हिन्दी का भी केन्द्र बदलता रहा है। प्रारम्भ में वह मैथिली, राजस्थानी, अवधी, ब्रज श्रादि श्रलग-श्रलग केन्द्रों में विभाजित थी। श्रागे चलकर ब्रज ने इतनी ग्रधिक प्रमुखता प्राप्त कर ली कि न केवल समस्त हिन्दी प्रदेशों में श्रपितु गुजरात, पंजाव एवं वंगाल तक में इसका प्रचार हो गया। एक श्रोर गुरु गोविन्दिसह के दरवार में ब्रजभाषा की शताधिक रचनाश्रों का लिखा जाना तथा दूसरी श्रोर बंगाल में ब्रज एवं मैथिली मिश्रित 'ब्रजबुलि काव्य परंपरा' का प्रवर्त्तन होना, इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा का गौरव ब्रजभाषा-युग में ही प्राप्त हो गया था। श्रागे चलकर जब ब्रज का स्थान खड़ी बोली ने ग्रहण किया तो उसे भी उत्तराधिकार के रूप में वह गौरव प्राप्त हो गया जो ब्रजभाषा को प्राप्त था। ऐसी स्थिति में खड़ी बोली को पूर्ववर्ती केन्द्रीय भाषाश्रों का ऋण स्वीकार करना चाहिए। किन्तु जो लोग इस तथ्य से परिचित नहीं हैं, वे कई बार केवल खड़ी बोली को हो—जो लगभग एक शताब्दी से केन्द्रीय भाषा है—एकमात्र हिन्दी मानने की भूल करते हुए हिन्दी साहित्य का इतिहास

पिछले ग्रस्सी वर्षों से ही ग्रारम्भ करना चाहते हैं। यदि दृष्टिकोण को इतना संकुचित कर लिया जाय तो ग्रस्सी वर्ष से ही क्यों, पिछले-पन्द्रह-बीस वर्षों से ही यह ग्रारम्भ माना जा सकता है, क्योंकि छायावादियों की खड़ी बोली में ग्रौर परवर्ती कवियों की बोली में भी कई दृष्टियों से गहरा ग्रन्तर ढूँढ़ा जा सकता है। वस्तुतः हिन्दी पर जितना ग्राधिकार खड़ी बोली का है उतना ही मैथिली, व्रज, ग्रवधी, राजस्थानी ग्रादि भाषाग्रों का भी है, ग्रतः उपर्युक्त दृष्टिकोण को ठीक नहीं कहा जा सकता। ग्रस्तु।

उपर्युक्त विवेचन से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—(१) प्रारम्भ में 'हिन्दी' सभी भारतीय भाषाग्रों का सामान्य नाम था। (२) ग्रव 'हिन्दी' का प्रयोग भारतीय भाषाग्रों के एक विशेष समूह के लिए होता है जिसमें लिपि, भौगोलिक सीमाग्रों एवं सांस्कृतिक तत्त्वों की दृष्टि से एकता है। (३) हिन्दी के ग्रन्तर्गत मुख्यतः मैथिली, ग्रवधी, राजस्थानी, ग्रज एवं खड़ी बोली का समावेश किया जाता है। (४) इन भाषाग्रों में से समय-समय पर कुछ भाषाएँ ग्रधिक प्रमुखता प्राप्त करती रही हैं, फिर भी शेष भाषाग्रों

की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त विधेयात्मक निष्कर्षों के ग्राधार पर इन निषेधात्मक निष्कर्षों की भी पुष्टि हो जाती है कि उपर्युक्त भाषाग्रों के ग्रितिरक्त ग्रन्थ भाषाएँ, जैसे प्राकृत, ग्रपभंग, गुजराती, वँगला ग्रादि हिन्दी के क्षेत्र में नहीं ग्रातीं। ऐसी स्थित में इनके साहित्य को हिन्दी साहित्य में स्थान देने का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु कुछ लोग इस युक्ति के ग्राधार पर कि ग्रपभंग की बहुत-सी साहित्यिक परंपराएँ हिन्दी में ग्राई हैं, इसके साहित्य को हिन्दी में स्थान देना चाहते हैं। जहाँ तक पूर्ववर्ती परम्पराग्रों को समभने के लिए ग्रन्य भाषाग्रों के साहित्य का ग्रघ्ययन करने की बात है, इसमें हमें कोई ग्रापत्ति नहीं है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम परंपराग्रों के ग्राधार पर ही ग्रन्य भाषाग्रों के साहित्य को भी हिन्दी का साहित्य घोषित कर दें। यदि ऐसा ही करना हो तो फिर ग्रपभ्र'श ही क्यों, संस्कृत, फारसी ग्रौर ग्रंग्रेजी के साहित्य को भी हिन्दी का साहित्य माना जा सकता है, क्योंकि प्राचीन ग्रौर ग्रविचीन युग में इनकी बहुत सी परम्पराएँ हिन्दी में ग्राई हैं तथा ग्रागे भी ग्रा सकती है। वस्तुतः ऐसा करना सैद्धान्तिक एवं ब्यावहारिक—दोनों ही दृष्टियों से ग्रनुचित एवं ग्रस्वाभाविक सिद्ध होगा।

हिन्दी का उद्भव-काल जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है, हिन्दी के उद्भव-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। जहाँ शिविसह सेंगर, मिश्रवन्धु एवं श्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी का उद्भव सातवीं शती के श्रास-पास मानते हैं, वहाँ डा॰ धीरेन्द्र वर्मा, डा॰ रामकुमार वर्मा व अन्य कितपय विद्वान् दसवीं शताब्दी से मानते हैं। इनमें से प्रथम वर्ग के विद्वान् तो हिन्दी के अन्तर्गत अपभ्रंश को भी सिम्मिलित कर लेते हैं, अतः उनका मत हिन्दी के स्थान पर अपभ्रंश से सम्बन्धित मानना चाहिए। दूसरे वर्ग के विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि में यथेष्ट प्रमाण नहीं दिये हैं। प्रायः उन्होंने 'अनुमान' के आधार पर ही — और शायद इसलिए भी हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव इसी समय से माना जाता है — दसवीं शताब्दी से हिन्दी का उद्भव मान लिया है। इनकी भ्रान्ति का एक कारण यह भी रहा है कि इनके सामने हिन्दी की कुछ कृतियाँ

थीं जो उस समय १८वीं शती में रिचत मानी जाती थीं, पर ग्रव वे वहुत परवर्ती सिद्ध हो चुकी हैं। ग्रस्तु, इस मत को भी मान्यता नहीं दी जा सकती।

इस सम्बन्ध में एक ग्रन्य वर्ग ऐसे विद्वानों का भी है जिन्होंने शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हुए हिन्दी का उद्भव-काल तेरहवीं शती के वाद सिद्ध किया है। इनमें डा॰ सुनीतिकुमार चटर्जी, डा॰ उदयनारायण तिवारी, डा॰ नामवर सिंह प्रभृति उल्लेखनीय हैं। डा॰ चटर्जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं—'यह मालूम नहीं पडता कि यह 'हिन्दी' ठीक-ठीक कौन सी बोली थी, परन्तु सम्भव है यह वर्ज भाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्तानी के सदृश्य न होकर १३वीं शती में प्रचलित सर्वसाधारण की साहित्यिक ग्रपभ्रं श ही रही हो, क्योंकि १३वीं व शती १४वीं शती ईस्वी तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी का दर्शन नहीं होता।' डा॰ उदयनारायण तिवारी उपर्युक्त सम्भावना की पुष्टि ग्रधिक स्पष्ट शब्दों में करते हैं— 'ग्राचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् तेरहवीं शती के प्रारम्भ में ग्राधृतिक भारतीय भाषाग्रों के ग्रम्युदय के समय पन्द्रहवीं शती के पूर्व तक का काल संक्राति काल था, जिसमें भारतीय आर्य-भाषा, धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर श्राधुनिक काल की विशेषताश्रों से युक्त होती जा रही थी। इसी प्रकार डा॰ नामवर सिंह के विचार से भी 'तेरहवीं शताब्दी तक जाते-जाते श्रपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी वोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट किया था, श्रतः हिन्दी का उद्भव यहीं से माना जा सकता है। यद्यपि डा॰ तिवारी संक्रान्तिकाल की श्रंतिम सीमा पन्द्रहवीं शताब्दी तक खींचते हैं, फिर भी ये तीनों विद्वान् उसकी प्रारम्भिक सीमा तेरहवीं शती से ही मानते हैं। डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अप्रत्यक्ष रूप से इसी मत का अनुमोदन करते हुए लिखा है—'हेमचन्द्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यही भाषा 'श्रागे चलकर' ग्राघुनिक देशी भाषाग्रों के रूप में विकसित हुई। यद्यपि द्विवेदी जी ने यहाँ 'स्रागे चलकर' का काल-परिमाण नहीं दिया, फिर भी यदि उसका तात्पर्य एक शताब्दी भी लें तो उनके विचारानुसार हिन्दी का ग्राविर्भाव ग्राचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) के एक सौ वर्ष बाद ग्रर्थात् तेरहवीं शती से होता है। श्रस्तु, श्राचार्य दिवेदी के मत को भी-जहाँ तक भाषा के श्रविभीव-काल का सम्बन्ध है-इसी वर्ग में स्थान दिया जा सकता है, यह दूसरी बात है कि हिन्दी-साहित्य के ग्रादिकाल का ग्रारम्भ वे दसवीं शताब्दी से मानते हैं।

उपर्युक्त मतों के अनुसार यदि हिन्दी भाषा का उद्भव १३वीं शती से माना जाय तो उसके साहित्य का आरम्भ अवश्य ही उसके सौ-दो सौ वर्ष बाद से माना जायगा, क्योंिक कोई भी भाषा साहित्य में स्थान पाने में एक-दो शताब्दियों का समय अवश्य ले लेती है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का आरम्भ चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती से सिद्ध होता है। पर यह ठीक नहीं है। हमें इससे पूर्व ही हिन्दी-साहित्य के अस्तित्त्व के अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनकी चर्चा आगे की जायगी। हमारे विचार से इस स्थिति में हिन्दी

का उद्भव थोड़ा ग्रौर पहले से माना जाना चाहिए । <mark>श्रतः इस विषय पर पुनर्विचार</mark> करने की ग्रावश्यकता है ।

जैसा कि विभिन्न विद्वानों ने स्वीकार किया है, श्रपभ्रंश के उत्तरकाल में उसके दो प्रमुख भेद विकसित हो गये थे—एक उसका परिनिष्ठित साहित्यिक रूप एवं दूसरा लोक-संपर्क से विकसित ग्राम्य रूप । इस ग्राम्य रूप के भी प्रदेश-भेद के ग्रनुसार तीन भेद हो गये थे-पूर्वी, पश्चिमी एवं मध्यदेशीय । इन्हीं भेदों से उत्तरी भारत की अनेक आधु-निक भाषाएँ विकसित हुई हैं, जिनमें हिन्दी (ग्रर्थात् राजस्थानी, मैथिली, ग्रवधी ग्रादि) भी एक है। इन आधुनिक भाषाओं का विकास कव हो गया था, इसका पता लगाने का कोई निश्चित साधन प्राप्त नहीं है, फिर भी कुछ ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं, जिनके श्राधार पर यह निश्चिततापूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी के कुछ रूपों का म्राविर्भाव बारहवीं शती के पूर्व हो गया था। इन ग्रन्थों में 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' 'प्राकृत-पैंगलम्', 'वर्ण-रत्नाकर' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण,' गाहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र (१११४-११५५ ई०) के सभा-पंडित दामोदर की रचना है जिसमें लोकभाषा को संस्कृत में रूपान्तरित करने की पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। इसके रचयिता ने भूमिका में ग्रपना प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लिखा है, उसका लक्ष्य ग्रपभ्रंश को पुनः संस्कृत में परिवर्तित करना है। जिस प्रकार एक पतिता ब्राह्मणी को प्रायश्चित्त के द्वारा पुनः ब्राह्मणीत्व प्रदान किया जा सकता है, वैसे ही तुर्कों के द्वारा भ्रष्ट एवं 'सर्वजन साधारण' की भाषा को पुनः संस्कृत रूप दिया जा सकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भाषा के शताधिक नमूने प्रस्तुत किए हैं, जो हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को सूचित करते हैं । उदाहरण के लिए कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं--गंगा न्हाए धर्म हो पापुजा ।....जस-जस धर्मु बाढ़, तस-तस पाप घाट।

यद्यपि पुस्तक के रचियता ने इन्हें 'ग्रपभ्रंश' का ही नाम दिया है, किन्तु व्याकरण एवं शब्द-रूपों की दृष्टि से ये उदाहरण निश्चित रूप से पूर्वी हिन्दी के हैं। डा॰ सुनीतिकुमार चटर्जी तथा ग्रन्य कितप्य विद्वानों ने भी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से इनकी परीक्षा करते हुए इन्हें पूर्वी हिन्दी के उदाहरणों के रूप में स्वीकार किया है। पर उस समय तक 'हिन्दी' नाम बाहर से ग्रानेवाले मुसलमानों में ही प्रचलित था। दामोदर जैसे संस्कृत के विद्वानों की दृष्टि में तो ग्रपभ्रंश का नया विकसित रूप भी ग्रपभ्रंश ही था—जो स्वयं उनके शब्दों में 'तुर्कों द्वारा भ्रष्ट' (सर्वजन-साधारण की) भाषा थी— उसका नया नाम (हिन्दी) स्वीकार करने के लिए वे ग्रभी तैयार नहीं थे। ग्रस्तु, पंडित दामोदर ने भले ही इन उक्तियों को 'हिन्दी' नाम न दिया हो, किन्तु वे इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि ईसा की १२ वीं शती के मध्य तक मध्यप्रदेश में हिन्दी के

प्रारम्भिक रूप का भली-भाँति विकास हो चुका था।

इसी प्रकार ग्राचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने ग्रपने 'प्राकृत व्याकरण' में जिस 'ग्राम्य ग्रपभ्रं श' का उल्लेख किया है, वह भी पश्चिमी हिन्दी या राजस्थानी का ही प्रारम्भिक रूप प्रतीत होता है। सामान्यतः जब कोई भाषा पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है, तभी वह वैग्राकुरणों के द्वारा मान्यता प्राप्त करती है। ग्रतः 'ग्राम्य ग्रपभ्रं श'

का हैमचन्द्राचार्य द्वारा उल्लेख होना ही इस बात का प्रमाण है कि वह इससे पूर्व ही परिनिष्ठित ग्रपभ्रंश से इतनी भिन्न हो गई थी कि हेमचन्द्र को उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इतना ही नहीं, हेमचन्द्राचार्य ने इसमें रासक, डोम्बिका जैसे साहित्य के रचे जाने की बात भी कही है। ग्रतः इस 'ग्राम्य ग्रपभ्रंश' या राजस्थानी का उद्भव हेमचन्द्राचार्य के बाद नहीं, ग्रपितु उनसे कुछ पहले ही स्वीकार करना होगा। इस दृष्टि से उसका उद्भव-काल लगभग ११०० ई० या वारहवीं शती का ग्रारम्भकाल माना जा सकता है।

श्राचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण में देशी शब्दों की सूची दी गई है, जिसमें बहुत से शब्द ऐसे आये हैं, जो राजस्थानी या पश्चिमी हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को सूचित करते हैं, जैसे—कुम्भार, खम्भो, खोड़ि, गड्डो, गाई, डुंगर, दुवार, नाव, पराई, पिग्रास, रस्सी, संभा, हलद्दी धादि । साथ ही 'प्राकृत-व्याकरण' में उद्धृत ध्रनेक पद्यों की भाषा भी हिन्दी के पर्याप्त निकट है; उदाहरण के लिए कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं—

सिरि जर-खण्डी लोग्नड़ी गिल मिर्गियडा न बीस । तो वि गोट्ठड़ा कराविग्रा मुद्धएँ उट्ठ-बईस ।। हिसड़ा जइ वेरिग्न घणा जो कि श्रव्भि चड़ाहुँ। श्रम्हाहि वे हत्थड़ा जइ पुणु मारि मराहुँ॥

उपर्युक्त पद्यों के मोटे टाइप में श्रंशों की भाषा को निःसंकोच रूप में प्रारम्भिक हिन्दी कहा जा सकता है।

ग्यारहवीं से तेरहवीं शती तक की कुछ रचनाएँ ग्रौर भी प्राप्त हैं, जिनमें हिन्दी के ग्रस्तित्व का प्रमाण मिलता है। इनमें रोड़ाकृत राउलवेल (११ वीं शती), भरतेश्वर बाहुबिल रास (११ न४ ई०), रेवंतिगिरि रास (१२३१ ई०), शेख फरीदुद्दीन शकरगंजी (११७३-१२६५ ई०) का कलाम, चक्रघर स्वामी (११६४-१२७४ ई०) के पद ग्रादि उल्लेखनीय हैं। राउलवेल एक शिलांकित काव्य है जिसमें विभिन्न प्रदेशों की नायिकाग्रों का वर्णन करते हुए उनकी बोलियों के उदाहरण प्रस्तुत हैं। डा० हरिवल्लम भायाणी एवं डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस शिलालेख का लिपिकाल ईसा की ११वीं शती निश्चित किया है। उदाहरण के लिए इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(टक्किणी)

एहु कानोडउं काइ सउ ऋांखइ। वेस अम्हाणउं ना जाउ देखई॥ CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

×

हांस गद्द जा चालती श्रद्दसी। सा वाखर णहु राउल कद्दसी।।

(राजस्थानी)

उपर्युक्त उद्धरण विभिन्न प्रदेशों की ग्राधुनिक भाषाग्रों के प्रारम्भिक रूप के प्रामाणिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, तथा वे इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि इस शिलालेख के लिपिकाल के समय ग्राधुनिक भाषाग्रों का ग्राविर्भाव हो चुका था, भले ही ग्रभी उनका सम्यक् विकास न हुग्रा हो।

वारहवीं-तेरहवीं शती में रचित कितपय रासो काव्यों में भी हिन्दी के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते हैं इनमें 'भरतेश्वर वाहुविलरास' (११६४ ई०) एवं रेवंतिगिरिरास (१२३१ ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी के इतिहासकारों का घ्यान ग्रभी तक इन ग्रन्थों की ग्रोर नहीं गया, किन्तु गुजराती के विद्वानों ने इन्हें गुजराती की प्रामाणिक रचनाग्रों में स्थान दिया है। जैसा कि इस विषय पर शोधकर्ता डा० हरीश ने स्पष्ट किया है, इस युग में गुजराती ग्रीर राजस्थानी का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था, ग्रतः इन रचनाग्रों की भाषा को जितनी दृढ़ता से गुजराती बताया जा सकता है, उतनी ही दृढ़ता से राजस्थानी या हिन्दी भी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए इनके कुछ ग्रंश द्रष्टव्य हैं—

हा ! कुल मंडण हा कुल बोर । हा ! समरंगणि साहस घीर ॥

कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु। एहु जि दीजइ दैवह रोसु।।

....(भरतेश्वर बाहुबलिरास)

ग्रस्तु, उक्ति व्यक्ति, प्रकरण, प्राकृत-व्याकरण, राउलवेल काव्य ग्रौर विभिन्न प्रारम्भिक रासो काव्य ग्यारहवीं शती से लेकर तेरहवीं शती तक की हिन्दी के विभिन्न रूपों के नमूने प्रस्तुत करते हैं तथा इनके श्राधार पर यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि इस ग्रविध में हिन्दी का उद्भव व विकास हो चुका था। इन साक्ष्यों के ग्रतिरिक्त भी बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जो इसी युग की वताई जाती हैं। किन्तु उनकी प्रामाण्यकता संदिग्ध है, ग्रतः यहाँ उनका उल्लेख करना ग्रनावश्यक है।

हिन्दी का प्रथम किव कौन ?—कोई भी भाषा अपने आविर्भाव के साथ ही साहित्य में स्थान नहीं प्राप्त कर लेती, अतः हिन्दी-भाषा के उद्भव-काल (११०० ई०) को ही हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल नहीं माना जा सकता। इसके लिए हमें यह देखना होगा कि हिन्दी की प्रथम साहित्यिक रचना या उसका रचियता कौन है, जिसके आधार पर हिन्दी के आविर्भाव-काल का निर्णय किया जा सकता है। हिन्दी का प्रथम किव किसे कहा जाय, इस सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित या सर्वमान्य मत प्राप्त नहीं है। प्रारम्भ में शिव्हिस्ह सेंगर एवं मिश्रबन्ध्यों ने पुष्य नाम के किव को हिन्दी का

प्रथम किव घोषित किया था; किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि यह पुष्य कोई और नहीं, अपभ्रंश के ही प्रसिद्ध किव पुष्पदन्त हैं, जिन्हें हिन्दी का किव नहीं माना जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय तो नहीं दिया, किन्तु उन्होंने अपने इतिहास में एक और अपभ्रंश किवयों में सर्वप्रथम देवसेन का तथा दूसरी और 'वीरगाथा' शीर्षक अध्याय में दलपित विजय का उल्लेख किया है, तथा इनका समय नवीं-दसवीं शती माना है। यह भी विचित्र बात है कि आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य का आरम्भ इन किवयों के रचना-काल से न मानकर इनके लगभग सौ वषं बाद से मानते हैं। ऐसी स्थित में यह संदिग्ध है कि आचार्य शुक्ल किसे हिन्दी का प्रथम किव मानते थे। फिर भी उपर्युक्त दोनों किवयों में से एक अपभ्रंश का है तथा दूसरा अठारहवीं शती का सिद्ध हो चुका है, अतः इनमें से किसी को भी हिन्दी के प्रथम किव के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डा॰ रामकुमार वर्मा सिद्ध किवयों के काव्य में हिन्दी-किवता के ग्रादि रूप का ग्रस्तित्व मानते हुए सरहपा (५१७ वि॰) को प्रथम किव मानते हैं, पर जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सिद्धों का साहित्य ग्रपभं में है, हिन्दी में नहीं, ग्रतः इस मत को भी स्वीकार करना किठन है। ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रारम्भिक साहित्य को प्रामाणिक, संदिग्ध एवं ग्रद्ध प्रामाणिक रचनाग्रों के रूप में वर्गीकृत करते हुए प्रामाणिक रचना के रूप में सर्वप्रथम 'संदेह रासक' की चर्चा की है, किन्तु जैसा कि वे ग्रन्थत्र स्वीकार करते हैं, इसकी भाषा ग्रपभं श है। इसी प्रकार ग्रद्ध प्रामाणिक एवं ग्रप्रामाणिक रचनाग्रों की भी स्थित इतनी स्पष्ट नहीं है कि जिससे उनमें से किसी को हिन्दी की प्रथम रचना माना जा सके। इस प्रकार ग्राचार्य द्विवेदी के द्वारा भी स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं होता।

'वीसलदेव रासो' के रचियता नरपित नाल्ह, ग्रमीर खुसरो, विद्यापित ग्रादि का भी समय-समय पर कुछ लोगों के द्वारा हिन्दी के प्रथम किव के रूप में उल्लेख होता रहा है, किन्तु इनमें से कुछ की तो रचनाग्रों का वर्त्तमान रूप एवं रचना-काल ही संदिग्ध है, जब कि ग्रन्तिम का समय ही पन्द्रहवीं शताब्दी है, जो कवीर के ग्रास-पास पड़ता है। ग्रतः इनमें से किसी को भी प्रथम किव के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

इघर जैन-किवयों द्वारा रिचत कुछ ऐसे रास काव्य प्रकाश में श्राये हैं, जिनकी प्रामाणिकता ग्रसंदिग्ध है तथा जिनकी भाषा को हिन्दी के प्रारम्भिक रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इन रचनाओं के काल-क्रम तथा भाषा के विकास की दृष्टि से सर्वप्रथम शालिभद्र सूरिकृत 'भरतेश्वर बाहुबिल रास' है, जिसका रचना काल ११८४ ई० (१२४१ वि०) है। इस कृति का संपादन एवं प्रकाशन एक चार-पाँच सौ वर्ष पुरानी तथा ग्रत्यन्त विश्वसनीय प्रति के ग्राधार पर मुनि जिन विजय द्वारा हो चुका है। गुजराती ग्रौर हिन्दी के ग्रन्य विद्वानों ने भी इसे प्रामाणिक माना है। डा० हरि- शंकर शर्मा 'हरीश' ने इसका विशेष ग्रध्ययन प्रस्तुत करते हुए इसे हिन्दी-जैन साहित्य की रास-परम्परा का सर्वप्रथम काव्य माना है। गुजराती के विद्वान् इसे गुजराती का CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

काव्य मानते हैं, किन्तु पन्द्रहवीं शती के पूर्व तक गुजराती और राजस्थानी की दोनों भाषाएँ एक ही थीं, ग्रतः इस पर दोनों का ग्रधिकार माना जा सकता है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह रचना प्राचीन एवं प्रामाणिक सिद्ध होती है। इसके कुछ उद्धरण पीछे भाषा के उद्भव के प्रसंग में प्रस्तुत किए जा चुके हैं, जिनसे यह भली-भाँति हिन्दी की रचना सिद्ध होती है।

इस रचना की प्रामाणिकता का एक ग्रन्य ग्राधार यह भी है कि यह परम्परा से विच्छिन्न ग्रकेली रचना नहीं है, ग्रपितु वारहवीं शती से लेकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक इसकी एक ग्रखण्ड परम्परा मिलती है, जिसमें बीसों रासो काव्य ग्राते हैं। इस रचना के कुछ वर्षों बाद ही रचित बुद्धिरास (१२वीं शती), जम्बू स्वामीरास (१२०६ ई०), जीवदया रास (१२०० ई०), चन्दन वाला रास (१२०० ई०), रेवंतगिरि रास (१२३१ ई०), नेमिनाथ रास (१२३८ ई०), गयसुकुमाल रास (१२५० लगभग) ग्रादि रचनाएँ भी मिलती हैं जो रासो-परम्परा के क्रमिक विकास को सूचित करती हैं। ग्रतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'भरतेश्वर वाहुविल रास' के रचयिता शालिभद्र सूरि को उपर्युक्त तथ्यों के ग्राधार पर (ग्रव तक उनसे प्राचीन किसी ग्रन्य हिन्दी कवि का प्रामा-णिक रूप से पता नहीं चलता) हिन्दी का प्रथम किव माना जा सकता है तथा उनके रचना-काल के ग्राधार पर सन् ११८४ (या १२४१ वि०) से हिन्दी साहित्य का म्राविभीव-काल निश्चित किया जा सकता है। यह काल हिन्दी के विकास की दृष्टि से, तथा राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होता है। इस समय तक मुसलमान भारत में भ्रागे तक बढ़ श्राये थे, हिन्दू राष्ट्र का विघटन एवं पतन हो चुका था जिसके कारण राज्याश्रय में पलनेवाले धर्म एवं साहित्य को जनता का संरक्षण एवं जनता की भाषा का माव्यम स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा था। परम्परागत भाषाएँ संस्कृत, प्राकृत, श्रपभ्रंश ग्रादि साहित्य ग्रीर ब्याकरण के ढाँचे में रूढ़ हो चुकी थीं, तथा उनका स्थान परवर्ती लोकभाषाएँ ले चुकी थीं। ग्रस्तु, इन सभी दृष्टियों से वारहवीं शती के ग्रंतिम चरण से हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव मानना तर्क-संगत प्रतीत होता है। इससे पूर्व का समय जिसे हिन्दी के इति-हासकार भ्रादिकाल, वीरगाथा-काल या चारण-काल ग्रादि में स्थान देते रहे हैं, भीर जो हिन्दी की प्रामाणिक रचनाथ्रों की दृष्टि से शून्य है, हिन्दी-साहित्य की काल-सीमाथ्रों के बाहर समक्ता जाना चाहिए । वस्तुतः हिन्दी-साहित्य का ग्रारंभ यहीं से होता है ।

: इक्कीस :

हिन्दी साहित्य का काल-विभाजनः पुनिवचार

- १. काल-विभाजन : लक्ष्य एवं प्रयोजन ।
- २. परम्परागत काल-विभाजन ।
- ३. काल-विभाजन का नया प्रयास ।
- ४. उपसंहार ।

किसी भी विषय-वस्तु का बौद्धिक एवं वैज्ञानिक ग्रध्ययन करने के लिए उसे किन्हीं काल्पनिक पक्षों, खण्डों, वर्गों या तत्त्वों में विभक्त कर लिया जाता है जिससे कि उसके विभिन्न ग्रवयवों को सम्यक् रूप में ग्रहण किया जा सके। ऐसा न केवल सैद्धान्तिक क्षेत्र में, ग्रपितु व्यावहारिक क्षेत्र में भी किया जाता है। एक बहुत बड़े राज्य को सुशासित करने के लिए एक शासक उसे विभिन्न प्रदेशों एवं मण्डलों में विभाजित कर देता है, यद्यपि यह विभाजन कृत्रिम ही होता है। इसी प्रकार ग्रन्य क्षेत्रों में भी सम्बन्धित विषय को विभिन्न रूपों में विभक्त कर लिया जाता है। इतिहास में हम मुख्यतः देश (Space) के स्थान पर काल (Time) का ग्रध्ययन करते हैं, ग्रतः ग्रध्ययन की सुव्यवस्था की दृष्टि से उसे विभिन्न काल-खण्डों में बाँट लेना सुविधाजनक एवं उपयोगी सिद्ध होता है।

काल-विभाजन का लक्ष्य अन्ततः इतिहास की विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में उसकी घटनाओं एवं प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को स्पष्ट करना होता है। साहित्यितिहास पर भी यह वात लागू होती है। साहित्य की अन्तिनिहित चेतना के क्रिमिक विकास, उसकी परम्पराओं के उत्थान-पतन एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के दिशा-परिवर्तन आदि के काल-क्रम को स्पष्ट करना ही काल-विभाजन का लक्ष्य होता है, अन्यथा उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। जहाँ काल-विभाजन उपर्युक्त लक्ष्य की पूर्ति में साधक के स्थान पर वाधक वनता हो, वहाँ यही उचित है कि उसके अभाव में ही काम चलाया जाय। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कीथ ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में ऐसा ही किया है। संस्कृत-साहित्य में अनेक धाराएँ एवं अनेक काव्य-प्रवृत्तियाँ एक ही साथ समानान्तर रूप में उदित एवं विकसित होती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका विश्लेषण काल-क्रमानुसार करने की अपेक्षा काव्य-रूप-भेद एवम् काव्य-प्रवृत्तियों के आधार पर करना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है, कदाचित् इसी परिस्थिति के कारण कीथ ने अपने इतिहास में काल-विभाजन करने का प्रयास नहीं किया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत-साहित्येतिहास को काल-खण्डों में विभक्त करना असंभव है, अपितु हमारा लक्ष्य यहाँ केवल यह वताने का है कि असंगतरूप में काल-विभाजन करने की अपेक्षा

यह ग्रधिक ग्रच्छा है कि उसके विना ही काम चलाया जाय । इस तथ्य पर यहाँ विशेष वल देने की ग्रावश्यकता इसलिए है कि हिन्दी-साहित्येतिहास का क्षेत्र ग्रभी तक परम्परागत काल-विभाजन की ग्रनेक ग्रसंगतियों एवं त्रुटियों के परिणामस्वरूप विभिन्न भ्रान्तियों एवं गुत्थियों से ग्रसित है, जिनके कारण इतिहास के वैज्ञानिक ग्रध्ययन का मार्ग ग्रवरुद्ध हो रहा है । ग्रस्तु, ग्रागे परम्परागत काल-विभाजन के विभिन्न प्रयासों पर पुनिवचार करते हुए उसे परिशोधित रूप देने का प्रयास किया जायगा ।

परम्परागत काल-विभाजन: पुर्नीवचार—हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों—गार्सा द ताँसी एवं शिवसिंह सेंगर—का तो इस ग्रोर घ्यान ही नहीं गया, ग्रतः उनकी चर्चा यहाँ ग्रनावश्यक है। इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रयास करने का श्रेय जार्ज ग्रियर्सन को है। पर जैसा कि उन्होंने स्वयं ग्रपने ग्रन्थ की भूमिका में स्वीकार किया है, उनके सामने ग्रनेक ऐसी किटनाइयाँ थीं जिससे वे काल-क्रम एवं काल-विभाजन के निर्वाह में पूर्णतः सफल नहीं हो सके। वे लिखते हैं—'सामग्री को यथासंभव काल-क्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह सर्वत्र सरल नहीं रहा है ग्रौर कितपय स्थलों पर तो यह ग्रसंभव सिद्ध हुग्रा है। ग्रतएव वे किव जिनका समय में किसी भी प्रकार स्थिर नहीं कर सका, ग्रन्तिम ग्रध्याय में वर्णानुक्रम से एक साथ दे दिये गये हैं।...प्रत्येक ग्रध्याय सामान्यतया एक काल का सूचक है। भारतीय भाषा-कांव्य के स्वर्णयुग १६वीं एवं १७वीं शती पर मिलक मुहम्मद की प्रेम किवता से ग्रारम्भ करके, ब्रज के कृष्णभक्त किवयों व तुलसीदास के ग्रंथों ग्रौर केशवदास द्वारा स्थापित किवयों के रीति-सम्प्रदाय को सिम्मिलित करके कुल ६ ग्रध्याय हैं, जो पूर्णतया समय की दृष्ट से विभक्त नहीं हैं, विल्क किवयों के विशेष वर्गों की दृष्ट से बेंटे हैं।'

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि स्वयं जार्ज ग्रियर्सन को ग्रपने काल-विभाजन की ग्रप्पांता एवं न्यूनता का पता था, फिर भी उन्होंने विभिन्न कालों की कतिपय प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास ग्रवश्य किया है। उनका काल-विभाजन इस प्रकार प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास ग्रवश्य किया है। उनका काल-विभाजन इस प्रकार है—(१) चारण-काल (७०२-१३०० ई०) (२) पन्द्रह्वीं शती का धार्मिक पुनर्जागरण (३) जायसी की प्रेम किवता (४) व्रज का कृष्ण-संप्रदाय (५) मुग़ल दरबार (६) तुलसी-वास (७) रीति-काव्य (६) तुलसीदास के ग्रन्य परवर्ती (६) ग्रद्वारहवीं शताव्दी (१०) कम्पनी के शासन में हिन्दुस्तान (११) महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान । इस प्रकार उनका ग्रंथ इन ग्यारह काल-खंडों में विभक्त हैं, जो वस्तुतः युग-विशेष के द्योतक कम हैं, ग्रध्यायों के शीर्षक ग्रधिक हैं। इसके ग्रतिरक्त काल-क्रम का प्रवाह भी इसमें ग्रविच्छिन्न रूप से नहीं चलता—यथा, चारण-काल (७००-१३०० ई०) के बाद एकाएक वे पन्द्रहवीं शती में पहुँच जाते हैं, पूरी चौदहवीं शताब्दी को वे इतिहास में से निकाल देते हैं। कालों का नामकरण भी सर्वत्र किसी एक ग्राधार पर नहीं है—कहीं किसी धार्मिक संम्प्रदाय को इसका ग्राधार बताया गया है तो कहीं किसी शासक-विशेष को ग्रीर कहीं शताब्दी का ही उल्लेख मात्र है। साथ ही तथ्यों की दृष्टि से इसमें सबसे को ग्रीर कहीं शताब्दी का ही उल्लेख मात्र है। साथ ही तथ्यों की दृष्टि से इसमें सबसे

१. हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास : किशोरीलाल गुप्त, पू० ४८।

बड़ी भ्रान्ति यह है कि सातवीं शती से लेकर तेरहवीं शती तक के समय को इसमें हिन्दी-साहित्येतिहास का एक युग माना गया है, पर यह भ्रान्ति तो उनके पहले भ्रौर वाद भी बहुत समय तक चलती रही है, ग्रतः इसके लिए केवल उन्हें ही दोष नहीं दिया जा सकता । ग्रस्तु, ग्रियर्सन का यह प्रयास प्रारम्भिक प्रयास मात्र है, जिसमें विभिन्न न्यून-ताओं, ग्रसंगतियों एवं त्रुटियों का होना स्वाभाविक है।

ग्रागे चलकर मिश्र बन्धुग्रों ने ग्रपने 'सिश्र बंधु-विनोद' (१६१३ ई०) में काल-विभाजन का नया प्रयास किया, जो प्रत्येक दृष्टि से ग्रियर्सन के प्रयास से वहत ग्रधिक प्रौढ एवं विकसित कहा जा सकता है। उनका विभाजन इस प्रकार है:

१. ग्रारम्भिक काल— रविंदिमिक काल (७००—१३४३ वि०) उत्तरारंभिक काल (१३४४—१४४४ वि०)

२. माघ्यमिक काल— र्पृवं माघ्यमिक काल (१४४४—१५६० वि०) प्रौढ़ माघ्यमिक काल (१५६१—१६८० वि०)

३. श्रलंकृत काल— { पूर्वालंकृत काल (१६८१—१७६० वि०) उत्तरालंकृत काल (१७६१—१८८६ वि०)

४. परिवर्तन काल-(१८६०-१६५२ वि०)

वर्तमान काल—(१६२६—वि० से भ्रब तक)

जहाँ तक पढ़ित की वात है, यह वर्गीकरण बहुत सम्यक् एवं स्पष्ट है, किन्तु तथ्यों की दृष्टि से इसमें भी अनेक असंगतियाँ विद्यमान हैं। सबसे पहले तो उन्होंने भी ग्रियर्सन की भाँति ७०० से १३०० ई० तक के युग को हिन्दी-साहित्य के साथ सम्बद्ध कर दिया है जो वस्तुतः भ्रपभ्रंश का युग है। यह भी विचित्र वात है कि जहाँ वे मध्य-काल में लगभग दो सौ वर्ष के समय को भी साहित्य की प्रौढ़ता के आधार पर दो अवा-न्तर भेदों - पूर्व माघ्यमिक काल एवं प्रौढ़ माघ्यमिक काल - में विभक्त करते हैं, जिसका श्रर्थ है कि सौ वर्षों में ही साहित्य प्रौढ़ हो गया, जब कि प्रारम्भ में सात-ग्राठ सौ वर्षों में भी वह एक-सा रहता है। इसी प्रकार 'श्रलंकृत-काल' के बाद 'परिवर्तन-काल' (१८६०—१६२५ वि०) के रूप में केवल ३५ वर्ष के समय को भ्रलग स्थान देना भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है; प्रत्येक काल के बाद दूसरा काल ग्राने से पूर्व सदा परिवर्तन होता ही है, श्रतः यदि 'परिवर्तन-काल' की संज्ञा स्वीकार करें, तो प्रत्येक काल के अनन्तर एक-एक 'परिवर्तनकाल' देना होगा, जो अनावश्यक है। विभिन्न काल-खंडों के नामकरण में भी एक जैसी पद्धति नहीं अपनाई गई है, जहाँ अन्य नामकरण विकास-वादिता के सूचक हैं, वहाँ 'श्रलंकार-काल' ग्रान्तरिक प्रवृत्ति पर ग्राधारित है । ग्रस्तु, इन दोषों के होते हुए भी, मिश्र-बन्धुग्नों का प्रयास पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रौढ़ है, इनमें कोई सन्देह नहीं।

थ्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने '<u>हिन्दी-साहित्य का इतिहास</u>' (१६२६ ई०) प्रस्तुत करते हुए काल-विभाजन का नया प्रयास किया, जो इस प्रकार है:

ब्रादिकाल (वीरगाया काल, सं० १०५०-१३७५) पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, १३७५-१७००) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, १७००-१६००) ग्राधुनिक काल (गद्यकाल, १६००-१६८४)

ग्राचार्य शुक्ल के काल-विभाजन की यदि मिश्र-वन्धुग्रों के काल-विभाजन से तुलना करें तो इसकी कई विशेषताएँ सामने ग्राएँगी। एक तो इन्होंने मिश्र-वन्धुग्रों के प्रारंभिक काल की पूर्वारम्भिक सीमा ७०० वि० के स्थान पर १०५० वि० को मान कर उसे यथार्थ सीमा के थोड़ा निकट ला दिया। दूसरे, इन्होंने मिश्र-बंधुग्रों के द्वारा किए गये भेदोपभेदों की कुल संख्या को दस से घटाकर चार तक सीमित कर दिया। इससे इनके काल-विभाजन में ग्राधिक सरलता, स्पष्टता एवं सुबोधता ग्रा गई। ग्रपनी इसी विशेषता के कारण वह ग्राज तक बहुमान्य एवं बहुप्रचलित है।

शुक्लोत्तर इतिहासकारों में से अनेक ने आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त काल-विभाजन की तीन्न आलोचना तो की, तथा उसके अनेक दोषों को भी स्पष्ट किया, किन्तु उसे संशोधित करके नया रूप देने में सफलता किसी को नहीं मिली। केवल मात्र डा॰ रामकुमार वर्मी का ही नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है, जिन्होंने नया काल-विभाजन

प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है-

१. संधिकाल (७५०-१००० वि०)

२. चारण-काल (१०००-१३७५ वि०)

३. भक्तिकाल (१३७५-१७०० वि०)

४. रीतिकाल (१७००-१६०० वि०)

५. ग्राधुनिक काल (१६०० से ग्रव तक)

डा० वर्मा के इस विभाजन के ग्रंतिम चार काल-खंड तो ग्राचार्य शुक्ल के ही विभाजन के ग्रनुरूप हैं, केवल 'वीरगाथाकाल' के स्थान पर 'चारणकाल' नाम ग्रवश्य दे दिया गया है, किन्तु इसमें एक विशेषता 'संधिकाल' की है, जो वस्तुतः गुण-वृद्धि का सूचक कम एवं दोष-वृद्धि का द्योतक ग्रधिक है। जैसा कि ग्रन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका सूचक कम एवं दोष-वृद्धि का द्योतक ग्रधिक है। जैसा कि ग्रन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, हिन्दी साहित्य का ग्रारम्भ सातवीं-ग्राठवीं शताब्दी से मानना एक विशेष भ्रान्ति का परिणाम है, तथा डा० वर्मा का यह 'संधिकाल' भी उसी भ्रान्ति से सम्बन्धित है, ग्रतः इसे शुक्लजी के काल-विभाजन का परिष्कृत रूप नहीं कहा जा सकता। फिर भी उन्होंने किन्हीं ग्रंशों में ग्राचार्य शुक्ल की रूढ़ि को त्यागने का साहस ग्रवश्य किया है, जो इस युग के लिए कम महत्त्व की वात नहीं है।

इसी बीच डा॰ रामबहोरी शुक्ल एवं डा॰ भगीरथ प्रसाद मिश्र का 'हिन्दी-साहित्य का उद्भव और विकास' ग्रन्थ भी प्रकाश में ग्राया है, जो प्रारंभिक काल की सीमाग्रों में किंचित् परिवर्द्धन-संशोधन करने के ग्रतिरिक्त सामान्यतः ग्राचार्य शुक्ल के ही ग्रानुरूप है तथा इधर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा ग्रठारह-उन्नीस जिल्दों में 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' तैयार हो रहा है, जिसके कुछ भाग प्रकाशित भी हो गये हैं। वस्तुतः इसका स्थूल ढाँचा ग्राचार्य शुक्ल के ही इतिहास के ग्रानुरूप है, जिसके गुण-दोषों को इसमें ग्रधिक विस्तृत एवं विकसित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। ग्राचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ग्रपने 'हिन्दी-साहित्य के ग्रतीत' में भी रीतिकाल के

नामकरण एवं ग्रन्तिविभाजन के क्षेत्र में नया प्रयास करते हुए भी शेष वातों में पूर्ववर्ती

परम्परा का निर्वाह किया है।

इस प्रकार इस समय भ्राचार्य शुक्ल के ही काल-विभाजन को सर्वमान्य कहा जा सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सर्वथा संगत एवं निर्दोष है। भ्राचार्य शुक्ल ने जिन परिस्थितियों में इतिहास लिखा था, उस दृष्टि से वह ठीक है, किन्तु विगत वर्षों में हिन्दी के क्षेत्र में पर्याप्त अनुसंधान एवं चितन हुआ है, जिसे ध्यान में रखकर विचार करने से भ्राचार्य शुक्ल के प्रयास की भ्रानेक न्यूनताएँ एवं त्रुटियाँ स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। भ्रतः किसी भी नये इतिहासकार के लिए, यदि वह भ्राचार्य शुक्ल की परम्परा का भ्रन्धानुसरण न करके भ्रपने प्रयास को वैज्ञानिक एवं सुसंगत रूप देना चाहता है, तो यह भ्रनिवार्य है कि पूर्ववर्ती इतिहास-ग्रन्थों की निम्नांकित त्रुटियों एवं भ्रसंगतियों का निराकरण करके इस क्षेत्र में भ्रागे बढ़े—

- (क) पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने तथा ग्राचार्य शुक्ल ने ग्रपभ्रंश-साहित्य के सम्बन्ध में किसी स्पष्ट नीति का ग्रनुसरण नहीं किया, कभी वे ग्रपभ्रंश को 'प्राकृता-भास हिन्दी', 'पुरानी हिन्दी' ग्रादि संज्ञाग्रों से ग्रभिहित करते हुए उसे हिन्दी से ग्रभिन्न मानते रहे, तो कभी दोनों की स्वतन्त्र सत्ताएँ स्वीकार करते रहे। शुक्लोत्तर इतिहास-कारों की नीति तो इस सम्बन्ध में ग्रौर भी ग्रस्पष्ट एवं विचित्र रही है। वे एक ग्रोर तो यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि ग्रपभ्रंश हिन्दी से भिन्न है, पर दूसरी ग्रोर ग्रपभ्रंश की रचनाग्रों को हिन्दी-साहित्य के ग्रन्तगंत समाविष्ट करते रहे हैं, वस्तुतः इस सम्बन्ध में हमें ग्रव एक स्पष्ट नीति का ग्रनुसरण करना होगा: या तो ग्रपभ्रंश ग्रौर हिन्दी को सिद्धान्त ग्रौर व्यवहार—दोनों में एक मानना होगा, ग्रन्यथा ग्रपभ्रंश रचनाग्रों को हिन्दी-साहित्य में स्थान देने का लोभ संवरण करना पड़ेगा। जैसा कि ग्रन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, हम दूसरे पक्ष का समर्थन करते हुए ग्रपभ्रंश ग्रौर हिन्दी को दो पृथक भाषाग्रों के रूप में स्वीकार करना उचित समभते हैं।
- (क) जिन रचनाग्रों के ग्राघार पर ग्राचार्य शुक्ल तथा ग्रन्य इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य के ग्रारंभिक काल, वीरगाथाकाल या ग्रादिकाल की स्थापना की थी, ग्रव वे ग्रस्तित्वहीन, ग्रंप्रामाणिक या परवर्तीकाल की सिद्ध हो गई हैं यथा, 'जय मयंक-जस चन्द्रिका', 'जयचंद्र प्रकाश' ग्रस्तित्वहीन हैं, 'पृथ्वीराज रासो', 'वीसलदेव रासो' ग्रादि का रचनाकाल संदिग्ध है, 'खुमानरासो' परवर्तीकाल (१ प्रवीं शती) का सिद्ध हो गया है, ग्रमीर खुसरों की पहेलियों की भाषा भी संदिग्ध है तथा ग्रन्य कुछ रचनाएँ हिन्दी की न होकर ग्रंपभ्रंश की हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ किवयों को जान-वूभ कर भी पीछे ठेल दिया गया है, जैसे विद्यापित का रचना-काल स्वयं शुक्ल जी ने संवत् १४६० के लगभग माना है, फिर भी उन्होंने विद्यापित को उस वीरगाथा काल में स्थान दिया है, जो १३७५ ई० में ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार रचनाग्रों की वृद्धि से ग्राचार्य शुक्ल का 'वीरगाथाकाल' विलकुल ग्राधार-शून्य सिद्ध होता है। कुछ विद्वानों ने इस स्थिति को सुधारने के लिए इस काल के नये नामकरण—ग्रादिकाल—का सुभाव दिया, किन्तु हमारे विचार से केवल नाम बदल देने मात्र से इस ग्रसंगिति का निराकरण नहीं हो सकेगा। जिस वस्तु का ग्रस्तित्व ही नहीं है उसका नामकरण

कैसा ? ग्रीर यदि कोई नामकरण किया ही जाता है तो 'ग्रादि-काल' की ग्रपेक्षा 'शून्य-काल' नाम कहीं ग्रधिक ग्रच्छा रहेगा, क्योंकि इससे हमारे विद्यार्थियों ग्रीर शोधकर्ताग्रों के सामने यह स्थिति तो स्पष्ट हो जायगी कि रचनाग्रों की दृष्टि से यह शून्य है। पर हमारे विचार से वर्तमान स्थिति में सबसे ग्रच्छा प्रयास यह होगा कि हम पूर्ववर्ती इतिहासकारों की रूढ़ धारणाग्रों से सर्वथा मुक्त होकर हिन्दी-साहित्य का प्रारंभ वहाँ से मानें, जहाँ से वस्तुतः वह ग्रारंभ होता है या जब से इसकी प्रथम प्रामाणिक रचना उपलब्ध होती है तथा उसी के ग्रनुसार प्रारम्भिक काल की सीमाएँ एवं प्रवृत्तियाँ निर्धारित करते हुए उसकी स्थापना वास्तिवक रचनाग्रों के ग्राधार पर करें।

(ग) परम्परागत इतिहास-ग्रन्थों में प्रचलित विभिन्न काल-खंडों का नामकरण एवं उनका ग्रन्तिवभाजन भी हिन्दी-साहित्य की विभिन्न परम्पराग्रों एवं प्रवृत्तियों के ग्रम्थयन में साधक बनने के स्थान पर वाधक ग्रिधक सिद्ध होता है। 'वीरगाथा काल' की ग्रसंगित तो ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है, भिक्तकाल, एवं रीतिकाल नाम भी दोष-श्रान्य नहीं हैं। ये नाम ग्रपने युग की किसी एक धारा या एक प्रवृत्ति को हो सूचित करते हैं, जब कि इन युगों में ग्रमेक धाराएँ एवं ग्रमेक प्रवृत्तियाँ साथ-साथ विकसित होती रही हैं। एक प्रवृत्ति को ही प्रधानता देने एवं शेष को गौण मानकर 'फुटकल खाते' ग्रर्थात् रही को टोकरी में डाल देने का परिणाम यह हुग्रा कि इस समय विभिन्न युगों का ग्रधूरा एवम् एकपक्षीय रूप ही हमारे सामने ग्रा पाता है। एक प्रवृत्ति को ही सर्वप्रमुख मान लेने का दृष्टिकोण ग्रपने लिए तथा पाठकों के लिए सुविधाजनक भले ही प्रतीत हो, किन्तु वह इतिहास की एकांगी एवं ग्रधूरी व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यह प्रयास उस ग्रंध-गज-न्याय का स्मरण कराता है, जिसमें हाथ ग्राए ग्रंग को ही प्रमुख मानकर पूरे हाथी का वोधक मान लिया गया है, जिसमें हाथ ग्राए ग्रंग को ही प्रमुख मानकर पूरे हाथी का वोधक मान लिया गया था। ग्रस्तु, इसमें विभिन्न ग्रंगों का नामकरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ न्याय हो सके।

(घ) नये ग्रनुसंधान से ग्रनेक नयी रचनाग्रों एवम् काव्य-परंपराग्रों का भी उद्घाटन हुग्रा है, जिन्हें हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्थान देना ग्रावश्यक है। इसके किए 'भक्ति-काल' की केवल चार काव्य-परम्पराग्रों (निर्गुण ज्ञानाश्रयी, निर्गुण प्रेममार्गी कृष्ण-भक्ति एवम् रामभक्ति सम्बन्धी काव्य-धाराएँ) से काम नहीं चलेगा। ग्रव हमें नये वर्गीकरण के ग्रनुसार इस काल में लगभग ग्राठ-नौ परंपराग्रों का ग्रस्तित्व स्वीकार करते हुए उन्हें उचित स्थान देना होगा। इन परम्पराग्रों का परिचय ग्रागे दिया जायगा।

(ङ) 'भिक्तिकाल' में प्रवर्तित होनेवाली सभी काव्य-परंपराएँ श्राधुनिक काल के श्रारंभ तक श्रखण्ड रूप से चलती रहती हैं, ग्रतः भिक्तिकाल को रीतिकाल से सर्वथा विच्छिन्न मानना भी ठीक नहीं है।

श्रस्तु, हम उपर्युक्त तथ्यों एवं विभिन्न परिस्थितियों को घ्यान में रखते हुए काल-विभाजन का नया प्रयास करने की भ्रावश्यकता समभते हैं, ग्रतः यहाँ ऐसा ही किया जायगा।

काल-विभाजन का नया प्रयास-यहाँ हमें सबसे पूर्व यह स्पष्ट कर लेना चाहिए

कि हमारे काल-विभाजन का ग्राधार क्या होगा या वह किन तथ्यों पर ग्राधारित रहेगा। इस संबंध में सामान्यतः दो मत प्रचलित हैं: एक मत के ग्रनुसार साहित्येतिहास का काल-विभाजन सर्वथा स्वतंत्र रूप में - विशुद्ध साहित्यिक प्रवृत्तियों के ग्राधार पर होना चाहिए, जब कि दूसरे मत के अनुसार साहित्य समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिविम्ब है. श्रतः तत्सम्बन्धो समाज की विभिन्न परिस्थितियों—विशेषतः राष्ट्रीय परिस्थितियों— के आधार पर साहित्येतिहास का काल-विभाजन किया जाना चाहिए। पहले मत का स्पष्टीकरण प्रो० नलिन विलोचन शर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है--'यदि हम यह मानते हैं कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, वौद्धिक या भाषावैज्ञानिक विकास से संयुक्त-रहते हुए साहित्य का स्वतंत्र विकास होता है, श्रौर दूसरा पहले का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं है तो हम ग्रनिवार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्यिक युग विशुद्ध साहित्यिक मानदण्ड के सहारे निर्धारित होने चाहिए। यह मत स्पष्टतः इस भ्रान्त घारणा पर भ्राघारित है कि साहित्य का विकास स्वतंत्र रूप से—समाज भीर राष्ट्र की परिस्थितियों से भ्रप्रभावित रहते हुए होता है । वैज्ञानिक दृष्टिकोण के ग्रनुसार साहित्य का विकास पूर्ववर्ती परंपराग्रों एवं युगीन वातावरण के मेल से होता है, तथा युगीन वातावरण का निर्माण राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक, भ्रार्थिक श्रादि परिस्थि-तियों के प्रभाव से होता है, श्रतः साहित्य के स्वतंत्र विकास की धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता । फिर भी इतना ग्रवश्य है कि साहित्य के इतिहास में परंपराओं एवम् परिस्थितियों का ग्राघार उसी सीमा तक ग्रहण किया जाना चाहिए, जहाँ तक वे साहित्यिक प्रवृत्तियों के विकास को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होती हैं, ग्रन्यथा उनका श्रसम्बद्ध एवं स्वतंत्र विवरण श्रनावश्यक भार सिद्ध होगा। इस प्रकार के भार का उदाहरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास' के कुछ खण्डों में देखा जा सकता है, जिनमें सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परि-स्थितियों के विवरण साहित्येतिहास के ग्रंग नहीं, भ्रपितु ऊपर से जोड़े हुए किसी भ्रन्य पुस्तक के ग्रंश से लगते हैं। वस्तुतः हमारा लक्ष्य सांस्कृतिक परम्पराग्रों एवं बाह्य परि-स्थितियों के प्रकाश में साहित्य की प्रवृत्तियों का अनुशीलन करना है, श्रतः काल-विभाजन में भी इसी तथ्य को ध्यान में रखना उचित होगा।

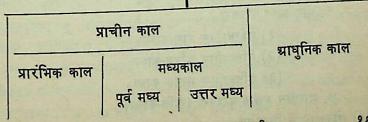
साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दी का साहित्यिक क्षेत्र इतना व्यापक एवं विस्तृत है कि उसमें एक ही युग में अनेक प्रवृत्तियाँ एक साथ चलती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। जिस समय राजस्थान के चारण वीरता के गीत गाने में संलग्न थे, उसी समय मिथिला के किव सौन्दर्य, प्रेम और विरह के भावों की अभिव्यक्ति में लीन थे। जिस समय अकवर के दरवार में अनेक किव नायिका के सौन्दर्य की व्याख्या रिसक्तापूर्ण शब्दों में कर रहे थे, उसी समय तुलसी की लेखनी भक्ति-रस से ओत-प्रोत पंक्तियाँ लिख रही थीं। अस्तु, जिस वीरता, भिक्त एवं श्रृङ्गारिकता को हम तीन अलग-अलग युगों की प्रवृत्तियां के रूप में मानते चले आ रहे हैं, वे वस्तुतः एक ही युग में साथ-साथ विकसित होनेवाली तीन प्रवृत्तियाँ हैं। जहाँ राज-दरवारों में रिसकता और वीरता का पोषण हो रहा था, वहाँ धर्माश्रय एवं लोकाश्रय में भिक्त-भावना एवं शुद्ध प्रणय

प्रणय की प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। ग्रस्तु, जैसा कि ग्रागे विभिन्न काव्य-परम्पराग्नों के ग्राध्ययन से स्पष्ट होगा, हिन्दी-साहित्य के विभिन्न केन्द्रों के ग्राश्रय में एक ही साथ विभिन्न प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। इस केन्द्र-भेद या ग्राश्रय-भेद को युग-भेद समभ लेना बहुत बड़ी भूल होगी।

उपर्युक्त मान्यतात्रों को घ्यान में रखते हुए, सबसे पहले हिन्दी-साहित्य के इतिहास को दो बड़े काल-खण्डों में विभक्त किया जा सकता है; एक १८५७ ई० के पहले का समय ग्रीर दूसरा, उसके बाद का समय। जिस प्रकार हमारे राजनीतिक इतिहास में १८५७ ई० एक ऐसी विभाजक रेखा है, जिससे मुस्लिम राज्य की समाप्ति तथा ब्रिटिश शासन का ग्रारम्भ होता है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी यह पुराने युग की समाप्ति एवं नये युग के ग्रारम्भ का सूचक है। नये युग के प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म १८५० ई० में हुम्रा था तथा सात-म्राठ वर्ष की म्रवस्था में ही उन्होंने ग्रपनी पहली कविता लिख डाली थी, श्रतः नये युग का श्रारम्भ, राजनीतिक इतिहास के अनुकूल १८५७ से माना जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने भी इसी समय के आस-पाष (सन् १८४३ ई० या १६०० वि०) से नये युग का ग्रारम्भ माना है, जिसे उन्होंने 'ग्राथु-निक काल' का नाम दिया है। यदि इस नये युग को यह नाम दिया जाता है तो इसके समकक्ष समस्त पुराने युग को 'प्राचीन-काल' या 'पूर्व-ग्राधुनिक काल' नाम दिया जाना अपेक्षित है। यद्यपि 'प्राचीन-काल' नाम समय की दृष्टि से बहुत दूरी का सूचक है, अतः एकाएक ग्रनुपयुक्त सा लग सकता है, किन्तु काव्य की विषय-वस्तु एवं काव्य-प्रवृत्तियों को देखते हुए १८५७ ई० के पहले के समस्त हिन्दी-काव्य को 'प्राचीन काल' का साहित्य कह दिया जाय तो श्रनुचित नहीं होगा। फिर भी जिन्हें यह नाम कम पसन्द है, वे इसे हिन्दी साहित्य के 'प्रथम उत्थान काल' या 'पूर्व-ग्राधुनिक काल' की संज्ञा दे सकते हैं।

इस 'प्राचीन काल' (११८४-१८५७ ई०) को भी इसकी दीर्घता को देखते हुए दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रारम्भिक काल—११८४-१३५० ई० (२) मघ्य काल—१३५०-१८५७ ई०। यद्यपि हमारे विचार से सारा मघ्यकाल एक ही प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियों से अनुप्राणित है, फिर भी इसे दो उपखण्डों में विभक्त किया जा सकता है—पूर्व मघ्यकाल; १३५०-१६०० ई० तथा उत्तर मघ्यकाल १६००-१८५७ ई०। इस प्रकार नूतन काल-विभाजन तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

हिन्दी साहित्य का इतिहास



११८४ ई०

१३४० ई० १६०० ई० १८४७ ई०

१६६६ ई० (ग्रव तक)

उपर्युक्त तालिका को भौर भ्रधिक संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं-

- १. प्रारम्भिक काल (११८४-१३५० ई०)
- २. पूर्व मध्यकाल (१३५०-१६०० ई०)
- ३. उत्तर मध्यकाल (१६००-१८५७ ई०)
- ४. ग्राधुनिक काल (१८५७ ई०-ग्रब तक)

परम्परागत काल-विभाजन से इसकी तुलना करने पर दो बातें स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती हैं—एक तो इसमें नामकरण सामान्य रूप में किया गया है तथा दूसरे काल-सीमाग्रों में परिवर्तन किया गया है। नामकरण में किसी एक ही प्रवृत्ति—जैसे 'मिक्त', 'रीति' ग्रादि को प्रमुखता दे देने से ग्रन्य प्रवृत्तियाँ गौण हो जाती हैं तथा उससे युग का एकांगी बोध प्राप्त होता है, ग्रतः हमने विकासक्रम के ग्राधार पर ही नामकरण करना उचित समक्षा है। इसी प्रकार सीमा-निर्धारण में भी विभिन्न कालों की नूतन काव्य-परम्पराग्रों के उद्भव-काल को घ्यान में रखा गया है। इसका विस्तृत विवेचन हम ग्रपने 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में कर चुके हैं, ग्रतः यहाँ उसका संकेत कर देना पर्याप्त होगा।

काल-विभाजन पर विचार करते समय इस तथ्य को भी घ्यान में रखना होगा कि पुराने इतिहासकारों के सामने हिन्दी-साहित्य का ग्रधूरा चित्र था, बहुत-सी काव्य-धाराओं के ग्रस्तित्व का भी उन्हें पता नहीं था, जो कि ग्रब ग्रनुसंघान द्वारा प्रकाश में ग्राई हैं। परम्परागत इतिहास-ग्रन्थों के ग्रनुसार मध्यकाल में केवल इन पाँच धाराओं का ग्रस्तित्व था—(१) निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा (२) निर्गुण प्रेममार्गी शाखा (३) सगुण कृष्णभक्ति शाखा (४) सगुण रामभक्ति शाखा (४) रीति-काव्य। किन्तु नये ग्रनुसंधान से पूरे मध्यकाल में निम्नांकित धाराओं का ग्रस्तित्व प्रमाणित होता है—(क) मध्यकाल में उद्भूत काव्य-धाराएँ:

(ग्र) धर्माश्रय में विकसित-

- सन्त काव्य-परम्परा (निर्गुण ज्ञानाश्रयी)
- २. पौराणिक गीति परम्परा (कृष्ण-भक्ति काव्य)
- ३. पौराणिक प्रबन्ध परम्परा (राम-भक्ति काव्य)
- ४. रसिक भक्ति-काव्य-परम्परा।
- (ग्रा) राज्याश्रय में विकसित-
 - ५. मैथिली गीति-काव्य परम्परा
 - ६. वीर-काव्य परम्परा
 - (१) ऐतिहासिक रास-काव्य
 - (२) ऐतिहासिक चरित्र-काव्य
 - (३) ऐतिहासिक मुक्तक काव्य
 - ७. शास्त्रीय मुक्तक परम्परा (रीति-काव्य)
- (ई) लोकाश्रय में विकसित-
 - रोमांटिक काव्य परम्परा—

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन : पुनर्विचार

- (१) रोमांटिक कथा-काव्य (प्रेमाख्यान-काव्य)
- (२) रोमांटिक गीति-काव्य (रीतिमुक्त काव्य)

उपर्युक्त काव्य-परम्पराग्रों में निम्नलिखित की चर्चा ग्राचार्य शुक्ल के इतिहास में नहीं है, जबिक ये परम्पराएँ बहुत दीर्घ, सशक्त एवं प्रभावशाली हैं; इनमें से प्रत्येक परम्परा में शताधिक काव्य ग्राते हैं जिन्हें इतिहास में स्थान नहीं दिया गया—

- १. रसिक-भक्ति काव्य-परम्परा।
- २. मैथिली गीति-परम्परा।
- ३. ऐतिहासिक रास-परम्परा।
- ४. ऐतिहासिक चरित-परम्परा।
- ५. ऐतिहासिक मुक्तक-परम्परा।
- ६. रोमांटिक गीति-काव्य-परम्परा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से कृष्ण-भक्तः कवियों ने गीति-शैली को ग्रपनाया, जबिक राम-भक्त कवियों ने प्रवन्ध-शैली को, जबिक तथ्य यह है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने राम-भक्त कवियों की श्रपेक्षा श्रधिक प्रवन्ध काव्य लिखे हैं तथा दूसरी ग्रोर राम-भक्त कवियों ने गीति-काव्य भी पर्याप्त संख्या में लिखें हैं। साथ ही यह भी घ्यातव्य है कि भक्त किवयों ने केवल राम ग्रौर कृष्ण के ही चरित्र को नहीं, ग्रपितु ग्रन्य ग्रवतारों तथा प्रह्लाद, सुदामा, हरिश्चन्द्र, भरत, दुर्गा, शिव, पार्वती, भक्त घ्रुव, ग्रर्जुन, युधिष्ठिर ग्रादि की पौराणिक गायाग्रों को लेकर शताधिक काव्य लिखे जिन्हें 'राम-काव्य' या 'कृष्ण-काव्य' के ग्रन्तर्गत स्थान देना कठिन है, इसी-लिए इन परम्पराग्रों का नामकरण क्रमशः 'पौराणिक प्रवन्ध-काव्य' एवं 'पौराणिक गीति-काव्य' के रूप में करना भ्रावश्यक है। सच पूछें तो भक्त कवियों का लक्ष्य संस्कृत के समस्त पौराणिक साहित्य को हिन्दी में प्रस्तुत कर देने का था—एक प्रकार से 'पौराणिक भक्ति' का नवजागरण करने का था-ग्रतः इस काव्य की मूल चेतना को समभने के लिए भी इनके नामकरण में 'पौराणिक' विशेषण को स्थान देना भ्रावश्यक है।

ग्रस्तु, पिछले चालीस वर्षों में—ग्राचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के ग्रनन्तर— हिन्दी-साहित्य की इतनी प्राचीन एवं मध्यकालीन सामग्री प्रकाश में आई है कि उससे इसके इतिहास का परम्परागत चित्र बहुत कुछ परिवर्तित हो जाता है तथा उसे देखते हुए उसके काल-विभाजन, सीमा-निर्धारण, परम्पराश्रों के वर्गीकरण एवं नामकरण में पर्याप्त परिवर्तन, संशोधन एवं परिवर्द्धन करना भ्रावश्यक हो जाता है। हो सकता है, जो विद्वान् पुराने ढाँचे के श्रम्यस्त हैं, वे नये वर्गीकरण एवं नामकरण को ग्रहण करने में थोड़ी कठिनाई अनुभव करें, पर यदि सरलता से गृहीत आन्तियों की अपेक्षा कठिनाई से उपलब्ध यथातथ्य विचार का महत्त्व ध्रघिक है, तो उन्हें इस कठिनाई का भी सामना साहस एवं धैर्य के साथ करना चाहिए ताकि हम हिन्दी-साहित्य की भ्रघूरी तस्वीर के स्थान पर उसके एक पुरिपूर्ण कृप का बोध प्राप्त कर सर्के ।

: बाईस :

त्रादिकाल त्रौर उसकी समस्याएँ

- १. नामकरण की समस्या।
- २. ग्रपभ्रंश ग्रौर हिन्दी की भिन्नता।
- ३. रचनायों के लुप्त हो जाने के कारण।
- ४. ग्रस्तित्व की संदिग्धता।
- ५. काल-सीमा।
- ६. रचनाग्रों का वर्गीकरण।
- ७. निष्कर्ष ।

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल—जिसे ग्रादिकाल, वीरगाथाकाल, चारण-काल ग्रादि ग्रनेक संज्ञाग्रों से विभूषित किया गया है—हिन्दी का सबसे ग्रधिक विवाद-ग्रस्त काल है। ''शायद ही भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास में इतने विरोधों ग्रौर स्वतोव्याघातों का युग कभी ग्राया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े-बड़े किव उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ ग्रलंकृत काव्य-परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गयी थीं ग्रौर दूसरी ग्रोर ग्रपभ्रंश के किव हुए जो ग्रत्यन्त सहज-सरल भाषा में ग्रत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में ग्रपने मार्मिक भाव प्रकट करते थे।''—(हिन्दी साहित्य का ग्रादिकाल, पृष्ठ—१) ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान् ने भी इस काल की जिल्लाग्रों को स्वीकार करते हुए लिखा है—''इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा ग्रव भी ग्रस्पष्ट ही रह गया है।''

नामकरण की समस्या

यादिकाल की धनेक समस्याग्रों में से सर्व-प्रथम तो उसके नामकरण की ही है। सबसे पूर्व मिश्र-बन्धुग्रों ने इसे 'ग्रादिकाल' नाम से पुकारा, किन्तु ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग में वीर-गाथात्मक रचनाग्रों की प्रधानता बताते हुए इसे 'वीर-गाथा काल' नाम दिया। किन्तु वास्तिवकता यह है कि शुक्लजी के द्वारा उल्लिखित वीर-गाथाग्रों—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द-प्रकाश, जय-मयंक-जस-चिन्द्रका ग्रौर परमाल-रासो—में से कुछ तो परवर्ती युग में रचित सिद्ध हो चुकी हैं (जैसे—खुमान रासो व परमाल रासो); कुछ ग्रप्रामाणिक (पृथ्वीराज रासो) हैं, कुछ वीररस से शून्य प्रेमकाव्य (बीसलदेव रासो) हैं ग्रौर कुछ का ग्रस्तित्व ही नहीं है। ग्रतः इसे 'वीर-गाथा-काल' कहना निर्थक-सा है। डा॰ रामकुमार वर्मा ने सम्भवतः शुक्लजी की इस धारणा से प्रभावित होकर कि इन वीर-गाथाग्रों के रचिता राज्याश्रित चारण थे, इसे 'चारण-काल्य' की संज्ञा दी हैं। शिक्त इस ग्रुमा के प्रचिता राज्याश्रित चारण थे, इसे 'चारण-काल्य' की संज्ञा दी हैं। शिक्त इस ग्रुमा के प्रचिता राज्याश्रित

रचनाग्रों को स्थान दिया, उनमें से ग्रधिकांश सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक में रिचत हैं ग्रीर जो रचनाएँ इस काल की सीमा में ग्राती हैं, उनमें किसी का भी रचियता कोई चारण नहीं है। यह तथ्य स्वयं डा० वर्मा द्वारा रचनाग्रों के दिये गये परिचय—रचनाकाल एवं रचियता—से ही सिद्ध हो जाता है, ग्राश्चर्य है कि यह ग्रसंगति उनके घ्यान में नहीं ग्राई।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश श्रीर हिन्दी को एक ही भाषा मानते हुए इस काल का नामकरण 'सिद्ध-सामंत युग' किया है। 'सिद्ध' वज्रयानी सिद्धों की अपभ्रंश रचनाश्रों का प्रतीक है श्रीर 'सामन्त' हिन्दी के वीर-रसात्मक साहित्य का सूचक; किन्तु उनके मत को स्वीकार करने में भी कई श्रापत्तियाँ हैं। एक तो श्रपभ्रंश श्रीर हिन्दी को एक मानना ही अनुचित है, अन्यथा श्राधुनिक युगीन प्रान्तीय भाषाएँ—गुजराती, वँगला, मराठी श्रादि—जो श्रपभ्रंश से विकसित हुई हैं, हिन्दी की ही शाखाएँ सिद्ध हो जाएँगी। सम्भवतः हिन्दी-प्रेमी जनता इसे स्वीकार कर ले, किन्तु अन्य प्रान्तीय भाषाश्रों के समर्थक इसे कभी मानने को तैयार नहीं होंगे। दूसरे, यदि हिन्दी श्रीर अपभ्रंश को एक कहा जा सकता है तो फिर अपभ्रंश श्रीर प्राकृत या प्राकृत श्रीर पालि को एक कहने में क्या ग्रडचन है ? फिर तो हिन्दी के अन्तर्गत पालि, प्राकृत, श्रपभ्रंश श्रादि का सारा साहित्य लिया जा सकता है श्रीर उस स्थिति में इस युग का नाम 'सिद्ध-सामन्त युग' ही नहीं, ''जैन-सिर्द्ध-सामन्तादि युग'' रखना होगा, क्योंकि इस युग के सबसे वडे किव जैन हैं।

इस समस्या के समाधान में ग्राचार्य हजारीप्रसाद जी ने भी योग देते हुए लिखा है कि "वस्तुतः हिन्दी का 'ग्रादिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है भीर श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई ग्रादिम मनोभावापन्न, परम्परा-विनिर्मुक्त, काव्य रूढ़ियों से ग्रछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत ग्रधिक परम्परा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त ग्रौर सजग-सचेत किवयों का काल है।यिद पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।" इस नाम की ग्रनुपयुक्तता तो इसी से सिद्ध हो जाती है कि पाठक या श्रोता के मस्तिष्क को इसके साथ सदैव एक लम्बा वाक्य चेतावनी के रूप में संवाहित करना पड़ता है ग्रन्था भ्रान्ति में पड़ जाने का भय है! यह इस काल का दुर्भाग्य है कि हमारे चोटी के इति-हासकारों के पचास-वर्ष के दीर्घ प्रयत्न के पश्चात् भी इसे कोई निर्भ्रान्त नाम नहीं मिल सका।

ग्रपभ्रंश ग्रौर हिन्दी की भिन्नता

यह नामकरण की समस्या स्वयं तो हल हो ही नहीं पाई, इसने कई नवीन सम-स्याग्रों को ग्रीर जन्म दे दिया है। एक ग्रोर श्री राहुल सांकृत्यायन ने इस सम्बन्ध में अपभ्रंश ग्रीर हिन्दी की एकता पर प्रकाश डाला था, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। ऊपर ग्राचार्य शुक्ल ने भी कुछ ऐसी ही मौलिक बातें कही हैं—वे भी ग्रप-

भ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी' का नाम देते हुए इसका उद्भव विक्रम की सातवीं शती से मानते हैं-- "ग्रपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक भीर योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनात्रों के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के श्रन्तिम चरण में लगता है।....श्रतः हिन्दी काव्य-भाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के श्रन्तिम चरण में लगता है।" (हि॰ सा॰ इ०, पृ० ३ व २०) यहाँ प्रश्न उठता है, जब इस प्राकृताभास हिन्दी का उदय सातवीं शताब्दी से पूर्व ही हो गया था तो फिर म्रादिकाल का प्रारम्भ १०५० वि० से मानने में क्या संगति है ? इससे पूर्व जो अपभ्रंश किव हो चुके हैं, उन्हें हिन्दी साहित्य में स्थान क्यों नहीं दिया गया ? इसका समाधान करते हुए शुक्ल जी ने उत्तर दिया है कि "उनकी रचनाग्रों का जीवन की स्वामाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे साम्प्र-दायिक शिक्षा मात्र हैं, ग्रतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं ग्रा सकतीं।" (हि॰ सा॰ इ०, पृ० २१) इसका तात्पर्य यह है कि यदि शुक्ल जी को यह विश्वास हो जाता कि जैन और सिद्ध कवियों की अपभ्रंश-रचनाध्रों में साहित्यिकता है तो वे हिन्दी साहित्य का ग्रारम्भ सातवीं शताब्दी से ही मान लेते। पर शायद वे ऐसा भी नहीं करते, क्योंकि उन्होंने ग्रांगे चलकर ग्रपने इतिहास में 'ग्रपभ्रंश-काल' ग्रौर 'देश-भाषा काव्य' शीर्षक दो अध्याय अलग-अलग दिये हैं तथा दोनों अध्यायों में ही उन्होंने नवीं से पन्द्रहवीं शती तक की रचनाग्रों को स्थान दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी इस प्रारम्भिक घारणा में कि 'प्राकृताभास हिन्दी' है, ग्रागे चलकर परिवर्तन ग्रा गया क्योंकि अगले अघ्याय में 'अपभ्रंश' को इसी नाम के पुकारते हैं, 'प्राकृताभास हिन्दी' के नाम से नहीं।

प्रामाणिक रचनाम्रों का म्रभाव

श्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लजी की मान्यताग्रों का खण्डन करते हुए सिद्ध किया है-- "ग्रब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों के ग्राधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा गया है, उनमें से कुछ नोटिस मात्र से बहुत श्रधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं ग्रौर कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या पहले की रचनाग्रों के विकृत रूप हैं। इन पुस्तकों को ग़लती से प्राचीन मान लिया गया है।" साथ ही उन्होंने डाँ० मोतीलाल मेनारिया के इस मत का भी समर्थन किया है कि वीर-गाथाएँ किसी युगविशेष की प्रवृत्ति न होकर चारण, भाट ग्रादि कुछ वर्ग के किवयों की जातिगत मनोवृत्ति की सूचक हैं। यदि इनकी रचनायों के ग्राघार पर कोई निर्णय किया जाय, तब तो वीर-गाया काल राजस्थान में भ्राज भी ज्यों का त्यों बना है।

धाचार्य हजारीप्रसाद जी ने स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि भ्रादिकाल में हिन्दी भाषी-प्रदेश में रचित एक भी ऐसी रचना नहीं मिलती जिसे हिन्दी की कहा जा सके। उन्हीं के शब्दों में-''वस्तुतः १४ वीं शताब्दी के पहले की भाषा का रूप हिन्दी-भाषी प्रदेशों में क्या भौर कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य भ्राज उपलब्ध नहीं हो रहा है।

रहा है। जो एकाध शिलालेख ग्रीर ग्रंथ मिल जाते हैं, वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की ग्रीर वोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा था, पर पद्य में ग्रप-भ्रंश का ही प्राधान्य था। प्रश्न है चौदहवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी की कोई प्रामाणिक रचना उपलब्ध क्यों नहीं है ? इन विषयों में द्विवेदी जी का कथन है कि इस युग में मध्य देश के शासक गाहड़वाल नरेश थे। वे "इस प्रदेश की जनता से भिन्न ग्रौर विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को ग्राश्रय नहीं दे सके भौर यही कारण है कि जहाँ तक उनका राज्य था, वहाँ तक देशी भाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका । ग्रन्तिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा-साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे।" द्विवेदीजी का यह मत मौलिक होते हुए भी सर्वमान्य नहीं हो पाया है। डा॰ दशरथ शर्मा ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है—''कन्नीज सदा से देशी भाषा को मान देता रहा है। यदि संस्कृत-संस्कृति के प्रवल समर्थक गोविन्दचन्द्र ने भी देशी भाषा को इतना मान दिया तो हम किस भ्राधार पर कह सकते हैं कि उसके एक-दो पूर्वजों ने ही देशी भाषा से विरोध किया था ग्रीर उन्होंने विरोध भी किया हो तो तीस-चालीस वर्षों में किसी भाषा का साहित्य सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता।"-(ग्रालोचना, ७ ग्रंक, पृष्ठ ११६) यह भी घ्यान रहे कि कन्नौज पर गाहड़वालों का ग्राधिपत्य १०६० ई० में हुग्रा तथा देशी भाषा को श्राश्रय देने वाले गोविन्दचन्द्र सन् १११४ में गद्दी पर बैठे, स्रतः द्विवेदीजी का कथित उपेक्षाकाल २४ वर्ष का ही सिद्ध होता है। इस ग्रल्पकालीन उपेक्षा के कारण परवर्ती शताब्दियों का भी साहित्य किस प्रकार नष्ट हो गया, यह बात हमारी समभ के वाहर है।

यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि गाहड़वालों की उपेक्षा के कारण हमारे साहित्य को आश्रय नहीं मिला, तो भी उन अज्ञात, अरचित या अरिक्षत रचनाओं के आधार पर इतिहास का ढाँचा खड़ा नहीं किया जा सकता। जब हमारे पास इस युग की कोई प्रामाणिक रचना ही नहीं तो इसका नामकरण कैसा? इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने एक लेख—''आदिकाल का अस्तित्व कहाँ है ?''—(साहित्य-सन्देश, नवम्वर, ५४) प्रकाशित करवाया था, किन्तु उसका उत्तर आज तक किसी विद्वान् ने देने का कष्ट नहीं किया। वस्तुतः इस युग में हिन्दी की प्रामाणिक रचनाएँ न मिलने का कारण मुसलमानों का आक्रमण, देश की अशान्ति या किसी शासक-विशेष की अवज्ञा नहीं है, यदि ऐसा होता तो इस युग में रचित अपभ्रंश की शताधिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। यह युग साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश को शताधिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। यह युग साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश का युग है, किन्तु हम उसे बलात् हिन्दी का आदिकाल या वीरगाथा काल सिद्ध करना चाहते हैं—फलस्वरूप कभी हम अपभ्रंश की रचनाओं को उधार लेते हैं, कभी अस्तित्वहीन या परवर्ती रचनाओं का आश्रय प्रहण करते हैं और कभी साहित्य नष्ट हो जाने की कहानियाँ कहकर आँसू बहाते हैं।

वस्तुतः श्रादिकाल की विभिन्न समस्याश्रों के समाधान का एक ही मार्ग है कि हम ग्रपने वैयक्तिक पूर्वाग्रहों एवं दुराग्रहों को त्यागकर सबसे पूर्व इस बात का निर्णय करें कि हिन्दी-भाषा ग्रौर उसके साहित्य का उद्भव कब हुग्रा, तदनन्तर इस काल की प्रामा-

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

णिक हिन्दी रचनाग्रों के ग्राघार पर इसके नाम, काल-सीमा एवं प्रवृत्तियों ग्रादि का निर्घारण करें। ग्रस्तु, हम ग्रागे ऐसा ही करने का प्रयास करेंगे।

हिन्दी भाषा और साहित्य का उद्भव-काल

प्रारम्भ में विद्वानों की घारणा थी कि ग्रपभ्रंश ग्रौर हिन्दी एक ही भाषा है, <mark>ग्रतः</mark> उन्होंने ग्रपभ्रंश की रचनाग्रों के ग्राघार पर ही हिन्दी भाषा ग्रौर साहित्य का उद्भव लगभग सात सौ विक्रमी स्वीकार किया। किन्तु ग्रव यह निर्विवाद-रूप से निर्णय हो गया है कि अपभ्रंश और हिन्दी दो भिन्न भाषाएँ हैं, यह दूसरी बात है कि हिन्दी का विकास भ्रमभ्रं श से ही हुम्रा है। हिन्दी का विकास किस समय हुम्रा—इस सम्बन्ध में विद्वानों के ग्रलग-ग्रलग मत हैं। पर जैसा कि हमने ग्रपने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में विभिन्न भाषा-वैज्ञानिकों एवं ग्रालोचकों के विचारों की छानवीन करते हुए सप्रमाण सिद्ध किया है, हिन्दी का उद्भव ग्यारहवीं शती के ग्रारम्भ में हो चुका था। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए पंडित दामोदर रचित 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' (१२वीं शती), श्राचार्य हेमचन्द्र के 'प्राकृत-व्याकरण' (१२वीं शती), रोड़ाकृत, 'राउलवेल' (११ वीं शती) के शिलालेख ग्रादि को देखा जा सकता है, जिनमें प्रारम्भिक हिन्दी के नमुने उपलब्ध हैं।

कुछ विद्वान् हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य-दोनों का ग्राविर्भाव साथ-साय मान लेते हैं जो ठीक नहीं। किसी भी लोक-भाषा को साहित्य के द्वार तक पहुँचने में थोड़ा-बहुत समय ग्रवश्य लग जाता है-ग्रितः भाषा ग्रीर साहित्य, दोनों का उद्भव साथ-साथ नहीं माना जा सकता। हमारे कुछ इतिहासकारों ने तो हिन्दी भाषा का उद्भव १२वीं-१३वीं शती में और हिन्दी साहित्य का उद्भव सातवीं शती तक में मान लिया है, जो हास्यास्पद है। क्या हिन्दी भाषा के उद्भव से पूर्व ही हिन्दी साहित्य का ग्राविभाव सम्भव है ? वस्तुतः दृष्टि की श्रवैज्ञानिकता एवं चिन्तन की ग्रस्पष्टता के कारण ही इस प्रकार की घारणाएँ व्यक्त की जाती हैं, ग्रन्यथा यह स्पष्ट है कि साहित्य का ग्राविर्माव भाषा के उद्भव-काल के ग्रनन्तर ही सम्भव है।

हिन्दी-साहित्य के श्राविर्माव-काल के निर्णय के लिए, हमें यह देखना है कि हिन्दी का सबसे पहला कि कौन है ? प्रचलित इतिहास-प्रन्थों से इस प्रश्न का कोई उत्तर नही मिलता । ग्राचार्य शुक्ल एवं द्विवेदीजी जैसे इतिहासकार भी इस प्रश्न के सम्बन्ध में मौन हैं। कुछ इतिहासकारों ने सातवीं शती के पुष्प या ग्राठवीं शती के स्वयंभू का नाम लिया है, पर इनमें से एक की तो कोई रचना ही उपलब्ध नहीं है और दूसरा ग्रपभ्रंश का किव है। वस्तुतः सातवीं-ग्राठवीं शती में, जबिक हिन्दी भाषा का ही ग्राविभीव नहीं हुआ था, किसी हिन्दी कवि के श्रस्तित्व की कल्पना करना निरर्थक है। श्राचार्य शुक्ल ने ग्रादिकाल के हिन्दी कवियों में सबसे पहले 'खुमान रासो' के रचयिता दलपित विजय का परिचय दिया है, क्योंकि इसका रचना-काल उनके मतानुसार दसवीं शताब्दी था, पर ग्रवं यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि यह रचना भ्रठारहवीं शती में रचित CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. है। ग्राचार्य शुक्ल द्वारा उल्लिखित ग्रन्य रचना ग्रों में से 'वीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'ग्रमीर खुसरो की पहेलियाँ', 'परमार रासो' ग्रादि में से भी किसी को हिन्दी की पहली रचना होने का गौरव नहीं दिया जा सकता, क्योंकि एक तो उनके रचना-काल ग्रनिश्चित हैं, दूसरे उनमें से कोई भी तेरहवीं शती से पूर्व रचित सिद्ध नहीं होती। यह भी ग्राश्चर्य की वात है कि प्रथम रचना का निर्णय किए विना ही ग्राचार्य शुक्ल ने कोरे ग्रनुमान के ग्राधार पर हिन्दी साहित्य का ग्राविर्भाव-काल १०५० विक्रमी घोषित कर दिया।

यदि पूर्ववर्ती इतिहासकारों द्वारा उल्लिखित कवियों में से ही किसी को हिन्दी का पहला कवि स्वीकार करना है तो कबीर ही पहले कवि सिद्ध होते हैं, क्योंकि ग्रन्य पूर्ववर्ती कवियों का जीवन-काल एवं रचना-काल या तो ग्रनिश्चित है या फिर वह कवीर के बाद पड़ता है। ऐसी स्थिति में हिन्दी साहित्य का ग्रारम्भ भक्तिकाल से मानना पड़ेगा तथा पूरे ग्रादिकाल को ग्रस्तित्वहीन मानते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास में से निकाल देना पड़ेगा। ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ग्रपने इतिहास (हिन्दी साहित्य उद्भव ग्रौर विकास) में भक्तिकाल के साथ 'वास्तविक हिन्दी साहित्य का ग्रारम्भ' विशेषण लगाकर अप्रत्यक्ष में यह स्वीकार कर लिया है कि वास्तव में भक्तिकाल से ही हिन्दी-साहित्य का ग्रारम्भ होता है। पर इधर गुजरात के जैन-भाण्डारों से कुछ ऐसे रास-संज्ञक ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं, जो कि निश्चित रूप में १२वीं-१३वीं शती में रचित हैं तथा जिनकी भाषा प्रारम्भिक हिन्दी है—ग्रतः इसके ग्राधार पर हिन्दी साहित्य के ग्रादिकाल के ग्रस्तित्व को बचाया जा सकता है। इन रचनाग्रों में सबसे प्राचीन शालि-भद्र सूरि रिचत 'भरतेश्वर वाहुविल रास' है, जिसका रचना-काल स्वयं किव के निर्देशा-नुसार संवत् १२४१ वि० (११८४ ई०) है। ग्रतः हम इसी रचना को हिन्दी की प्राचीनतम उपलब्ध प्रामाणिक साहित्यिक रचना मानते हुए मुनि शालिभद्र सूरि को हिन्दी का प्रथम कवि तथा ११८४ ई० को हिन्दी साहित्य का ग्राविभवि-काल मान सकते हैं। कुछ विद्वानों ने भ्रांतिवश 'भरतेश्वर बाहुविल रास' को ग्रपभंश की रचना माना है, किन्तु जैसा कि डा० हरीश तथा अन्य विद्वानों ने इसकी भाषा का वैज्ञानिक अनु-शीलन करने के ग्रनन्तर सिद्ध किया है, इसकी भाषा ग्राम्य ग्रपभ्रंश का विकसित रूप है, जिसे प्रारम्भिक हिन्दी कहा जा सकता है। परिनिष्ठित ग्रपभ्रंश से यह भिन्न है। यहाँ नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

वस्तुतः यह स्पष्ट ही बारहवीं शती की राजस्थानी या हिन्दी की रचना है। श्रतः हमें परम्परागत अमृन्तियों का परित्याग करते हुए हिन्दी साहित्य का ग्राविर्भाव- काल या ग्रादिकाल (प्रारम्भिक काल) की ग्रारम्भिक सीमा के रूप में सन् ११८४ ई० को निःसंकोच स्वीकार कर लेना चाहिए।

ग्रादिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ

इस काल की प्रामाणिक रचनाओं का निर्णय करना भी एक समस्या है, क्योंकि श्रव तक विभिन्न इतिहासकारों ने इस काल के श्रन्तर्गत जिन रचनाश्रों को स्थान दिया है वे विभिन्न कारणों से श्रप्रामाणिक सिद्ध होती जा रही हैं। मिश्रवन्धुग्रों ने ग्रपने ग्रन्थ में भगवद्गीता, वर्त्तमाल, संमतसार ग्रादि ऐसी रचनाग्रों का विवरण दिया है. जो ग्राचार्य शुक्ल के मतानुसार 'नोटिस मात्र' हैं या जिनका ग्रस्तित्व ही नहीं है। राहुल सांकृत्यायन ने भी ('हिन्दी-काव्य-धारा' के अन्तर्गत अपभ्रंश के कवियों को स्थान दिया है जो उचित नहीं। स्वयं ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल के ग्रन्तर्गत ये बारह रचनाएँ स्वीकृत की हैं—(१) विजयपाल रासो (२) हम्मीर रासो (३) कीर्ति-लता (४) कीर्तिपताका (५) खुमान रासो (६) वीसलदेव रासो (७) पृथ्वीराज रासो (८) जयचंद्र-प्रकाश (६) जय मयंक जस-चिन्द्रका (१०) परमाल रासो (११) खुसरो की पहेलियाँ (१२) विद्यापित की पदावली । इनमें से प्रथम चार तो श्रपभ्रंश की रचनाएँ हैं, ग्रतः उन्हें हिन्दी-साहित्य के श्रन्तर्गत स्थान नहीं दिया जा सकता। पाँचवीं—'खुमान रासों का रचनाकाल संवत् १७६० के बाद सिद्ध हो चुका है, ग्रतः उसे ग्रादिकाल की रचना नहीं कहा जा सकता। 'बीसलदेव रासो' ग्रीर 'पृथ्वीराज रासो' का भी रचना-काल विवादास्पद है तथा उन्हें पूर्णतः प्रामाणिक भी नहीं माना जाता । 'जयचन्द्र-प्रकाश' एवं 'जय मयंक जस-चन्द्रिका' का ग्रस्तित्व ही नहीं, उनका नाममात्र कदाचित् ग्राचार्य शुक्ल ने कहीं पढ़ा था, ऐसी स्थिति में उन्हें भी ग्रादिकाल की हिन्दी-रचना कैसे कहा जा सकता है ! स्राचार्य शुक्ल ने मिश्रवन्धुस्रों द्वारा परिगणित स्रस्तित्वहीन रचनाभ्रों का उपहास उन्हें 'नोटिस मात्र' कह कर किया है, पर यह विशेषण इन दोनों रचनाग्रों पर भी लागू होता है। 'परमाल रासो' एवं 'खुसरो की पहेलियाँ' भी भाषा एवं रचना-काल की दृष्टि से श्रप्रामाणिक एवं परवर्ती सिद्ध होती हैं। भ्रन्त में एक ही रचना ऐसी वच जातो है जो निश्चित ही प्रामाणिक है—वह है विद्यापित की 'पदावली'। पर इसे ग्रादिकाल में स्थान देते समय स्वयं भ्राचार्य शुक्ल भूल गये कि इसका रचना-काल स्वयं उन्होंने संवत् १४६० वि० माना है, जबिक उनके मतानुसार ग्रादिकाल संवत् १३७५ में ही समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह रचना भ्रादिकाल की न होकर भक्तिकाल की सिद्ध होती है। विषय-वस्तु, भावात्मक प्रवृत्तियों एवं शैली की दृष्टि से भी विद्यापित की 'पदावली' — जिसमें कि राधा-कृष्ण के प्रेम का निरूपण गीति शैली में किया गया है — वीरगाथाकाल की नहीं, भक्तिकाल की ही रचना सिद्ध होती है। इस प्रकार ग्राचार्य शुक्ल द्वारा परिगणित रचनाग्रों में से एक भी ऐसी प्रामाणिक हिन्दी रचना नहीं बचती जिसे 'ग्रादिकाल' या 'वीरगाथा-काल' में स्थान दिया जा सके । कदाचित् इसी स्थिति को घ्यान में रखते हुए ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह स्वीकार किया कि इस काल में जितनी भी प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। वे ग्रूप अंग्रुविक ही हैं, लोक-भाषा या

हिन्दी की रचनाएँ संदिग्य एखं अप्रामाणिक हैं। उनके मतानुसार 'मूल मघ्यदेश में जहाँ आगे चलकर अजभाषा और अवधी का साहित्य उद्भूत और विकसित हुआ है, वहाँ किसी प्रामाणिक साहित्यिक रचना का प्रमाण ईस्वी सन की १४ वीं शताब्दी से पहले का नहीं मिलता।'

ऐसी स्थिति में हमें हिन्दी-साहित्य का ग्रारम्भ १४ वीं शती से ही मानना चाहिए, पर इधर गुजरात के जैन-भाण्डारों से हिन्दी की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, उन्होंने स्थिति को बदल दिया है। इन रचनाओं में से प्राचीनतम हिन्दी रचना 'भरतेश्वर बाह-वित रास' का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इसके ग्रतिरिक्त ग्रीर भी रचनाएँ हैं, जिनमें से प्रमुख ये है-- 'चन्दन बाला-रास' एवं 'जीव दया-रास' (दोनों के रचयिता कवि आसगु थे एवं रचना-काल लगभग १२०० ई०), 'स्थूलिभद्र रास' (जिन धर्म सूरि; १२०६ ई०), 'रेवंतगिरि रास' (विजय सेन सूरिं; १२३१ ई०), 'ग्राबू रास' (पल्हण; १२३२ ई०), 'नेमिनाथ रास' (सुमति गुणि; १२३८ ई०), 'कच्छुली रास' (प्रज्ञातिलक; १३०६ ई०); 'गयसुकुमाल रास' (देल्हण; १४वीं शती); 'जिन पद्मसूरि पट्टाभिषेक रास' (सारमूर्ति; १३३३ ई०), 'पंच-पांडव-चरित रास' (शालिभद्र सूरि द्वितीय; १३५३ ई०); 'गोतम स्वामी रास' (उदयवन्त; १३४५ ई०), 'भयण रेहारासु' (रयणु; १४वीं शती), श्रादि । इन रचनाग्रों का विस्तृत परिचय यहाँ देना सम्भव नहीं, ग्रतः 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में प्रस्तुत परिचय के ग्राधार पर संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सभी ग्रादिकाल के प्रामाणिक हिन्दी काव्य हैं। यद्यपि इनके रचयिता जैन कवियों का मूल लक्ष्य काव्य के माव्यम से ग्रपने तीर्थंकरों, महापुरुषों तपस्वियों एवं तीर्थस्थलों का गुण-गान करते हुए सामाजिकों की धार्मिक भावनाओं को उद्देलित करना था तथा म्रप्रत्यक्ष में म्रपने सिद्धान्तों का प्रचार करना भी रहा, पर इससे इनके काव्यत्व में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। यदि धार्मिक प्रेरणा को ही काव्यत्व के लिए निषिद्ध माना जाय तो फिर उस स्थिति में हमें सभी सन्त एवं वैष्णव कवियों को —िजनमें कवीर, सूर, तुलसी, मीराँ, जैसे दिग्गज भी भ्राते हैं -- काव्य के क्षेत्र से विह्ष्कृत करना पड़ेगा। वस्तुतः इनका काव्य केवल सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं है, ग्रपितु उसमें नारी सौन्दर्य यौवन, प्रणय, विरह जैसे विषयों एवं प्रकृति के नाना दृश्यों का भी निरूपण म्राकर्षक म्रलंकारपूर्ण शैली में हुम्रा है—ग्रतः वे काव्यत्व की कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। इनकी विषय-दस्तु पौराणिक है, तथा पात्र घार्मिक साधक हैं तथा इनमें शान्तरस की प्रधानता है। जनता में प्रचलित रास-शैली को ग्रपनाकर उन्होंने उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया । वस्तुतः रास या रासो परम्परा को साहित्य में प्रचलित करने का श्रेय इन्हीं कवियों को है, यह दूसरी बात है कि ग्रागे चलकर जब यह परम्परा जैन-मन्दिरों से निकलकर राज-दरबारों में पहुँची, तो इसकी विषय-वस्तु एवं शैली में गहरा अन्तर भ्रा गया । वहाँ पौराणिक गाथाओं के स्थान पर ऐतिहासिक चरित्र एवं शान्तरस के स्थान पर वीररस वर्ण्य हो गया। शैली में भी विस्तार एवं चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति मा गयी। ग्रस्तु, हमारे विचार में परवर्ती युग के रासो काव्य इसी परम्परा के विकसित रूप के सूचक हैं। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

इस प्रकार ग्रादिकाल की नवोपलब्ध सामग्री को ध्यान में रखकर विचार करने से ग्रनेक परम्परागत धारणाग्रों का खण्डन हो जाता है। जहाँ इसका ग्रारम्भ १०५० के स्थान पर १२४१ वि० (११८४ ई०) सिद्ध होता है, वहाँ प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल वीरगाथाकाल न होकर 'जैन-काल', 'धार्मिक काल' या 'शान्तरसात्मक काल' सिद्ध होता है। पर वैज्ञानिक दृष्टि से हम इसे 'प्रारम्भिक काल' ही कहना उचित समभते हैं। इसकी उत्तरवर्ती सीमा भी ग्रनेक कारणों से सन् १३५० निश्चत की गयी है। वस्तुतः नवीनतम ग्रनुसंघान की दृष्टि से इस काल की सीमाएँ, प्रवृत्तियाँ एवं संज्ञा-ग्रादि सभी कुछ परवर्तित हो जाती हैं, तथा इसकी सभी प्रमुख समस्याएँ भी सुलभ जाती हैं, (पर फिर भी जिन्हें पुराने इतिहासकारों की धारणाग्रों से बंदरी के मृत बच्चे की भाँति प्यार है, उन्हें कृौन समभा सकता है! उनके लिए ग्राज भी 'खुमान रासो' हिन्दी की पहली रचना एवं ग्रादिकाल 'वीरगाथाकाल' ही रहे तो क्या ग्राश्चर्य है।

: तेईस :

मिक्तः उद्भाव और विकास

- १. भक्ति का ग्रर्थ।
- २. भक्ति-ग्रान्दोलन के मूल कारण।
- ३. भक्ति-भावना का क्रमिक विकास—(क) वैदिक साहित्य, (ख) रामायण, (ग) महाभारत, (घ) गीता, (ङ) नारद-भक्ति सूत्र, (च) पौराणिक साहित्य, (छ) ग्रद्धैत विरोधी दर्शन, (ज) विभिन्न भक्ति-सम्प्रदाय।
- ४. उपसंहार।

'भक्ति' शब्द का ग्रर्थ विभिन्न शब्द-कोशों में 'विभाजन', 'ग्रनुराग', 'पूजा', उपासना' ग्रादि दिया गया है। किन्तु इन पर्यायवाचियों में भी थोड़ा ग्रन्तर है, ग्रतः भक्ति के उद्भव व विकास ग्रादि पर विचार करने से पूर्व इसका ग्रर्थ स्पष्ट कर लेना उचित होगा। हमारे विभिन्न ग्राचार्यों ने 'भक्ति' की निम्नांकित परिभाषाएँ दी हैं—

१. श्रीमद्भगवद्गीताकार—''मर्ट्यापतमनोबुद्धियों मद्भक्तः स मे प्रियः'' (ग्रध्याय १२।१४) ग्रर्थात् जिसने ग्रपना मन ग्रौर बुद्धि मुक्ते ग्रापत कर दिया, वह भक्त मुक्ते प्रिय है।

२. पाराशर्यं—''पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः'' (नारद-भक्ति-सूत्र १६) ग्रर्थात् पूजादि में ग्रनुराग होना भक्ति है।

३. शाण्डिल्य—''सा परानुरिक्तरीश्वरे'' (शाण्डिल्य-भिक्त-सूत्र-२) अर्थात् वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग-रूपा है।

४. नारव—''सा त्वस्मिन् परमप्रेम-रूपा, ग्रमृत-स्वरूपा च। तत्रापि माहात्म्यज्ञान-विस्मृत्यपवादः तिद्वहीनं जाराणामिव।'' ग्रर्थात् वह (भिक्तः) ईश्वर के प्रति परम प्रेम-रूपा ग्रीर ग्रमृत-स्वरूपा है। फिर भी माहात्म्य-ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए, ग्रम्यथा यह व्यभिचारियों के प्रेम तुल्य हो जायगी। (नारद-भिक्त-सूत्र २-३)।

५. वल्लभाचार्यं—''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः । स्तेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।।'' ग्रर्थात् भगवान् में माहात्म्यपूर्वक सुदृढ़ ग्रौर सतत स्तेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं। (तत्त्वदीप निबन्धः, श्लोक ४६)।

जपर्युक्त परिभाषाग्रों में शाब्दिक दृष्टि से ग्रन्तर होते हुए भी भ्रयं की दृष्टि से पर्याप्त एकता है। ग्रीताकार ने हृदय भीर बृद्धि दोनों का समर्पण स्वीकार किया है।

हृदय का समर्पण प्रेम से भ्रौर बुद्धि का महत्ता के बोध से होता है। पाराशर्य, शाण्डिल्य, नारद भ्रौर बल्लभाचार्य ने भी अनुराग के साथ-साथ पूजा व माहात्म्य-ज्ञानादि का समर्थन किया है। ग्रस्तु, गीताकार के द्वारा उल्लिखित हृदय एवं बुद्धि को तथा परवर्ती ग्राचार्यों के अनुराग एवं माहात्म्य-ज्ञान को क्रमशः प्रेम भ्रौर श्रद्धा का नाम देते हुए कहा जा सकता है कि भ्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा—"श्रद्धा भ्रौर प्रेम के योग का नाम भक्ति है"—में उपर्युक्त सभी मतों का समन्वय हो जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी भक्ति में श्रद्धा भ्रौर प्रेम दोनों तत्त्वों का सम्मिश्रण होना भ्रनिवार्य है। दोनों में से किसी भी एक तत्त्व के न होने पर वह कोरी श्रद्धा व कोरे प्रेम का रूप धारण कर लेगी तथा उस स्थिति में उसे भक्ति कहना उचित नहीं होगा। हमारे भ्रनेक विद्वानों ने भक्ति के विकास पर विचार करते समय इस तथ्य को ध्यान में नहीं रखा, फलतः उनके निष्कर्ष अहात्मक वन गये हैं।

भारतीय धर्म-साधना में भक्ति-भावना का उदय कब और क्यों हुम्रा-इस विषय पर विभिन्न विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। पाश्चात्य विद्वान् वेवर, कीथ, ग्रियर्सन, श्रादि इसे ईसाई धर्म की देन बताते हैं। वेवर महोदय ने महाभारत में वर्णित 'श्वेतद्वीप' का अर्थ गौरांग जातियों का निवास-स्थान (यूरोप) करते हुए तथा जयन्तियाँ मनाने की प्रथा का सम्बन्ध ईसाइयत से स्थापित करते हुए भारतीय भक्ति-भावना को ईसाई धर्म के प्रभाव से विकसित सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ग्रियर्सन महोदय का मत है कि ईसा की दूसरी-तीसरी शती में कुछ ईसाई मद्रास में श्राकर वस गये थे, जिनके प्रभाव से भक्ति का विकास हुआ। प्रो० विल्सन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की उपज सिद्ध करते हुए कहा कि विभिन्न धाचार्यों ने ग्रपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया है। एक ग्रन्य पाश्चात्य विद्वान् ने कृष्ण को क्राइष्ट का ही रूपान्तर घोषित करते हुए भ्रपनी कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। किन्तु उन्होंने यह नहीं वताया कि गोपियाँ किसकी रूपान्तर हैं। हमारे ग्रनेक भारतीय विद्वानों —श्री वालगंगाधर तिलक, श्री कृष्ण स्वामी ग्रायंगर, डॉ॰ एच॰ राय चौघरी ग्रादि ने उपर्युक्त मतों का खण्डन सुदृढ़ ग्राधारों पर करते हुए भक्ति का मूल उद्गम प्राचीन भारतीय स्रोतों में सिद्ध किया है, ग्रतः उपर्युक्त भ्रामक निष्कर्षों पर विचार करना यहाँ ग्रनावश्यक है। हमारे हिन्दी के इतिहासकारों ने भी इस समस्या के समाधान का प्रयत्न किया है। ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-ग्रान्दोलन को मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा की प्रतिक्रिया वताते हुए लिखा है—''ग्रपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति ग्रौर करुणा की ग्रोर घ्यान ले जाने के ग्रतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?" किन्तु डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसके विरोध में तर्क दिया है—"मुसलमानों के श्रत्याचार के कारण यदि भक्ति की भाव-धारा को उमड़ना ही था तो पहले उसे सिंघ में, फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।" द्विवेदीजी के विचार से भक्ति-श्रान्दोलन के विकास का श्रेय दक्षिण के श्रालवार भक्तों को है, जिनकी संख्या बारह मानी जाती है। किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि इन ग्रालवारों को किससे प्रेरणा मिली ? यह भीट-विक्तिद्वालाका है। बिक उतास क्रीर प्राप्ता अवतार उत्तरी भारत

भक्ति: उद्भव श्रीर विकास

में हुआ जबिक उनके प्रति भक्ति-भावना का विकास ठेठ दक्षिण में श्रालवारों द्वारा हुआ है। वस्तुतः भक्ति के विकासक्रम की सुसंगत व्याख्या करने के लिए वैदिक युग से लेकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक के समस्त धार्मिक साहित्य पर दृष्टिपात करना श्रावश्यक है।

भक्ति का क्रमिक विकास

ग्रायों की प्राचीनतम साधना का परिचय वैदिक साहित्य में मिलता है। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ॰ मुंशीराम 'सोम' ने ऋग्वेद की कुछ ऋचाग्रों के ग्राधार पर भक्ति का उद्-भव वैदिक साहित्य से ही दिखाने का प्रयत्न किया है; किन्तु उन्होंने जिसे 'भिक्त' कहा है, वह कोरी श्रद्धा या शुष्क उपासना मात्र है; भक्ति के दूसरे आवश्यक तत्त्व-प्रेम-का उन्मेष उसमें नहीं मिलता । प्रभु के गुणों का वर्णन, स्तुति व प्रार्थना ग्रादि को ही यदि हम भक्ति मान लें तो फिर कदाचित् संसार के ग्रधिकांश धर्म-सम्प्रदाय-जंगली की जातियों से लेकर सुसम्य समुदायों की पूजा-पद्धतियाँ तक सभी-भिक्त भ्रान्दोलन की शाखाएँ सिद्ध हो सकती हैं क्योंकि श्रद्धा-तत्त्व का ग्रस्तित्व प्रायः सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में ग्रवश्य मिलता है। वस्तुतः वैदिक धर्म में प्रारम्भ में यज्ञ व कर्म-काण्ड की जटिल-पद्धतियों से वँधी हुई एक उपासना-पद्धति थी, जिसमें शुष्क-कर्म की प्रधानता थीं; भक्ति के उपयुक्त कोमल भावनाथ्रों का विकास उसमें नहीं मिलता । भ्रागे चलकर उपनिषदों में यही धर्म उपासना से चिन्तन में; कर्म से ज्ञान में ग्रौर स्थूल से सूदम में परिणत होने लगा, जिसमें भक्ति-भावना के उन्मेष के लिए ग्रौर भी कम स्थान रह गया। यज्ञों के कर्म-प्रधान धर्म में श्रद्धा के लिए तो स्थान था, किन्तु उपनिषदों के ग्रद्वैत-चिन्तन में तो वह भी नहीं रहा । ग्रस्तु, ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक के धार्मिक साहित्य में क्रमशः कर्म ग्रौर ज्ञान का ही विकास मिलता है, भावना का उन्मेष वहाँ नहीं हो सका। वैसे प्राकृतिक नियम से भावना का विकास कर्म ग्रौर ज्ञान से पूर्व होना चाहिए था ग्रौर सम्भवतः ऐसा ग्रायों के जीवन में भी कभी हुग्रा होगा, किन्तु यह ग्रवस्था वैदिक युग से पहले रही होगी—ऋग्वेद तथा परवर्ती वेदों का भ्रार्य उस भ्रवस्था से बहुत श्रागे बढ़ा हुश्रा प्रतीत होता है। श्रागे चलकर धर्म के जिस भावना-प्रधान रूप का विकास हुआ, वह वैदिक धर्म के शुष्क कर्मकाण्ड एवं परवर्ती सूक्ष्म-चिन्तन की प्रतिक्रिया-स्वरूप विकसित माना जा सकता है।

यदि भारतीय समाज की परिस्थितियों एवं उसके तत्कालीन दृष्टिकोण के आघार पर उपर्युक्त विकास-क्रम पर विचार करें। तो वह युग-चेतना के अनुकूल एवं स्वाभाविक सिद्ध होगा। वैदिक युग का आर्य समाज उत्तरी भारत में अपनी प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष-निरत था; उसका द्रविड़ आदि आर्येतर जातियों से संघर्ष चल रहा था। रामायण से पूर्व तक उसने उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर अपना आधिपत्य स्था-पित कर लिया था; आर्येतर जातियों को दक्षिण की और भगा दिया था; किन्तु वे पूरी तरह विजित नहीं होते पाई थीं। जब तक पुरुषोत्तम राम ने ठेठ दक्षिण में पहुँच-पूरी तरह विजित नहीं होते पाई थीं। जब तक पुरुषोत्तम राम ने ठेठ दक्षिण में पहुँच-

कर उनके केन्द्रीय स्थलों को नष्ट नहीं कर दिया, तब तक वे समय-समय पर श्रायों पर श्राक्रमण करती रहीं। यही कारण था कि विश्वामित्र जैसे ऋषियों को यज्ञादि करते समय शस्त्र-धारी राजकुमारों की श्रावश्यकता पड़ती थी। श्रतः राम के युग तक परि-स्थितियों की विषमता एवं संघर्षशीलता के कारण श्रायों का कर्म को प्रमुखता देना स्वाभाविक था, श्रन्यथा उनका श्रस्तित्व ही नष्ट हो जाता। रामायण की मूल-कथा भी इसी कर्मशीलता पर प्रकाश डालती है। राम भली प्रकार जानते थे कि उनके वन-गमन के कारण उनके पिता की भावनाश्रों को, उनके हृदय को गहरी ठेस लगेगी, किन्तु फिर भी उन्होंने इसकी उपेक्षा करके कर्म को स्वीकार किया।

पुरुषोत्तम राम की दक्षिण-विजय ने भारतीय श्रायों को बाह्य-श्राक्रमण की चिन्ता से दीर्घकाल के लिए मुक्त कर दिया। श्रायों के सबसे प्रवल शत्रु सदा के लिए श्रशक्त हो गए। निश्चिन्तता के इस वातावरण में श्रध्ययन, चिन्तन एवं ज्ञान का विकास होना स्वाभाविक था। महाभारत युग तक पहुँचते-पहुँचते उनकी बौद्धिकता चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। प्राचीन नियमों एवं मर्यादाश्रों की उपेक्षा करके महाभारत के नेता नये-नये नियमों व विधानों के श्राविष्कार में संलग्न थे। इड़ा के श्रीरस पुत्र स्वार्थ, कपट एवं श्रनाचार का चारों श्रोर बोल-बाला था। एक श्रोर श्रार्य-श्रनार्य धन से खरीदी हुई या वलपूर्वक श्रपहृत, जुए में हारो हुई कन्याश्रों या श्रन्य व्यक्ति की परिणीता युवितयों से विवाह कर रहे थे, दूसरी श्रोर सत्यवती, श्रम्वा, श्रम्बालिका, कुन्ती, द्रौपदी श्रादि कुलीन घरों की वघुएँ वहुपितत्व व नियोग श्रादि के नये-नये प्रयोग कर रही थीं। ऐसी स्थित में कृष्ण ने गीता का उपदेश देकर समाज में पुनः ज्ञान एवं भावना के समन्वय का प्रयत्न किया।

श्रस्तु, भक्ति का प्रतिपादन सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से महाभारत श्रौर गीता में प्राप्त होता है। महाभारत के शांतिपर्व में तथा भीष्मपर्व में नारायणीयोपाख्यान का वर्णन किया गया है जिसमें भागवत, नारायण या पंच-रात्र धर्म का उल्लेख मिलता है। इन चारों धर्मों में नारायण या वासुदेव की जिस उपासना-पद्धित का निरूपण किया गया है, वह भक्ति भावना का प्रारम्भिक स्त्ररूप है। महाभारत में भागवत धर्म का प्रवर्त्तक नारा-यण एवं उसका प्रचारक नारद बताया गया है। दूसरी श्रोर छांदोग्य उपनिषद् में भागवत धर्म के प्रवर्तन का श्रेय देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण को दिया गया है। कृष्ण को भी नारायण का श्रवतार माना गया है, श्रतः महाभारत श्रौर छांदोग्य उपनिषद् के उल्लेखों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

महाभारत के भागवत धर्म का विकास गीता में मिलता है। जहाँ महाभारत में कोरी उपासना पर वल दिया गया था, वहाँ गीता में उसके साथ-साथ ग्रात्म-समर्पण को भी स्थान दिया गया है। गीताकार कर्मयोग ग्रीर ज्ञानयोग के समकक्ष ही भिक्त-योग की महत्ता घोषित करते हैं। वे मोक्ष के लिए तपस्या ग्रीर वैराग्य के मार्ग को ग्रनाव-श्यक नहीं मानते तथा साथ ही वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि भक्ति शुष्क नैतिक ग्राचरण में नहीं, ग्रापतु भावन्तु मुर्ण क्राचरण में नहीं, ग्रापतु भावन्तु मुर्ण क्राचरण में नहीं, ग्रापतु भावन्तु मुर्ण क्राचरण में नहीं, ग्रापतु भावन्तु साम क्राचरण में नहीं, ग्रापतु भावने साम क्राचरण के साम क्राचरण में नहीं, ग्रापतु भावने साम क्राचरण के साम क्राचरण क्राचरण के साम क्राचरण क्राचरण के साम क्राचरण क्राचरण के साम क्राचरण क्राचरण के साम क्राचरण क्राचरण के साम क्राचरण क्राचरण के साम क्राचरण क्राचरण क्राचरण के साम क्राचरण के साम क्राचरण के साम क्राचरण के सा

ईसा से छठी-सातवीं शताब्दी पूर्व परम्परागत वैदिक धर्म के कर्म-काण्ड एवं उपनिषदों की दुरूह ज्ञान-साधना के विरुद्ध क्रान्ति का स्वर ग्रीर भी तेज हो गया । जहाँ वैदिक धर्म में शुष्क कर्मकाण्ड था, वहाँ उपनिषदों का निर्गुण ब्रह्म जन-साधारण की धार्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति करने में ग्रसमर्थ था। उसका ज्ञान बुद्धिजीवी वर्ग ही प्राप्त करता था। यतः जनसाधारण के उपयुक्त किसी सरल उपासना पद्धति की आवश्यकता को ग्रनुभव करते हुए नये-नये धर्मों का उदय ग्रौर विकास हुग्रा, जिन्हें हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-(१) नास्तिक ग्रौर (२) ग्रास्तिक । नास्तिक धर्मों के ग्रन्तर्गत जैन ग्रीर वौद्ध याते हैं, जबिक ग्रास्तिक में नवोदित पौराणिक धर्म को ले सकते हैं। वस्तुतः यह पौराणिक धर्म पूर्ववर्ती भागवत धर्म का ही एक ऐसा नव-परिवृद्धित रूप था, जिसमें एक ग्रोर भक्ति-भावना को प्रमुख स्थान दिया गया था, तथा दूसरी ग्रोर उसमें ऐसे तत्वों का समन्वय किया गया था, जिससे वह जैन श्रीर बौद्ध धर्म की प्रतिस्पर्धा में टिक सके । जैन ग्रौर बौद्ध धर्म में लौकिक महापुरुषों-महावीर ग्रौर गौतम बुद्ध-को प्रमुखता प्राप्त थी, ग्रतः पौराणिक धर्म में भी लौकिक व्यक्तियों-राम ग्रीर कृष्ण ग्रादि को विष्णु का अवतार घोषित किया गया । हिन्दू समाज के विभिन्न वर्गों में प्रचलित विभिन्न देवतास्रों की उपासना का समर्थन किया गया। बौद्ध जातक एवं स्रवदान कथा-साहित्य की लोक-प्रियता से प्रभावित होकर रामायण ग्रीर महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों को परिवर्द्धित करके उन्हें धार्मिक ग्रन्थों का रूप दिया गया। नये-नये धर्म-ग्रन्थ एवं सूत्र-प्रन्य रचे गये, जिनमें 'नारद-भक्ति-सूत्र' ग्रौर 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में भक्ति-भावना को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है तथा ज्ञान-योग व कर्म-योग को इसके समक्ष तुच्छ घोषित किया गया है। घ्यान रहे, भक्ति के दार्शनिक स्वरूप एवं उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा की दृष्टि से ये दोनों सूत्र-ग्रन्थ गीता के भक्ति-विवेचन को म्रागे बढ़ाते हैं। जहाँ गीताकार भक्त के लिए भी सदाचार एवं वाह्य-नियमों को आवश्यक मानते हैं, वहाँ नारद ग्रौर शाण्डिल्य इनको उपेक्षणीय बताते हैं। इनके श्रतिरिक्त गीता में भक्ति-योग को ज्ञान-योग और कर्म-योग के समकक्ष ही स्थान मिला था, इनसे बढ़कर नहीं, जबिक इन सूत्र ग्रन्थों में भिक्त को मुख्य ग्रौर ज्ञान ग्रौर कर्म को गौण सिद्ध किया गया है। महाभारत ग्रौर गीता में भक्ति का ग्रंकुर मात्र था, जबकि सूत्र-प्रन्थों में उसे पल्लवित एवं विकसित किया गया है।

'नारद-भक्ति-सूत्र' भारतीय साहित्य-परम्परा का ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें पहली वार भक्ति के स्वरूप का सांगोपांग विवेचन किया गया है तथा जिसका प्रतिपाद्य एक-मात्र भक्ति है। 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' सम्भवतः रचना-काल की दृष्टि से इससे प्राचीन हो सकता है, किन्तु उसमें विषय की ऐसी स्पष्टता तथा विवेचना की ऐसी गम्भीरता नहीं मिलती; ग्रतः भक्ति के रूप को समभने व उसके विकास की रूप-रेखा को स्पष्टतः हृदयंगम करने के लिए इस ग्रन्थ पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। नारद ने सबसे पूर्व भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसे ईश्वर के प्रति परम प्रेम-रूप तथा श्रमृत-स्वरूप घोषित किया है। ''उसे पाकर मनुष्य सिद्ध, श्रमर ग्रीर तृप्त हो जाता है। भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न श्रोक करता है; न द्वेष

करता है, न किसी वस्तु में ग्रासक्त होता है ग्रीर न उसे विषय-भोग की प्राप्ति में उत्साह रहता है। इसे प्राप्त कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है ग्रौर ग्रात्माराम बन जाता है।" इस प्रकार भक्ति के स्वरूप को ग्राकर्षक शब्दों में प्रस्तुत करने के अनन्तर नारद प्रारम्भिक ग्रवस्था में लौकिक कर्मों को उपेक्षापूर्वक करते रहने की ग्राव-श्यकता बताते हैं, किन्तु भक्ति की चरम ग्रवस्था में वे समस्त लौकिक ग्रौर वैदिक कर्मों के त्याग को स्वीकार करते हैं। भक्ति का लक्षण निर्धारित करते हुए प्रेम ग्रौर श्रद्धा दोनों को प्रमुखता दी गई है, क्योंकि श्रद्धा के ग्रभाव में कोरा प्रेम व्यभिचारियों के प्रेम के तुल्य—'तद्विहीनं जाराणामिव'—रह जायगा।

कर्म, ज्ञान ग्रौर योग से भक्ति की तुलना करते हुए नारद इसे इन सबकी ग्रपेक्षा श्रेष्ठतर घोषित कर देते हैं — "सा तु कर्मज्ञानयोगेम्योऽप्यधिकतरा।" ज्ञान भक्ति का साधन हो सकता है किन्तु भक्ति स्वयं साध्य है। जिस प्रकार भोजन का ज्ञान प्राप्त कर लेने से क्षधा शान्त नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, अतएव मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन-भक्ति ही है। भक्ति के साधनों में महर्षि ने विषय-वासनाग्रों का त्याग, श्रखण्ड भजन, भगवद् गुण-श्रवण, कीर्तन, महापुरुषों की कृपा और ईश्वर की अनुकम्पा का उल्लेख किया है। भक्ति के बाधक तत्त्वों में एकमात्र कुसंगति की चर्चा की गई है, जो उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता की परिचायक है, वे समस्त बुराइयों - काम, क्रोघ, मोह, ग्रादि को कुसंगति का ही प्रभाव मानते हैं। नारद का यह भक्ति-मार्ग वैदिक धर्म के विरोध में प्रचलित हुआ था, इसका स्पष्ट प्रमाण भी कई स्थानों पर मिल जाता है। माया से कौन बच सकता है ? इसका उत्तर देते हुए वे नि:संकोच कहते हैं—''जो वेदों को भी भली-भाँति त्याग देता है श्रीर जो ग्रखण्ड ग्रसीम भगवत्त्रेम प्राप्त कर लेता है।" (वेदानिप संन्यस्पति केवलसिविच्छिन्नानुरागं लभते।)

जहाँ भक्ति के सैद्धान्तिक स्वरूप का विकास सूत्र-ग्रन्थों में हुआ, वहाँ उसके व्यावहारिक रूप के विकास का प्रयत्न पौराणिक साहित्य के द्वारा किया गया है। प्रेम के लिए ईश्वर के साकार और सगुण रूप की अपेक्षा होती है, अतः अवतारवाद का विकास हुआ। दूसरी भ्रोर श्रद्धा के निमित्त ग्रवतार-पुरुषों की शक्ति भ्रौर उनके पराक्रम का चित्रण भी ग्रावश्यक था। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के उद्देश्य से हरिवंश पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण ग्रादि की रचना की गई, जिनमें विभिन्न ग्रवतारों की लीलाग्रों का चित्रण इस ढंग से किया गया कि वह सौन्दर्य ग्रौर शक्ति—प्रेम ग्रौर श्रद्धा की उत्पत्ति में सहायक हो सके। रामायण ग्रौर महाभारत में भी परिवर्द्धन किया गया, किन्तु उसमें इसके लिए ग्रधिक क्षेत्र नहीं था, ग्रतः उन्हीं के पात्रों को नया रूप दिया गया। महाभारत के कृष्ण लौकिक हैं, जब कि पुराणों में वे पूर्णतः ग्रलौकिकता से युक्त हैं। इस प्रकार सूत्र-प्रन्थों व पुराणों ने भक्ति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष की साहित्यिक पृष्ठभूमि तैयार की, किन्तु फिर भी इसका प्रचार जैन ग्रीर बौद्ध धर्म की लोक-प्रियता के कारण प्रारम्भ में अधिक न हो सका। भ्रागे चलकर ईसा की चौथी शताब्दी में गुप्त-सम्राटों ने इस भक्ति-समन्वित भागवत या पौराणिक धर्म को स्राश्रय CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

प्रदान करके इसके प्रचार में योग दिया । गुप्तों की राज-पताका में विष्णु के वाहन गरुङ् का चिह्न ग्रंकित है, जो भागवत धर्म का प्रतीक है।

श्चागे चलकर सातवीं शताब्दी में वौद्धधर्म विकृत होकर वज्जयान या सहजयान में परिणत हो गया, जिसमें भोग-साधना को प्रमुखता मिली। जैन-धर्म के संरक्षक भी अपने धार्मिक चरित-काव्य में प्रेमतत्व का मिश्रण करने लगे जिससे कि जनता ग्राकर्षित हो सके । शैवधर्म की भी अनेक ऐसी शाखाओं का विकास हुआ जिसमें वामाचारों को प्रधानता दी गई। संस्कृत ग्रीर लोकभाषाग्रों में ग्रन्तर वढ जाने के कारण तथा सामा-जिक एवं नैतिक स्तर के ह्रास के कारण जन-साधारण का भी श्राकर्षण भोग-विलास की ग्रोर ग्रधिक वढ़ रहा था। ग्रतः वह वौद्ध, जैन एवं शैव धर्म की इन नवविकसित प्रवृत्तियों से प्रभावित होने लगा, जिनमें भोग ग्रौर प्रेम को प्रमुखता प्राप्त थी। ग्रस्तु, इनकी प्रतिस्पर्धा में पौराणिक या भागवत धर्म के अनुयायियों या प्रचारकों ने भी भक्ति-मार्ग का एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया, जिसमें प्रेम ही प्रमुख हो गया, श्रद्धा गौण हो गई। नवीं शताब्दी के लगभग रचित श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति के इसी रूप का चित्रण किया गया है। जिसमें कृष्ण की विलासिता और गोपियों की श्रासक्ति पूर्ववर्ती पुराण ग्रन्थों से वहुत भ्रागे वढ़ गई है। इतना ही नहीं, भागवतकार भक्ति के लिए 'माहात्म्यज्ञान' या श्रद्धा-भाव की कोई ग्रावश्यकता नहीं समभते । क्या गोपियाँ ईश्वर के ग्रलौकिक रूप से परिचित थीं ? इस प्रश्न का उत्तर भागवत में निषेधात्मक देते हुए यह स्पष्ट स्वीकार कर लिया गया है कि गोपियों का सम्बन्ध वासना और काम से प्रेरित था। वस्तुतः भक्ति का यह रूप, उसकी विकृति का द्योतक है, जो वौद्ध एवं शैव धर्म की विकृत शाखाओं की प्रतिस्पर्धा में प्रस्तुत हुआ है।

भागवत-पुराण की. रचना दक्षिण-भारत में हुई थी-ऐसा श्रिवकांश विद्वान् मानते हैं। यह वात तथ्य रूप में स्वीकार न भी की जाय तो भी यह एक निर्विवाद सत्य है कि ब्राठवीं-नवीं शती तक पौराणिक धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में भी हो चुका था। ग्रस्तु, यह धर्म तेजी से सारे भारत में फैल रहा था, किन्तु एकाएक इसके मार्ग में दो वड़े भारी अवरोध उपस्थित हो गये-एक था कुमारिल भट्ट द्वारा वैदिक कर्मकांड के पुनः प्रतिष्ठापन का ग्रान्दोलन तथा दूसरा शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित ग्रद्धैतवाद । श्रद्धैतवाद में ब्रह्म ग्रीर ग्रात्मा की एकता का प्रतिपादन करते हुए भक्ति के मूल विचार को ही अज्ञानमूलक सिद्ध किया गया है। भक्तिं दो के वीच होती है; जब श्रात्मा श्रीर ब्रह्म एक ही हैं तो भक्ति की क्या भ्रावश्यकता है ? शंकराचार्य के भ्रगाघ पाण्डित्य, भ्रासाघारण प्रतिभा, ग्रद्भुत शास्त्रार्थ-सामर्थ्य भौर विलक्षण व्यक्तित्व के प्रभाव से यह सिद्धान्त लग-भग सर्वमान्य हो चला, किन्तु दक्षिण भारत के वैष्णवों ने भक्ति के संरक्षण का पूरा प्रयत्न किया। एक तो दक्षिण भारत में भ्रालवार भक्त हुए जिन्होंने शंकराचार्य के सिद्धान्त की कोई परवाह न करते हुए भक्ति की धारा को प्रवहमान रखा। दसवीं-ग्या-रहवीं शती में माचार्य नाथमुनि हुए जिन्होंने वैष्णवों का संगठन, मालवारों के भक्ति-भावपूर्ण गीतों का संग्रह, मन्दिरों में कीर्तन एवं वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या भादि महत्त्वपूर्ण कार्य किए जिनसे भक्ति परम्परा को नया बल मिला । इनके उत्तरा-CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. धिकारियों में रामानुजाचार्य हुए । उन्होंने शंकर के भ्रद्वैतवाद का खंडन करते हुए विशि-ष्टाद्वैत की स्थापना की, जिसमें ब्रह्म की ग्रद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हुए भी जीव को भौर ब्रह्म को भ्रभिन्न नहीं माना जाता है। 'विशिष्टाद्वैत' का भ्रथं है कि विशिष्ट का विशिष्ट रूप से ग्रद्दैत । ग्रद्धितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है, जीव ग्रौर प्रकृति उसके विशे-षण, इस विशिष्ट रूप में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। प्रो॰ बलदेव उपाघ्याय के शब्दों में — 'इनमें जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा 'विशेष्य' कहलाता है, जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा उसे 'विशेषण' कहते हैं। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य है। नियम्य तथा ग्रप्रधान होने से जीव तथा जगत् विशेषण हैं। विशेषण पृथक् न होकर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। ग्रतः विशेषणों से युक्त विशेष्य ग्रर्थात् विशिष्ट की एकता कल्पना युक्ति-युक्त है।"—(भारत दर्शन, पु०-४६२) इस प्रकार जीव ग्रीर ब्रह्म में विशेषण-विशेष्य का श्रन्तर स्पष्ट करते हए जीव को ब्रह्म से हीन सिद्ध किया गया। इस स्थिति में जीव द्वारा ब्रह्म की भक्ति को उपयुक्त स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने ईश्वर के पाँच रूपों की कल्पना की, जिनमें उसके सगुण रूप को भी प्रतिष्ठा मिली। इस प्रकार उन्होंने भक्ति का एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार तैयार किया जिसके अभाव में उसकी नीवें हिल गई थीं।

श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति के स्वरूप एवं उसके महत्त्व का भी विवेचन विस्तार से किया है। उन्होंने भगवान् विष्णु की उपासना का प्रचार करते हुए दास्य-भाव की भक्ति पर विशेष बल दिया । भक्ति के उदय के निमित्त वे साधक की स्वकर्मों के अनुष्ठान से हृदय को शुद्ध कर लेने की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। भगवान का प्रीतिपूर्वक घ्यान करना ही उनके विचार से भक्ति है (स्नेहपूर्वमनुष्यानं भक्तिः)। 'भगवत-कैंकर्य'-भगवान् का दास्य—से ही जीवों को भगवत्सान्निच्य प्राप्त होता है। भक्ति का चरम ग्रवसान 'प्रपत्ति' ग्रर्थात् 'ग्रात्म-समर्पण' में वताया गया है। प्रपत्ति के भी तीन ग्राकार या विशेषण हैं--(१) ग्रनन्य-शेषत्व (भगवान् का ही दास होना) (२) ग्रनन्यसाव्यत्व (एकमात्र भगवान् को ही उसकी प्राप्ति का साधन मानना), ग्रीर (३) ग्रनन्ययोग्यत्व (ग्रपने को भगवान् के द्वारा ही योग्य मानना) प्रपत्ति भी प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होती, ग्रपितु पहले इसके (प्रपत्ति के) द्वारा ईश्वर की कृपा जागृत होती है और उसी कृपा से जीव को मुक्ति मिलती है। भगवान् और भक्त का सम्बन्ध स्थापित करने में गुरु का भी महत्त्व स्वीकार किया गया है। मुक्ति की कल्पना भी रामानुज-मत में मौलिक रूप में की गई है। जहाँ न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन के ग्रनुसार मुक्ति की ग्रवस्था में जीव में ज्ञान व ग्रानन्द की चेतना नहीं रहती, वहाँ रामा-नुज-मत के अनुसार इस अवस्था में भी जीव को एक ऐसा भ्रेप्राकृत या सूक्ष्म शरीर प्रार् हो जाता है जिससे उसे ज्ञान तथा भ्रानन्द का भ्रनुभव होता है तथा वह भ्रनन्तकाल तक भगवान् की सेवा श्रौर उसके सान्निष्य में स्थित रहता है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ने जीव, ब्रह्म, एवं मुक्ति भ्रादि की मौलिक ढंग से व्याख्या करते हुए भक्ति को भ्रनेक नये तत्त्वों से समन्वित करके भागे बढाया।

श्रागे चलकर श्रीर भी कई श्राचार्य हुए, जिन्होंने नये-नये दार्शनिक मतों की स्थापना करते हुए भक्ति मार्ग को श्रधिक प्रशस्त बनाया । इनमें द्वैतवाद के प्रवर्त्तक श्री मघ्वाचार्य (११६६ ई०-१३०३ ई०), द्वैताद्वैतवाद के संस्थापक श्री निम्बार्काचार्य (१२—१३ वीं शती) ग्रीर शुद्धाद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक श्री वल्लभाचार्य (१४५६— १५३० ई०) उल्लेखनीय हैं। श्री मध्वाचार्य ने शंकर के मायावाद का खण्डन उग्रता-पूर्वक करते हुए विष्णु की भक्ति का प्रचार किया। श्री निम्वार्काचार्य ने लक्ष्मी और विष्णु की भक्ति के स्थान पर राघा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया तथा श्री वल्लभाचार्य ने वाल-कृष्ण की उपासना का समर्थन किया । दुसरी श्रोर रामानुजाचार्य की ही परम्परा में चौदहवीं शताब्दी के लगभग स्वामी रामानन्द हुए जिन्होंने सीता-राम की भक्ति का प्रचार किया। परवर्ती युग में विष्णु के विभिन्न अवतारों में से राम और कृष्ण की ही भक्ति का प्रचार ग्रधिक हुग्रा तथा इनमें भी कृष्ण की भक्ति ग्रधिक लोकप्रिय हुई। कृष्ण के भी लोक-रक्षक रूप को कम लिया गया, उनके लोक-रंजक या श्रृंगारी रूप को ही अपनाया गया।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में भक्ति म्रान्दोलन पुनः नये उत्साह के साथ सारे भारत में फैलने लगा। श्राचार्य चैतन्य महाप्रभु के चैतन्य सम्प्रदाय, स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय, श्री हित हरिवंश के राधा-वल्लभ सम्प्रदाय ग्रादि ने एक ग्रोर कृष्ण की माधर्य भक्ति का प्रचार किया तो दूसरी ग्रोर कबीर, दादू, नानक ग्रादि संतों ने भक्ति-का एक ऐसा रूप विकसित किया, जिसमें ईश्वर के सगुण-निर्गुण मिश्रित रूप की उपासना की गई। यद्यपि हमारे विद्वान् इन्हें सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्गुण-एकेश्वरवादी या रहस्यवादी बताते हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपासना में प्रायः वे सभी विशेषताएँ मिलती हैं; जो भक्ति की मूलाघार हैं, ग्रतः हम इन सन्तों को भी भक्ति-ग्रान्दोलन के उन्नायकों में स्थान देना उचित समभते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी तक ग्राते-ग्राते भक्ति के स्वरूप में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। युग के विलासितापूर्ण दृष्टिकोण के प्रभाव से भक्ति में से भी श्रद्धा-तत्त्व का ह्रास हो गया श्रौर वह दो शाखाश्रों में विभाजित हो गई—रागानुगा श्रौर वैधी। रागानुगा के भी कई भेदोपभेद किए गये जिनमें माधुर्यभाव को प्रमुखता मिली। माहात्म्य-ज्ञान के स्थान पर रसिकता का प्रचार हुआ। इस ग्रति रसिकता के कारण कृष्ण-भक्ति के केन्द्र तो ग्रपवित्रता ग्रौर ग्रश्लीलता से ग्रसित हो ही गये, राम-भक्तों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप राम-भक्ति के क्षेत्र में भी रसिकोपासना का प्रचार हुआ और राम के रास-विहार एवं भोग-विलासिता की अतिरंजनापूर्ण कहानियाँ गढ़ी जाने लगीं। जिस राम ने एक-पत्नी-त्रत का श्रादर्श प्रतिष्ठित किया था, वे इन भक्तों के हाथ में पड़कर सहस्राधिक सिखयों के पित बनने को विवश हुए। भिक्त की इस चरम अधोगित को देखकर नारद का यह वाक्य याद भ्राता है—भक्ति में मर्यादा का घ्यान रखना चाहिए 'मन्यथा पातित्यशङ्क्या।'

१. मिक्त काव्य में रिसकता के प्रादुर्भाव के कारणों एवं उनकी प्रवृत्तियों के सम्यक् बोघ के लिए द्रष्टच्य- 'रिसक भक्ति-काव्य परम्परा' (हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक र्शतहासः पुष्ठ—३३४-३५० angamwadi Math Collection, Varanasi.

: चौबीस :

सन्त-काव्य : उद्गम-स्रोत स्रोर प्रवृत्तियाँ

- १. नामकरण-सम्बन्धी मतभेद।
- २. संत' शब्द की व्युत्पत्ति भ्रौर उसका भ्रर्थ।
- ३. उद्गम-स्रोत—(क) ग्रपभ्रं श साहित्य, (ख) नाथपंथ, (ग) वैष्णव-भक्ति-ग्रान्दोलन, (घ) महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय, (ङ) इस्लाम का प्रभाव ।
- ४. परम्परा का प्रवर्त्तन व विकास ।
- ५. प्रमुख कवि भ्रौर उनका काव्य ।
- ६. सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) विषय-वस्तु-गत प्रवृत्तियाँ, (ख) भाव-गत प्रवृत्तियाँ, (ग) शैली-गत प्रवृत्तियाँ।
- ७. उपसंहार।

हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल (१३७५—१७०० वि०) में एक काव्य-धारा-विशेष का प्रवर्तन हुआ, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने 'निर्गुण-भक्ति-साहित्य' तथा डा० रामकुमार वर्मा ने 'संत-काव्य-परम्परा' का नाम दिया है। 'ज्ञानाश्रयी' शब्द से यह श्रान्ति उत्पन्न होती है कि इस धारा के किवयों ने 'ज्ञान-तत्त्व' को सर्वाधिक महत्त्व दिया होगा, जविक वास्तव में 'प्रेम के आढ़ाई अक्षरों' के सम्मुख इन्होंने संसार के सारे ज्ञान को तुच्छ बताया है। भक्ति का आलम्बन सगुण ईश्वर ही उपयुक्त है, अतः 'निर्गुण भक्ति नाम भी अपने आपमें एक असंगित है। वस्तुतः इस काव्य-धारा के किवयों का एक विशेष दृष्टिकोण है, जो 'संत' शब्द द्वारा भली प्रकार व्यंजित होता है। अतः इस धारा को 'संत-काव्य' की संज्ञा देना प्रथम दो नामों की अपेक्षा अधिक उचित है।

'संत' शब्द की व्याख्या भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न ढंग से की है। श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इसकी व्युत्पत्ति 'शांत' शब्द से मानते हुए इसका ग्रथं निवृत्ति-मार्गी या वैरागी लिया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है—'संत' शब्द उस व्यक्ति की ग्रोर संकेत करता है जिसने 'सत्' रूपी परमतत्त्व का श्रनुभव कर लिया हो ग्रीर जो इस प्रकार ग्रपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, जो सत्य स्वरूप, नित्य-सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो ग्रथवा ग्रपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप श्रखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही सन्त है।" (उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' पृ० ४) यह व्याख्या जितनी लम्बी है, उतनी ही ग्रव्यावहारिक भी है। दूसमें सन्त का ग्रादर्श इतना अधिका खालना है कि त्याक्षित कि विवाह से से ग्रनेक इस

तक नहीं पहुँच पाएँगे। ग्राचार्य विनयमोहन ने व्यावहारिक दृष्टि से इसका ग्रर्थ ''जो ग्रात्मोन्नति-सिहत परमात्मा के मिलन-भाव को साघ्य मानकर लोक-मंडल की कामना करता है' किया है। (हिन्दी को मराठी सन्तों की देन, पृ० ५६) हमारे विचार से श्री-मन्त की तरह 'सत्' ग़ब्द के बहुवचन 'सन्तः' से विकृत होकर 'सन्त' बना है, ग्रतः व्यापक ग्रर्थ में किसी भी ईश्वरोन्मुखी सज्जन पुरुष को 'सन्त' कह सकते हैं। तुलसी-दासजी ने भी इसका इसो व्यापक ग्रर्थ में प्रयोग करते हुए लिखा है—'सन्त-समागम हिर भजन, तुलसी दुर्लभ दोय'। संकुचित ग्रर्थ में केवल निर्गुणोपासकों को ही इस विशेषण से युक्त किया जाता है, जबिक सगुणोपासकों को 'भक्त' की संज्ञा दी गई है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में 'सन्त-काव्य' से कबीर, दादू, सुन्दरदास ग्रादि के काव्य का ही ग्रर्थ ग्रहण किया जाता है, जबिक तुलसी, सूर, ग्रादि के साहित्य को 'भक्ति-काव्य' कहा जाता है।

उद्गम-स्रोत

हमारे दृष्टिकोण से सन्त-काव्य-धारा के विकास में योग देनेवाले मुख्यतः ये पाँच स्रोत हैं—(१) ग्रपभ्रंश के सिद्ध ग्रौर जैन मुनियों का साहित्य, (२) नाथ-पन्थ, (३) वैष्णव भक्ति-ग्रान्दोलन, (४) महाराष्ट्रीय सन्त-सम्प्रदाय ग्रौर (५) इस्लाम का प्रचार । इनमें से प्रत्येक के प्रभाव की व्याख्या यहाँ ग्रलग-ग्रलग की जाती है।

- (१) अपभ्रंश साहित्य—ग्रपभ्रंश के सिद्ध जैन मुनियों के मुक्तक-काव्य का सन्त-काव्य पर गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। सिद्ध साहित्य की ग्रनेक प्रवृत्तियाँ सन्त-साहित्य में विकसित हुई हैं; जैसे—परम्परागत व्यवस्था एवं ग्रन्य सम्प्रदायों की बाह्य-पद्धितयों का खण्डन, स्वानुभूतियों की व्यंजना, मुक्तक पद-शैली रूपक, जलट-वासियों एवं प्रतीकों का प्रयोग एवं सामान्य लोकभाषा को ग्रपनाना ग्रादि। इसके ग्रितिक्त सन्त कि भी सिद्धों की भाँति ग्रिशिक्षित निम्न वर्ग से सम्बन्धित एवं पारि-वारिक एवं गार्हस्थ्य जीवन की ग्रवहेलना करनेवाले थे; इतना ग्रवश्य है कि सिद्धों ने ग्रपनी साधना-पद्धित में स्थूल-प्रृंगारिकता को स्थान दिया, जबिक सन्त किवयों ने उसका परिष्कार सूक्ष्म प्रणयानुभूतियों के रूप में कर लिया। जैन किवयों में से योगिन्दु, मुनि रामिसह, देवसेन ग्रादि के उपदेशपरक मुक्तक साहित्य की ग्रनेक विशेषताग्रों का प्रभाव हिन्दी के सन्त-साहित्य पर पाया जाता है। वस्तुतः साहित्यक विषयों, रस, शैली एवं विभिन्न प्रवृत्तियों की दृष्टि से सन्त-काव्य का सिद्धों एवं जैन मुनियों के साहित्य से गहरा सम्बन्ध है।
- (२) नाथ-पंथ का प्रभाव—नाथ-पंथ के प्रवर्त्तक कौन थे—इस विषय में विद्वानों में मत-भेद है, किन्तु साधारणतः गुरु गोरखनाथ को ही इसका श्रेय दिया जाता है। नाथ-पंथ की गुरु-परम्परा में गोरखनाथ से पूर्व ग्रादिनाथ ग्रौर मीननाथ का भी उल्लेख मिलता है। इस पंथ के ग्रनुयायी शिव की उपासना करते हैं तथा इनकी साधना-पद्धित में तन्त्र-मन्त्र एवं योग-साधना का बहुत ग्रधिक महत्त्व है। इसी से वे 'योगी' कहलाते हैं। तत्कालीन समाज पर नाथ-पंथी योगियों की ग्राश्चर्यजनक पद्धितयों एवं कहलाते हैं। तत्कालीन समाज पर नाथ-पंथी योगियों की ग्राश्चर्यजनक पद्धितयों एवं

चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का भारी प्रभाव पड़ा। इनके महत्त्व का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि हिन्दी के प्रायः सभी प्रेमाख्यानों के। नायकों के साधक रूप का चित्रण तथा उनकी साधना-पद्धित का निरूपण इसी पंथ के अनुसार किया गया है। देश के सभी भागों में इनका प्रभाव पाया जाता है।

नाथ-पंथी-योगियों के चमत्कारों का जनता पर ग्रत्यधिक प्रभाव होने के कारण ही परवर्ती सन्त-मत एवं भक्ति-सम्प्रदायों के प्रचार में वड़ी भारी बाधा उपस्थित हुई। अशिक्षित जनता ज्ञान और भक्ति की सीधी-सादी वातों को ग्रहण करने से पूर्व इनके प्रचार का चमत्कार देखना चाहती थी। उनकी दृष्टि में जो व्यक्ति ग्रधिक जटिल साधना, कठिन पद्धति या म्रलौिकक चमत्कार या प्रदर्शन कर सकता था, वह उतना ही वड़ा पहुँचा हुम्रा सन्त, भक्त या महात्मा माना जाता था। यही कारण है कि जहाँ सगुण-भक्ति के प्रचारकों ने स्पष्ट शब्दों में नाथ-पंथियों का विरोध किया-"गोरख जगायो जोग । भक्ति भगायो लोग" या "जोग ठगौरी ब्रज न विकेहै"—वहाँ सन्त-कवियों ने विरोध का एक ग्रप्रत्यक्ष ढंग ग्रपनाया । उन्होंने एक ग्रोर तो योग-साधना के पारिभाषिक शब्दों-पिंगला, सुधुम्णा, ब्रह्म-रन्ध्र, कुण्डलिनी ग्रादि की नये ढंग से व्याख्या की तथा दूसरी ग्रोर यौगिक समाधियों के स्थान पर सहज-प्रेम की तन्मयता का प्रतिपादन किया। अस्तु, उनकी शब्दावली में ऊपर से ऐसा ग्राभास होता है कि वे भी योग-मार्ग के समर्थक हैं, जबिक उसके भीतरी अर्थ में प्रवेश करने पर पता चलता है कि वे योग का नहीं, भक्ति का प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रकार जन-साधारण की श्रद्धा वे धीरे-धीरे ग्रप्रत्यक्ष रूप में नाथ-पंथ से संत मत की ग्रोर ग्राकिषत करने में सफल हो सके। ग्रतः स्पष्ट है कि कवीर ग्रादि सन्तों ने नाय-पंथियों के 'योग-तत्त्व' को ग्रहण नहीं किया, ग्रपितु उसका खण्डन किया; किन्तु कुछ विद्वान् इनकी शब्दावली को देखकर ही इन्हें नाथ-पंथियों के अनुयायी घोषित करते हैं, जो उचित नहीं। उदाहरण के लिए कबीर के निम्नांकित पदों को देखा जा सकता है-

अवघू, श्रच्छर है सो न्यारा।

बसै गगन में दुनी न देखें चेतिन चौकी बैठा। चिंद अकास श्रासण नींह छाँड़े पीवे महारस मीठा।

× × ×

संतो सहज समाधि भली। जब से दया भई सतगुर की, सुरति न अनत चली।

उपर्युक्त पदों में कवीर ने योग-साधना के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ऐसा उसके खण्डन के उद्देश्य से ही किया गया है।

(३) बैब्जब भिक्त-क्षान्दोलन—सन्तमत के उद्गम काल तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, रामानन्द ग्रादि श्राचार्यों द्वारा बैब्जव-भिक्त ग्रान्दोलन का प्रवर्त्तन हो चुका था। कवीर, रैदास, सेना, पीपा ग्रादि ग्रनेक प्रारम्भिक सन्तगुरु रामानन्द के ही शिष्य थे। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से सन्तमत एवं बैब्जव-भिक्त में पर्याप्त भेद है, किन्तु फिर भी इन्होंने बैब्जव भिक्त के श्रनेक तत्त्वों को ग्रहण किया है। एक तो ईश्वर के पर्यायवाची नाम के रूप में—राम, गोविन्द, हरि ग्रादि शब्दों का प्रयोग उन्होंने बैब्जव-भक्तों की भाँति ही श्रद्धापूर्वक किया है। ध्यान रहे ग्रल्लाह, खुदा ग्रादि शब्दों का प्रयोग वे उपदेश देते समय या हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन करते समय ही करते हैं। प्रेमानुभूति की तन्मयता के समय उनकी वाणी ऐसा नहीं करती। दूसरे, उनके प्रेम के स्वरूप में बैब्जव भिक्त-भावना से गहरा साम्य मिलता है। कुछ बिद्वान् इसे सूफी-मत की देन वताते हैं, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। सूफियों का प्रेम-तत्त्व समानता की भावना पर ग्राधारित है, जविक सन्तों ने भक्त-किवयों की भाँति ग्रपनी ग्रात्मा को परमात्मा की ग्रपेक्षा किचित् हीन स्वीकार किया है। जैसे—

कबीर कूता राम का मुितया मेरा नाउँ। गले राम की जेवड़ी, जित खेंचे तित जाउँ॥ जा कारणि में ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया ब्राइ। घन मैली पिव ऊजला, लागि न सकीं पाइ।।

सूफी मत में परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप में करते हैं, जबिक संत कियों ने भारतीय ग्रादर्श के ग्रनुसार ग्रपनी ग्रात्मा को पितवता नारी तथा परमात्मा को पित के रूप में स्वीकार किया है। इसके ग्रितिरक्त तत्कालीन वैष्णव मत के प्रति उन्होंने ग्रपनी गहरी श्रद्धा प्रकट की है, जबिक सूफी दरवेशों का उपहास किया है। प्रमाण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

(ग्र) वैष्णवों के प्रति श्रद्धा-

साखत बांभगा मत मिले, बैसनों भिले चंडाल । अंकमाल दे भेंटिये, मानो मिले गोपाल ।।

(कवीर ग्रन्थावली)

(ग्रा) सूफी दरवेशों की उपेक्षा— है कोई दिल परदेश तेरा। नासूत, मलकूत, जबरूत को छोड़ि कें, जाइ लाहूत पर करें डेरा।।

×

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज कावे जाइ! जिनका दिल स्याबित नहीं, तिनकीं कहां खुदाई!।

(कवीर का रहस्यवाद)

यहाँ यह घ्यान रहे कि संत-मत के उद्भवकाल में वैष्णव-भक्ति का स्वरूप अत्यन्त सरल, पित्र एवं स्वच्छ था, इसी से कवीर ने उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है; किन्तु आगे चलकर सभी धर्म-साधनाओं की भाँति वैष्णव भक्ति भी विकृत हो गई ध्रौर उसमें विधि-विधानों, भोग, ऐश्वर्य ग्रादि ग्रनेक कलुषित तत्त्वों का समावेश हो गया। हमारा प्रति-पाद्य यहाँ इतना ही है कि सन्त-कवियों का प्रेम तत्त्व वैष्णव-भक्ति-भावना से प्रेरित है; सूफी मतानुयायियों को प्रेम-पद्धति से उसका मेल नहीं होता।

(४) महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय-हिन्दी प्रदेश में सन्त-मत का प्रचार होने से पूर्व उसका विकास बहुत-कुछ महाराष्ट्र में हो चुका था। महाराष्ट्र में वारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में महानुभाव सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय श्रादि की स्थापना हुई, जिनकी विचारधारा, साधना-पद्धति ग्रौर ग्रमिन्यंजना-शैली में सन्त-कान्य से गहरा साम्य है। महानुभाव सम्प्रदाय की स्थापना श्री चक्रघर स्वामी (११६४-१२७४ ई०) ने की थी। उन्होंने एक ग्रोर तो कृष्ण-भक्ति का उपदेश देते हुए जीव, देवता, परमेश्वर ग्रादि को श्रनादि वताया, दूसरी श्रोर श्रद्धैतवाद के कुछ सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया। फिर उन्होंने मोक्ष के निमित्त ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया। चक्रधर की विचारधारा को उनके परवर्ती अनुयायियों — महदायिसा, दामोदर श्रादि ने श्रागे बढ़ाया । इसी सम्प्रदाय के साथ-साथ ही वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना सन्त ज्ञानेश्वर (११६७ ई०) द्वारा हुई। उन्होंने भी श्रद्वेत मत, सगुण रूप ग्रौर भक्ति भावना का समन्वय किया। ज्ञानेश्वर की ही परम्परा में निवृत्तिनाथ (११६७ ई०), मुक्ताबाई (१२०१ ई०), नामदेव (१२७२ ई०), एकनाथ (१४७० ई०), तुकाराम (१५७२ ई०) स्रादि सन्त हुए। इन महाराष्ट्रीय सन्तों की वाणी में विषय, भाव ग्रौर शैली की दृष्टि से हिन्दी सन्त-कवियों की रचनाओं से गहरा साम्य मिलता है। इतना ही नहीं, इनमें से अनेक सन्तों ने हिन्दी भाषा में भी काव्य-रचना की है। भगवान् के प्रति दृढ़ श्रनुराग, मिलनाकांक्षा, प्रणय-निवेदन, ग्रद्धैत दर्शन का प्रतिपादन, गुरु का महत्त्व, मूर्ति-पूजा व जाति-पाँति-भेद का विरोध, योग-साधना का खण्डन, हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन धादि बातें महा-

राष्ट्रीय ग्रौर हिन्दी सन्त-कवियों में समान रूप से मिलती हैं। यहाँ सन्त नामदेव की रचनाग्रों से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(ग्र) परमात्मा के प्रति प्रेम— मोहि लागत ताला बेली ! बछरे बिनु गाय अकेली । पानीआ बिनु मीन तलफे । ऐसे राम बिनु बायुरो नामा ॥

× × ×

में बडरी मेरा राम भरतार। रचि रचि ताकउँ करउँ सिगार।

(मा) ग्रहैत दर्शन-

सभु गोविन्दु है सभु गोविन्दु है, गोविन्दु बिनु नहीं कोई।
× × ×

जल तरंग प्ररु फेन बुदबुदा, जल ते भिन्न न कोई।

(इ) गुरु का महत्व-

×

जऊ गुरु देऊ न मिलै मुरारी। जऊ गुरुदेऊ न ऊतरै पारि।

(ई) मूर्तिपूजा व जाति-पाँति का विरोध—

एके पाथर कीजे पाँऊ। दूजे पाथर घरिए याँऊ।
जै इहु देऊ तऊ उहु भी देवा। कहि नामदेव हरि की सेवा।

कहा करउ जाती, कहा करउ पाती। राम को नामु जपउ दिन राती।

इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वान् सन्त कियों की ग्रनेक प्रवृत्तियों—िनर्गुणो-पासना, वर्ण-व्यवस्था व मूर्तिपूजा के विरोध ग्रादि—को इस्लाम का प्रभाव बताते हैं, किन्तु इनका विकास भारतीय साहित्य में इस्लाम के प्रचार से पूर्व हो चुका था। सिद्धों व गोरखपंथी योगियों ने हिन्दू धर्म की ग्रनेक बाह्य-पद्धितयों, वर्ण-व्यवस्था एवं मूर्तिपूजा का विरोध कठोर शब्दों में किया है। हाँ, सन्त कियों द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन ग्रवश्य तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरित है, उस युग में जबिक मुस्लिम शासक धर्म के नाम पर हिन्दू जनता पर ग्रत्याचार कर रहे थे, उन्होंने 'ग्रल्लाह ग्रौर राम' की एकता घोषित करके धार्मिक कट्टरता को कम करने का प्रयत्न किया। इन्होंने हिन्दू धर्म की बाह्य पद्धितयों का खण्डन करते समय इस्लाम के ग्रनुयायियों का सा उत्साह दिखाया, किन्तु फिर भी ये इस्लाम से बहुत दूर रहे। एक तो इन्होंने नमाज, रोजा ग्रादि की व्यर्थता सिद्ध की, दूसरे उन्होंने साधना के क्षेत्र में इस्लाम के तत्त्वों की उपेक्षा की । सन्त मत के खण्डनात्मक पक्ष में हो इस्लाम का ग्रस्तित्व है; उसका मंडनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म ग्रौर हिन्दू दर्शन के ही तत्त्वों से परिपूर्ण है । ईश्वर का गुणगान करते समय वे राम, गोविन्द, हिर का नाम लेते हैं, ग्रत्लाह या खुदा का नहीं, संसार की ग्रसारता को घोषित करते हुए ग्रद्धैतवाद ग्रौर माया की बात करते हैं, मृत्यु के पश्चात् मिलनेवाली बहिश्त ग्रौर ग्राखिरी कलाम की नहीं; ग्रौर विधि-निषेधों की चर्चा में वे हिन्दू-शास्त्रों का ग्राधार ग्रहण करते हैं कुरान का नहीं । केवल हिन्दू धर्म की रूढ़ियों का खण्डन करने के कारण ही सन्त-मत को उससे मिन्न नहीं कहा जा सकता; यदि ऐसा होता तो 'ग्रायं-समाज' को ग्राज हिन्दू धर्म से भिन्न माना जाता, क्योंकि उसके ग्रनुयायियों ने भी सन्तों की भाँति प्राचीन रूढ़ियों का खण्डन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सन्त-काव्य किसी विदेशी साहित्य या अभारतीय धर्म-साधनाओं के प्रभाव से विकसित साहित्य नहीं है, अपितु वह तत्कालीन भक्तिआन्दोलन से प्रभावित अपभ्रंश की काव्य-धारा विशेष का विकसित रूप है, जो महाराष्ट्र
में होता हुआ हिन्दी-प्रदेश में पहुँचा। सन्त-मत वस्तुतः भक्ति आन्दोलन की ही एक
शाखा है जिसका नेतृत्व उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों के द्वारा न होकर निम्न-वर्ग के
अशिक्षित वर्ग द्वारा हुआ। तात्त्विक दृष्टि से राम-कृष्ण के सगुण रूप की उपासना या
मूर्तिपूजा को छोड़कर उसमें तत्कालीन राम-भक्ति एवं कृष्ण-भक्ति के सिद्धान्तों से कोई
बड़ा भारी अन्तर नहीं मिलता। उस युग में वड़े-बड़े मन्दिर एवं उनमें स्थापित मूर्तियाँ
मुख्यतः उच्च वर्ग के अधिकार में थीं, निम्न वर्ग के लोगों की पहुँच वहाँ तक नहीं थी
अतः इस वर्ग से सम्बन्धित संतों का मूर्तिपूजा एवं मन्दिरों की उपेक्षा करना स्वाभाविक
ही था।

परम्परा का प्रवर्त्तन व विकास

सामान्यतः इस परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय कबीर को दिया जाता है, किन्तु उनसे पूर्व भी ग्रनेक संत हो चुके थे, जिन्होंने हिन्दी में रचना की । इनमें नामदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उनका जन्म सम्वत् १३२७ (सन् १२७०) कार्तिक शुक्ला एकादशी रिववार को महाराष्ट्र में हुग्रा था । इन्होंने ग्रपने ६० वर्ष के दीर्घ जीवन-काल में ग्रनेक लम्बी यात्राएँ करके उत्तरी भारत का भ्रमण किया ग्रीर ग्रपने सिद्धान्तों का प्रचार किया, जिसके स्मारक ग्रब भी राजस्थान ग्रीर पंजाब के ग्रनेक स्थानों पर उपलब्ध हैं । इनके विचारों का परिचय पीछे दिया जा चुका है, जिसमें इनका परवर्ती-सन्त कियों से गहरा साम्य सिद्ध होता है । कबीर, रैदास, रज्जब, दादू ग्रादि सन्तों ने भी नामदेव का नाम बड़ी श्रद्धा से लेते हुए उनकी गणना उच्चकोटि के सन्तों के रूप में की है । नामदेव की हिन्दी में रचित पदावली बड़ी संख्या में मिलती है । इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि हिन्दी-सन्त-काव्य-परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय कबीर की ग्रपेक्षा नामदेव को ग्रिधक है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

पन्द्रहवीं शताब्दी में महात्मा कबीर का ग्राविर्भाव हुगा, जिन्होंने ग्रपनी प्रखर प्रतिभा, सुदृढ़ व्यक्तित्व भ्रौर प्रौढ़ चिन्तन एवं कवि-सुलभ सहृदयता एवं मार्मिक व्यंजना शैली के वल पर संत-मत ग्रीर संत-काव्य का प्रचार शीघ्र ही सारे उत्तरी भारत में कर दिया । नामदेव के व्यक्तित्व से कोमलता अधिक होने के कारण वे अपने विरोधियों से संघर्ष ग्रौर वाग्-युद्ध में प्रवृत्त नहीं हुए, किन्तु कबीर ने काशी के पंडितों ग्रौर दूसरे विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा और अपनी युक्तियों से उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया । इस तरह संत-मत के मार्ग से बीच के कंकड़-पत्थरों, भाड़ियों एवं काँटों को दूर करके उसे साफ-सुथरा व प्रशस्त बनाने का कार्य कबीर के द्वारा हुया। उनके पश्चात तो संत-मत नये-नये पन्थों का रूप धारण करके निर्वाध रूप से आगे बढ़ता रहा । इन पन्थों में कवीर-पन्थ के अतिरिक्त रैदासी पन्थ, सिख पन्थ, दादू पन्थ (१७वीं शती), निरंजनी सम्प्रदाय (१७वीं शती), वावरी पन्थ (१७वी शती), मलूक पन्थ (१७-१८वीं शती), दरियादासी सम्प्रदाय (१८वीं शती), चरणदासी सम्प्रदाय (१८वीं शती), गरीवपन्थ (१८-१६वीं शती), पानप पन्थ (१८-१६वीं शती), रामस्नेही सम्प्रदाय (१८-१६वीं शती) स्रादि उल्लेखनीय हैं । यद्यपि प्रायः स्रनेक संतों द्वारा उन्नीसवीं शती तक अनेक नए-नए पन्थ स्थापित किए गए, किन्तु सिद्धान्त व विचारधारा की दृष्टि से इनमें विशेष मौलिकता नहीं मिलती--मूल-स्वरूप इन सबका एक ही है। इतना ग्रवश्य है कि घीरे-धीरे ये पन्थ भी ग्रपने मूल उद्देश्य से दूर हटकर रूढ़ियों, विधि-विधानों, पाखण्ड प्रदर्शन एवं माया-जाल की बुराइयों से ग्रस्त हो गए। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि संत-काव्य की परम्परा हिन्दी में १४वीं-१५वीं शती से ग्रारम्भ होकर बीसवीं शती तक ग्रखण्ड इप से चलती रही; ग्रतः इसे केवल भक्तिकाल की ही काव्य-धारा कहना उचित नहीं।

प्रमुख कवि श्रोर उनका काव्य

संत-किवयों में सबसे ग्रधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व महात्मा कबीर का ही था। उनके नाम पर हिन्दी में ६१ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, िकन्तु उसमें ग्रधिकांश ग्रप्रामाणिक हैं। प्रामाणिक समभी जानेवाली रचनाग्रों में डॉ॰ श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली', डॉ॰ रामकुमार वर्म द्वारा सम्पादित 'संत कबीर' ग्रीर कबीर-पिन्थयों के साम्प्रदायिक ग्रंथ—'बीजक'—का उल्लेख किया जा सकता है। कबीर-साहित्य को विषय-वस्तु की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जिसमें ग्रपने विचारों का प्रतिपादन किया गया है, (२) जिसमें विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों की रूढ़ियों का खण्डन किया गया है, ग्रीर (३) जिसमें किव ने वाद-विवाद ग्रीर खंडन-मंडन से ऊपर उठकर ग्रपनी ग्रलौकिक ग्रनुभूतियों का प्रकाशन भाव-पूर्ण शब्दों में किया है। उनके किवत्व का सर्वोत्कृष्ट रूप तीसरे वर्ग के काव्य में—जिसमें उन्होंने ग्रपने ग्रलौकिक प्रियतम के प्रेम की व्यंजना की है—मिलती है।

रामानन्द जी के शिष्यों में रैदास जी का भी उल्लेख किया जाता है, जो उच्च कोटि के संत-कवि थे। प्रसिद्ध भक्त कवियत्री मीरा ने भी श्रनेक पदों में इनका स्मरण गुरु के रूप में किया है। रैदास जी के कुछ पद गुरु-ग्रंथ साहव में संकलित हैं। इनके काव्य में व्यक्तित्व की कोमलता, अनुभूति की तरलता और अभिव्यक्ति की सरलता मिलती है। डॉ॰ हजारीप्रसाद के शब्दों में—"अनाडम्बर सहज शैली और निरीह आत्म-समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम संतों की तुलना की जा सकती है। यदि हार्दिक भावों की प्रेषणीयता काव्य का उत्तम गुण हो तो निस्संदेह रैदास के भजन इस गुण से समृद्ध हैं।"

कबीर के धनुयायी संत-किवयों में धर्मदास जी का नाम उल्लेखनीय है। ग्रपने गुरु की वाणी का संग्रह 'वीजक' के रूप में करने का श्रेय इन्हें ही दिया जाता है। इनके स्वरचित पदों का संग्रह भी 'धनी धरमदास की बानी' नाम से प्रकाशित हुग्रा है। इनके पद भक्ति-भावना से ग्रोत-प्रोत हैं। ग्राचार्य शुक्ल का मत है कि इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की ग्रपेक्षा ग्रधिक सरल भाव लिए हुए है, इसमें कठोरता ग्रौर कर्कशता नहीं है। इनकी ग्रन्थोक्तियों के व्यंजक चित्र ग्रधिक मार्मिक हैं, क्योंकि इन्होंने खण्डन-मण्डन से विशेष प्रयोजन न रख, प्रेमतत्त्व को लेकर ग्रपनी वाणी का प्रसार किया है।" कहीं-कहीं इनकी भाषा में पूर्वीपन भलकता है।

सिक्ख-धर्म के प्रवर्त्तक गुरु नानक का भी सन्त कियों में बहुत ऊँचा स्थान है। इनकी रचनाएँ 'गुरु ग्रन्थ साहव' में संकलित हैं, जिनमें निर्गुण ब्रह्म की उपासना संसार की क्षण-मंगुरता, माया की शक्ति, नाम जप की मिहमा, ग्रात्म-ज्ञान की ग्रावश्यकता, गुरु-क्रपा का महत्त्व, सात्त्विक कर्मों की प्रशंसा, ग्रादि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। कबीर की भाँति जीव-हिंसा, मूर्तिपूजा, बाह्माचारों ग्रादि का खण्डन ग्रापने भी निर्भीकतापूर्वक किया है। इनके भिक्त सम्बन्धी उद्गारों में हृदय की सच्ची ग्रनुभूति मिलती है।

सन्त-परम्परा के ग्रन्य महत्त्वपूर्ण किवयों—वादूदयाल, सुन्दरदास, रज्ज्वदास, यारी साहब, पलटू साहब, मलूकदास, प्राणनाथ ग्रादि तथा प्रसिद्ध कवियित्रयों—दयावाई व सहजोवाई—ने उत्कृष्ट कोटि की काव्य रचना की । दादूदयाल जाति के धुनिया
'थे तथा उन्होंने दादू पन्थ की स्थापना की । इनके काव्य में भी ईश्वर की व्यापकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, संसार की ग्रनित्यता, ग्रलीकिक प्रियतम से प्रेम ग्रौर विरह का चित्रण हुग्रा है। दादू की वाणी में यद्यपि कवीर का-सा उक्तियों का चमत्कार नहीं मिलता, किन्तु प्रेम-भाव का निरूपण उन्होंने ग्रधिक सरलता ग्रौर गम्भीर से किया है। खण्डन-मण्डन में इनकी रुचि कम थी। इनकी भाषा में राजस्थानी का पुट ग्रधिक है। इन्हों के शिष्य सुन्दरदास थे, जिन्होंने ५ वर्ष की ग्रवस्था में ही ग्रपने घर को त्यागकर इनसे वैराग्य की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ग्यारह वर्ष की ग्रवस्था में काशी जाकर इन्होंने प्राचीन साहित्य ग्रौर दर्शन का गम्भीर ग्रध्ययन किया। वस्तुतः सन्त-कवियों में ग्रध्ययन व विद्वता की दृष्टि से सुन्दरदास का स्थान सबसे ऊँचा है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'ज्ञान समुद्र' ग्रौर 'सुन्दर विलास' उल्लेखनीय हैं। दादू दयाल के दूसरे प्रसिद्ध शिष्य रज्ज्वदास जी ने भी लगभग पाँच हुजार छन्दों की रचना की, जो उनकी СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varantasi रचना की, जो उनकी

'वानी' में संगृहीत हैं। इन्होंने ईश्वर-विषयक प्रेम की व्यंजना श्रनुभूतिपूर्ण शब्दों में की है।

यारो साहब थ्रौर पलटू साहब का सम्बन्ध वावरी सम्प्रदाय से था। इन दोनों की किवता में भाषा की सरलता ग्रौर भावों की स्पष्टता परिलक्षित होती है। पलटू साहव ने ग्रनेक शैलियों—शब्द, साखी, कुंडिलयाँ, भूलना, ग्रिरेल्ल ग्रादि का प्रयोग किया है। ग्रपनी फक्कड़ता के लिए प्रसिद्ध सन्त किव मलूकदास ने भी ग्रनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना की, जिनमें ज्ञान बोध, रतन खान, भक्त बच्छावली, भक्त विख्दावली, पुरुष-विलास, गुरु-प्रताप, ग्रलख वानी ग्रादि उपलब्ध हैं। प्राणनाथ जी के द्वारा रचित ग्रन्थों में रामग्रन्थ, प्रकाशग्रन्थ, पटत्ररुतु, सागर-सिगार ग्रादि उल्लेखनीय हैं। सहजोबाई और दयाबाई—दोनों प्रसिद्ध सन्त चरणदासजी की शिष्याएँ थीं। सहजोबाई के उद्गार ''सहज प्रकाश'' में तथा दयाबाई की भावपूर्ण उक्तियाँ 'दयाबोध' ग्रौर विनय-मालिका' में संगृहीत हैं। इनके काव्य में नारी-सुलभ कोमलता, ग्रनुभूति की तरलता एवं ग्रभिव्यक्ति की सरलता दृष्टिगोचर होती है। इसके ग्रतिरक्त भी ग्रनेक सन्त-किव एवं कव-ियत्रियाँ हुई, जिनमें जगजीवनदास, दरियासाहव, शिवनारायण, तुलसी साहव, रामचरण दास, वावरी ग्रादि का नाम उल्लेखनीय है।

प्रवृत्तियाँ

सन्त-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों को तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) विषय-वस्तु सम्बन्धी, (२) भाव-पक्ष सम्बन्धी ग्रौर (३) शैली पक्ष से सम्ब-न्धित । यहाँ प्रत्येक वर्ग की प्रवृत्तियों का विवेचन ग्रलग-ग्रलग किया जाता है।

(१) विषय वस्तु—प्रायः सभी प्रमुख सन्त-कियों का ग्राविर्भाव समाज के निम्न-वर्ग में हुग्रा था तथा किवता करने का इनका प्रमुख उद्देश्य ग्रपने विचारों का प्रचार करना तथा ग्राघ्यात्मिक ग्रनुभूतियों का प्रकाशन करना था। ग्रतः इनके काव्य की विषय-वस्तु का सम्बन्ध भौतिक जगत् से न होकर सूक्ष्म ग्राघ्यात्मिक विचारों से है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि इनके काव्य में दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचारों का वर्णन हुग्रा है। सूक्ष्म विचारों की ग्राभव्यंजना के लिए प्रायः किव लोग किसी ऐति-हासिक पात्र, पौराणिक ग्राख्यान या सांसारिक जीवन की किसी प्रमुख घटना का ग्राश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु सन्त कियों ने ऐसा नहीं किया। विशुद्ध विचारों की ग्राभव्यक्ति के लिए पद्य की ग्रपेक्षा गद्य ग्रधिक उपयुक्त रहता है, परन्तु उन्होंने किवता का माध्यम ग्रपनाया इसके कई कारण हैं। एक तो वह युग हो गद्य का नहीं था, ग्रायुर्वेद तक के ग्रन्थ उस युग में पद्य में रचे गए थे; दूसरे सन्त मत से सम्बन्धित गुरु ग्रौर शिष्य—दोनों हो ग्राधिक्षत वर्ग के थे, ग्रतः उपदेशों को मौखिक रूप से स्मरण रखने के लिए उनका पद्यबद्ध होना ग्रावश्यक था ग्रौर तीसरे, वे ग्रपने विचारों को ग्रधिक रोचक एवं सरल शैली में ग्राभव्यक्त करना चाहते थे; ग्रतः इन सव कारणों से इन्होंने काव्य-रचना की।

सन्त कियों की विचारधारा निजी अनुभूतियों पर आधारित है; ग्रतः उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की सी तरलता मिलती है। उनके उपदेशों में विधि और निषेध दोनों पक्षों का समन्वय हुआ है। जहाँ उन्होंने निर्गुण ईश्वर, रामनाम की मिहमा, सत्संगित, भिक्त-भाव, परोपकार, दया, क्षमा आदि का समर्थन पूरे उत्साह से किया है, वहाँ मूर्तिपूजा, धर्म के नाम पर की जानेवाली हिंसा, तीर्थ-न्नत, रोजा, नमाज, हज्ज आदि विधि-विधानों, बाह्याडम्बरों, जाति-पाँति-भेद आदि का डटकर विरोध किया है। प्रायः इन्होंने अपने युग के वैष्णव-धर्म जैसे कुछ सम्प्रदायों को छोड़कर शेष सभी धर्म-सम्प्रदायों की कटु आलोचना को है। ऐसा करते समय इन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों की दार्शनिक उक्तियों एवं उनके पारिभाषिक शब्दों की भी पुनरावृत्ति की है। विशेषतः नाथ-पन्थी योगियों के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों की भी पुनरावृत्ति की है। विशेषतः सुषुम्णा, ब्रह्मरन्ध्न, समाधि आदि का प्रयोग इन्होंने वारम्बार करते हुए उनकी व्याख्या अपने ढंग से की है। स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन्होंने सभी धर्मों से प्रभाव ग्रहण किया है, किन्तु वैष्णव भक्ति-ग्रान्दोलन को छोड़कर शेष धर्म-सम्प्रदाय का प्रभाव न होकर उनकी प्रतिक्रिया ही इनमें अधिक मिलती है।

(२) भावपत्त—सन्त-किवयों में मुख्यतः ग्रलौिकक प्रेम-भाव की व्यंजना हुई है जिसे 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी गई है। कुछ विद्वानों ने इनके रहस्यवाद को सूफी मत से प्रभावित बताया है, किन्तु वास्तव में सूफी रहस्यवाद से इनके प्रणय-भाव में ग्रनेक सूक्ष्म भेद हैं, जिन पर 'पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। वैष्णव-भक्ति की भी ग्रनेक विशेषताएँ इनके प्रेम में मिलती हैं, किन्तु फिर भी इनका प्रणय सर्वत्र भक्ति की सीमा में ही श्राबद्ध नहीं रहता। भक्त की तृप्ति ग्रपने ग्राराध्य को दो हाथ की दूरी से देख लेने मात्र से ही हो जाती हैं; वह ग्रधिक से ग्रधिक उसके दर्शन चाहता है; संत किन्तु रहस्यवाद के लिये ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा की समानता का जो विचार ग्रपेक्षित है, वह सन्त किवयों में नहीं मिलता। उनका ग्रादर्श भारतीय पत्नी का है, जो ग्रपने ग्रापको पति की ग्रपेक्षा हीन मानते हुए भी उसके प्राणों से लिपट जाना चाहती है। ग्रस्तु, सीधे-सादे शब्दों में इनका प्रेम भक्ति ग्रौर रहस्यवाद के बीच की स्थित से सम्बन्ध रखता है, जिसे हम 'प्रणय' कहना ही ग्रधिक उचित समभते हैं।

इन्होंने ग्रपने ग्रलौकिक प्रेम की व्यंजना कुछ ऐसे लौकिक रूपकों एवं प्रतीकों के माध्यम से की है, जिनसे वह पाठक की: ग्रनुभूति का विषय वन जाता है। ग्रनुभूति की तरलता से युक्त होने के कारण वह श्रोता के हृदय को द्रवित करने में समर्थ है। प्रणयानुभूति के क्षेत्र में पहुँचकर वे ग्रपनी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को भूल जाते हैं। कबीर जैसा ग्रक्खड़ भी विरह-वेदना से त्रस्त होकर सौ-सौ ग्राँसू बहाने लगता है। बनारस के पंडितों को ललकारने वाला, ग्रपनी उक्तियों से उनके शास्त्र-ज्ञान को चकनाचूर कर देने वाला कबीर ग्रपने प्रियतम के प्रेम में बेसुध होकर ग्रपने ग्रापको ''राम का कुत्ता'' तक घोषित कर देता है। विरहानुभूतियों की ग्रभिव्यक्तियों में इन्हें पूरी सफलता मिली है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

(CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

- कवीर

कौन विधि पाइये रे, मीत हमारा सोई। पास पीय परदेस है रे, जब लग प्रगटइ नौंह। विन देखे दुःख पाइए रे, यह सालइ मन मौंह।। जब लग नैन देखिये रे, परगट मिलइ न आइ। एक सेज संग रहइ रे, यह दुख सहा न जाइ।। × × × कहा करहूँ कइसे मिलहि रे, तलफइ मेरा जीवन। वादू आतुर विरहिनी रे, कारन आपने पीव।।

—दादू दयाल

तीव्र-विरह-वेदना की ग्रनुभूतियों के ग्रनन्तर इन कियों के भावुक जीवन में मिलन की घड़ियों का भी ग्रागमन होता है। वे ग्रपना सारा पौरुष, सारा गर्व एवं सारी ग्रन्थ को भूलकर किसी नवीना किशोरी के हृदय की भाँति कोमलता से गद्गद, लाज से विभोर ग्रौर प्यार से विह्वल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की ग्रोर ग्रग्यसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ वल खाने लगते हैं, हृदय में तरह-तरह की शंकाग्रों का ग्रान्दो-लन उठने लगता है—

मन परतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग। क्या जाणें उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग।।

—कवीर

भीर भ्रन्त में मधुर मिलन के वे क्षण भी आते हैं, जबिक उसकी सारी शंकाएँ, सारी लज्जाएँ और समस्त तर्क-वितर्क रस के प्रवाह में वह जाते हैं—

जोग-जुगत रो रंग-महल में, पिय पाये अनमोल रे। कहत कबीर श्रानन्व भयो है, बाजत श्रनहव ढोल रे।।

इस प्रकार इनके काव्य में प्रणय की दोनों ग्रवस्थाग्रों—विरह ग्रौर संयोग— का चित्रण ग्रनुभूतिपूर्ण शब्दों में हुग्रा है। उपदेशपरक उक्तियों में शान्त-रस की भी व्यंजना हुई है!

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. (३) शैली एवं भाषा—इनके काव्य में मुख्यतः गेय-मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है। गीति-काव्य के पाँचों प्रमुख तत्व—(१) भावात्मकता, (२) वैयक्तिकता, (३) संगीतात्मकता, (४) सूक्ष्मता श्रीर (५) भाषा की कोमलता—इनके काव्य में मिलते हैं, किन्तु कहीं-कहीं उपदेशपरक पदों में भावात्मकता का स्थान वौद्धिकता ने ग्रहण कर लिया है। इसके ग्रतिरिक्त उन्होंने साखी, दोहा, चौपाई की शैली का भी प्रयोग किया है। रीतिकाल के संत कवियों ने कित्त, सवैयों एवं कुण्डलियों में भी काव्य-रचना की है।

अपनी अभिव्यक्ति का माघ्यम इन्होंने लोक-प्रचलित भाषा को ही बनाया। इसका कारण केवल संस्कृत को कूप-जल एवं भाषा को बहता नीर समभना ही नहीं, अपितु स्वयं उनका तथा उनके शिष्यों की अशिक्षा के कारण और किसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने की असमर्थता भी थी। प्रदेश-भेद के अनुसार विभिन्न कियों ने प्रारम्भिक खड़ी बोली, राजस्थानी, पूर्वी, पंजाबी प्रभावित बज एवं विशुद्ध बजभाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि जानबूभकर अपनी भाषा को आलंकारिकता से लादने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया, किन्तु अनुभूति की तीव्रता के कारण इनकी अभिव्यक्ति में अलंकार, रीति एवं व्विन से सम्बन्धित विभिन्न तत्वों का समावेश स्वतः ही हो गया है। आचार्य हजारीप्रसाद जी ने कबीर की भाषा के सम्बन्ध में जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, उसे हम सभी प्रमुख संत कियों पर लागू करते हुए कह सकते हैं कि भाषा इनके सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें इतना सामर्थ्य नहीं कि वह इन अक्खड़ साधुओं की कोई बात मानने ने इन्कार कर दे। अतः उन्होंने जैसा कहलाना चाहा, वैसा ही इनकीं भाषा ने पूरी शक्ति के साथ कह दिया है।

उपसंहार

प्रन्त में हम कह सकते हैं कि सन्त-काव्य में भ्रानेक न्यूनताएँ होते हुए भी वह हिन्दी साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है। जिस युग में इन्होंने काव्य-रचना की, वह भारत के लिए श्रज्ञान, श्रशिक्षा श्रीर श्रनैतिकता का घोर श्रन्धकारमय युग था; श्रीर ये किव उस युग की जनता के निम्नतम स्तर से सम्बन्ध रखते थे, फिर भी उन्होंने ज्ञान की जो ज्योति जलाई वह श्रद्भुत है, श्रपूर्व है! सुसंस्कृत युग श्रीर सुशिक्षित समाज के सुपठित किवयों द्वारा उच्चकोटि की रचनाश्रों का प्रणीत होना विशेष महत्व की बात नहीं, श्रपने पतन की चरम श्रवस्था में भी पतित, दिलत एवं जर्जरित भारत का ऐसे महान् प्रतिभाशाली, गम्भीर चिन्तक एवं स्पष्टवक्ता किवयों को जन्म दे देना एक ऐसा श्राश्चर्य है जिसका दूसरा उदाहरण विश्व-इतिहास में शायद ही कहीं मिले। मुगल-कालीन भारत में जविक उच्च-वर्ग की जनता श्रपने शासकों का श्रनुकरण करती हुई विलासिता के रंग में डूबी हुई थी, मन्दिर, तीर्थ श्रीर धर्म-स्थान व्यभिचार के केन्द्र वन रहे थे, श्रीर विभिन्न सामाजिक पर्वों पर मनोरंजन के पिवत्र एवं शुभकृत्यों के श्रायोजन के स्थान पर सुरा श्रीर कुक्तरी के श्रायोजन के स्थान पर सुरा श्रीर कुक्तरी के श्रायोजन के स्थान पर सुरा श्रीर हिन्दित में निम्न वर्ग

के ग्रशिक्षित जन-समुदाय का ग्रनैतिकता, ग्रनाचार ग्रौर ग्रधःपतन की चरम सीमा तक पहुँचकर मिटयामेट हो जाना स्वाभाविक था, किन्तु सन्त-मत के विभिन्न उन्नायकों ने उन्हें एक ऐसा नेतृत्व प्रदान किया जिससे राष्ट्र का यह बहुसंख्यक वर्ग विनाश से बच सका।

साहित्यिक दृष्टि से भी सन्त-किवयों की देन का कम महत्त्व नहीं है। ग्रपनी ग्रनुभूतियों को सहज-स्वाभाविक भाषा में ग्रभिव्यक्त करके उन्होंने काव्य के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया। ग्राधुनिक किवयों एवं लेखकों की भाँति उन्होंने ग्रपने साहित्य में ग्रपिपक्व विचारों, ग्रस्पष्ट जीवन-दर्शन ग्रौर ग्रधकचरे मनोविज्ञान का मिश्रण नहीं किया, ग्रपितु मस्तिष्क के शुष्क विचारों को हृदय की ग्रनुभूति में ग्रवगाहित करके व्यक्तिया। सच्चे किव की वाणी में ग्रभिव्यक्ति के साधन स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाते हैं, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण इन किवयों का साहित्य है। "भाषा कैसी ही हो, भाव चाहिए मित्त" की उक्ति सन्त-काव्य पर पूर्णतः चरितार्थ होती है।

: पचीस :

प्रेमाख्यानक काव्य-परंपराः प्रेरणा व उद्गम-स्रोत

- १. नामकरण व लक्षण।
- २. विश्व में रोमांस साहित्य का उद्भव व विकास ।
- ३. भारत में प्रेमाख्यान-काव्य की परम्परा।
- ४. हिन्दी में प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा का प्रवर्त्तन ।
- ५. उपसंहार।

हिन्दी में 'प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा' को ग्रव तक विभिन्न नामों से पकारा जाता रहा हैं, यथा- 'प्रेम मार्गी (सूफी) शाखा', 'प्रेम-काव्य', 'प्रेम-गाथा', 'प्रेम कथानक काव्य', 'प्रेमास्यानक', 'प्रेमास्यान' भ्रादि । यह ग्राश्चर्य की वात है कि हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने इन विभिन्न नामों का प्रयोग करते समय इनके ग्रर्थ का स्पष्टीकरण करने का प्रयास नहीं किया। ऐसी स्थिति में किसी भी ऐसे काव्य को, जिसमें प्रेम का चित्रण किया गया हो, इस परम्परा में स्थान दिया जा सकता है, जबिक वस्तुतः ऐसा करना ठीक नहीं। प्रेम एक ऐसी व्यापक भावना है कि उसका ग्रस्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी या ग्रधिकांश रचनाग्रों में होता है, किन्तु उन सभी को इस परम्परा में स्थान नहीं दिया जाता । इसका सम्बन्ध केवल एक विशेष प्रकार के प्रेम, साहसिक प्रेम या स्वच्छन्द प्रेम से है, जिसे अंग्रेजी में 'रोमांस' (Romance) कहा गया है। वस्तुत: इस काव्य-परम्परा का सम्बन्ध एक भ्रोर तो विश्व में व्याप्त रोमांस-काव्य की परम्परा से है तथा दूसरी भ्रोर भारत की प्राचीन कथा-काव्य-परम्परा से है, इन दोनों तथ्यों का स्पष्टीकरण ग्रागे विस्तार से किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपर्युक्त दोनों परम्पराग्रों के सम्बन्ध को सूचित करनेवाले क्रमशः दो शब्दों—'रोमांसिक' एवं 'कथा-काव्य' को ग्रहण करते हुए हम इस परम्परा को 'रोमांसिक कथा-काव्य-परम्परा' के नाम से पुकारना भ्रघिक उचित समभते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस परम्परा के कवियों ने भी प्रायः ग्रपनी रचना के लिए 'कथा-काव्य' संज्ञा का प्रयोग किया है।

रोमांस व कथा-काव्य के लक्षण—'रोमांस' शाब्दिक दृष्टि से तो फांस की प्राचीन भाषा का नाम है, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में इसका तात्पर्य एक विशेष प्रकार की रचनाओं से लिया जाता है। इन रचनाओं में साहस, प्रेम, सौन्दर्य, कल्पना एवं अलौकिक तत्त्वों की प्रमुखता रहती है। इसमें भी मुख्यतः प्रेम का चित्रण होता है, किन्तु वह प्रेम एक विशेष प्रकार का होता है—उसमें साहस, शौर्य्य एवं संघर्ष का मिश्रण रहता है। दूसरे शब्दों में इसी को साहसिक या रोमांटिक प्रेमण किश्रण जिल्ला है। प्रिमांटिक प्रेमण किश्रण क

रोमांस के वताए हैं, लगभग वे ही संस्कृत के आचार्यों ने साहित्य के एक विशेष रूप—'कथा' के वताए हैं। आचार्य भामह एवं दंडी के अनुसार इसमें कन्या के अपहरण, युद्ध, विरह एवं प्रेम की प्रमुखता होती हैं। वस्तुतः ये लक्षण क्रमशः साहस, संघर्ष, शौर्य्य एवं प्रेम आदि तत्त्वों के ही सूचक हैं। अन्य कथा-प्रवृत्तियों एवं शैली सम्बन्धी विशेषताओं की दृष्टि से भी रोमांस और कथा-काव्य में गहरा साम्य है, इसीलिए पाश्चात्य इति-हासकारों ने भारतीय कथा-काव्यों को 'रोमांस की ही संज्ञा दी हैं; किन्तु हिन्दी में 'कथा' शब्द का प्रयोग सामान्य कहानियों एवं उपन्यासों के अर्थ में रूढ़ हो गया है, अतः इन काव्यों की विशिष्टता को सूचित करने के लिए 'कथा' के पूर्व 'रोमांसिक' विशेषण का प्रयोग अपेक्षित है। साथ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में कथा-साहित्य गद्य में ही लिखा जाता था, जबिक आगे चलकर पद्य में लिखा जाने लगा, किन्तु इससे इसके मूल रूप में विशेष अन्तर नहीं आया। रुद्धट ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि यह (कथा) संस्कृत में गद्य में तथा अन्य भाषाओं (प्राकृत, अपभ्रंश आदि) में पद्य में लिखी जाती है। यह वात रोमांस पर भी लागू होती है। रोमांस प्रारम्भ में गद्य में लिखी जाती है। यह वात रोमांस पर भी लागू होती है। रोमांस प्रारम्भ में गद्य में लिखी जाते थे, जब कि १२वीं-१३वीं शती में वे छंदोबद्ध होने लग गए। हिन्दी में भी ये काव्य पद्य में ही लिखे गए हैं।

विश्व-साहित्य में रोमांस (प्रेसाख्यानक काक्य) का उद्भव एवं विकास—
पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार रोमांस के मूल तत्व प्राचीन ग्रीक एवं लैटिन साहित्य में
विद्यमान थे। ग्रागे चलकर इन्हीं तत्वों के ग्राधार पर प्राचीन फ्रेंच, जर्मन एवं इंगलिश
में रोमांस काव्यों की एक ऐसी घारा का प्रवर्त्तन हुग्रा, जो यूरोप की ग्रधिकांश भाषाओं
के साहित्य में फैल गई। वस्तुतः यह एक ऐसी व्यापक काव्य-घारा है, जो मध्यकाल के
समस्त यूरोपीय साहित्य पर छायी हुई है। इतना ही नहीं, विश्व के ग्रन्य भागों पर
वृष्टि डालें तो वहाँ भी इसकी कई शाखाएँ फैली हुई दृष्टिगोचर होंगी। यूरोप की ही
भाँति एशिया में भी—भारत से लेकर ईरान तक इसका प्रचार एवं प्रसार दृष्टिगोचर
होता है। इस दृष्टि से यह विश्व-साहित्य की सबसे ग्रधिक प्रवल एवं व्यापक काव्य-धारा
प्रतीत होती है।

यहाँ एक प्रश्न है—विश्व के विभिन्न भागों में फैली हुई रोमांस काव्य की ये घाराएँ क्या परस्पर सम्बद्ध हैं या इनका विकास स्वतन्त्र रूप से ग्रलग-ग्रलग हुग्ना है ? इस प्रश्न पर ग्रनेक विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक विचार करने के ग्रनन्तर जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, उनसे यह पता चलता है कि यह घारा सबसे पहले भारत में कथा-साहित्य के रूप में प्रस्फुटित हुई, तदनन्तर विभिन्न स्रोतों से यह ग्ररब, फ़ारस, यूनान, रोम एवं स्पेन में होती हुई पश्चिमी एशिया एवं सारे यूरोप में फैल गयी। हिन्दी के उन पाठकों को, जो ग्रब तक इस परम्परा को फारसी मसनवियों या विदेशी सूफियों की देन मानने की भ्रांति से ग्रस्त हैं, यह बात बड़ी विचित्र लग सकती है। उन्हें शायद यह पता ही नहीं है कि जिस घारा को ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके चरण-चिह्नों पर चलनेवाले परवर्ती ग्राचार्य विदेशी मानते हैं, उसी को रीक (Reich), बेनफी (Benfy), कीलर (Keller),

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हर्टेल (Hertel) जैसे यूरोपियन विद्वान् तथा 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ग्राफ इंगलिश लिट्रेचर' व 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के कितपय लेखक विश्व को भारत की देन मानते हैं। यह घारा किस प्रकार भारत में पनपकर एक ग्रोर ग्ररव-फारस व ईरान के ग्राख्यानों के रूप में तथा दूसरी ग्रोर ग्रीक, लैटिन, फेंच, जर्मन, इंगलिश ग्रादि के रोमांसों के रूप में विकसित हुई, इसकी विस्तृत चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ हम केवल उन तथ्यों एवं प्रमाणों का संकेत मात्र कर देना चाहते हैं, जिनके ग्राधार पर उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया गया है—

(क) रोमांस काव्यों की एक शाखा यूनान और रोम से होती हुई यूरोप के शेष भागों में प्रसारित हुई । यूनान की यह शाखा (सम्भवतः सिकन्दर के श्राक्रमण के समय) भारत से प्राप्त हुई थी। भारत का कथा-साहित्य यूनान में पहुँचा है—इस तथ्य को भ्रनेक यूरोपियन विद्वानों ने भ्रपनी श्राध के भ्राधार पर प्रमाणित किया है, जिनमें रीक, वेजनर, बेनफी, कीलर, हर्टेल ग्रादि का नाम उल्लेखनीय है। रीक (Reich) महोदय ने भारतीय ग्रीर यूनानी भ्राख्यानों का तुलनात्मक भ्रष्ययन प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया कि भारतीय कथा-साहित्य की भ्रनेक प्रवृत्तियाँ यूनानी भ्राख्यानों में विद्य-मान हैं; जैसे—(१) प्रथम दर्शनजन्य प्रेमोत्पत्ति, (२) स्वप्न में प्रिय-दर्शन, (३) ग्रलौकिक रूप में भाग्य-परिवर्तन, (४) साहसिक यात्राएँ, (५) समुद्र में जहाज का टूटना, (६) नायक-नायिकाओं के सौन्दर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, (७) प्रकृति का विस्तृत रूप में चित्रण भ्रादि । इसी प्रकार वेजनर (Wagener) ने इस विषय पर शोध करते हुए यनानी माख्यानों पर भारतीय कथा-साहित्य का गहरा प्रभाव सिद्ध किया है। बेनफी ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि ग्राश्चर्यपूर्ण कहानियों का उद्गम-स्रोत भारत है। कीलर (Keller) महोदय ने ईसा से दो-तीन शताब्दी पूर्व की भारतीय चित्र-कला एवं मितयों तथा जातक कथाय्रों के ग्राधार पर यह प्रमाणित किया है कि कथा-साहित्य का यनान से पूर्व भारत में भ्राविर्भाव हो गया था, भ्रतः यूनान पर ही भारत का ऋण होना सम्भव है। कुछ विद्वानों ने इसके विपरीत भारत के कथा-साहित्य को यूनान की देन सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली है। हर्टेल (Hertel) ने विरोधियों के मत का खण्डन करते हुए प्रमाणित किया है कि ग्रीक के भ्रनेक सर्वोत्कृष्ट ग्राख्यान मुलतः भारतीय हैं।

यद्यपि कीथ जैसे विद्वानों ने यूनानी श्राख्यानों पर भारत का ऋण स्वीकार करने में संकोच करते हुए यह युक्ति दी है कि शायद यूनान और भारत दोनों ही ने किसी तीसरे स्रोत से यह साहित्य प्राप्त किया हो, या यह भी सम्भव है कि दोनों का विकास स्वतन्त्र रूप में हुआ हो; किन्तु ये युक्तियाँ अन्य प्रमाणों को देखते हुए महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होतीं।

(ख) भारतीय कथा-साहित्य के यूनान में पहुँचने के धौर भी कई महत्त्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। एथेन्स नामक एक प्राचीन यूनानी-किव द्वारा ग्रीक में रचित— 'Zariadress and Odates' नामक ग्राख्यान प्राप्त हुग्रा है। वेबर महोदय ने 'वासव-द्वत्ता' की भूमिका में इसे उद्धृत करते हुए प्रतिपादित किया है कि इसका कथानक

वासवदत्ता से विल्कुल मिलता-जुलता है, ग्रतः 'वासवदत्ता' का ग्राघार यह ग्रीक काव्य है किन्तु इसके किव ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उसे यह ग्राख्यान सिकन्दर महान् के एक कर्मचारी 'Mytiline' (जो सम्भवतः भारत की यात्रा करके लौटा था) ने सुनाया था। ऐसी स्थिति में इस पर 'वासवदत्ता' का प्रभाव मानना चाहिए या 'वासवदत्ता' पर इसका ? जिस 'वासवदत्ता' काव्य की बात वेबर साहब कर रहे हैं, वह वहुत बाद का है, किन्तु इसकी मूल कहानी, जो कि उदयन ग्रौर वासवदत्ता के ऐतिहासिक वृत्त से सम्यन्धित है, सिकन्दर के ग्रागमन से भी पहले की है, ग्रतः इससे यही प्रमाणित होता है कि यह कहानी भारत से ही यूनान में पहुँची होगी, न कि इसके विपरीत हुग्रा होगा।

इसके अतिरिक्त ग्रीक में Syntipas नाम का एक प्राचीन आख्यान मिलता है जिसमें 'अनेक स्थल ऐसे हैं, जिन्हें सफलतापूर्वक तभी समभा जा सकता है, जब यह मान लिया जाय कि वे केवल किसी संस्कृत मूल के विगड़े हुए रूप हैं', इससे यह प्रमाणित होता है कि यह आख्यान भी मूलतः किसी संस्कृत रचना पर आधारित हैं। ग्रस्तु, इन तथ्यों से भारतीय कथा-साहित्य के यूनान में पहुँचने की ही वात प्रमाणित होती है।

- (ग) भारतीय कथा-साहित्य के यूरोप में प्रसारित होने के एक म्रकाट्य प्रमाण के रूप में पंच-तंत्र के विभिन्न म्रनुवादों को प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसा कि इतिहासकारों ने प्रमाणित किया है, पाँचवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक एशिया और यूरोप की वीसों भाषाम्रों में इसके म्रनुवाद हो गये थे, जो इस प्रकार हैं—पहलवी भाषा में Burzoe द्वारा (५-६वीं शती), सीरिया की भाषा में (५७० ई०), ग्ररवी में (७५० ई०), ग्रीक में (११वीं शती), हिब्रू (११वीं शती), इटैलियन, लैटिन एवं जर्मन में (१५-१६वीं शती), डैनिश, ग्राइसलैण्डी, डच ग्रीर स्पेनिश भाषाम्रों में (१५वीं शती), ग्रंग्रेजी में (१५७० ई०)। इसी प्रकार शुक सप्तति, वैताल-पचीसी ग्रादि के म्रनुवाद यूरोप की विभिन्न भाषाम्रों में हुए हैं।
- (घ) यूरोप में रोमांस-काव्य के ध्रम्युत्थान में योग देने वाले ग्राघारभूत ग्रन्थों के रूप में 'ग्ररेवियन-नाइट्स', 'जोसफ एण्ड वरलाम', 'सिंदवाद की कहानी' ग्रादि को स्वीकार किया गया है। डा० ए० वी० कीथ ने ग्ररेवियन नाइट्स का उद्गम-स्रोत एक जैन गाथा 'कनक मंजरी' को सिद्ध किया है। यह कहानी ग्ररव-फारस से होती हुई यूरोप में पहुँची। 'जोसफ एण्ड वरलाम' की गाथा भी ग्रसंदिग्ध रूप से गौतम बुद्ध की ही जीवन-गाथा मानी जाती है। इसी प्रकार सिंदवाद की कहानी भी मूलतः भारतीय है। ग्ररवी इतिहासकार मसूदी (मृत्यु ६५६ ई०) ने इसे भारतीय कथा माना है। इस प्रकार पाश्चात्य रोमांस काव्य के ग्राघारभूत ग्रन्थ भारतीय सिद्ध हो जाते हैं।
- (ङ) इसी प्रकार तेरहवीं-चौदहवीं शती के भ्रानेक पाश्चात्य रोमांस-काव्य जैसे Gest a Romnorum (१३०० ई०) Perceforest, The Wright's chaste wife, Constant du Hamel, Isabeau म्रादि रोमांचक कथाएँ भी बृहत्कथा की कहानियों पर भ्राधारित हैं।

 CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

- (च) पाश्चात्य रोमांस काव्य में उपलब्ध ग्रनेक कथानक-रूढ़ियाँ, धार्मिक विश्वास एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ भी मूलतः भारतीय सिद्ध हुई हैं। उदाहरण के लिए स्वयंवर की प्रया, प्रेमी-प्रेमिकाओं के पुनर्जन्म में मिलने का विश्वास, सतीत्व की परीक्षा ग्रादि तत्त्व भारतीय हैं।
- (छ) पाश्चात्य रोमांस के विकास में भारतीय-कथाओं के योगदान को स्वीकार करते हुए 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ग्राफ इंगलिश लिट्रेचर', भाग १, में श्री डवल्यू० पी० केर ने स्पष्ट रूप में लिखा—'The far-east began very early to tell upon western imaginations, not only through the marvels of Alexander in India, but in many and various separate stories. One of the best of these and one of the first, as it happens, in the list of English romances, is 'Flores and Blanche flour'....'Barlaam and Josaphat' is the story of the Buddha, and 'Robert of Sicily', 'the proud King' has been traced to a similar Origin.'

इसी प्रकार 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' (भाग १६) में भी रोमांस के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए पूर्व (भारत) के कथा-साहित्य को उद्गम-स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है—''That such matter was abundant in the literature and folk-lore of the east.... Certain fragments of eastern stories making their way first it may be, through Spain by pilgrimges, laterly by the crusaders."

(ज) भारतीय कथा-साहित्य के ईरान में होते हुए यूरोप में पहुँचने का एक अन्य प्रमाण यह है कि वादशाह बहराम गौर (४२०-४३८ ई०) ने भारत से दस हजार (?) गवैये ऐसे बुलवाये थे, जो कि सारंगी पर प्रेम-कथाएँ सुनाकर मुग्ध कर लेते थे। इन गवैयों के ही वंशज आगे चलकर एशिया और यूरोप के अनेक भागों में फैल गये तथा इन्हें 'जिप्सी' कहा जाता है। इन जिप्सियों के द्वारा भी भारतीय कथाएँ पश्चिमी एशिया एवं यूरोप में फैलीं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इन जिप्सियों के द्वारा आयातित कथाओं को भी रोमांस के उद्गम-स्रोतों के रूप में स्वीकार किया है।

१. हिन्दी श्रनुवाद—'पाश्चात्य कल्पनाग्रों (कथाग्रों) पर सुदूर पूर्व का प्रभाव बहुत पहले से पड़ने लग गया था। केवल सिक दर के द्वारा (प्राप्त) भारतीय चमत्कारों के माध्यम से ही नहीं, उसके भी श्रतिरिक्त विभिन्न स्वतन्त्र कथाग्रों के रूप में, जैसे ग्रंग्रेजी रोमांसों में सर्वप्रथम कृति "Flores and Blanche flour......है। Barlaam and Josaphat की कथा भी बुद्ध की कथा है तथा 'राबर्ट आफ सिसली', 'दी प्राउड किंग', आदि का भी मूलोद्भव वहीं (भारत में) ढूँढ़ा गया है।'

२. हिन्दी ग्रनुवाद—'इस प्रकार की सामग्री पूर्व के साहित्य एवं लीक-कथाग्रों में बहुत ग्रधिक विद्यमान थी।...इन पूर्वी कहानियों के कुछ ग्रंश पहले स्पेन के तीर्थ-यात्रियों द्वारा तथा बाद-सें श्रासम्माशकारियों द्वारा शहुँचते कहे।'

उपर्युक्त तथ्यों, प्रमाणों एवं स्वीकृतियों को देखते हुए इसमें सन्देह नहीं कि विश्व के कथा-साहित्य विशेषतः रोमांचक कथा-साहित्य का उद्भव-स्रोत भारतीय साहित्य ही है। किन्तु जैसा कि इतिहासकारों ने स्पष्ट किया है, भारतीय साहित्य एक वार में, या एक साथ ही यूरोप में नहीं पहुँच गया। वह समय-सभय पर विभिन्न माघ्यमों से वहाँ पहुँचा। पहले सिकन्दर एवं परवर्ती यूनानी शासकों के समय में, जब कि भारत एवं यूनान के बीच राजनीतिक संपर्क स्थापित हुग्रा, तब पहुँचा। तदनन्तर ग्ररव श्रीर फ़ारस के व्यापारियों द्वारा, जबिक ग्ररव का स्पेन पर ग्रधिकार था, स्पेन होता हुग्रा यूरोप में पहुँचा। भारत की ग्रनेक कथाएँ पहले ग्ररव-फारस की भाषाग्रों में ग्रनूदित हुईं श्रीर तदनन्तर यूरोप में पहुँचीं। इस प्रकार जिप्सियों तथा ग्रन्य यात्रियों के द्वारा भी भारतीय कथा-साहित्य यूरोप में प्रचारित हुग्रा। ग्रस्तु, प्रचार का माघ्यम चाहे जो रहा हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय कथा-साहित्य का पश्चिमी एशिया एवं यूरोप में पर्याप्त प्रचार हुग्रा तथा उसी ने विश्व के रोमांस-काव्य की दीर्घ परम्परा के उद्भव एवं विकास में पर्याप्त योग दिया।

भारत में रोमांचक या प्रेमाख्यानक कथाओं की परम्परा-यद्यपि रोमांचक कथाएँ मुख्यतः कल्पना पर ग्राधारित होती हैं, किन्तु उस कल्पना के पीछे भी थोड़ी-बहुत वास्तविकता अवश्य होती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि इन कथाग्रों में सामान्य रूप से ऐसा समाज प्रतिबिम्बित है, जो सौन्दर्य ग्रौर प्रेम को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानता है तथा इस क्षेत्र में वह धर्म ग्रौर नीति की मर्यादाग्रों को तुच्छ मानता है। विवाह के क्षेत्र में वह इतना ग्रधिक स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द प्रतीत होता है कि वह विवाह से पूर्व नायिका के कुल, जाति, धर्म ग्रादि पर कोई विचार नहीं करता। इच्छित सुन्दरी को पाने के लिए वह सबसे संघर्ष करने एवं सारी कठिनाइयाँ सहन करने को प्रस्तुत है। संक्षेप में, वह समाज ग्रत्यधिक सौन्दर्य-प्रेमी, स्वच्छन्द, प्रगतिशील एवं साहसी प्रतीत होता है। भारत के श्रतीत पर दृष्टि डालें तो हमें ये सारी विशेषताएँ महाभारत के ग्राधारभूत समाज में भली-भाँति दृष्टिगोचर होंगी। उसमें सौन्दर्य की इतनी श्रधिक प्रतिष्ठा दिखाई देती है कि उसके ग्रागे धर्म, जाति एवं कुल के वन्धन गौण हैं। उदाहरण के लिए शान्तनु जैसा क्षत्रिय नरेश धीवर कन्या सत्यवती को, भीम ग्रनार्य कन्या हिडिम्बा को, ग्रर्जुन नागकन्या उलूपी को केवल सौन्दर्याकर्षण के कारण ही स्वीकार कर लेते हैं। ग्रपनी सौन्दर्य-लालसा की पूर्ति के लिए किसी कन्या का बलात् अपहरण-भले ही वह अपने मित्र की वहन ही क्यों न हो, महाभारत के समाज में उचित है। उदाहरण के लिए सुभद्रा के रूप पर मुग्ध ग्रर्जुन को स्वयं कृष्ण परामर्श देते हैं कि वह उसका अपहरण कर ले। इसी प्रकार विवाह से पूर्व संघर्ष के भी इस युग में पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। कृष्ण भ्रौर रुक्मिणी, पाण्डव एवं द्रौपदी, भ्रर्जुन भीर सुभद्रा, प्रद्युम्न भीर प्रभावती, भ्रनिरुद्ध भीर उषा के विवाह से पूर्व नायक-पक्ष की प्रतिनायक या नायिका के संरक्षकों से संघर्ष करना पड़ता है। ग्रस्तु, सौन्दर्य-प्रियता, प्रेम की स्वच्छन्दता एवं विवाह सम्बन्धी प्रगतिशीलता ग्रादि की दृष्टि से महाभारतीय समाज पूर्णतः रोमांटिक कहा जा सकता है। भ्रतः इसी युग को रोमांचक कथाभ्रों का उद्भव-काल माना जा सकता है। वैसे महाभारत से सम्वन्धित समाज के समय के वारे में विद्वानों में परस्पर मतभेद है, किन्तु सामान्यतः महाभारत युद्ध की घटना ईसा से १४०० वर्ष पूर्व की मानी जाती है, ग्रतः हम इसी समय के ग्रास-पास से रोमांचक कथाग्रों का मूल उद्भव-काल मान सकते हैं।

यद्यपि महाभारत-ग्रन्थ मूल महाभारतीय समाज के समय से बहुत बाद का माना जाता है, किन्तु भारतीय साहित्य में यही पहला ग्रन्थ है, जिसमें एक साथ ग्रनेक रोमांचक कथाओं का प्रारम्भिक रूप उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए इसमें अर्जुन-सुभद्रा, भीम-हिडिम्बा, नल-दमयन्ती, तप्ता-संवरण के प्रणय के ऐसे प्रसंग विद्यमान हैं, जो रोमांटिक तत्त्वों से युक्त हैं। इनमें भी नल-दमयन्ती उपाख्यान तो ग्रीर भी ग्रधिक रोमांचक है, जिसे परवर्ती युग के भी अनेक किवयों ने अपनाया है। महाभारत के ग्रनन्तर 'हरिवंश-पराण' रोमांचक ग्राख्यानों की दुष्टि से ग्रत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें कृष्ण-रुक्मिणी (म्रव्याय-५६-६०), प्रद्युम्न-प्रभावती (म्रव्याय ११३-१६७) ग्रीर उपा-म्रनिरुद्ध (ग्रन्थाय २६५-२६७) के ग्राख्यान विस्तार से प्रस्तुत किए गये हैं जिनमें परवर्ती रोमांचक ग्राख्यानों की ग्रधिकांश कथानक-रूढ़ियाँ उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण-रुक्मिणी में नायक-नायिका में गुण-श्रवण द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में प्रेमोत्पत्ति, देव-मन्दिर के निकट दोनों की प्रथम भेंट, नायिका का बलात् हरण, प्रतिनायक से युद्ध आदि की घटनाओं का वर्णन मिलता है। 'उषा-ग्रनिरुद्ध' में स्वप्न-दर्शन व चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति, नायक को सोते हुए महल से उठा ले जाना, नायिका के पिता के द्वारा विवाह में बाघा, विवाह से पूर्व युद्ध, ग्रादि की घटनाएँ ग्राई हैं। प्रद्युम्न श्रौर प्रभावती में हंस के द्वारा संदेशों के ब्रादान-प्रदान, नायक के रूप बदलकर घर से निकलने, नायिका के पिता से संघर्ष ग्रादि का वर्णन हुग्रा है। वस्तुतः इन ग्राख्यानों में सौन्दर्य, प्रेम, साहस संघर्ष ग्रादि रोमांचक तत्त्वों के ग्रतिरिक्त कथानक सम्बन्धी बहत-सी ऐसी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग परवर्ती कथाओं में बारम्बार हुम्रा है तथा इसीलिए उन्हें 'कथानक-रूढ़ि' (Motif) की संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त परम्परा का विकास धागे चलकर प्राकृत के कथा साहित्य में हुमा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक संस्कृत काव्य ध्रपने ध्रति ध्रादर्शवादी दृष्टिकोण के कारण रोमांचक साहित्य के विकास में ग्रधिक योग नहीं दे सका, जबिक दूसरी ध्रोर प्राकृत में, जो कि जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टि की सूचक थी, रोमांचक साहित्य का ध्रिधिक विकास हुमा। इस सम्बन्ध में प्राकृत की 'वृहत्कथा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका रचना-काल ध्रनुमानतः पहली शती माना जाता है, किन्तु मूल ग्रन्थ भ्राज ध्रनुपलब्ध है। पर इसी के ग्राधार पर संस्कृत में रचित दो ग्रन्थ 'वृहत्कथा-मंजरी' ग्रौर 'कथा सरित्सागर' मिलते हैं, जिनसे 'वृहत्कथा' की मूल विषय-वस्तु के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। 'कथा-सरित्सागर' के माध्यम से पता चलता है कि इसमें ग्रनेक साहसी नायकों के प्रेम ग्रौर संघर्ष का वर्णन किया गया था। वस्तुतः इसमें ग्रनेक ऐसी नयी कथानक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, जिनका प्रयोग परवर्ती कथाकारों द्वारा बरावर हुगा है। यहाँ इनमें से कुछ का उद्धलेखा का स्मानिया ब्रावा है कि व्या वरावर हुगा है। यहाँ इनमें से कुछ का उद्धलेखा का स्मानिया का प्रयोग परवर्ती कथाकारों द्वारा बरावर हुगा है। यहाँ इनमें से कुछ का उद्धलेखा का स्मानिया का प्रयोग परवर्ती कथाकारों द्वारा बरावर हुगा है। यहाँ इनमें से कुछ का उद्धलेखा का स्मानिया का प्रयोग प्रवर्ती कथाकारों द्वारा बरावर हुगा

- (क) इसमें नायिकाद्यों के नाम प्रायः 'वतो' प्रत्ययवाले हैं, जैसे—मृगांकवती अलंकारवती, शशांकवती, पद्मावती, लावण्यवती, रत्नवती, धनवती, हिरण्यवती, मंदारवती, मदिरावती, मलयवती श्रादि । रोमांचक काव्यों में भी यह प्रवृत्ति वरावर मिलती है, उदाहरण के लिए हिन्दी काव्यों में प्रयुक्त कुछ नाम द्रष्टव्य हैं-पद्मावती, मगावती, कनकावती, पृष्पावती ग्रादि।
 - (ख) नायक का जन्म प्रायः विशेष अनुष्ठान या दैनी आशीर्वाद से होता है।
- (ग) नायक-नायिका में प्रेमोत्पत्ति प्रायः स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन या प्रथम-दर्शन से होती है।
- (घ) नायिका प्रायः किसी न किसी द्वीप (मलयद्वीप, सिहलद्वीप, रत्नद्वीप, स्वर्ण-द्वीप ग्रादि) की वासिनी होती है, जिससे नायक के समुद्र-यात्रा करने, जहाज के टूटने, नायक के वचने के प्रसंगों का समावेश होता है।
- (ङ) नायक प्रायः ब्राह्मण, भिक्षु या तपस्वी का वेश धारण करके नायिका की प्राप्ति के लिए घर से निकलता है।
- (च) नायक को किसी संन्यासी, पक्षी या दैनी शक्ति की सहायता से नायिका का यता चलता है।
 - (छ) नायक-नायिका की प्रथम भेंट प्रायः किसी मंदिर या फुलवारी में होती है।
 - (ज) नायक को प्रायः नायिका के संरक्षक से संघर्ष करना पड़ता है।
- (भ) नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को पर्याप्त शौर्य्य एवं साहस से काम लेना पड़ता है।
- (ग्र) मुख्य नायिका की खोज करते समय प्रायः नायक की भेंट किसी ग्रन्थ सुन्दरी से, या ऐसी सुन्दरियों से हो जाती है, जो किसी राक्षस या ग्रत्याचारी व्यक्ति के बन्धन में होती हैं, जिन्हें नायक मुक्त करवा कर ग्रपने साथ ले लेता है।

(ट) ग्रन्त में किसी सिद्ध योगी, देवता या वैताल की सहायता से नायक को

सफलता मिलती है।

उपर्युक्त कथानक-प्रवृत्तियों का विशेष महत्त्व इसलिए है कि परवर्ती रोमांचक साहित्य में — भले ही वह संस्कृत, प्राकृत, ग्रपभ्रंश एवं हिन्दी में लिखित हो या ग्रीक, लैटिन, फैंच, जर्मन एवं इंगलिश में रचित, सभी में - इसका प्रयोग रूढ़ि रूप में प्रायः हुग्रा है। वस्तुतः जहाँ महाभारत एवं हरिवंश पुराण में रोमांचक कथाग्रों के विभिन्न तत्त्व बीज रूप में मिलते हैं, वहाँ उनका व्यापक एवं विस्तृत पल्लवित रूप सर्वप्रथम वृहत्कथा (ग्रर्थात् कथा सरित्सागर, एवं वृहत्कथा मंजरी) में ही मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वृहत्कथा की कथाग्रों के पीछे उस समृद्ध एवं वृहत्तर भारत की पृष्ठभूमि है, जबिक भारत के व्यापारी दूर-दूर के द्वीपों में व्यापार के लिए जाते थे तथा वहाँ से अपने साथ गौरांगनाएँ लेकर लौटते थे। 'वृहत्कथा' में नायिकाग्रों का द्वीपवासिनी होना, समुद्र यात्रा, जहाज का टूटना ग्रादि प्रसंगों से सम्बन्धित ग्रनेक नवीन कथानक-प्रवृत्तियों का अयोग इसी पुष्ठभूकि को Jangan अरुपा है Collection, Varanasi.

रोमांचक कथाग्रों के विकास की यह परम्परा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। ग्रव तक इनमें मुख्यतः कथा-तत्त्व का ही विकास एवं विस्तार हुग्रा था, सूक्ष्म भावों, ग्राकर्षक कल्पनाग्रों एवं काव्यात्मक शैली का प्रादुर्भाव ग्रभी इनमें नहीं हुग्रा था। इस ग्रभाव की पूर्ति संस्कृत के मध्यकालीन गद्यकारों द्वारा हुई जिनमें सुबन्धु, बाण, दंडी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सुबन्धु (५-६ठी शती) ने 'वासवदत्ता', बाण (७वीं शती) ने 'कादम्बरी', ग्रौर दंडी (७वीं शती) ने 'दशकुमार चरित' की रचना की, जो सौन्दर्य, प्रेम, ग्रौर शौर्यं से ग्रोत-प्रोत हैं। जहाँ तक इनकी कथा-वस्तु ग्रौर कथानक-रूढ़ियों की बात है, इनमें कोई नयी विशेषता नहीं है, 'बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा 'वृहत्कथा' में मिलता है, किन्तु इनकी नवीनता भावों की सूक्ष्म व्यंजकता एवं शैली की ग्रालंकारिकता में है। ग्रस्तु, इन्होंने रोमांचक कथाग्रों की इतिवृत्तात्मकता को काव्यात्मक शैली से युक्त करके इस परम्परा को एक नया मोड़ दिया। इन्हों के प्रभाव से ग्रागे चलकर संस्कृत ग्रौर प्राकृत में ग्रौर भी कई गद्य-काव्य एवं चम्पू लिखे गये, जो रोमांचक तत्वों से भर-पूर हैं; जैसे—समरादित्यकथा, सुर-सुन्दरी चरित्र, दमयंती कथा, उदय सुन्दरी कथा, भुवन सुन्दरी कथा, लीलावती ग्रादि। ये सब ग्राठवीं से दसवीं शती के वीच लिखे गये हैं।

प्राकृत-संस्कृत की कथा-काव्य परंपरा की प्रगति ग्रपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा हुई, जिन्होंने दसवीं शती से लेकर पन्द्रहवीं शती तक ग्रनेक महत्त्वपूर्ण काव्य लिखे, जैसे-नायकुमार चरिड (पुष्पदन्त; १०वीं शती), जसहर चरिड (पुष्पदंत, १०वीं शती), भविसयत्त कहा (धनपाल; ११वीं शती), सुदंसण चरिउ (नयनंदी, ११वीं शती), कर-कंड चरिउ (मुनि कनकामर; १०६५ ई०), पउमिसरी चरिउ (धाहिल, १२वीं शती), भविसयत्त चरिउ (श्रीघर १२वीं शती), सूलोचणा चरिउ (देवसेज गणि; १२-१३वीं शती) जिणदत्त चरिउ (लक्खन १३वीं शती), बाहबलि चरित (धनपाल, १४वीं शती), धन कुमार चरित (र्यधू १५वीं शती) ग्रादि । यद्यपि जैन कवियों ने ग्रपनी रचनाग्रों को प्रायः 'चरिउ' या 'चरित' की संज्ञा दी है, किन्तु विषय-वस्तु, कथानक, रूढ़ियों, भाव-व्यंजना एवं शैली की दृष्टि से ये कथा-काव्य की परम्परा में ही म्राती हैं। पूर्ववर्ती कथाओं की भाँति इनमें नायिकाएँ प्रायः 'वती' प्रत्यय वाली हैं, (जैसे---मदनवती, लीला-वती, पद्मावती, ग्रादि) तथा वे द्वीपों की निवासिनी हैं, जिन्हें पाने के लिए नायकों को समद्री यात्राएँ करनी पड़ती हैं। प्रेम की उत्पत्ति इनमें रूप-गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, या स्वप्न-दर्शन द्वारा ही दिखाई गई है तथा सौन्दर्य प्रेम, साहस ग्रीर शौर्य्य का चित्रण रोमांचक शैली में ही हुम्रा हैं। पूर्ववर्ती कथा-साहित्य की जिन कथानक रूढ़ियों का संकेत पीछे किया गया है, प्रायः वे सभी इनमें वरावर प्रयुक्त हुई हैं। इतना ही नहीं, कई काव्यों में तो पूर्ववर्ती कथाओं के अनेक प्रसंगों की आवृत्ति भी ज्यों की त्यों हुई है, जैसे-- 'वृहत्कथा' में सोई हुई लावण्यवती को मदनवेग नामक विद्याधर उठा ले जाता है, तो करकुंड चरित में मदनावली को भी इसी प्रकार सुषुप्त अवस्था में एक विद्याधर उठा ले जाता है। श्रस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि इन काव्यों को भले ही कवियों ने 'चरित' कहा हो, किन्तु हम प्रत्येक दृष्टि से इन्हें रोमांचक कथा-काव्य की ही परम्परा CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. में स्थान दे सकते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ जैन किवयों ने इस परम्परा को तीन-चार शताब्दी तक आगे वढ़ाया, वहाँ उन्होंने इसमें कुछ नये तत्त्वों एवं नयी प्रवृत्तियों का भी सम्मिश्रण किया । एक तो उन्होंने इसमें धार्मिक या सांप्रदायिक तत्वों का मिश्रण किया जिससे कि इनसे मनोरंजन होने के साथ-साथ धर्म संप्रदाय का भी प्रचार हो सके। जहाँ पूर्ववर्ती कथाग्रों में नायक को किसी सिद्ध या दैवी शक्ति की सहायता से सफलता मिलती है, वहाँ चरित-काव्यों में किसी जैन-तीर्थङ्कर की ग्राराधना या किसी जैन वर्त या ग्रनुष्ठान के प्रभाव से नायक को सफलता मिलती है। इससे जैन-धर्म का महत्त्व तो प्रमाणित हो जाता है, किन्तु कथा की मूल-प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उसका शेष सारा वातावरण रोमांटिक ही रहता है, धार्मिक नहीं। सौन्दर्य, प्रेम ग्रौर विरह का वर्णन जैन कवियों ने धर्माचार्यों की शैली में नहीं किया; अपितु सच्ची रोमांटिक दृष्टि से किया है, ग्रतः धार्मिक तत्त्वों के मिश्रण के वावजूद ये काव्य रोमांस ही रहते हैं, धर्मोपदेश नहीं वन जाते । दूसरे, इनमें एक नयी प्रवृत्ति यह मिलती है कि वे कथा की समाप्ति नायक-नायिका के मिलन-विन्दु पर ही न करके उसे कुछ ग्रौर ग्रागे बढ़ाते हुए उन्हें यौवनावस्था से चरम प्रौढ़ावस्था तक पहुँचाते हैं ग्रौर ग्रन्त में उन्हें सांसारिक भोगों की निस्सारता का अनुभव करवाते हुए वैराग्य या संन्यास की दीक्षा दे देते हैं। इस प्रकार इन कथाओं की परिणति संयोग श्रृङ्गार के स्थान पर शान्तिपूर्ण वैराग्य में होती है। तीसरे, इन्होंने गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग किया है। पर इससे ये कथा-काव्य के क्षेत्र से वाहर नहीं जाती, क्योंकि रुद्रट जैसे ग्राचार्यों ने कथाग्रों के लिए गद्य ग्रौर पद्य-दोनों का माध्यम स्वीकार किया है। इस प्रकार तेरहवीं-चौदहवीं शती तक रोमांचक कथा-काव्य का वह रूप विकसित हो गया था, जिसे गुजराती और हिन्दी के कवियों ने यह परम्परा सीधे ग्रपभ्रंश किवयों से ग्रहण की, ग्रतः उनमें वे सब सत्त्व मिलते हैं जिनका उल्लेख यहाँ किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राधुनिक भारतीय भाषाग्रों में ग्रप्रसर होने से पूर्व यह परम्परा महाभारत युग से लेकर चौदहवीं शती तक की लगभग पच्चीस सौ वर्षों की लम्बी अविध में विकास की अनेक मंजिलें तथ कर चुकी थी तथा तब तक इसकी अनेक शाखाएँ एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों में फैल चुकी थीं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत की भाँति यूरोप की भी आधुनिक भाषाओं में इसका अभ्युत्थान १३वीं-१४वीं शती में ही हुआ था, तथा वहाँ भी इसमें उपर्युक्त नये तत्त्वों —धार्मिकता, वैराग्य एवं पद्यात्मकता—का प्रादुर्भाव न्यूनाधिक मात्रा में हो गया था। भ्रागे चलकर पश्चिम में यही परम्परा पुनः गद्यात्मक वेश घारण करके ग्रायुनिक उपन्यास के रूप में विकसित होती हुई पूर्व की ग्रोर लौटी। दूसरी ग्रोर भारतीय भाषाग्रों में यह गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, वँगला म्रादि में विकसित होती हुई समस्त उत्तरी भारत में फैल गयी। इस प्रकार यह परम्परा भारतीय साहित्य में उन्नीसवीं शती तक ग्रखण्ड रूप में प्रचलित रही । श्रस्तु, निष्कर्ष रूप में इस परम्परा के विकास-क्रम को यहाँ संक्षेप में इस प्रकार

प्रस्तुत किया जा सकता है:

(१) महाभारतिकालीमा सम्भाजा में बिरोक्तिकाल चेत्रवा के आधारभूत मनोवैज्ञानिक

तत्त्वों जैसे, ग्रदम्य सौन्दर्य-लालसा, स्वच्छन्द प्रणय, वैवाहिक प्रगतिशीलता, साहस एवं शौर्य्य ग्रादि का प्रादुर्भाव तथा महाभारतीय ग्राख्यानों में उनकी प्रारम्भिक ग्रामिव्यक्ति।

- (२) 'हरिवंश पुराण' के ग्राख्यानों में रोमांटिक प्रेम की ग्रनेक प्रवृत्तियों का विकास; जैसे—स्वप्न या चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति ।
- (३) 'वृहत्कया' में कथा-वस्तु का ग्रत्यधिक विस्तार तथा समुद्र-यात्रा सम्बन्धी रूढ़ियों का विकास ।
 - (४) संस्कृत गद्य-काव्यों में एक नये तत्त्व-काव्यात्मक शैली-का प्रादुर्भाव।
- (५) श्रपभ्रंश के जैन-कवियों द्वारा धार्मिकता, वैराग्य एवं पद्यात्मकता का न्संचार।
 - (६) पश्चिम में इसकी ग्राधुनिक उपन्यास के रूप में परिणति ।

प्रेमाख्यानक काब्य-परम्परा का हिन्दी में प्रवर्त्तन—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह परम्परा विशुद्ध भारतीय है, जो प्राकृत, संस्कृत ग्रौर ग्रपभ्रंश में होती हुई हिन्दी में पहुँची, किन्तु हिन्दी-साहित्य के ग्रनेक इतिहासकारों एवं ग्रालोचकों ने यह मत प्रचारित कर रखा है कि यह एक विदेशी परम्परा है, जिसका प्रवर्त्तन हिन्दी में सूफी कियों ने ग्रपने सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिए फारसी मसनवियों के ग्राधार पर किया है। इस मत की स्थापना सम्भवतः सबसे पूर्व ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की थी, जिसकी पृष्टि समय-समय पर विभिन्न ग्रालोचकों एवं शोध-कत्तांग्रों द्वारा होती रही है, जिससे इसका नाम ही 'सूफी-प्रेम-गाथा' या 'सूफी-काब्य-परम्परा' पड़ गया है। वस्तुतः ग्राचार्य शुक्ल का यह मत हिन्दी के विद्वानों के हृदय में इतनी गहराई से बैठ गया है कि ग्रव शायद इसके विरोध में कुछ कहना, उन्हें उत्तेजित करना होगा। फिर भी यदि निष्पक्ष रूप से विचार किया जाय तो इस मत की ग्रनेक ग्राधारभूत धारणाएँ विशुद्ध भ्रान्तियों के रूप में दिखाई पड़ेंगी। ग्राचार्य शुक्ल ने जिन साक्ष्यों के ग्राधार पर उपर्युक्त मत की स्थापना की थी, वे थे हैं—

- (क) हिन्दी के इन ग्राख्यानों में फारसी मसनवियों की ये विशेषताएँ मिलती हैं— (१) कथा का सर्गों या ग्रव्यायों में विभक्त न होना। (२) पूरा काव्य एक ही छन्द में रचा जाना। (३) कथारम्भ में ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर की वन्दना ग्रौर तत्कालीन नरेश की प्रशंसा का होना।
- (ख) इन काव्यों की प्रेम-पद्धित भारतीय न होकर विदेशी है, क्योंकि इनका प्रेम-ऐकान्तिक एवं लोक-वाह्य है तथा उसका भ्रादर्श लैला-मजन्, शीरी-फरहाद भ्रादि भ्ररवी-फारसी कहानियों के भ्रादर्श से मिलता-जुलता है। साथ ही इनमें फारसी परम्परा के भ्रनुकूल नायक के विरह की भ्रधिकता दिखाई गई है, जबिक भारतीय परम्परा में नायिका का विरह भ्रधिक दिखाया जाता है।
- (ग) 'इस शैली की प्रेम-कहानियाँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी गई हैं।' हमारे विचार से उपर्युक्त सभी मान्यताएँ भ्रामक हैं। कथा-काव्य की जिन विशेषताम्रों को ग्राचार्यः शुक्कान्ते वेकेक्क मसमवियीं से से स्विन्धित माना है, वे सब पूर्ववर्ती

भारतीय कथा-काव्य में मिलती हैं। उदाहरण के लिए कथा का सर्गों में विभाजित न होना भारतीय कथाओं का भी प्रमुख लक्षण है। 'ग्रग्नि पुराण' के रचयिता ने कथा के लक्षणों में इसका भी उल्लेख किया है। जहाँ तक काव्य को एक ही छन्द में रचने की वात है, ब्राचार्य शुक्ल से गिनने में भूल हो गयी, श्रन्यथा वे देखते कि हिन्दी के तथा-कथित ग्राख्यानों में से कोई भी दो छन्दों (चौपाई ग्रौर दोहा) से कम में नहीं है; ग्रतः यह तर्क तो उनके ही मत के प्रतिकूल पड़ता है। जहाँ तक कथारम्भ में ईश्वर-स्तुति, इष्टदेव या पैगम्बर की वन्दना तथा तत्कालीन नरेश की प्रशंसा की बात है, ये वातें भ्रपभ्रंश के प्रायः सभी चरित्र-काव्यों में मिलती हैं। इतना ही नहीं, नवीं शती में रुद्रट ने कथा के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'कथा के ग्रारम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होनी चाहिए फिर ग्रन्थकार को ग्रपना ग्रौर ग्रपने कुल का परिचय देना चाहिए, ग्रादि ।' यहाँ यह घ्यान देने की वात है कि रुद्रट इन लक्षणों की चर्चा उस समय कर चुके थे, जबिक फारसी की पहली मसनवी (शाहनामा, १०वीं शती) का भी प्रणयन नहीं हुग्रा था । ग्रतः उपर्युक्त लक्षणों का केवल फारसी मसनवियों से ही सम्बन्ध मानना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है।

इन कवियों की प्रेम-पद्धति एवं प्रेम के आदर्श को विदेशी मानना भी सर्वथा अनु-चित है। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, इन काव्यों में प्रेम की वही पद्धित एवं भ्रादर्श प्रस्तुत किया गया है, जो पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में मिलता है। भ्राचार्य शुक्ल ने इनकी प्रेम-पद्धति की जिन विशेषतात्रों को ग्रभारतीय माना है, वे वस्तुतः भारतीय हैं, फारसी मसनवियों में तो वे बहुत कम मिलती हैं। उदाहरण के लिए, फारसी मसनवियों —लैला-मजन्, शीरीं-फरहाद, यूसुफ-जुलेखा ग्रादि—में प्रेम का उद्भव एकाएक प्रथम दर्शन, गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन या स्वप्न-दर्शन से नहीं होता, ग्रपितु नायक-नायिका के पारस्परिक संपर्क एवं साहचर्य से घीरे-घीरे होता है। दूसरे, फारसी मनसिवयों में नायक का संघर्ष प्रतिनायक से होता है, जबिक भारतीय कथाग्रों में प्रायः नायिका के पिता या संरक्षक से होता है। तीसरे, फारसी मसनवियों में नायिका का विवाह प्रति-नायक से होता है तथा विवाह के ग्रनन्तर भी नायिका ग्रपने पति के स्थान पर ग्रपने पूर्व प्रेमी से प्रेम करती रहती है, जबिक भारतीय कथाओं में ऐसा नहीं होता। चौथे, फारसी मसनवियों की परिणति प्रायः नायक की श्रसफलता, निराशा श्रौर श्रात्म-हत्या में होती है, जबिक भारतीय कथाओं में प्रेम की सफलता दिखाई जाती है। हिन्दी के आख्यानों में जिस प्रेम-पद्धति का चित्रण हुम्रा है, वह मसनिवयों के प्रतिकूल तथा भारतीय पद्धति के अनुक्ल है।

यह भी एक भ्रान्ति है कि भारत में विरह से नारियाँ ही पीड़ित होती हैं, पुरुष नहीं । वस्तुतः हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य को छोड़कर शेष भारतीय साहित्य में नारी की अपेक्षा पुरुष के ही विरह की अभिन्यक्ति अधिक हुई है। उदाहरण के लिए, त्रमुखेद के १०वें मंडल के १५वें सूक्त में जहाँ पुरुरवा उर्वशी के विरह में करुणोत्पादक विलाप करता है, वहाँ उर्वशी पर उसका कोई प्रभाव ही नहीं होता। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में री. नायक ही नायिका के विरह में पागलों की तरह उन्मत्त होकर

प्रलाप करने लगता है। 'मेघदूत' का यज्ञ भी प्रियतमा-वियोग के दुःख को सहन करने में अपने-आपको असमर्थ पाता है, इसी प्रकार 'कादम्बरी' का नायक विरह की प्रथम आँच में ही मोम की भाँति घुलकर प्राण त्याग देता है। वस्तुतः इस परम्परा के अधिकांश काव्यों में हम पुरुष की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में पाते हैं, अतः हमारे विचार से इस प्रवृत्ति को अभारतीय घोषित करना भारतीय साहित्य के ज्ञान का अभाव प्रदिशित करना है, अन्यथा यह प्रवृत्ति विशुद्ध भारतीय है।

इसी प्रकार यह कहना कि हिन्दी में कथाएँ मुसलमानों के ही द्वारा लिखी हुई हैं, ठीक नहीं है। इस परम्परा में अब तक लगभग ५५ किवयों की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से ३५ किव असंदिग्ध रूप से हिन्दू हैं। इसके प्रारम्भिक दस किवयों में से भी सात हिन्दू हैं। आचार्य शुक्ल के समय तक इस परम्परा के केवल आठ किवयों का ही पता चल पाया था, शेष का शायद उन्हें ज्ञान नहीं था किन्तु उन आठ किवयों में भी दो हिन्दू थे—ईश्वरदास एवं सूरदास लखनवी। आचार्य शुक्ल ने इनमें से एक के काव्य को इस परम्परा से अलग करके तथा दूसरे को विना किसी कारण सूफी घोषित करके, अपने कथन को सच्चा सिद्ध कर दिया, किन्तु वस्तु-स्थित यह नहीं है। हमारे विचार से 'सत्यवती कथा' प्रत्येक दृष्टि से इसी परम्परा में आती है तथा सूरदास लखनवी, जिन्होंने अपने काव्य में हिन्दू देवता और हिन्दू गुरु की वंदना की है, सूफी नहीं हिन्दू ही थे। अस्तु, इन किवयों के मुस्लम होने की युक्ति भी निरर्थक सिद्ध होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भ्राचार्य शुक्ल भारतीयता का ग्रादर्श एकमात्र राम की मर्यादावादिता में ही मानते थे, जब कि इन काव्यों की मूल चेतना ही स्वच्छन्दतावादिता की है। सम्भवतः इसीलिए वे इस परम्परा को भारतीय नहीं मान सके। किन्तु यदि राम के जीवन-चरित्र एवं प्रेमादर्श को ही भारतीयता की एकमात्र कसौटी मान लिया जाय तो उस स्थिति में हमें न केवल इन काव्यों को, ग्रपितु महाभारत एवं हरिवंश पुराण से लेकर कालिदास, बाण एवं श्रीहर्ष तक के ग्रन्थों को तथा कृष्ण, ग्रर्जुन, प्रद्युम्न, श्रनिरुद्ध एवं नल जैसे पात्रों को भी ग्रभारतीय घोषित करना पड़ेगा। ग्राचार्य शुक्ल की राम-भक्ति की पराकाष्ठा तो यहाँ तक है कि उन्होंने सचमुच ऐसा कर दिया है। वे लिखते हैं — "राम के समुद्र में पुल वाँधने ग्रीर रावण ऐसे प्रचण्ड शत्रु को मार गिराने को हम केवल एक प्रेमी के प्रयत्न के रूप में नहीं देखते, वीर-धर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न के रूप में भी देखते हैं। पीछे कृष्ण-चरित्र, कादम्बरी, नैषधीय चरित्र, माधवानल काम-कंदला ग्रादि ऐकान्तिक प्रेम कहानियों का भी भारतीय साहित्य में प्रचुर प्रचार हुआ है। ये कहानियाँ ग्ररब-फारस की प्रेम-पद्धति के ग्रधिक मेल में थीं। नल-दमयन्ती की प्रेम-कहानी का भ्रनुवाद बहुत पहले फारसी क्या भ्ररबी तक में हुआ।" यहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कृष्ण-चरित्र से लेकर काम-कंदला तक की भारतीय कहानियों में 'ग्ररव-फारस की प्रेय-पद्धति का मेल' कैसे हो गया-पर ये ग्रपनी बात की प्रमाणित करने के लिए एक अनूठा तर्क अवश्य देते हैं, वह है नल-दमयन्ती की कहानी का अरवी-फारसी में 0 अनुद्विता अही। लाता coneसिंदित, इसीवतार्क से काम लें तो अब

महाकवि तुलसीदास को भी श्रंग्रेजी-साहित्य के मेल में रख सकते हैं, क्योंकि पिछले दिनों उनकी 'रामचरित-मानस' का भी श्रंग्रेजी में अनुवाद हो गया है।

वस्तुतः ग्राचार्य शुक्ल ने इस परम्परा को विदेशी सिद्ध करने के लिए जितनी भी युक्तियाँ दी हैं, वे सब उनके विपक्ष में ही पड़ती हैं। उपर्युक्त तर्क-नल-दमयन्ती का श्ररवी-फारसी में बहुत पहले श्रनूदित हो जाना भी—यही सिद्ध करता है कि यह परम्परा भारत से ग्ररव-फारस पहुँची, न कि वहाँ से भारत में ग्राई है। जैसा कि हम <mark>श्रन्यत्र कह चुके हैं, फारसी की प्रथम मसनवी 'शाहनामा' में स्वयं कवि ने यह विस्तार</mark> से लिखा है कि किस प्रकार वादशाह वहराम गौर ने भारत से मधुर कथाग्रों के गायकों को बुलाया ग्रौर किस प्रकार उनका ईरान में स्वागत किया गया। इन्हीं कथा-गायकों के वंशज जिप्सी कहलाते हैं, जिनके द्वारा भारतीय कथाग्रों का प्रचार एशिया एवं यूरोप के ग्रनेक भागों में होने की वात कीथ जैसे पाश्चात्य विद्वान भी स्वीकार करते हैं। ग्रतः श्चाचार्य शुक्ल की उपर्युक्त मान्यताश्चों को स्वीकार करना सम्भव नहीं।

इस काव्य-परम्परा का अव्ययन और भी अनेक शोध-कत्तीओं ने किया है, जिनमें डॉ॰ कमल कुलश्रेष्ठ, डॉ॰ विमल कुमार जैन, डॉ॰ सरला शुक्ल, डॉ॰ हरिकांत श्रीवास्तव, डॉ॰ शिवसहाय पाठक, डॉ॰ श्याम मनोहर पांडेय, ग्राचार्य रामपूजन तिवारी के नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इन विद्वानों ने पर्याप्त परिश्रम से कार्य करते हुए इस बारा के विभिन्न पक्षों पर नया प्रकाश डाला है, किन्तु वे भी उपर्युक्त भ्रान्तियों से बहुत कम बच पाए हैं, जिससे अनेक शोध-कत्तीओं के निष्कर्ष परम्परा विरोधी हो गये हैं, उदाहरण के लिए कुछ निष्कर्ष देखिए-

"भारतीय प्रेमाख्यानों की परम्परा नवीन नहीं है, पर दूसरी ग्रौर ईरान के सूफी कवियों की मसनवियों ने भी प्रेरणा दी।" यह एक ग्रन्य विद्वान् का निष्कर्ष है—'हिन्दी के पद्मावत ग्रादि प्रेमाख्यानक काव्य यद्यपि मसनवी शैली में लिखे गये हैं तथापि भारतीय चरित-काव्यों की प्रवन्ध-शैली का भी सौंदर्य उनमें समाविष्ट है। यहाँ हम 'यद्यपि' वाली वात ग्रहण करें या 'तथापि' वाली, यह संदिग्ध है। वस्तुतः हमारे बहुत से शोधकर्ता इसका स्पष्ट निर्णय नहीं कर पाये कि इस परम्परा को भारतीय माना जाय या नहीं।

क्षन्तस्साच्य — हिन्दी की इन कथाओं में भ्रनेक ऐसे भ्रन्तस्साक्ष्य भी मिलते हैं, जिनसे उनका उद्भव-स्रोत भारतीय होने की भली-भाँति पुष्टि होती है; जैसे—(१) इनके रचियताओं ने भ्रपनी रचनाओं को मसनवी की संज्ञा न देकर 'कथा' या 'कथा-काव्य' की संज्ञा दी है। यह संज्ञा भी दो प्रकार से दी गई है-एक तो कुछ कवियों ने ग्रन्थ के नामकरण में ही 'कथा' शब्द का प्रयोग किया है, जैसे —लखमणसेन-पद्मावती कथा, सत्यवती कथा, उषा की कथा, कथा रत्नावली, कथा कामलता, कथा कनकावती, नल-दमयन्ती कथा श्रादि । दूसरे, कुछ ने नामकरण में तो 'कथा' शब्द का व्यवहार नहीं किया, किन्तु ग्रपने काव्य के ग्रारम्भ या भन्त में भ्रवश्य इसका निर्देश कर दिया है; देखिए-

(क) बावन बीर कथा रस लीउ। सेह पवाडु असाइत कहिउ। (असाइत : हंसावली) (ख) वीर कहा मद्रँ यहि खँड गाँवउँ। कथा काल कई लोग सुनावउँ। (दाउद: चंदायन)

(ग) प्रेमकथा एहि भाँति विचारहुँ। बुिक लेउ जी बुक्ते पारहु।। (जायसी : पद्मावत)

(घ) कथा जगत जेती किव श्राई। पुरुष मारि ब्रज सती कराई। (मंभन: मधुमालती)

(ङ) जाकी बुद्धि होई श्रधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई।। (उसमान : चित्रावली)

(च) नूरमोहम्मद यह कथा, श्रहे प्रेम की बात। (नूरमोहम्मद: अनुराग बाँसुरी)

इसी प्रकार ग्रन्य किवयों ने भी 'कथा' संज्ञा का ही प्रयोग किया है जो भारतीय कथा-काव्य परम्परा के सम्बन्ध की घनिष्ठता का सूचक है। (२) ग्रनेक किवयों ने अपनी रचना के उद्गम-स्रोत का संकेत स्पष्ट रूप में भी कर दिया है; जैसे—कुतुबन ने 'मृगावती' में लिखा है—

पहले ही ये दुइ कथा अही।

प्रुनि हम खोली ग्ररथ सब कहा ।
 खट भख अहही ऐही मद्द । पण्डित बिन बूभत होइ सिद्ध ।
 गाहा, दोहा ग्ररेन, अरल । सोरठा चौपाइ कै सरल ।।

यहाँ किन ने जिन छंदों—गाथा, दोहा, ग्ररिल्ल ग्रादि का उल्लेख किया है, वे प्राकृत-ग्रपभ्रंश की ही रचना में सम्भव हैं, ग्रतः निश्चित ही 'मृगावती' की मूलाधार कोई फारसी मसनवी न होकर ग्रपभ्रंश की ही कोई रचना होनी चाहिए। जायसी ने भी 'पद्मावत' के ग्राधारभूत ग्रन्थ का संकेत इस प्रकार किया है—

आदि ग्रंत जस गाथा ग्रहें। लिखि भाषा चौपाई कहें।

यहाँ 'गाथा' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इसके सामान्यतः दो ग्रर्थ होते हैं एक, कहानी या ग्राख्यान, दूसरा प्राकृत का छन्द-विशेष। 'गाथा' का एक ग्रन्य ग्रर्थ प्राकृत भाषा भी है, जैसा कि डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं—'गाथा' छन्द संस्कृत में भी मिलते हैं, ग्रपभ्रंश में भी, किन्तु प्राकृत से गाहा ग्रीर गाहा से प्राकृत का ग्रभेद्य सम्बन्ध है; परिणाम यह हुग्रा कि 'गाहा' का ग्रर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल 'गाहा' (गाथा) कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। दूसरी पंक्ति में 'भाषा-चौपाई' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि यहाँ 'गाथा' का ग्रर्थ केवल कहानी मात्र न होकर प्राकृत के छन्द-विशेष का ग्रर्थ है। पद्मावत की ग्राधारभूत रचना प्राकृत के गाथा छन्दों में रचित थी जिसे जायसी ने भाषा की चौपाइयों में रूपान्तरित किया। जैसा कि डॉ॰ हरदेव बाहरी ने ग्रपने प्राकृत साहित्य के इतिहास में उल्लेख किया है, जायसी से पूर्व प्राकृत में रचित 'पद्मावती' जैसी ही एक कथा भी उपलब्ध है, जिसका नाम 'रयण शेखर

१. सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य, पुरु ५१ Math Collection, Varanasi.

कहा' (रत्न-शेखर कथा) है। इसमें नायिका का नाम 'पद्मावती' न होकर रत्नवतो है, किन्तु शेष सारा कथानक लगभग 'पद्मावत' का ही है तथा डॉ॰ वाहरी ने इसे असंदिग्ध रूप से 'पद्मावत' का पूर्व-रूप माना है। ै ऐसी स्थिति में यही सम्भव है कि जायसी ने प्राकृत की इसी या ऐसी किसी अन्य कथा को 'पद्मावत' का आधार बनाया हो।

इसी प्रकार 'मंभन' ने ग्रपनी 'मधुमालती' का ग्राधार एक ऐसे ग्रन्थ को वताया है जो मूलतः 'द्वापर युग' का था, जिसे उसने किलयुग की 'भाषा' में रूपान्तरित किया। ग्रालम ने 'माधवानल कामकंदला' का ग्राधार एक संस्कृत-कथा को वताते हुए लिखा है—'कथा संस्कृत सुनि कछू थोरी। भाषा वांधि चौपाई जोरी॥' बोधा ने भी 'विरह-वारीश' का ग्राधार 'सिहासन वत्तीसी' को बताया है—

सिंहासन बत्तीसी मांही । पुतरिन कही भोज नृप पाहीं । विंगल कह बैताल सुनाई । बोधा खेतसिंह सह गाई ।।

इसी प्रकार जान किन, शेखनवी, हुसैन ग्रादि ने भी ऐसे संकेत दिये हैं जिनसे उनकी रचनाग्रों के मूल स्रोत भारतीय सिद्ध होते हैं। मजे की बात यह है कि इन मुस्लिम किवयों में से भी किसी ने किसी भी फारसी मसनवी की चर्चा तक नहीं की है, ग्रतः हिन्दू किवयों से तो इसकी ग्राशा करना ही व्यर्थ है। (३) इन किवयों ने स्थान-स्थान पर ग्रादर्श प्रेमियों एवं पूर्ववर्ती प्रेमाख्यानों का उल्लेख किया है, पर वे सारे उल्लेख भारतीय ही हैं। १७वीं शती तक किसी भी रचना में लैला-मजनूँ, शीरीं-फरहाद जैसे फारसी प्रेमियों का उल्लेख नहीं मिलता, जविक पूर्ववर्ती भारतीय प्रेमियों का नाम बार-म्बार ग्राया है; उदाहरण के लिए जायसी के 'पद्मावत' में विक्रम-सपनावती, मधु-मुग्धा-वती, राजकुँवर-मृगावती, खंडावत, मधुमालती, प्रेमावती, उषा-ग्रनिरुद्ध ग्रादि प्रेमी-युग्मों का नाम ग्राया है।

वस्तुतः सत्रहवीं शती तक इन कथाओं में ऐसा कोई साद्य नहीं मिलता, जिसके आघार पर यह कहा जा सके कि इनके रचियताओं को फारसी-मसनिवयों का कोई ज्ञान था। सत्रहवीं-ग्रठारहवीं शती में ग्रवश्य, जबिक मसनिवयों का भी भारत में प्रचार हो गया था, हिन्दी किवयों का भी इधर घ्यान गया है तथा कुछ ने लैला-मजन्, युसुफ-जुलेखा के कथानक को भी ग्रपनाया है, पर यह बात उस समय की है जबिक यह पर-म्परा हिन्दी में ह्यासोन्मुखी हो गयी थी। ग्रस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन काव्यों के नामकरण, विषय-वस्तु, ऐतिहासिक पात्रों, भौगोलिक प्रदेशों, कथानक रूढ़ियों, प्रेम सम्बन्धी प्रवृत्तियों एवं शैलीगत विशेषताग्रों—इन सभी की दृष्टि से इस परम्परा का स्रोत पूर्णतः भारतीय ही है; यह उसी भारतीय कथा-काव्य की एक शाखा है, जिसकी ग्रन्य कितपय शाखाएँ एशिया ग्रीर यूरोप के विभिन्न भागों में विभिन्न माघ्यमों से प्रसारित हो चुकी थीं। ग्रतः इसे फारसी मसनिवयों से प्रेरित एवं प्रभावित मानना सर्वथा ग्रनुचित है। इतना ही नहीं; इसका सूफीमत एवं सूफी प्रचार से भी सम्बन्ध मान ग्रनुचित है, इसका स्पष्टीकरण ग्रन्यत्र किया जायगा।

१. प्राकृत भाषा और उसका साहित्य, पू॰ ६४।

: छुब्बीस :

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्पराः प्रवृत्तियाँ

- १. सामान्य परिचय।
- २. रचयिताम्रों का काव्य-प्रयोजन।
- ३. रचनाग्रों का नामकरण।
- ४. कथावस्तु : स्रोत व रूढ़ियाँ।
- ४. विचार तत्त्व व ग्राकर्षण केन्द्र।
- ६. शास्त्रीय तत्त्व।
- ७. शैली।
- **द.** उपसंहार ।

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में एक ऐसी दीर्घ काव्य-परम्परा मिलती है जिसे विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा है; यथा— 'निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा', 'प्रेमा-स्थानक काव्य-परम्परा', 'प्रेम-काव्य', 'प्रेम-कथानक काव्य', 'रोमांसिक कथा-काव्य-परम्परा' ग्रादि । इस परम्परा में लगभग ३७ किवयों द्वारा रिचत ४५ काव्य उपलब्ध हुए हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं — (१) हंसावली, रचियता ग्रसाइत, रचनाकाल— १३७० ई०, (२) मुल्ला दाऊद रिचत चंदायन (१३७६ ई०), (३) दामोदर रिचत लखमन-सेन पद्मावती कथा (१४५६ ई०), (४) ईश्वरदास रिचत सत्यवती कथा (१५०१ ई०), (५) गणपित रिचत 'माधवानल-कामकंदला (१५२७ ई०), (६) जायसी कृत 'पद्मावत' (१६२० ई०), (७) मंभन कृत मधुमालती (१५४५ ई०), (०) उसमान कृत चित्रावती '१६१६ ई०), (६) पुहकर रिचत रसरतन (१६१८ ई०), (१०) दु:ख हरण दास रिचत पुहुपावती (१६६६ ई०), (११) नूर मोहम्मद रिचत 'इन्द्रावती' व ग्रनुराग वांसुरी (१७०७ ई०), (१२) बोधा रिचत 'माधवानल कामकंदला' (१७५२ ई०), (१३) चतुर्मुजदास रिचत 'मधुमालती' (१७८० ई०), (१४) सेवाराम रिचत 'नलदमयन्ती चरित्र' (१७६६ ई०), (१४) मृगेन्द्र रिचत 'प्रेम पयोनिधि' (१८५५ ई०)।

इस काव्य-परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों में भ्रानेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं, जिनका निराकरण भ्रान्यत्र किया जा चुका है। यहाँ प्रस्तुत काव्य-परम्परा की प्रमुख

१. इन सभी प्रन्थों के परिचय के लिए द्रष्टव्य—'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास': पृष्ठ ५४५-५६६।

२. द्रष्टव्य—'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', 'हिन्दी काव्य में श्रृंगार परम्परा ग्रौर बिहारी' तथा प्रस्तुत पुस्तक में प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा : प्रेरणा व उद्गम-स्रोत' शीर्षक लेख ।

विशेषतार्थ्यो व सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन विभिन्न शीर्षकों में क्रमशः किया जाता है।

रचियताओं का व्यक्तित्व एवं काव्य-प्रयोजन—सामान्यतः इस परम्परा के किवयों को सूफी मतानुयायी साधक मानते हुए इनका लक्ष्य सूफी मत का प्रचार करना बताया गया है, किन्तु वास्तिवकता यह नहीं है। इस परम्परा के भ्रधिकांश (५४ में से ३७) किव हिन्दू थे, जिन्होंने काव्यारम्भ में हिन्दू देवी-देवताग्रों की वन्दना करके हिन्दू धर्म में पूर्ण विश्वास प्रकट किया है, ग्रतः उनके द्वारा तो सूफी मत के प्रचार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। मुस्लिम किवयों ने भी भ्रपना उद्देश्य स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने श्रुङ्गार रस के चित्रण द्वारा पाठकों का मनोरंजन करने एवं भ्रपने नाम की प्रसिद्धि के लिए ही प्रेम कथाग्रों की रचना की थी—हाँ, भ्रपनी बहुज्ञता-प्रदर्शन के लिए वेदान्त, दर्शन, योग-मार्ग, इस्लाम नीतिशास्त्र, काम-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, संगीत शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र एवं भूगोल की सामान्य वातों का भी समन्वय उन्होंने कर दिया, जो कि इस युग के भ्रन्य किवयों केशव, विहारी भ्रादि—की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। जायसी जैसे एक-दो साधकों को छोड़ कर शेष किव साधारण गृहस्थ थे, जिन्होंने लौकिक भ्रनुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य-रचना की। शेख निसार और किव नसीर ने पुत्र-पत्नी ग्रादि के देहान्त-शोक को भी काव्य-रचना में प्रवृत्ति का निमित्त माना है। उसमान, ग्रालम, जान, नूरमोहम्मद, शेख नवी भ्रादि ने भ्रपनी रचनाग्रों को

१. औ मैं जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहे जगत महँ चीन्हा। जो यह पढ़े कहानी, हम्ह सँवरै दुई बोल ॥ (पद्मावत—उपसंहार खंड) बाँच कथा पोथी भुवन परसन तेहि जगदीश। हमिह बोल सुमिरे सोई कासिम दई श्रशीस ।—(कासिमशाह—हंस जवाहिर) X विधना जब लग जगत मां यह पुस्तक संचार। सबका साथ रहीम के नाँव रहै उजयार ।—(शेख रहीम—भाषा प्रेम रस) मित्र महाशय गुन सदन चित बहलावन हेत। कहीं कहानी प्रेम की होय के सुनो सचेत ।—(शेख रहीम—भाषा प्रेम रस) कहों बात सुनो सब लोग। कथा-कथा सिगार वियोग। सकल सिंगार बिरह की रीति । माघी कामकंदला प्रीति ॥ -(आलम) नूर मोहम्मद यह कथा, ग्रहे प्रेम की बात। जेहि मन होइ प्रेम रस, पढ़े सोइ दिन रात। —(नूर मोहम्मद) २. जब तें लतीफ कर भरम बिसेख्यो । तप संपत भिरथा देख्यो । रोय रोय यह बिरह बखानी । कोऊ न रहा जग रहे कहानी ।। -(शेख निसार--युसुफ जुलेखा) सर्वगुण सम्पन्न बताते हुए उन्हें तरुणों के हृदय में काम वढ़ानेवाली एवं रिसक भोग-विलासियों को तृप्ति देनेवाली घोषित किया है। चित्रावली के रचियता को तो ग्रपनी रचना पर ग्रपना इतना गर्व था कि उन्होंने ग्रन्य कियों को इससे वढ़कर काव्य-रचना करने के लिए चुनौती दी है। इसी प्रकार ग्रनेक हिन्दू कियों ने भी ग्रपना उद्देश्य एक ऐसी ग्रद्भुत कथा लिखना बताया है जिससे विद्वानों की तो बात ही क्या, मूर्खों तक का मन मोहित किया जा सके। साथ ही उन्होंने ग्रपनी रचनाग्रों को काम एवं विलास की पूर्ति में योग देनेवाली माना है। अस्तु, इन कियों को चाहे वे मुसलमान हों या हिन्दू—कोई पहुँचे हुए फकीर या ग्रलौकिक ग्रनुभूतियों से विह्वल रहस्यवादी साधक समभना वैसी ही भूल है जैसी विद्यापित, केशव, बिहारी या पद्माकर को थोड़ी-सी धर्म-दर्शनपरक उक्तियों के ग्राघार पर भक्तकिव समभ लेना है। हाँ, जायसी जैसे एक दो किव ग्रवश्य इसके ग्रपवाद हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के बहुसंख्यक किवयों को न तो कोई

अन्त वहू मृत्यु रस चाखा। गई परान तोर श्रिभलाखा। जस दुखी हूँ मैं जग मांहीं। तस न केहू संसार।।

-(नसीर प्रेम दर्पण)

१. तक्तन्ह के मन काम बढ़ावा । भोगी कहँ मुख भोग बढ़ावा । —(उसमान) प्रीतिवन्त ह्व मुनै सो कोई । बाढ़ प्रीति हिएँ मुख होई । कामी धुरिष रिसक जे मुनहीं । ते या कथा रैनि दिन मुनहीं ।।—(आलम) बीर है प्रेम दुख सुख या माँही । को सु सुवाद जु या माँहि नाहीं ।

—(जान कवि)

जोहि मन होई प्रेम रस, पढ़े सोइ दिन रात ।। —(नूर मोहम्मद) प्रेमी सुनै प्रेम अधिकावे —(शेख निसार) वीर सिगार विरह किछू पावा । पूरन पद लै जोग सुनावा ।

—(शेख नबी)

कासिम यौवन हाथ है, चहै सो काज सँवार ॥ —(कासिम शाह)

२. जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई।। —(चित्रावली)

३. देखिए निम्नांकित उद्धरण-

(क) सब कू लगे सुहावणी, रचे सुजीय सीण गार । मुरखहूँ को मन हरे, सब कू लगे सुसार ।।

(चन्द्र कवर रो बात : हंस कवि)

(ख) प्रेम पयोनिधि प्रेम की ग्रद्भुत कथा महान । कौतुक हित बरनन करों लख रीभहिं गुनमान ।।

—(प्रेम पयोनिधि : मृगेन्द्र)

(ग) राजा पढ़े राजनीत मंत्री पढ़े सुबुद्ध । क्तसी क्लान विलास जानी जान सुबुद्ध allanasi.

-(मघुमालतो : चतुर्भुजवास कायस्थ)

हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा : प्रवृत्तियाँ

राजाश्रय प्राप्त था, ग्रीर न ही वे किसी धर्म-सम्प्रदाय के ग्राश्रित थे; ऐसी स्थित में उनके काव्य का सम्बन्ध सर्व-साधारण जनता एवं लोकाश्रय से ही था। जनता के भी ग्रनेक वर्ग थे, कुछ तरुण युवक थे, जो सौन्दर्य ग्रीर प्रेम की चर्चा सुनना चाहते थे, तो दूसरी ग्रोर वे प्रौढ़ व्यक्ति थे, जो मनोरंजन के साथ-साथ नीति ग्रीर शास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे एवं ग्रन्य वर्ग वृद्धों का था जिसकी रुचि धार्मिक तत्त्वों में ग्रियिक थी। ऐसी स्थिति में इन कवियों ने सभी वर्गों के पाठकों की रुचि का ध्यान रखते हुए प्रेम, शास्त्र-ज्ञान एवं वैराग्य—तीनों का ही समन्वय न्यूनाधिक मात्रा में ग्रपने काव्यों में करने का प्रयास किया है। इसीलिए ग्रनेक किवयों ने इन सभी लक्ष्यों की पूर्ति का दावा ग्रपने काव्य में किया है।

रचनाओं का नामकरण—इन कियां ने सामान्यतः नायिका—ग्रीर वह भी विशेषतः 'वती' प्रत्यवाली, जैसे सत्यवती, मृगावती, पद्मावती ग्रादि—के नाम पर ही रचनाओं का नामकरण किया है, किन्तु कुछ रचनाओं में नायिका के साथ-साथ नायक के नाम का भी निर्देश मिलता है—जैसे माधवानल-कामकंदला, प्रेमविलास-प्रेमलता, नल-दमयन्ती, उषा-ग्रानिरुद्ध ग्रादि । कहीं-कहीं नायक-नायिका के नाम के ग्रातिरिक्त काव्य-रूप सूचक 'कथा' संज्ञा का भी प्रयोग मिलता है, यथा—लखमसेन-पद्मावती कथा, कथा रत्नावली, कथा कामलता, उषा की कथा ग्रादि । ग्रपवादस्वरूप एक ग्राघ रचनाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनमें नायक-नायिका के स्थान पर किसी ग्रन्य ग्राधार पर नामकरण किया गया है, जैसे—ग्रनुराग-वाँसुरी, प्रेम-चिनगारी, प्रेमदर्पण ग्रादि ! फिर भी ग्रधिकांश रचनाओं में संस्कृत एवं प्राकृत की परम्परा के ग्रनुसार नायिका के ही नाम को प्रमुखता दी गई है, ग्रतः इसी को हिन्दी कथा-काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

कथा-वस्तु के विभिन्न स्रोत—उद्गम स्रोत की दृष्टि से इस परम्परा के हिन्दीकाव्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) महाभारत, हरिवंश पुराण
ग्रादि पौराणिक वृत्त पर ग्राधारित; (२) ऐतिहासिक या ग्रद्धं ऐतिहासिक वृत्त पर
ग्राधारित; (३) कल्पना-प्रसूत । प्रथम वर्ग में मुख्यतः नल-दमयन्ती एवं उषा-ग्रानिरुद्ध
सम्बन्धी कथाएँ ग्राती हैं । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन दोनों कथाग्रों पर ही दस-बारह
कियों ने ग्रपने-ग्रपने काव्यों की रचना की है, जिससे इनकी लोकिशयता का ग्रनुमान
किया जा सकता है । ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर चलनेवाले काव्यों में लखमसेन-पद्मावती
(दामो), पद्मावती (जायसी), छिताई वार्ता (नारायणदास) ग्रादि उल्लेखनीय हैं । किन्तु
इनमें ऐतिहासिकता का निर्वाह बहुत कम हुग्रा है । इनके पात्रों में—मुख्यतः नायक—ही
प्रायः ऐतिहासिक है, शेष प्रायः काल्पनिक हैं । तीसरे वर्ग की रचनाएँ कल्पना-प्रसूत हैं ।
पर यह ग्रावश्यक नहीं है कि उनकी कल्पना हिन्दी कवियों द्वारा ही हुई हो । ग्रनेक
कथाग्रों की कल्पना पूर्ववर्ती कवियों द्वारा हो चुकी थी, जिनका उपयोग परवर्ती कवियों
ने किया है । उदाहरण के लिए, साधवानल-कामकंदला मौलिक काव्य है, किन्तु इसी के
कथानक को किंचित् परिवर्तन के साथ सात-ग्राठ किंवयों न ग्रपनाया है तथा यह हिन्दी
के ग्रातिरक्त ग्रन्थ प्रावर्त के साथ सात-ग्राठ किंवयों न ग्रपनाया है तथा यह हिन्दी

उन्नीसवीं शती के दो-तीन काव्यों — यूसुफ-जुलेखा, लैला-मजनूँ, प्रेम-दर्पण — को छोड़कर सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि इन कथाग्रों का उद्गम-स्रोत भारतीय पुराणों, ऐतिहासिक इतिवृत्तों एवं प्राचीन भारतीय कथाग्रों में ही निहित है। यदि हम केवल उषा-ग्रानिरुद्ध, नल-दमयन्ती ग्रौर माघवानल-कामकंदला की कथाग्रों पर ही लिखित सारे हिन्दी काव्यों को सम्मिलित कर लें तो उनकी संख्या बीस तक पहुँच जाती है, ग्रतः इन्हें इस परम्परा की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रतिनिधि कथावस्तु के रूप में लिया जा सकता है।

कथानक रूढ़ियाँ—इन सभी प्रकार के काव्यों में—चाहे उनका इतिवृत्त इतिहास-पुराण पर ग्राघारित हो या कल्पना पर, कुछ घटनाएँ ऐसी मिलती हैं, जो विभिन्न काव्यों में बार-बार ग्रावृत्त हुई हैं तथा जिन्हें 'कथानक रूढ़ि' (Motif) की संज्ञा दी गई है। इन काव्यों में निम्नांकित कथानक रूढ़ियों का प्रयोग बहुत ग्रधिक हुग्रा है—(१) नायिका का किसी द्वीप—विशेषतः सिंहल में जन्म लेना, (२) गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन द्वारा नायक-नायिका में प्रेमोत्पत्ति, (३) शुक, हंस, मैना ग्रादि पक्षियों द्वारा सन्देशों का ग्रादान-प्रदान, (४) ग्रप्सराग्रों, राक्षसों या ग्रन्थ दैवी शक्तियों द्वारा नायक-नायिका को एक दूसरे के पास पहुँचा देना, (५) नायक का वेश बदलकर—मुख्यतः योगी वेश में—नायिका की खोज में निकलना, (६) समुद्र यात्रा एवं उसमें जहाज का टूट जाना, कितु नायक का किसी प्रकार बच जाना, (७) नायक का किसी ग्रन्य प्रदेश में पहुँचकर किसी राक्षस या ग्रत्याचारी राजा से किसी ग्रन्य सुन्दरी को बचाना ग्रौर उससे विवाह कर लेना, (६) फुलवारी या मंदिर में नायक-नायिका की प्रथम गुप्त भेंट, (६) नायिका के पिता या संरक्षक से नायक का संघर्ष, (१०) विवाह के ग्रनन्तर ग्रनेक पत्नियों के साथ नायक का सुख-भोग एवं ग्रन्त में नायक की मृत्यु एवं पत्नियों का सती हो जाना।

जैसा कि ग्रन्यत्र कहा जा चुका है, इन रूढ़ियों का मूल स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य ही है। महाभारत के नलोपाख्यान; हरिवंश-पुराण के उषा-ग्रनिरुद्ध-प्रसंग, गुणाढ्य की वृहत्कथा, संस्कृत किवयों के गद्ध-काव्य, प्राकृत के कथा-साहित्य एवं ग्रपभ्रंश के चरित-काव्यों में ये सभी रूढ़ियाँ वारम्वार प्रयुक्त हुई हैं। हिन्दी की कथाओं का सीधा सम्बन्ध एक ग्रोर महाभारत एवं पौराणिक साहित्य से है, जिनमें नल-दमयन्ती एवं उषा-ग्रनिरुद्ध सवन्वी प्रसंगों में तत्सम्बन्धी बहुत-सी कथानक रूढ़ियाँ उपलब्ध हैं तो दूसरी ग्रोर ग्रपभ्रंश के चरित-काव्यों से है। ग्रपभ्रंश के ग्रनेक चरित-काव्यों में कथानक का पूरा ढाँचा लगभग वही है जो हिन्दी कथा-काव्यों में प्रयुक्त हुग्ना है; उदाहरण के लिए, नागकुमार चरित्र में चित्र-दर्शन द्वारा प्रेमोत्पत्ति, नायक द्वारा ग्रनेक राजकुमारियों का उद्धार व उनसे विवाह करने की घटनाएँ विणत हैं तो करकंड चरित में प्रत्यक्ष-दर्शन-द्वारा प्रणयोद्बोध, नायिका का विद्याघर द्वारा उड़ा लिया जाना, नायिका की खोज में नायक का सिहल द्वीप पहुँचना, वहाँ जाकर एक ग्रन्य सुन्दरी से विवाह करना, ग्रन्त में पर्याप्त संघर्ष से नायिका की प्राप्ति, राज्य-सुख-भोग, वैराग्य, ज्ञान एवं मोक्ष की उपलब्धि स्मृद्धिक हिंदी प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार जिणदत्त चरित, ज्ञान एवं मोक्ष की उपलब्धि स्मृद्धिक हिंदी प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार जिणदत्त चरित, ज्ञान एवं मोक्ष की उपलब्धि स्मृद्धिक हिंदी प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार जिणदत्त चरित, ज्ञान एवं मोक्ष की उपलब्धि स्मृद्धिक हिंदी प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार जिणदत्त चरित,

सुदर्शन-चरित, पद्मश्री चरित, भविष्यदत्त कथा, संतकुमार चरित ग्रादि में उपर्युक्त सारी रूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ग्रठारहवीं-उन्नीसवीं शती में दो-तीन काव्य फारसी मसनवियों के ग्राधार पर लिखे गये थे, उनमें उपर्युक्त कथानक रूढ़ियों का ग्रभाव है। जैसा कि ग्रन्थत्र स्पष्ट किया गया है, फारसी मसनवियों में प्रेम की उत्पत्ति एकाएक प्रत्यक्ष-दर्शन या चित्र-दर्शन से न दिखाकर घीरे-घीरे वाल्यकाल के साहचर्य से दिखाई जाती है तथा नायिका का विवाह उसके प्रेमी से होकर, उसकी इच्छा के विपरीत प्रतिनायक से हो सकता है। उनकी परिणित वैराग्य एवं शान्ति में न होकर शोक में होती है, क्योंकि नायक की मृत्यु प्रतिनायक के किसी पड्यंत्र से हो जाती है तथा उसके शोक में नायिका भी प्राण त्याग देती है। ग्रस्तु, इस दृष्टि से भारतीय कथानक रूढ़ियों में फारसी रूढ़ियों से गहरा भेद है, तथा ग्रंतिम युग के दो-तीन काव्यों को छोड़कर शेष काव्यों की रूढ़ियों को निश्चित रूप से भारतीय कहा जा सकता है।

विचार-तत्त्व-जैसा कि ग्रन्यत्र संकेत किया जा चुका है, इन कवियों का एक लक्ष्य अपनी रचनाओं को विभिन्न क्षेत्रों के शास्त्रीय ज्ञान से युक्त बनाना भी था, अतः इन्होंने न केवल विभिन्न दार्शनिक मत-वादों, धर्म-सम्प्रदायों, नीति एवं सदाचार के नियमों, ज्योतिष एवं शकुन विद्या के विश्वासों की चर्चा स्थान-स्थान पर की है, अपितु काम-शास्त्र, रीति-शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, अश्व-विज्ञान भ्रादि के ज्ञान का भी परिचय विस्तार से दिया है। इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप अनेक काव्यों में घोड़ों की विभिन्न जातियों, मछलियों के विभिन्न भेदों, व्यंजनों एवं पकवानों के विभिन्न प्रकारों, विभिन्न प्रकार के पौधों भ्रादि की भी लम्बी सूचियों का समावेश हो गया है। इस प्रवृत्ति के पीछे कदाचित् कवियों के ज्ञान-प्रदर्शन की प्रेरणा स्वीकार की जा सकती है, किन्तु हमें यहाँ न भूलना चाहिए कि यह प्रवृत्ति मध्यकाल की सभी काव्य-परम्पराग्रों में न्यूनाधिक रूप में मिलती है। इसका सबसे बड़ा कारण युग-विशेष की भ्रावश्यकता को ही वताया जा सकता है। इस युग में परम्परागत ज्ञान एक ग्रोर संस्कृत-प्राकृत की रचनाश्रों में श्राबद्ध हो गया था तो दूसरी श्रोर नये ज्ञान-कोष मुस्लिम राज्य के प्रभाव के कारण फारसी में तैयार हो रहे थे। जनता की पहुँच संस्कृत ग्रौर फारसी—दोनों ही तक नहीं थी, ग्रतः उनकी ज्ञान-पिपासा की शान्ति का कार्य भी इस युग के साहित्य-रचियताग्रों के ही जिम्मे था। प्रवन्ध-काव्यों में इस कार्य के लिए अधिक स्थान होता है, ऐसी स्थिति में इन रचनाओं को ज्ञान कोष बनाने का प्रयास करना स्वाभाविक ही था, यह दूसरी बात है कि विशुद्ध काव्यत्व की दिष्ट से यह प्रवृत्ति घातक सिद्ध होती है।

यह ग्राश्चर्य की बात है कि इस क्षेत्र में ग्रनुसंघान करनेवाले विद्वानों का घ्यान इन किवयों की इस मूल प्रवृत्ति की ग्रीर नहीं गया। उन्होंने इन रचनाग्रों में केवल धार्मिक एवं दार्शनिक तत्वों की ही प्रचुरता को देखकर इन्हें धर्म-प्रचारक घोषित कर दिया। यहाँ तक भी ठीक था, किन्तु इससे भी ग्रधिक बुरा तो यह हुग्रा कि जायसी जैसे एक-दो किवयों को सूफी मत में दीक्षित देखकर इस परम्परा के सारे किवयों को ही सूफी घोषित करते हए उनकी काव्य-रचना का लक्ष्य ही सूफी मत-प्रचार करना मान लिया गया। पर

ये अनुसंधान-कर्त्ता अपने प्रवन्ध के आरम्भ में सौ-डेढ़ सौ पृष्ठ 'सूफी' शब्द की व्याख्या, सूफी मत के इतिहास एवं सूफी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों ग्रादि की व्याख्या में रँग देने के पश्चात् जब मूल रचनाग्रों में प्रवेश करते हैं, तो वहाँ उन्हें एक भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे कि वे इन रचनाओं में सूफी मतों का अस्तित्व सिद्ध कर सकें। ऐसी स्थिति में विभिन्न विद्वानों ने कई प्रकार की युक्तियों से काम लिया। डा॰ विमलकुमार जैन एवं डा॰ कमल कुलश्रेष्ठ (पृ॰ १७५) जैसे विद्वानों ने इस तथ्य को ईमानदारी से स्वीकार कर लिया कि इनमें जो मत-सिद्धान्त मिलते हैं, वे सूफी मत के ग्राधारभूत सिद्धान्तों से वहुत कुछ भिन्न हैं। इसके विपरीत डा॰ सरला शुक्ला ने यह मानते हुए कि इनमें भारतीय ग्रहैतवाद, सर्वात्मवाद, विशिष्टाद्वैतवाद ग्रादि भारतीय दर्शन एवं भारतीय चिन्तन-पद्धति का ही प्रभाव अधिक है, इसे सूफियों की उदारता माना है। पर हमारे विचार से ऐसे उदार कवियों को, जिन्होंने सूफी मत के श्राधारभूत सिद्धान्तों को छोड़कर उसके सर्वथा प्रतिकल पडनेवाले विशिष्टाद्वैत तक के सिद्धान्तों को स्थान दिया है, 'सूफी मत प्रचारक' कहना उचित नहीं है। कुछ शोध-कर्ताभ्रों ने एक तीसरे उपाय का भी भ्रवलम्बन लिया है, उन्होंने इनकी सीधी सादी उक्तियों की भी व्याख्या सूफी मत के अनुसार करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए मुकुन्दिसह द्वारा रिचत 'नल-चरित्र' में एक स्थान पर प्रकृति के उद्दीपन प्रभाव की व्यंजना सहज-स्वाभाविक रूप में की गयी है, जो इस प्रकार है:

तिकए भूप भ्रमर सुखवाए। काम बान सम सोभा पाए।, बानउ के रव होत अपारा। तिहि विश्व जानहु भ्रमर गुँजारा। दुऊँ के ग्रहै शिलीमुख नामा। विरही तन कहँ वोउ दुखवामा।

यहाँ विरही हृदय को भ्रमर-गुंजार भी तीरों की चोट सा लगता है, जो प्रकृति के उद्दीपन प्रभाव का द्योतक है। पर डा॰ हरिकान्त श्रीवास्तव ने कवि को बलात् रहस्यवादी या सुफी मतवादी सिद्ध करते हुए इन पंक्तियों में सुफियों की 'शरीग्रत' ग्रवस्था-का निरूपण बताया है। वे उपर्युक्त पंक्तियों को उद्भुत करते हुए लिखते हैं---'नल-दमयन्ती के रूप का बखान सून (कर) 'तरीकत' की अवस्था में पहुँच जाते हैं और बाग में प्रकृति के उद्दीपन रूप उनकी रस ग्रवस्था को ग्रौर भी ग्रग्रसर करते हैं। "तिकए....दुखधामा" —यह शरीग्रत की ग्रवस्था नल के दूतत्व तक बनी रहती है। दमयन्ती के मन्दिर में नाना स्त्रियों के कामोद्दीपक प्रभाव से बचने के उपरान्त नल मवारिफ अवस्था में पहुँचते हैं। यह कहना श्रधिक उचित होगा कि मवारिफ श्रीर हकीकत की संक्रान्तिक भूमि इस स्थल पर मिलती है।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किव ने कहीं भी इन ग्रवस्थाग्रों का संकेत नहीं किया, फिर भी शोध-कत्ताधों ने सूफी मत की चारों श्रवस्थाश्रों को इस तरह से ढुँढ़ लिया है, मानों राजा नल ने सचमुच सूफी मत की दीक्षा लेकर ही दमयन्ती से प्रेम ग्रारम्म किया हो । खैर, इसमें शोध-कत्तीं श्रों का भी कोई दोष नहीं, जब एक बार पहले से ही इस काव्य-धारा को सूफी मान लिया गया तो इसके कवियों को किसी न किसी प्रकार तो सूफी सिद्ध करना ही था। हमारे लिए यही सौभाग्य की वात है कि इन शोध-कर्तांग्रों की दृष्टि विद्यापित, तुलसी, सूर, बिहारी ग्रौर पद्माकर ग्रादि पर नहीं पड़ी, ग्रन्यथा वे भी सूफी सिद्ध किये जा सकते थे, क्योंकि उन सबने प्रकृति का उद्दीपक प्रभाव वैसा ही --या उससे भी बढ़कर दिखाया है -- जैसा कि उपर्युक्त ग्रंश में

मिलता है।

यदि हम पूर्व-प्रचलित भ्रान्तियों एवं पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर इन काव्यों में प्रतिपादित दार्शनिक मान्यताग्रों पर विचार करें तो यह स्पष्ट रूप में प्रतीत होगा कि इनमें
सूफी विचार-धारा की ग्रपेक्षा भारतीय ग्रदैत-दर्शन, निर्गुण-ज्ञान-साधना एवं नाथ-पंथियों
की योग-पद्धित का ही प्रतिपादन ग्रधिक हुग्रा है। ग्रवश्य ही इनमें से कुछ कि सूफी
मतानुयायी थे, किन्तु ऐसा होते हुए भी उन्होंने ग्रपने मत का प्रतिपादन नहीं किया।
जिस प्रकार जायसी, मंभन ग्रादि ने मुसलमान होते हुए भी मुस्लिम पात्रों की ग्रपेक्षा
हिन्दू पात्रों का ग्रधिक उत्कर्ध दिखाया है तथा मुस्लिम-संस्कृति की ग्रपेक्षा हिन्दू-संस्कृति
का ग्रधिक चित्रण किया है, उसी प्रकार ग्रनेक कियों ने सूफी मतानुयायी होते हुए भी
भारतीय दर्शन की ग्रधिक चर्चा की है। इतना ही नहीं, उन्होंने जिस शब्दावली, एवं
जिन दृष्टान्तों का प्रयोग किया है, वे भी भारतीय दर्शन-शास्त्रों से गृहीत हैं। इसीलिए
ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विद्वान् को भी (जिन्होंने इस परम्परा को सूफी घोषित किया
था) 'पद्मावत' के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना पड़ा—'जायसी सूफियों के ग्रदैतवाद
तक ही नहीं रहे हैं, वेदान्त के ग्रदैतवाद तक भी पहुँचे हैं। भारतीय मत-मतान्तरों की
उनमें ग्रधिक भलक है। यह ग्राश्चर्य की वात है कि ग्राचार्यप्रवर ने इस 'ग्रधिक भलक'
वाले पक्ष को ही सर्वाधिक गौण कर दिया है।

भारतीय ग्रहैतवाद के ग्रनन्तर इन किवयों ने सर्वाधिक स्थान नाम-पंथी योग-साधना को दिया है। एक तो इनके नायक प्रायः योगी-वेश धारण करके घर से निकलते हैं। उन योगियों के विभिन्न उपकरणों का चित्रण इतनी स्पष्टता से किया गया है कि उनके नाथ-पंथी योगी होने में जरा भी सन्देह नहीं रहता, ग्रपितु इसका स्पष्ट निर्देश भी

कई बार कर दिया गया है, जायसी के पद्मावत में-

इसी प्रकार उसमान की 'चित्रावली' में भी नायक योगी-वेश धारण करके गुरु गोरखनाथ की ही जय कहता है—

सिंगी पूरहु जटा बराबहु। खप्पर लेहु भीख जेहिं पावहु। काँघे लेहु। बाहि मृग छाला। गीवँ पहिरुहु रुद्राष क माला।।

१. जायसी-प्रन्थावली की भूमिका, पृ० १४२।

प्ररहु कान जानि एकहु कहै कोउ जो लक्ख । पहिरि लेहु पग पाँवरी-बोलहु सिरी गोरक्ख ।।

मंभन कृत मधुमालती, नूरमोहम्मद की इन्द्रावती ग्रादि ग्रन्य काव्यों में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है। ग्रस्तु, इन किवयों के नायक न केवल नाथ-पंथी योग की दीक्षा लेते हैं, ग्रपितु वे योग-पद्धित का पूरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए हठयोग की शब्दावली एवं साधना-पद्धित का निरूपण इनमें बार-बार हुग्रा है। ग्रनेक वार इन गायकों को सफलता भी नाथ-पंथियों के ग्राराध्य देव शिव के द्वारा ही मिलती है। ग्रतः इनके काव्य से किसी धर्म-सम्प्रदाय का प्रचार होता है तो वह योग-पंथ ही है, ग्रन्यथा ग्रन्य किसी भी सम्प्रदाय का इतना प्रत्यक्ष, स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक वर्णन इनमें नहीं मिलता।

भ्रनेक कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से भी दार्शनिक विचारों एवं साधन-पद्धतियों की ग्रभिव्यक्ति की है। इनमें भी सामान्यतः भारतीय साधना-पद्धति की ग्रभिव्यंजना हुई है। जायसी ने 'पद्मावत' में रत्नसेन रूपी मन का नागमती रूपी सांसारिक आकर्षण से मुक्त होकर गुरु की सहायता से पद्मावती रूपी सात्विक बुद्धि की उपलब्धि का रूपक प्रस्तुत किया है। इस सात्विक बुद्धि या भ्राघ्यात्मिक ज्ञान के द्वारा ही मन माया के बन्धन को काटकर भ्रन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार इनमें मोक्ष प्राप्ति की भार-तीय ज्ञान-साधना का ही प्रतिपादन है, किन्तू हमारे विद्वानों ने पहले से ही इसे सुफी-साधना का रूपक मानकर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया-जहाँ कवि ने 'पद्मावती' को 'बुद्धि' का प्रतीक माना है, वहाँ उन्होंने परमात्मा का मान लिया, फलतः उन्हें रूपक की व्याख्या में सफलता नहीं मिली भीर इसे निरर्थंक घोषित करने को बाध्य होना पड़ा। इसी प्रकार उसमान की 'चित्रावली', नूरमोहम्मद की 'इन्द्रावती' एवं 'ग्रनुराग-वाँसूरी' में भी भारतीय तत्त्वों की ग्रभिव्यक्ति की गई है। 'चित्रावली' का नायक शैव-साधक है. नायिकाएँ विद्या और अविद्या की प्रतीक हैं, तथा अन्त में नायक संसार से संन्यास लेकर शिवाराघना में लग जाता है, जिससे इसमें शैव-उपासना के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। इन्द्रावती में तो पात्रों के नाम ही भारतीय दर्शन पर भ्राधारित हैं--नायक का नाम जीवात्मा है, नायिका का ब्रह्म-ज्योति, मंत्री बुद्धसेन (ज्ञान का प्रतीक) है तथा नायक ज्ञान की सहायता से ही ब्रह्मज्योति की उपलब्धि कर पाता है। इसी प्रकार 'ग्रनुराग वांसुरी' का नायक 'अन्तः करण' है, उसके साथी 'संकल्प-विकल्प' हैं, उसके मित्रों में बुद्धि, चित्त श्रौर श्रहं हैं तथा नायिका 'सर्व-मंगला' है। वस्तुतः ये सब पात्र भारतीय दर्शन के ही विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं।

इसके ग्रतिरिक्त इस परम्परा के ग्रधिकांश किव हिन्दू हैं, जिनमें एक ग्रोर नंद-दास जैसा सगुण पुष्टिमार्गीय भक्त है, तो दूसरी ग्रोर वाबा घरणीदास एवं दु:खहरण दास जैसे सन्त मतानुयायी हैं। इसी प्रकार कुछ ग्रन्य सम्प्रदायों के मतावलम्बी हैं, किन्तु सभी हिन्दू किवयों की ग्रपने मत पर पूरी ग्रास्था है तथा उन्होंने प्रायः ग्रपने काव्य में हिन्दू देवी-देवताग्रों की स्तुति पूरी श्रद्धा के साथ की है, ग्रतः उन पर सूफी होने का सन्देह करना व्यर्थ है।

वस्तुतः इस परम्परा के विकास में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के अनुयायी कवियों

ने योग दिया है; किन्तु जहाँ तक काव्य-रचनाओं का सम्बन्ध है, उनका दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष ही है। जिस प्रकार विद्यापित ने शैव होते हुए भी राधा-कृष्ण का चित्रण विशुद्ध
रिसकतापूर्ण दृष्टिकोण से किया है या बिहारी ने राधावल्लभी होते हुए भी राधा-कृष्ण
का चित्रण साहित्यिक दृष्टि से किया है, उनमें धर्म-प्रचार की भावना नहीं मिलती, उसी
प्रकार इन कथाओं के रचियताओं ने—भले ही वे व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम या सूफी
मत के अनुयायी हों, धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण का परिचय दिया है। जिन दार्शनिक तत्त्वों
एवं साधनाओं को उन्होंने अधिक स्थान दिया है, उनके पीछे भी किसी विशिष्ट धर्म के
प्रचार का लक्ष्य नहीं है। जिस प्रकार भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति के विभिन्न
पक्षों का उद्घाटन इनके काव्य में सहज रूप में ही हो गया है, वैसे ही भारतीय दर्शन
के विभिन्न तत्त्वों का समावेश भी इनमें हो गया है। उस समय नाथ-पंथी योग-पद्धित
एवं संतों के निर्गुण-दर्शन का प्रभाव भारत के समस्त वातावरण पर छाया हुआ था, ऐसी
स्थित में उसकी अनुगूँज इन काव्यों में भी मिले तो यह स्वाभाविक ही है।

ग्रागे चलकर ग्रहारहवीं-उन्नीसवीं शती में ग्रवश्य विचार-तत्त्वों की दृष्टि से इस परम्परा में एक नया मोड़ ग्राया। इस युग में मुस्लिम किव हिन्दी भाषा के माध्यम चित्रण में थोड़ा संकोच करने लग गये, जैसा कि नूरमोहम्मद की उक्तियों से प्रकट होता है, पिरणामस्वरूप यह परम्परा मुख्यतः हिन्दू किवयों के हाथों में ही रह गयी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परवर्ती युगों के २६ किवयों में से केवल ६ किव ही मुसलमान हैं तथा उन्होंने भी हिन्दू-जीवन का चित्रण करने की ग्रपेक्षा यूसुफ-जुलेखा, हजरत मूसा, नूरजहाँ ग्रादि की कथाग्रों के वर्णन में ग्रधिक रुचि प्रदर्शित की है। ग्रतः इन किवयों द्वारा थोड़ी-वहुत मात्रा में ग्रभारतीय तत्त्वों का समावेश हो जाना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है; सब कुछ मिलाकर इस परम्परा में भारतीय तत्त्वों की ही प्रमुखता स्वीकार करनी होगी।

श्राकर्षण-केन्द्र—इन काव्यों का मूल ग्राकर्षण-केन्द्र धर्म, दर्शन एवं ईश्वर नहीं है, ग्रिपतु नारी या सुन्दरी है। नारी को जितना ग्रिधक महत्त्व इन काव्यों में प्राप्त हुग्रा है, उतना भारत की किसी भी ग्रन्य परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। नारी के सौन्दर्य की व्यंजना संस्कृत के महाकाव्य रचिंयताग्रों ने भी को है, किन्तु वहाँ उस सौन्दर्य का इतना महत्त्व नहीं है कि उसके लिए प्राणों का भी मूल्य दिया जा सके। नारी सौन्दर्य को इन कियों ने एक ऐसा विस्तार एवं महत्व प्रदान किया है कि उसके समक्ष संसार की सारी विभूतियाँ ग्राभाहीन एवं तुच्छ प्रतीत होती हैं। इसीलिए सुन्दरियों की प्राप्ति के लिए नायक ग्रपने सर्वस्व का भी त्याग एवं बिलदान करने को प्रस्तुत हो जाता है तथा प्राणों की बाजी लगाकर हो उसे पाने में सफल हो पाता है। ग्रस्तुत हो जाता है सारे कथानक का मूल केन्द्र नायिका ही है, उसी के लिए कथानक की सारी घटनाग्रों का ग्रायोजन होता है, ग्रीर वही सारे क्रिया-कलापों की प्रेरणा एवं प्रयोजन है तथा उसी के ग्राधार पर प्रायः कथा का नामकरण होता है। जिस प्रकार भारतीय महाकाव्य एवं नाटक पुरुष-प्रधान या नायक-प्रधान कहें जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें नायिका-प्रधान कहां जा सकता है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि ने नायिकाएँ स्वयं प्रायः निष्क्रिय एकं

प्रयत्न-शून्य सी ही दिखाई पड़ती हैं; कथानक के सारे उतार-चढ़ाव में वे प्रत्यक्ष रूप में कोई भाग लेती हुई सी दृष्टिगोचर नहीं होती। ग्रादि से लेकर ग्रन्त तक वे सौन्दर्य की मौन मूर्तियाँ बनी हुई नायक की सारी उछल-कूद, दौड़-धूप एवं हार-जीत को निस्पृह भाव से देखती रहती हैं ग्रौर ग्रन्त में जब नायक सारी घाटियों को पार करके उनके पास पहुँचने में सफल हो जाता है, तो उन्हें प्रसाद के रूप में ग्रपनी सौन्दर्य-राशि भेंट करके उनके जीवन को सार्थक बनाती हैं। इस तरह सौन्दर्य को सम्भाले रखना ग्रौर ग्रन्त में उसे भेंट कर देना ही—उनके जीवन के दो प्रमुख कार्य दिखाई पड़ते हैं। फिर भी पुरुषों से इन्हें जितनी पूजा ग्रौर जितना सम्मान प्राप्त होता है, वह सचमुच ग्रद्भुत है।

भाव-पन्न—इन कार्थों का मूल भाव या स्थायी भाव रित या प्रेम है। प्रेम के भी दृष्टिकोण-भेद से कई रूप माने जाते हैं। जहाँ प्रेम समाज की मर्यादायों से अनुप्राणित हो, वहाँ उसे मर्यादावादी प्रेम कह सकते हैं, जैसा कि राम-सीता के जीवन में मिलता है। इसके विपरीत दूसरा रूप स्वच्छन्दतावादी प्रेम का है, जो समाज के वन्धनों एवं नैतिक मर्यादायों को स्वीकार नहीं करता। एक अन्य रूप, इन दोनों के वीच का है, जो सिद्धान्त रूप में तो मर्यादायों का विरोध नहीं करता, किन्तु वास्तविक जीवन में उनके पालन में असमर्थता स्वीकार करता है—यह यथार्थवादी दृष्टिकोण का द्योतक है। रोमांचक कथाओं में प्रायः इनमें से दूसरे प्रकार के प्रेम या स्वच्छन्दतावादी प्रेम, जिसे पाश्चात्य शब्दावली में 'रोमांस' कहा जाता है—का ही चित्रण होता है। स्वच्छन्द प्रेम की उत्पत्ति सौन्दर्य की प्रेरणा से एकाकार होती है तथा वह साहस एवं शौर्य से ग्रोत-प्रोत होता है। वह कुल, समाज एवं लोक-मर्यादाग्रों की उपेक्षा करके अपने लक्ष्य की ओर दृत गित से अग्रसर होता है। इसमें परिस्थितयों के अनुसार त्याग और विलदान की भावनाएँ भी विकसित हो जाती हैं, अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूलभाव के चरम विकास की दृष्टि से रोमांस को प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप कहा जा सकता है।

हिन्दी के इन काव्यों में प्रायः इसी रूप का चित्रण किया गया है, किन्तु उन्होंने किसी ऐसी परिस्थित का आयोजन प्रायः नहीं किया जिससे कि वह सामाजिक मर्यादाओं के प्रतिकूल चला जाय। उदाहरण के लिए, चंदायन जैसी एक-दो रचनाओं को छोड़कर इनमें नायिका कुमारी ही है तथा वह अन्त तक अपने सतीत्व का निर्वाह करती है। इसी प्रकार पुरुषों में बहु-विवाह का प्रचलन होने के कारण भी इनके नायकों का अनेक कुमारियों से विवाह करना सामाजिकता के प्रतिकूल नहीं जाता। अस्तु, इन कवियों ने रोमांस के आधारमूत तत्वों की रक्षा करते हुए भी उसे समाज-विरोधी होने से बचाया है।

प्रेम में परिस्थिति भेद से काम, सौन्दर्य एवं प्रणय का सिन्नवेश होता है। इन किवयों ने इन तीनों का ही चित्रण विभिन्न प्रसंगों में चरम सीमा तक किया है। संयोग वर्णनों में कामुकता, नायिकाग्रों के नख-शिख वर्णन में सौन्दर्य एवं नायक-नायिकाग्रों के विरह-प्रसंग में प्रणय की ग्रिभिव्यक्ति ग्रपने चरमोत्कृष्ट रूप में हुई है। जब हम इनके संयोग वर्णनों को पढ़ते हैं तो लगता है, किव सारे काम-शास्त्र एवं कोकशास्त्र को खोलकर बैठ गया है, तो दूसरी ग्रोर सौन्दर्य एवं प्रणय की व्यंजना को देखकर प्रायः ग्राघ्यात्मिक सौन्दर्य एवं दिव्य प्रेम की ग्रनुभूति हाने लगती है। ग्रस्तु, प्रत्येक तत्त्व को ग्रस्युक्ति की सीमा तक पहुँचा देने की प्रवृत्ति के कारण ही उन्होंने प्रायः ऐसा किया है।

इनके नायक ग्रीर नायिकाग्रों के पारस्परिक प्रेम की तुलना करें तो जात होगा कि इनमें नायक का प्रेम प्रायः ग्रधिक स्वच्छ, उदात्त एवं त्यागमय है। उसमें प्रणय की ग्रधिक गम्भीरता है, जबिक नायिकाग्रों में कहीं-कहीं काम वासना की प्रेरणा ग्रधिक मुखर है। उदाहरण के लिए जहाँ जायसी का रत्नसेन पद्मावती के लिए सारा राज्य-वैभव ठुकराकर प्राणों का भी विलदान करने के लिए तत्पर दिखाई पड़ता है तथा स्वर्ग की ग्रप्सरा को भी यह कहकर ठुकरा देता है कि भले ही वह पद्मावती से ग्रधिक सुन्दर हो, किन्तु उसे पद्मावती को छोड़कर ग्रीर किसी से कोई मतलव नहीं है, वहाँ पद्मावती में यह वात परिलक्षित नहीं होती। प्रारम्भ में तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी समस्या एकमात्र 'यौन-ज्वार', 'काम-समुद्र' एवं 'मदन-तरंगों' से ही छुटकारा पा जाने की है। इसीलिए वह ग्रपनी समस्या हीरामन तोते के समक्ष प्रस्तुत करती हुई कहती है—

सुनु हीरामिन कहीं बुक्ताई। दिन-दिन मदन सतावे श्राई। देस देस के बर मोहि श्राविहं। पिता हमार न आँख लगाविहं। जीवन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम्ह लाग श्रनंगा।

× × ×

ग्रस्तु, प्रारम्भ में तो वह विशुद्ध काम-वासना से ही उद्देलित दिखाई पड़ती है, किन्तु ग्रागे चलकर जब वह रत्नसेन के त्याग को देखती है, उसे ग्रपने लिए शूली पर चढ़ने के लिए तत्पर पाती है तो ग्रवश्य उसमें प्रणय का स्फुरण होता है। वह इस ग्रव-सर पर नायक को जो संदेश भेजती है, वह प्रेम की मार्मिकता से ग्रोत-प्रोत है—

जिनि जानहु हों तुम्ह सौं दूरी। नैनन माँभ गड़ी वह सूरी।

इन काव्यों की नायिकाओं में प्रेम का विकास क्रमशः वासनाओं से भावना की ओर अग्रसर होता है, जबिक नायकों में यह एकाएक ही ग्रपने चरम विकास की ग्रवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से नायिकाओं के प्रेम को यथार्थवादी एवं मनोविज्ञान संगत कहा जा सकता है, जबिक नायकों का प्रेम, उनके ग्रादर्शवादी एवं ग्रव्यावहारिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों रूपों के साथ-साथ, इनमें नागमती जैसी पित्नयों के दाम्पत्य भाव की भी ग्रिभव्यक्ति मिलती है, जो प्रेम के मर्यादित रूप का अतिनिधित्व करती है तथा जिसकी सम्यक् ग्रिभव्यक्ति प्रायः विरहोद्गारों के रूप में ही हुई है। ग्रतः कहा जा सकता है कि इनमें जहाँ रोमांसिक प्रेम की ही प्रधानता है, वहाँ गौण रूप में उसके ग्रन्य रूप भी चित्रित हुए हैं।

प्रणय-भाव के ग्रतिरिक्त इसमें उत्साह, निर्वेद, रौद्र, करुण ग्रादि की भी व्यंजना

प्रसंगानुसार हुई हैं—किन्तु उन्हें प्रायः गौण रूप में ही स्थान मिला है। जहाँ तक उत्साह का सम्बन्ध है, वह तो इसमें प्रणय का स्थायी सहचर ही वन गया है, क्योंकि इनके नायक निष्क्रिय प्रेमी न होकर उद्यमशील साहसी प्रेमी हैं। ग्रन्य भावों की भी ग्रिभिव्यक्ति इनमें यथा-स्थान मार्मिक रूप में हुई हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है।

शास्त्रीय तत्त्व—प्रेम की व्यंजना करते समय इन किवयों ने परम्परागत शास्त्रीय तत्त्वों—विशेषतः नख-शिख, नायिका-भेद, काम-दशाग्रों, विरह की ग्रवस्थाग्रों ग्रादि के निरूपण—का भी उपयोग कई स्थानों पर किया है। ऐसा करते समय इन्होंने कई बार विभिन्न भेदों का निर्देश भी किया है। उदाहरण के लिए पुहकर द्वारा विरह की ग्रवस्थाग्रों का निर्देश द्रष्टव्य है—

विप्रलंभ जिमि मूल है, क्रम क्रम विस्तर साख। दस ग्रवस्था कवि कहत हैं तहाँ प्रथम अभिलाख।

इसी प्रकार नूरमोहम्मद ने भी नायिका-भेद एवं काम-दशाग्रों का निर्देश किया है—

> पिय की प्रीत बलाने एक राखे गोय। रूप गरबता सुन्दरी प्रेम गरबता होय।।

—श्रनुराग बांसुरी

--इन्द्रावती

इन किवयों ने न केवल काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का, ग्रिपतु कामशास्त्रीय तत्त्वों का भी प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। यहाँ तक कि उसमान ने तो 'चित्रावली' में पूरा एक खण्ड ही 'कामशास्त्र खण्ड' रख दिया है, जिसमें नायिका-भेद एवं काम-कला सम्बन्धी तत्त्वों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ 'काम-भेद-ज्ञान' के महत्त्व की भी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'काम-भेद जानै जो कोई, दम्पत्ति सेज महा सुख होई।' ग्रस्तु, ये किव जितना उत्साह श्रद्धैत की व्याख्या में दिखाते हैं, उतना ही काम-तत्त्व की मीमांसा में भी; ऐसी स्थिति में इन्हें किसी एक क्षेत्र से ही सम्बद्ध मान लेना ग्रनुचित होगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये शास्त्रीय तत्त्वों का प्रयोग एक सीमा तक ही करते हैं, इसी युग के अन्य श्रुङ्गारी कवियों की भाँति ये रीति-प्रतिपादन को अपना साघ्य नहीं बनाते, अपितु उसका उपयोग साघन के रूप में ही करते हैं।

इनके द्वारा शास्त्रीय तत्त्वों के प्रयोग को कदाचित् इस काल के शास्त्रीय काव्य का प्रभाव समभा जाय, अतः इस सम्बन्ध में भी थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। हमारे विचार से इस परम्परा के लिए यह प्रवृत्ति सर्वथा नयी नहीं है। हिन्दी से पूर्व अपभ्रंश के चरित-काव्यों में भी हम इस प्रवृत्ति के दर्शन करते हैं, यथा, स्वयंभू ने काम की दस दशाओं का तथा नयनंदी ने ग्रपने सुदर्शन-चरित (सन् १०४३ ई०) में नायिका-भेद का निरूपण विस्तार से किया है। फिर भी इतना ग्रवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि सोलहवीं शताब्दी के बाद के काव्यों में इस प्रवृत्ति को ग्रधिक व्यापक रूप प्रदान करने में इस युग की विशेष रुचि के प्रभाव का भी थोड़ा-बहुत योग-दान ग्रवश्य है।

काव्य-रूप एवं शैली:—जैसा कि ग्रन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, काव्य-रूप की दृष्टि से ये काव्य भारतीय कथा-काव्य की परम्परा में ग्राते हैं। इसकी पुष्टि एक ग्रोर इनके लक्षणों से हो जाती है तो दूसरी ग्रोर सभी किवयों के उल्लेखों से हो जाती है, क्योंकि प्रायः सभी किवयों ने ग्रपनी रचनाग्रों को 'कथा' की संज्ञा दी है। किन्तु दुर्भाग्य से हिन्दी के विद्वानों में ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा॰ शंभूनाथ सिंह को छोड़कर ग्रौर किसी का व्यान इस तथ्य की ग्रोर नहीं गया। फलतः उन्होंने इनको एक ग्रोर से तो फारसी मसनवियों की परम्परा में स्थान दिया तथा दूसरी ग्रोर इनमें भारतीय महाकाव्यों के लक्षणों को ढूँढ़ने का प्रयास किया है, जविक कथा-काव्य इन दोनों से ही भिन्न काव्यरूप है। इस तथ्य को भलीभाँति हृदयंगम न कर सक पाने के कारण ही हमारे ग्रनेक सुयोग्य शोध-कर्त्ताग्रों को ग्रनावश्यक रूप से मसनवियों ग्रौर महाकाव्यों के परस्पर-विरोधी लक्षणों के जंजाल में उलभना पड़ा है तथा ग्रन्त में उन्हें ऐसे निर्णय देने को विवश होना पड़ा है, जो ग्रपने-ग्राप में ग्रस्पष्ट एवं ग्रसंगत हैं। इसी प्रकार कुछ ग्राचारों ने इन्हें महाकाव्य की कसीटी पर कसकर इनके ऐसे दोषों की चर्चा की है, जिनका कथा-काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। ग्रतः हमें यहाँ सबसे पहले महाकाव्य ग्रौर कथा-काव्य के ग्रन्तर को स्पष्ट कर लेना चाहिए।

महाकाव्य ग्रौर कथा-काव्य में सबसे वड़ा ग्रन्तर उनकी ग्राघारभूत जीवन-दृष्टि, एवं मूल लक्ष्य का होता है। महाकाव्य जहाँ जीवन में ग्रादर्श एवं मर्यादा की स्थापना के लक्ष्य से ग्रेरित होता है, ग्रतः उसका दृष्टिकोण सर्वत्र ग्रादर्शोन्मुखी रहता है, जब कि कथा-काव्य का लक्ष्य मुख्यतः पाठक को रोमांचित एवं ग्राह्मादित कर देना मात्र होता है। इसीलिए महाकाव्य में उच्चकुलोद्भव ग्रादर्श पात्रों की सृष्टि होती है, जबिक कथा-काव्य में ग्राश्चर्यजनक साहसपूर्ण कार्यों को सम्पादित करनेवाले पात्र होते हैं। महाकाव्यों का मूल भाव वीरता या कर्त्तव्य-परायणता की भावना से ग्रोत-प्रोत रहता है, जबिक कथा-काव्य में स्वच्छन्द प्रेम की ग्रिभिव्यक्ति होती है। महाकाव्य में चिरत्र या पात्र का घटनाग्रों की ग्रपेक्षा ग्रिघक महत्त्व होता है, जबिक कथा-काव्य में घटनाएँ चरित्र-चित्रण से ग्रिघक महत्त्वपूर्ण होती है। महाकाव्य की परिणित किसी ऐसे कार्य में होती है, जो नैतिक दृष्टि से महान् हो, जबिक कथा-काव्य के लिए यह ग्रपेक्षित नहीं है। ग्रस्तु, चरम लक्ष्य, विषय वस्तु एवं शैली—सभी के क्षेत्र में महाकाव्य जहाँ शिव के ग्रादर्श से ग्रनुप्राणित रहता है, वहाँ कथा-काव्य में सर्वत्र सौन्दर्य एवं ग्रानन्द की सरिता तरंगित रहती है। ग्रतः इस ग्रन्तर को घ्यान में रखकर ही कथा-काव्य का मूल्यांकन करना चाहिए।

हिन्दी के कथा-काव्यों को 'महाकाव्य' ग्रनुमित कर लिए जाने का एक कारण उनका पद्मबद्ध प्रबन्धात्मक शैली में प्रस्तुत होना है। किन्तु मध्यकाल में तो वैद्यक एवं ज्योतिष को पुस्तकें भी पृद्ध में लिखी जाने लगी थीं तथा हिन्दी से पूर्व प्राकृत एवं ज्योतिष को पुस्तकें भी पृद्ध में लिखी जाने लगी थीं तथा हिन्दी से पूर्व प्राकृत एवं

श्रपश्रंश में भी कथाएँ पद्मवद्ध होने लग गयी थीं एवं इसे रुद्रट ने एक लक्षण के रूप में भी स्वीकार कर लिया था, ग्रतः इन कथाग्रों का पद्म में लिखा जाना स्वाभाविक ही है।

कथा-काव्य में लक्षणों की ग्रांशिक रूप में चर्चा इस परम्परा का ग्रध्ययन ग्रारम्भ करते समय की जा चुकी है, फिर भी संक्षेप में उन्हें यहाँ पुनः दोहराया जाता है। ग्राचार्य भामह, दंडी, रुद्रट, ग्रग्निपुराणकार, साहित्य-दर्पणकार ने इसकी विभिन्न विशेषताएँ वतायी हैं, जो सम्मिलत रूप में इस प्रकार हैं—

- (क) उसका विषय सुन्दरियों का श्रपहरण (उपलब्धि), युद्ध (संघर्ष) श्रौर वियोग होता है। (भामह, दंडी)।
- .(ख) कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होती है तथा तदनन्तर ग्रन्थ-कार अपना और अपने कुल का परिचय देता है और कथा लिखने का उद्देश्य स्पष्ट करता है। (रुद्रट)
- (ग) यह श्रृङ्गार के सारे भ्रवयवों से युक्त होती है तथा कन्या (सुन्दरो) की उपलब्धि ही इसका प्रतिपाद्य होता है। (छद्रट)
- (घ) यह संस्कृत में गद्य में तथा ग्रन्य भाषाग्रों में पद्य में लिखी जाती हैं। (रुद्रट)
 - (च) इसमें परिच्छेद नहीं होते। (ग्रग्निपुराण)
 - (छ) इसकी कथा-वस्तु सरस होती है। (साहित्यदर्पणकार)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में कथा भीर भ्राख्यायिका—नाम से गद्य-काव्य के दो भेद थे, किन्तु परवर्ती काव्यों में यह भेद प्रायः लुप्त हो गया। साथ ही भ्रप-भ्रंश के कवियों द्वारा इसमें कई नयी प्रवृत्तियों का भी विकास हुआ, जिनमें से कुछ ये हैं—

(१) श्रपने श्राश्रयदाता नरेश की प्रशंसा, जैसे नयनंदी के 'सुदर्शन-चरित' में मिलता है—

'श्राराम गाम पुखर णिवेसे, सुपसिद्ध अवंती णाम देसे। तिहुयण नारायण सिरि णिकेड, तिहं णरवर पुंगमु भोयदेउ।।'

(२) किव द्वारा ग्रपनी ग्रल्पज्ञता एवं ग्रात्म-दैन्य का प्रदर्शन—यह प्रवृत्ति संस्कृत के महाकाव्य-रचियताग्रों में भी मिलती थी, जिसे ग्रपभ्रंश-किवयों ने भी ग्रपनाया है, जैसे—'जम्बू स्वामी चरित' से इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मुहियएन कब्बु सक्किम करेमि। इछिम भुएहिं सायरु तरे वि।।

- (३) धार्मिक तत्त्वों का सन्निवेश ।
- (४) नायक-नायिका के विवाह के बाद भी कथा को ग्रागे बढ़ाते हुए उनके गृह-स्थाश्रम, त्याग, वैराग्य एवं देहावसान ग्रादि का वर्णन करना। ग्रस्तु, हिन्दी कथा-काव्य के ऊपर संस्कृत ग्राचार्यों द्वारा निरूपित एवं ग्रपभ्रंश कवियों द्वारा परिवर्द्धित सभी लक्षण मिलते हैं।—यह दूसरी बात है कि हमारे विद्वानों ने इन्हीं लक्षणों को भ्रान्तिवश फारसी CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

मसनवी काव्य की विशेषताएँ मानकर मसनवी शैली में रचित घोषित कर दिया है, जो ठीक नहीं।

अभिव्यंजना-शैली-इस परम्परा की ग्रभिव्यंजना शैली की सबसे प्रमुख विशेषता अत्युक्ति एवं अतिशयोक्ति का अतिशय प्रयोग करना है। प्रत्येक वस्तु का वर्णन करते समय उसके सभी पक्षों एवं सभी गुणों को ये ग्रत्युक्ति की चरम सीमा पर पहुँचा देते हैं, फिर भले ही वह प्रकृति का वैभव हो या नायिका का सौन्दर्य हो ग्रथवा नायक की विरह-वेदना हो। किन्तु यह प्रवृत्ति हिन्दी कथा-काव्य की ग्रपनी नहीं है। संस्कृत काल में ही इस परम्परा के अनेक कवि—सुबन्धु, दंडी एवं वाणभट्ट इस प्रवृत्ति का विकास कर चुके थे। उनकी रचनाग्रों में एक वस्तु के केवल मात्र विशेषणों ग्रौर उपमानों के वर्णन में पृष्ठ के पृष्ठ तक रँगे हुए मिलते हैं। इसी प्रकार ग्रपभ्रंश के चरित-काव्यों में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान रही है। उदाहरण के लिए 'सुदर्शन-चरित्र' के रचयिता नयनंदी नायिका मनोरमा के सौन्दर्य-वर्णन में उपमाग्रों एवं उत्प्रेक्षाग्रों की भड़ी सी लगा देते हैं—

जाहे णिएविण कोमलु वाहउ, विस विक रहित गुगाउम्मा हुउ। जाहे पाणि पल्लवइं सुललिलयइं, कंकेल्ली दलहिंवि अहिलसि यहिं। जाहि सद्दु णिसणेवि अहिह वियए, णं किण्हतु धरिय माहवियए। जाहे कंठ रेहत्तय णिज्जिय, संख समुद्दे बुड्ड णं लिज्जिय। जाहे अहरराएं विद्धुय गुणु, जित्तउ जेण धरइ कठिण त्तणु। जाहे दंसण कंतिए जिय णिम्मल, सिप्पिहें तें पद्दु मुत्ताहल। जाहे सास सुरहि मणउ मणउ पावइ, पवणु तेणउविन विरु धावइ। जाहे विमल मुह इंद सयासए, णि वडण खप्परं व सिस भासइ।

ग्रर्थात्--जिसकी कोमल वाहुग्रों को देखकर....जिसके सुललित पाणिपल्लवों की ग्रशोक दल भी इच्छा करते हैं; जिसके मधुर स्वर को सुनकर कोकिला ने कृष्णता धारण कर ली, जिसकी कंठ-रेखाग्रों से पराजित होकर लिजत शंख समुद्र में डूव गया: जिसके ग्रधरराग से विजित विद्रुम ने किठनता धारण कर ली; जिसकी दन्त-कान्ति से विजित निर्मल मोती सीपियों के ग्रन्दर जा छिपे; जिसके श्वास-सौरभ को न पाकर पवन विक्षिप्त सा चारों ग्रोर दौड़ता फिरता है; जिनके मुखचन्द्र के सामने चन्द्रमा....एक खप्पर के समान प्रतीत होता है....

एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विविन्न उपमानों की बारम्बार श्रावृत्ति करने की यही शैली हिन्दी के कथा-काव्यों में मिलती है; यथा, 'पद्मावत' से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

> वरुनी का बरनौ इमि बनी। साँधे बान जानु दुइ अनी। उन्ह बानन्ह श्रस को जो न मारा। बेधि रहा सगरो संसारा। गगन नखत जस जाहिं न गने। वे सब बान भ्रोहि के हने। धरती बान बेधि सब राखो। साखा ठाढ़ देहि सब साखी।

ग्रस्तु, किसी भी विषय-वस्तु का वर्णन करते समय उसे ग्रत्युक्ति की चरम-सीमा तक पहुँचा देने की प्रवृत्ति इस परम्परा में संस्कृत-काल से ही रही है, किन्तु इसी

को कुछ ग्राचार्यों ने सूफी रहस्यवाद की देन समभकर इसमें ग्राघ्यात्मिकता की ग्रभि-व्यक्ति मान ली है, जो ठीक नहीं।

वस्तुतः हिन्दी के कथा-काव्यों में अलंकारों—विशेषतः उत्प्रेक्षा ग्रीर रूपक—का 'प्रयोग अत्यिष्ठिक मात्रा में हुआ है, जिसके पीछे चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इनके सौन्दर्य, प्रेम ग्रीर विरह सम्बन्धी वर्णनों की ग्रत्युक्ति को भले ही हम अलौकिकता से प्रेरित मान लें, किन्तु जहाँ संयोग के दृश्य को भी युद्ध का रूप दिया गया है या निर्जीव तोपों को मदिवह्लव नारियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है—उसके सम्बन्ध में क्या कहेंगे? जब जायसी जैसे फकीर भी इस प्रवृत्ति से नहीं वच सके तो ग्रीरों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या! ग्रतः हमें यह निःसंकोच रूप में स्वीकार करना होगा कि जहाँ इनकी विषय-वस्तु अत्यिषक रोमांचक है, वहाँ इनकी शैली भी, उसी के अनुरूप पर्याप्त ग्रतिरंजना-पूर्ण है। किन्तु उनकी ग्रितिरंजना ग्रन्ततः भावावेग से उल्लिसत एवं परिपूर्ण होने के कारण वस्तु के ग्राकर्षण में ग्रिभवृद्धि ही करती है—उसमें वाधक नहीं बनती।

छन्द-योजना के क्षेत्र में भी इन किवयों ने दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया है, जो अपभ्रंश के चिरत काव्यों की द्विपिदयों के बीच-बीच घत्ता देने की शैली से पर्याप्त मिलती-जुलती है। कुछ किवयों में इसका अपवाद भी मिलता है, जैसे गणपित कृत 'माघवानल-कामकंदला' केवल दोहों में रचित है, जब कि हंस किव द्वारा रचित 'चन्द्र-कृंवर री बात' में दोहा चौपाई के अतिरिक्त सोरठे, चौहठे, देशी आदि छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं, इस प्रकार की भाषा भी सामान्यतः अवधी प्रयुक्त है, किन्तु कुछ में राजस्थानी एवं अज का भी प्रयोग मिलता है, किन्तु ये अपवाद नगण्यप्राय ही हैं।

महत्त्व—ग्रन्त में यह कह सकते हैं कि सौन्दर्य, प्रेम ग्रौर विरह की व्यंजना की -दृष्टि से इस परम्परा का महत्त्व है। यद्यपि इस परम्परा के किवयों का प्रेम सामान्यतः लौकिक स्तर का है। किन्तु उसका ग्रादर्श ग्रत्यन्त उच्च है। उन्होंने प्रेम में साहस, त्याग एवं ग्रात्म-विलदान के भावों का सिम्मश्रण करके उसे कामुकता के स्तर से बहुत ऊँचा उठा दिया है।

मध्यकाल में जबिक लोक-रंजन के ग्रन्य-साधनों का प्रायः ग्रभाव था, इन काव्यों ने इस ग्रभाव की पूर्ति में ग्रसाधारण योग दिया। साथ ही इनके द्वारा जनसाधारण के ज्ञानकोष में भी ग्रभिवृद्धि हुई, क्योंकि ग्रनेक किवयों ने ग्रपनी रचनाग्रों में विभिन्न शास्त्रीय तत्वों को भी प्रसंगानुसार प्रस्तुत किया है। इस परम्परा की दीर्घता एवं व्यापकता भी इसकी लोकप्रियता एवं महत्ता की सूचक मानी जा सकती है। वस्तुतः ग्राघुनिक युग में जो स्थान उपन्यास-साहित्य का है, वही मध्यकाल में इन प्रेम-कथाग्रों का रहा है; वे जनता की कलात्मक रुचि एवं साहित्यिक भूख को वरावर शान्त करती रही हैं। इसके ग्रतिरिक्त इस युग के जड़ एवं निस्पंद जीवन में इन ग्राख्यानों की साहिसकता ने न्यूनाधिक चैतन्यता एवं कर्मण्यता का भी संचार ग्रवश्य किया होगा, यह भी स्वीकार किया जा सकता है।

: सत्ताईस :

राम-काव्य या पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा

- १. नामकरण।
- २. पौराणिक प्रवन्ध-काव्यों की पूर्व परम्परा।
- ३. प्रेरणा-स्रोत एवं उद्गम-स्रोत ।
- ४. प्रारम्भिक कवि।
- ५. परम्परा का विकास।
- ६. प्रमुख विशेषताएँ एवं महत्त्व ।

हिन्दी के मध्यकालीन काव्य के अन्तर्गत शताधिक ऐसे प्रवन्ध-काव्य मिलते हैं, जिनकी विषय-वस्तु पौराणिक ग्रन्थों पर ग्राधारित है। पर साथ ही उनमें काव्यात्मकता का भी ग्रभाव नहीं है। वस्तुतः विषय-वस्तु के विस्तार, पात्रों के वैविष्य एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इस वर्ग की रचनाएँ उच्च कोटि की सिद्ध होती हैं, जिन्हें हम 'पौराणिक प्रवन्ध-काव्य-परम्परा' शोर्षक के ग्रन्तर्गत स्थान दे सकते हैं, इनमें राम, कृष्ण, सुदामा, प्रद्युम्न, ग्रर्जुन, प्रह्लाद, घ्रुव, ग्रादि विभिन्न पौराणिक पात्रों के चरित्र का ग्रंकन किया गया है, किन्तु दुर्भाग्य से हिन्दी के प्रचलित इतिहास-ग्रन्थों में इस पर-म्परा को 'राम-भक्ति-शाखा' या 'राम-काव्य-परम्परा' की संज्ञा दे दिए जाने के कारण केवल राम-विषयक कतिपय प्रवन्धों को छोड़कर शेष को 'फुटकल खाते' में ही स्थान प्राप्त हो सका। यह भी विचित्र बात है कि ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रौढ़ समीक्षक ने 'राम-भक्ति-शाखा' की स्थापना करते हुए तुलसी से उसका ग्रारम्भ माना है ग्रौर उन्हों से उसकी समाप्ति मानी है, क्योंकि 'गोस्वामी जी की प्रतिमा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि राम-भक्ति की ग्रौर रचनाएँ उसके सामने ठहर न सकीं।' यहाँ तुलसी की जिस विशेषता की दाद दी गई, बिहारी के प्रसंग में भी उसी विद्वान् ने इससे विल्कुल विपरीत बात के लिए प्रशंसा की है। वहाँ वे लिखते हैं कि विहारी सतसई को लेकर इतने व्यक्तियों ने उसका अनुकरण किया कि 'बिहारी सम्बन्धी ग्रलग साहित्य ही खड़ा हो गया है, इतने से ही इस ग्रन्थ की सर्विप्रयता का ग्रनुमान हो सकता है।' एक समर्थ ग्रालोचक किस प्रकार दो विरोधी वातों को भी एक जैसी सिद्ध कर सकता है, इसका यह उत्कृष्ट उदाहरण है। पर वास्तविकता यह है कि एक प्रबन्ध-काव्य, दो नाटकों ग्रीर दो मुक्तक-संग्रहों के श्राधार पर स्थापित 'राम-काव्य-परम्परा' परम्परा या शाखा कहलाने योग्य नहीं है, क्योंकि एक जैसी काव्य-शैली एवं काव्य-रूपों वाली कम से कम म्राठ-दस रचनाएँ हों तभी उसे 'परम्परा' का नाम दिया जा सकता है। ग्रस्तु, हम 'राम-भक्ति-शाखा' जैसे ग्रनुपयुक्त एवं संकीर्ण नाम का विहिष्कार करते हुए इस परम्परा को 'पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा' के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं जिससे कि इस युग के सभी पौराणिक प्रबन्धों को यथोचित स्थान दिया जा सके।

पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों की पूर्व-परम्परा-धार्मिक महापुरुषों को लेकर प्रबंध-काव्य लिखने की परम्परा का प्रवर्त्तन प्राचीनकाल में ही संस्कृत, प्राकृत एवं ग्रपभ्रंश में हो गया था । जहाँ वाल्मीकि ने 'रामायण', ग्रश्वघोष ने 'बुद्धचरित' की रचना संस्कृत में की, वहाँ अनेक जैन कवियों ने प्राकृत एवं श्रपभ्रंश में विभिन्न तीर्थंकरों एवं धार्मिक नेताग्रों के चरित का ग्रंकन काव्यात्मक शैली में किया। प्राकृत में रचित 'पउम चरिय' (विमल सूरि : ६० ई०), 'चउपन्न महापुरिस चरिय' (शोलाचार्य; ८६८ ई०), 'सुपा-स्सनाह चरिय' (श्री पार्श्वनाथ चरित्र), 'महावीर चरित', 'सुमितनाथ चरित' ग्रादि तथा ग्रपभ्रंश में रचित 'पडम चरिउ' (पद्म चरित्र : स्वयंभू), 'रिटुणेमि चरिउ' (स्वयंभू), 'तिसट्टी महापुरिस गुणालंकार' (पुष्पदंत), 'जसहर चरिउ' (पुष्पदंत), 'जम्बुसामि चरिउ' (वीर कवि), 'पास चरिउ' (पार्श्व चरित : पद्मकीर्ति), 'जिणदत्त चरिउ' (लक्खन), 'णेमिणाह चरिउ' (नेमिनाथ चरित : लक्ष्मणदेव), 'वर्द्धमान चरिउ' (जयमित्र) ग्रादि उल्लेखनीय हैं। जैन-कवियों द्वारा विकसित यही धार्मिक चरित काव्य-परम्परा सीधी हिन्दी में भी पहुँची है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण एक तो यह है कि इस परम्परा का प्रथम हिन्दी कवि सघारु श्रग्रवाल जैन ही था। उसने 'प्रद्युम्न चरित' की रचना में जैन कवियों के ही दृष्टिकोण, विषय-वस्तु एवं शैली का अनुकरण किया है; दूसरे, हिन्दी के अधि-कांश प्रवन्ध-काव्य 'चरित' संज्ञक हैं, यहाँ तक कि तुलसीदास ने भी श्रपने प्रवन्ध का नाम 'रामायण' न रखकर 'रामचरित-मानस' रखा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश में प्रेम-कथाओं को भी 'चरित' की संज्ञा दी जाती रही है, जबिक हिन्दी में ऐसा नहीं किया गया।

हिन्दी के पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों के विकास में जैन-चरित-काव्यों को परम्परा के अतिरिक्त दक्षिण के पौराणिक प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा का भी गहरा योग-दान सम्भव है। जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, तिमल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ एवं मराठी में वैष्णव पुराणों के विभिन्न पात्रों को लेकर प्रबन्ध-काव्य लिखने की एक सुदृढ़ परम्परा का प्रवर्त्तन एवं विकास हिन्दी की इस परम्परा के विकास से पूर्व हो चुका था, अतः यह बहुत सम्भव है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इन परम्पराओं में पारस्परिक सम्बन्ध हो। पर अभी इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

प्रेरणा-स्रोत एवं उद्गम-स्रोत—हिन्दी में इस परम्परा के काव्य प्रायः धार्मिक प्रेरणा से ही रिचत हैं, किन्तु उनमें सम्प्रदाय-विशेष की कट्टरता परिलक्षित नहीं होती। जिस प्रकार संत-काव्य, कृष्ण-काव्य, रिसक-भक्ति-काव्य, सम्प्रदाय-विशेष के धार्मिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ यह बात इन पर लागू नहीं होती। इनमें सम्प्रदाय के प्रचार की भावना कम है, अपने आराध्य या उसके भक्तों के गुण-गान की ही प्रवृत्ति

ग्रधिक है । वस्तुतः इनका धर्म के क्षेत्र में समन्वयात्मक एवं व्यापक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है ।

पौराणिक प्रवन्ध-काव्यों में से बहु-संख्यक काव्य वैष्णव पुराणों से सम्बन्धित हैं, यद्यपि ग्रपवाद-स्वरूप जैन ग्रौर शैन मत से सम्बन्धित पुराण-कथाग्रों पर भी कुछ प्रवन्ध ग्रवलम्बित हैं। वैष्णव-वर्ग के काव्य मुख्यतः रामायण, महाभारत एवं भागवत पुराण पर ग्राधारित हैं, गौण रूप से कुछ ग्रन्य पुराणों से भी सम्बन्धित हैं। सामान्यतः इन्हीं ग्रंथों को इस परम्परा के मूल स्रोतों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

प्रारंभिक कि — इस परम्परा के उपलब्ध हिन्दी ग्रन्थों में सर्वप्रथम 'प्रद्युम्न चिरित' का नाम ग्राता है जिसके रचिता सधार अग्रवाल थे। सधार जैन धर्म में दीक्षित थे, ग्रतः उन्होंने प्रद्युम्न के ग्राख्यान को जैन परम्परा के ग्रनुसार प्रस्तुत करते हुए ग्रन्त में ग्रपने धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत काव्य को हिन्दी के वैष्णव प्रवन्ध काव्यों की ग्रपेक्षा ग्रपभ्रंश के जैन-काव्यों की परम्परा में स्थान देना ग्रधिक उचित होगा। किन्तु भाषा की दृष्टि से ऐसा करना सम्भव नहीं। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, हिन्दी के वैष्णव कियों ने यह परम्परा ग्रपभ्रंश के जैन कियों से ही ग्रपनाई थी, सधार का 'प्रद्युम्न चिरत' बीच की वह कड़ी है, जो ग्रपभ्रंश ग्रीर हिन्दी के पौराणिक काव्यों को परस्पर सम्बद्ध करती है तथा इस विनिमय को प्रमाणित करती है। ग्रतः साम्प्रदायिक दृष्टि से यह रचना परवर्ती पौराणिक काव्यों के प्रतिकूल होती हुई भी, काव्य-रूप, विषय-वस्तु एवं प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से इस परम्परा की ग्रादि हिन्दी रचना सिद्ध होती है।

'प्रद्युम्न-चरित' का प्रारम्भिक ग्रन्थयन एवं इसके कुछ ग्रंशों का प्रकाशन डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह के द्वारा उनके शोध प्रवन्ध 'सूर पूर्व ब्रजभाषा श्रौर उसका साहित्य' के ग्रन्तर्गत हो चुका है, जिससे इसके सम्बन्ध में ग्रनेक तथ्यों का पता चलता है। किव ने ग्रम्भंश के चरित काव्यों की शैली का ग्रनुकरण करते हुए काव्य का श्रारंभ सरस्वती की स्तुति, इष्टदेव की वन्दना, रचना के प्रयोजन एवं रचना-काल के निर्देश के साथ किया है, यथा—

(क) सरस्वती की स्तुति :

सारद विष्णु मित कवितु न होइ, मकु श्राखर णवि बुभइ कोइ। सो सादर पणमइ सुरसती, तिन्हि कहुँ बुधि होइ कत हुती।।१॥

(ख) रचना का प्रयोजन :

सरस कथा रस उपजइ घगउ। निसुणहु चरित पदूमह तणउ।

(ग) रचना-काल का निर्देश:

सम्बत चउदह सौ हुइ गयो। ऊपर ग्रधिक एगारह भयो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

भादव बदी पंचमी सो सारू। स्वाति नक्षत्र सनीचर वारू॥

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रचना-काल सम्बन्धी यह उल्लेख गणना के द्वारा भी शुद्ध सावित हुआ है। डा॰ हीरालाल की जाँच के अनुसार उपर्युक्त तिथि ईस्वी सन् १३५४ के ह अगस्त णनिवार को पड़ती है तथा नक्षत्र भी इस दिन स्वाति ही पड़ता है, अतः इस तिथि को असंदिग्ध रूप से 'प्रद्युम्न चरित' के रचना-काल के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

कथा का ग्रारम्भ नारद के कृष्ण के यहाँ पहुँचने की घटना से होता है। कृष्ण की पटरानी सत्यभामा ग्रपने उपेक्षापूर्ण व्यवहार से नारद को ग्रप्रसन्न कर देती है जिससे वे इसका बदला लेने के लिए कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की ग्रायोजना करते हैं। सत्यभामा ग्रीर रुक्मिणी में सौतिया डाह एवं प्रतिद्वन्द्विता का भाव जागृत होता है तथा वे शर्त लगाती हैं कि जिसके पहले पुत्र उत्पन्न होगा, वही प्रधान होगी । दोनों के साथ-साथ पुत्र होते हैं किन्तू रिक्मणी-पुत्र प्रद्युम्न को एक दैत्य उठाकर ले जाता है, किन्तू वह दैवयोग से बच जाता है तथा सोलह वर्ष के पश्चातु सोलह प्रकार की उपलब्धियों एवं दो प्रकार की विद्यास्रों के साथ पुनः लौटता है तथा नारद की प्रेरणा से सत्यभामा को भाँति-भाँति के कष्ट पहुँचाता है। फलतः बलराम श्रीर प्रद्युम्न में संघर्ष होता है तथा श्रागे कृष्ण ग्रीर प्रद्यम्न में भी युद्ध होता है। प्रद्यम्न ग्रनजान से ग्रपनी माँ रुक्मिणी का भी ग्रपहरण कर लेता है, किन्तू नारद के द्वारा रहस्योद्घाटन हो जाने पर कृष्ण एवं प्रद्युम्न में मेल-मिलाप हो जाता है। प्रद्युम्न अनेक विवाह करता है तथा कृष्ण की मृत्यु व यादवों के नाश के पश्चात वह जैन धर्म की दीक्षा ले लेता है भीर अन्त में कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस कथा का स्रोत मुख्यतः जैन पुराण ही है, वैष्णव पुराणों से इसका कोई मेल नहीं है। ग्रपभ्रंश में प्रद्युम्न के चरित को लेकर भ्रनेक प्रवन्ध-काव्यों की रचना की गई थी. प्रस्तुत काव्य का कथानक भी उन्हीं पर ग्राधारित है।

पूरा ग्रन्थ लगभग सात सौ चौपाइयों में समाप्त हुग्रा है। विभिन्न प्रसंगों के ग्रायोजन एवं प्रस्तुतीकरण तथा भावानुभूतियों की व्यंजना में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

चौदहवीं शताब्दी के दूसरे किव, जो इस परम्परा में श्राते हैं, जाखू मिणयार हैं, जिन्होंने 'हरिचन्द पुराण' की रचना चैत्र मास की दशमी रिववार, १४५३ वि० (१३६६ ई०) में की थी। इसका निर्देश स्वयं किव ने इस प्रकार किया है—

चौदह सै तिरपर्ने विचार, चैतमास दिन श्रादित वार। मन माँहि सुमिर्यो श्रादीत, दिन दसराहे कियो कवीत।।

काव्य का ग्रारम्भ गणेश एवं शारदा की स्तुति के साथ करते हुए रचना-काल, प्रेरणा-स्रोत एवं ग्राधारभूत ग्रन्थ का भी निर्देश कर दिया गया है। किव के उल्लेख के ग्रनुसार उसकी मूल कथा ऋषि कृष्ण द्वैपायन (व्यास) द्वारा वर्णित है। वस्तुतः इसका ग्राधार महाभारत ही है—

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

यद्यपि इस काव्य की कथा-वस्तु सत्यवादी हिरिश्चन्द्र के परम्परागत पौराणिक इतिवृत्त पर ही ग्राधारित है, किन्तु जैसा कि डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह ने संकेत किया है— 'किव ने ग्रपनी मौलिक उद्भावना के वल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण एवं मार्मिक वनाने का प्रयास किया है।' इसकी एक हस्तिलिखित प्रति श्री ग्रगरचन्द नाहटा के ग्रन्थालय में सुरक्षित है तथा पूरा ग्रन्थ लगभग ६०० छन्दों में समाप्त हुग्रा है। मुख्यतः इसमें चौपाई छन्द ही प्रयुक्त है, किन्तु वीच-बीच में कुछ ग्रन्थ छन्द—'वस्तु', 'ग्रठताली' ग्रादि—भी प्रयुक्त हैं। यह रचना ग्रभी तक ग्रप्रकाशित है, किन्तु इसके जो ग्रंश प्रकाश में ग्राये हैं, उन्हें देखने से यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। विभिन्न भावों की व्यंजना में—विशेषतः करुण रस के प्रसंग में—किव ने सच्ची सहदयता का परिचय दिया है, यथा रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या का विलाप द्रष्टव्य है—

विप्र पुंछि बन भीतर जाइ, रानी श्रकली खरी विलखाइ। 'सुत! सुत?' कहै वयण उचरइ, नयण नीर जिमि पाउस भरइ॥ हा ध्रिग! हा ध्रिग! करै संसार, फाटइ हियो श्रित करइ पुकार! तोड़इ लट श्रक फाड़इ चीर, देखें मुख श्रक चौवे नीर॥ दीठे पडियो जीवन श्राधार, सुनौ श्राज भयौ संसार।

वस्तुतः ग्रनुभूति की गम्भीरता एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से यह उच्चकोटि का काव्य है। इसका ग्रध्ययन पूर्ववर्ती एवं परवर्ती पौराणिक काव्यों की ग्रनेक प्रथाओं एवं रूढ़ियों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हो सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से यह रचना ग्रभी तक ग्रप्रकाशित है।

यनेक पौराणिक प्रवन्ध-काव्यों के रचियता विष्णुदास को ग्रभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में स्थान नहीं मिल पाया है, जबिक वे साहित्यिक दृष्टि से सूरदास एवं तुलसीदास जैसे महान् किवयों के भी पय-प्रदर्शक सिद्ध होते हैं। मध्यकाल के दोषपूर्ण विभाजन के कारण न तो वे राम-काव्य की संकीर्ण सीमा में वँघ पाते थे ग्रौर न ही कृष्ण-काव्य के ढाँचे में ही, फलतः वे इतिहास में कोई स्थान पाने से वंचित रहे। ग्रन्थया उनकी रचनाग्रों का विवरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा की १६०६-८, १६१२ एवं १६२६-२८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हो चुका था, ग्रतः यह नहीं कहा जा सकता कि इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल को उनका पता नहीं था।

विष्णुदास ग्वालियर नरेश राव डूगेन्द्रिसह के राज्यकाल (ग्रारंभ १४२४ ई०) में वर्तमान थे तथा उनकी पाँच रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं—(१) महाभारत कथा, (२) रुक्मिणी मंगल, (३) स्वर्गारोहण, (४) स्वर्गारोहण पर्व ग्रौर (५) स्नेह-लीला। इनमें तीसरी ग्रौर चौथी एक ही प्रतीत होती है, ग्रतः इनकी चार रचनाएँ ही मानी जानी

१. सूरपूर्वं ब्रज-भाषा काव्य, पृ० १४६।

चाहिए। ये सभी रचनाएँ प्रबन्धात्मक शैली में रिचत होने के कारण प्रस्तुत परम्परा में प्राती हैं। 'महाभारत कथा' में पांडवों का चरित प्रस्तुत किया गया है, जो १४६५ ई० की रिचत मानी गई है। इसमें किव के धार्मिक दृष्टिकोण की प्रमुखता है, क्योंकि उसने लिखा है—

पांडु चरित जो मन दै सुनै, नासै पाप बिष्णु कवि भनै। एक चित्र सुनै दै कान, ते पार्वे श्रमरापुर थान।।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह काव्यात्मकता से शून्य है। वस्तुतः धार्मिक वृष्टिकोण की प्रधानता होते हुए भी यह काव्यात्मक रचना है। उदाहरणार्थ इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

विनसे धर्म कियि पाखंडू, विनस नासिर गेह परचंडू। विनसे रांडु पढ़ाये पांडे, विनसे खेले ज्वारी डांडे।। विनसे नीच तनें उपजारू, विनसे सूत पुराने हारू। विनसे माँगनी जरै जु लाजे, विनसे जूभ होय विन साजे।।

यहाँ 'विनसै' की भ्रावृत्ति का चमत्कार है, जो लगभग चालीस पंक्तियों में चलता रहता है। भ्रावृत्ति की यह प्रवृत्ति भ्रपभ्रंश के जैन कवियों में भी प्रमुख रूप से मिलती है, जिसका विकास दूसरी भ्रोर हिन्दी के रोमांसिक कथा-काव्यों में भी मिलता है।

'स्वर्गारोहण' या 'स्वर्गारोहण पर्व' में पांडवों के स्वर्ग-गमन की कथा दी गई है, जो दोहा-चौपाई छन्दों में प्रस्तुत है। कदाचित् यह कल्पना की जा सकती है कि प्रस्तुत काव्य किव की 'महाभारत कथा' का ही एक ग्रंश होगा। किन्तु वस्तुतः यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसका प्रमाण निम्नांकित मंगलाचरण है:

गवरी नन्दन सुमति दै गन नायक वरदान। स्वर्गारोहण ग्रन्थ के वरणों तत्व बखान।

यहाँ 'ग्रन्थ' का उल्लेख इसके स्वतन्त्र ग्रस्तित्व का द्योतक है। रचना-शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ भी उनकी 'महाभारत कथा' के स्तर का प्रतीत होता है, नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सुनहु भीम कह धर्म नरेसा। बार बार सुन ले उपदेसा। ग्रब यह राज तात तुम लेहू। कै भैया श्रर्जुन कहें देहू। राज सकल श्ररु यह संसारा। मैं छाँड़ों यह कहें भुवारा। बन्धु चार ते लये बुलाई। तिन सों कहीं बात यह राई।

काव्यत्व की दृष्टि से इनकी अपेक्षा 'रुक्मिणी मंगल' में किव को अधिक सफलता मिली है। इस काव्य में एक स्थान पर किव ने अपने-आपको 'भाषा-काव्य' बनाने के लिए कोसा भी है—

तुछ मत मोरी थोरी सी बौराई भाषा काव्य बनाई। रोम रोम रसना जो पाऊँ महिमा वर्ण नींह जाई।।

'रुक्मिणी मंगल' प्रवन्धारमक शैली में रचित है, फिर भी इसके बीच-बीच में विभिन्न राग-रागिनियों के पदों ग्रीर गीतों का ग्रायोजन किया गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

वस्तुतः जिस प्रकार दोहा-चौपाई शैली में 'स्वर्गारोहण' काव्य को प्रस्तुत करके विष्णुदास ने परवर्ती पौराणिक प्रवन्ध-रचियताग्रों (जिनमें गोस्वामी तुलसीदास भी ग्रा जाते हैं) का पथ-प्रदर्शन किया, वहाँ उन्होंने कृष्ण-भक्ति-विषयक पद लिखकर कुंभनदास, स्रदास ग्रादि के लिए भी नई परम्परा का प्रवर्त्तन किया। ग्रतः काव्यत्व की दृष्टि से विष्णुदास भले ही वहुत उच्चकोटि के किव सिद्ध न हों, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनका महत्त्व वहुत ग्रिधिक है।

ईसा की पन्द्रहवीं शती के ग्रन्तिम भाग में एक ग्रन्य महत्त्वपूर्ण किव ईश्वरदास, हुए, जिन्होंने ग्रनेक पौराणिक कथाग्रों को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया, जैसे—'सत्यवती कथा', 'स्वर्गारोहिणी कथा', 'एकादशी कथा' एवं 'भरत मिलाप'। इनमें से 'सत्यवती कथा' का ग्राधार पौराणिक होते हुए भी इसका प्रस्तुतीकरण रोमांसिक शैली में हुग्रा है। शेष रचनाग्रों के नाम से धार्मिकता एवं पौराणिकता का ग्राभास स्पष्ट रूप में मिलता है, किन्तु इसमें काव्यात्मकता का ग्रभाव नहीं है, ग्रतः वे यहाँ विवेच्य हैं। 'स्वर्गारोहिणी कथा' पांडवों के स्वर्गारोहण-प्रसंग से सम्बन्धित है। इसका ग्रारम्भ गणपित एवं शारदा की वन्दना, इष्टदेव की स्तुति, पूर्व किवयों के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन, सज्जन एवं दुर्जन की प्रशंसा-निन्दा, रचना-काल के निर्देश, तत्कालीन नरेश के उल्लेख, ग्रपने कुल के परिचय, काव्य-स्रोत एवं काव्य-प्रयोजन के निर्देश के साथ किया है, इससे जहाँ काव्य-रूप सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियों का पता चलता है, वहाँ किव ईश्वरदास एवं उसके काव्य से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। काव्यारंभ में की गई इष्टदेव की वन्दना केवल रूढ़ि-निर्वाह मात्र जैसी प्रतीत नहीं होती, उसमें भिन्त-भाव की सच्ची प्ररणा परिलक्षित होती है, यथा—

राम नाम किव नरक नेवारा, तेहि सेवा मनु लागु हमारा। संख चक्र घर सारंग पानी, दया करहु कुछु कहोँ बखानी। मरम न जानौ केसव तोरा, तुम्हरे चरन चितु लागै मोरा। राम नाम भाव दिन राती, अछर मेरवहु निरमल मोती। राम नाम ईसर किव गाए, सुनहु लोग तुम मन चितु लाए।

कवि का प्रयोजन मुख्यतः पाठकों की धार्मिक भावनाओं का उद्बोधन करते हुए उन्हें पाप से मुक्ति दिलवाना ही है—

ग्रखर तीनि बखानों, भारय कथा चित लाइ। कहे ईसर जे सुनितो, ताकर पाप छै (चय) जाइ।।

सारी कथा दोहा-चौपाई शैली में प्रस्तुत है। वस्तुतः काव्य-रूप एवं उसकी विभिन्न रूढ़ियों एवं प्रवृत्तियों को दृष्टि से यह तुलसी के 'रामचरित मानस' का पूर्व विकसित पूर्व-रूप है। प्रारम्भ की जिन विशेषताग्रों का उल्लेख हमने भ्रभी किया है, वे सभी 'मानस' में भी मिलती हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत काव्य का विशेष महत्त्व है।

धार्मिक दृष्टिकोण के होते हुए भी, ईश्वरदास कोरे कथाकार नहीं हैं, उनमें किवत्व शक्ति भी पर्याप्त मात्रा में है। इसीलिए उन्होंने उपर्युक्त कथा को शुष्क इतिवृत्त CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

होने से बचा लिया। भ्रनेक स्थानों पर वस्तु-निरूपण एवं भावों की व्यंजना सफलता-पूर्वक की गई है, यथा—

(क) भ्रजुंन का युद्धकौशल— जस विजुलो के मारत, परवत फाट भ्रघात। तस अरजुन के वानन्ह, कौरौ भये निपात।।

(ल) युधिष्ठिर का शोक— बंधु सोग में सहें न पारों, बंधु बिना जग जीवन हारों। बंधु वर्ग मारा सुख लागी, सोग हिदै बारत है आगी।

इनकी दूसरी पौराणिक रचना 'एकादशी कथा' भी काव्यात्मकता से शून्य नहीं है। यद्यपि इसका भ्रारम्भ उतने विधि-विधानों के साथ नहीं किया गया; किन्तु वीच-बीच में नगर-वर्णन, नारी-सौन्दर्य, सौन्दर्याकर्षण, शोकानुभूति, निर्वेद भ्रादि का निरूपण जिस सरस एवं भावोत्पादक शैली में किया गया है, वह इसे उत्कृष्ट काव्यकृति सिद्ध करता है; कुछ प्रसंग देखिए—

(क) मोहिनी का रूप-सौन्दर्य— जहें लगु होइ सकल संसारू, काढ़ि लेहु सब कर रूप सुढारू। एकै करता काढ़ि लेहु रासी, विसु काम ले बैठु संडासी।

(ख) मोहिनी का सौन्दर्याकर्षण-

नैन कटोरन्ह चितवे नारी, हिर हर ब्रह्मा रहे निहारी। देखि रिषे सबै श्रकुलाई, देखि कामिनि तन दरसे आई। घ्यान छूट रिषे देखु जागी, जानहू एक चित्र होइ लागी। नर गंध्रप देखींह चित लाई, नारि देखि सब गये मुरछाई।

ईश्वरदास की एक ग्रन्य रचना 'भरत मिलाप' वताई जाती है जो काफी विवादा-स्पद है। इसकी विभिन्न प्रतियाँ प्राप्त हैं जिनमें परस्पर गहरा पाठ-भेद मिलता है तथा रचितता का नाम भी उनमें ग्रलग-ग्रलग है। सामान्यतः इनमें तीन नाम ग्राये हैं—
तुलसीदास, ईश्वरदास एवं सूरजदास। डा० शिवगोपाल मिश्र के मतानुसार यह इन्हीं ईश्वरदास की रचना है, क्योंकि इसकी एक प्रति उन्हें ईश्वरदास की ग्रन्य रचनाग्रों के साथ ही प्राप्त हुई थी तथा भाषा-शैली एवं ग्रनेक प्रतियों के उल्लेख के ग्रनुसार भी यह ईश्वरदास की ही रचना प्रतीत होती है।

वस्तुतः पौराणिक प्रवन्ध-काव्य-परम्परा को आगे वढ़ाने में ईश्वरदास का महत्त्व-पूर्ण योगदान है। भले ही हम आज जायसी एवं तुलसी के प्रौढ़ काव्यों के समक्ष इनकी रचनाओं को नगण्य एवं उपेक्षणीय समभें, किन्तु इतिहास की इस घारा के विकास-क्रम को समभने तथा परवर्ती काव्यों के विभिन्न उपादान-स्रोतों को जानने के लिए ईश्वरदास की रचनाओं का अध्ययन अपरिहार्य है।

परम्परा का विकास—सोलहवीं शती के मध्य भाग से इस परम्परा का अत्यन्त द्रुतगित से विकास हुआ, जिसका अनुमान इसी तथ्य से किया जा सकता है कि सोलहवीं से लेकर वीसवीं शती के आरम्भ तक रचित लगभग डेढ सो पौराणिक प्रवन्ध-काव्य अब CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

तक उपलब्ध हो चुके हैं, जो इस परम्परा में आते हैं। इन्हें विषय-वस्तु की दृष्टि से स्यूल रूप में तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) भागवत पुराण तथा कृष्ण चरित्र पर आधारित काव्य, (२) रामायण तथा रामचरित पर आधारित काव्य और (३) महाभारत तथा कौरव-पाण्डव के चरित्र पर आधारित काव्य। इनके अतिरिक्त कुछ काव्य ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध वैष्णव परम्परा से न होकर शैव, सिक्ख, जैन परम्पराओं से है। यहाँ हम केवल रामायण तथा रामचरित पर आधारित काव्यों का ही परिचय संक्षेप में दे रहे हैं। १

तुलसीदास और उनका काव्य—रामचरित्र से सम्बन्धित हिन्दी का प्रथम प्रवन्ध-काव्य सम्भवतः ईश्वरदास कृत 'भरतिमलाप' है, जो सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा गया था। इसकी विवेचना की जा चुकी है। इसके अनन्तर गोस्वामी तुलसीदास जी के विभिन्न प्रवन्ध-काव्य आते हैं, जो इस परम्परा की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ माने जाते हैं। वस्तुतः तुलसीदास समस्त मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ किव के रूप में स्वीकार किए जाते हैं, अतः इनके साहित्य पर यहाँ अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया

जाता है।

तुलसीदास के नाम पर वैसे तो लगभग पच्चीस रचनाएँ प्रचलित हैं, किन्तु उनके द्वारा रचित वास्तिवक ग्रन्थ ये वारह माने जाते हैं—(१) रामचरित मानस, (२) रामलला नहछू, (३) वैराग्य संदीपिनी, (४) वरवै रामायण, (५) पार्वती-मंगल, (६) जानकीमंगल, (७) रामाज्ञा प्रश्न, (८) दोहावली, (६) किवतावली, (१०) गीतावली, (११) श्रीकृष्ण गीतावली, (१२) विनयपित्रका । इनके श्रतिरिक्त इनकी दो प्रामाणिक रचनाएँ ग्रीर मानी जाती हैं—'हनुमान बाहुक' एवं 'किल धर्माधर्म निरूपण' । इनमें से 'हनुमान बाहुक' को तो 'किवतावली' के श्रन्तर्गत ही सिम्मिलित कर लिया जाता है, जबिक दूसरी रचना को डाँ० रामकुमार वर्मा तथा कुछ ग्रन्य विद्वान् ही प्रामाणिक मानते हैं।

काव्य-रूप की दृष्टि से तुलसीदास की प्रामाणिक रचनाग्रों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रवन्ध-काव्य—रामचिरतमानस, रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल। (२) गीति काव्य—गीतावली, कृष्ण गीतावली ग्रौर विनय-पित्रका। (३) मुक्तक काव्य—वैराग्य संदीपिनी, बरवं रामायण, रामाज्ञा प्रश्न, दोहा-वली, कितावली, हनुमान बाहुक एवं किल धर्माधर्म निरूपण। यहाँ केवल प्रवन्ध-काव्य ही विवेच्य हैं, ग्रतः हम क्रमणः इन्हीं का विवेचन करते हैं, शेष वर्ग की रचनाग्रों पर

ग्रन्यत्र प्रसंगानुसार प्रकाश डाला जायगा ।

रामचरितमानस—तुलसीदास को सर्वश्रेष्ठ रेचना 'रामचरितमानस' है, जिसकी
रचना उन्होंने भगवान् राम की जन्म-भूमि ग्रयोध्या में राम की जन्म-तिथि को संवत्
१६३१ वि० (१५७४ ई०) में ग्रारम्भ की थी । इसका निर्देश स्वयं किन ने इस प्रकार
किया है—

१. अन्य परम्पराश्रों के परिचय के लिए द्रष्टक्य—'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', पृष्ठ २३६-२७५ ।

संवत सोरह से इकतीसा, करों कथा हरिपद घरि सीसा। नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।

राम-चरित सम्बन्धी काव्यों को प्रायः 'रामायण' कहे जाने की परम्परा रही है; किन्तु तुलसीदास ने अपने काव्य को 'रामचरितमानस' के नाम से पुकारा है जिसका विशेष कारण यह है कि किव ने इसे मानस रूपी सरोवर के रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है। सारी कथा चार वक्ताओं के माघ्यम से सात कांडों में प्रस्तुत की गई है। ये चार वक्ता ही इसके चार घाट हैं तथा सात कांड इसके सात सोपान हैं। वैसे इस रूपक के और भी कई अंग हैं; जैसे राम की मिहमा इसके जलाशय की गम्भीरता है, उपमादि इसकी तरंगें हैं, छन्दादि इसके कमल हैं, अनुपम अर्थ, भाव, भाषा आदि पराग, मकरन्द और सुगन्घ हैं, आदि। वस्तुतः यह रूपक इसके नामकरण की सार्थकता सिद्ध करता है। यह दूसरी बात है कि यह इतना अधिक विस्तृत एवं बौद्धिक हो गया है कि जिससे इसमें काव्यात्मक आकर्षण बहुत कम रह गया है।

'मानस' की रचना में किव ने संस्कृत, प्राकृत ग्रादि के विभिन्न पौराणिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों का उपयोग सम्यक् रूप से किया है। कथा का मूल ग्राधार वाल्मोकीय रामायण है, किन्तु उसमें ग्रनेक स्थलों पर परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है, जिसमें किव की मौलिक दृष्टि का उन्मेष मिलता है। इसके ग्रतिरिक्त ग्रध्यात्म रामायण, श्रीमद्भागवत, विष्णु पुराण, शिव पुराण, हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघव, रघुवंश, उत्तर रामचरित ग्रादि ग्रन्थों का भी प्रभाव इस पर विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि स्वयं किव ने 'नानापुराणिनगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' कहकर स्वीकार किया है, इसमें विभिन्न स्रोतों की सामग्री का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया है।

'रामचरितमानस' की रचना केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं हुई, इसमें काव्या-त्मक लक्ष्य भी कवि के सामने स्पष्ट रूप से विद्यमान था ; इसकी व्विन निम्नांकित उक्तियों से मिलती हैं—

उपर्युक्त पंत्रितयों में किव, किवता एवं काव्यात्मकता का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि किव ने भले ही शिष्टता एवं विनम्रता के नाते श्रपनी रचना को काव्यत्व से शून्य कह दिया है, किन्तु उसकी श्रान्तरिक इच्छा श्रपनी रचना को काव्यात्मक दृष्टि से भी सफल बनाने की श्रवश्य रही है। इतना ही नहीं, श्रप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने उन किवयों के प्रयास को निन्दनीय बताया है, जो प्राकृत व्यक्तियों का गुणगान करने CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

में प्रपनी किवत्व-शक्ति का अपव्यय करते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि तुलसीदास में धार्मिक भावनाओं की प्रवलता के होते हुए भी वे अपनी रचना की काव्यात्मकता के प्रति सचेत थे। इतना ही नहीं, 'रामचरित मानस' एवं अन्य रचनाओं के आधार पर उनके काव्य-दर्शन की पूरी रूप-रेखा तैयार की जा सकती है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुलसी काव्य के क्षेत्र में "महत्" के उपासक थे, वे महान् वस्तु एवं महान् लक्ष्य को लेकर चलनेवाले किव थे, इसीतिए उनकी दृष्टि में वही कला सफल कला थी, जो सौन्दर्ययुक्त होने के साथ-साथ सबके लिए हितकारी भी हो।

गोस्वामी तुलसीदास का राम-विषयक एक ग्रन्य प्रवन्धात्मक काव्य 'रामलला नहछू' है जो केवल २० छन्दों में समाप्त हो गया है। यह सोहर छन्द में रिचत है जो ग्रवध ग्रौर विहार के लोक-गीतों—विशेषतः पुत्र-जन्म, नामकरण, विवाहादि से सम्बन्धित गीतों—में प्रयुक्त होता है। इसमें राजा दशरथ के चारों पुत्रों के यज्ञोपवीत-संस्कार का वर्णन है। यज्ञोपवीत से पूर्व 'नख क्षौर' (नाखून काटने) किए जाने का विधान है, तथा इसी 'नख क्षौर' का ग्रपश्चष्ट रूप 'नहछुर' या 'नहछू' बना है। कुछ विद्वानों ने इसे विवाह सम्बन्धी गीत मान लिया है, किन्तु जैसा कि पं० रामगुलाम द्विवेदी एवं डा० विमल कुमार जैन ने ग्रपने तुलसी-विषयक ग्रन्थों में सिद्ध किया है, इसका सम्बन्ध यज्ञो-पवीत संस्कार में ही है।

जुलसीदास की महत्ता नुलसीदास की प्रवन्धात्मक रचनाओं के सम्बन्ध में यहाँ सामान्य रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनकी कोर्ति का ग्रमर ग्राधार 'रामचिरतमानस' ही है। इसे न केवल इस परम्परा का, ग्रिपतु समस्त हिन्दी काव्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। हमारे विचार से जब 'पद्मावत', 'कामायनी' ग्रादि से इसकी सम्यक् तुलना नहीं हो जाती, तब तक इसे हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य कहना तो उचित नहीं होगा, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि पौराणिक प्रवन्ध-काव्य परम्परा में इसका स्थान सर्वोच्च है।

समग्र रूप में तुलसीदास की महत्ता के विभिन्न ग्राधार माने गये हैं; कुछ लोग उन्हें धर्मोपदेशक के रूप में, कुछ भक्त के रूप में ग्रीर कुछ लोक-नायक के रूप में सर्वोच्च मानते हैं। ग्रवश्य हो वे ग्रपने युग के सबसे वड़े धर्मात्मा भक्त एवं लोक-नायक थे, किन्तु ये सारे पद एवं विशेषण किसी के काव्यत्व की महत्ता का बोध नहीं करवाते। यदि ऐसा ही होता तो हम महात्मा गांधी को सबसे बड़ा किन भी मान लेते। हमारे विचार से किन तुलसीदास की महत्ता का सबसे बड़ा ग्राधार उनमें काव्यत्व की व्यापकता एवं गम्भीरता—दोनों का उचित समन्वय का होना है। जहाँ उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों एवं शैलियों को ग्रपनाकर व्यापकता का परिचय दिया है, वहाँ जीवन के उदात्त ग्रादर्शों एवं गम्भीर भावों के प्रस्तुतीकरण के द्वारा ग्रपने दृष्टिकोण की गम्भीरता को भी प्रमाणित किया है। उनके काव्य में सौन्दर्य का चित्रण है, किन्तु उससे भी

प्रस्तुत लेख का विषय प्रबन्ध-काव्य होने के कारण तुलसीदास की अन्य रचनाग्रों का परिचय नहीं दिया गया है।

अधिक महत्त्वपूर्ण है औदात्य की आकर्षक व्यंजना। काव्य की दृष्टि से उनकी समस्त धार्मिकता, नैतिकता एवं दार्शनिकता का सबसे अधिक महत्त्व इस वात में है कि ये सव उसमें औदात्य की प्रतिष्ठा एवं व्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी औदात्य को रस-सिद्धान्त की शब्दावली में प्रत्यक्ष आनन्द-स्वरूप शान्त रस के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

केशवदास की 'रामचन्द्रिका'-राम सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्य की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण रचना केशवदास मिश्र द्वारा रचित 'रामचंद्रिका' है । इसका रचना-काल स्वयं कवि के उल्लेख के भ्रनुसार १६५८ वि० या १६०१ ई० है। केशवदास राज्याश्रित श्रृङ्गारी कवि थे, ग्रतः यह विषय उनकी रुचि के बहुत ग्रनुकूल नहीं था, फिर भी १७ वर्ष पूर्व तूलसी द्वारा रचित 'रामचरितमानस' की प्रसिद्धि ने सम्भवतः उन्हें इस ग्रोर श्राकाषित किया। केशवदास किसी का अनुसरण करनेवाले कवि नहीं थे, ग्रतः उन्होंने श्रपनी रचना में तूलसी के ग्रादर्श, शिल्प एवं रचना-शैली को स्वीकार नहीं किया। इस दृष्टि से वे तुलसी के ग्रनुवर्ती या ग्रनुकत्ती नहीं हैं ग्रपितु उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं। कदाचित् इसीलिए उन्होंने अपने सारे काव्य में तुलसीदास का कहीं उल्लेख न करके अपना सम्बन्ध सीधे वाल्मीकि से स्थापित किया है। कवि ने ग्रपने प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वप्न में वाल्मीकि द्वारा दिये गये आदेश की चर्चा की है। पूरा ग्रन्थ केवल सात कांडों में नहीं, श्रिपतु उन्तालीस प्रकाशों में विभक्त है। ग्रारम्भ में गरोश, सरस्वती ग्रीर राम की वन्दना की गयी है तथा अपने वंश, रचना-काल, काव्य-प्रयोजन आदि का निर्देश किया गया है। सारा ग्रन्थ दो भागों-पूर्वार्छ एवं उत्तरार्छ-में विभक्त है। प्रथम भाग में २० प्रकाश हैं जिनमें राम के बचपन से लेकर रावण-वध तक की घटनाएँ वर्णित हैं, जब कि द्वितीय भाग में राम-भरत-मिलाप, तिलकोत्सव, राम-राज्य-वर्णन, शम्बूक-वध लवणासूर-वध, लव-लक्ष्मण-युद्ध, राम-सीता मिलन ग्रादि का निरूपण किया गया है। इसके ग्रतिरिक्त उत्तरार्द्ध में राम के राज्य-वैभव एवं राजसी जीवन का चित्रण भी विस्तार से किया गया है। डा० विजयपाल सिंह के श्रध्ययन के श्रनुसार 'केशवदासजी ने पूर्वार्द्ध की अपेक्षा उत्तरार्द्ध में अधिक मौलिकता का परिचय दिया है।

पूर्ववर्ती श्रालोचकों ने 'रामचिन्द्रका' पर ग्रनेक ग्राक्षेप श्रारोपित किये गये हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) प्रवन्ध-पदुता एवं सम्वन्ध-निर्वाह की क्षमता केशव में नहीं श्री जिससे 'रामचंद्रिका' ग्रलग-ग्रलग लिखे हुए वर्णनों के संग्रह-सी जान पड़ती है। (२) कथा के मार्मिक एवं गम्भीर स्थलों की पहचान 'रामचंद्रिका' के रचियता को नहीं थी। वैसे स्थलों को या तो छोड़ गये हैं या यों ही इतिवृत्त मात्र कहकर चलता कर देते हैं। (३) दृश्यों की स्थानगत विशेषता इसमें नहीं मिलती। इन ग्राक्षेपों के ग्राधार पर ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निष्कर्ष हैं: ''सारांश यह कि प्रवन्ध-काव्य-रचना के योग्य न तो केशव में ग्रनुभूति ही थी, न शक्ति। परम्परा से चले ग्राते हुए कुछ नियत विषयों के (जैसे, युद्ध, सेना-तैयारी, उपवन, राजदरवार के ठाट-बाट तथा श्रृङ्गार ग्रौर वीर रस) फुटकल वर्णन ही ग्रलंकारों की भरमार के साथ वे करना जानते थे। इसी से बहुत से वर्णन यों ही, विना ग्रवसर का विचार किए, वे भरते गये हैं। वर्णन वर्णन के लिए करते थे, न СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

कि प्रसंग या ग्रवसर की ग्रपेक्षा से । रामचंद्रिका के लम्बे ग्रीर चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर ग्रीर मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाठ-बाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल ग्रादि के वर्णन में ही विशेषतः लगता था।"

इसमंं कोई सन्देह नहीं कि केशवदास को प्रवन्धत्व की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' में ग्रधिक सफलता नहीं मिली है, तथा ग्राचार्य शुक्ल के ग्रनेक ग्राक्षेप सर्वथा यथार्य हैं। किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने केशव के दृष्टिकोण, लक्ष्य एवं वातावरण को समभने का प्रयास भी वहुत गम्भीरता से नहीं किया, ग्रन्यथा यह स्पष्ट हो जाता कि केशवदास जिस लक्ष्य एवं वातावरण से प्रेरित थे, उसमें यही सम्भव था। जैसा कि डा॰ विजयपाल सिंह ने उपर्युक्त श्राक्षेपों का उत्तर देते हुए ग्रपने शोध प्रवन्ध में स्पष्ट किया है, "केशवदास तुलसी की भाति भक्त ग्रीर धार्मिक कवि नहीं थे, ग्रपितु दर-बारी कवि थे, अतः दोनों को एक ही कसौटी से परखना उचित नहीं। केशव कोर्ट के कवि थे, भला कुटिया के पैमाने से कोर्ट को कैसे नापा जा सकता है ? केशव के मार्मिक स्थल कोर्ट के थे ग्रौर उनमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। कुटिया ग्रौर कोर्ट में सदैव से ग्रन्तर चला श्राया है ग्रौर सदैव रहेगा। ग्रतः तुलसी के मापदण्ड द्वारा केशव की कटु ग्रालोचना करना महान् कवि के साथ ग्रन्याय करना है।"

सत्रहवीं शती के आरम्भिक कवियों में प्राणवंद चौहान का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने सन् १६१० ई० (१६६७ वि०) में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी। वस्तुतः यह नाटक न होकर पद्मवद्ध संवादों के रूप में रिचत प्रवन्ध-काव्य ही है। उदाहरण के लिए इसकी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है-

श्रवन बिना सो ग्रस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना। देखें सब पे आहि न आँखी। श्रंधकार चोरी के साखी।।

इसी प्रकार हृदयराम भल्ला का 'हनुमन्नाटक' (१६२३ ई०) भी वस्तुतः नाटक न होकर १४ ग्रंकों में विभक्त प्रबन्ध-काव्य ही है। इसका मूलाधार संस्कृत का 'हनुमन्ना-टक' होने के कारण ही इसे यह संज्ञा दी गई है, ग्रन्यथा किन ने इसे दूसरा नाम 'रामचंद्र गीत' भी दिया है। श्री चन्द्रकान्त वाली ने ग्रपने 'पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस काव्य का विस्तृत परिचय प्रस्तुत करते हुए इसके सम्बन्ध में ग्रनेक नये तथ्यों पर प्रकाश डाला है। श्री वाली के श्रनुसार हृदयराम पंजावी थे, तथा उनके 'हनुमन्नाटक' को गुरु गोविन्दर्सिह सदा ग्रपने पास रखते थे, इससे सिक्खों में भी इसका वड़ा सम्मान है। पूरा ग्रन्थ लगभग डेढ़ हजार छन्दों में समाप्त हुग्रा है। यद्यपि इसमें संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' की पूरी छाया ग्रहण की गई है, किन्तु यह मौलिकता से भी शून्य नहीं है। इसमें हनुमान का चरित नहीं, ग्रपितु राम का जीवन-वृत्त जानकी स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक तक प्रस्तुत किया गया है, इस दृष्टि से इसे 'रामचन्द्र गीत' कहना ही ग्रधिक उचित होगा।

हृदयराम के ग्रतिरिक्त भी पंजाब के ग्रनेक किवयों ने हिन्दी में राम सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है, जिनमें कुछ ये हैं—(१) गुरु गोविदसिंह कृत 'रामावतार'

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

(१७४५ वि॰), (२) सोढ़ी मिहरवान कृत 'रामायण' (१७४० वि॰), (३) कृष्णलाल कृत 'रामचिरत' (१८८४ वि॰), (४) गुलाबसिंह कृत 'ग्रघ्यात्म रामायण' (१८४६ वि॰), (५) हिरिसिंह कृत 'ग्रघ्यात्म रामायण' (१६वीं शती), (६) कीरतिंसह कृत 'कीरत रामायण' (१६१७ वि॰), (७) सतोषींसह कृत 'वाल्मीकि रामायण' (१८६४ वि॰), (८) निहाल किव कृत 'रामचन्द्रोदय' (१६०२ वि॰), (६) रत्नहरि कृत 'लित ललाम' (१६१७ वि॰), (१०) वीरसिंह कृत 'सुधासिंधु रामायण' (१६०६ वि॰)।

ग्रठारहवीं-उन्नीसवीं शती में 'ग्रद्भुत रामायण' संज्ञक ग्रनेक रचनाएँ लिखी गई थीं, जिनके रचियताग्रों में शिवप्रसाद (रचना-काल १७७३ ई०), बेनीराम (१४वीं शती), भवानीलाल (१८०० ई०) ग्रौर नवलिंसह (१८३४ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। इसमें सीता की एक काल्पनिक एवं ग्रद्भुत कथा को प्रस्तुत किया गया है जिसमें रावण का वघ राम के द्वारा न दिखाकर सीता के द्वारा दिखाया गया है। काव्यत्व की दृष्टि से साधारण कोटि की यह रचना है।

सीता सम्बन्धी काव्य—सीता या जानकी के विवाह, श्रपहरण श्रादि प्रसंगों को लेकर इस काल में श्रनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गये जिनमें ये उपलब्ध हैं—(१) गोस्वामी तुलसोदास: 'जानकी मंगल' (१६वीं शती), (२) कर्मण: 'सीताहरण', (१५४६ ई०), (३) मंडन: 'जानकी जू को विवाह', (१६५६ ई०), (४) प्रसिद्ध कवि: जानकी विजय (१७५६ ई०), (५) पून: सीताराम त्रिवाह; (१८०३ ई०), (६) प्रियादास महाराजा: 'सीता मंगल', (१८१७ ई०), (७) नवलसिंह कायस्य: 'सीता स्वयंवर' (१८३१ ई०), (८) बलदेवदास: 'जानकी विजय', (१८३४ ई०)। वस्तुत: इस प्रकार के काव्यों की परम्परा का प्रवर्त्तन गोस्वामी तुलसीदास के द्वारा 'रुक्मिणी मंगल', 'रुक्मिणी विवाह' जैसे कृष्ण सम्बन्धी काव्यों की प्रेरणा या प्रतिद्वन्द्विता से हुआ। तुलसीदास ने श्रपने काव्य के लिये वाल्मीकीय रामायण, श्रध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराधव श्रादि संस्कृत काव्यों को श्राधार बनाया, जविक परवर्ती किवयों ने सामान्यतः तुलसीदास का ही श्रनु-करण किया है।

प्रमुख विशेषताएँ एवं महत्त्व

प्रस्तुत काव्य-परम्परा से सम्बद्ध बहु-संख्यक किव धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, जिन्होंने ग्रपनी धार्मिक भावनाग्रों एवं ग्रनुभूतियों की प्रेरणा से काव्य-रचना की। इस युग की कितपय ग्रन्य धर्माश्रित काव्य-परम्पराग्रों की भाँति यह परम्परा किसी सम्प्रदाय विशेष के ग्राश्रय में या किसी विशेष ग्राचार्य के निर्देशन में पोषित एवं विकसित नहीं हुई ग्रिपतु विभिन्न किवयों ने स्वतन्त्र रूप में ही ग्रात्म-प्रेरणा से काव्य-रचना की थी। इसी तथ्य की घोषणा गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वान्तः सुखाय' कहकर की है। संप्रदाय विशेष पर ग्राश्रित न होने के कारण इन किवयों के दृष्टिकोण में साम्प्रदायिक संकीर्णता या कट्टर मतवादिता दृष्टिगोचर नहीं होती। इन्होंने धर्म के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है तथा विभिन्न सम्प्रदायों में एकता एवं समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है।

दृष्टिकोण की इसी व्यापकता के कारण इनके काव्य की विषय-वस्तु के क्षेत्र में भी पर्याप्त व्यापकता थ्रा गई है। राम, कृष्ण, शिव ग्रादि से लेकर जैन-सिख ग्रादि विभिन्न धर्मों के महापुरुषों को इनके काव्य में स्थान मिला है। जनता की धार्मिक चित्तवृत्ति को जागृत रखने के लिए उन्होंने ग्रवतारों, महापुरुषों एवं भक्तों के ग्रादर्श चरित का गान श्रद्धापूर्ण शब्दों में किया है जिससे पाठकों के हृदय में सच्ची भिक्त का उद्वोधन होता है। इन्होंने भिक्त के नाम पर श्रद्धाशून्य रित भावना या कोरी रिसकता का प्रतिपादन नहीं किया, ग्रापितु उसमें श्रद्धामिश्रित ग्रनुरिक्त का चित्रण किया है, जिसे हम भिक्त का वास्तिवक रूप मान सकते हैं। धर्म के नाम पर होनेवाले विभिन्न कृतिम प्रयोगों, खण्डन-मण्डन एवं वाह्य-प्रदर्शनों से भी ये दूर हैं। ईतना ही नहीं, उन्होंने धर्म के विभिन्न रूपों, उपासना के विभिन्न भेदों एवं भिक्त की विभिन्न पद्धितयों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। इस समन्वयवादिता का सर्वोत्कृष्ट रूप इस परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कित्र तुलसी-दास में देखा जा सकता है।

ग्रव तक प्रायः यह भ्रान्ति प्रचलित रही है कि मध्यकाल में कृष्ण-भक्त कियों ने गीति शैली का प्रयोग किया है तथा प्रवन्ध-शैली का प्रयोग केवल राम-भक्त कियों द्वारा हुग्रा है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है।

प्रस्तुत काव्य-परम्परा में भावना की गम्भीरता एवं विविधता तथा शैली की बहु-रूपता भी दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इनके काव्य का मूल भाव सामान्यतः भक्ति-भाव ही है, किन्तु इनके ग्रन्तर्गत चरित-नायक की परिस्थित के ग्रनुरूप शृङ्गार, वीर, रौद्र, भयानक, ग्रद्भुत ग्रादि की भी व्यंजना सफल रूप से हुई है।

काव्य-रूप की दृष्टि से इस परम्परा के सभी काव्यों को 'प्रवन्थ' कहा जा सकता है, किन्तु इन सभी का रूप, विस्तार एवं विधान एक जैसा नहीं है। कुछ ग्रत्यन्त संक्षिप्त हैं तो कुछ विस्तृत। कुछ में सर्ग-पढ़ित मिलती है तो कुछ में उसका ग्रभाव है। छन्दों की दृष्टि से प्रारम्भ में दोहा-चौपाई शैली का प्रचलन ग्रधिक रहा, किन्तु ग्रागे चलकर छन्द वैविध्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई।

वस्तुतः यह परम्परा ग्रंथों की संख्या, विषय-क्षेत्र की व्यापकता, भावनाओं की विविधता एवं शैली की बहुरूपता की दृष्टि से ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। न केवल काव्य-संख्या एवं स्थूल परिमाण की दृष्टि से ग्रिपतु काव्य-स्तर की उच्चता एवं काव्य-सौष्ठव के विकास की दृष्टि से भी यह परम्परा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। तुलसीदास जैसा महाकिव इस काव्य-परम्परा के उच्च गौरव को सूचित करता है। इस परम्परा के किवयों ने घम ग्रीर समाज के क्षेत्र में ग्रपने व्यापक समन्वयवादी दृष्टिकोण, महापुरुषों के ग्रादर्श चरित एवं भक्ति के व्यापक रूप की स्थापना करके एक ग्रोर धर्म-रक्षा, लोकहित एवं समाज के उत्थान में योग दिया है, तो दूसरी ग्रोर काव्य का उदात्त, उत्कृष्ट एवं लोक मंगलकारी रूप प्रदान करने का स्तुत्य कार्य किया है। ग्रतः प्रत्येक दृष्टि से इस परम्परा का हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन इतिहास में ग्रत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

: श्रद्वाईस :

कृष्ण-मिक्त काव्य-धाराः विकास और प्रवृत्तियाँ

- १. कृष्ण की ऐतिहासिकता
- २. कृष्ण-भक्ति का विकास।
- ३. दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि ।
- ४. प्रमुख कवि और उनका काव्य।
- सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) राधा-कृष्ण की लीलाग्रों का चित्रण, (ख) भिक्ति-भावना, (ग) वात्सल्य रस की व्यंजना, (घ) श्रृङ्गार-वर्णन, (ङ) गीति शैली, (च) ब्रज-भाषा का प्रयोग।
- ६. उपसंहार।

भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास में कृष्ण का व्यक्तित्व ग्रत्यन्त विलक्षण है। उनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में विभिन्न मत प्रचलित हैं-- कुछ उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं, कुछ ग्रर्ड-ऐतिहासिक ग्रीर कुछ कोरा काल्पनिक। कुछ पाश्चात्य विद्वान् 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्राइस्ट' से सिद्ध करते हुए उसे ईसाइयत से सम्बन्धित करना चाहते हैं, किन्तु यह मत कोरी कल्पना पर ग्राधारित है। कृष्ण (ग्रांगिरस) का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद (१।११६, ७।१, ८।८५ ग्रादि) में मिलता है, जिनके अनुसार ये एक स्तोता ऋषि सिद्ध होते हैं। ये अपने पौत्र विष्णापु के पुनर्जीवन के लिए ग्रश्विनीकुमारों का ग्राह्वान करते हैं। ग्रागे चलकर 'छांदोग्य उप-निषद्' में भी कृष्ण का उल्लेख देवकी के पुत्र, घोर ग्रांगिरस के शिष्य एवं एक वैदिक ऋषि के रूप में उपलब्ध होता है। महाभारत के प्रारम्भिक ग्रंशों में कृष्ण पांडवों के सखा एवं प्रभावशाली राजनीतिज्ञ के रूप में तथा ग्रन्तिम ग्रंशों में विष्णु के ग्रवतार के रूप में चित्रित हुए हैं। 'सभा पर्व' में शिशुपाल के कुछ शब्दों के श्रतिरिक्त महाभारत में कृष्ण के गोप-जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। परवर्ती पुराणों हिरवंश, ब्रह्म, विष्णु, भागवत, ब्रह्म-वैवर्त्त भ्रादि में उनकी वाल्यावस्था सम्बन्धी भ्राख्यानों व गोप-जीवन सम्बन्धी क्रीड़ाग्रों में उत्तरोत्तर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण की रास-लीला एवं गोपियों के प्रेम का विस्तृत रूप में निरूपण लगभग नवीं शताब्दी में रचित भागवत पुराण में हुग्रा है। इसमें कृष्ण की एक विशेष 'ग्राराधिका' गोप-बाला का भी उल्लेख हुमा है, जो म्रागे ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में गोपियों में सर्वाधिक प्रभावशालिनी राधिका के रूप में चित्रित हुई है। इस प्रकार वैदिक ग्रौर संस्कृत साहित्य में कृष्ण के तीन रूप मिलते हैं—(१) ऋषि एवं धर्मोपदेशक का, (२) नीतिकुशल क्षत्रिय नरेश का ग्रौर (३) वाल ग्रौर किशोर रूप में विभिन्न प्रकार की श्रलौकिक एवं लौकिक लीलाएँ दिखानेवाले भ्रवतारी ट्युक्प Ja क्विमी walk Math स्मालका पूर्ण विकास गीता में, दूसरे का

का महाभारत में ग्रौर तीसरे का पुराणों में मिलता है। वस्तुतः कृष्ण के ये तीनों रूप भागवत-धर्म की तीन ग्रवस्थाओं के द्योतक हैं। प्रारम्भ में भागवत धर्म में सरल ग्रौर पवित्र भावपूर्ण उपासना की प्रधानता थी, जिसका प्रतिपादन छांदोग्य उपनिषद एवं गीता के कृष्ण द्वारा हुम्रा है। महाभारत युग में भागवत धर्म भावना-प्रधान होते हुए भी कर्म का विरोधी नहीं था, ग्रतः उसमें कृष्ण की कर्मशीलता का चित्रण होना स्वाभाविक है। सम्भवतः महाभारत में चित्रित व्यक्तित्त्व कृष्ण का मूल ऐतिहासिक रूप है, जो परवर्ती साहित्य में धीरे-धीरे परिवर्तित, विकसित एवं विकृत होता रहा। पौराणिक युग में भागवत धर्म भी बौद्ध, जैन, शैव, महायान, वज्जयान भ्रादि की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कामुकता व विलासिता सम्बन्धी तत्वों से परिपूर्ण हो गया जिससे कि वह जन-साधारण के ग्राकर्पण का केन्द्र वन सके । जैन एवं बौद्ध मतावलिम्बयों ने ग्रपने घार्मिक ग्राख्यानों में प्रेमतत्व को किसी न किसी रूप में स्थान दिया है, ग्रतः उनकी प्रतिस्पर्धा में गोपियों एवं कृष्ण के प्रणय सम्बन्धी इतिवृत्त की कल्पना हुई। डा० भण्डारकर गोपाल-कृष्ण को वासुदेव-कृष्ण से भिन्न मानते हैं, किन्तु उनका मत भ्रामक सिद्ध हो चुका है। डा॰ ए॰ डी । पुसाल्कर ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि कृष्ण ने गोकूल में गोपियों के साथ सामृहिक नृत्यगानादि में भाग लिया था, जो उनके कला-प्रेम का द्योतक है। ग्रागे चलकर इसी को प्रणय-क्रीड़ा का रूप दे दिया गया। ग्रतः मूलतः गोकूल के कृष्ण के चरित्र में कोई ऐसा दोष नहीं मिलता, जिससे उनकी सत्ता महाभारतीय कृष्ण या गीता-कार कृष्ण से भिन्न मानी जाए।

कृष्ण-भक्ति का विकास

सम्भवतः महाभारत की सफल क्रान्ति के पश्चात् वासुदेव कृष्ण ग्रपने जीवन काल में ही ग्रपने समाज के लोगों के द्वारा पूजे जाने लगे थे। महाभारत में स्थान-स्थान पर युधिष्ठिर ग्रौर ग्रजुन किस प्रकार उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं ग्रौर उच्च ग्रादर्शों व धार्मिक विषयों पर उनसे परामर्श ग्रहण करते हैं, उससे सिद्ध हो जाता है कि कृष्ण का प्रभाव एक राजनीतिज्ञ के रूप में नहीं, धर्मात्मा ग्रौर तपस्वी के रूप में भी था। विभिन्न ग्रवसरों पर वेदव्यास जैसे ऋषि भी कृष्ण को ग्रपने से ग्रधिक धर्म-धुरन्धर स्वीकार करते हैं। ग्रस्तु, वीसवीं शताब्दी के महात्मा गांधी की भाँति महाभारत के कृष्ण भी धर्म ग्रौर राजनीति-दोनों का संचालन साथ-साथ करते हुए दिखाई पड़ते हैं, किन्तु महात्मा गांधी ग्रित वौद्धिक युग में ग्रवतरित होने के कारण कृष्ण की भाँति ग्रब तक श्रवतार घोषित नहीं हुए; पर कौन जानता है, यदि ग्रवतारवाद का प्रचलन रहा, तो पाँच-सात सौ वर्ष बाद वे ग्रवतारी पुरुषों की गणना में नहीं ग्रा जाएँगे?

महाभारत युद्ध सामान्यतः १४०० ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। महा-भारत के पश्चात् ५-७ शताब्दियों तक कृष्ण की पूजा का प्रचार ग्रधिक नहीं हो सका, किन्तु कुछ प्रदेशों एवं जातियों में भ्रवश्य इसका प्रचलन रहा। चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व में मथुरा के भ्रास-पास कृष्ण-पूजा के प्रचलन का उल्लेख मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण में मिलता है। श्रागे चलकर जब जैन भीर बौद्ध धर्म में क्रमशः महाबीर भीर गौतम बुद्ध के चरित्र को महत्व मिला, तो भागवत धर्म के प्रचारकों ने भी राम-कृष्ण जैसे ऐतिहासिक पुरुषों को अलौकिक-शक्तिसम्पन्न घोषित करते हुए उनकी उपासना एवं भक्ति का प्रसार किया। फिर भी मौर्य युग तक बौद्ध धर्म की लोक-प्रियता के कारण कृष्ण-भक्ति का अधिक प्रचार नहीं हो सका। किन्तु चौथी-पाँचवीं शती में गुप्तवंशीय सम्राटों ने भागवत धर्म स्वीकार करके उसकी खूब उन्नति की। सातवीं-आठवीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में भी कृष्ण-भक्ति का प्रचार जोरों से हो गया। यहाँ के प्रसिद्ध आलवार भक्तों में से अनेक कृष्ण के उपासक थे। कृष्ण-भक्ति को अत्यन्त आकर्षक स्वष्ट्य प्रदान करनेवाले भागवत पुराण की रचना भी दक्षिणी भारत में होने की बात स्वीकार की जाती है।

ग्राठवों-नवीं शती में शंकराचार्य एवं कुमारिल भट्ट के विचारों के प्रभाव से भक्ति-ग्रान्दोलन ग्रिषक तेजी से नहीं चल सका, किन्तु ग्रागे चलकर रामानुज (११वीं शती), मध्य (११६६-१३०३ ई०), निम्बार्क (१२-१३वीं शती) बल्लम (१४७६-१५ ३० ई०), चैतन्य (१६वीं शती), हित-हरिवंश (१७वीं शती) ग्रादि ग्राचार्य एवं भक्त हुए, जिन्होंने मिक्त विरोधी सिद्धान्तों व वादों का खण्डन करके भिक्त का प्रचार किया। बारहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक इन ग्राचार्यों के द्वारा विभिन्न सम्प्रदायों की भी स्थापना हुई, जिनमें कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित निम्बार्क सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, बल्लभ सम्प्रदाय एवं राधा वल्लभ सम्प्रदाय मुख्य हैं। हिन्दी में कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी काव्य की रचना मुख्यतः वल्लभ सम्प्रदाय ग्रीर राधा-वल्लभ के ग्राश्रय में हुई, ग्रतः इन दोनों का संक्षिप्त परिचय ग्रागे दिया जाता।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को शुद्धाद्वैतवाद तथा इसके भिक्त-मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य तेलगू-प्रदेश के विष्णु स्वामी मतावलम्बी भक्त लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १४७६ ई० में हुम्रा था। इन्होंने 'म्रणु भाष्य', 'जैमिनीय पूर्व मीमांसा-सूत्र भाष्य', 'सुबोधिनी' (भागवत पुराण पर भाष्य), 'तत्वदीप निवन्ध' भीर १६ म्रन्य लघुकाय प्रकरण ग्रंथों की रचना की, जिनमें शुद्धाद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है। म्रापने प्रतिपादित किया कि ब्रह्म, जीव भीर जगत् फलतः एक हैं; इन सभी में तीन तत्व व्याप्त है—सत्, चित् भीर म्रानन्द। किन्तु जहाँ ब्रह्म में ये तीनों तत्व जागृत रहते हैं, वहाँ जीव में दो ही तत्व—सत् भीर चित् तथा प्रकृति में केवल एक ही तत्व—सत्—जागृत रहता है, उनमें शेष तत्व निष्क्रिय या तिरोहित हो जाते हैं। म्रतः तात्विक दृष्टि से जड़-जगत् भी उतना ही सत्य है, जितना के ब्रह्म सत्य है, मन्तर केवल कुछ तत्वों के तिरोहित हो जाने मात्र का है। यदि किसी प्रकार इन सुषुप्त तत्वों को जगा लिया जाय तो इनमें भीर ब्रह्म में कोई मन्तर न रह जायगा। मस्तु, जहाँ शंकर के म्रद्धैतवाद के मनुसार जगत् मिथ्या है, वहाँ शुद्धाद्वैतवाद ऐसा नहीं मानता। इसी प्रकार माया को शुद्धा-दितवाद में ब्रह्म की इच्छा शक्ति माना गया है, जो कि सृष्टि की रचना भीर उसका СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

विस्तार करती है। जगत् के प्राणी अवश्य इस शक्ति के वन्धन में बँधे हुए हैं, किन्तु स्वयं ब्रह्म इसमें लिप्त नहीं होता। जैसा कि ऊपर कहा गया, वल्लभ-सम्प्रदाय में भक्ति की जिस पढ़ित को अपनाया गया है, वह 'पुष्टि' मार्ग कही जाती है। भागवत में 'पोषणं तदनुग्रहः' का उल्लेख एक स्थान पर हुग्रा है, इसी के ग्राधार पर 'पुष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य है कि भक्त का पोषण या विकास ईश्वर की अनुकम्पा से ही होता है, ग्रतः हमें ईश्वर के ग्रनुग्रह में विश्वास रखना चाहिए । भगवान् जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही ग्रवतार धारण करते हैं। उनका यह अनुग्रह भी उनकी एक लीलामात्र है। सभी जीव ईश्वर के अनुग्रह या पोषण के ग्रधिकारी नहीं बन सकते। ग्राचार्यजी ने जीवों के मुख्यतः दो भेद किए हैं—दैवी ग्रीर ग्रासुरी। दैवी जीव के भी दो भेद किए गए हैं--पुष्टि जीव थ्रौर मर्यादा जीव। पुष्टि जीव ईश्वर के श्रनुग्रह में विश्वास रखते हैं, जबकि मर्यादा जीव कर्म और ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। पुष्टि जीव ही ईश्वर की अनुकम्पा प्रेम-लक्षणा भक्ति के द्वारा प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः पुष्टि मार्ग में रागानुगा-भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है। इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ में वाल-कृष्ण की उपासना को प्रमुखता दी गई, किन्तु आगे चलकर माधुर्य भाव की प्रधानता के कारण वाल-कृष्ण के स्थान पर राधाकृष्ण की प्रतिष्ठा हो गई।

वल्लभाचार्यजी ने ग्रपने मतं के प्रचार के लिए सन् १५०० ई० में व्रज-प्रदेश में गोवर्द्धन पहाड़ी पर श्रीनायजी की मूर्ति स्थापित की । ग्रागे चलकर उन्नीस-बीस वर्ष पश्चात् एक श्रद्धालु भक्त की सहायता से यहाँ एक विशाल मन्दिर का निर्माण हो गया तथा ग्रधिकारी कृष्णदास जैसे प्रवन्ध-कुशल व्यक्ति को इसके प्रवन्ध का कार्य सौंप दिया गया, दूसरी ग्रोर कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्द जैसे भक्त कवियों को लीला-गान के निमित्त ग्राश्रय दिया गया। सं० १५८७ वि० में श्री वल्लभाचार्यजी के तिरोधान के ग्रनन्तर ग्रधिकारी कृष्णदास ने मन्दिर की वैभव-वृद्धि में ग्रौर भी चार चाँद लगा दिये। इसका समस्त वातावरण ऐश्वर्य, रंगीनी और समाज-सज्जा से इस प्रकार अनुरंजित हो गया कि वडे-बडे धनपतियों की कोठियों का राग-रंग भी उसके समक्ष तुच्छ एवं फीका प्रतीत होने लगा। एक ग्रोर ठाकुरजी के निमित्त ग्रागरे की रूपवती वेश्या को ग्रामंत्रित किया गया, दूसरी ग्रोर रास-विहारीजी को काम-कला ग्रौर कोक का सम्यक् ज्ञान करवाने के उद्देश्य से नायिका-भेद व श्रृङ्गार रस सम्बन्धी ग्रंथ, जैसे 'साहित्य लहरी', 'रस मंजरी', 'श्रृङ्गार रस मण्डन' ग्रादि रचित करने की प्रेरणा दी गई। एक ग्रोर तो कृष्णदासजी जैसों ने अपने आपको कृष्ण का प्रतिनिधि घोषित किया, तो दूसरी ओर भक्त परुष और महिलाओं को गोप-गोपियों का अभिनय करने की शिक्षा दी गई; फलतः दिन में 'गो-चारण' ग्रीर रात्रि में रास-लीलाग्रों का कार्य-क्रम प्रतिदिन होने लगा। जब वल्लभाचार्य जी के उत्तराधिकारी श्री विट्टलनाथजी ने रास-विहार के कुछ पात्र-पात्राग्रों के गुप्त सम्बन्ध को शंका की दृष्टि से देखना श्रारम्भ किया, तो उन्हें भी निर्वासित कर दिया गया । ग्रस्तु, पुष्टिमार्गीय-भक्ति का पुनीत दीपक ग्रन्त में विलासिता का वह कज्जल उगलने लग गया, जिससे उसका भक्ति तत्व विकृत हो गया।

हिन्दी के कृष्ण-मक्त किवयों से सम्बन्धित दूसरा प्रमुख सम्प्रदाय 'राधा-वल्लभ सम्प्रदाय' है जिसकी स्थापना गोस्वामी हित हरिवंशजी ने संवत् १६५० के लगभग वृन्दावन में की। इस सम्प्रदाय का कोई अपना दार्शनिक मतवाद नहीं है। इसके प्रामाणिक प्रन्थ 'हित चौरासी' और 'राधा-सुधानिधि' (संस्कृत) हैं। इस साहित्य में अध्यात्म-पक्ष का विवेचन बहुत कम हुआ है, भक्ति का प्रकाशन मात्र मिलता है। इससे सम्बन्धित किवयों ने राधा-कृष्ण की कुंज-क्रीड़ा और सुख-विलास का ही चित्रण मथुर रूप में किया है। उन्होंने कर्म और ज्ञान का खण्डन स्पष्ट रूप से करते हुए भक्ति का प्रतिपादन किया है। भक्त के लिए आवश्यक है कि वह राधा-कृष्ण की नित्य-केलि के घ्यान में सतत निमग्न रहे। इस सम्प्रदाय की एक विशेषता है कि इसमें केवल संयोग-सुख की ही लीला स्वीकृत है, वियोग की भावना मान्य नहीं। भला, भक्ति के इन वैभव-पूर्ण मन्दिरों में वियोग जैसे तत्व को स्थान मिलने की कहाँ सम्भावना थी! जो माधुर्य रास-क्रीड़ाओं में उपलब्ध हो सकता है, वह वियोग-लीलाओं में कहाँ!

श्री हित हरिवंशजी ने 'हित' शब्द की व्याख्या करते हुए इसका ग्रथं 'मांगलिक' प्रेम किया है। जिस प्रेम में संयोग नहीं हो, वह मांगलिक कैसे हो सकता है? ग्रतः उन्होंने इस मांगलिक प्रेम की मूर्ति के रूप में राधा-कृष्ण के युगल की स्थापना की। उनके विचार से 'राधा-कृष्ण' ग्रमिन्न तत्व हैं, वे प्रेम रूप हैं, प्रेम के कारण भी हैं ग्रौर कार्य भी। वे जलतरंग की भाँति एक-दूसरे में ग्रोत-प्रोत हैं। हरिवंशजी ने ग्रपना सिद्धान्त बताते हुए कहा कि सृष्टि में जो कुछ जड़-चेतन दृष्टिगोचर होता है, वह सव एक ही वस्तु 'हित' या प्रेम है। प्रेम के इस रसमय रूप के भी दो भेद किए गए हैं—(१) ब्रज-रस ग्रौर (२) निकुंज-रस। ब्रज-रस में गोपियों का उपपित प्रेम (जार-प्रेम) होता है ग्रर्थात् इसमें परकीया-भाव से सम्बन्ध होता है। यह केवल ग्रवतार-दशा में प्रकट होता है, ग्रतः इसे ग्रनित्य माना गया है। इससे भिन्न निकुंज-रस नित्य, ग्रखंड, सदा एक-रस होता है ग्रौर उसमें 'स्व' ग्रौर 'पर' का कोई मेद नहीं रहता। यह केवल वृन्दावन में दृष्टिगोचर होता है, ग्रतः इसे श्री वृन्दावन-रस भी कहते हैं।

इस प्रकार वल्लभ और राधा-वल्लभ—दोनों सम्प्रदायों में ही कृष्ण की माधुर्य भक्ति का प्रचार है। भक्ति का यह रूप ग्राध्यात्मिक एवं नैतिक दृष्टि से कहाँ तक ग्राह्य था, इस सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ कहना उचित नहीं समभते। साहित्यिक दृष्टि से इनसे सबसे बड़ा लाभ यह हुग्रा कि इनके केन्द्र में अनेक भक्त कियों को ग्राश्रय प्राप्त हुग्रा जिससे वे निश्चिततापूर्वक काव्य-धारा के प्रवाहण में संलग्न रहे। वल्लभ सम्प्रदाय के कियों में सूरदास, कुंभनदास, परमानन्द दास, कृष्णदास, नन्ददास, गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुज दास तथा राधावल्लभ सम्प्रदायाश्रित कियों में दामोदरदास हिरराम व्यास, चतुर्भुजदास (द्वितीय), ध्रुवदास, नेही नागरीदास, कल्याण पुजारी ग्रानन्य ग्राली, रिसकदास ग्रादि उल्लेखनीय हैं।

प्रमुख कवि ग्रीर उनका काव्य

कृष्ण-भक्त किवयों में सबसे ऊँचा स्थान महाकिव सूरदास का है। इनके जन्म, CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

वंश, निवास स्थान ग्रादि के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित वात नहीं मिलती, किन्तु विभिन्न विद्वानों ने इनका जन्म सारस्वत ब्राह्मण-कुल तथा सौही ग्राम में वैशाख शुक्ला पंचमी मंगलवार सं० १५३५ वि० को माना है। ये जन्म से ग्रंघे थे या वाद में चक्षुहीन हए-इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद मिलता है। हमारे विचार से इनका बाद में दृष्टि-हीन होना मानना ही उचित है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में सूर-सागर, साहित्य-लहरी ग्रीर सूर-सारावली उल्लेखनीय हैं। 'सूर-सागर' में भागवत के ग्राधार पर कृष्ण की लीलाग्रों का गान किया गया है। किन्तु इसमें उनके बाल एवं किशोर जीवन को अत्यधिक विस्तार दिया गया है। इसी कारण उसमें वात्सल्य एवं श्रृङ्गार की प्रमुखता है। 'सूर-सारावली' भी विषय-वस्तु एवं शैली की दृष्टि से सूर-सागर से ग्रभिन्न है। 'साहित्य-लहरी' में श्रृङ्जार-रस एवं नायिका भेद का प्रतिपादन शास्त्रीय श्राधार पर किया गया है, ग्रतः इसे कुछ विद्वानों ने ग्रप्रामाणिक माना था, उन्हें विश्वास नहीं हो सका कि सूरदास जैसा भक्त भी इस अश्लील विषय में प्रवृत्त हो सकता है। किन्तु ग्रव इस वात के ग्रनेक प्रमाण मिल गये हैं जिनके ग्राधार पर यह सूर द्वारा रचित सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः यह रचना सूर जी की आत्म-प्रेरणा से रचित नहीं, अपितु 'नन्दनन्दन दास हित' रचित है। सूरदासजी ने अपने काव्य में मुख्यतः गीत-शैली का प्रयोग किया है।

श्री विट्ठलदासजी द्वारा संगठित वल्लभ-सम्प्रदाय के ब्राठ प्रमुख किवयों की 'ग्रन्ट-छाप' सूरदासजी के अनन्तर दूसरे किव कुम्भनदास थे। ग्रायु की दृष्टि से ये अष्टछाप के किवयों में सबसे बड़े थे। ये घर-गृहस्थी का पालन करते हुए भक्ति भावना में लीन थे। एक वार इनकी प्रसिद्धि सुनकर सम्राट अकवर ने इन्हें फतेहपुर सीकरी ग्रामन्त्रित किया। वहाँ इन्होंने उपेक्षापूर्वक एक गीत गाया, जिससे इनकी निस्पृहता का परिचय मिलता है:

संतन को कहा सीकरो सों काम।
आवत जात पनिहयाँ दूटीं, बिसरि गयो हरि नाम।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परो सलाम।
'कुंभनदास' लाल गिरधर बिनु और सबै बे काम।।

कुंभनदास द्वारा रिचत कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, किन्तु दो सौ के लगभग पद कांकरौलों के विद्या-विभाग में संगृहोत हैं। इन पदों के ग्रवलोंकन से इनकी भाव-प्रवणता एवं रिसकता का परिचय मिलता है। ग्रष्टछाप के तीसरे बड़े किव परमानन्द दास थे जिन्होंने 'परमानन्द सागर', 'परमानन्द दास को पद', 'दानलीला', 'छद्धव-लीला', 'घ्रूवच्चिरत्र', 'संस्कृत-रत्न-माला' ग्रादि ग्रन्थों की रचना की। 'परमानन्द सागर' में इनके लगभग दो हजार पद संगृहोत हैं, जो काव्यत्व की दृष्टि से सूर सागर के पदों से भी बढ़कर बताए गए हैं, यद्यपि इस कथन में ग्रतिशयोक्ति की मात्रा ग्रधिक है। कृष्ण-दास, गोविन्द स्वामो, छोत स्वामो; चतुर्भुजदास ग्रादि किवयों को भी ग्रष्टछाप में स्थान प्राप्त था, किन्तु इनमें सूरदास की सी काव्य प्रतिभा का ग्रभाव था। विषय ग्रौर शैली की दृष्टि से उन्होंने सूरदास का ही ग्रनुसरण किया। 'ग्रष्टछाप' में नन्ददास का नाम सबसे CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

बाद में लिया जाता है। किन्तु कवित्व की दृष्टि से उनका स्थान सूरदास को छोड़कर सबसे ऊँचा है। उन्होंने फुटकल पदों के अतिरिक्त भ्रमर-गीत, रूप-मंजरी, रस-मंजरी, रास-पंचाव्यायी, विरह-मंजरी ग्रादि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की । भ्रमर-गीत सरदास के ही भ्रमर-गीत-प्रसंग की प्रेरणा से लिखा गया है जिसका प्रमुख उद्देश्य प्रेम की ज्ञान पर विजय दिखाना है। सुरदास ने भी ऐसा किया है, गोपियों के प्रेम-विभोर हृदय में ज्ञान के एक ग्रंश का भी प्रवेश नहीं हो पाता और इस प्रकार शष्क ज्ञान की निरर्थकता सिद्ध हो जाती है। नन्ददास ने इससे भिन्न मार्ग का अवलम्बन करते हए शष्क तकों के द्वारा ज्ञान से प्रेम की महत्ता सिद्ध की है। इससे नन्ददास दर्शन के क्षेत्र में तो सूरदास से अधिक ज्ञाता सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वे सूरदास की सी भाव-प्रवणता से शन्य दिखाई पड़ते हैं। 'रूप-मंजरी' की रचना, दोहे, चौपाइयों की ग्राख्यान-शैली में की गई है जिसमें किसी विवाहिता स्त्री का कृष्ण के प्रति प्रेम चित्रित करते हुए 'उपपित रस' का समर्थन किया है। ठीक ही है, जब पुरुषों के लिए 'परकीया भाव' जैसे प्रेम का भ्राविष्कार हो चुका था तो नारी के लिए भी 'उपपति रस' की स्थापना ग्रावश्यक थी। 'व्यभिचार' या 'जार भाव' जैसे शब्द को नया रूप देने के लिए इस पवित्र शब्द की कल्पना भागवतकार नहीं कर पाये थे, किन्तु नन्ददास ने ऐसा करके अपने भक्ति-शास्त्र के ज्ञान ग्रौर प्रेम-चेत्र के ग्रनुभव का ग्रच्छा परिचय दिया है। कहते हैं कि पुष्टिमार्ग में भ्राने से पूर्व भी नन्ददास किसी सेठ की युवा पुत्र-वधू को भ्रपने इस 'उपपति रस' की दीक्षा दे चुके थे। खैर, हम सांसारिक लोग उनके इस 'उपपति रस' के रहस्य को क्या समभें।

'रस-मंजरी' में नन्ददासजी ने नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण करते हुए नारी-चेष्टाग्रों, उनके हाव-भावादि का चित्रण सफलतापूर्वक किया है। हमारे कुछ विद्वानों ने इसे भी भक्ति-रस से लवालव वताया है, किन्तु यदि यह न वताया जाय कि यह रचना नन्ददास की है तो इसे किसी घोर श्रृङ्गारी की रचित मानने की घारणा वन सकती है। 'विरह-मंजरी' में भी विरह के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद किये गये हैं। 'नाम-मंजरी', 'ग्रनेकार्थ माला' ग्रादि रचनाएँ शब्द-ज्ञान के प्रदर्शन के निमित्त रचित हैं। 'रास-पंचाध्यायी' में भागवत के पाँच ग्रघ्यायों का ग्रनुवाद किया गया है। वस्तुत: काव्य क्षेत्र की व्यापकता एवं प्रयुक्त शैलियों की विविधता की दृष्टि से नन्ददास का महत्व ग्रष्टछाप में सर्वाधिक है। फिर भी भक्ति-भावना की ग्रभिव्यक्ति उनमें कम मिलती है, शुष्क सिद्धान्तों का निरूपण कर देना ही किसी कि को भक्त सिद्ध नहीं कर देता। वास्तिवकता तो यह है कि उसमें भक्ति की ग्रपेक्षा श्रुङ्गार की ग्रनुभूति ग्रधिक मिलती है।

राधावल्लम-सम्प्रदाय के किवयों में श्री हित-हरिबंश द्वारा रचित 'हित चौरासी' बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि स्नातक जी के शब्दों में—''संस्कृत की तत्सम पदावली को ब्रजभाषा के प्रवाह में ढालने की कला में हरिवंशजी को ग्रद्भुत क्षमता प्राप्त थी''— किन्तु सच्चे किवत्व के लिए इतनी-सी कला से ही काम नहीं चलता, उसके लिए हृदय को वह भावधारा भी ग्रमेक्षित है, जो इस पदावली के शुष्क शरीर में प्राणों का भी संचार कर पाती। हित हरिवंशजी ही क्या, इनके सम्प्रदाय के ग्रधिकांश किवयों में हमें CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

इस भावानुभूति का ग्रभाव परिलक्षित होता है। राधा-कृष्ण की संयोग-क्रीड़ाग्रों के निरू-पण में ही लीन रहने के कारण इनकी पदावलियों में स्थूल-क्रियाग्रों का ही चित्रण हुग्रा है; हृदय की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का निरूपण नहीं हुग्रा।

हिन्दी के कृष्ण-भक्त किवयों में राजस्थान की प्रसिद्ध कवियत्री 'मीरा' और 'वेलिक्रिसन-रुक्मिणी री' के रचियता पृथ्वीराज राठौर का भी नाम उल्लेखनीय है। इनका सम्बन्ध उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायों से नहीं था, किन्तु इनमें भिक्त का सच्चा आवेश मिलता है। काल-क्रम की दृष्टि से भी इनका आविर्भाव उपर्युक्त कृष्ण-भक्त किवयों के प्रारम्भिक युग में हुआ।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त कवियों के काव्य में निम्नांकित सामान्य प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं— (१) राधा-कृष्ण की लीलाग्नों का चित्रण—इस काव्य धारा के कवियों का मुख्य विषय राधा-कृष्ण की लीलाएँ हैं। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, भारतीय काव्य में महाभारत से ही कृष्ण के चरित्र को साहित्य में स्थान प्राप्त हो गया था तथा परवर्ती संस्कृत, प्राकृत एवं ग्रपभ्रंश काव्य में भी उनके जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा गया है, किन्तु उनमें उनके लोक-रक्षक रूप को ही प्रमुखता प्राप्त है। श्रीमद्-भागवत पहला ग्रन्थ कहा जा सकता है; जिसमें कृष्ण के लोकरंजक रूप को विस्तार से प्रस्तुत करते हुए उनकी वाल-लीलाग्रों एवं रास-क्रीड़ाग्रों को साहित्यिक शैली में चित्रित किया गया है। इतना ही नहीं, इस ग्रंथ में कृष्ण ग्रौर गोपियों के सम्बन्ध के ग्रौचित्य के प्रश्न पर भी विचार किया गया है। परीक्षित के पूछने पर भागवतकार इस समस्या का समाधान करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि गोपियों के प्रेम में वासना का पुट था, नैतिक दृष्टि से उनका यह सम्बन्ध समाज की मर्यादा के विरुद्ध था, किन्तु कृष्ण ग्रलौकिक ब्रह्म के भ्रवतार थे, ग्रतः उन्हें दोष नहीं लगा। हिन्दी के प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने भागवत से ही सामग्री ग्रहण की है किन्तु फिर भी उनके दृष्टिकोण में भागवतकार के दृष्टिकोण से थोड़ा अन्तर है। जहाँ भागवत के कृष्ण स्वयं गोपियों से निर्लिप्त रहते हैं, वे गोपियों की बार-बार प्रार्थना के ही कारण उनमें प्रवृत्त होते हैं, वहाँ हिन्दी कवियों के नायकराज एक रिसक छैला की भाँति स्वयं गोप-बालाग्रों की ग्रोर उन्मुख होते हैं ग्रौर ग्रपनी विभिन्न चेष्टाग्रों द्वारा उनके हृदय को जीत लेते हैं। दूसरे, भागवत में कृष्ण कहीं भी ग्रपने ब्रह्मरूप को भुला नहीं पाते। वे प्रारम्भ से ग्रन्त तक पाठक के लिए ग्रलौकिक ही बने रहते हैं, जबिक हिन्दी कवियों के कृष्ण की ग्रलीकिकता का ग्राभास बहुत कम स्थलों पर होता है, वे एक सामान्य बालक व किशोर के रूप में उपस्थित होकर लौकिकता से ग्रावृत्त हो जाते हैं। भागवत में राधा-सम्बन्धी इतिवृत्त का भी भ्रभाव है, जबिक सूरदास जैसे किवयों ने राधा के बचपन, उनकी युवावस्था ग्रादि की ग्रनेक घटनाग्रों को किल्पत करके उसे एक सजीव व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। गोपियों के प्रेम की पिवत्रता भी भागवत में निष्कलंक नहीं रहती, कृष्ण की श्रनुपस्थिति में बलराम मदिरा पीकर उनके साथ विहार करते हैं; किन्तु हिन्दी-CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. काव्य में वे सर्वत्र एकोन्मुख दिखाई गई हैं। वस्तुतः कृष्ण के चिरत्र की रूप रेखाओं में हिन्दी कवियों ने नया रंग भरकर उसे अधिक आकर्षक एवं मधुर बना दिया है। अपने युग एवं समाज के वातावरण के अनुसार इन कवियों ने अनेक नवीन प्रसंगों की भी उद्भावना की है जो रस-सृष्टि में सहायक सिद्ध होते हैं।

(२) भक्ति-भावना—यद्यपि हिन्दी में इस घारा के किवयों से भी पूर्व कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य कुछ किवयों द्वारा लिखा गया था, जिनमें विद्यापित उल्लेखनीय हैं, ग्रतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हम कृष्ण-भिक्त काव्य धारा का ग्रारम्भ विद्यापित से ही क्यों न मान लें ? ग्राधुनिक युग में भी प्रिय-प्रवास, द्वापर ग्रादि काव्यों में कृष्ण-चिरत का ग्रंकन किया गया है, ग्रतः यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस धारा के प्रवाह में इन ग्राधुनिक किवयों को भी सिम्मिलत करना कहाँ तक उचित होगा ? वस्तुतः इन दोनों प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ने के लिए हमें इस काव्य की दूसरी सामान्य प्रवृत्ति—भिवत भावना पर घ्यान देना ग्रावश्यक होगा। भिक्त दो तत्त्वों—श्रद्धा ग्रोर प्रेम के मिश्रण का नाम है। विद्यापित के दृष्टिकोण में प्रणय का स्फुरण तो है किन्तु श्रद्धा का उन्मेष नहीं मिलता, दूसरी ग्रोर 'द्वापर', 'प्रिय-प्रवास' ग्रादि के रचियताग्रों में शुष्क श्रद्धा मात्र है, प्रेम नहीं; ग्रतः इन दोनों ही कोटि के किवयों को हम कृष्ण-भिक्त काव्य-घारा के ग्रन्तर्गत सिम्मिलत नहीं कर सकते।

कृष्ण-भक्त किवयों की भिक्त-भावना का विवेचन करते हुए विभिन्न विद्वानों ने उसे रागानुगा, प्रेम-लक्षणा, वात्सल्य-भाव, माधुर्य-भाव ग्रादि विशेषणों से युक्त किया है। यद्यपि स्वयं मध्यकालीन श्राचार्यों ने भिक्त के इस प्रकार के भेदोपभेद किए हैं, किन्तु हम इन सवको ग्रनावश्यक एवं निरर्थक मानते हैं। भिक्त में प्रेम-तत्त्व की स्थिति ग्रनिवार्य होती है, ग्रन्यथा वह भिक्त न रहकर कोरी श्रद्धा या शुष्क उपासना मात्र रह जायगी, ग्रतः इससे पूर्व 'रागानुगा' या 'प्रेमलक्षणा' जैसे विशेषणों का प्रयोग करना विल्कुल ग्रनावश्यक है। इसी प्रकार वैधी-भिक्त में भी प्रेम-तत्व ग्रावश्यक रहता है तथा रागानुगा, में विधि-विधानों का सर्वथा ग्रभाव नहीं रहता। उदाहरण के लिए पृष्टि-मार्गीय भिक्त को ले सकते हैं। इसे 'रागानुगा' कहा जा सकता है किन्तु श्रीनाथजी के मन्दिर में इतने ग्रधिक नित्य ग्रीर नैमित्तिक ग्राचारों व उत्सवों ग्रादि का ग्रायोजन होता है कि उसे 'विधि-रहित' कहना उचित नहीं। यदि वैधी का तात्पर्य लोक-मर्यादा को मानने से लिया जाय तो यह बात भी कृष्ण-भक्त किवयों में मिलती है। स्वयं ग्राचार्य जी की गदी की प्राप्ति के लिए लौकिक नियमों का ग्राश्रय लिया गया था, ग्रतः हमारी समक्त में रागानुगा ग्रीर वैधी का भेद व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है।

कृष्ण-भक्त कियों में मीरा श्रौर सूरदास को छोड़कर शेष ग्रपनी भक्तिभावना की व्यंजना प्रत्यक्ष रूप में प्रायः नहीं की; एक भक्त की भाँति इन्होंने ग्रपने ग्राराध्य के प्रति सीधा ग्रात्म-निवेदन बहुत कम किया है, वे प्रायः गोप-गोपियों के माध्यम से ही श्रपनी भावनाश्रों को श्रभिव्यक्त करते हैं। वस्तुतः वे ग्रपने ग्राराध्य की बाल-क्रीड़ाश्रों एवं रास-लीलाग्रों का ग्रवलोकन करते हैं, किन्तु स्वयं उनमें सम्मिलित नहीं होते। कबीर जैसा ग्रक्खड़ भी ग्रपने रमैया की सेज का ग्रानन्द लूटने में सफल हो जाता है, पर ये किव CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. थ्रपने छैल-विहारी की क्रीड़ाग्रों के दृष्टा मात्र ही वने रहते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। ये भक्त थे, प्रेमी नहीं। भक्त अपने ग्राराध्य के चरणों का सामीप्य चाहता है, उसके अस्तित्व में अपने को विलीन नहीं कर देना चाहता; वह उसके दर्शनों का भूखा है, उसमें मिलकर एक हो जाने की ग्रिभिलाषा उसमें नहीं होती। रहस्यवादियों ग्रौर भिक्त की मोक्ष सम्बन्धी धारणा में भी यह अन्तर मिलता है। रहस्यवादी ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा की एकता को मोक्ष मानता है, जबिक भक्त गोलोक में सूच्म शरीर धारण करके नारा-यण के समीप स्थित रहना ही अपना चरम लक्ष्य—मोक्ष स्वीकार करता है।

सूरदास, कुम्भनदास, मीरा ग्रादि प्रारम्भिक कियों में भक्ति-भावना का जैसा उन्मेष मिलता है, वह परवर्ती कृष्ण-भक्त-कियों—कृष्णदास, नन्ददास—ग्रादि में नहीं मिलता। नन्ददास में तो शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति इतनी ग्रधिक मिलती है कि उससे उसकी भक्ति की प्रवृत्ति दव-सी गई है। वस्तुतः कृष्ण-मन्दिरों के विलासितापूर्ण वाता-वरण के प्रभाव से धीरे-धीरे भक्ति का स्थान शृङ्गार ने ले लिया ग्रीर ग्रागे चलकर वह पूर्णतः शृङ्गारिकता में परिवर्तित हो गई।

(३) बात्सल्य रस का चित्रण—पुष्टिमार्ग के प्रारम्भ में वाल-कृष्ण की उपासना का प्रचार था, ग्रतः तत्सम्बन्धी किवयों का वाल-रूप का चित्रण करना स्वाभाविक था। इस क्षेत्र में सबसे ग्रधिक सफलता महाकिव सूरदास को मिली है। उन्होंने कृष्ण के रूप में वालक की विभिन्न चेष्टाग्रों व क्रियाग्रों का चित्रण तथा उनकी उक्तियों की व्यंजना सहज स्वाभाविक ढंग से की है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मैया कबिह वढ़ेगी चोटी ? किती बार मोहिं दूब पियत भई, यह ग्रजहूँ है छोटी।

इसी प्रकार सूरदासजी ने मातृ-हृदय की ग्राशा-ग्राकांक्षाग्रों ग्रादि का उद्घाटन भी सफलतापूर्वक किया है। मातृ-हृदय की वेदना को जितनी गहराई से किव सूर समक सके हैं, उतनी कोई ग्रौर नहीं समक सका। जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो यशोदा देवकी को सन्देश भेजती हैं—

> संदेसो देवको सों कहियो ! हों तो घाय तिहारे सुत की मया करत ही रहिये !

× × ×

माता यशोदा को ग्राशंका है कि कहीं देवकी कृष्ण को पराया समभ कर उसकी उपेक्षा न करे, ग्रतः वह ग्रपने पुत्र-सुख के लिए ग्रपने ग्रिधकार को त्यागकर धाय बनना CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

भी स्वीकार कर लेती है। सच्चे स्नेह, वात्सल्य एवं प्रेम में श्रिधकारों का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) शृंगार वर्णन — कृष्ण ग्रौर गोपियों के प्रेम-वर्णन के रूप में कृष्ण-भक्त किवयों ने पूर्ण स्वच्छन्दता से शृङ्कार रस का वर्णन किया है। कृष्ण ग्रौर गोपियों का प्रेम सौन्दर्य-जन्य है, जो घीरे-घीरे साहचर्य द्वारा विकसित होता है। वृन्दावन के सुन्दर मधुर प्राकृतिक वातावरण में उनको शृङ्कार-भावना के उद्दीपन की पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है। प्रेम की प्रारम्भिक ग्रवस्था में कृष्ण ग्रौर गोपियों के वीच छेड़-छाड़ चलती रहती है:

तुम पै कौन दुहावे गैया ?

इत चितवत उत घार चलावत, यहै सिखायो मैया !

× × ×

तुम कमरी के ओढ़न हारे, पीताम्बर निहं छाजत !
स्रदास कारे तन ऊपर, कारी कमरी भ्राजत ।

× × ×

स्र कहा ए हमको जानै छाछिह बेचनहारी !

× × ×

यह जानत तुम नन्द महर-सुत ।
धेनु दुहत तुमको हम देखित जबिह जात खरिकिहं उत ।
चोरी करत रहाँ पुनि जानित घर-घर ढूँढत भांडे ॥

यह प्रारम्भिक छेड़-छाड़ ग्रागे चलकर गम्भीर प्रणय-वेदना का रूप धारण कर लेती है। प्रेम की विह्वलता एवं तन्मयता का चित्रण इस धारा के कियों ने सफलता-पूर्वक किया है। यद्यपि संयोग-पक्ष के वर्णन से कहीं-कहीं ग्रश्लील दृश्यों का भी ग्रायोजन किया गया है, किन्तु प्रायः इन्होंने प्रेमानुभूतियों की ही व्यंजना सूच्म रूप में की है। कृष्ण ग्रीर गोपियों के प्रेम का ग्रन्त निराशा एवं ग्रसफलता में होता है, ग्रतः इनके काव्य में विरहोद्गारों की ग्रिभव्यिक्त को भी पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त हुग्रा है। राधा ग्रीर गोपियों द्वारा विभिन्न ग्रवसर पर कही गई उक्तियों से उनके हृदय की गूढ़ वेदना का परिचय मिलता है—

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर बच्च ते भारी, रहि कै पापी कहा कियो।।
घोरि हलाहल सुन री सजनी, औसत तेहि न पियो!
मन सुघि गई संभारित नाहिंन, पूरो दांव श्रक्रूर दियो।।
कछु न सुहाइ गई सुघि तब ते, भवन काज को नेम लियो!
निशा दिन रटत 'सूर' के प्रभु, बिनु मरिबो, तउ न जात जियो!!

गापियों की विरह वेदना की व्यंजना को भरपूर ग्रवकाश 'भ्रमरगीत प्रसंग' या 'उद्धव-गोपी-संवाद प्रसंग' में मिलता है। विशेषतः सूरदास ने इस प्रसंग के वर्णन में CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

जिस मार्मिकता का परिचय दिया है, वह ग्रद्भुत है। गोपियों का एक-एक शब्द उनके हृदय की व्यथा, वेदना एवं पीड़ा को साकार रूप में प्रस्तुत कर देता है—

संसार के सभी ग्रसफल प्रेमी-प्रेमिकाशों की भाँति गोपियाँ भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि—

इस प्रकार कृष्ण-भक्त किवयों ने प्रेम की सभी ग्रवस्थाओं एवं भाव-दशाओं का चित्रण सफलता पूर्वक किया है। यद्यपि ग्रन्त में नायकराज की ग्रित रिसकता के कारण गोपियों के प्रणय की परिणित सफलता में नहीं हो पाती, किन्तु रस-दशा के विकास में इससे विशेष ग्रन्तर नहीं पड़ता।

(५) गीत-शैली—इस धारा के किवयों ने मुख्यतः गीति-शैली का प्रयोग किया है। विद्वानों के द्वारा गीति शैली के ग्रावश्यक वताए गए पाँचों तत्व—(१) भावात्मकता, (२) संगीतात्मकता, (३) वैयक्तिकता, (४) संक्षिप्तता ग्रौर (५) भाषा की कोमलता—इनके काव्य में उपलब्ध होते हैं। इन्होंने प्रत्येक पद में किसी एक भाव दशा-विशेष को लेकर उसका सूक्ष्म निरूपण किया है। संगीत की राग-रागनियों का प्रयोग भी प्रायः सभी किवयों ने किया है। यद्यपि राधा-कृष्ण की कहानी का वर्णन होने के कारण इनमें वैयक्तिकता के लिए विशेष क्षेत्र नहीं था, फिर भी उन्होंने प्रायः गोपियों की ग्रनुभूति की व्यंजना उनके शब्दों में ही की है, ग्रतः वैयक्तिकता की भलक भी उनके काव्य में मिलती है। ग्राकार-प्रकार की दृष्टि से इनके गीत छोटे-वड़े है तथा

१. अब यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने केवल गीतिशौली ही ग्रपनाई है; वस्तुतः उनके द्वारा रचित शताधिक प्रबन्ध-काव्य भी उपलब्ध हुए
हैं, यहाँ तक कि इन्होंने राम-भक्त कवियों से भी अधिक प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं। विस्तृत
जानकारी के लिए वेखिए—लेखक के 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' के ग्रन्तगैत
'पौराणिक प्रबन्ध-काव्य-परम्परा' एवं 'पौराणिक गीति परम्परा': पृष्ठ २४४-३२०।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

उनकी भाषा अत्यन्त कोमल एवं मधुर है, श्रतः गीतिकाव्य के अन्तिम दो तत्त्व भी इनके पदों में उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः इनके गीति-पद गीति-शैली के श्रादर्श हैं।

(३) ब्रज भाषा का प्रयोग—कृष्ण की जन्म-भूमि में प्रचलित भाषा के प्रति इन कियों का अनुराग होना स्वाभाविक था। यद्यपि इनसे पूर्व साहित्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का प्रयोग बहुत हो कम हुआ था, फिर भी उन्होंने इसका निस्संकोच प्रयोग किया। सूर-दास व नन्ददास जैसे प्रतिभाशाली किव के हाथ में पड़कर ब्रजभाषा चमक उठी, उसका शब्द-भंडार तत्सम एवं उद्भव शब्दों के द्वारा भर गया, मुहावरों के प्रयोग से उसमें व्यंजकता और प्रवाहशीलता के गुण आ गए। उनके हृदय की भाव-भारा में प्रवाहित होकर उसमें ऐसी कोमलता, स्निग्धता, सरलता व सरसता आ गई कि वह परवर्ती कियों के लिए सर्वगुण-सम्पन्न हो गई। १६वीं शती के उत्तरार्ध में केवल वह ब्रज की ही भाषा न रहकर समस्त उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा बन गई, जिसमें भक्त, श्रुङ्गारी और दरवारी—सभी प्रकार के किवयों ने काव्य रचना की। अकवर जैसे मुस्लिम सम्राटों के दरवार में भी इसने गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि विना किसी आन्दोलन के साहित्यकार किसी भाषा की प्रतिष्ठा में किस प्रकार अभिवृद्ध कर सकते हैं।

उपसंहार

कृष्ण-भिनत घारा के उपर्युक्त पर्यालोचन से इसका महत्त्व स्पष्ट रूप में दृष्टि-गोचर होता है। इस धारा के किवयों ने सांसारिक वातावरण से दूर मन्दिरों में रहते हुए निश्चित रूप से काव्य-साधना की। यह ठीक है कि मन्दिरों का वातावरण पर्याप्त दूषित हो चुका था, फिर भी दरवारी कवियों की भाँति उन्हें पद-पद पर ग्राश्रयदाता को प्रसन्न करने की चिन्ता नहीं थी। इसी से वे कला की उदात्त साधना में प्रवृत्त रह सके। दूसरे, उनकी कविता का धर्म और दर्शन से सम्बन्ध होते हुए भी उसमें कवीर श्रौर तुलसी की भाँति धार्मिक प्रचार, दार्शनिक गुत्थियाँ एवं शुष्क उपदेशों का प्रति-पादन नहीं मिलता । उसमें इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा भावात्मकता का ही प्राधान्य है । संगीत के माघुर्य ने उसकी सरसता में श्रौर भी श्रधिक श्रभिवृद्धि कर दी है उसमें तत्कालीन लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब राधा-कृष्ण के लौकिक जीवन में मिलता है। उसके भाव-पक्ष ग्रौर कला-पक्ष दोनों प्रौढ़ हैं तथा जनता के ग्रल्प-शिक्षित व सुशिक्षित-दोनों वर्ग उसका श्रास्वादन कर सकते हैं। किन्तु नैतिकता, मर्यादा एवं लोकमंगल की उपेक्षा के कारण इस साहित्य का जनता के चरित्र पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। इनके काव्य-दीपक से ग्रागे चलकर ग्रश्लील श्रृङ्गारिकता का कज्जल उत्पन्न हुग्रा। रीति तत्वों का समावेश भी सूरदास एवं नन्ददास जैसे कवियों ने अपने काव्य में किया है। श्रतः कहा जा सकता है कि परवर्ती रीतिकाल के प्रवर्तन में इन कवियों ने प्रत्यक्ष रूप में गहरा योग दिया है।

: उन्तीस :

रीतिबद्ध काव्य ऋौर उसकी प्रवृत्तियाँ

- १. रीति शब्द की व्याख्या।
- २. उद्गम स्रोत ।
- ३. प्रवर्त्तक कौन ?
- ४. प्रमुख कवि ।
- ४. सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) ग्राचार्यत्व या रीति-विवेचन, (ख) श्रुङ्कार वर्णन, (ग) भक्ति एवं वैराग्य का मिश्रण, (घ) ग्राश्रयदाताग्रों की प्रशंसा, (ङ) मुक्तक शैली, (च) ब्रजभाषा का प्रयोग ।
- ६. उपसंहार।

रीति-काव्य और उसकी प्रवृत्तियाँ

'रीति' का सामान्य ग्रर्थ 'विधि', 'प्रणाली' या 'परिपाटी' होता है, किन्तु साहित्य-शास्त्र में इसका प्रयोग विभिन्न ग्रर्थों में होता रहा है। संस्कृत के प्रसिद्ध ग्राचार्य वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की घोषणा करते हुए इसे एक विशेष रचना-पद्धित से सम्बन्धित किया तथा इसका लक्ष्य काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति करना माना। 'रीति' को काव्य की ग्रात्मा स्वीकार कर लेने की स्थिति में उसका क्षेत्र वहुत व्यापक हो जाता है; उसकी परिधि में भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष सम्वन्धी सभी सौन्दर्योत्पादक साधनों का समावेश हो जाता है, किन्तु 'काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति' के रचियता ने इसे वैदर्भी, गौड़ी ग्रौर पांचाली जैसी तीन पद्धतियों तक ही सीमित कर दिया। हिन्दी के मध्य-कालीन श्राचार्यों एवं कवियों ने 'रीति' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए इसके अन्तर्गत रस, ग्रलंकार, रीति, घ्वनि ग्रादि सभी रचना-पद्धति-सम्बन्धी नियमों एवं सिद्धान्तों को स्थान दिया है। ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी ग्रपने इतिहास में इसे इसी व्यापक ग्रर्थ में स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने ग्रपना मन्तव्य कहीं स्पष्ट नहीं किया; ग्रतः परवर्ती विद्वानों ने इसकी व्याख्या ग्रपने-ग्रपने ढंग से की है। डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—''यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकार-शास्त्र का ही जोर रहा है जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त-रीति', 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे, संभवतः इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाग्रों को 'रीति-काव्य' कहा है। डॉ॰ नगेन्द्र एवं श्री विश्वनाथप्रसाद ने भी इसी प्रकार की व्याख्या करते हुए 'रीति' शब्द को 'काव्य-रीति' का संक्षिप्त रूप बताया है। 'रोति' को 'काव्य-रोति' का ही संक्षिप्त रूप न मानकर-उसे 'रस-रीति' या 'प्रेम-रीति' का संक्षिप्त क्यों नहीं कहा जा सकता ? इन मध्यकालीन कवियों का मुख्य उद्देश्य, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है, अपने आश्रयदाताओं के हृदय में काम की पिचकारी छोड़ना था, उनकी रसिकता को उत्तेजित करते हुए उन्हें प्रेम की विभिन्न एवं शिष्ट सुसंस्कृत पद्धितयों से परिचित कराना था; ग्रन्यथा वे केवल श्रुङ्गार-रस ग्रौर नायिका-भेद को ही नहीं ग्रपनाते, काव्य के सभी ग्रंगों एवं उपांगों का विवेचन करते। कुछ कवियों ने ग्रपने इस उद्देश्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी कर लिया है—

एक मिल हम सों श्रस-गुन्यो।
मैं नायिका-भेद नहिं सुन्यो।
जब लिंग इनके भेद न जानें।
तब लग प्रेम-तत्व न पहिचानें।
बिन जाने ये भेद, प्रेम न परचे पोय।
चरन होन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यो कोय।

-रसमंजरी (नन्ददास)

सुरवानी यातें करी, नर बानी में ल्याय। जाते मग रस-रीति को, सब तें समक्षो जाय।

—सुन्दर शृङ्गार (सुन्दर कवि)

बाढ़ें रित मित अति, पढ़ें जाने सब रस-रीति। स्वारय परमारय लहें, रिसक-प्रिया की प्रीति।

---केशवदास (रसिक-प्रिया)

उपर्युक्त ग्रंशों के रेखांकित स्थल—प्रेमतत्व, रस-रीति ग्रादि 'काव्य-कला' से नहीं 'काम-कला' से सम्बन्ध रखते हैं; 'रस' शब्द यहाँ रस-सिद्धान्त के लिए नहीं, ग्रिपतु 'रिसकता' के लिए प्रयुक्त हुग्रा है। ग्रतः हमारे विचार से 'रीति' शब्द के ग्रन्तगति— जहाँ तक मध्यकालीन काव्य का सम्बन्ध है—काव्य-रीति ग्रौर रस-रीति दोनों का समा-वेश हो जाता है। ग्राचार्य शुक्ल एवं परवर्ती विद्वानों ने इसे केवल प्रथम ग्रर्थ में ही ग्रहण करके इस काव्य को सीमित कर दिया है।

स्रव 'काव्य-रोति' के ग्रर्थ में 'काव्य-शास्त्र' जैसे व्यापक शब्द का प्रयोग होता है तथा 'रोति' शब्द केवल हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य की उस परम्परा-विशेष के लिए रूढ़ हो गया है, जो ग्राचार्य शुक्ल के मतानुसार सं०१७०० में चिन्तामणि त्रिपाठी से ग्रारम्भ होकर उन्नीसवीं शती के ग्रन्त तक ग्रखण्ड रूप में चलती रही है तथा जिसमें लक्षणों एवं उनके उदाहरणों के रूप में काव्य रचना की गई है। ग्रस्तु, प्रचलित मतानुसार हम भी 'रीति-काव्य' को रूढ़ ग्रर्थ में ग्रहण करते हुए ग्रपने विवेचन को उक्त परम्परा विशेष तक ही सीमित रखेंगे।

उद्गम-स्रोत एवं प्रेरक तत्व

रीति-काव्य के स्वरूप एवं उसकी प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय देने से पूर्व हमें ग्रपने उद्गय-स्रोत एवं प्रेरक-तत्वों पर विचार कर लेना चाहिए। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य-क्षेत्र में 'रीति-विवेचन' का कार्य भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र' से ही ग्रारम्भ

हो जाता है, किन्तु फिर भी प्रारम्भिक संस्कृति युग में ग्राचार्यत्व ग्रौर कवित्व के क्षेत्र भिन्न-भिन्न थे, जविक उत्तरकालीन संस्कृत-युग में कवि ग्रपने ग्रापको ग्राचार्य ग्रौर ग्राचार्य ग्रपने ग्रापको कवि रूप में प्रस्तुत करने लगे।

जहाँ जयदेव ने 'विलपित रोदित वासकसज्जा' जैसे संकेतों से ग्रपने 'गीत-गोविन्द' को ग्राचार्यत्व की उधार ली हुई पालिश से चमत्कृत किया, तो दूसरी ग्रोर पंडितराज जगन्नाथ ने ग्रपने 'रस-गंगाधर' में काव्य-लक्षणों को स्वरचित उदाहरणों से स्सज्जित करके अपनी कवित्व शक्ति का परिचय देना आवश्यक समभा । अतः हिन्दी कवियों का पूर्ववर्ती संस्कृत के ग्राचार्यों की ग्रपेक्षा संस्कृत के परवर्ती विद्वान् कवियों का ग्रनुकरण करना स्वाभाविक था। ग्राचार्यत्व के स्वतन्त्र क्षेत्र का ग्रस्तित्व समाप्त हो जाने का एक बड़ा भारी कारण मुस्लिम-साम्राज्य में संस्कृत-विद्याभ्यास को प्रश्रय न मिलना भी है, इससे विद्वत्ता के स्तर में गिरावट के साथ-साथ हमारी वौद्धिक प्रतिभा का ह्रास होने लगा। अब आचार्यत्व का लक्ष्य वने-बनाये सिद्धान्तों को रट लेना मात्र ही रह गया । मौलिक द्ष्टि से विवेचन करते हुए उनका संशोधन-परिष्कार करना नहीं । जिस प्रकार अंग्रेजी राज्य में अंग्रेजी का महत्त्व सर्वाधिक रहा, उसी प्रकार मुस्लिम राज्य में फारसी का। ग्रस्तु, भारतीय विद्यार्थी न तो पूर्वजों के ज्ञान की धरोहर को ही भली प्रकार संभाले रखने के लिए संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर पाता था ग्रीर न ही विधर्मी शासकों की कृपा-दृष्टि पाने के लिए सीखी जाने वाली अरबी-फारसी का पूरा आधिपत्य कर पाता था। ऐसी परिस्थिति में स्वतन्त्र चिन्तन की क्षमता, निजी विचारों को ग्रात्म विश्वासपूर्वक प्रकट करने की योग्यता एवं पुराने नियमों एवं सिद्धान्तों के विरोध के साहस का लुप्त हो जाना स्वाभाविक था।

प्राचीन हिन्दू संस्कृति में कला की ग्रिभव्यक्ति धार्मिक जीवन के विभिन्न ग्रंगों के रूप में होती थी, जैसे वास्तुकला की देवताग्रों के रूप में, मूर्ति एवं चित्रकला की ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों के चित्रण में तथा संगीत व काव्य-कला की भक्तिपरक गीतों एवं लीलाग्नों के गायन के माध्यम से । श्रतः कला धर्म से भिन्न होकर श्रपना स्वतन्त्र ग्रस्तित्व स्थापित करने में सफल नहीं हो सकी। हिन्दी के भक्ति-काल में भी कला को पराजित पृथ्वी-पतियों के दुर्गों की चार-दीवारी में से निकलकर मंदिरों की शरण में जाना पडा । किन्तू हमारे उत्तर-मध्य-युग (रीति युग) में पुनः परिस्थितियों व वातावरण में परिवर्तन उपस्थित हुमा। कुरान में कला को धार्मिक क्षेत्र से विहिष्कृत किया गया है, क्योंकि वह मृति, चित्र, संगीत ग्रादि के माध्यम से ग्रनुकृति का विरोध करता है-ग्रतः मुस्लिम शासकों की छत्र-छाया में कला को धर्म-निरपेक्ष रूप में महत्त्व मिलने लगा, जिसका प्रभाव हमारे कवियों पर भी पड़ा। यह ठीक है कि इस युग का कवि भी भ्रपनी परानी म्रादत के मनुसार कहीं-कहीं धर्म की म्रोट लेने का प्रयत्न करता है, किन्तु गहराई से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि उनके काव्य की मूल चेतना सौन्दर्योन्मुख ही है, धर्म या भक्ति की प्रेरणा का उन्मेष उनमें नहीं है। यही कारण है कि जो लोग भक्ति-भावना, जीवन-दर्शन, विचार-निधि एवं महत्त्वपूर्ण संदेशों की प्राप्त्याशा से इस काव्य का अध्ययन करते हैं, उन्हें इससे निराश होना पड़ता है।

मुगल-काल के कला-प्रेमी शासकों ने हमारे प्राचीन कला-केन्द्रों को नष्ट तो कर दिया, किन्तु साथ ही उन्होंने सुदृढ़ राज्यों की स्थापना करके उस शान्त वातावरण को भी जन्म दिया, जिसमें हमारी काव्य-वल्लरी शिश-कला की भाँति द्रुतगित से पल्लिवत, पृष्पित एवं विकसित होने लगी। उन्होंने ग्रपने ग्राश्रित किवयों की वैयक्तिकता का तो ग्रपहरण किया, किन्तु साथ हो उन्हें सम्मान व ऐश्वर्य की विभूति भी प्रदान की, जिसकी मादकता से उन्मत्त होकर वे नैतिकता, धर्म व दर्शन ग्रादि को भूलकर स्वकीयाग्रों एवं परकीयाग्रों के सौन्दर्य पर मँडराने लगे। यदि उन्हें तत्कालीन शासकों का वैसा निश्चित ग्राश्रय प्राप्त न होता तो सम्भवतः वे विलासिता की वैसी धारा प्रवाहित न कर पाते, जो ग्राज हमें देखने को मिलती है।

हमारी धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों ने भी रीति-काव्य के रचियताओं की श्रृङ्गारिक प्रवृत्तियों के विकास में कम योग नहीं दिया। पुष्टिसंप्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभ् वल्लभाचार्य ने वाल-कृष्ण की जिस उपासना का प्रचार उत्साहपूर्वक किया था, अब वह उन्हीं के उत्तराधिकारियों द्वारा 'श्रृङ्गार रस-मंडन' से मंडित होकर माधुर्यभाव की साधना में परिणत हो चुकी थी। एक ग्रोर कृष्ण के पार्श्व में राधा की मूर्ति प्रतिष्ठित की गई; दूसरी थ्रोर धाराध्य के मनोरंजन के निमित्त थ्रागरे की रूपवती वेश्या को ग्रामंत्रित किया गया। ग्रधिकारी कृष्णदासजी की कृपा से मंदिर में रासलीला के नये-नये संस्करण होने लगे तथा ठाकुरजी को 'काम-कला' व 'नायिका-भेद' ग्रादि सिखाने के उद्देश्य से 'साहित्य-लहरी', 'रस-मंजरी', 'विरह-मंजरी' जैसे ग्रन्थों को रचने की प्रेरणा दी गई। 'परकीया-भाव' पर नैतिकता की छाप पहले ही लग चुकी थी, ग्रव नंददासजी जैसे रसिक भक्तों ने 'उपपति रस' की महत्ता प्रतिष्ठित करने की ग्रावश्यकता ग्रन्भव की । भागवत पुराण भ्रादि ग्रन्थों की कृपा से कृष्ण के स्वच्छन्द विहार की कहानियों का तो प्रचार बहुत कुछ हो ही चुका था, अब ऐसे-ऐसे सम्प्रदायों की भी स्थापना हई. जिन्होंने विलासिता में राम को भी कृष्ण से बढ़कर सिद्ध किया। ग्रस्तु, मंदिरों का वातावरण कामुकता ग्रौर रसिकता की गंध से ग्रोत-प्रोत हो गया, जिसके प्रभाव से समाज के प्रांगण में भी ग्रनैतिकता एवं व्यभिचार का नग्न-नृत्य हो तो ग्राश्चर्य ही नया ? भले घरों की वहू-बेटियाँ पास-पड़ोस के युवकों से गुप्त सम्बन्ध स्थापित करने में या 'तन-मन-घन गोसाईं जी के अर्पण' करने में किस प्रकार लीन हो गई थीं, इसकी भलक उस युग के साहित्य में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है। प्रमाण-स्वरूप पड़ोसियों के घर की छत पर से या दीवार के छेद में से 'प्रेम' का ग्रादान-प्रदान करने वाली ग्रथवा मिश्रजी के मुख से परकीया-दोष का वखान सुनकर मुस्करा देने वाली विहारी की नायिकाग्रों को देखा जा सकता है। इतना ही नहीं, रसिकता को उस युग में व्यक्तित्व का एक श्रावश्यक गुण समभा जाने लगा था तथा यौवन के दिनों में फिसल जाना एक साधारण बात समभी जाती थी। ग्रतः इस युग के साहित्य में कामुकता, रसिकता एवं प्रणय की वाढ़ हो तो भ्राश्चर्य की बात नहीं। प्रवर्तक कौन ?

रीति-काव्य का भ्रारम्भ विक्रम की सोलहवीं शती के भ्रन्तिम चरण में ही हो CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

जाता है। सं० १५६८ वि० में कृपाराम ने 'हित-तरंगिणी' का निर्माण किया, जो कि इस परम्परा का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ कहा जा सकता है, किंतु इसके कुछ दोहों में विहारी के दोहों से साम्य होने के कारण विद्वानों ने इसके रचना-काल को सन्देह की दृष्टि से देखा है। विहारी में श्रपने पूर्ववर्ती कवियों के भावापहरण की प्रवृत्ति मिलती है, उनकी सतसई के शताधिक दोहे 'गाथा सप्तशती', 'ग्रार्या सप्तशती', 'ग्रमरुशतक' तथा केशव, बलभद्र मिश्र ग्रादि पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों के ग्राघार पर निर्मित हैं, ग्रतः 'हित-तरंगिणी' के रचना काल पर सन्देह करना ग्रावश्यक है। ग्रागे चलकर सत्रहवीं शताब्दी में ग्रनेक ऐसे ग्रंथ लिखे गए जिनमें रीति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं । साहित्य-लहरी (१६०७-सूरदास कृत), नंददास कृत 'रस-मंजरी' (१६३७ वि०), गोपाकृत 'अलंकार-चंद्रिका' (१६१५ वि०), मोहन का 'श्रुङ्गार-सागर' (१६१६ वि०), करुणेश के 'करुणाभरण', 'श्रृति-भूषण', 'भूपभूषण' ग्रादि (१६३७ वि० लगभग), वलभद्र मिश्र का 'नख-शिख' (१६४० वि०) ग्रादि। इन ग्रंथों में रीति-काल सम्बन्धी ग्रनेक विषयों---नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद निरूपण, अलंकार निरूपण ग्रादि-का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु उन सब में विषय ग्रीर शैली की दिष्ट से सर्वत्र कोई एक व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। इस परम्परा को एक व्यवस्थित एवं प्रौढ़ रूप देने का श्रेय केशवदास को है जिन्होंने रसिक-प्रिया (१६४८ वि०) ग्रीर 'कवि-प्रिया' (१६५८ वि०) में रीति-काव्य सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों का विवेचन प्रौढ़ता से किया है। ग्रतः रीति-काव्य परम्परा के प्रवर्त्तन का श्रेय कृपाराम तथा उसे व्यवस्थित प्रौढ़ रूप देने का यश केशवदास को मिलना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि त्रिपाठी (रचना-काल सं० १७०० वि०) को रीति-परम्परा का प्रवर्त्तक सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पक्ष में तीन तर्क दिए हैं—(१) रीति ग्रन्थों का ग्रविरल ग्रौर ग्रखण्डित प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला। (२) केशव अलंकारवादी थे, जविक परवर्ती कवियों ने केशव से भिन्न ग्रादर्श—रस-सिद्धान्त को ग्रपनाया। (३) पर-वर्ती कवियों ने ग्रलंकारों के निरूपण में केशव की शैली को न ग्रपनाकर कुवलयानन्द की शैली-एक ही दोहे में लक्षण ग्रीर उदाहरण देने की शैली-का प्रयोग किया। हमारे विचार से उपर्युक्त तीनों ग्राक्षेप निराधार हैं। नवीनतम ग्रनुसन्धान से जो ग्रन्थ प्रकाश में ग्राये हैं, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि रीति-परम्परा केशव से चिन्तामणि तक ग्रखंडित रूप से ग्रागे बढ़ती रही है। वे ग्रन्थ हैं--रस-चिन्द्रका (बाल-कृष्ण--१६-५७ वि०), ग्रलक-शतक व तिल-शतक (मुवारक-कृत-१६७० वि०), रंग-भाव-माधुरी (रस-नायिका-भेद का ग्रन्थ-ज्ञजपति भट्टकृत-१६८० वि०), नख-शिख (लीलाधर-१६७६ वि०), सुन्दर-शृङ्गार (सुन्दरकृत रसनायिका-भेद का ग्रंथ-१६८८ वि०), रहीम (१६१३-८३ वि०), कृत नगर-शोभा, बरवै नायिका-भेद ग्रीर मदनाष्टक, फतेह-प्रकाश (क्षेमराज-१६६५), सुधानिधि (तोष-१६६१), भाषा-भूषण (जसवन्तसिंह-१६९५), काव्य-प्रकाश ग्रीर श्रुङ्गार मंजरी (चिन्तामणि १७०० वि०)। यह ग्राश्चर्य की बात है कि सुन्दर श्रुङ्गार, वरवै-नायिका-भेद ग्रौर भाषा-भूषण की उपेक्षा करके रीति-परम्परा का ग्रारम्भ चिन्तामणि के ग्रन्थों से माना जाय।

दूसरा तर्क कि केशव अलंकारवादी थे—यह भी आमक है। केशव ने जहाँ 'किव-प्रिया' में अलंकारों का विवेचन किया है, वहाँ 'रिसक-प्रिया' में रस सिद्धान्त के सभी अंगों एवं भेदों का प्रतिपादन किया है। किव रूप में भले ही केशव अलंकारवादी रहे हों, किन्तु जहाँ तक आचार्यत्व का सम्बन्ध है, उन्होंने अलंकार और रस—दोनों को मान्यता दी है। कुछ लोग केशव को अलंकारवादी सिद्ध करने के लिए निम्नांकित छन्द उद्धृत करते हैं—

जदिप सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त । भूषन बिनु न बिराजइ कविता बनिता मित्त ।।

घ्यान से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि यहाँ किव अलंकारों को काव्य की आत्मा-प्राण घोषित नहीं करता है, अपितु उनका महत्त्व उतना ही स्वीकार करता है जितना कि 'विनता' के लिए आभूषणों का है। यदि अलंकारों को आभूषणों तुल्य महत्त्व देने से ही किसी को अलंकारवादी घोषित किया जा सकता है तो फिर संस्कृत के साहित्यदर्पणकार से लेकर हिन्दी के चिन्तामणि, देव, श्रीपित, भिखारीदास आदि प्रायः सभी रीति-बद्ध किव अलंकारवादी सिद्ध होते हैं, क्योंकि प्रायः इन सभी ने अलंकारों का विवेचन करते हुए उन्हें 'भूषण' या 'आभूषण' के तुल्य महत्त्व दिया है; देखिए—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये घर्माः शोभातिशायिनः । रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ।

—साहित्य-दर्पण

"शोभा को बढ़ाने वाले रस-भाव श्रादि के उपकारक जो शब्द और ग्रर्थ के ग्रस्थिर घर्म हैं, वे ग्रंगद (ग्राभूषण विशेष) की भाँति ग्रलंकार कहलाते हैं।"

सगुन अलंकारन सहित, दोष-रहित जो कोइ।

शब्द ग्रथं वारो कवित, विबुध कहत सब होइ।। — चिन्तामणि
शब्द जीव तिहि अरथ मन, रसमय सुजस-शरीर।
चलत वहै जुग छन्द गित श्रलंकार गम्भीर।

--देव (काव्य-रसायन)

जदिप वोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप। तदिप न भूषन बिनु लसै, बनिता कविता रूप।।

-श्रीपति (काव्य-सरोज-१०)

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत श्रविरुद्ध। भूषण जुत कवि कमं जो, सो कवित्त कहि बुद्ध।।

—सोमनाथ (रस-पीयूष निधि, तरंग-६)

"दासजी ग्रपना मत प्रकट करते हैं कि रस ही कविता का ग्रंग है, ग्रलंकार ग्राभूषण है। गुण, रूप ग्रीर रंग तथा दोष कुरूपता के समान हैं।"

—हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० १३६

वस्तुतः प्रायः सभी रीति कवियों ने केशव की भाँति श्रलंकारों को श्राभूषणों की भाँति काव्य का शोभावर्द्धक उपकरण माना है।

केशव के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने संस्कृत के प्रारम्भिक ग्राचार्यों दंडी ग्रादि का अनुकरण किया, परवर्ती ग्राचार्यों मम्मट, विश्वनाथ ग्रादि का अनुकरण नहीं किया, जबिक हिन्दी के रीति-किव विश्वनाथ ग्रादि के ही मार्ग पर चले। यह ग्राक्षेप भी 'किव-प्रिया' के ग्राधार पर किया गया प्रतीत होता है। 'रिसक-प्रिया' की ग्रिधिकांश सामग्री—रस-विवेचन, नायक के चार भेद, नायिका के 'तीन प्रमुख तथा ग्रावान्तर भेद ग्रादि—मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' एवं विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' पर ग्राधारित हैं।

केशव के परवर्ती किवयों में से कुछ ने ग्रलंकार-निरूपण में 'कुवलयानन्द' की पद्धित का प्रयोग किया है, जबिक कुछ ने केशव का ग्रनुकरण करते हुए लक्षण ग्रौर उदाहरण ग्रलग-ग्रलग छन्दों में दिये हैं। दूसरे वर्ग के किवयों में मितराम (लिलतललाम), भूषण (शिवराज भूषण), रघुनाथ (रिसक मोहन), दूलह (किव-कुल-कंठाभरण), ग्वाल (रिसकानन्द), प्रतापसाहि (ग्रलंकार-चिन्तामणि) उल्लेखनीय हैं। वैसे तो सूक्ष्म-दृष्टि से प्रत्येक ग्राचार्य के दृष्टिकोण, विवेचन एवं शैली में थोड़ा-बहुत ग्रन्तर मिलना स्वाभाविक है, किन्तु इसी से किसी को परम्परा से बाहर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः केशव ने 'किव-प्रिया' ग्रौर 'रिसक-प्रिया' में जिस ढाँचे को खड़ा किया तथा जिन विषयों का जिस पद्धित में विवेचन किया है, परवर्ती किवयों ने प्रायः कुछ ग्रपवादों को छोड़कर उसी ढाँचे, उसी पद्धित ग्रौर उन्हीं विषयों को ग्रपनाया है। ग्रतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि रीति-परम्परा के जन्म का श्रेय क्रपाराम को तथा उसे विकसित करके पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय ग्राचार्य केशवदास को है।

श्राचार्य केशवदास से लेकर उन्नीसवीं शती के श्रन्त तक इस काव्य-परम्परा में शताधिक किव हुए हैं जिनमें चिन्तामणि त्रिपाठी, मितराम, कुलपित मिश्र, सुखदेव मिश्र, देव, सुरित मिश्र, भिखारीदास, पद्माकर, ग्वाल, प्रतापसाहि ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इन सबके काव्य-ग्रन्थों का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं, केवल इनके काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना ही पर्याप्त होगा।

प्रवृत्तियाँ

रीतिबद्ध कवियों के काव्य में निम्नांकित प्रवृत्तियाँ मिलती हैं :--

(१) आचार्यत्व या रोति-विवेचन—रीति-काव्य में ग्राचार्यत्व की प्रवृत्ति मुख्यतः दो कारणों से प्रेरित है। एक तो इसके रचियता ग्रपने ग्रापको केवल कि ही नहीं ग्रापितु काव्य-शास्त्र का जाता भी—''काव्य की रीति सिखी सुकविन सों (भिखारीदास)''—सिद्ध करना चाहते थे। दूसरे, वे ग्राश्रयदाता नरेशों व धनाढ्य लोगों को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देना चाहते थे, ग्रतः उनका दृष्टिकोण प्राचीन संस्कृत के रीति-सम्बन्धी ग्रन्थों की जानकारी दिखाना मात्र था, मौलिकता का प्रदर्शन ग्रपेक्षित नहीं था। यदि किसी ने जन्मजात प्रतिभा के कारण ऐसा करने का कुछ प्रयत्न भी किया तो उसके सामने प्रश्न उपस्थित होता था—बताग्रो ऐसा संस्कृत में कहाँ लिखा है?' ग्रस्तु, इन कियों के विवेचन में मौलिकता को बहुत कम—लगभग नहीं के बराबर—प्रश्रय मिला।

काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भी इन्होंने वहत थोड़े विषयों को ग्रपनाया । जैसा कि पीछे दी हुई सूची से ज्ञात होगा, इन्होंने मुख्यतः रस, नायिका-भेद एवं ग्रलंकारों का ही विवेचन किया। वहत थोडे ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें काव्य की भ्रन्य समस्याग्रों-काव्य का वर्गीकरण, काव्य-सम्बन्धी विभिन्न मानदंड, शब्द-शक्तियाँ ग्रादि का स्पष्टीकरण किया गया है। संस्कृत में नाटक, प्रबन्ध, कथा ग्रादि काव्य-रूपों का सुक्ष्म विश्लेपण हुग्रा है किन्तू इन विषयों की हिन्दी के इन ग्रन्थों में उपेक्षा हुई है। जिन विषयों को लिया गया है उनके विवेचन में भी शद्धता एवं स्पष्टता का प्रायः ग्रभाव है। इस ग्रसफलता के कई कारण बताये जा सकते हैं जिनमें प्रमुख ये हैं-एक तो इन कवियों का उद्देश्य-जैसा कि पीछे संकेत किया गया है- ग्राचार्यत्व नहीं, ग्रपित् ग्राचार्यत्व का प्रदर्शनमात्र था। दूसरे, उस समय का काव्य-क्षेत्र ही अत्यन्त संकुचित हो गया था, साहित्य के विभिन्न रूपों में से अनेक विलुस हो गए थे, अतः उनकी चर्चा करना अनावश्यक था। तीसरे, उनके लक्ष्य-पाठक या श्रोताग्रों-का स्तर भी बहुत उच्च कोटि का नहीं था, जिससे कि वे सूच्म विवेचन में प्रवृत्त होते । श्रौर चौथे, उन्होंने गद्य का प्रयोग नहीं किया ! फिर भी इन्होंने पूर्वजों की ज्ञान-राशि को किसी-न-किसी मात्रा में हिन्दी में सुरक्षित एवं प्रचारित रक्खा; ग्रन्यथा संस्कृत से भ्रनभिज्ञ जनता उससे सर्वथा वंचित हो जाती--- ग्रतः इसका श्रेय इन्हें ग्रवश्य दिया जायगा।

(२) श्रुङ्गार वर्णन—जैसा कि श्राचार्य शुक्ल ने लिखा है—"इन रीति ग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सह्दय श्रीर निपुण किव थे। उनका उद्देश्य किवता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धित पर निरूपण करना।" वस्तुतः इन्होंने रीति-विवेचन के श्रन्तर्गत भी उन्हीं विषयों को श्रिधिक विस्तार दिया, जिनका श्रुङ्गार रस से सम्बन्ध था। इनके द्वारा "इस रस का इतना ग्रिधिक विस्तार हिन्दी-साहित्य में हुग्ना कि इसके एक-एक ग्रंग को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे गए।" यहाँ कुछ ग्रंगों पर प्रकाश डाला जाता है। श्रालम्बन का सौन्दर्य

शृङ्गार के अन्तर्गत इन्होंने मुख्यतः संयोग-पक्ष का एवं नायिका के सौन्दर्य का निरूपण किया। आलम्बन की मधुर छवि एवं उसकी सूक्ष्म चेष्टाग्रों के ग्रंकन के लिए उन्होंने नख-शिख-वर्णन की परम्परागत शैली में थोड़ा संशोधन करके नई पद्धित का विकास किया। नख-शिख-वर्णन-प्रणाली में नायिका के सभी स्थूल ग्रंगों का क्रमशः वर्णन किया जाता था, जो रूढ़िबद्ध हो जाने के कारण श्रपना प्रभाव खो चुकी थी, ग्रतः इन कवियों ने केवल कुछ ग्रंगों को लेकर समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, जिसमें इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

उदाहरण के लिए एक छन्द देखिए-

कुन्दन को रंग फीको लगे, कलकै ऐसी श्रंगन चार गुराई। श्रांखिन में श्रलसानि चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई।। को विनु मोल विकात नहीं, मितराम लहे मुसुकानि मिठाई। ज्यों-ज्यों निहारिये, नेरे हुँ नैनिन त्यों-त्यों खरी निकरे सी निकाई।।

—मतिराम

कहीं-कहीं इन कवियों ने नायिका के सौन्दर्य की एक-एक विशेषता पर ही पूरा छन्द लिख दिया है, किन्तु फिर भी उसमें किसी प्रकार की शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती—

घाघरि भीन सौं, सारी महीन सौं, पीन नितम्बन भार उठै सिच । वास-सुवास सिंगार-सिंगारनि, वोभनि ऊपर बोभ उठै मिच ॥ स्वेद चलै, मुख चँद च्वै, डग ढ़ैक धरे मित फूलन सो पिच । जात है पंकज वारि वयारि लौं, वा सुकुमारि की लंक लला लिच ॥

—भिखारीदास

यहाँ केवल 'सुकुमारता' का वर्णन किया गया है, यह भी अतिशयोक्तिपूर्ण है किन्तु इससे उसकी मार्मिकता में कोई न्यूनता नहीं आई ।

नायिका की चेष्टाएँ व प्रनुभूतियाँ

उनके ग्रतिरिक्त रीति-कवियों के सौन्दर्य-चित्रण की एक वड़ी भारी विशेषता नायिका के हावों व ग्रनुभावों का ग्रत्यन्त स्वाभाविक रूप में चित्रण करना है। इस क्षेत्र में वे ग्रपने पूर्ववर्ती कवियों से भी ग्रागे वढ़ गये हैं। नायिकाग्रों की हृदयस्थ भावनाग्रों एवं प्रिया के सान्निष्य से प्राप्त होनेवाली ग्रनुभूतियों की व्यंजना भी इन्होंने ग्रत्यन्त सूक्ष्मता-पूर्वक की है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

श्रापने हाथ सों देत महावर, आप ही बार संवारत नीके। श्रापुन ही पहिरावत श्रानिकै हार सँवारि के मौरिसिरी के। हौं सिख लाजन जात मरी, 'मितराम' सुभाव कहा कहौं पी के। लोग मिलें घर घेर कहैं, श्रबई ते ए चेरे भए दुलही के।

-- मितराम

उपर्युक्त पंक्तियों में ग्रभिन्यक्त ग्रनुभूतियाँ गाईस्थ्य-जीवन से संबंध रखती हैं—
इन्होंने श्रुङ्गार-चित्रण के लिए प्रायः तत्कालीन दाम्पत्य एवं गाईस्थ्य-जीवन से सामग्री
ली है—किन्तु प्रेम की स्वच्छन्द ग्रनुभूतियों का भी इनके काव्य में ग्रभाव नहीं है।
'मैनशर' से पीड़ित होकर कहीं नव-वधू बाला को ग्रर्द्ध निशा में किसी 'बटोही' को
जगाते देखते हैं तो कहीं किसी निर्मोही को हृदय दे बैठने के कारण किसी तरुणी को
निर्वेद से ग्रस्त पाते हैं—

प्रेम की विभिन्न ग्रवस्थाग्रों का निरूपण

इनके श्रृङ्गार की परिधि की व्यापकता के श्रनुकूल ही इनके काव्य में प्रेम की विभिन्न श्रवस्थाओं व भाव-दशाओं का चित्रण हुग्रा है। मितराम, देव श्रीर पद्माकर जैसे किवयों ने प्रेमोत्पत्ति से लेकर उसकी चरम-परिणित तक की प्रायः सभी श्रवस्थाओं को श्रनुभूतिपूर्ण शब्दों में चित्रित किया है। यथा—

मिलनाकाक्षा-

ऐरी इन नैनन के नीर में श्रबीर घोरि, बोरि पिचकारी, चितचोर पै चलाइ श्राउ?

—पद्माकर

प्रेमासक्त-

मूरित जो मनमोहन की, मन मोहिनी के मन ह्वै थिरकी सी। 'देव' गुपाल को बोल सुनै, छितियाँ सियराति सुधा छिरकी सी। नीक भरोखा ह्वै भांकि सकै नींह नैनिन लाज घटा थिरकी सी। पूरन प्रीति हिए हिरकी, खिरकी-खिरकीनि फिरै फिरकी सी।

—देव

वस्तुतः उपर्युक्त सभी पंक्तियाँ एक से एक ग्रधिक स्वाभाविक, सरस ग्रौर मार्मिक हैं। कुछ ग्रालोचकों ने इनके विरह-वर्णन को ऊहात्मकता से ग्रोत-प्रोत बताते हुए इन्हें इस क्षेत्र में ग्रसफल घोषित किया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि ऊहात्मकता का प्रयत्न बिहारी जैसे चमत्कारी किव में ही ग्रधिक मिलता है। घ्यान रहे, हम विहारी को रीति-सिद्ध किव मानते हुए भी इस परम्परा में स्थान नहीं देते। इस सम्बन्ध में हमने ग्रन्थत्र प्रकाश डाला है। वैसे थोड़ी मात्रा में ऊहात्मकता रीति-बद्ध किवयों में भी ग्राई है किन्तु वह प्रायः काव्य की सरसता को ठेस नहीं पहुँचाती, जैसा कि देव का निम्नांकित पद है—

साँसन ही में समीर गयो ग्रह ग्राँसुन ही सब नीर गयो ढिर । तेज गयो गुन ले ग्रपनो ग्रह भूमि गई तनु की तनुता करि ॥ 'देव' जिये मिलबेई की आस के आसहु पास ग्रकाश रह्यो भरि । जा दिन तें मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ॥

यहाँ मृत्यु तक का चित्रण किया गया है जिसे हम सामान्यतः ऊहात्मकता की कोटि में रख सकते हैं, किन्तु फिर भी किव ने इस स्वाभाविकता से सारे दृश्य को प्रस्तुत किया है कि वह बरवस ही हमारे हृदय में स्थान वना लेता है।

श्रस्तु, हम यह स्वीकार करते हुए भी कि रीति सीमाश्रों व श्राश्रयदाताश्रों के मनोरंजन के दृष्टिकोण के कारण इनके श्रृङ्गार-वर्णन में वह स्वच्छन्दता एवं सरसता नहीं श्रा सकी जो घनानन्द जैसे रीति-मुक्त किवयों में मिलती है, किन्तु फिर भी इसमें जितनी सरसता एवं मार्मिकता मिलती है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। श्रपनी सीमा में रहते हुए भी इन्होंने जो कुछ किया, वह नैतिकता की दृष्टि से न सही—कलात्मक-दृष्टि से तो स्तुत्य हैं। तुपनी सीमा में रहते हुए भी इन्होंने जो कुछ किया, वह नैतिकता की दृष्टि से न सही—कलात्मक-

(३) भिक्त एवं वैराग्य का सिश्रण—रीति-काव्य में श्रुङ्गार-निरूपण के साथ-साथ भिक्त एवं वैराग्य-सम्बन्धी भावनाग्रों की भी विवृत्ति पर्याप्त मात्रा में मिलती है। भिक्त को तो हम पूर्ववर्ती युग का ग्रभाव कह सकते हैं। एक तो उस युग का किव ही नहीं, समाज का सामान्य व्यक्ति भी ग्रपनी समस्त सत् एवं ग्रसत् वृत्तियों पर भिक्त का ग्रावरण किसी न किसी रूप में डालकर चलना ग्रावश्यक समभता था, दूसरे, श्रुङ्गार के नायक-नायिका के रूप में राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा ने भी इनके काव्य में भिक्त के लिए क्षेत्र तैयार किया। किव में भावुकता का गुण होना सहज स्वाभाविक है, ग्रतः जब ये भिक्त सम्बन्धी छन्दों की रचना में प्रवृत्त होते हैं तो वहाँ वे कहीं-कहीं 'सच्चे भक्त' का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। इस तथ्य से ग्रपरिचित विद्वानों ने विद्यापित, विहारी ग्रीर पद्माकर जैसे घोर श्रुङ्गारी किवयों तक को 'भक्त किव' की संज्ञा दे डाली है।

वैराग्य की प्रवृत्ति को ग्रितिश्वङ्गारिकता की प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण करना उचित होगा। जैसा कि डाँ॰ राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ने ग्रपने शोध प्रवन्ध में स्पष्ट किया है—वृद्धावस्था में ग्रशक्त होकर केशव, देव, पद्माकर ग्रादि सभी प्रमुख किव वैराग्य से ग्रिसत दिखाई पड़ते हैं जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है। यहाँ पद्माकर के कुछ निवेद-मूलक उद्गार द्रष्टव्य हैं—

आस बस डोलत सुयाके बिसवास कहा, साँस बस बोलै मल माँस ही को गोला है। कहै पद्माकर, विचार छन भंगुर या, पानी को सो फेन जैसे फलक फफोला है।

× × × × × छोड़ हरि नाम नींह पैहै विसराम अरे, निपट निकास तम चाम ही को चोला है।

(४) प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन—यद्यपि इस परम्परा के किवयों ने 'षट्ऋतु' व 'वारहमासा' शीर्षक से ग्रनेक स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना की, किन्तु फिर
भी यह ग्राश्चर्य का विषय है कि उनमें प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप में नहीं मिलता।
इन काव्यों में प्रकृति एवं ऋतुग्रों का श्रुङ्गार रस की पृष्ठ-भूमि या शास्त्रीय परिभाषा
में 'उद्दीपन' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के विभिन्न ग्रंगों में से इनकी दृष्टि
विशेषतः विभिन्न ऋतुग्रों के कामोद्दीपक वैभव पर ही पड़ी है। पावस के ग्रार्द्र कोमल
वातावरण के कारण नव-वयस्का 'गोरी' के सौन्दयं के प्रभाव में कैसी तीक्ष्णता ग्रा गई
है, इसका वर्णन नीचे की पंक्तियों में देखिए—

ऐसी भरी बून्दन में दूंदन उठायो काम, मूंदे मुख प्यारी बनी गूंदे न बहरि कै। कहैं सिवनाथ भिल्ली गन गाजत हैं, सावन में बहै रस लहरी छहरि कै। उन रो सु कुंज, दुित दुनारी दुगन बाढ़ी, हुन री कहित खोर देन ही गहरि कै। उन रो घटा मैं गौरी, तून री ग्रटा पै बैठ, खून री करेगी, लाल चूनरी पहरि कै।

-शिवनाध

इसी प्रकार वसन्त का मादक वैभव नायक-नायिका के हृदय को रस-विह्वल कर देता है—

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

सुखपूर्ण दिवसों में मानव हृदय को ब्राह्मादित कर देनेवाली यही प्रकृति शोक-संतत प्राणी के लिए ब्रौर भी ब्रधिक संताप-वर्द्धक सिद्ध होती है। पावस की जो घटाएँ किसी युगल दम्पत्ति को ब्रमृत वर्षा करती सी प्रतीत होती हैं, वे ही किसी विरहिणी ब्रवला के लिए दु:सह शोक-व्यथा को जन्म देनेवाली वन जाती हैं—

> > ---पद्माकर

श्राधृतिक युगीन वे श्रालोचक जो प्रकृति को उसके मूल रूप में देखने के श्रम्यस्त हैं, सम्भवतः इस प्रकार के चित्रों से संतुष्ट नहीं होते। किन्तु यदि काव्य का उद्देश्य वस्तुश्रों को यथा-तथ्य रूप में प्रस्तुत करना न मानकर, उन्हें मानवीय श्रनुभूति के रंग में रंगकर चित्रित करना स्वीकार किया जाता है तो श्रवश्य ही हम प्रकृति के इस उद्दीपन रूप को भी प्रशंसा के योग्य समभते हैं।

- (५) ग्राष्ट्रयदाताओं की प्रशंसा—इस काव्य की रचना मुख्यतः शासक वर्ग एवं सामन्त लोगों के ग्राश्रय में हुई, ग्रतः उनकी प्रशंसा की प्रवृत्ति का भी इसमें मिलना स्वामाविक है। इस उद्देश्य की पूर्ति दो प्रकार से की गई है—(१) ग्रपने ग्रन्थों का नामकरण ग्राश्रयदाता के ग्राधार पर करना, जैसे—भवानी विलास, जगत्-विनोद ग्रादि। (२) ग्राश्रयदाता के जीवन-चिरत्र को लेकर खंडकाव्य की रचना करना—केशव (जहाँ-गीर जस-चिन्द्रका, रतनावली), पद्माकर (हिम्मत वहादुर विरदावली) ग्रादि के ग्रन्थ। यद्यपि इस प्रकार के काव्य-प्रवन्धत्व की दृष्टि से सफल नहीं हैं, किन्तु इस प्रवृत्ति का एक लाभ ग्रवश्य हुग्रा—ऐतिहासिक या ग्रद्धं ऐतिहासिक इतिवृत्तों को लेकर वीररसा-त्मक काव्यों की रचना हुई। किवयों की जो वाणी श्रुङ्गार रस की मंद-मंद स्वर-लह-रियों को गुँजाने की ही ग्रम्यस्त थी, उसने रौद्र ग्रौर वीर तुमुल घोष करने का भी साहस दिखाया।
- (६) **मुक्तक शैली**—सामान्यतः इस परम्परा के काव्य-ग्रन्थों में मुक्तक-शैली का ही प्रयोग किया गया है। यह विचारणीय है कि इससे पूर्व भक्ति युग में प्रबन्ध एवं CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi

गीति-शैली का प्रचलन था, ग्रतः इन किवयों ने उनका तिरस्कार करके मुक्तक शैली को क्यों ग्रपनाया ? इसका समाधान ढूँढ़ने के लिए हमें ग्रकवरी दरवार पर दृष्टि डालनी होगी। प्रारम्भ में चारण-भाटों में मुक्तक शैली का प्रचार था, नरहिर वंदीजन जैसे भाट को ग्रकवर के दरवार में प्रश्रय मिला। दूसरी ग्रोर फारसी किवता की मुक्तक शैली का भी प्रभाव पड़ा। ग्रतः हम देखते हैं कि ग्रकवरी दरवार के ग्रनेक प्रमुख हिन्दी किव—नरहिर, ब्रह्म, टोडरमल, रहीम, गंग ग्रादि—रीति-बद्ध श्रृङ्गारी किवयों से पूर्व ही किवत्त-सवैयों की मुक्तक-शैली का प्रयोग करने लग गए थे, ग्रतः केन्द्रीय सत्ता में इस शैली की प्रतिष्ठा हो जाने पर सम्बन्धित शासकों व नरेशों के यहाँ भी इसी को प्रश्रय मिलना स्वाभाविक था।

विभिन्न छन्दों से रीति-काव्य में किवत्त, सवैया, घनाक्षरी एवं दोहे को ही प्रमुखता मिली ! इन छन्दों के कारण भाषा के माधुर्य एवं स्वर-भंकृति में विकास हुग्रा । दोहे में ग्रवश्य किवत्त-सवैयों की सी भंकार नहीं मिलती, किन्तु उसमें संक्षिप्तता एवं शब्द-लाघव का गुण मिलता है ।

(७) वज भाषा का प्रयोग—वजभाषा की प्रतिष्ठा साहित्य क्षेत्र में कृष्ण-भक्त किवयों द्वारा ही हो चुकी थी, इन किवयों द्वारा उसका और भी अधिक विकास हुआ। लाक्षणिक प्रयोगों, स्वाभाविक अलंकरण, भावपक्ष की कोमलता एवं सरसता से युक्त होकर इस काव्य में वर्ज भाषा अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उदित हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रीति-काव्य के रचियता चाहे सफल आचार्य नहीं वन सके हों, किन्तु इन्होंने अपने दीर्घ भाषाभ्यास एवं उसकी सूक्ष्म जानकारी का परिचय अवश्य अपनी शैली की प्रौढ़ता के द्वारा दिया है।

ग्रस्तु, उपर्युक्त, प्रवृत्तियों को घ्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि रीति-काव्य क्षेत्र की संकीर्णता, रूढ़ियों की परिधि एवं नियमों की श्रृङ्खलाग्रों में ही ग्रावढ़ रहा, किन्तु इन परिस्थितियों में भी उसने जैसी सरसता, कोलता एवं मामिकता प्राप्त की, वह कम महत्त्व की बात नहीं है। चाहे उन्होंने केवल श्रृङ्कार को ही लिया, किन्तु उसके विभिन्न ग्रंगों का जैसा चित्रण उन्होंने किया, वह ग्रन्यत्र सुलम नहीं। उसकी दृष्टि चाहे नायिका-भेद तक ही सीमित रही, किन्तु उनकी जैसी सजीव एवं हाव-भावपूर्ण ग्रनेकानेक मूर्तियाँ उन्होंने प्रस्तुत की हैं, वैसी किसी ग्रन्य साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी में ये पहले कि थे, जिन्होंने कला को शुद्ध कला के रूप में देखा, सौन्दर्य की साधना को ही ग्रपने कर्ताव्य का

:: तोस ::

स्वच्छन्द मुक्तक काव्य-परंपरा

- १. सामान्य परिचय।
- २. कवि ग्रौर काव्य-रसखान, ग्रालम, घनानन्द, बोघा, ठाकुर, द्विजदेव।
- ३. प्रमुख विशेषताएँ—
 - (क) प्रेरणास्रोत (ख) स्वच्छन्द प्रेम (ग) नारी-सौन्दर्य (घ) विरह की प्रधा-नता (ङ) वैयक्तिकता (च) शैली ।
- ४. उपसंहार।

हिन्दी साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में एक नूतन काव्य-परम्परा का विकास हुग्रा जिसे 'रीतिमुक्त काव्य-परम्परा', 'स्वच्छन्द प्रेम काव्य-परम्परा', 'स्वच्छन्द मुक्तक काव्य-परम्परा' श्रादि नामों से पुकारा जाता है। इस परम्परा में मुख्यतः उन कवियों को स्थान दिया जाता है जिन्होंने मध्यकाल में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण वैयक्तिक रूप में तथा मक्तक शैली में किया है। इन किवयों में से अनेक-आलम, घनानन्द, बोधा आदि-ऐसे भी थे, जिनका न केवल काव्य, अपितु जीवन भी स्वच्छन्द प्रेम की अनुभूतियों से श्रोत-प्रोत था। इन कवियों ने हिन्दू होते हुए भी मुस्लिम युवतियों से प्रणय सम्बन्ध स्थापित करके स्वच्छन्दवादिता का परिचय दिया था। स्वच्छन्द प्रेम की ग्रन्य प्रवृत्तियाँ - जैसे, सौन्दर्यानु-भूति, साहसिकता, विरह-वेदना भ्रादि की प्रधानता—भी इनके व्यक्तिगत जीवन में दृष्टि-गोचर होती हैं। यद्यपि इन कवियों का प्रारम्भ में राज्य-दरवारों से सम्बन्ध था, किन्तु प्रेम की प्रेरणा से इन्होंने अपने राज्याश्रय, समाज एवं धर्म तक को ठुकरा दिया, अतः इनका प्रेम कोरी रसिकता नहीं है, भ्रपितु वह साहस, संघर्ष एवं त्याग की भावनाओं से अनुप्राणित हैं। दूसरे, इन्होंने प्रायः अपनी प्रेयसियों को अपने जीवन एवं काव्य में वही स्थान दिया है जो रोमांसिक कथा-काव्यों में उनकी नायिकाग्रों को प्राप्त है, इनमें नारी का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य केवल विलासिता का साधन मात्र नहीं है, स्रपितु स्राराधना एवं सांघना की ऐसी वस्तु है जिस पर भ्रपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। इसीलिए इनके प्रेम में भी एकोन्मुखता एवं भावना की गम्भीरता परिलक्षित होती है। तीसरे, इनके जीवन में विरह-वेदना की अधिकता होने के कारण उनमें प्रणय का श्रत्यन्त स्वच्छ परिष्कृत एवं उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है, जिसका मध्यकालीन काव्य में प्रायः ग्रभाव है। वस्तुतः रोमांसिक प्रेम के जिस भ्रादर्श रूप की प्रतिष्ठा इनसे पूर्व कथा-काव्य-रचयि-ताओं ने काल्पनिक ग्राख्यानों के माध्यम से की थी, उसे इन्होंने ग्रपने जीवन की वास्त-विकता में परिणत कर दिया। सामाजिक दृष्टि से ऐसा किया जाना कहाँ तक उचित है, इसका यहाँ स्वीकारात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता किन्तु जहाँ तक काव्यत्व का

सम्बन्ध है, श्रवश्य ही इनका काव्य वैयक्तिक श्रनुभूतियों पर श्राधारित होने के कारण पर्याप्त शक्तिशाली एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है।

यहाँ इन किवयों के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण श्रीर दिया जा सकता है। हमने इन्हें 'लोकाश्रित' वर्ग में स्थान दिया है, जबिक इनमें से अनेक का राज्याश्रय से भी सम्बन्ध रहा है। िकन्तु उनमें से कुछ ने तो अपने स्वच्छन्द प्रेम की प्रेरणा से राज्याश्रय का परित्याग कर दिया था, तो कुछ राज्याश्रय में रहते हुए भी उसकी श्रोर से निश्चन्त रहे हैं; उन्होंने अपने आश्रयदाताश्रों की रुचि एवं तुष्टि की अपेक्षा स्वानुभूतियों की श्रीक्यित को अधिक महत्त्व दिया है। इस दृष्टि से उनका काव्य राज्याश्रित कि की मनोवृत्तियों की अपेक्षा लोकाश्रित या आत्माश्रित स्वच्छन्द कि की मनोवृत्तियों से अधिक अस्त है, इसीलिए हमने इनके काव्य को लोकाश्रित वर्ग में रखना अधिक उचित समभा है। लोकाश्रित काव्य के भी दो भेद किए जा सकते हैं—(१) व्यक्ति-प्रधान (२) समाज-प्रधान। दोनों में क्रमणः वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है। इस काव्य में वैयक्तिकता को न केवल सामाजिकता से अधिक महत्त्व दिया गया है, अपितु उसे समाज-विरोधो रूप में, सामाजिकता का अतिक्रमण करनेवाले रूप में भी प्रस्तुत किया है; अतः इसे प्रथम वर्ग—व्यक्ति-प्रधान काव्य—में ही स्थान दिया जा सकता है। आगे इन किवयों का एवं उनके काव्य का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

कवि ग्रौर काव्य

प्रस्तुत परम्परा में रचना-काल की दृष्टि से सर्वप्रथम रसखान (१५५६-१६३३ ई०) को स्थान दिया जा सकता है। ये एक मुस्लिम सरदार थे किन्तु इनका मूल नाम ज्ञात नहीं है, किवता में ये 'रसखान' या 'रसखानि' उपनाम का प्रयोग करते थे। इनके द्वारा रिचत ग्रन्थों में 'सुजान-रसखानि' एवं 'प्रेम वाटिका' उपलब्ध हैं। इन्होंने कृष्ण एवं गोपियों के स्वच्छन्द प्रेम का निरूपण ग्रत्यन्त मार्मिक रूप में किया है, साथ ही कृष्ण के प्रति ग्रपनी भक्ति-भावना की भी व्यंजना गम्भीर रूप में की है। उदाहरण के लिए इनके कुछ छन्द द्रष्टव्य हैं—

(क) कृष्ण-गोपियों की प्रणय-भावना

जा दिन ते वह नंद को छोहरो या बन घेनु चराइ गयो है। मोहिनी तानिन गोघन गावत, बेनु बजाइ रिफाइ गयो है। वा दिन सों कछु टोनो सो कै रसखानि हिये में समाइ गयो है। कोऊ न काहू की कानि करै सिगरो बज बीर बिकाई गयो है। उनहीं के सनेहन सानी रहें, उनहीं के जु नेह दिवानी रहें। उनहीं की सुनें न औ बैन त्यों सैन सों चैन ग्रनेकन ठानी रहें। उनहीं संग डोलन में रसखानि सबै सुख सिंघु ग्रघानी रहें। उनहीं किंक क्यों जालहीन होने सीम सी की सुंख सिंघु ग्रघानी रहें। उनहीं विन क्यों जालहीन होने सीम सी की सी खिन के सी वानी रहें।

(ख) भक्ति-भावना :

मानुष हों तो वही रसखानि बसों जज गोकुल गाँव के ग्वारन । जो पसु हों तो कहा बस मेरो, चरों नित नंद की धेनु मंभारन । पाहन हों तो वही गिरि को, जो धर्यों कर छत्र पुरंदर-धारन । जो खग हों तो बसेरो करों मिलि कालिंदी-कूल कदंब की डारन ।। वा लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तिज डारों । आठहु सिद्धि नवों निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारों । रसखानि जब इन नैनन तें जज के बन-बाग तड़ाग निहारों । कोटिकह कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर बारों ।।

वस्तुतः रसखानि ने ग्रपने कवित्त-सवैयों में प्रेम के जिस सूक्ष्म भावात्मक रूप का चित्रण किया है, वह अपूर्व है। इनके प्रणय-चित्रण में कहीं भी शारीरिकता, नग्नता एवं ग्रश्लीलता दिखाई नहीं पड़तीं; सर्वत्र वह भावना के उदात्त एवं गम्भीर रूप को प्रस्तुत करते हैं। प्रेम का ऐसा शुद्ध, स्वच्छ, उदात्त एवं गम्भीर रूप हिन्दी के किसी भी ग्रन्य कृष्ण-भक्त कवि में दृष्टिगोचर नहीं होता । ग्रवश्य ही प्रणयानुभूतियों की विशदता एवं गम्भीरता की दृष्टि से सूरदास इनसे बहुत ग्रागे हैं तथा कृष्ण के जीवन-चरित्र को भी उन्होंने ग्रधिक विस्तार से प्रस्तुत किया है, पर ऐन्द्रिकता, नग्नता एवं ग्रश्लीलता की दृष्टि से उनका काव्य सर्वथा निर्दोष एव ग्राक्षेपमुक्त नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कृष्ण के प्रति ग्रपने ग्रनुराग की प्रत्यक्ष व्यंजना में भी रसखान, हिन्दी के सभी कृष्ण-भक्त कवियों में —केवल मीराँ को छोड़कर —सबसे श्रागे दिखाई पड़ते हैं। फिर भी इन्हें कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा के स्थान पर इस परम्परा में स्थान दिये जाने का कारण यह है कि इनमें धर्मपरक भिनत-भावना की अपेक्षा सौन्दर्याकर्षण-जन्य प्रेम की स्वच्छन्दता ग्रधिक दिखाई पड़ती है। उसमें सामाजिक मर्यादाग्रों का ग्रतिक्रमण, सौन्दर्योन्म्खता, रूपासिनत, विरह-वेदना ग्रादि की ग्रिभिव्यक्ति लगभग उसी स्वर एवं उसी शैली में हुई है, जिसे इस परम्परा के परवर्ती कवियों ने स्वीकार किया। रसखान के काव्य का भावपक्ष जितना गम्भीर है, शैली-पक्ष भी उतना ही प्रौढ़ है, इसमें कोई . सन्देह नहीं।

आलम—ग्रालम नाम के ग्रव तक दो किव माने जाते रहे हैं, एक 'माधवानल कामकंदला' (प्रवन्ध-काव्य) के रचियता एवं ग्रन्य ग्रौरंगजेव के पुत्र मुग्रज्जमशाह के ग्राश्रित प्रस्तुत परम्परा के किवः; पर ग्रव यह प्रमाणित हो गया है कि ये दोनों एक ही हैं। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करते हुए इनका रचना-काल सन् १५६३-१६२३ ई० निश्चित किया है। इनकी रचनाग्रों में 'माधवा-नल-कामकंदला', 'सुदामा-चरित', 'श्याम स्नेही', 'ग्रालम केलि' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम तीन प्रवन्ध-काव्य हैं, जिनकी चर्चा ग्रन्यत्र की जा चुकी है, यहाँ इनका मुक्तक-संग्रह 'ग्रालम-केलि' ही विचारणीय है।

१. हिन्दी साहित्य खरा-व्यक्तीत्वाक्ष्मीविषयामाखप्रसाद्धानिश्वावाक्षाः ६२१।

'ग्रालम-केलि' में प्रस्तुत प्रणय-चित्रण को समभने के लिए इनके व्यक्तित्व एवं जीवन से सम्बन्धित एक विशेष घटना को घ्यान में रखना चाहिए। कहा जाता है कि ये पहले हिन्दू थे, किन्तु एक मुस्लिम युवती, जो कि रंगरेजिन थी, की काव्य-कला पर मुग्ध होकर उससे विवाह तथा धर्म-परिवर्तन कर लिया था। इससे ज्ञात होता है कि इनमें कितनी ग्रधिक भावुकता, रसिकता, कला-प्रियता एवं स्वच्छन्दता थी, जिसकी व्यंजना 'ग्रालम-केलि' में भी मिलती है। कुछ ग्रालोचकों का यह श्रनुमान है कि इस ग्रन्थ के बहुत-से छन्द जिन पर 'शेख' की छाप है, इनकी पत्नी के द्वारा रचित हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

'ग्रालम-केलि' में संयोग एवं वियोग श्रृङ्गार की विभिन्न परिस्थितियों, दशाग्रों एवं ग्रनुभूतियों के साथ-साथ राधा-कृष्ण की लीलाग्रों का भी चित्रण यत्र-तत्र हुग्रा है। ग्रतः कहा जाता है कि उनके स्वच्छन्द प्रेम पर उस युग के कृष्ण-भक्ति-काव्य का भी

थोड़ा बहुत प्रभाव ग्रवश्य था।

इनके काव्य में प्रेम के विभिन्न पक्षों का चित्रण ग्रनुभूतिपूर्ण शब्दों में हुम्रा है। इनकी वैयक्तिक प्रणय-गाथा सुखान्त में परिणत हो जाने के कारण इनकी विरह-वेदना में वह गम्भीरता नहीं ग्रा सकी, जो इस परम्परा के ग्रन्य कवियों में मिलती है तथा उसमें कहीं-कहीं कामुकता, ग्रश्लीलता एवं नग्नता के भी दर्शन होते हैं, फिर भी उसमें पर्याप्त सरसता एवं प्रभावोत्पादकता है। यथा-

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करें। जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सों चरित्र गुन्यो करें।। आलम जौन से कुंजन में करी केलि, तहां श्रव सीस घुन्यो करें। नैनन में जे सदा रहते, तिनकी श्रव कान कहानी सुन्यो करें।।

उपर्युक्त पंक्तियों से ग्रालम की काव्य-प्रतिभा, सरसता एवं उनकी शैली की प्रौढ़ता का परिचय मिलता है। निःसन्देह उन्हें उच्चकोटि का कवि स्वीकार किया जा

सकता है।

घनानंद-हिन्दी में घनानंद या ग्रानंदघन नाम के ग्रनेक कवि मिलते हैं, जिनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को विभिन्न इतिहासकारों ने घुला-मिला दिया है, जिससे ग्रनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हो गई हैं ! हमारे विचार से सुजान-प्रेमी घनानंद एवं भक्त कवि ग्रानन्दघन दो भिन्न व्यक्ति हैं; दोनों की रचनाग्रों की मूल भावना एवं ग्रिभिव्यंजना शैली में पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है। ग्रानंदघन संभवतः चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षित थे तथा उन्होंने भक्ति-भावपूर्ण पद लिखे हैं; यथा-

श्री चैतन्य दयानिधि घीर। कलि-काल मलीन दीन जन पावन करन परम गंभीर। पूरनचंद नंदनंदन को उदै सदा उमगिन की भीर। बहु नाव चढ़ाय बहुत जन प्रेम मगन करि पाए तीर। भाव तरंग अभंग विभंजित महामधुर रस रूप सरीर।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

विविध ताप तें जरत जीव जे सीतल किये परिस नीर। करुना दृष्टि-वृष्टि सों सींचे जय जय जय ग्रानंद मुदीर।।

इस प्रकार के पद घनानन्द के न होकर ग्रानन्दघन के ही है। ग्रहमदशाह दुर्रानी के ग्राक्रमण में भी ये ग्रानन्दघन ही मारे गये थे, न कि घनानंद। इस सम्बन्ध में चाचा हित वृन्दावनदास ने ग्रपनी 'हरिकला वेलि' में लिखा है—

ग्रानंदघन को ख्याल इक गायी खुलि गए नैन ! सुनत महा विह्वल भयो मन नींह पायो चैन ।। ऐसे हूँ हरि-संत-जन मारे जमननि ग्राइ । वह अति देखि हियो भयो लीनो सोच दबाइ ।।

यहाँ जिस हरि संत-जन ग्रानन्दघन का उल्लेख किया है, वे भक्त ग्रानन्दघन ही है, न कि स्वच्छन्द श्रृङ्गारी किव घनानंद, जबिक भूल से यह मान लिया गया है कि घनानन्द की मृत्यु 'नादिरशाही' ग्राक्रमण में हुई। ग्रस्तु, इस विषय पर ग्रभी ग्रौर शोध की ग्रपेक्षा है।

प्रस्तुत घनानन्द मृगल सम्राट मुहम्मदशाह रंगीले (१ न्वीं शती ईस्वी का उत्तरार्द्ध) के 'मीर मुंशी' थे। वे दरवार की एक वेश्या 'सुजान' पर ग्रासक्त हो गये थे। इसी कारण इन्हें ग्रन्त में दरवार छोड़ना पड़ा तथा ये जीवन-भर सुजान के विरह में तड़पते रहे। सुजान का विरह ही इनकी समस्त कविताग्रों का प्रेरणा-स्रोत एवं विषय-वस्तु है। विरह की सच्ची प्रेरणा से काव्य-रचना करने के कारण इनके काव्य में एक ऐसी सहजता एवं स्वाभाविकता ग्रा गई है, जो ग्रन्यत्र बहुत कम दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रेरणा की ग्रोर संकेत करते हुए इन्होंने स्वयं भी लिखा है—'लोग है लागि कवित्त बनावत, मेरे तो मोही कवित्त बनावत!'

घनानन्द ने सौन्दर्य, प्रेम ग्रौर विरह का चित्रण ग्रत्यन्त सूक्ष्म, मार्मिक एवं उत्कृष्ट रूप में किया है। उन्होंने ग्रपनी प्रेयसी के सौन्दर्य का ग्रंकन करते समय ग्रपनी परिष्कृत रुचि एवं सच्ची ग्रनुभूति का परिचय दिया है यथा—

> भलके अति सुन्दर ग्रानन गौर छकै दृग राजत कानिन छूवै। हँसि बोलिन में छिब फूलन की बरषा उर ऊपर जाित है हुँ॥ लट लोल कलोल कपोल करे, कलकंठ बनी जलजाबिल है। ग्रंग-ग्रंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप ग्रवै घर च्वै॥

उपर्युक्त चित्रण किन की विशुद्ध सौन्दर्य-दृष्टि का परिणाम है जिसमें कामुकता का लवलेश भी नहीं! किन के लिए किसी श्रंग-विशेष की पृथुलता या उन्नतता में श्राकर्षण नहीं है, उसे तो प्रिया के रोम-रोम में सौन्दर्य की तरंगें उठती हुई दिखाई दे रही हैं। इस युग के कितपय श्रन्य किनयों—केशन, बिहारी, श्रादि—की भौति इन्होंने नारी के समस्त नख-शिख को प्रस्तुत नहीं किया, श्रिपतु उसकी चितवन, मुस्कराहट, लज्जा जैसे सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण श्रनुमूतिपूर्ण शब्दों में किया है।

घनानन्द के प्रेम में विरह की प्रधानता है; वस्तुतः उनका काव्य विरह-काव्य है। विरही हृदय की विभिन्न दशायों एवं अनुभूतियों की व्यंजना इन्होंने अत्यन्त गम्भीर एवं उदात रूप में की है। प्रणय-विभीर मन की कोई ऐसी वृत्ति नहीं है जिसका सहज-स्वाभाविक चित्रण घनानंद के काव्य में अनुपलब्ध हो। प्रिया की स्मृति को आचार्यों ने प्रेम के एक संचारी के रूप में स्वीकार किया है। घनानंद ने स्थान-स्थान पर इसका निरूपण अत्यन्त आकर्षक रूप में किया है, जैसे—

वहै सुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि वहै
लड़कोली बानि आनि उर में अरित है!
वहै गित लैन श्रीर बजाविन लिलत नैन,
वहै हाँसि दैन हियरा तें न टरित है!
वहै चतुराई सौं चिताई चाहिबे को छवि
वहै छैलताई न छिनक बिसरित है!
श्रानन्द निधान प्राण श्रीतम सुजान जू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करित है!

यहाँ प्रिया की सूक्ष्म चेष्टाग्रों, उसके लितत हावों एवं मधुर व्यवहार की ही स्मृति का निदर्शन हुग्रा है, जो किव की प्रणय-भावना के अनुरूप है। कालिदास के 'मेष-दूत' का यक्ष जहाँ ग्रपनी प्रिया के विभिन्न ग्रंगों की स्थूलता एवं पृथुलता तथा उसके साथ व्यतीत की हुई संयोगकालीन रात्रियों की स्मृति में ही तल्लीन रहता है, वहाँ घनानन्द में ऐसा कहीं भी नहीं मिलता। उसकी भावना सर्वत्र कामुकता एवं रिसकता के स्तर से बहुत ऊपर उठी हुई दिखाई पड़ती है।

विरह-वेदना की गम्भीरता का परिचय प्रिय को दिये गये उनालम्भों से भी मिलता

है। घनानन्द के उपालम्भ इस दृष्टि से ग्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, यथा—

कित को ढिरगो वह ढार ग्रहो जिहि मो तन ग्रांखिन ढोरत हे ! ग्ररसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सो आनि निहोरत हे ! ! घनआनन्द प्यारे सुजान सुनो, तब यों सब भांतिन भोरत हे ! मन-माहि जो तोर नहीं, तो कही बिसवासी सनेह क्यों जोरत हे ! ! यही उपालम्भ कहीं-कहीं ग्रत्यन्त दैन्यता, विकलता एवं प्रलाप में परिणत हो

जाता है, जविक विरही श्रपनी व्यथा को सह पाने में श्रसमर्थ होकर कहने लगता है— मीत सुजान श्रनीति करौ जिन, हा हा न हूजिये मोहि श्रमोही। दीठि को श्रीर कहूँ निंह ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही।।

पहिले घनग्रानन्द सींचि सुजान कही बितयाँ ग्रित प्यार पगी। ग्रिब लाय वियोग की लाय, बलाय बढ़ाय, विसास दगानि दगी।। ग्रिबयां दुखियानि कुबानि परी, न कहूँ लगें, कौन घरी सु लगी। मित दौरि थकी, न लहै ठिक ठौर, ग्रमोही के मोह-मिठास ठगी।।

जो घनआनन्द ऐसी ख्वी, तौ कहा बस है ग्रहा प्रानिन पीरौँ। पाऊँ कहाँ हरिहाय तुम्हें, घरनी में धँसों कि श्रकासिंह चीरौँ।।

प्रिय से मिलन की इस म्रातुरता का परिचय प्रिय को भेजे गए विभिन्न सन्देशों से मिलता तो उसके प्रेम की सघनता का प्रमाण संदेश लेकर भ्रानेवाले के प्रति दिखाई गई विशिष्ट कृतज्ञता, दैन्यता एवं म्रात्मीयता में दूँढा जा सकता है—

जहाँ तें पधारे मेरे नैनिन हो पाँव घारे, वारे ये विचारे प्रान पेंड पेंड पे मनी। ग्रातुर न होहु हा! हा! नेकु फेंट छोरि बैठो, मोहि वा विसासी को है ब्यौरो बुक्तिबौ घनी। हाय! निरदई कों हमारी सुधि कैसें श्राई, कौन विधि दोनों पाती दोन जानि कै भनी।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि घनानन्द ने विरह-वेदना की व्यंजना ग्रत्यन्त मर्म-स्पर्शी शब्दों में की है। उनकी उक्तियों में प्रणय की सच्ची अनुभूति, भावना की सच्ची प्रेरणा एवं वेदना की सच्ची ग्राकुलता व्यक्त हुई है। इस क्षेत्र में घनानन्द की टक्कर का कोई ग्रन्य कवि दिखाई नहीं पड़ता। विद्यापित में सौन्दर्य-लालसा एवं रूप सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अत्यन्त मनोरम शैली में हुई है, किन्तु उसमें प्रेम की ऐसी गम्भीरता कहाँ! सूरदास की गोपियाँ भी विरह-वेदना से कम व्यथित नहीं हैं, किन्तु उनके सामूहिक रुदन में एकाकी प्रेमी की व्यथा का ऐसा मौन चीत्कार कहाँ ! प्रेम दीवानी मीराँ ग्रपने साँव-लिया के रंग में बेसघ है किन्तू वे इस बात को जानती हैं कि उनका मिलन श्रात्मिक स्तर पर ही सम्भव है, ग्रतः उनकी पीड़ा पर ग्रलीकिकता एवं ग्राघ्यामिकता का ऐसा ग्रावरण पड़ा हुम्रा है जो उसे म्रधिक चंचल नहीं होने देता । इनके म्रतिरिक्त नायिका-भेद की पुस्तकें पढ़कर जैसे-तैसे श्रृङ्गार-निरूपण करनेवाले अन्य कवियों से तो इनकी समता ही क्या ? वस्तुतः यदि इनकी तुलना किसी से हो सकती है तो इसी परम्परा के ग्रन्य कवि रसखान श्रीर वोघा से हो सकती है। किन्तु श्रनुभृति की गम्भीरता, ग्रिभ-व्यंजना की सशक्तता एवं प्रभाव की तीक्ष्णता की दृष्टि से व घनानन्द से थोड़े पीछे ही रह जाते हैं। हमारे विचार से यदि हिन्दी के समस्त श्रुङ्गारी कवियों में घनानन्द को शीर्ष-स्थान प्रदान कर दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। भावात्मकता के साथ-साथ शैली की प्रौढ़ता, सशक्तता, लाक्षणिकता, व्यंजकता ग्रादि की दृष्टि से भी इनकी पंक्तियाँ व्रज-भाषा काव्य के प्रौढ़तम रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मध्य-कालीन प्रबन्ध-काव्यों में जो स्थान तुलसीदास के 'रामचरित मानस' का है, वही इस काल के मुक्तक काव्य में घनानन्द के कवित्त-सवैयों का है; उनके मुक्तक हिन्दी मुक्तकों के सौन्दर्य की चरम सीमा का स्पर्श करते हैं, यह तथ्य है।

बोधा—बोधा का मूलनाम बुद्धसेन बताया जाता है। ये पन्ना दरबार के ग्रिश्रत थे तथा 'सुभान' नामक वेश्या से प्रेम करते थे। यही इनके काव्य का ग्रालम्बन एवं प्रेरणा-स्रोत है। इनका रचना-काल १७७३-१८०३ ई० माना जाता है। इनके मुक्तकों में सौन्दर्य, प्रेम ग्रीर विरह का निरूपण श्रत्यन्त मार्मिक रूप में हुग्रा है, यथा—

(क) सौन्दर्यानुभूति :

एक सुभान के ग्रानन पे कुरबान जहाँ लिंग रूप जहाँ को।

जान मिले तो जहान मिले नींह जान मिले तो जहान कहाँ को।

(ख) प्रेम-पंथ की विकरालता :

अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि अपर पाँव दे श्रावनो है।
सुई - बेह के द्वार सके न तहां परतीति को टाँडो लदावनो है।।
कवि बोघा अनी घनी नेजहु तें चिंद ता पैन चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की घार पै घावनो है।।

(ग) विरहानुभूतियों की व्यंजना :

'कबहूँ मिलबो, कबहूँ मिलबो, यह घीरज ही में घरैबो करै। उर ते किं आवे, गरे तें फिरें, मन की मन ही में सिरैबो करै। किंव बोधा न चाँड सरी कबहूँ, नितही हरवा सो हिरैबो करै। सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै।

वस्तुतः भाव-पक्ष की गम्भीरता एवं मार्मिकता की दृष्टि से बोधा पूर्णतः घना-नन्द के लघु संस्करण प्रतीत होते हैं, िकन्तु इनकी ग्रिमिव्यञ्जना-शैली में उनकी सी स्वच्छता, परिष्कृति एवं प्रौढ़ता परिलक्षित नहीं होती। इन्होंने 'विरह-वारीश' नाम की एक रोमांसिक कथा भी लिखी थी, जिसकी चर्चा ग्रन्यत्र की जा चुकी है। इनके मुक्तक-संग्रहों में 'विरही सुभान-दम्पत्ति विलास', 'इश्कनामा', 'बारहमासा' ग्रादि का नाम उल्लेखनीय है।

ठाकुर—इस नाम के हिन्दी में ग्रनेक किव हुए हैं, किन्तु प्रस्तुत किव का जन्म ग्रोरछा में १७६६ ई० में हुग्रा था। इनकी किवताग्रों का एक संग्रह लाला भगवान-दीन ने 'ठाकुर-ठसक' नाम से प्रकाशित करवाया था। यद्यपि इस परम्परा के ग्रन्य किवयों की भाँति ठाकुर के व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में स्वच्छन्द प्रेम की कोई गाथा प्रचलित नहीं है, फिर भी वे ग्रपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण इस परम्परा में ग्राते हैं। उन्होंने ग्रपने युग के शास्त्रबद्ध मुक्तककारों पर व्यंग करते हुए लिखा है—

सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन, सीखि लीन्हों जस औ प्रताप को कहानो है! सीखि लीन्हों कल्पवृत्त कामघेनु जिंतामनि, सीखि लीन्हों मेर औ कुबेर गिरि आनो है।

x x x

ढेल सो बनाय ग्राय मेलत सभा के बीच, लोगन कवित्त कीबी खेल करि जानो है।।

यहाँ उन्होंने स्वच्छन्द एवं सहज काव्य-रचना की जिस प्रवृत्ति का समर्थन् २१ CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. अप्रत्यक्ष रूप में किया है, वही इनके काव्य में भी प्रत्यक्ष होती है। प्रणयानुभूतियों की व्यञ्जना इन्होंने ग्रत्यन्त सहज स्वाभाविक रूप में की है:

वा निरमोहिन रूप की रासि जऊ उर हेत न ठानित हूँ है। बारिह बार बिलोकि घरो घरी सूरित तो पहिचानित हूँ है। ठाकुर या मन को परतीति है जो पै सनेह न मानित हूँ है। आवत है नित मेरे लिए, इतनी तो विसेष के जानित हूँ है।

वस्तुतः इन्होंने प्रणयी हृदय की साधरण बातों को भी पूर्ण सहजता एवं सरसता के साथ प्रस्तुत कर दिया है। यह दूसरी बात है कि वैयक्तिक विरहानुभूतियों के अभाव के कारण कविता में वेदना की वह गम्भीरता नहीं आने पाई, जो इस परम्परा में अन्यत्र मिलती है।

द्विजदेव—इस परम्परा के भ्रन्तिम किव श्रयोघ्या के महाराज मानिसह माने जाते हैं जो 'द्विजदेव' उपनाम से किवता करते थे। इन्होंने भी ठाकुर की प्रणय भावनाओं की भ्रमिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप में की है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य

हैं—

तू जो कही, सिंख ! लोनो सरूप सो मो ग्रॅंबियान कॉ लोनी गई लिंग।

हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे श्याम, देखन न पाई वह मूरति सुधामई। ग्रावन समें में दुखदाइनि भई री लाज, चलन समें में चल पवन दगा दई।।

इनके दो मुक्तक-संग्रह—'शृंगार-बत्तीसी' एवं 'शृंगार-लितका'—प्रकाशित हैं। यद्यपि घनानन्द, बोधा की उच्चता एवं गम्भीरता इनमें नहीं मिलती, फिर भी इनके काव्य में सरसता ग्रवश्य हैं। विशेषतः ऋतु-वर्णन के क्षेत्र में इन्होंने ग्रपनी परम्परा के ग्रन्य किवयों की ग्रपेक्षा ग्रधिक रुचि दिखाई है। जिसकी प्रशंसा में ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'ऋतु-वर्णन में इनके हृदय का उल्लास उमड़ पड़ता है। बहुत से किवयों के ऋतु-वर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी ग्रदा करते जान पड़ते हैं। पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ मलकती है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के ग्रागमन पर इनका हृदय ग्रगवानी के लिए मानो ग्रापसे ग्राप ग्रागे बढ़ता था, इस कथन की यथार्थता निम्नांकित उद्धरणों में देखी जा सकती है;

मिलि माघवी भ्रादिक फूल के व्याज विनोद-लवा बरसायो करें। रुचि नाच लता गन तान वितान सबै विधि चित्त चुरायो करें। द्विजदेव जू देखि श्रनोखी प्रभा अलि-चारन कीरित गायो करें। चिरजीवो, वसन्त ! सदा द्विजदेव प्रसुनन की भरि लायो करें।। घहरि घहरि घन सघन चहुँघा घेरि, छहरि छहरि विष-दूँद बरसावे ना। द्विजदेव की सौं अब चूके मत दाँव, ए रे पातको पपीहा! तू पिया की घुनि गावे ना।।

उपर्युक्त ग्रंशों में प्रकृति के वैभव, विभिन्न ऋतुग्रों के उन्मादक प्रभाव एवं उनकी विशिष्ट ग्रनुभूतियों की व्यञ्जना भावानुरूप शैली में की गई है, जो कवि के प्रकृति-प्रेम की परिचायक है।

द्विजदेव को इस परम्परा का ग्रन्तिम किव माना जाता है, यद्यपि इसका प्रभाव परवर्ती किवयों पर भी पाया जाता हैं; विशेषतः भारतेन्द्र हिरिश्चन्द्र के किवत्त-सवैयों में इस परम्परा के स्वच्छन्द प्रेम की प्रतिघ्विन स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ती है, किन्तु काल-सीमा की दृष्टि से वे ग्राधुनिक काल में ग्राते हैं, ग्रतः यहाँ इस परम्परा के किवयों की चर्चा समाप्त को जाती है।

प्रमुख विशेषताएँ

प्रस्तुत काव्य-परम्परा के विशिष्ट किवयों एवं उनके काव्य के अध्ययन के आधार पर उनकी प्रमुख विशेषताओं का निर्देश यहाँ संक्षेप में किया जाता है:

(१) प्रेरणा-स्रोत एवं काव्य-प्रयोजन—प्रस्तुत परम्परा के किवयों ने सामान्यतः स्वानुभूतियों की ग्रिमिव्यक्ति की प्रेरणा से काव्य-रचना की है; इस क्षेत्र में उन्होंने किसी वाह्य निर्देश को स्वीकार नहीं किया है। घनानन्द ने उसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

'लोग है लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत!'

ग्रथित् लोग लगकर या प्रयास करके किवता वनाते हैं, जब कि मुफे तो मेरी किवता (या किवता) बनाती है। किव के कथन का ग्राशय यह है कि वह किवता बनाने का प्रयास नहीं करता, ग्रिपतु ग्रनुभूतियों की प्रेरणा से वह स्वतः ही किवता बनाने को विवश हो जाता है। यह परिस्थिति इस युग के शास्त्रीय मुक्तक रचियताग्रों की स्थिति के प्रतिकूल पड़ती है। जहाँ वे केशवदास के शब्दों में कल्पना एवं चिन्तन के बल पर काव्य-रचना करते थे ('चरन घरत चिन्ता करत') वहाँ वे सहजानुभूति की प्रेरणा से ग्रनायास ही भावाभिव्यक्ति में प्रवृत्त हो जाते थे। वस्तुतः इस परम्परा के सहजानुभूति से प्रेरित काव्य को ही सच्चा मानते थे, चेष्टापूर्वक रचित काव्य का तो उन्होंने उपहास किया है; यथा—

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सीखि लोनो मीन मुग, खंजन, कमल, नयन, सीखि लीनो जस और प्रताप को कहानी है। ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच. लोगन कवित्त कीबो खेलि करि जानो है।।

ठाकुर

इससे स्पष्ट है कि कवियों ने सच्ची कविता के मर्म को समभकर सहजानुभूति एवं सच्ची प्रेरणा के महत्त्व को स्वीकार किया था तथा यही कारण है कि हम इनके काव्य में काव्येतर तत्त्वों के स्थान पर अनुभित की प्रधानता पाते हैं।

(२) स्वच्छन्द प्रेम या रोमांसिकता-जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, इन कवियों के जीवन एवं काव्य में स्वच्छन्द प्रेम या रोमांसिकता की प्रधानता है। स्वच्छन्द प्रेम का अर्थ यह है कि इन्होंने विशुद्ध सौन्दर्यानुभूति की प्रेरणा से जाति, समाज एवं धर्म के बन्धनों की भ्रवहेलना करते हुए ऐसी नायिकाओं से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित किया था, जो अन्य जाति एवं घर्म से सम्बन्धित थीं। उदाहरण के लिए भ्रालम, घनानन्द एवं बोधा मूलतः हिन्दू थे, किन्तु उनकी प्रेयसियाँ - क्रमशः शेख, सुजान, सुभान, मुस्लिम थीं। ऐसी स्थिति में इन्हें प्रेम के क्षेत्र में पर्याप्त साहस, संघर्ष एवं त्याग का परिचय देना पड़ा। मित्रों के उपहास, समाज के वहिष्कार, श्राश्रयदाताग्रों के विरोध को सहन करते हुए इन्होंने प्रेम के क्षेत्र में सत्यता, गम्भीरता एवं श्रौदात्य का परिचय दिया। बोधा के शब्दों में वे अपनी प्रेयसी के लिए संसार के समस्त वैभव को ठकराने के लिए सहर्ष प्रस्तृत थे-

'एक सुभान के आनन पे, कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को। जानि मिले तो जहान मिले, नहीं जान मिले तो जहान कहां को।'

प्रेम की इसी धनन्यता के कारण इनके म्हंगार-वर्णन में निम्न स्तर की कामुकता, छिछली रसिकता एवं बाह्य चेष्टाओं के स्थान पर प्रणय के स्वच्छ, गम्भीर एवं वेदना-प्रधान रूप की व्यञ्जना मिलती है।

(३) नारो-सौन्दर्य के प्रति आस्था—इन कवियों ने नारी के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को ग्रास्था की दृष्टि से देखते हुए उसका चित्रण ग्रत्यन्त स्वच्छ, सूक्ष्म एवं उदात्त रूप में किया है। इन्होंने परम्परा के धनुसार नखशिख की स्थूल परिपाटी का निर्वाह करने के स्थान पर उसके सौन्दर्य के प्रभाव की व्यंजना श्रनुभूतिपूर्ण शब्दों में की है, यथा-

अँग श्रंग तरंग उठे, द्युति की, परिहै मनो रूप श्रवे घर च्वै ! रस निचुरत मृदु मीठी मुस्क्यानि में !'

वस्तुतः इन्होंने नारी के प्रति ग्रत्यन्त सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण एवं ग्रपनी परिष्कृत रुचि एवं व्यापक सींदर्य-चेतना का प्रमाण प्रस्तुत किया है, जो महत्वपूर्ण है।

- (४) विरह को प्रधानता—इनमें से ग्रधिकांश किवयों का प्रेमपूर्ण जीवन प्रायः प्रेयसी की मधुर स्मृति में ही व्यतीत हुग्रा था। सामाजिक परिस्थितियों की विषमता के कारण वे ग्रपने जीवन में संयोग की घड़ियाँ प्राप्त करने में प्रायः ग्रसफल रहे। ग्रालम ने ग्रवश्य हिन्दू धर्म को त्यागकर ग्रपने प्रेयसी शेख के सान्निष्य का सुख प्राप्त कर लिया था, किन्तु कितपय ग्रन्य किवयों पर यह वात लागू नहीं होती। यही कारण है कि उनके काव्य में विरह-वेदना की ग्रभिव्यक्ति ग्रत्यन्त गम्भीर एवं मार्मिक रूप में हुई है।
- (५) वैयक्तिकता—हिन्दी काव्य में कदाचित् ये पहले कि हैं, जिन्होंने लौकिक प्रेम की वैयक्तिक ग्रनुभूतियों को निःसंकोच रूप में व्यक्त किया है। इन्होंने ग्रपनी प्रेम-कहानी सुनाने के लिए न तो राधा-कृष्ण की भक्ति का ग्रावरण उधार लिया ग्रौर न ही किसी रत्नसेन या पद्मावती का ग्राश्रय ग्रहण किया। दूसरे, यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि इन्होंने ग्रपनी प्रेयसियों—सुजान या सुभान को ग्रपनी रचनाग्रों में प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित करने का साहस किया। वस्तुतः इन किवयों की सी वैयक्तिकता ग्रागे चल-कर छायावादी एवं छायावादोत्तर कालीन किवताग्रों में ही मिलती है, हिन्दी काव्य में ग्रन्थत्र इसका प्रायः ग्रभाव है।
- (६) शैली—इन किवयों ने अपने काव्य में प्रायः मुक्तक शैली में किवत्त-सवैयों का प्रयोग किया है। इनकी भाषा प्रौढ़ बज है जिसे उन्होंने नयी शक्ति और नया सौन्दर्य प्रदान किया है। घनानन्द जैसे किवयों ने अपने लाक्षणिक प्रयोगों एवं विरोधाभास, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, प्रतीक जैसे तत्त्वों के प्रयोग द्वारा उसकी अर्थ-शक्ति में पर्यास अभिवृद्धि की। पर इसका यह तात्पर्य नहीं हैं कि इन्होंने कला-पक्ष की साज-सँवार के लिए प्रयास किया, अपितु यह समभना चाहिए कि भावों की सच्ची प्रेरणा एवं भाषा पर पूर्ण अधिकार के कारण ही उनकी शैली में वक्रता एवं लाक्षणिकता सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों का प्रादुर्भाव सहज ही हो गया।

ग्रस्तु, इस परम्परा का काव्य भावों की गम्भीरता एवं शैली की प्रौढ़ता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। ग्रवश्य ही इन्होंने जीवन के लिए कोई महान् सन्देश प्रदान नहीं किया, इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु जहाँ तक सौन्दर्य—विशुद्ध काव्य-सौन्दर्य—की बात है, ये किव किसी से पीछे नहीं हैं। इन्होंने कला की साधना विशुद्ध कलात्मक प्रयोजनों से की थी तथा इस दृष्टि से इनकी उपलब्धियों का महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। बौद्धिक तत्त्वों, शास्त्रीय ज्ञान एवं नैतिक ग्रादर्शों में न इनकी रुचि थी ग्रौर न ही इसकी इनसे ग्राशा की जा सकती है। वस्तुतः इनके शब्द प्रेम-विवश हृदय के सच्चे उद्गार हैं, जिन्हें इसी रूप में ग्रहण करना उचित एवं संगत होगा।

:: इकतोस ::

हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप भ्रौर विकास

१. म्रादि महाकाव्य ।

- महाकाव्य का स्वरूप—(क) भारतीय दृष्टिकोण, (ख) पाश्चात्य दृष्टिकोण,
 (ग) ग्राघुनिक दृष्टिकोण।
- ३. संस्कृत के महाकाव्य ।

४. प्राकृत ग्रीर ग्रपभ्रंश के महाकाव्य।

- ५. हिन्दी में महाकाव्य का विकास—(क) पृथ्वीराज रासो, (ख) पद्मावत,
 (ग) रामचरित मानस, (घ) रामचंद्रिका, (ङ) साकेत, (च) कामायनी,
 (छ) कुरुक्षेत्र, (ज) उर्वशी तथा धन्य ।
- ६. उपसंहार।

थी महाकाव्य रचने की मेरे मन में।
तब कंकण किंकिणि से सहसा टकराकर,
फट पड़ी कल्पना शत सहस्र गायन में।
उस दुर्घंटना से महाकाव्य कण-कण हो,
चरणों के आगे बिखर पड़ा है क्षण में।
थी महाकाव्य रचने की मेरे मन में।
हा! कहाँ गई यह युद्ध कथा सपने-सी।

-रवीन्द्र ठाकुर (ग्रनूदित)

साहित्य के विभिन्न रूपों में महाकाव्य का कितना महत्त्व है, यह विश्व-किंव रवीन्द्र की उपर्युक्त पंक्तियों से—जिनमें उन्होंने श्रपनी महाकाव्य रचने की श्राकांक्षा पूर्ण न होने पर, गहरा क्षोभ व्यक्त किया है—श्रनुमित किया जा सकता है। 'महाकाव्य' शब्द ही 'महत्' श्रीर 'काव्य' इन दो शब्दों के समास से व्युत्पन्न है। भारतीय साहित्य के काव्य के साथ 'महत्' विशेषण का प्रयोग सर्वप्रथम वाल्मीकिकृत रामायण के उत्तर-काण्ड में मिलता है, जहाँ राम ने लव-कुश से प्रश्न किया था—

> किंप्रमाणिमदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः । कर्त्ता काव्यस्य महतः कव चासौ मुनिपुंगवः ।।

श्रर्थात् यह काव्य कितना वड़ा है श्रीर किस महात्मा की प्रतिष्ठा है ? इस महत् काव्य के रचयिता श्रेष्ठ मुनि कहाँ हैं ? यहाँ 'कर्त्ता काव्यस्य महतः' 'महाकाव्य' शब्द CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. की ग्रोर संकेत करता है। साथ ही इसमें महाकाव्य के तीन मूल लक्षणों की भी घ्विन मिलती है—(१) महाकाव्य ग्राकार-प्रकार में वड़ा होता है। (२) उसमें किसी महात्मा या महापुरुष की प्रतिष्ठा का चित्रण किया जाता है। ग्रौर (३) उसका रचियता कोई श्रेष्ठ मुनि या उच्चकोटि का साधक किव होता है।

भारतीय दृष्टिकोण

संस्कृत ग्राचार्यों में महाकाव्य के स्वरूप की सर्वप्रथम विस्तृत व्याख्या करने का श्रेय ग्राचार्य भामह को है, जिन्होंने ग्रपने 'काव्यालंकार' में वन्ध की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद किये हैं-- १. सर्गवद्ध, २. नाटक, ३. ग्राख्यायिका, ४. कथा ग्रौर ५. ग्रनिवद्ध (मुक्तक) काव्य । सर्गवद्ध का ही दूसरा नाम महाकाव्य है । उनके मतानुसार इसमें किसी महान् विषय का निरूपण होना चाहिए। उनमें ग्राम्य शब्दों का परिहार, अर्थ का सौन्दर्य, ग्रलंकारों का प्रयोग ग्रौर सच्ची या उच्चकोटि की कहानी का वर्णन होना ग्रावश्यक है। उसमें राजदरवार, दूत, श्राक्रमण, युद्ध श्रादि का चित्रण होता है तथा ग्रन्त में नायक का ग्रम्युदय दिखाया जाता है । नाटक की पाँचों संधियों का ग्रायोजन भी उसमें किया जाता है। साथ ही उसका कथानक उत्कर्षपूर्ण होते हुए भी ग्रधिक व्याख्या की ग्रपेक्षा नहीं करता । उसमें काव्यगत सौन्दर्य के साथ चारों वर्गो-धर्म, ग्रर्थ, काम ग्रौर मोक्ष-का निरूपण होता है, फिर भी प्रधानता ग्रर्थ को दी जाती है। उसके वर्णन में 'लोक-स्वभाव' या स्वाभाविकता का गुण विद्यमान रहता है तथा उसमें सभी रसों का पृथक्-पृथक् निरूपण होता है। प्रारम्भ में नायक का कुल, शक्ति, प्रतिभा या विद्वता के ग्राधार पर उत्कर्ष दिखाकर ग्रन्त में किसी ग्रन्य पात्र की सफलता के निमित्त उसका वध दिखाना ग्रनुचित है। यदि नायक को सर्वाधिक प्रभावशाली या ग्रन्त में उसे सफल सिद्ध नहीं किया गया तो उसके प्रारम्भिक ग्रम्युदय का कोई महत्त्व नहीं है, ग्रतः महाकाव्य के ग्रन्त में नायक को विजयी दिखाना ग्रावश्यक है। (काव्यालंकार— १।१८-२३)।

भामह के परवर्ती श्राचार्यों में से ग्रनेक ने महाकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, किन्तु उसमें ग्रियक मौलिकता नहीं मिलती। प्रायः सभी ने भामह के ही लक्षणों का पिष्टपेषण किया है। दंडी ने ग्रपने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य के ग्रारम्भ में ग्राशीर्वाद, नमस्क्रिया ग्रौर वस्तु-निर्देश की ग्रोर संकेत करने की नई बात कही है। ग्रागे चलकर साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने ग्रवश्य भामह की व्याख्या को ग्रागे वढ़ाते हुए इसके लक्षणों की लम्बी सूची प्रस्तुत की है—''जिसमें सर्गों का निबन्धन हो, वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन ग्रनेक भूप भी नायक होते हैं। श्रङ्गार, वीर ग्रौर शान्त में से कोई एक रस ग्रंगी होता है। ग्रन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-संधियाँ रहती हैं। इसकी कथा ऐतिहासिक या किसी लोक-प्रसिद्ध सज्जन से सम्बन्ध रखने वाली होती है। धर्म, ग्रर्थ, काम ग्रौर मोक्ष—इनमें से कोई एक उसका फल होता है। श्रारम्भ में ग्राशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। फल होता है।

कहीं खलों की निन्दा ग्रीर सज्जनों के गुणों का वर्णन होता है। कहीं-कहीं सर्ग में ग्रनेक ख़न्द मिलते हैं। सर्ग के ग्रन्त में ग्रगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें संघ्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, ग्रन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मघ्याह्न, मृगया, पर्वत, षड्ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र ग्रीर ग्रम्युदय ग्रादि का यथासम्भव सांगोपाग वर्णन होना चाहिए। इसका नामकरण कि के नाम या चरित्र के नाम ग्रथवा चरित्र-नायक के नाम के ग्राधार पर होना चाहिए। कहीं इनके ग्रतिरिक्त भी नामकरण होता है, जैसे भट्टि। सर्ग की वर्णनीय कथा के ग्राधार पर सर्ग का नाम रक्खा जाता है। संघियों के ग्रंग यहाँ यथासम्भव रखे जाने चाहिएँ। यदि एक या दो भिन्न वृत्त हों तो भी कोई हर्ज नहीं है। जलक्रीड़ा, मघुपानादिक सांगोपांग होने चाहिएँ। महाकाव्य के उदाहरण जैसे 'रघुवंशादि' (साहित्य-दर्गण, ग्रध्याय ६।३१५—३२४) भामह ग्रीर विश्वनाथ के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षणों की तुलना से स्पष्ट होगा कि परवर्ती ग्राचार्य ने केवल संख्या-विस्तार कर दिया है, महाकाव्य की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में दोनों के दृष्टिकोणों में विशेष ग्रन्तर नहीं मिलता। ग्रस्तु, दोनों की व्याख्याग्रों का निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

- (१) महाकाव्य की कथावस्तु का ग्राधार व्यापक होता है जिससे उसमें जीवन, जगत् ग्रौर प्रकृति के विभिन्न ग्रंगों का विस्तृत रूप में चित्रण सम्भव हो सके।
- (२) उसका नायक एक ऐसा श्रादर्श श्रीर महान् व्यक्ति होता है जिससे वह पाठकों की श्रद्धा प्राप्त कर सके तथा उन्हें कोई सन्देश दे सके।
- (३) उसमें मानव-हृदय की सभी प्रमुख चित्त-वृत्तियों, भावनाग्रों ग्रादि का चित्रण होना चाहिए।
- (४) सारा कथानक सर्गों में विभाजित तथा संधियों से युक्त हो जिससे उसमें प्रबन्धत्व का गुण ग्रा सके।
- (४) उसकी शैली में काव्य-सौष्ठव व काव्य के सभी प्रमुख गुणों का विकास होना चाहिए।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य (Epic) को गौरवपूर्ण स्थान देते हुए उसके स्वरूप की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। प्रसिद्ध यूनानी भ्रालोचक अरस्तू (Aristotle) ने अपने काव्य-शास्त्र (Poetics) में लिखा है कि "महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण है, जो स्वतः गम्भीर एवं पूर्ण हो, वर्णनात्मक हो, सुन्दर शैली में रचा गया हो, जिसमें भ्राद्यन्त एक छन्द हो, जिसमें एक ही कार्य हो जो पूर्ण हो, जिसमें प्रारम्भ, मध्य और अन्त हो, जिसके आदि और अन्त एक दृष्टि में समा सकें, जिसके चित्र श्रेष्ठ हों, कथा सम्भावनीय हो और जीवन के किसी एक सार्वभीम सत्य का प्रतिपादन करती हो।" (काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डॉ॰ शकुन्तला दुवे; पृष्ठ ६३) (CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

यद्यपि स्थूल दृष्टि से भारतीय तथा यूरोपीय महाकाव्य के लक्षणों में गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु मूल प्रकृति की दृष्टि से दोनों में गहरा ग्रन्तर भी है। भारतीय महाकवियों ने जहाँ जीवन को समिष्ट रूप में ग्रहण करते हुए तथा मंगलमयी भावनाम्रों का प्राधान्य दर्शाते हुए महाकाव्य का म्रन्त सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् में किया है, वहाँ पाश्चात्य काव्य-रचियताग्रों ने ग्रपने दृष्टिकोण को इहलोक की विभूति तक हो सीमित रखते हुए उसमें ग्रनिवार्य रूप से उपस्थित होनेवाले दैवी क्लेशों में ही जीवन का पटाक्षेप किया है। भारतीय जीवन में श्राच्यात्मिकता, श्रादर्शवादिता एवं समन्वयात्मकता की प्रधानता रही है। जबिक पाश्चात्य जीवन में भौतिकता, यथार्थवादिता एवं विश्लेष-णात्मकता को प्रमुखता प्राप्त है, ग्रतः इसी के ग्रनुरूप उनके महाकाव्यों में ग्रन्तर मिलना स्वाभाविक है। भारतीय महाकाव्यों में सत् की ग्रसत् पर विजय, पवित्र भावनाग्रों का विकास व नायक के उत्कर्ष तथा कथा की सुखमय परिणति पर वल दिया गया है, जबिक पाश्चात्य महाकाव्यों में इनसे विरोधी तत्त्वों का चित्रण मिलता है। पाश्चात्य महाकाव्यों में नायक के व्यक्तित्व की श्रपेक्षा जातीयता पर श्रधिक वल दिया गया है। पश्चिम में देवों को क्रूर माना गया है, जो मानव के उत्पीड़न में प्रसन्न होते हैं, भारतीय महाकाव्यों में उत्पीड़न केवल चरित्र की परीक्षा के लिए होता है, ग्रकारण नहीं। ग्रस्तु, यूरोपीय महाकान्य की प्रकृति का पता महाकिव होमर के दिये गए इस सन्देश से भली-भाँति चल जाता है — "निर्दल मनुष्य के लिए देवताओं ने भाग्य का यही पट बुना है, उनकी इच्छा है कि मनुष्य सदा क्लेश में जियें भ्रौर वे स्वयं (देवता) सदा भ्रानन्द में रहें।" /

म्राधुनिक दृष्टिकोण

ग्राघुनिक युग में महाकाव्य के स्वरूप एवं लक्षणों के सम्बन्ध में हमारे ग्रालो-चकों एवं किवयों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विकास हुग्रा है। ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्ववर्ती संस्कृत-ग्राचार्यों के निर्धारित लक्षणों की उपेक्षा करते हुए उसके केवल चार प्रत्वेती संस्कृत-ग्राचार्यों के निर्धारित लक्षणों की उपेक्षा करते हुए उसके केवल चार तत्त्वों को महत्त्व दिया है—(१) इतिवृत्त, (२) वस्तु-व्यापार वर्णन, (३) भाव-व्यंजना ग्रीर (४) संवाद। शुक्लजी के विचारानुसार महाकाव्य का इतिवृत्त व्यापक होने के साथ-साथ सुसंगठित भी होना चाहिए। उसमें ऐसी वस्तुग्रों ग्रीर व्यापारों का वर्णन होना चाहिए जो हमारी भावनाग्रों को तरंगित कर सके। किव की भाव-व्यंजना में हृदय को ग्रान्दोलित कर सकने की क्षमता होनी चाहिए। महाकाव्य के संवादों में रोच-कता, नाटकीयता ग्रीर शैली की प्रौढ़ता भी महाकाव्य के दो ग्रावश्यक तत्त्व हैं—यद्यपि शुक्लजी ने इनका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा की गई विभिन्न महा-काव्यों की समीक्षा से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

शुक्लजी का महाकाव्य-सम्बन्धी मानदण्ड मुख्यतः तुलसीकृत 'रामचरित-मानस' पर ग्राधारित है, जोट-द्विवेद्वीयुगीन रचनाग्रों पर भी लाग हो जाता है; किन्तु परवर्ती

युगों के महाकाव्य के लिए उनका मानदण्ड उपयुक्त नहीं रहता। छायावादी युग की रचनाओं में कामायनी आदि ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें हम महाकाव्य के नवीनतम स्वरूप के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इन ग्रन्थों में इतिवृत्त विलकुल संक्षिप्त भौर सूक्ष्म है, स्यूल घटनाओं का प्रायः भ्रभाव-सा है; पात्रों के सूक्ष्म मनोविश्लेषण एवं उनकी हृदयगत भावनाओं की भ्रभिव्यञ्जना की प्रमुखता है; वाह्य-संघर्ष के स्थान पर मानसिक संघर्ष का चित्रण है, तथा प्राचीन कथानकों के भ्राधार पर वर्तमान युग की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए महान् सन्देश दिया गया है। भ्रतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्थूल विशेषताओं एवं शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य का नवीनतम रूप में भ्रपने मूल रूप से बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है। इसी को घ्यान में रख डॉ॰ नगेन्द्र ने महाकाव्य के देशकाल निरपेक्ष पाँच लक्षण प्रस्तुत किए हैं जो सर्वमान्य होने चाहिए—(१) उदात्त कथानक (२) उदात्त कर्मा प्रस्तुत का मूल गुण—महाकवि द्वारा महान्-पात्र या सन्देश को प्रस्फुटित करने वाली महान् काव्य-रचना—श्रव भी उसमें सुरक्षित है।

संस्कृत के महाकाव्य

भारतीय महाकाव्य-परम्परा का आरम्भ रामायण और महाभारत से होता है, यद्यपि इनसे भी पूर्व कुछ महाकाव्य लिखे गए थे, जो ग्रनुपलब्ध हैं। रामायण ग्रौर महाभारत में पूर्ववर्ती कौन है, इसके सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है, किन्तु हम प्राचीन घारणा को स्वीकार करते हुए रामायण को ही पूर्ववर्ती मानते हैं। रामायण मादि-कवि वाल्मीकि की सुन्दर कृति है, जिसमें राम के चरित्र का गुण-गान सात कांडों में किया गया है। इसमें प्रवन्धत्व का निर्वाह सम्यक् रूप से हुग्रा है तथा इसकी शैली सरल किन्तु प्रौढ़ है। विद्वानों ने इसे करुण रस-प्रधान बताया है, किन्तु हमारे विचार से ऐसा मानना उचित नहीं। यह ठीक है कि इसके नायक राम के जीवन में भ्रनेक दुःखद परिस्थितियों एवं घटनाम्रों का संयोग होता है, किन्तु राम उनके समक्ष पराजित, दुः सी या निराश दिखाई नहीं पड़ते। उनमें सर्वत्र श्रपने प्राचीन श्रादशों की रक्षा का, मर्यादाग्रों के पालन का तथा विपक्षियों के संहार का उत्साह दिखाई देता है। राम पाठक की दया के म्रालम्बन नहीं, म्रिपतु उसकी श्रद्धा के पात्र बनते हैं। उसे पढ़कर हमें कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा मिलती है-परिस्थितियों के आगे नत-मस्तक होकर भाग्य के क्रूर विघान को स्वीकार कर लेने की नहीं ; ग्रतः इस काव्य का प्रधान रस वीर है, करुण नहीं। वैसे ग्रन्य रसों की ग्रायोजना भी इसमें ग्रंगी रूप में हुई है।

महाभारत ग्राकार-प्रकार की दृष्टि से रामायण की श्रपेक्षा बहुत विस्तृत है तथा यह ग्राठारह पर्वों में विभक्त है। इसकी मुख्य कथा में कौरव ग्रौर पांडवों के संघर्ष का चित्रण है, किन्तु प्रासंगिक रूप में कृष्ण के भी जीवन-चरित्र का वर्णन हुन्ना है। इसका प्रारम्भ वीर रस के साथ हुन्ना है, किन्तु ग्रन्त शान्त में होता है। इसके विभिन्न पर्वों में CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

ग्रनेक उपाख्यानों का संग्रह किया गया है, जिनमें 'नल-दमयन्ती', 'संवरण-तप्ता' ग्रादि के उपाख्यान श्रृङ्गार रस से ग्रोत-प्रोत हैं। रामायण की-सी सुसम्बद्धता इसमें नहीं मिलती। यद्यपि कला की दृष्टि से रामायण ग्रौर महाभारत प्रारम्भिक काव्य ही हैं, किन्तु परवर्ती साहित्य को इन्होंने जिस मात्रा में प्रभावित किया, उतना किसी ग्रन्य रचना ने नहीं किया।

श्रागे चलकर संस्कृत में ग्रानेक महाकाव्य लिखे गए जिनमें ग्रश्वघोष का 'बुद्ध-चिर्त', कालिदास के 'कुमार-सम्भव' ग्रीर 'रघुवंण', भारिव का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपाल वध' ग्रीर श्रीहर्प का 'नैषधीय-चिर्त' उल्लेखनीय हैं। इन महाकाव्यों में वे प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं, जिनके ग्राधार पर विभिन्न ग्राचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए हैं। ग्रश्वघोष ग्रीर कालिदास के महाकाव्यों में रस-सृष्टि के निमित्त भाव-व्यंजना को प्रमुखता प्राप्त है, जब कि परवर्तीयुगीन रचनाग्रों में ग्रालंका-रिकता ग्रीर ज्ञान प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है। कथानक की जैसी रोचकता, सुसम्बद्धता एवं प्रबन्धत्व का जैसा निर्वाह वाल्मीकिकृत रामायण में मिलता है, उसका इन महाकाव्यों में ग्रभाव है। कालिदास से लेकर श्रीहर्प तक संस्कृत के सभी महाकिवयों को कथावस्तु की कोई चिन्ता नहीं है; उसे ग्रपने भाग्य पर छोड़कर ये धीरे-धीरे ग्रागे वढ़ते हैं। जहाँ ग्रश्वघोप ग्रीर कालिदास प्रत्येक चरण पर सूचम भावानुभूतियों की व्यंजना में तल्लीन हो जाते हैं, वहाँ भारिव, मात्र ग्रीर श्रीहर्ष प्रत्येक पंक्ति में ग्रलंकारों की कड़ी लगा देते हैं। वस्तुतः संस्कृत के परवर्ती महाकिवयों का व्यान विषय-वस्तु की ग्रपेक्षा शैली के चमत्कार की ग्रीर ग्रिघक है ग्रीर यही कारण है कि उनमें यथार्थ जीवन की परिस्थितियों, पात्रों के सहज-स्वाभाविक रूप ग्रीर वास्तिवक घटनाग्रों का चित्रण नहीं मिलता।

प्राकृत ग्रीर ग्रपभंश के महाकाव्य

प्राकृत ग्रीर ग्रपभंश में महाकाव्य-परम्परा ग्रीर ग्रागे वढ़ी। प्राकृत के महाकाव्यों में 'रावण वहो' (रावण वघ), 'लीलावइ' (लीलावती), सिरिचिन्हकव्वं (श्रीचिन्ह काव्य), उसाणिरुद्ध (उपानिरुद्ध), कंस वहो (कंस वघ) ग्रादि उल्लेखनीय हैं। ग्रपभंश में जैन किवयों द्वारा भी उच्च कोटि के महाकाव्य लिखे गए जिनमें कुछ ये हैं—(स्वयंभू ६वीं शती ई०) के 'पद्मचरित' ग्रीर 'रिट्ठणेमिचरिउ' में क्रमशः रामायण ग्रीर महाभारत से कथानक ग्रहण किया गया है। पुष्पदंत (१०वीं शती ई०) ने 'महापुराण', 'नागकुमार चरित', यशोधरा चरित' में ग्रनेक जैनधर्मानुयायी महापुरुषों के चरित्र का गान किया है। ग्रागे चलकर पद्मकीर्ति, धनपाल, बीर, नयनिन्द, कनकामर मृनि ग्रादि ने भी पुष्पदन्त का ग्रानुकरण करते हुए ग्रनेक चरित्र-काव्य लिखे, जिनमें से कुछ में महाकाव्य को संज्ञा से भूषित होने की क्षमता है। प्राकृत ग्रीर ग्रपभंश के महाकाव्य मुख्यतः व्यामिक उद्देश्यों से प्रेरित हैं। उनका लद्द्य जन-साधारण की श्रद्धा को ग्रपने तीर्थङ्करों व पौरा- णिक पात्रों की ग्रीर उन्मुख करना है। ग्रतः उनमें कथानक की रोचकता, पात्रों का CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

श्रीदात्य, साम्प्रदायिक शिक्षाग्रों का प्रचार श्रीर शैली की सरलता मिलती है। ये महा-काव्य माघ श्रीर श्रीहर्ष के महाकाव्यों की भाँति कोरे विद्वानों के मनन की ही वस्तु नहीं हैं, साधारण शिक्षित व्यक्ति भी उनका रसास्वादन कर सकता है।

हिन्दी के महाकाव्य

प्राकृत और यपभ्रंश की महाकाव्य-परम्परा हिन्दी में और भी ग्रधिक पल्लवित, पृष्पित और विकसित हुई। हमारे कुछ विद्वानों की मान्यता है—'हिन्दी में यद्यपि लम्बे आकार के ग्रनेक सर्गवद्ध काव्य-ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु उनमें से केवल कुछ को ही महाकाव्य कहा जा सकता है ग्रीर सच्चे ग्रथं में तो महाकाव्य का प्रायः ग्रभाव ही समभना चाहिए। वास्तव में हिन्दी भाषा के सम्पूर्ण विकास-काल में महाकाव्य की रचना के लिए उपयुक्त वातावरण का ग्रभाव रहा है।' वस्तुतः यह घारणा कुछ निजी भ्रांतियों पर ग्राघारित है, ग्रन्थथा जिस काल में महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल, गोविन्दिसह, बालगंगाघर तिलक, महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस ग्रीर जवाहरलाल नेहरू जैसे महापुरुषों का ग्राविर्भाव हुग्रा, उसे महाकाव्य की रचना के ग्रनुपयुक्त वताना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। यदि शुष्क निराशावादी दृष्टिकोण को लेकर न चला जाय तो हिन्दी में हमें ग्रनेक कहाकाव्य—पद्मावत, रामचरितमानस, कामायनी, कुरुक्षेत्र ग्रादि दृष्टिगोचर होंगे, जिन पर किसी भी भाषा का साहित्य गर्व कर सकता है।

हिन्दी के प्रारम्भिक काल, आदिकाल या वीरगाथा काल का तो अस्तित्व ही संदिग्ध हैं। इस युग में रिचत मानी जानेवाली रचनाओं में अधिकांश अप्रामाणिक या परवर्ती हैं। इसी कोटि की रचनाओं में 'पृथ्वीराज रासो' भी एक है, जो महाकाव्य की सी महत्ता से सम्पन्न है। इस ग्रन्थ का यह दुर्भाग्य था कि अभी वह साहित्य-गगन में पूर्णतः उद्भासित भी न हो पाया था कि कुछ इतिहासकारों की करूर दृष्टि इस पर पड़ गई, फलतः यह ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता व स्वामाविकता आदि ग्रहों की काली छाया से आवृत्त होकर आभा-शून्य हो गया। यदि विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से देखें तो किसी भी रचना का महत्त्व इस वात में नहीं है कि वह किस युग में किस कि के द्वारा रची गई, अपितु उसकी भावनाओं को तरंगित करने की शक्ति, उसमें निहित काव्य-गुणों को व्यापकता तथा उसकी शैली की प्रौढ़ता में है। यदि 'रामचरितमानस' का रचिता तुलसी के स्थान पर और कोई सिद्ध हो जाय और उसके रचना-काल में दो-तीन शताब्दियाँ आगे-पीछे होने का प्रमाण मिल जाय तो क्या इससे उसका महत्व न्यून हो जायगा ? मानस का महत्त्व तुलसी के कारण नहीं, अपितु तुलसी का महत्त्व मानस के कारण है। अतः रासो का रचिता भी चन्द हो या कोई अन्य, वह बारहवीं शती में रचित हो या सत्रहवीं में—महाकाव्य की दृष्टि से उसके महत्त्व में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

'पृथ्वीराज रासो' के विभिन्न श्राकारों के श्रनेक संस्करण मिलते हैं जिनमें सबसे बड़ा संस्करण ६६ सर्गों में विभाजित तथा लगभग ग्रढ़ाई हजार पृष्ठों का है। परम्परा के श्रनुसार इसके रचयिता चन्द वरदायी माने जाते हैं, जो चरित-नायक पृथ्वीराज राठौर के मन्त्री ग्रीर सेनापित भी थे। महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों के ग्रनुसार इसमें नायक के गौरव को ग्रक्षणण रखने के लिए ऐतिहासिक इतिवृत्त में पर्यात परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया गया है। जीवन के व्यापक स्वरूप एवं प्रकृति ग्रीर जगत के विस्तृत क्षेत्र को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इसके रचियता ने ग्रनेक मौलिक घटनाग्रों की कल्पना की है, जिससे यह मन्यकालीन जीवन का एक वृहत् चित्रपट बन गया है। यही कारण है कि इसमें तत्कालीन जीवन का सामन्ती वैभव, सामाजिक ग्राचार-व्यवहार, धार्मिक विधि-विधान एवं उस युग के विभिन्न पर्व, त्योहार ग्रीर उत्सवादि के उल्लिसत दृश्य सजीव रूप में चित्रित हैं। सन् संवत्, राजनीतिक घटनाग्रों व युद्ध ग्रादि से सम्बन्ध रखनेवाले इतिहास की स्थूल रेखाएँ इसमें नहीं मिलतीं, किन्तु ग्रपने युग के सामाजिक जीवन का सूक्ष्म रूप-रंग इसमें पूर्णतः विद्यमान है। वस्तुतः मन्यकालीन संस्कृति के जिज्ञासुग्रों के लिए जितनी सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है, उतनी किसी ग्रन्थ साधन से दुष्प्राप्य है।

काव्यत्व की दृष्टि से भी रासो का महत्व न्यून नहीं है। वैसे तो इसमें प्रायः सभी रसों का चित्रण कहीं-न-कहीं हुआ है, किन्तु वीर, रौद्र और श्रुङ्गार की व्यंजना में तो किव ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। युद्ध-सम्बन्धी दृश्यों के चित्रण में तो किव की निजी अनुभूतियों का योग दृष्टिगोचर होता है—

बिज्जिय घोर निसान राँन चौहान चहों दिस।
सकल सूर सामन्त समिर बल जंत्र मंत्र तिस।।
उिठ्ठ राज पृथ्वीराज बग्ग लग्गा मनौं वीर नट।
कढत तेग मनोवेग लगत मनौं बोज ऋट्ठ घट्ठ।।

x x x

मच्चे कूह कूहं बहे सार सारं, चमक्के चमक्के करारं सुधामं। भभक्के भभक्के बहे रक्त धारं, सनक्के सनक्के व बान भारं॥

यहाँ ग्रक्षरों के द्वित्व, शब्दों की ग्रावृत्ति ग्रौर वाक्य-विन्यास की विलक्षणता के द्वारा ग्रोज गुण की सृष्टि कर दी गई है जिससे रण क्षेत्र का वातावरण सजीव रूप में प्रस्तुत हो जाता है। इसी प्रकार श्रुङ्गार की ग्रिभिव्यक्ति में कवि ने विषय के ग्रनुरूप कोमल एवं मधुर शब्दावली का प्रयोग किया है—

"वेई म्रावास जुग्गनि पुरह, वेई सइचरि मंडलिय। संजोग पर्यंपति कंत बिन, मुहि न कछू लग्गत रिलय।।"

भ्रथात सब कुछ—घर, योगिनीपुर, सहचरियों के समूह भ्रादि—वही हैं, किन्तु प्रिय पति के संयोग के बिना मुक्ते कुछ भी भ्रच्छा नहीं लगता।

वस्तुतः युग-चित्रण की व्यापकता, भावों की सफल ग्रिभिव्यक्ति एवं शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक उच्चकोटि का काव्य है, जिसमें महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण मिल जाते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसमें ऐसा कोई व्यापक सन्देश—राष्ट्रीय एकता जैसा—नहीं मिलता, ग्रतः इसे महाकाव्य की कोटि में रखना उचित नहीं, किन्तु हम उनसे सहमत नहीं हो सकते। सामन्ती युग में जैसा सन्देश एक CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

किव दे सकता है, वैसा इसमें भी दिया गया है—अपनी मान-मर्यादा की रक्षा करते हुए प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है! सारा काव्य इसी सन्देश की घ्वनि से गुंजित है। किन्तु जो लोग एक मध्ययुगीन किव से ग्राधुनिक युग की सी राष्ट्रीय एकता का सन्देश पाने की श्राशा करते हैं, उन्हें श्रवश्य इससे निराश होना पडता है।

हिन्दी के पूर्व-मध्य युग (भक्तिकाल) के महाकाव्यों में मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' का भी वहुत ऊँचा स्थान है, जो प्रेमाख्यान-परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। इस काव्य-परम्परा के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का प्रचार हो रहा है, जैसे यह परम्परा फारसी मसनवियों से प्रभावित है, इसके कवियों का उद्देश्य सुफी धर्म का प्रचार करना था तथा इनमें भ्राघ्यात्मिक प्रेम का चित्रण किया गया है, भ्रादि-ग्रादि । इन भ्रान्तियों का निराकरण हम ग्रन्यत्र (देखिए—'हिन्दी काव्य में श्रृङ्गार-परम्परा ग्रौर महाकित विहारी) कर चुके हैं। वास्तव में इस परम्परा का सम्बन्ध भारत की उस प्राचीन प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा से है, जिसका ग्रारम्भ सुवन्धु की 'वासवदत्ता', वाण की 'कादम्बरी' और दंडी के 'दशकुमार चरित' से होता है। संस्कृत किव गद्य में प्रेमाख्यान लिखते थे, जबिक प्राकृत ग्रीर ग्रपभ्रंश के कवियों ने पद्य में लिखने की परिपाटी को जन्म दिया तथा भ्रागे चलकर हिन्दी, पंजाबी भ्रौर गुजराती कवियां ने भी पद्य का ही प्रयोग किया। कथानक की रूढ़ियों, प्रेम के स्वरूप एवं विकास तथा शैलीगत विशेषताओं की दृष्टि से अपभ्रंश, हिन्दी और गुजराती के प्रेमाल्यानों में गहरा साम्य है तथा इसके अतिरिक्त हमारे पास अनेक ऐसे ठोस प्रमाण हैं, जिनके आधार पर यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी के प्रेमाख्यान फारसी मसनवियों से नहीं, ग्रिपितु पूर्ववर्ती भारतीय प्रेम तथा साहित्य से सम्बन्धित हैं। 'पद्यावत' के रचयिता ने भी ग्रपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों में भारतीय प्रेमाख्यानों का ही उल्लेख किया है-फारसी मसनवियों का नहीं।

'पद्मावत' का इतिवृत्त ग्रर्छ-एंतिहासिक है; किव ने भारतीय प्रेमाख्यानों की कृदियों को गुम्फित करने के लिए उसके ऐतिहासिक इतिवृत्त में पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्छन कर लिया है। नायक रत्नसेन द्वारा नायिका पद्मावती को प्राप्त करने तक की कहानी, जिसे इस ग्रन्थ का पूर्वार्छ कहा जाता है, काल्पनिक है; किन्तु फिर भी वह उत्तरार्छ से ग्रिष्ठिक महत्त्वपूर्ण है। पूर्वार्छ के ग्रन्त में जाकर कहानी समाप्त सी हो जाती है, किन्तु ग्रागे चलकर इस ढंग से उसका पुनरुत्थान किया गया है कि वह किव की प्रवन्ध-कुशलता का परिचायक वन गया है। पूर्वार्छ ग्रीर उत्तरार्छ के दो स्वतन्त्र कथानकों को इस सफलता से सम्बद्ध कर दिया गया है कि पाठक को इस जोड़ का पता तक नहीं चलता।

पात्रों की विविधता का भी 'पद्मावत' में ग्रभाव नहीं है। यह ठीक है कि जायसी ने प्रत्येक पात्र की किसी एक ही चरित्रगत विशिष्टता को उभारा है, जैसे रत्नसेन की प्रणय-विह्वलता, पद्मावती की सौन्दर्य एवं कामजन्य मदान्धता, राघव-चेतन की शठता, श्रलाउद्दीन की कूटनीतिज्ञता, गोरा-बादल की शूरवीरता ग्रादि,

किन्तु इस क्षेत्र में उनकी प्रतिस्पर्धा कोई ग्रन्य किव नहीं कर सकता। चारित्रिक प्रवृत्तियों के चित्रण में उनका दृष्टिकोण वैचित्र्य के स्थान पर एकत्व का रहा है, इसी से उनके पात्रों में मनोवृत्तियों की जिटलता न मिलकर गम्भीरता के दर्शन होते हैं। विभिन्न भावों की व्यंजना में पद्मावत के रचियता ने एक महाकिव की-सी क्षमता का परिचय दिया है, विशेषतः प्रेम ग्रीर विरह की ग्रभिव्यक्ति में तो ग्रसाधारण सफलता मिली है।

'पद्मावत' के दार्शनिक पक्ष के साथ सबसे अधिक अन्याय उन विद्वानों के द्वारा हुआ है, जो पहले से ही यह मानकर चलते हैं कि इस ग्रन्थ में सूफी मत का प्रतिपादन किया गया है। वे 'पद्मावत' के रूपक को जायसी के संकेतों के ग्राधार पर न समभकर सूफी मत के ग्राघार पर उसकी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं; फलतः वे कथानक के साथ रूपक की संगति बैठाने में सफल नहीं होते। ग्रव तो यहाँ तक कहा जाने लगा हैं कि पद्मावत की वे पंक्तियाँ, जिनमें इसके रूपक के प्रतीकार्थों का संकेत दिया गया है—प्रक्षिप्त हैं । किन्तु जैसा कि हमने ग्रपने शोध-प्रवन्ध (हिन्दी में श्रुङ्गार-परम्परा श्रीर महाकवि विहारी) में स्पष्ट किया है, इसके रूपक में हिन्दू-दर्शन के श्रनुसार सात्विक ज्ञान द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का सन्देश दिया गया है। रत्नसेन 'मन' है, श्रौर पिंचनी, 'बुद्धि' या ज्ञान का प्रतीक है—किन्तु हमारे विद्वान रत्नसेन को ग्रात्मा ग्रौर पद्मिनी को परमात्मा मानकर व्याख्या करते हैं जो कि कवि के संकेतों (तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंघल बुधि पद्मिनी चीन्हा।) से ग्रसम्बद्ध होने के कारण उचित नहीं। जिस प्रकार से सांसारिक कर्मजाल रूपी इड़ा के चक्कर में फँसा हुआ कामायनी का मनु (मन) हृदय पक्ष से सम्वन्धित श्रद्धा की सहायता से ग्रानन्द प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार नागमती रूपी 'दूनिया-धंघा' में ग्रासक्त रत्नसेन रूपी मन, गुरु के उपदेश से सात्विक ज्ञान-हृदयवासिनी बुद्धि (हिय सिंघल बुधि पियानी चीन्हा)—या श्रद्धा (पियानी) को प्राप्त करता है ग्रीर ग्रन्त में ग्रासुरी वृत्तियों का दमन करके मोक्ष प्राप्त करता है। कामायनी भौर पद्मावत के पात्रों में गहरी समानता है—दोनों में मन के प्रतीक क्रमणः मनु भौर रत्नसेन; सांसारिक बुद्धि के इड़ा ग्रौर नागमती, हृदयनासिनी बुद्धि या श्रद्धा के श्रद्धा श्रौर पद्मिनी ; श्रासुरी वृत्तियों के किराताकुलि श्रौर राघव-चेतन व श्रलाउद्दीन हैं। श्रतः जिस प्रकार कामायनी का सन्देश सांसारिक कर्मों की ग्रासिक को त्यागकर ग्रानन्द प्राप्ति का है, वैसे ही पद्मावत का मोक्ष-प्राप्ति का है। सम्भवतः कुछ लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे कि मुसलमान होकर भी जायसी ने हिन्दू-दर्शन को क्यों अपनाया, किन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि सारी 'पद्मावत' में ही हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-सम्यता और हिन्दू धर्म का चित्रण हुम्रा है, म्रतः उसमें हिन्दू दर्शन की म्रिभव्यक्ति हो तो मस्वाभाविकता क्या है ?

जहाँ तक युग की परिस्थितियों एवं लोक-जीवन के चित्रण का प्रश्न है, पद्मा-वत को हम अपने युग का एक सच्चा दर्पण कह सकते हैं, जिसमें तत्कालीन समाज की विभिन्न रीति-रिवाजों और प्रथाओं का, लोक-विश्वास और लोक-विचारों का, विभिन्न पर्वों व उत्सवों का, दीवाली, होली, बसन्त आदि त्योहारों का सजीव प्रति- विम्ब देखने को उपलब्ध होता है। साथ ही इसमें शैली की प्रौढ़ता, अलंकारों का वैभव ग्रौर उपमानों का भंडार भी विद्यमान है; ग्रतः इसमें उन सभी प्रमुख गुणों का समन्वय हो जाता है, जिनके ग्राधार पर कोई रचना 'महाकाव्य' पद की ग्रधिकारिणी होती है।

प्रविधा भाषा और दोहा-चौपाई शैलो में प्रवन्ध-लेखन की जिस परम्परा का प्रवर्तन प्रेमाख्यान के रचियताओं द्वारा हुआ था, उसका परिष्कृत रूप हमें महाकित जुलसी द्वारा रचित 'रामचिरत मानस' में उपलब्ध होता है। 'रामचिरत' किसी एक युग, एक भाषा और किसी एक कला का विषय नहीं है, श्रिपतु विभिन्न युगों और विभिन्न भाषाओं व कलाओं में पुरुषोत्तम राम के दिव्य-जीवन का चित्रण होता रहा है। गुमजी की यह उक्ति 'राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।' सम्भवतः इसी तथ्य की ओर संकेत करती है, किन्तु तुलसी के महाकाव्य का श्रध्ययन करते समय इस भ्रान्ति से वचना उचित होगा। यह महाकाव्य एक ऐसी प्रतिभा, शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि को लेकर हिन्दी काव्य क्षेत्र में अवतरित हुआ है कि रामचिरत का प्राचीन विषय भी एक नवीन सौन्दर्य, नये आकर्षण और एक नयी श्रभिव्यक्ति से सम्पन्न हो गया।

'रामचिरत-मानस' को कथानक की भ्रनेक भूमिकाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सारी कथा भ्रनेक वक्ताओं भ्रौर भ्रनेक श्रोताओं के मान्यम से व्यक्त होती है, किन्तु फिर भी इसकी प्रबन्धात्मकता को कहीं कोई ठेंस नहीं लगती। निर्मारिणी की भाँति कहानी भ्रानेक प्राचीन भ्रौर नवीन कथानकों की पर्वतीय शाखाओं, दुर्गम घाटियों भ्रौर भ्रडिंग चट्टानों में प्रवेश करती हुई ग्रागे वढ़ती हैं। उसकी राह में भ्रनेक समतल भ्रौर विषम स्थल, हरे-भरे वन-प्रदेश भ्रौर शुष्क महस्थल भी उपस्थित होते हैं, किन्तु तुलसी की मानस-सरिता का प्रवाह कहीं भी भ्रवरुद्ध, क्षीण या भंग नहीं होता। तुलसी भ्रपने पात्रों के जन्म-जन्मान्तरों तक की घटनाएँ सुना देते हैं, किन्तु ऐसा करने से पूर्व वे उपयुक्त वातावरण भ्रौर समय की भी खोज कर लेते हैं। तुलसी की काव्य-कला के इस विराट् ढांचे भ्रौर विस्तृत रूप को देखते हुए, उसमें शिल्पगत दो-चार त्रुटियों को ढूँढ़ निकालना विशेष महत्त्व नहीं रखता।

'रामचरित-मानस' के पात्रों में कुछ ऐसी विशिष्टता, स्वाभाविकता ग्रौर भव्यता मिलती है, जो ग्रनायास ही पाठक की बुद्धि ग्रौर कल्पना को केन्द्रित कर लेती है। दशरथ की तीनों रानियों ग्रौर उनके चारों पुत्रों में से प्रत्येक के चरित में कुछ ऐसा स्पष्ट ग्रन्तर है जिसमें हम उन्हें एक-दूसरे से पृथक् कर सकते हैं। इसी प्रकार रावण, कुम्भकणं ग्रौर विभीषण तीनों राक्षस-कुलोत्पन्न होते हुए भी वैयक्तिक विशिष्टता से सम्पन्न हैं। कही-कहीं पात्रों के चरित्र का विकास भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक ग्राचार पर दिखाया गया है; जैसे, पति-परायणा कैकेयी का कुलघातिनी बन जाना। सुग्रीव जैसे सरल व्यक्ति का राज्य-प्राप्ति के ग्रनन्तर भोग-विलास में लीन हो जाना या विभीषण का भ्रातृबोह के लिए विवश होना। विभिन्न ग्रवसरों पर पात्रों के संवाद—परशुराम-लक्ष्मण सम्वाद, मंथरा-कैकेयी-सम्वाद, ग्रंगद-रावण-सम्वाद ग्रादि— प्रार्थक्रिक्ष आर्था ति हुए СС-0. Jangamwadi Math Collection, प्रार्थक्रिक आर्था ति होते हुए

हिन्दी महाकाव्य : स्वरूप ग्रौर विकास

भी स्वाभाविक, रोचक एवं नाटकीय हैं। उनमें पात्रानुकूल भावनाओं एवं विचारों की

ग्रभिव्यक्ति हुई है।

'रामचरित-मानस' में प्रायः सभी प्रमुख रसों की व्यञ्जना प्रसंगानुसार हुई है, यद्यपि इसमें प्रमुखता भक्ति ग्रीर शान्त रस की है। मानव हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों का भी चित्रण महाकवि तुलसी ने सफलतापूर्वक किया है। भाव-दशा के विकास में वे एक ही साथ ग्रनेक संचारियों ग्रीर ग्रनुभावों का ग्रायोजन करने में समर्थ हैं, उदाहरण के लिए दशरथ की शोक-विह्वल दशा का चित्रण द्रष्टव्य है—

घरि घीरजु उठि वैठ भुश्रालू, कहु सुमन्त्र कहें राम कृपालू। कहाँ लखनु कहें राम सनेही, कहें प्रिय पुत्रबघू वैदेही।।

सो तनु राखि करब मैं काहा, जेहि न प्रेम पनु मोर निवाहा। हा रघुनन्दन प्रान पिरोते, तुम्ह बिन जिग्रत बहुत दिन बीते।।

'रामचिरत-मानस' का भाव-पक्ष जितना गम्भीर है, उसकी शैली भी उतनी ही प्रौढ़ है। सभी दृष्टिकोणों से इसमें काव्य-कला के महत् रूप का दर्शन होता है। जहाँ तक युग-धर्म और सन्देश का सम्बन्ध है, यह ग्रन्थ समस्त उत्तरी भारत में एक पित्र धर्म-ग्रन्थ की भाँति आदृत होता रहा है। अपने युग की विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान इसमें प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसकी कुछ त्रुटियाँ भी वताई गई हैं; जैसे—इसमें पौराणिकता का प्रभाव अत्यधिक मात्रा में होने के कारण ग्रवान्तर कथाओं तथा प्रसंगों का आधिक्य है, तथा माहात्म्य, स्तोत्र, देवताओं की पृष्प-वर्षा के वर्णन, सैद्धान्तिक विवेचन और प्रचारात्मक उपदेशों की भी अधिकता है, किन्तु फिर भी इसकी विशेषताओं को देखते हुए इसे उच्च कोटि का महाकाव्य मानना उचित है।

हिन्दी के उत्तर-मध्ययुग (रीतिकाल) में प्रवन्ध-काव्य तो अनेक लिखे गए, किन्तु उसमें काव्यत्व की वह प्रौढ़ता या गम्भीरता नहीं मिलती जिससे उन्हें 'महाकाव्य' की संज्ञा दी जा सके । इनमें से केशव की 'रामचिन्द्रका' को कुछ विद्वान् 'महाकाव्य' मानने के पक्ष में रहे हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाकाव्य के स्थूल लक्षणों की पूर्ति करने का प्रयास इसमें किया गया है। पूरी कथा ३६ सगों में विभाजित है तथा पृष्ठोत्तम राम इसके चरित्र नायक हैं। किन्तु इसमें अनेक ऐसे दोष मिलते हैं, जिनसे यह महाकाव्य की महत्ता से बंचित हो जाती है। किन का मूल लक्ष्य पांडित्य-प्रदर्शन, विविध छुन्दों और अलंकारों का आयोजन करना रहा है जिससे वह मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन नहीं कर सका। केशव की कल्पना इतनी विराद् नहीं कि वह समस्त युग और समाज के सब रूपों को सजीव रूप में प्रस्तुत कर सके। इसका कथानक शिथिल और गति-शून्य-सा और वस्तु-वर्णन देश-काल के भौचित्य से शून्य है। अनावश्यक वर्णनों की भरमार, अत्यिषक वस्तु-परिगणना की प्रवृत्ति, नाना प्रकार के छन्दों के प्रभावहीन प्रयोग एवं शैली की क्लिष्टता के कारण इसमें काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकी। अतः महाकाव्य तो क्या, इसे एक सफल प्रबन्ध-काव्य स्वीकार करना भी कठिन है।

भ्राधृनिक युग में भ्रनेक ऐसे प्रबन्ध-काव्य लिखे गए हैं, जो भ्राकार-प्रकार की विशालता एवं स्यूल लक्षणों की दृष्टि से महाकाव्य की कोटि में ग्रा सकते हैं, किन्तु सूक्ष्म गुणों की दृष्टि से इनमें केवल तीन ही प्रमुख हैं—(१) साकेत, (२) कामायनी भीर (३) कुरुक्षेत्र । 'साकेत' राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का सर्वोत्कृष्ट काव्य माना जाता है। इसमें रामायण की पुनीत कथा को नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हुए उपेक्षित उमिला एवं कैकेयी को विशेष महत्त्व दिया गया है, किन्तु प्रत्येक महान् रचना 'महाकाव्य' नहीं कहला सकती । कालिदास का 'मेघदूत' कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु उसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता । वस्तुतः 'साकेत' में उस व्यापक दृष्टिकोण, जीवन के विराट् रूप, भावक्षेत्र की गम्भीरता एवं युग-सन्देश की महत्ता का ग्रभाव है, जो महा-काव्य के लिए अपेक्षित है। इसमें मुख्यतः जीवन का एक खण्डरूप-राम-लक्ष्मण वन-वास ग्रौर र्जीमला का विरह—ही प्रस्फुटित हुग्रा है। ग्रपने दुःख-भार की शिला को नेत्रों के जल से तिल-तिलकर काटने वाली उमिला के प्रति हमें पूरी सहानुभृति है, किन्तु उसे भाराच्या-रूप में स्वीकार करने में हम ग्रसमर्थ हैं। गुप्तजी ग्रवश्य उसे कताई-बुनाई के प्रशिक्षण में दीक्षित करके समाज-नेत्री के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, किन्तू इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। शेष पात्रों में से भी किसी का व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावशाली नहीं बन सका कि उसे हम महाकाव्य का नायक कह सकें। वास्तव में 'साकेत' का गौरव 'विरह-काव्य' के रूप में है; महाकाव्य सिद्ध न होने से भी उसके महत्त्व में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

'कामायनी' कविवर जयशंकर प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है, जिसे हिन्दी के आधुनिक-युगीन प्रबन्ध-काव्यों में शीर्ष स्थान प्राप्त है। इसके कथानक की रूप-रेखाएँ सूक्ष्म, अस्पष्ट एवं अस्वाभाविक होते हुए भी उनमें मानव-जाति के समस्त इति-हास को समेटने का प्रयत्न किया गया है। प्रलय से लेकर भ्राधुनिक युग तक की कहानी को इसमें गुम्फित किया गया है। समस्त काव्य में स्थूल घटनाएँ तीन-चार ही हैं; वे भी श्रद्धा भ्रौर मनु के बार-बार मिलने भ्रौर विछुड़ने, मनु भ्रौर इड़ा के मिलने भ्रौर विछु-इने तक सीमित हैं। श्रतः प्रबन्ध-काव्य की सी इतिवृत्तात्मकता एवं रोचकता का इसमें अभाव है, किन्तु मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का जैसा मार्मिक, विस्तृत एवं गम्भीर चित्रण किया गया है, वह इसके सारे श्रभावों की पूर्ति कर देता है। कथानक का ग्रारम्भ शोक से करते हुए इसमें क्रमशः श्रृङ्गार, वीर, रौद्र, विस्मय एवं शान्त रस की श्रायोजना की गई है। मानवीय सौन्दर्य की श्रमिव्यंजना इसमें प्रकृति के मृनोहर रूप-रंग की श्रामा में विष्टित करके की गई है; इसकी नायिका श्रद्धा की मंजुल-मनोहर छवि पर भारतीय साहित्य की समस्त नायिकाओं - उर्वशी, तिलोत्तमा, शकुन्तला, दमयन्ती, पद्मावती ग्रादि-के सौन्दर्य को शत-शत वार न्योछावर किया जा सकता है। नारी के व्यक्तित्व के सभी स्थूल भ्रौर सूक्ष्म गुणों का समन्वित रूप प्रथम बार हमें 'कामायनी' की नायिका में उपलब्ध होता है। उसकी केवल एक वृत्ति-लज्जा को लेकर पूरे सर्ग क़ी रचना कर देना कामायनीकार की काव्य-प्रतिभा का प्रमाण है।

काव्यत्व की दृष्टि से कामुक्रक्तीविज्ञामी प्रीकृक्तुं जीविज्यस्त्रीं ग्रीर युग-सन्देश की

दृष्टि से वह उतनी ही महान् भी है। इसमें मानव-जीवन की उन चिरन्तन समस्याओं का चित्रण किया गया है, जो स्थूल भौतिक जगत् की घटनाओं से नहीं, श्रिपतु मस्तिष्क श्रौर हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों द्वारा उपस्थित होती है। संघर्ष श्रौर युद्ध का कारण कोई जाति-विशेष, देश-विदेश या वाद-विशेष नहीं है, श्रिपतु हमारी ही श्रपनी चित्तवृत्तियाँ हैं। सुख की लालसा में भटकता हुआ मानव किस प्रकार स्वार्थ-वृत्ति के माया-जाल में फँस जाता है जिससे उसका जीवन अनेक श्रसंगतियों का केन्द्र वन जाता है। श्रस्तु, मानव-जीवन में सुख श्रौर शान्ति का मूल-मन्त्र कामायनीकार के शब्दों में 'ज्ञान, क्रिया और इच्छा' में उचित समन्वय स्थापित करना है। श्राज के युग में बुद्धि या ज्ञान का एकांगी विकास हो रहा है, जो समस्त मानव-जाति के लिए श्रशुभ एवं घातक है।

'कुरुक्षेत्र' श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' की उत्कृष्ट रचना है। इसका इतिवृत्त कामायनी से भी लघु, संक्षिप्त एवं घटना-विहीन है, फिर भी उसमें रोचकता का ग्रभाव नहीं है। महाकाव्य के स्थूल लक्षण इस पर लागू नहीं होते, किन्तु काव्य की गरिमा ग्रौर ग्रादर्श की महानता इसमें मिलती है। युधिष्ठिर की मानसिक ग्रवस्था का क्रमिक विकास इसमें मर्मस्पर्शी रूप में दिखाया गया है। युधिष्ठिर ग्रौर भीष्म के रूप में मानों शान्त ग्रौर वीर रस में वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन पात्रों के माध्यम से इसमें शान्ति की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। षठ सर्ग में कामायनीकार की भाँति इसमें भी ग्राधुनिक युग की ग्रित-वौद्धिकता का विरोध किया गया है। ग्रन्त में किव का सन्देश है—''शान्ति नहीं तव तक, जब तक नर का सुख-भाग न सम होगा।'' जो युग की ग्रावश्यकता के ग्रनुरूप है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से कामायनी ग्रौर कुरुक्षेत्र—दोनों में हो महाकाव्य की ग्रनेक विशेषताएँ नहीं मिलतीं, किन्तु महाकाव्य की-सी महत्ता ग्रौर उदात्तता ग्रवश्य इनमें है।

उपर्युक्त महाकाव्यों के ग्रतिरिक्त भी इस युग में रिचत शताधिक प्रबन्ध-काव्य इस प्रकार के मिलते हैं, जिन्हें 'महाकाव्य' के रूप में ही रचा गया है, पर वे ग्रधिक प्रचित्त नहीं हो सके; यथा—'नल-नरेश' (प्रतापनारायण; १६३३), 'नूरजहाँ' (गुरुभक्त सिंह; १६३४); 'सिद्धार्थ' (ग्रनूप शर्मा; १६३७), 'कृष्णायन' (द्वारकाप्रसाद मिश्र; १६४३), 'साकेत-संत' (वलदेवप्रसाद मिश्र; १६४६), 'ग्रंगराज' (ग्रानन्दकुमार; १६५०), 'वर्द्धमान' (ग्रनूप शर्मा; १६५१), 'देवार्चन' (करील; १६५२), 'रावण' (हरदयालु सिंह; १६५२), 'पार्वती' (रामानन्द तिवारी; १६५५); 'फ्रांसी की रानी' (श्यामनारायण प्रसाद; १६५५), 'मीरा' (परमेश्वर द्विरेफ; १६५७), 'एकलव्य' (डा० रामकुमार वर्मा; १६५८), 'उर्निला' (वालकृष्ण शर्मा; १६५८), 'उर्वशी' (दिनकर; १६६१) ग्रादि प्रमुख हैं। इनमें से यहाँ कुछ रचनाग्रों का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। '

द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' (१९४३ ई०) 'रामचरित-मानस' के ग्रनुकरण पर रचित कृष्ण सम्बन्धी प्रवन्ध-काव्य है जो सात काण्डों में विभक्त है—

१. श्राघुनिक युग में रचित प्रबन्ध-काव्यों का (जो कि महाकाव्य के निकट पड़ते हैं) विस्तृत परिचय 'हिन्दो साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में 'आवर्शवादी काव्य-परम्परा' (पूष्ठ ६४०-६७७) में देखिए। ath Collection, Varanasi.

(१) भ्रवतरण कांड (२) मथुरा कांड (३) द्वारका कांड (४) पूजा कांड (६) गीता कांड (६) जय कांड भीर (७) भ्रारोहण कांड । इसकी भाषा भ्रवधी तथा शैली दोहा-चौपाई की ही है। विभिन्न पात्रों के—मुख्यतः कृष्ण के—चित्रत को चित्रित करने में किव को पर्याप्त सफलता मिली है। कृष्ण को ग्रत्यन्त दिव्य एवं उदात्त रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। महाकाव्य के विभिन्न लक्षणों का भी निर्वाह हुआ है।

बलदेवप्रसाद सिश्र का 'साकेत-संत' (१६४६ ई०) भरत के चरित्र पर प्रकाश डालनेवाला सफल प्रवन्ध काव्य है। इसका नाम गुप्तजी के 'साकेत' की स्मृति करवाता है। वस्तुतः जिस प्रकार साकेतकार का लक्ष्य उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को ऊँचा उठाना रहा है, वैसे ही इसमें भरत के चरित्र को उठाने का लच्य रहा है। इसमें घटनाग्रों की ग्रिपेक्षा पात्रों के चित्रण का घ्यान ग्रिधिक रहा है। भरत, मांडवी, कैकेयी को ग्रत्यन्त सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। रचना ग्रत्यन्त भावपूर्ण, गम्भीर एवं प्रौढ़ है; एक नमूना द्रष्टव्य है—

कुलवघू कब रहती स्वच्छन्द, उसे बस ग्रयना भवन पसन्द। आपके रहें अचल सुख-साज, उसे प्रिय ग्रपना स्वजन समाज।।

गुरुभक्तींसह 'भक्त' के दो ऐतिहासिक महाकाव्य 'नूरजहाँ' (१६३५ ई०) ग्रीर 'विक्रमादित्य' (१६४७ ई०) उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहले काव्य में रोमांस की प्रमुखता होने के कारण इसे ग्रादर्शवादी तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु विषय-वस्तु की ग्रन्य विशेषताग्रों एवं प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से इसे यहाँ स्थान दिया जा सकता है। यह ग्राठारह सर्गों में विभक्त है तथा महाकाव्य के लिए ग्रपेक्षित प्रायः सभी शास्त्रीय लक्षणों का समावेश इसमें मिलता है, फिर भी भावनाग्रों के जिस ग्रीदात्य एवं सन्देश की जिस गरिमा की महाकाव्य में ग्रपेक्षा होती है, उसका इसमें ग्रवश्य ग्रभाव है। नूरजहाँ के प्रति जहाँगीर के ग्रतिशय ग्रनुराग की ग्रिमव्यक्ति इसमें सफलतापूर्वक हुई है।

'विक्रमादित्य' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित है, पर इसमें उसके जीवन के उदात्त पक्ष को कम तथा श्रृङ्गारिक रूप को अधिक लिया गया है। किव का मूल लक्ष्य चन्द्रगुप्त और झुवदेवी के प्रणय का ग्रंकन करना ही दिखाई पड़ता है। यह भी विचित्र बात है कि किव ने अपने दोनों ही काव्यों में ऐसी नायिकाओं को लिया है, जिनका पहला विवाह ग्रन्थत्र हो जाता है तथा उनके प्रेमी उन्हें प्राप्त करने के लिए उनके पितयों का वध करते हैं। लगता है, भक्तजी का उद्देश्य विवाह की मर्यादाओं की ग्रंपेक्षा प्रेम का ग्रधिक महत्त्व स्थापित करना रहा है या दूसरे शब्दों में वे प्रेम को ही विवाह का वास्तविक ग्राधार सिद्ध करना चाहते हैं, जो किसी सीमा तक ठीक भी है।

अनूप शर्मा ने विभिन्न धर्म-प्रवर्तकों को लेकर दो महाकाव्य—'सिद्धार्थ' (१६३७ ई०), एवं 'वर्द्धमान' (१६५१ ई०) प्रस्तुत किए हैं। 'सिद्धार्थ' की कथा-वस्तु अश्वघोष के 'वृद्ध-चरित' एवं मैथ्यू श्रानंत्ड के 'लाइट श्राफ एशिया' से प्रभावित है तथा श्रठारह सर्गों में विभक्त है। गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा को भी इसमें पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। बुद्ध को श्रवतार व्युर्धिक हैं हैं में चित्रत करते हुए उनके चरित्र

को बहुत ऊँचा उठाया गया है। ग्रन्य पात्रों के भी चरित्र-चित्रण पर यथेष्ट ध्यान दिया गया है। प्रकृति-वर्णन तथा विभिन्न भावों की व्यंजना में कवि को ग्रच्छी सफलता मिली है।

'बद्धंमान' में जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर का चरित्र सत्रह सर्गों में प्रस्तुत किया गया है। इसमें महावीर के जन्म से लेकर ज्ञान-प्राप्ति तक के पूरे जीवन को ग्रंकित किया गया है। इसकी शैली पर हरिग्रीध के 'प्रियप्रवास' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उसी के अनुरूप इसमें संस्कृत के वर्णिक छन्दों का जैसे वंशस्थ, मालिनी, द्रुत-विलम्बित ग्रादि का प्रयोग किया गया है। यद्यपि काव्य में मूलतः शान्त-रस का प्रति-पादन किया गया है; किन्तु प्रसंगानुसार ग्रन्य रसों के भी समावेश का यत्न किया गया है।

श्यामनारायण पाण्डेय का राजपूतकालीन इतिहास से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रवन्ध-काव्य 'हल्दीघाटी' (१६४६ ई०) उल्लेखनीय है। इसमें हिन्दू-गौरव महाराणा प्रताप के चरित्र को सत्रह सर्गों में ग्रंकित किया गया है। इसके नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें केवल हल्दीघाटी के युद्ध की घटना का ही वर्णन किया गया होगा, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इस दृष्टि से यह नाम दोषपूर्ण है। महाराणा के शौर्य, त्याग एवं ग्रात्म-त्रलिदान की व्यंजना में किन को पूरी सफलता मिली है। पाण्डेय जी की शैली में ग्रोज ग्रीर प्रवाह का गुण ग्रंपेक्षित मात्रा में मिलता है; यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सावन का हरित् प्रभात रहा, श्रम्बर पर थी घनघोर घटा।
फैलाकर पंख थिरकते थे, मन हरती थी वन-मोर-छटा।।
पड़ रही फुही, भींसी भिन-भिन पर्वत की हरी वनाली पर।
''पी कहां !'' पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर।।
वारिद के उर में दमक-दमक, तड़-तड़ विजली थी तड़क रही।
रह-रहकर जल था वरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही।।

मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने 'पृथ्वीराज रासो' के असिद्ध कथानक के ग्राधार पर 'ग्रायांवर्स' (१६४३) नामक प्रवन्ध-काव्य प्रस्तुत किया है। जैसा कि इसकी भूमिका में कहा गया है किव ने इसे महाकाव्य बनाने का प्रयास करते हुए संस्कृत के तत्स-म्बन्धी विभिन्न लक्षणों का समावेश किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वियोगी जी ने पृथ्वीराज ग्रीर चन्दवरदाई के जीवन-चरित्र को पूरी सहृदयता से प्रस्तुत किया है। वैसे ग्रालोचकों ने इसकी ग्रनेक न्यूनताग्रों का उद्घाटन करते हुए इसके महाकाव्यत्व को ग्रस्वीकार किया है—हमारे विचार से महाकाव्य न सही, एक प्रवन्ध-काव्य के रूप में यह सफल रचना है।

इस युग में क्रूर, दुष्ट एवं नीच समक्ते जानेवाले पात्रों को भी ऊँचा उठाने का प्रयास भ्रनेक प्रवन्ध-काव्य-रचयिताभ्रों ने किया है। इनमें हरदयालिंसह का नाम विशेष- रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने 'दैत्यवंश' (१६४० ई०) भ्रौर 'रावण' (१६५२ ई०) नामक दो प्रवन्ध-किथी प्रसिक्ष हैं। के किया है कि प्रवन्ध किया है । इसमें 'हिरण्य-

किशिपु', 'बिल', 'बाणासुर' ग्रादि दैत्यों के चरित्र को पौराणिक ग्राधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसका मुख्य रस तो वीर है किन्तु ग्रन्य रसों को भी प्रसंगानुसार स्थान दिया गया है। काव्य में एक स्थान पर ग्रनेक नायक होने के कारण इसमें ग्रपेक्षित एकोन्मुखता एवं ग्रनिवार्यता नहीं ग्रा पाई। इसकी शैली में पर्याप्त प्रवाह ग्रौर ग्रोज मिलता है।

'रावण' में लंकापित दशानन के चिरत्र को पूर्ण सहानुभूति के साथ ग्रंकित करने का प्रयास किया गया है। यह काव्य सत्रह सर्गों में विभक्त है तथा इसकी कथा-वस्तु मूलतः वाल्मीिक रामायण पर ग्राधारित है। किन्तु वीच-बीच में किव ने ग्रपनी मौलिक सर्जन-शक्ति से भी ग्रपेक्षित कार्य लिया है। रावण के चिरत्र को ऊँचा उठाते हुए उसे एक ग्रत्यन्त पराक्रमी, उत्साहो, त्यागी, शूरवीर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रावण के ग्रतिरिक्त ग्रन्य राक्षसों को भी उच्च रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रकृति-वर्णन, नारी-सौन्दर्य-चित्रण तथा विभिन्न भावनाग्रों की व्यंजना में किव को पर्यास सफलता मिली है।

इस युग के अनेक कियों का घ्यान राष्ट्रिपिता महात्मा गांधी के जीवन-चरित्र की ओर भी आकृष्ट हुआ है। सन् १९४६ ई० से लेकर अब तब अनेक कियों ने गांधी के चिरत पर विशालकाय प्रवन्ध-काव्य लिखे हैं, जिनमें से तीन यहाँ विवेच्य हैं—(१) 'महामानव' (१९४६ ई०), (२) 'जननायक' (१९४९ ई०) और (३) 'जगदालोक,' (१९५२ ई०)। 'महामानव' की रचना ठाकुरप्रसाद सिंह द्वारा हुई है। यह पन्द्रह सर्गों में विभक्त है। स्वयं किव ने इसे महाकाव्य न कहकर 'जनजागरण की महागाथा' कहा है। गांधी जी के चरित्र की विभिन्न विशेषताओं के उद्घाटन का प्रयास किव ने किया है, किन्तु यथोचित घटनाओं के अभाव में वह भली-भाँति सफल नहीं हो सका। प्रवन्धत्व की दृष्टि से भी इसमें शिथिलता है। दूसरा काव्य 'जननायक' रघुवीरशारण मित्र द्वारा विरचित है। यह विशालकाय काव्य लगभग छः सौ पृष्ठों में पूरा हुआ है तथा इकतीस सर्गों में विभक्त है। इसकी अधिकांश घटनाएँ महात्मा गांधी की 'आत्मक्या' पर आधारित हैं। गांधी के चरित एवं चरित्र को अत्यन्त श्रद्धा के साथ प्रस्तुत किया गया है। इनकी शैली अत्यन्त सरल और प्रवाहपूर्ण है। उदाहरण के लिए कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं:—

धन्य ! सुदामापुरी जहाँ पर मनमोहन ने जन्म ले लिया । माता-पिता घन्य ! वे जिनको प्रभु ने विच्य प्रकाश दे दिया है । जिसमें चित्र लिखे मोहन के उस मिट्टो का प्यार घन्य है ! जिसमें जन्म लिया मोहन ने वह गांधी-परिवार घन्य है ! !

महात्मा गांधी के चरित्र पर श्राधारित तीसरा प्रबन्ध-काव्य 'जगदालोक' है जिसकी रचना ठाकुर गोपालशरण सिंह ने १६५२ ई० में की है। इसमें गांधी जी के जन्म, शिक्षा, इंगलैण्ड यात्रा श्रादि से लेकर उनके विलदान तक की प्रायः सभी प्रमुख घटनाश्रों को वीस सर्गों ने विणत किया गया है। इसके कितपय प्रसंग श्रत्यन्त सरस एवं सजीव हैं। महात्मा गांधी की चारित्रिक महत्ता को उभारने का किव ने विशेष प्रयत्न किया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

महाभारत के विभिन्न प्रसंगों एवं पात्रों को लेकर भी भ्रनेक कवियों ने सुन्दर प्रवन्ध-काव्य प्रस्तुत किए हैं, जिनमें वीर कर्ण से सम्वन्धित 'ग्रंगराज' (१६५० ई०) भ्रानन्दकुभार द्वारा विरचित है, जिसमें कर्ण के चरित्र को उज्ज्वल रूप में उपस्थित किया गया है। पूरा काव्य २५ सर्गों में विभक्त है। कर्ण के साथ-साथ महाभारत के ग्रन्य पात्रों-युधिष्ठिर, ग्रर्जुन, भोम, द्रौपदी ग्रादि के चरित्र पर भी मौलिक रूप में प्रकाश डाला गया है। कर्ण के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए पांडव-पक्ष के पात्रों को नीचे गिराना श्रावश्यक समभा गया है, जो ठीक नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमुख रस वीर है किन्तु साथ ही विभिन्न स्थलों पर प्रृङ्गार, करुण, शान्त की भी व्यंजना को गई है। भाव-व्यंजना एवं शैली की दृष्टि से रचना प्रौढ़ है तथा तात्त्विक दृष्टि से इसे महाकाव्य के रूप में मान्यता दी गई है।

एकलव्य (१६५८) डा॰ रामकुमार वर्मा द्वारा रिचत प्रवन्ध-काव्य है जिसमें एकलव्य की गुरुभक्ति की व्यंजना चौदह सर्गों में की गई है। नायक के चरित्र-चित्रण में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है, तथा इसकी अभिव्यंजना शैली भी पर्याप्त प्रौढ़ एवं सशक्त है; ग्रस्तु, यह एक सफल प्रयास है। इसी प्रकार १६६० में प्रकाशित नरेन्द्र शर्मी का 'द्रौपदी' काव्य भी प्रबन्ध के क्षेत्र में नया प्रयोग है। इसके विभिन्न पात्र विभिन्न तत्त्वों के प्रतीक हैं; यथा-युधिष्ठिर ग्राकाश-तत्त्व के, भीम प्राण-तत्त्व के, ग्रर्जुन ग्रग्न-तत्त्व के, नकुल जल-तत्त्व के और सहदेव भूमि-तत्त्व के। इस प्रतीकात्मकता के कारण काव्य में बौद्धिकता का संचार भ्रनपेक्षित रूप में हो गया है, फिर भी द्रौपदी के कुछ चित्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत हुए हैं। कवि का लक्ष्य सम्भवतः नारी के त्याग, विलदान एवं शक्ति की महत्ता का वोध कराना रहा है। इसकी प्रवन्धात्मकता एवं भाव-व्यंजना के सम्बन्ध में डा॰ सावित्री सिन्हा के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'जिस प्रकार घटनाएँ क्षिप्र गित से श्राती हैं श्रीर चली जाती हैं, उसी प्रकार विभिन्न भावनाश्रों के पूर्ण परिपाक की भलक मिलती है और समाप्त हो जाती है। स्राह्लाद और विषाद की भ्रनेक मनःस्थितियों का चित्रण इसमें सजीवता के साथ हुम्रा है।

हिन्दी के कुछ कवियों ग्रीर साहित्यकारों पर भी ग्रनेक प्रवन्ध-काव्य प्रस्तुत हुए हैं, जिनमें 'तुलसीदास' (निराला: १६३६ ई०), 'देवार्चन' (करील: १६५२ ई०), मीराँ (परमेश्वर द्विरेफ : १९५७ ई०) ग्रौर 'युगस्रष्टा प्रेमचंद' (द्विरेफ : १९५९ ई०) जल्लेखनीय हैं। 'तुलसीदास' एक सौ छन्दों में रचित है तथा इसमें तुलसी की विभिन्न मानसिक परिस्थितियों एवं भाव-चेतना के विकास-क्रम को श्रत्यन्त प्रौढ़ एवं सशक्त शैली में दिग्दर्शित किया गया है। तुलसीदास के ही जीवन-चरित को अधिक विस्तार से 'देवार्चन' में किव करील के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह काव्य सत्रह सर्गों में विभक्त है तथा नायक के जीवन की विभिन्न घटनाग्रों को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। इसके कुछ प्रसंग ग्रत्यन्त भावपूर्ण एवं मार्मिक हैं। परमेश्वर 'द्विरेफ' के दोनों प्रवन्ध-काव्यों में क्रमशः मीराँ ग्रीर प्रेमचंद के वेदना एवं व्यथापूर्ण जीवन को ग्रंकित करने का सफल प्रयास किया गया है। मीराँ का चरित्रांकन ग्रत्यन्त कुशलता से किया गया है तथा विभिन्न भावों की कियोजना के भी वस्तिवसे पूर्ण स्त्रहृदयसा अवडप्ररिचय दिया है। 'युगस्रष्टा प्रेमचंद' भी उच्चकोटि का काव्य है, जिसमें नायक के व्यक्तित्व, चरित्र एवं जीवन-दर्शन को व्यक्त करने का सुन्दर प्रयास किया गया है।

१८५७ ई० की प्रसिद्ध राष्ट्रीय क्रान्ति पर भी अनेक प्रबन्ध-काव्य उपलब्ध हैं, जैसे—'क्राँसी की रानी' (श्यामनारायण प्रसाद : १९५५), 'तात्या टोपे' (लक्ष्मीनारायण कुशवाहा : १९५७), क्राँसी की रानी' (आनन्द मिश्र : १९५९)। श्यामनारायण प्रसाद की कृति में महारानी लक्ष्मीवाई के शौर्य, साहस, त्याग एवं आत्मवलिदान की व्यंजना २३ सर्गों में सफलतापूर्वक की गई है। किव की शैली में ओजस्विता एवं प्रवाहपूर्णता के गुण विद्यमान हैं। यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

लग गई हृदय में रिपु-गोली, सो गए भूमि के आँचल पर। लिख दी मास्त ने वीर-कथा, तस्तर के कम्पित दल-दल पर।। यह मुनकर रानी उछल पड़ी, सिंहनी सदृश वह तड़प उठी। श्ररि-हृदय-रक्त की प्यासी श्रसि, लेकर बिजली-सम कड़क उठी।।

इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण कुशवाहा का 'तात्या टोपे' भी वीररस एवं राष्ट्रीय कान्ति के भावों से ग्रोत-प्रोत ग्रत्यन्त सशक्त रचना है। यह ३१ ग्राहुतियों (सर्गों) में विभाजित है। कवि का ग्रादर्श है—

पुण्य चिरत्रों को गाकर के कलम पुण्य हो जाती है। कवि कर्तव्य निभा जाता है, कलम घन्य हो जाती है।।

'तात्या टोपे' में इसी ग्रादर्श की उपलिब्ध हुई है। किव के कृतित्व की सफलता घोषित करने के लिए इसकी कुछ पंक्तियों का दिग्दर्शन पर्याप्त होगा:

जगे देश के सकल सूर में क्रान्ति-शंख का नाद हुआ। देश-वेदिका पर मिटने को जन-जन में उन्माद हुआ। सकल शत्रु विध्वंस करेंगे, सिंह देश के गरज चले, जनिन-सपूत जनिन की खातिर, पूरा करने फरज चले।।

१६५८ ई० में प्रकाशित प्रवन्ध-काव्यों में रामानग्द तिवारों का 'पार्वती', बाल-कृष्ण शर्मा 'नवीन' का 'उर्मिला' एवं गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का 'तारक-वध' उल्लेखनीय है। 'पार्वती' की रचना मुख्यतः कालिदास के 'कुमार-संभव' के श्राधार पर हुई है। पूरा काव्य २७ सर्गों में विभक्त है। परम्परागत कथानक में श्राधुनिक दृष्टि से श्रपेक्षित संशोधन-परिष्कार करते हुए विभिन्न पात्रों को सजीव रूप में प्रस्तुत किया गया है। तिवारों जो की शैली भी प्रौढ़ एवं सुविकसित है। 'नवीन' जो का 'उर्मिला' काव्य सम्भवतः 'साकेत' की सफलता से प्रेरित है। इसमें छः सर्गों में जिमला-लक्ष्मण की कहानी को प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार 'गिरीश' जी का 'तारक-वध' भी पौराणिक कुशान्त्रसु साक्ष्मिति । बिश्वान उन्नीस क्षान्यों में विभक्त है।

कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण, पात्रों के चरित्र-चित्रण, भाव-व्यंजना, विचारों के ग्रौदात्य व शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से इसे एक सफल महाकाव्य माना गया है। कवि ने इसमें कार्तिकेय के द्वारा तारकासुर-वध को दैवी प्रवृत्तियों द्वारा श्रासुरी प्रवृत्तियों के दमन के रूप में प्रस्तुत किया है।

दिनकर जी ने 'उर्वशी' (१६६१) में काम ग्रौर प्रेम की समस्या को वैदिक युगीन कथानक - उर्वशी ग्रौर पुरुरवा की कथा; ऋग्वेद दसवाँ मंडल - के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इनमें सींदर्य, प्रेम ग्रीर विरह की व्यंजना सफल रूप में हुई है। ग्रव तक दिनकर को केवल कठोर भावों एवं क्रान्ति का ही कवि माना जाता था, 'उर्वशी' की रचना ने सिद्ध कर दिया कि वह मधुर भावों एवं कोमल अनुभूतियों में किसी से पीछे नहीं हैं। कदाचित् स्वयं किव ने भी इसी चुनौती को घ्यान में रखकर ही ग्रपनी नई रचना प्रस्तुत की है। जब राजनीति के क्षेत्र में भी क्रान्ति के नेता सत्ता के भोग में लीन हो गए थे, ऐसे वातावरण में 'कुरुक्षेत्र' का कवि उर्वशियों का चित्रण करे तो अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। ग्रस्तु, कवि का प्रेरणा-स्रोत जो चाहे हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि यह रचना कवि के गौण व्यक्तित्व का ही प्रतिनिधित्व करती है; हिन्दी कविता में 'कवि दिनकर' के नाम से जिस साहस, शौर्य एवं क्रांति का वोध होता है, उस कवि के ग्रनुरूप यह कृति नहीं है। फिर भी नारी-व्यक्तित्व की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा, सौन्दर्य के ग्राकर्षक चित्रण, एवं कोमल भावनाग्रों की मधुर व्यंजना की दृष्टि से यह उच्चकोटि का काव्य है। पुरुष के त्याग, संयम एवं चारित्रिक दृढ़ता का ग्राख्यान वे बहुत पहले कर चुके थे; इसमें उसकी दुर्बलता ग्रीर ग्रसहायता का उद्घाटनः हम्रा है :

चाहिए देवत्व पर इस ग्राग को घर दूँ कहाँ पर कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूँ कहाँ पर बुद्धि बहुत करती बलान सागर तट की सिकता का, पर तरङ्ग-चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है।

वस्तुतः 'उर्वशी' को ग्रनेक दृष्टियों से 'कामायनी' के ग्रनंतर इस युग का दूसरा

प्रौढ़ महाकाव्य कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में महाकाव्य-परम्परा ग्रभी तक ग्रविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है, यह दूसरी वात है कि इस परम्परा के सभी काव्य महाकाव्यत्व के उत्कर्ष को प्राप्त नहीं करते। फिर भी इनके द्वारा जीवन, समाज एवं साहित्य में उच्च मानवता के उदात्त आदर्शों की प्रतिष्ठा का सुन्दर प्रयास हुआ है। ग्रतः इनका महत्व ग्रक्षुण्ण है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी के ग्रालोचकों ने इनके प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण ग्रपनाकर इनके साथ वड़ा ग्रन्याय किया है, जिसका प्रतिकार ग्रव हो जाना चाहिए।

: : बत्तीस : :

हिन्दी गीति-काव्यः स्वरूप और विकास

१. स्वरूप—(ग्र) परिभाषा, (ग्रा) लक्षण, (इ) वर्गीकरण।

२. विकास—(ग्र) प्राचीन भारतीय साहित्य में, (ग्रा) प्राचीनतम उदाहरण, (इ) सिद्ध-काव्य, (ई) संस्कृत—भागवतकार, क्षेमेन्द्र, जयदेव, (उ) विद्यापित व मैथिली गीति-परम्परा, (ऊ) सूरदास एवं कृष्ण भक्ति-गीति-परम्परा,

(ए) सन्त-काव्य, (ऐ) ग्राघुनिक गीति-काव्य, (क) भारतेन्दु युग,

(ख) छायावादी युग, (ग) प्रगतिवादी युग, (घ) प्रयोगवादी युग।

३. उपसंहार।

यद्यपि प्राचीन युग से ही हमारे यहाँ लोक-साहित्य के रूप में गीति-काव्य की परम्परा रही है, किन्तु ग्राधुनिक युग में इसे ग्रंग्रेजी के 'लिरिक' (Lyric) के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण किया जाता है। 'लिरिक' की व्युत्पत्ति 'लायर' (Lyre) नामक वाद्य-यन्त्र से हुई। इसके सहारे जिन गीतों का गान होता था, उन्हें 'लिरिक' कहा जाने लगा। हमारे यहाँ 'गीति' शब्द से केवल गाने की क्रिया का बोध होता है, उसके साथ किसी वाद्यविशेष का ग्राश्रय ग्रहण किया जाना ग्रावश्यक नहीं। वस्तुतः 'गीति' शब्द हमारा ग्रपना है, यह 'लिरिक' के ग्रनुकरण पर गढ़ा हुग्रा नहीं है तथा ग्रर्थ की दृष्टि से यह लिरिक से ग्रधिक व्यापकं भी है।

काव्य या किवता का प्रमुख तत्त्व भाव माना जाता है और सबसे अधिक भावात्मक किवता 'गीति' रूप में मानी जा सकती है। फूल में सुगन्ध होती है, किन्तु इत्र तो एकमात्र सुगन्ध ही का संचयन होता है; ठीक इसी प्रकार किवता में भाव होते हैं, पर एकमात्र भावों का संचयन ही गीति-काव्य है। पाश्चात्य विद्वानों में से अनेक जाफाय (Jouffroy), हीगल (Hegal), अर्नेस्ट रिस (Ernest Rhys), जान ड्रिंक वाटर (John Drink Water), गमर (Gummere) और हडसन (Hudson) आदि ने विभिन्न प्रकार से गीति-काव्य की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, किन्तु पूर्ण सफलता उनमें से किसी को नहीं मिली। जाफाय ने अस्पष्ट-सी भाषा में प्रति-पादित किया कि गीति-काव्य और काव्य पर्यायवाची भव्द हैं और उनमें सभी तत्त्वों का अन्तर्भाव होता है, जो निजी, आह्लादजनक एवं सजीव होते हैं। हीगल ने गीति-काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का वित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्घाटन हो, उसमें तो किव की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप-विशेष के प्रतिबिन्च का निदर्णन होता है। उसका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, उसकी आधारों अर्जाको अर्जाको अर्जाको अर्जाको उसकी वेदना की विभिन्न अवस्थाओं, उसकी अर्जाको अर्जाको अर्जाको उसकी वेदना की

चीत्कारों का उद्घाटन करना ही है।" ग्रनेंस्ट रिस के विचारानुसार "गीति-काव्य एक ऐसी संगीतमय ग्रिमव्यक्ति हैं, जिसके शब्दों पर भावों का पूर्ण ग्राधिपत्य होता हैं, किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सर्वत्र उन्मुक्तता रहती है।" इसी प्रकार जान ड्रिक बाटर के कथनानुसार, "गीति-काव्य एक ऐसी ग्रिमव्यंजना है, जो विशुद्ध काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा से व्यक्त होती है तथा जिसमें किसी ग्रन्य प्रेरणा के सहयोग की ग्रिपेक्षा नहीं रहतो।" कॉलरिज ने एक स्थान पर लिखा था, "कविता श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्ठतम क्रम हैं" ड्रिक वाटर ने इस परिभाषा को गीति-काव्य के ग्रनुरूप स्वीकार किया है। प्रो० गमर ग्रीर हडसन महोदय ने ग्रपनी परिभाषाग्रों में गीति-काव्य के स्वरूप को ग्रिपिक स्पष्ट किया है। प्रो० गमर ने लिखा है कि "गीति-काव्य वह ग्रन्तवृत्ति-निरूपिणी किवता है, जो वैयक्तिक ग्रनुभूतियों से पोपित होती है, जिसका संबंध घटनाग्रों से नहीं ग्रिपितु भावनाग्रों से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत ग्रवस्था में निर्मित होती है।" हडसन के विचारानुसार "वैयक्तिकता की छाप गीति-काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है, किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सोमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाग्रों पर ग्राधारित होती है, जिससे प्रत्येक पाठक उसमें ग्रिमव्यक्त भावनाग्रों एवं ग्रनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।"

उपर्युक्त परिभापाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि यहाँ विभिन्न विद्वानों ने अन्धगज-न्याय के अनुसार ही गीति-काव्य रूपी हाथी के किसी एक अंग को ही उसका पूर्ण स्वरूप मान लिया है। किसी ने भावनात्मकता पर अधिक वल दिया है तो किसी ने संगीतात्मकता और वैयक्तिकता को ही गीति-काव्य का प्राण समभ लिया है। हमारे विचार से गीति-काव्य की परिपूर्ण परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—'गीति-काव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्त शैली में रचित रचना होती है, जिसमें किव निजी अनुभूतियों या किसी एक भाव-दशा का प्रकाशन संगीत या लयपूर्ण कोमल शब्दावली में करता है।" ध्यान रहे कुछ विद्वानों ने प्रवन्ध शैली में रचित गीति-काव्यों को भी 'गीति' कहा है, किन्तु हमारे विचार से गीति-काव्य की मूल आत्मा का निर्वाह भी अवश्य रहेगा; और जहाँ इतिवृत्तात्मकता होगी, वहाँ भावात्मकता—जो कि गीति-काव्य की आत्मा है—का एकमात्र आधिपत्य नहीं रह सकता। 'सूर-सागर' को भले ही हम 'प्रवन्ध-काव्य' कहें किन्तु उसके गीतों का आस्वादन मुक्त रूप में ही किया जाता है। वस्तुतः 'सूर-सागर' में प्रवन्धत्व कम है, मुक्तकता अधिक है।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गीति-काव्य के छः तत्त्व निर्घारित किए जा सकते हैं—(१) भावनाओं का चित्रण या भावात्मकता, (२) वैयक्तिकता अर्थात् निजी अनुभूतियों का प्रकाशन, (३) संगीतात्मकता या लय का प्रवाह, (४) शैली की कोमलता मृतियों का प्रकाशन, (३) संगीतात्मकता या लय का प्रवाह, (४) शैली की कोमलता व मधुरता, (५) संक्षिमता और (६) मुक्तक शैली। इनमें से एक-आध तत्त्व के अभाव में भी किसी रचना को गीति-काव्य की संज्ञा दी जा सकती है, किन्तु एक सर्वोत्कृष्ट गीति में इन सभी तत्त्वों का समाहार होना परमावश्यक है।

वर्गीकरण

सामान्यतः हम गीसिक्ताव्यविभिव्याव्यविभिव्यार्विकानियम्बिकाकाकर सकते हैं—(१) लोक-

गीति और (२) साहित्यिक गीति । किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसे विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया है जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—सोनेट (Sonnet), स्रोड (Ode), एलिजी (Elegy), सांग (Song), इपिसिल (Epistle), ईडिल (Edyll) म्रादि हमारे हिन्दी के श्रालोचकों में से भी कुछ ने इनका श्रंधानुकरण करते हुए इस प्रकार का वर्गीकरण किया है। डॉ॰ दुवे ने भेद किए हैं—[१] प्रेम-प्रधान गीत, [२] देश-प्रेम के गीत, [३] भक्ति-प्रधान गीत, [४] विचारात्मक गीत, [४] बुद्धि-प्रधान गीत, [६] प्रकृति के गीत, [७] सामाजिक गीत । इस प्रकार तो मानव-हृदय में जितने भाव हैं, उतने ही गीति-काव्य के भेद किए जा सकते हैं; फिर डॉ॰ दुबे ने प्रेम ग्रौर देश-प्रेम को तो ले लिया; किन्तु वात्सल्य ग्रौर करुण रस को वे कहाँ स्थान देंगी ? क्या सूर के वाल-लीला सम्बन्धी पदों का उन्हें कोई घ्यान नहीं रहा ? खैर, उनकी मौलिकता का एक वहुत वड़ा प्रमाण है, विचारात्मक गीति के ग्रतिरिक्त एक ग्रौर भेद करना—'बुद्धि-प्रधान गीत !' क्या विचारात्मक गीत में वृद्धि और बुद्धि-प्रधान गीति में विचार नहीं होते ! वस्तुतः यह वर्गीकरण पर्याप्त असंगत है।

अव आकारगत वर्गीकरण को लीजिए। डॉ॰ दुबे ने यहाँ मौलिकता को भूलकर अंधानुकरण की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। देखिए—[१] चतुर्दशपदी, [२] सम्बन्ध गीति, [३] शोक-गीति, [४] गीत, [४] संगीत-प्रधान [६] पत्र-गीति । यदि सोचने का थोड़ा-सा कष्ट किया जाय तो यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'शोक-गीति' का सम्बन्ध श्राकार से नहीं, विषय से है; पत्र-गीति ग्रौर सम्बन्ध-गीति का सम्बन्ध भी श्राकार से नहीं शैली से है; श्रौर 'चतुर्दशपदी' है तो चतुष्पदी या द्वादशपदियों को भी स्थान मिलना चाहिए था।

हमारे विचार से गीति-काव्य का यह वर्गीकरण ग्रनावश्यक एवं ग्रनुपयोगी है। मानव-अनुभूतियों के विस्तार की कोई सीमा नहीं—अतः विषय या आकार के आधार पर गीतों का वर्गीकरण करना ग्रनावश्यक है।

उद्भव ग्रौर विकास

असम्य, अशिक्षित एवं अविकसित जातियों में भी किसी न किसी प्रकार के गीतों का प्रचार पाया जाता है; ग्रतः यह कहा जा सकता है कि गीति-काव्य का उद्-भव मानव-सम्यता के प्रारम्भिक युग में ही हो गया होगा । किन्तु ग्रारम्भ में गीति-काव्य लोक-साहित्य के रूप में ही प्रचलित रहा; साहित्य में स्थान उसे बहुत बाद में प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान् जो हर बात को वैदिक साहित्य में ढूँढ़ निकालने के श्रम्यस्त हैं, गीति-काव्य का उद्भव भी ऋग्वेद से सिद्ध करने का ग्रसफल प्रयत्न करते हैं। ऋग्वेद की ऋचाग्रों का सस्वर पाठ होता था, इसमें संदेह नहीं, किन्तु इसी से उन्हें 'गीति-काव्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सामवेद की संगीतात्मक पंक्तियों को गीति-काव्य वताना भी वैसा ही है, जैसा पद्माकर और मितराम के लयपूर्ण किवत्त-सवैयों को गीति वताना ।

भारतीय साहित्य में गीति-काव्य का सर्वप्रथम उदाहरण हमें कालिदास के 'मालविकाग्निमत्रम्' में मिलता है जहाँ Mद्भसक्ती । । जिस्सानिकायाम् स्थिनान-प्रतियोगिता में

एक 'चतुष्पिदका' गाती है—'हे हृदय ! प्रिय का मिलना दुर्लभ है, यतः उसकी याशा छोड़ दे। मेरी वाई याँख फड़क रही है। जिसे पहले देखा था, क्या उसे फिर देख पाऊँगी ? हे नाय ! मुफ पराधीन को तुम ग्रपने प्रेम के वशीभूत समभना।' (द्वितीय ग्रंक, ४)। यद्यपि इसे किव ने 'गीति' का नाम नहीं दिया है, किन्तु इसमें गीति-कान्य की टेक को छोड़कर प्रायः सभी तत्त्व—भावात्मकता, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, भाषा की कोमलता ग्रीर मुक्तक शैली—मिलते हैं। ग्रतः इसे 'गीति-कान्य' का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। यह चतुष्पदी नृत्य के ग्रवसर पर प्राकृत भाषा या तत्कालीन लोकभाषा में गाई गयी है, ग्रतः यह ग्रनुमान किया जा सकता है कि साहित्यिक गीतों की रचना का ग्रारम्भ पहले प्राकृत ग्रथवा लोकभाषा में हुग्रा तथा कान्य-कला के स्थान पर पहले संगीत एवं नृत्य कला के क्षेत्र में गीतों का प्रयोग होता था, ग्रागे चलकर इसे साहित्य में स्थान प्राप्त हुग्रा।

प्रारम्भ में गीति-पद्धित का प्रचलन मुख्यतः जन-साधारण में था, ग्रतः साहित्यकारों द्वारा उसकी उपेक्षा होना स्वामाविक था। भारतीय साहित्य में उसे सर्वप्रथम
महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय ग्रपभं श के सिद्ध किवयों को है। वे स्वयं ग्रशिक्षित थे
तथा उन्होंने काव्य के लिए ग्रशिक्षित वर्ग की भाषा को ही ग्रहण किया, ग्रतः शैली में
भी जन-साधारण की गीति-शैली को स्वीकार कर लेना स्वामाविक था। सिद्ध किवयों की
गीतियाँ 'चर्या-पद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें उन्होंने प्रायः साधिका (या मुद्रा) से
ग्रपना प्रणय-निवेदन किया है—

तिअड्डा चापि जोइनि दे श्रंक वाला । कमल कुलिश घोंटि करहु विआली ।।
जोइनि तई विनु खनिह न जीविम । तो मुह चुम्बि कमल रस पीविम ॥
जोइनि तई विनु खनिह न लाअ । मिण-कुले बिहुग्रा उडिश्राने समाग्र ।
खेपहुँ जाइनि लेप न लाअ । मिण-कुले बिहुग्रा उडिश्राने समाग्र ।
खेपहुँ जाइनि लेप न लाअ । मिण-कुले बिहुग्रा उडिश्राने समाग्र ।
सासु घेरें घालि कौंचा-ताल । चाँद-सूज विण्ण पखा फाल ॥
सासु घेरें घालि कौंचा-ताल । चाँद-सूज विण्ण पखा फाल ॥
सासु घुन्डरी श्रम्हें कुन्दुरे वीरा । नर श्र नारी माभ्रे उभल चीरा ॥
भणह गुन्डरी श्रम्हें कुन्दुरे वीरा । नर श्र नारी साभ्रे उभल चीरा ॥

सिद्धों के इन चर्या-पदों में गीति-काव्य के सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं—इनमें इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर भावानुभूतियों की ग्रिभव्यक्ति है। वैयक्तिकता, संगी-तात्मकता, भाषा की कोमलता, मुक्तक शैली एवं संक्षिप्तता ग्रादि गुण भी इनमें विद्यमान तात्मकता, भाषा की कोमलता, मुक्तक शैली एवं संक्षिप्तता ग्रादि गुण भी इनमें विद्यमान हैं। सिद्ध कियों ने राग-रागिणियों का उल्लेख भी सर्वत्र किया है। ग्रतः इनके गीति होने में कोई सन्देह नहीं है।

सिद्ध किवयों की यह गीति-शैली हिन्दी-काव्य में दो घाराओं में बँटकर पहुँची।
एक ग्रोर तो ग्रपभ्रं श किवयों से प्रभावित होकर संस्कृत के ग्रनेक किवयों—भागवतकार,
क्षेमेन्द्र ग्रीर जयदेव—ने इसे ग्रपनाया ग्रीर विकसित किया—यही परम्परा ग्रागे जयदेव
से मैथिली किवयों—विद्यापित ग्रादि—को प्राप्त हुई तथा उनके द्वारा इसका प्रचार कृष्णभक्त किवयों में हुग्रा। दूसरी ग्रोर सिद्धों की गीति-परम्परा नाथ-पंथी योगियों एवं
महाराष्ट्रीय संतों में होती हुई हिन्दी के संत-किवयों को प्राप्त हुई। इस प्रकार भक्तिकालीन
हिन्दी-साहित्य में गीति-धारा का प्रवाह दो स्रोतों—कृष्ण-भक्त ग्रीर सन्त-काव्य—के
रूप में प्रवाहित हुग्रा, जिनकिन्धिक्ति परिचया ग्राप्तिकाला है।

संस्कृत काव्य में सर्वप्रथम गीति-शैली का प्रयोग, जैसा कि ऊपर कहा गया है, भागवतकार ने अपने ग्रन्थ के दशम स्कन्ध में गोपियों के विरह के प्रसंग में किया है। उन्होंने वियोगानुभूतियों की श्रिभव्यंजना के लिए गोपियों के मुँह से ही तीन-चार गीतियों का गान करवाया है, जो भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता आदि गुणों से युक्त हैं। श्री क्षेमेन्द्र ने भी अपने ग्रंथ (दशावतार चरित्र) में कृष्णावतार प्रसंग में एक गीति का प्रयोग किया है, जो सरसता से ग्रोत-प्रोत है। इस गीति में टेक का भी प्रयोग हुग्रा है—

ललित विंलास कला सुख खेलन लोभन ललना शोभन योवन मानितनव मदने। केशि किशोर महासुर मारण दाच्या गोकुल दूरित विवारण गोवद्वंन घरणे। कस्य नयन युगं रति सज्जे मज्जिस मनसिज तरल तरंगे वर रमणीरमणे।

क्षेमेन्द्र की परम्परा को जयदेव ने 'गीतगोविन्द' में ग्रागे बढ़ाया। उन्होंने ग्रपने काव्य को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से 'हरि-स्मरण' के साथ-साथ 'विलास-कला' का भी समन्वय किया। यद्यपि इस दृष्टिकोण के कारण 'गीतगोविन्द' में भक्तिन्भावना प्रकाश गौण हो गया है; राधा-कृष्ण की स्थूल क्रीड़ाग्रों का इतिवृत्त ही उसमें ग्रधिक ग्रा गया है, किन्तु फिर भी उसमें भावात्मकता का सर्वथा ग्रभाव नहीं है। गीतगीविन्दकार की कदाचित् महाकवि कहलाने की ग्राकांक्षा थी, श्रतः उन्होंने इस एक सौ श्लोकों से भी छोटी रचना को बारह सर्गों में विभाजित किया है जिससे वह 'महाकाव्य' की संज्ञा से अभिभूषित हो सके; किन्तु इसमें कथानक का तन्तु इतना सूक्ष्म, शिथिल एवं ग्रस्पष्ट हैं कि इसे 'प्रबन्ध' कहना 'प्रवन्ध' शब्द का दुरुपयोग है। जयदेव ने इस ग्रंथ की रचना में काव्यशास्त्र की और काम-शास्त्र की रूढ़ियों का भी समन्वय प्रयत्नपूर्वक किया है। राधा-कृष्ण का मिलन सहज-स्वामाविक ढंग से न होकर नायिका-भेद की सीढ़ियों को पार करता हुआ उपस्थित होता है। दोनों के मिलन से पूर्व राधा को क्रमशः अष्ट नायिकाओं— अन्यसम्भोगदुः खिता, मानवती, अभिसारिका, कलहान्तरिता श्रादि के रूप **धारण करने** पड़ते हैं। 'रोदित विलपित वासकसज्जा' जैसे संकेतों द्वारा किव ने इन रूपों का उल्लेख भी स्पष्ट रूप में कर दिया है। ग्रस्तु, 'गीतगोविन्द' में भावों की स्वाभाविकता की अपेक्षा रूढ़ियों का कृत्रिम प्रयोग अधिक है; किन्तु फिर भी अपनी कोमल मधुर शब्दावली एवं संगीतात्मकता के कारण 'गीतगोविन्द' वहुत लोकप्रिय हुग्रा तथा इसने परवर्ती साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया।

जयदेव की गीति-परम्परा को हिन्दी-काव्यक्षेत्र में विकसित करने का श्रेय विद्या-पति को है। उन्होंने 'देसुल् 0 व्यस्तुर्धक्षस्त्रवक्षसाविष्क्राण्यों कियान केरते हुए संस्कृत की काव्य-माधुरी को लोकभाषा—मैथिली या हिन्दी—में प्रवाहित करने का साहस किया; उनके गीति-काव्य का विषय राधा-कृष्ण की शृङ्गारी क्रीड़ाग्रों का वर्णन ही है, किन्तु भावात्मकता की दृष्टि से वे जयदेव से ग्रागे हैं। जयदेव का ध्यान मुख्यतः घटनाग्रों पर रहता है, जविक विद्यापित का भाव-दशाग्रों पर। वे पूरी गीति में किसी एक परिस्थित को लेकर उससे सम्वन्धित भावनाग्रों का चित्रण ग्रनुभूति से पूर्ण इस प्रकार वेष्टित कर देते हैं कि वह विशुद्ध भावावेग का रूप धारण कर लेता है—

सहजिह स्नान सुन्दर रे, भौंह सुरेखिल स्नांखि ! पंकज मधु पिवि मधुकर रे, उड़ए पसारल पाँखि !

यहाँ सौन्दर्य की स्थूल रूप-रेखाग्रों का चित्रण कम है, उससे सम्बन्धित ग्राकां-क्षाग्रों, लालसाग्रों व विभिन्न भावानुभूतियों की ही व्यंजना ग्रधिक है। पंक्ति के ग्रन्त में 'रे' की ग्रावृत्ति से तो द्रवीभूत हृदय की सरलता स्पष्ट रूप में मुखरित हो रही है।

विद्यापित जिस प्रणय-गाथा का वर्णन ग्रपने काव्य में करते हैं, वह उनकी नहीं, उनके नायकराज एवं नागरी राधा की है, किन्तु फिर भी उन्होंने एक ऐसी शैली ग्रपनाई है जिससे उनकी गीतियों में वैयक्तिकता का समावेश हो जाता है; जैसे कि निम्नलिखित पंक्तियों में हुग्रा है—

कतन वेतन मोहि देसि वदना × × कहिंह मो सिख कहिंह ग्रविवास तकर तक X कि मेरा जीवन कि मोरा जीवन पने चतुर मोरा कि × जाइब मोहि हे ग्राज सिख! मानब न गुरुजन डर नाहि॥ चूकब वचन

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि किव नायक-नायिका के लिए 'ग्रन्य-पुरुष' वाची सर्वनामों का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष में उनकी ग्रनुभूतियों को व्यक्त करता है, जिससे इनमें वैयक्तिकता का गुण ग्रा गंया है।

संगीत के स्वरों का भी विद्यापित को पूरा श्रम्यास था। भाषा की कोमलता एवं मधुरता पर तो मानो उनका एकाधिकार था। उनकी पदावली के छोटे-छोटे पदों में भाव, संगीत एवं साम्राक्षा असूद्धा समहान्य हुस्सा है Varanasi.

नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु-तर घिरे-घिरे मुरली बजाव। समय संकेत-निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव।।

वस्तुतः विद्यापित के काव्य में गीति-काव्य की सभी विशेषताग्रों का निर्वाह सफल रूप में हुग्रा है। उनकी पदावली इतनी लोकप्रिय हुई कि उनके प्रदेश में शताधिक कवियों ने उनकी परम्परा को ग्रागे बढ़ाया। मैथिली गीतों की परम्परा पन्द्रहवीं शती से लेकर बीसवीं शती तक ग्रखण्ड रूप में प्रवाहित होती रही है। चन्द्रकला, दशावधान ठाकुर, भीष्मकवि, लोचन, गोविन्ददास, भूपतीन्द्र, बुद्धिलाल, रमापित ग्रादि कवियों ने विद्यापित का ग्रनुकरण करते हुए ग्रनेक सरस पदों की रचना की है।

विद्यापित के पदों का प्रचार केवल मिथिला तक ही सीमित नहीं रहा, वंगाल, विहार, उड़ीसा, ग्रासाम ग्रादि प्रदेशों में उनके गीतों का स्वर गुंजित होने लगा। वैष्णव-भक्ति-ग्रान्दोलन के प्रचारक श्री चैतन्य द्वारा तो उनके पदों की प्रसिद्धि ग्रौर भी दूर-दूर तक फैल गई। श्री चैतन्य के भ्रनेक भ्रनुयायी वृन्दावन में भ्राकर रहने लग गए थे, जिनके द्वारा विद्यापित की पदावली का प्रचार ब्रज-प्रदेश में हुआ तथा श्रागे चलकर -अष्टछाप के कवियों ने इसी परम्परा का विकास ब्रजभाषा में किया । हिन्दी के कुष्ण-भक्ति-काव्य में स्थूल ढाँचा बहुत कुछ मैथिली गीति-परम्परा के श्राघार पर निर्मित है, यह दूसरी वात है कि उसकी मूल भावना में परस्पर सूक्ष्म अन्तर है। विद्यापित के पद राजाओं के रंग-महल में राजा शिवसिंह एवं रानी लक्ष्मीदेवी जैसे रिसक दम्पित के सम्मुख रचे गये थे, जब कि कृष्ण-भक्त किवयों का काव्य वैष्णव-मन्दिरों में राधा-कृष्ण की मूर्ति के समीप बैठकर लिखा गया था, ग्रतः दोनों के स्वर की मूल घ्विन में थोड़ा-बहुत ग्रन्तर होना स्वाभाविक भी है। राघा-कृष्ण के भ्राश्रय में श्रुङ्गारिकता का चित्रण दोनों काव्य-घाराग्रों में हुथा है, किन्तु विद्यापित में रिसकता का उन्मेष ग्रिधिक है, जबिक ग्रष्टछाप के किव ग्रन्ततः ग्रपने भक्ति भाव को स्पष्ट कर देते हैं। राधा-कृष्ण की छेड़-छाड़ का वर्णन करनेवाला कवि सूर भ्रपने प्रत्येक पद के भ्रन्त में 'सूर-श्याम-प्रभु' कहकर श्रोता को यह स्मरण करा देता है कि वह किसी भक्त के उद्गार सून रहा है।

श्रष्टछाप के किवयों में सर्वोच्च स्थान महाकि स्रावास का है। यदि हम कहें कि उनके गीतों में गीति-काव्य की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं तो सम्भवतः उनकी कला के साथ पूरा न्याय नहीं होगा। सभी विशेषताओं के विद्यमान होने की वात तो अनेक किवयों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, किन्तु सूरदास में तो कुछ ऐसी विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है जिसे शब्दों में समक्षाना सरल नहीं। उनके पदों में भावनाओं का एक ऐसा अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है, जिसके आदि-अन्त का कोई पार नहीं; उनके उद्गारों में अनुभूति की ऐसी स्वच्छन्दता विद्यमान है कि उनमें निजी और परकीय का मेद करना संभव नहीं; उनके स्वरों में ऐसी मधुर लहिरयों का गुंजार हो रहा है कि वहाँ संगीत-शास्त्र के नियमों को याद रखना वश की बात नहीं और उसमें भाषा का ऐसा लालित्य व शब्दों का ऐसा माधुर्य घुना हुआ है कि उसके आस्वादन में सम्माही होक्क, अब्दुनाक एवं तिक्तता के स्वाद

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को भूल जायँ तो कोई ग्राश्चर्य नहीं। बालकृष्ण की उक्तियों में जैसी स्वाभाविकता, विरह-विधुरा राधा के शब्दों में जैसा दैन्य, एवं श्याम की दरस की प्यासी गोपियों के उपालम्भों में जैसा व्यंग्य है, वह किसी भी सहृदय के मन को मोहित कर सकता है। सूर के राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों में कुछ पाठकों को 'वैयक्तिकता' के ग्रभाव का ग्राभास होगा, क्योंकि उनमें वर्णित घटनाएँ किव के निजी जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं, किन्तु यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि विद्यापित की भाँति किव सूर ने भी गोप-बालाग्रों की ग्रनुभूतियों को स्वानूभूतियों के रूप में ही प्रकाशित किया है; यथा—

 अवो
 मन निंह हाथ हलारे।

 X
 X

 अवो
 ! हम हैं ग्रित बौरी!

 X
 X

 कबहुँ सुधि करत गोपाल हमारी?

 X
 X

भिवतकालीन हिन्दी साहित्य में गीति-काव्यों का दूसरा स्रोत संत-किवयों द्वारा प्रवाहित हुग्रा। कृष्ण-भक्त किवयों को गीति-काव्य की जो घारा प्राप्त हुई थी, वह जयदेव एवं विद्यापित के द्वारा वहुत कुछ परिष्कृत एवं विकसित हो चुकी थी, किन्तु संत किवयों ने उसके ग्रपरिष्कृत एवं ग्रविकसित रूप को ही ग्रपनाया। ग्रशिक्षा, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण, विचारों की तीव्रता, भावों की ग्रस्पष्टता, शैली की जिटलता एवं भाषा की ग्रशुद्धता की दृष्टि से ग्रपभं श के सिद्ध-साहित्य का पूर्ण प्रतिनिधित्व हिन्दी में संत-काव्य द्वारा ही होता है। उपर्युक्त न्यूनताग्रों एवं दोषों के कारण संत-किवयों की गीति-काव्य-धारा के स्वच्छन्द प्रवाह के बीच-बीच में कुछ ऐसे व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं, जो उनके ग्रास्वादन की गित में वाधक सिद्ध होते हैं। किन्तु फिर भी जहाँ कबीर, दादू, सुन्दरदास ग्रादि उपदेशों के प्रचार, खंडन-मंडन एवं योगमार्ग की चर्चा को भूलकर विशुद्ध ग्रनुभूति की व्यंजना में प्रवृत्त हुए हैं, वहाँ उनके पदों में पर्याप्त भावा-त्मकता, सरसता एवं मधुरता ग्रा गई है। जैसे—

बहुत दिनन यें में प्रीतम पाये ! भाग बड़े घरि बैठे घाये !

मंगलचार माँहि मन राखौं। राम रसांइण रसना चाखौं। मंदिर सांहि भया उजियारा, ले सूती श्रपना पिव प्यारा।।

× × × × × × कहै कबीर मैं कछू न कीन्हा, सखी ! सुहाग राम मोहि दीन्हा ॥

वैयक्तिकता का तत्त्व तो संत-काव्य में स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान था, क्योंकि इन्होंने प्रायः निजी अनुभूतियों को ही व्यक्त किया है। संगीतात्मकता का प्रमाण इनके द्वारा प्रयुक्त विभिन्न राग-रागनियों में मिलता है। भाषा में अवश्य सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता सर्वृत्र तहीं मिलती किन्त कुछ पदों में ये गुण भी विद्यमान हैं। अतः

विद्यापित और सूर के पदों का सा माधुर्य न होते हुए भी संत-कवियों के काव्य का महत्त्व कम नहीं है।

हिन्दी-साहित्य के रीति-काल में गीति-घारा के किसी नए स्रोत का प्रस्फुटन नहीं हुग्रा, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस युग में गीति-काव्य की रचना हुई ही नहीं। हमारे इतिहासकारों ने जिस ढंग से संत एवं कृष्ण-भक्त किवयों का परिचय दिया है, उससे यह भ्रांति फैल गई है कि रीति-काल में केवल किवत्त-सवैया पद्धित में ही काव्य-रचना हुई, जबिक वास्तिवकता यह नहीं है। इसी युग में जबिक राजाग्रों के ग्राश्रय में रीति-बद्ध काव्य की रचना हो रही थी, मैथिली, कृष्ण-भक्त ग्रीर संत किवयों द्वारा गीति-काव्य की घारा ग्राखण्ड रूप से प्रवाहित हो रही थी। सुन्दरदास, मलूकदास, ग्रक्षर-ग्रान्य, घ्रवदास ग्रादि ग्रनेक किव रचना-काल की दृष्टि से रीति-काल के किव हैं। फिर भी इतना ग्रवश्य है कि नवीनता के प्रति ग्रिषक ग्राकर्षण होने की प्रवृत्ति के कारण लोगों की ग्रिषक रुच नवीन किवत्त-सवैया पद्धित में ही थी, ग्रवः गीति-धारा का प्रवाह मंद गित से ही ग्रागे बढ़ रहा था।

भ्राघुनिक युग में गीति-घारा के तीन स्रोत क्रमशः प्रस्फुटित हुए। पहला स्रोत भारतेन्द्र युग में स्वयं भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र द्वारा प्रस्फुटित हुम्रा जिसमें उन्होंने सूर, तुलसी का ग्रनुकरण करते हुए भक्ति-भावना से पूर्ण पदों की रचना की । कविता में भारतेन्द्र की मूल-पद्धति कवित्त-सवैया की थी, ग्रतः इनके पदों में मौलिकता या ताजगी का श्राभास नहीं होता, पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों का ही पिष्ट-पेषण उनमें ग्रधिक है। दूसरा स्रोत छायावादी कवियों द्वारा प्रस्फुटित हुग्रा। इन कवियों ने निजी प्रेमानुभूति को लेकर काव्य-रचना की तथा इनका प्रेरणा-स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय काव्य कम था, पाश्चात्य लिरिक-कविता अधिक थी, उनमें एक नया उत्साह, नई स्फूर्ति दृष्टिगोचर होती है। म्रब तक हिन्दी के गीतिकारों ने प्रायः राघा-कृष्ण के प्रेम की ही व्यंजना अपने काव्य में की थी। निजी प्रेमानुभूतियों के प्रकाशन का प्रयत्न गीति-काव्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी में ही मिलता है। वैसे प्रेम दीवानी मीरा व घनानन्द आदि के द्वारा भी ऐसा हो चुका था; किन्तु एक का प्रेम आध्यात्मिक था, जबिक दूसरे की शैली गीति नहीं थी, ग्रतः छायावादियों को ही इसका श्रेय देना उचित है। छायावादी कवियों का दृष्टिकोण वस्तु-परक रहा, संगीत ग्रौर लय का भी उन्होंने पूरा घ्यान रखा है। निराला तथा महादेवी वर्मा का कृतित्व इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। निराला ने ग्रपने विविध प्रयोगों द्वारा हिन्दी गीति-काव्य को समृद्ध किया तो महादेवी जी ने लोक-गीतों पर ग्राधारित धुनें लेकर उसमें नया संगीत भरा। उनकी शैली में संक्षिप्तता, सूक्ष्मता एवं मधुरता का गुण भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। ग्रतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शास्त्रीय दृष्टि से गीति-काव्य के लिए ग्रावश्यक सभी तत्त्व छायावादी काव्य में उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसे दोष भी समन्वित हैं, जिनके कारण वे हमारे हृदय का उद्देलन उस सीमा तक नहीं कर पाते, जिस सीमा तक हम गीति-काव्य से श्राशा रखते हैं। आवात्मकता उनमें है, किन्तु उसके चारों ग्रोर दार्शनिकता एवं वौद्धिकता की एक

ऐसी चौखट कसी हुई है, जिससे यह स्वच्छन्दतापूर्वक पाठक के हृदय से हिल-मिल नहीं सकती ; वैयक्तिकता भी उनमें है किन्तु वह प्रकृति-वाला की गोदी में इस तरह छिपी हुई है कि उसे पहचान पाना सरल नहीं ; उनकी भाषा मधुर है ; किन्तु उसमें पेड़ों की सनसन, पत्तों का मरमर एवं चिड़ियों की चहचहाहट का मिश्रण इतना ग्रधिक हो गया है कि उसे समभना टेढ़ी खीर है। इसके श्रतिरिक्त छायावादी कवि घरती पर मनुष्यों की तरह चलता-फिरता दिखाई नहीं देता, वह कभी भौरों का रूप धारण कर उड़ता हुआ ग्रपनी सुहाग-भरी जूहियों के पास पहुँचता है ; कभी नक्षत्र-लोक से निमन्त्रण पाकर गगन के उस पार तक चला जाता है, तो कभी ग्रपने ग्रलौकिक प्रियतम के साक्षात्कार के लिए नम की दीपावलियों को वुक्ता देने का दुष्प्रयत्न करता दिखाई पड़ता है। भला, इस अलौ-किक जगत् में पहुँचकर किसी अपरिचित के साथ आँख-मिचौनी खेलनेवाले कवि की लीला को हम क्या समभें ? उसकी गुनगुनाहट मीठी है, बिल्कुल भौंरों जैसी, जिसका अर्थ हम नहीं समभ सकते ; उसका सौन्दर्य तितली जैसा है, जिसे हम छू नहीं सकते ; उसका माधुर्य ग्रमृत जैसा है, जिसे हम पा नहीं सकते । यही कारण है कि छायावादी कवियों के गीति-काव्य की स्वर लहरियाँ जन-मानस की भावनाग्रों को उद्वेलित नहीं कर सकीं। चंचला की चमक ग्रीर विद्युत् की गर्जना की भाँति एकाएक स्फुरित होकर वे विस्तृत नभ के किसी कोने में ही विलीन हो गईं!

ग्राधुनिक युग में गीति-काव्य का तीसरा स्रोत प्रगतिवादी किवयों की कलम से प्रस्फुटित हुग्रा। इनका दृष्टिकोण छायावादियों से सर्वथा विरोधी रहा। छायावादी उच्चता में यदि ग्रासमान को छूने का प्रयत्न करते थे तो ये ठेठ पाताल में ही पहुँच जाना चाहते हैं; धरती के सीधे-सादे जीवन दोनों में ही नहीं हैं। उनके स्वर में नारी की ऐसी मन्द-मन्द कोमलता थी, जो पास में बैठे हुए को भी नहीं सुनाई दे तो इनके स्वर का विस्फोट कोसों दूर व्यक्ति के श्रुत-कर्णों को भी चोट पहुँचाने में समर्थ है। इनकी किवता में भावात्मकता की ग्रपेक्षा बौद्धिकता, वैयक्तिकता की ग्रपेक्षा सामा-जिकता, संगीतात्मकता की ग्रपेक्षा वेसुरापन, भाषा की कोमलता की ग्रपेक्षा कंठोरता ग्रियक है, ग्रतः गीति-काव्य के लक्षणों की पूर्ति इनमें नहीं मिलती। किन्तु जहाँ नवीन, दिनकर, मिलिन्द ग्रादि ने ग्रनुभूति से परिपूर्ण किवताग्रों की रचना की है, उनमें गीति की ग्रात्मा स्वतः ही मुखरित हो उठती है। यथा, दिनकर की इस 'हुँकार' को सुनिए—

स्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं। मां की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं। युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं। मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं। पापी महलों का अन्धकार देता तब मुभको आमंत्रण।

यह खेद का विषय है कि ऐसी भ्रोजपूर्ण भावोत्तेजक गीतियाँ प्रगतिवादी कवियों द्वारा भ्रघिक संख्या में वहीं जिसकी कार्स कि कि कि की की की की कि की कि कि की कि कि की कि की कि की कि की कि की कि की की कि कि की कि की कि की कि की कि कि की कि की कि क

ताक रहे हो गगन ! मृत्यु नीलिमा गहन । ग्रनिमेष ग्रचितवन काल नयन : देखो भू को । जीव प्रसू को ।

-पंत (युगवाणी)

इन पंक्तियों को गीति-काव्य की संज्ञा देने में भी संकोच होता है।

इधर प्रयोगवादियों ने भी ग्रपने प्रयोगों द्वारा गीति-काव्य के कई नवीन स्वरूपों का ग्राविष्कार किया है; जिनमें कहीं वे भावात्मकता के ग्रभाव में जी रहे हैं, तो कहीं वैयक्तिकता के विस्फोट से पाठकों को चौंका रहे हैं। संगीतात्मकता ग्रौर शैली की मधुरता का भी इनमें पूरा प्रकोप है, केवल बात यह है कि उसका ग्रास्वादन करने के लिए हमें नई ग्रांखें ग्रौर नये कान चाहिए, पुराने दिमाग ग्रौर पुराने शरीर के ग्रवयवों से नई किवता को ग्रहण करना सम्भव नहीं। यदि हमारे नये किव दस-बीस वर्ष प्रयत्न करते रहें तो सम्भव है कि उनके शब्दों की तड़ातड़ से हमारी श्रवणेन्द्रियाँ घिसकर इतनी चिकनी हो जाएँगी कि वे भी इस नई किवता के रस को निगलने में समर्थ हो सकें। उनकी इस 'तड़ातड़' का नमूना द्रष्टव्य है—

"तूफान है! दरवाजों की भड़ाभड़ श्रावाज है! घूल है! दम घुटता है? घुटने दो!! हिम्मत बांघो चीखो मत!! चीख के बाद भी दरवाजा बंद न करने दूँगा!!"

'नई कविता' के नए गीतों के श्रोताओं को चाहिए कि वे दम घुटने की परवाह न करके हिम्मत बाँघकर इन गीतों को सुनते रहें।

सौभाग्य से नए गीतों के इस रेगिस्तान के बीच में कभी-कभी बच्चन, नरेन्द्र, नीरज, रामग्रवतार त्यागी, वालस्वरूप राही, भवानी प्रसाद मिश्र ग्रादि की मधुर रचनाग्रों में नखिलस्तान के भी दर्शन हो जाते हैं, जिससे बोध होता है कि हिन्दी मधुर गीति-काव्य-घारा का स्रोत ग्रभी सूखा नहीं है, उसकी गित भले ही मन्द हो गई हो, किन्तु वह धीरे-धीरे ग्रागे ग्रवश्य वढ़ रहा है!

:: तैंतीस ::

हिन्दी मुक्तक काव्यः स्वरूप ग्रौर विकास

- १. मुक्तक की परिभाषा।
- २. मुक्तक का स्वरूप।
- ३. म्बतक के भेदोपभेद ।
- ४. मुक्तक काव्य का सिद्धान्त—(क) प्राचीन भारतीय काव्य में, (ख) प्राचीन हिन्दी काव्य में, (ग) ग्रायुनिक हिन्दी काव्य में।

प्राचीन भारतीय ग्राचार्यों ने प्रवन्ध-कान्य के विपरीत रूप ग्रथांत् ग्रप्रवन्ध-कान्य के लिए मुक्तक शब्द का न्यवहार किया है। ग्रिग्नपुराण ने ऐसे श्लोकों को मुक्तकों की संज्ञा दी है, जो ग्रपने ग्रथंद्योतन में स्वतः समर्थ हों—''मुक्तक श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।'' ग्रागे चलकर घ्वन्यालोक के लोचनकार ग्रिभनवगुप्त ने इसकी विस्तृत न्याख्या करते हुए लिखा है कि ऐसे पद्य को, जिसका ग्रगले-पिछले पद्यों से कोई सम्बन्ध न हो तथा जो ग्रपने विषय को प्रकट करने में ग्रकेला समर्थ हो, मुक्तक कहते हैं। साथ ही स्वतंत्र ग्रीर निरपेक्ष रूप में ग्रथं-द्योतन में समर्थ होते हुए भी वह प्रवन्ध के बीच समा-विष्ट हो सकता है। ग्रीभनवगुप्त ने इसकी एक विशेषता ग्रीर वताई है कि वह उसमें विभाव, ग्रनुभावादि से परिपुष्ट इतना रस भरा होता है कि वह पाठक को रसानुभूति प्रदान कर सकता है। ग्रानन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि प्रवन्ध के ग्रन्तगंत जितने भावों या रसों का परिपाक सम्भव है, उतने ही भावों या रसों की न्यंजना मुक्तक में भी सम्भव है।

 निष्पत्ति हो सकती है तो फिर प्रवन्ध में सभी ग्रवयवों के विकास पर क्यों वल दिया जाता है ?

यह तो स्वयं भ्राचार्य शुक्ल ने ही स्वीकार कर लिया है कि प्रवन्ध में जहाँ हृदय को रस-मग्न करने की क्षमता होती है, वहाँ मुक्तक से रस के छींटे ही पड़ते हैं, जिनसे हृदय-किलका खिल उठती हैं (उसमें मग्न नहीं हो पाती)। इसका तात्पर्य हुग्रा कि रसानुभूति की दृष्टि से मुक्तक-काव्य में प्रवन्ध की भ्रपेक्षा न्यून शक्ति होती है। फिर भी हमारी मूलभूत समस्या—िक मुक्तक से रस-निष्पत्ति (भले ही रस की धारा न होकर छींटे ही सही) किस प्रकार होती हैं—का समाधान नहीं होता।

हमारे विचार से उत्कृष्ट कोटि का मुक्तक-काव्य प्रवन्ध-काव्य से चुनकर अलग किया हुआ कोई ऐसा अंश नहीं होता, जो कि वाटिका से चुनकर तैयार किए हुए गुल-दस्तों के समान हो श्रीर न ही वह प्रबन्ध का एक लघु-संस्करण होता है। प्रवन्ध श्रीर मुक्तक का सम्बन्ध पूरे शरीर ग्रीर उसके एक ग्रंग (हाथ, पैर ग्रादि) का सा नहीं होता, थीर न ही दीर्घकाय मनुष्य भीर लघुकाय शिशु का सा होता है। एक वार डॉ॰ गुलाव राय जी ने उपन्यास भ्रौर कहानी का भ्रन्तर स्पष्ट करते हुए बैल भ्रौर मेढक का उदाहरण दिया था, वही वात प्रबन्ध ग्रौर मुक्तक के सम्बन्ध में कह सकते हैं। वस्तुतः दोनों की स्वतंत्र सत्ता है श्रौर दोनों स्वतंत्र विघाएँ हैं। एक मुक्तककार रस के सारे श्रवयवों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता, जिससे कि वे उन सबका चर्वण करके रस की उपलब्धि कर सकें, अपितु कवि स्वयं अपने मानस में ही उन सबका आलोड़न-विलोड़न कर लेता है और उससे प्राप्त अनुभूति-मात्र को अपने काव्य में प्रस्तुत करता है। कहना चाहिये कि प्रबन्ध में वह सारी स्थूल सामग्री उपस्थित होती है, जिससे रस की निष्पत्ति सम्भव होती है; जबिक मुक्तककार सामग्री प्रस्तुत न करके उसका केवल सार या रस-मात्र प्रस्तुत करता है। प्रबन्धकार, मैदा, चीनी, घृत ग्रादि सब कुछ प्रस्तुत करता है जिससे हलुग्रा तैयार हो सके; जबिक मुक्तककार केवल बना-बनाया हलुग्रा ही उपस्थित कर देता है, भले ही भ्राकार-परिमाण की दृष्टि से वह न्यून ही क्यों न हो।

मुक्तक-काव्य में रस के सभी स्यूल ग्रवयवों का चित्रण नहीं होता, उसमें किसी एक ग्रवयव या भाव-दशा का निरूपण होता है, किन्तु इसमें कुछ ऐसे संकेत होते हैं जिससे शेष ग्रवयवों की कल्पना करने में पाठक स्वयं समर्थ हो सके। उदाहरण के लिए निम्नांकित सबैया द्रष्टव्य है—

पर कारज देह को घारे फिरों, परजन्य ! जथारथ ह्वं दरसों। निधि नीर सुषा के समान करों, सबही विधि सुन्दरता सरसो। 'घन ग्रानन्द' जीवनदायक हों, कबों मेरियों पीर हिए परसों। कबहूँ वा विसासी सुजान के ग्रांगन मो असुवान को ले बरसों।

यहाँ श्रालम्बन श्रीर श्राश्रय का स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं है, उनकी परिस्थितियों व भाव-दशा का भी श्रंकन नहीं है, किन्तु प्रणयी हृदय के व्याकुल उद्गारों द्वारा ही सारी स्थिति की व्यंजना हो जाती है। वस्तुतः यहाँ स्थायीभाव के विभिन्न अवयव न होकर स्वयं स्थायीभाव है किसी मूल होकर श्रवाहित है है।

मुक्तक के भेदोपभेद

संस्कृत के विद्वानों एवं श्राचार्यों ने मुक्तक के कई भेदोपभेद किए हैं। दंडी ने उसके मुख्य तीन भेद किए हैं—मुक्तक, कुलक कोष और संघात। श्रागे चलकर भेदों की संख्या में वृद्धि हो गई। ये भेदोपभेद मुख्यतः श्लोक संख्या व विषय-भेद पर ही ग्राधारित हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा मुक्तक के ये ६ भेद स्वीकृत किए गए हैं—(१) मुक्तक—एक श्लोक में पूर्ण होनेवाली रचना, (२) युग्मक—दो श्लोकों में समाप्त होनेवाली, (३) विशेषक—तीन श्लोकों वाली रचना, (४) कलापक—चार श्लोकों वाली रचना, (४) कुलक—पाँच श्लोकों वाली रचना, (६) कोष—ऐसे श्लोकों का संग्रह जो परस्पर सम्बद्ध न हों, (७) प्रघट्टक—एक ही किव द्वारा रचित श्लोकों का समूह, (८) विकीणक—ग्रनेक किवयों द्वारा रचित श्लोकों का संग्रह, (६) संघात या पर्याय वन्ध—एक किव द्वारा एक विषय पर रचित छन्दों का संग्रह।

उपर्युक्त वर्गीकरण न तो वैज्ञानिक है ग्रीर न ही विशेष उपयोगी। सामान्यतः ग्राजकल मुक्तक के प्रथम भेद मुक्तक (एक श्लोक वाली रचना) को मुक्तक कहा जाता है। शेष भेदों का प्रचलन नहीं है। डॉ॰ शम्भुनाथ सिंह ने हिन्दी में प्रचलित मुक्तकों का

वर्गीकरण बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है जो इस प्रकार है-

(१) संख्याश्रित मुक्तक काव्य जैसे 'हजारा', 'सतसई', 'शतक', 'पचासा',

'वावनी', 'चालीसा', 'पचीसी', 'वाईसी' ग्रादि ।

(२) वर्णमालाश्रित मुक्तक काव्य—जैसे मातृका संज्ञक (दोहा मातृका), कक्क संज्ञक, ककहरा; ग्रखरावट, वारहखड़ी ग्रादि ।

(३) छन्दाश्रित-दोहावली, कवितावली ।

- (४) रागाश्रित—जैसे राम लावनी, रेखता ग्रादि।
- (५) ऋतु-ग्राश्रित—चर्चरी, फागु, होरी, बारहमासा, षड्ऋतु ग्रादि ।

(६) पूजा-धर्म ग्राश्रित-स्तोत्र, स्तुति, स्तवन ग्रादि ।

यदि सूदम दृष्टि से देखा जाय तो यह वर्गीकरण भी विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि पर ग्राधारित नहीं है। इसमें विभिन्न मुक्तक-संग्रहों के नामकरण को ही ग्राधार माना गया है, उसकी विषय-वस्तु या शैली का घ्यान नहीं रक्खा गया। वस्तुतः मुक्तक-काव्य भेदोप-भेद के पचड़े एवं वर्गीकरण की सीमाग्रों से भी मुक्त रहना ग्रधिक पसन्द करता है, ग्रतः उसे बलात् भेदों के कठघरे में जकड़ना उचित नहीं होगा। मुक्तक-काव्य का कोई निश्चित विषय, निश्चित रूप या निश्चित शैली नहीं है, ग्रतः उसके रूप-भेदों की संख्या ग्रगणित है।

उद्भव ग्रौर विकास

यद्यपि सृष्टि के भ्रादि-काव्य के विषय में भ्राज हम कुछ नहीं जानते, किन्तु इतना निश्चित है कि उसकी शैली मुक्तक ही रही होगी। क्योंकि प्रबन्ध-काव्य का विकास तो धीरे-धीरे मानवीय सम्यता की उन्नति एवं मानव-मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ मुक्तक काव्य के भ्रानन्ति ही हुम्मा होगा Maiविश्वा की श्राचीवहका उपलब्ध रचना तरुग्वेद

भी मुक्तक रूप में ही रचित है। ग्रागे चलकर पालि ग्रौर प्राकृत साहित्य में भी मुक्तकों की प्रधानता मिलती है। बौद्ध किवयों द्वारा थेरि गाथाग्रों में तथा जैन किवयों द्वारा ग्रद्धमागधी में उपदेश एवं नीति-प्रधान सुन्दर मुक्तकों की रचना हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—''स्वार्थ-रहित देनेवाला दुर्लभ है, स्वार्थ-रहित जीवन निर्वाह करनेवाला भी दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देनेवाला ग्रौर स्वार्थ-रहित होकर जीनेवाला दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।'' एक ग्रन्य मुक्तक में कहा गया है—''जैसे विड़ाल के रहने के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के बीच में ब्रह्म-चारियों का रहना क्षम्य नहीं।''

प्राकृत के मुक्तक-काव्य का सर्वाधिक वैभव हाल की 'गाथा-सप्तशती' में उपलब्ध होता है। इसमें किव ने अपना उद्देश्य काम की शिक्षा देना घोषित किया है, अतः इसमें शुङ्गार-रस की प्रधानता होना स्वाभाविक है। शुङ्गार के अतिरिक्त इसमें नीति, ज्योतिष, वैद्यक शास्त्र एवं कृषि-विज्ञान आदि की भी चर्ची हुई है। गाथा-सप्तशतीकार का दृष्टिकोण सर्वत्र यथार्थवादी है, अतः इसमें काल्पनिक जगत् के राजा-रानियों को भूलकर खेत-खिलहानों में कार्य करनेवाले जन-साधारण का चित्रण स्वाभाविक रूप में किया गया है। प्रेमी-प्रेमिका के मनोभावों, दूत-दूतिकाओं द्वारा पहुँचाए जानेवाले संदेशों, परिवार और समाज की मर्यादाओं का उल्लंघन करके होनेवाले गुप्त सम्बन्धों आदि का चित्रण इसमें खुलकर हुआ है। इसमें शैली की सरलता, सरसता और स्वाभाविकता का गुण विद्यमान है।

स्वयं हाल के कथनानुसार प्राकृत में श्रृङ्गारी मुक्तकों की संख्या करोड़ों तक पहुँचती थी, जिनमें से कुछ श्रच्छे मुक्तकों का संग्रह उसने 'काव्य-सप्तशती' के रूप में किया। नाट्य-शास्त्र, व्वन्यालोक, श्रृङ्गार-प्रकाश, दश-रूपक, काव्य-प्रकाश ग्रादि ग्रन्थों में भी स्थान-स्थान पर प्राकृत के मुक्तकों को उद्घृत किया गया है, जिससे श्रनुमान किया जाता है कि प्राकृत में मुक्तक-शैली का बहुत प्रयोग एवं प्रचार रहा होगा। सम्भवतः प्राकृत में मुक्तकों की लोकप्रियता से प्रभावित होकर ही संस्कृत के कियों का व्यान भी मुक्तक-रचना की ग्रोर ग्राकित हुग्रा होगा। संस्कृत के कियों में ग्रमरुक ने 'श्रमरुक-श्रतक' की, भर्तृ हिर ने श्रृङ्गार-शतक, नीति-शतक एवं वैराग्य-शतक की ग्रौर गोवर्द्धन ने ग्रार्या-सप्तशती की रचना की। इन ग्रन्थों पर 'गाथा-सप्तशती' का पूरा प्रभाव पाया जाता है। इनके ग्रांतिक्त किव विल्हण की 'चोर-पंचाशिका', कालिदास की 'श्रृङ्गार-तिलक' ग्रांदि भी उलेखनीय हैं। संस्कृत के ग्रन्थ कियों ने देवी-देवताग्रों की स्तुति में भी मुक्तक शैली में शतक, स्तोत्र एवं स्तुति-पाठ लिखे, जैसे चंडी-शतक, दुर्गा-सप्तशती, राम-स्तोत्र ग्रांदि, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से ये महत्त्व-शून्य हैं।

प्राकृत थ्रौर संस्कृत की मुक्तक-परम्परा का विकास ग्रपभ्रंश में हुआ। एक थ्रोर सिद्ध किवयों में से सरहपाद ने 'दोहा-कोष' की रचना की, तो दूसरी थ्रोर जैन किवयों में से योगीन्दु ने 'परमात्म-प्रकाश' व 'योगसार' की, रामिसह ने 'पाहुड दोहा', सुप्रभाचार्य ने 'वैराग्यसार', देवसेन ने 'सावधम्म दोहा', जिनदत्त सुरि ने 'उपदेश-रसायन राज' श्रादि की रचना की। इन मुक्तकों के भूतकों स्वीति हो। स्वीति का प्रतिपादन हुन्ना है, ग्रतः

इनमें शान्त रस की प्रमुखता है। किन्तु अपभ्रंश में श्रृङ्गारिक मुक्तकों का भी अभाव नहीं है। प्राकृत-व्याकरण, छन्दानुशासन, कुमार-प्रतिवोध, प्रवन्ध-चिन्तामणि, प्रवन्ध-कोष, प्राकृत-पैंगलम् ध्रादि में अनेक ज्ञात और ध्रज्ञात कवियों के असंख्य मुक्तकों को उद्धृत किया गया है। इन मुक्तकों में भावों की सरसता, व्यंजना का वैभव, शैली की स्वाभाविकता एवं भाषा की सरलता आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। हिन्दी में सुक्तक काव्य का विकास

पूर्ववर्ती प्राकृत, संस्कृत एवं श्रपभ्रंश के मुक्तक साहित्य को विषय की दृष्टि से इन तीनों वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) वौद्ध एवं जैन किवयों के धर्म एवं वैराग्य-सम्बन्धी मुक्तक। (२) गाथा-सप्तशतीकार ध्रमरुक, गोवर्द्धनाचार्य ध्रादि के श्रुङ्गारी मुक्तक। (३) भर्तृ हिरि व ग्रन्य किवयों के नीति सम्बन्धी मुक्तक। हिन्दी में भी इन तीनों धाराग्रों का विकास दृष्टिगोचर होता है। कवीर, दादू, सुन्दरदास ध्रादि सन्त किवयों ने धर्मोपदेश एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तकों की रचना की तो दूसरी ध्रोर, विहारी, मितराम, देव, पद्माकर ध्रादि ने श्रुङ्गारी मुक्तकों की परम्परा को धागे बढ़ाया। भर्तृ हिरि के 'नीति-शतक' की भाँति गिरिधर, वृन्द, रहीम ध्रादि ने नीति-विषयक मुक्तकों की भी रचना की। हिन्दी के मध्यकालीन श्रुङ्गारिक मुक्तकों को भी मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) रीतिबद्ध मुक्तक ग्रीर (२) रीतिमुक्त मुक्तक। इस प्रकार ध्राधृनिक युग से पूर्व रचित मुक्तक-साहित्य को हम इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते हैं—(१) भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक, (२) रीतिबद्ध मुक्तक-काव्य, (३) स्वच्छन्द प्रेम-मूलक मुक्तक ग्रीर (४) नीति-सम्बन्धी मुक्तक-काव्य। इनके श्रतिरिक्त पाँचवाँ वर्ग वीर-रस के मुक्तकों का भी हिन्दी में मिलता है।

(१) भक्ति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तक—इस वर्ग के मुक्तकों की परम्परा का प्रवर्त्तन संत कबीर द्वारा हुग्रा। उनके पूर्व ग्रपभ्रं श में योगीन्द्र, रामिंह, देवसेन, जिनदत्त सूरि ग्रादि के द्वारा धर्म एवं वैराग्य सम्बन्धी दोहों की रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। कबीर ने भी दोहों से ही मिलती-जुलती शैली को ग्रपनाया, जिसे उन्होंने दोहा न कह-कर 'साखी' के नाम से पुकारा। कबीर ग्रशिक्षित थे, ग्रतः वे छन्दों के नियमों की पूर्ति में समर्थ नहीं थे ग्रीर न ही ग्रपने काव्य को किन्हीं कृतिम नियमों में श्रावद्ध करना चाहते थे, ग्रतः उनकी साखियों में भावों की ग्रिमिव्यक्ति सहज स्वाभाविक रूप में उपलब्ध होना स्वाभाविक है। 'कबीर-ग्रन्थावली' में उनकी साखियाँ ५६ ग्रंगों में विभाजित हैं, जिनसे उनके विषय-क्षेत्र के विस्तार का ग्रनुमान किया जा सकता है। इनमें मुख्यतः गुह-भित्त, ज्ञान, परिचय, चेतावनी, माया, कुसंगति, विरिक्ति, ईश्वर-प्रेम, विरह ग्रादि विषयों का निरूपण हुग्रा। कबीर के मुक्तकों में मार्मिकता की दृष्टि से विरह-सम्बन्धी उक्तियाँ सबसे ग्रिष्ठिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

चोट सताएगी विरह की, सब तन जर-जर होइ। मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी सोइ।। विरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूभै थाइ। एकि संबद्ध कहिलं पीका कि।

इन साखियों में अनुभूतियों की तीव्रता के कारण पर्याप्त सरलता आ गई है। इसके अतिरिक्त कवीर सूक्ष्म विषयों का निरूपण भी स्थूल रूपकों के माघ्यम से करते हैं जिससे वे सहज ही अनुभूतिगम्य हो सकते हैं—

माखी गुड में गडि रहि, पंख रही लपटाय। ताली पीटै सर घुनै, मीठै बोई माय॥ हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केश जलै ज्यों घास। सब जग जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥

यहाँ क्रमशः लोभ एवं संसार की नश्वरता का प्रतिपादन इस ढंग से किया गया कि पाठक के कल्पना-चक्षुग्रों के समक्ष एक सजीव दृश्य उपस्थित हो जाता है। लोभ की बुराइयों या संसार की नश्वरता का वर्णन यहाँ ग्रभिद्यात्मक शैली में न होकर व्यंजना की सहायता से हुग्रा है। शैली की इसी विशेषता के कारण कवीर की उपदेशात्मक उक्तियाँ भी काव्यात्मकता से ग्रोत-प्रोत हो गई हैं।

कबीर का अनुकरण न केवल परवर्ती संत किवयों द्वारा हुआ, अपितु रामभिति शाखा एवं कृष्ण-भिति शाखा के किवयों ने भी थोड़ी-बहुत मात्रा में मुक्तकों की रचना की । आगे चलकर दोहों के स्थान पर किवत्त और सवैयों का भी संतकिवयों द्वारा प्रयोग होने लगा । उदाहरण के लिए सुन्दरदास के किवत्त व सवैयों की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

बोलिये तौ तब जब बोलिबे की सुधि होय,
ना तो मुख मौन गिह चुप होय रिहए।
जोरिए तो तब जब जोरिबै की रीति जानै,
तुक छंद श्ररथ श्रनूप जामें लहिए।।

× × ×

गेह तज्यो श्रव नेह तज्यो पुनि, खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत रहे तन, धूप समै जो पंचागिनि बारी।
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सहे दुःख भारी।
डासन छांडि कै कासन ऊपर, श्रासन मार्यो पर आस न मारी।

तुलसीदास ने अपनी 'किवतावली' में भी किवत्त-सवैयों की रचना अत्यन्त सरल रूप में की है। वस्तुतः परवर्ती युग में हिन्दी किव दोहे की अपेक्षा इन छन्दों को अधिक अपनाने लगे। इसका कारण सम्भवतः एक तो इनका विस्तार है, जिससे किसी भी विषय का अधिक सुगमता से इनमें निरूपण हो सकता है। दूसरे, इनमें नाद का ऐसा माधुर्य, शब्दों का ऐसा प्रवाह और भाषा को ऐसी लचक का आविर्भाव हो जाता है, जो सहज ही श्रोता के मन को आविष्त कर सके। अतः इन्हें लोकप्रियता प्राप्त होना स्वा-भाविक है।

में हुई, किंतु उनमें काव्य-शास्त्र के लक्षणों की पूर्ति का प्रयास नहीं मिलता । वस्तुतः संस्कृत में शास्त्रीय लक्षणों का समन्वय करने का प्रयास सर्वप्रथम एक मुक्तककार में नहीं—एक गीतिकार में मिलता है, जिन्होंने अपने 'गीत-गोविन्द' में नायिका-भेद एवं प्रृङ्गार के विभिन्न शास्त्रीय भेदोपभेदों का समन्वय उल्लेखपूर्वक किया है । हिन्दी में भी रीति का प्रयोग प्रारम्भ में भक्त किवयों द्वारा हुआ—स्रदास की 'साहित्य-लहरी' एवं नन्ददास की 'रसमंजरी' हिन्दी की रीति-परम्परा के प्रारमिक ग्रन्थ हैं । जिस समय भक्त किव इस ग्रोर लगे हुए थे, ग्रक्वर के दरवार में नरहरि, ब्रह्म, रहीम और गंग ग्रादि के द्वारा किवत्त-सवैयों में प्र्युङ्गारिकता पनप रही थी । इन दरवारी किवयों के काव्य में नायिका के रूप-सौन्दर्य, उसकी विभिन्न चेष्टाग्रों, उसके नख-शिख, तथा प्रेमी-प्रेमिकाग्रों की लीला का चित्रण होता था, किन्तु उनमें काव्य-शास्त्र के लक्षणों की पूर्ति का प्रयास नहीं मिलता । यथा वीरवल 'ब्रह्म' का यह छन्द देखिए—

सेर्जीह तें उठि नारि चली, मन-मोहन जू हैंसि चीर गह्यो, प्रगट्यो रिव, कान्ह विहान भयो, मुख मोरि कै यों मृगनैनी कह्यो। बेनी दुहूँ कुच बीच रही उपमा कवि ब्रह्म भने निबह्यो, जनसेजय के मनो जज्ञ समै दुरि तच्छक मेरु की संधि रह्यो।

तो इस प्रकार अकवरी दरवार में शृंगारी मुक्तकों की बहुत सी प्रवृत्तियों का विकास हो चुका था, किन्तु केशवदास पहले रीतिकालीन किव हैं, जिन्होंने अपनी 'रिसक-प्रिया' एवं 'किव-प्रिया' में भक्त-किवयों द्वारा गीतिकाव्य में पोषित 'रीति-प्रवृत्ति' को शृङ्कारिक मुक्तकों से सम्बन्धित किया। आगे चलकर तो रीति और शृङ्कारिकता का मुक्तक-काव्य में ऐसा समन्वय हो गया कि किसी गीतिकार ने रीति का नाम तक नहीं लिया।

श्रकबरी दरवार का प्रभाव तत्कालीन शासक वर्ग के श्रन्य लोगों पर भी पड़ा, जिससे ध्रनेक नरेशों, सामन्तों ग्रीर रईसों के ग्राश्रित किव रीतिबद्ध श्रृङ्गारिक मुक्तकों की रचना में प्रवृत्त हो गए। देव, मितराम, पद्माकर, खाल ग्रादि ध्रनेक किवयों ने रीति के निर्वाह के साथ-साथ श्रनुभूतिपूर्ण सरस मुक्तकों की रचना की है। इनके ग्रितिरक्त हमारे भ्रनेक सतसई-कारों—बिहारी, मितराम, विक्रम ग्रादि—ने दोहों में श्रृङ्गार-रस का प्रतिपादन किया, जिस पर रीति का प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः मध्यकालीन शासक वर्ग की रुचि के प्रभाव से हिन्दी का मुक्तक-काव्य ग्रपनी उन्नित की चरम सीमा तक पहुँच गया।

(३) स्वच्छन्द प्रेम-मूलक मुक्तक-काव्य—मध्यकाल में ऐसे कवियों का भी प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने वैयक्तिक प्रेमानुभूतियों की व्यंजना के लिए मुक्तक-शैली को ग्रहण किया। ऐसे किवयों में घनानन्द, बोधा, आलम, रसखान आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन्होंने रीति-बद्ध श्रुङ्गारी किवयों की भाँति किवत्त-सवैया पद्धित का ही प्रयोग किया, किन्तु शास्त्रीय नियमों या रीति के पचड़े में ये नहीं पड़े। भावात्मकता व अनुभूति की गम्भीरता की दृष्टि से इनका काव्य मध्यकाल के समस्त मुक्तक-काव्य में सर्वोत्कृष्ट है। भाव-पक्ष भी अर्द्धन्ति उप्रकृति विविधिति विविधिति की प्रवहण-शीलता के

कारण इनके मुक्तकों के प्रभाव में गहरी ग्रभिवृद्धि हो गई है। मुक्तक-काव्य में रतानुभूति की क्षमता किस मात्रा में विद्यमान है, यह देखने के लिए घनानन्द, बोघा, ग्रालम ग्रादि की कुछ पंक्तियों का ग्रास्वादन ही पर्याप्त होगा—

श्रित सूघो सनेह को मारग है, जह नेकु सयानप बाँक नहीं। तह साँचे चलें तिज आपनपी, किभक कपटी जो निसाँक नहीं।। 'घन श्रानन्द' प्यारे सुजान सुनो, इत एक ते दूसरो आँक नहीं। तुम कौन सी पाटी पढ़ें हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।

—घनानन्द

(४) नीति-मुक्तक-संबंधी काच्य—जैसा कि पीछे कहा गया है, मध्यकाल के कुछ किवयों ने केवल नीति-सम्बन्धी विषय को लेकर मुक्तकों की रचना की। इनमें वृन्द, गिरिधर, घाघ, वैताल ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इन किवयों ने दोहा, कुण्डलिया, छप्पय ग्रादि छन्दों का प्रयोग किया। यद्यपि विषय की वौद्धिकता के कारण इनके काव्य में भावात्मकता के विकास के लिए स्थान नहीं था, किन्तु फिर भी शैलीगत ग्राकर्षण के कारण इनकी सुक्तियाँ भी पर्याप्त रोचक वन गई हैं; देखिए—

भले बुरे सब एक सम जो लों बोलत नाहि। जानि परत हैं काग पिक ऋतु बसंत के माँहि॥

—वृन्द

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामींह में सोय। छाँह न बाकी बैठिए, जो तरु पतरो होय।। जो तरु पतरो होय एक दिन घोखा देहै। जा दिन बहै बयारि टूट तब जर तें जैहै।। कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए। पाता सब अर्रि जाय तऊ छाया में रहिए।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. —गिरघर कविराय

(५) बीर-रसात्सक सुक्तक-काव्य—प्रायः मध्यकाल को प्रृंगारी-युग कहा जाता है, किन्तु इस युग में वीर-रसात्मक काव्य की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस काव्य को दो उपभेदों में बाँट सकते हैं—(१) राज-स्थानी किवयों द्वारा डिंगल भाषा में रिचत और (२) ग्रन्य किवयों द्वारा बिंगल भाषा में रिचत और (२) ग्रन्य किवयों द्वारा बजभाषा में रिचत। प्रथम वर्ग में पृथ्वीराज, बाँकीदास, दुरसा जी, सूर्य्यमल मिश्र ग्रादि किव ग्राते हैं, जिन्होंने वीरभावों की ग्रिभव्यक्ति ग्रनुभूतिपूर्ण शब्दों में की। उस युग के राष्ट्रनायक महाराणा प्रताप की वीरता, दर्प एवं महिमा को लेकर इन्होंने ग्रनेक ग्रोजपूर्ण मुक्तकों की रचना की। ग्राश्चर्य तो यह है कि पृथ्वीराज और दुरसा जी का ग्रकवरी दरवार से गहरा सम्बन्ध होते हुए भी उन्होंने महाराणा के गौरव-गान में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया, ग्रिपतु महाराणा के ग्रागे ग्रकवर की हीनता, तुच्छता एवं लघुता का प्रतिपादन खुले शब्दों में किया है; कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
ग्रकवर सूतो औक्षके, जाण सिराणें साँप।।
ग्राइरे श्रकबरियाह, तेज तुहालो तुरकड़ा।
नग तग नीसरियाह, राण बिना सहराजवी।।

—पृथ्वीराज

श्रकवर गरव न श्रांण, हींदू सह चाकर हुवा ॥ दीठो कोई दीवाण, करती लटका कटहड़े ॥

—दुरसा जी

कि राजा सूर्य्यमल मिश्र ने ग्रपनी 'वीर सतसई' में मध्यकालीन राजपूती ग्रादर्श की व्यंजना सफलतापूर्वक की है। राजस्थानी किवयों ने मुख्यतः दोहा व उससे मिलते-जुलते छन्दों का प्रयोग किया है।

ब्रजभाषा में वीररस के मुक्तकों की रचना करने वाले वर्ग में सर्वश्रेष्ठ किव भूषण माने जाते हैं, जिन्होंने महाराज छत्रसाल ग्रीर छत्रपति शिवाजी के यश का गान किवत्त-सवैयों में तथा फड़कती हुई भाषा व ग्रोजस्वी शैली में किया है। उनके ग्रितिरक्त पद्माकर, ग्वाल ग्रादि किवयों ने भी ग्रपने ग्राश्रयदाताग्रों की प्रशंसा के लिए कुछ वीर-रस के छन्दों की रचना की थी, जिनमें बहुत-कुछ भूषण का ग्रनुकरण हुग्रा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल का मुक्तक साहित्य विषय-क्षेत्र की दृष्टि से बहुत व्यापक है। भिक्त, वैराग्य, श्रृंगार, नीति श्रौर वीर रस के श्रतिरिक्त इस युग में 'वेनी के भंडौवे' श्रौर 'खटमल-बाइसी' जैसी हास्य-रस की भी मुक्तक-रचनाएँ लिखी गईं। वस्तुतः शैली की दृष्टि से रीति-काल को हम 'मुक्तक-काल' भी कह दें तो श्रनुचित नहीं होगा।

श्राधुनिक काल — ग्राधुनिक-काल का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से होता है। इस युग में मुक्तकों के भाव-क्षेत्र एवं विषय-क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुग्रा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक ग्रोर पूर्ववर्ती कवियों का श्रनुसरण करते हुए भक्ति-भावना श्रीर प्रेम से श्रोत-प्रोत CC-0 Janganwadi Math Collection, Varanasi, मुक्तकों की रचना की तो दूसरी ग्रोर देश-प्रम, समाज-सुधार, हास्य ग्रीर व्यंग्य ग्रादि

विषयों पर छोटे-छोटे मुक्तक लिखे। उनके साहित्य में ग्रनुभूति की विशवता, भावों की स्पष्टता ग्रौर भाषा की स्वाभाविकता व कोमलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। उनका मुक्तक काव्य भी इन गुणों से वंचित नहीं है। उनके युग के ग्रन्य कवियों ने भी भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र का ग्रनुकरण किया।

द्विवेदी-युग प्रबन्धात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के किव एवं लेखक राष्ट्रीय-जागरण के उद्देश्य से विगत युग के महापुरुषों के जीवन का चित्रण करना चाहते थे, जो प्रबन्ध-शैली में ही सम्भव है। फिर भी नाथूराम 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिग्रोध', रामनरेश त्रिपाठी ग्रादि ने मुक्तक रचना की, जिनमें उपदेशा-त्मकता की प्रधानता है। इस युग के किवयों की शैली में इतना अधिक विस्तार मिलता है कि वह मुक्तक रचना के उपयुक्त नहीं लगती, ग्रतः इनके मुक्तकों में अपेक्षित भावा-त्मकता नहीं ग्रा सकी। ग्रागे चलकर छायावादी ग्रीर प्रगतिवादी युग के किवयों ने भी मुक्तकों की ग्रयेक्षा गीति-शैली का अधिक प्रयोग किया, किन्तु फिर भी उन्होंने यत्र-तत्र अच्छे मुक्तकों की रचना की है। इस युग में ऐसी छोटी-छोटी किवताओं की भी रचना हुई, जिसमें छन्दों की संख्या पाँच-सात है तथा जो गय न होकर पाठ्य हैं—इन्हें 'प्रलम्ब मुक्तक' कहा गया है। मुक्तक शैली में रचित 'ग्राँस्' ग्रीर 'मधुशाला' जैसो ग्रत्यन्त लम्बी रचनाएँ भी लिखी गई हैं।

इघर 'प्रयोगवादियों' ने 'नई किवता' में एक ऐसी शैली का प्रयोग किया है, जो मुक्तक और गीति के बीच की कही जा सकती है। ग्राकार-प्रकार की दृष्टि से इनकी रचनाएँ मुक्तक ही हैं; किन्तु उनका सस्वर पाठ होने के कारण वे गीति का रूप धारण कर लेती हैं। इनकी रचनाग्रों में भावात्मकता की ग्रपेक्षा बौद्धिकता, ग्रनुभूति की ग्रपेक्षा विचारों की ग्रधिकता है; ग्रतः इन्हें सूक्तियाँ—ग्रपितु उक्तियों की संज्ञा दी जा सकती है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि विभिन्न युगों में हिन्दी मुक्तक-काव्य की घारा विभिन्न विषयों के घरातल पर प्रवाहित होती हुई निरन्तर श्रागे बढ़ती रही श्रीर सदा बढ़ती रहेगी।

ः चौंतीसः

हिन्दी गद्य का उद्भव और विकास

- १. भूमिका-गद्य-साहित्य का ग्रभाव क्यों ?
- २. ग्राधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य-
 - (१) राजस्थानी गद्य: जैन रचनाएँ राज्याश्रित साहित्य
 - (२) मैथिली गद्य
 - (३) व्रजभाषा गद्य-मौलिक रचनाएँ, टीकाएँ, ग्रनूदित ग्रंथ
 - (४) खड़ीबोली का प्रारम्भिक गद्य
- ३. श्राधुनिक काल में खड़ीबोली गद्य का विकास
- ४. उपसंहार।

ग्राध्निक काल से पूर्व हिन्दी में गद्य-साहित्य इतनी न्यून मात्रा तथा ग्रविकसित दशा में मिलता है कि वह प्रायः नगण्य-सा समभा जाता है। पूर्ववर्ती युगों में हिन्दी गद्य के ग्रविकसित रहने का क्या कारण है, इस प्रश्न पर विचार तो ग्रनेक विद्वानों ने किया है, किन्तू कोई सन्तोषजनक समाधान ग्रभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया । कुछ विद्वान् मानते हैं कि प्रत्येक भाषा के साहित्य का बारम्भ ही पद्य से होता है, अतः हिन्दी में भी ऐसा होना स्वाभाविक है। कुछ विचारकों के मतानुसार संस्कृत में पद्य का ही महत्त्व था तथा परवर्ती भारतीय भाषाग्रों ने भी संस्कृत के इसी ग्रादर्श का पालन किया, ग्रतः हिन्दी में भी गद्य का विकास नहीं हो सका। हमारे विचार से ये दोनों ही घारणाएँ आमक हैं। यह कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है कि प्रत्येक साहित्य का ग्रारम्भ पद्य से ही हो। यदि थोड़ी देर के लिए इसे स्वीकार भी कर लिया जाय, तो इसके अनुसार हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल में भी गृद्य का ग्रभाव रहना चाहिए था, मध्यकाल पर यह लागू नहीं होता । इसी प्रकार यह मानना भी ठीक नहीं है कि संस्कृत में गद्य को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। हमें यह न भूलना चाहिए कि संस्कृत में 'काव्य' संज्ञा का प्रयोग गद्य भीर पद्य दोनों के लिए होता था तथा गद्य को न केवल काव्य का उत्क्रब्ट रूप माना जाता था, ग्रपितु इसी को कवियों की कसौटी भी समभा जाता था। दूसरे, संस्कृत में प्रनेक रूपों-नाटक, कथा, श्राख्यायिका श्रादि-की श्रत्यन्त समृद्ध एवं स्विकसित परम्परा थी। ग्रतः हिन्दी के प्रारम्भिक युगों में गद्य का विकास न होने के पीछे 'संस्कृत के भ्रादशों का पालन' करना नहीं, भ्रपितु उन्हें त्याग देना ही कारण है। वस्तुतः हिन्दी से पूर्व ग्रपभ्रं श में ही संस्कृत की गद्य-परम्परा बहिष्कृत एवं लुप्त हो चुकी थी। जिन काव्य-रूपों-कथा, ग्राख्यायिका, चरित ग्रादि-में संस्कृत के साहित्यकारों ने गद्य का प्रयोग किया था, उन्हीं खें व्यक्तक्रां बाल के का कियां द्वाप्ता वा अस्तक द्वारा है।

यहाँ प्रश्न है कि संस्कृत की गद्य-परम्परा परवर्ती भाषाओं में विकसित क्यों न हो पायी ? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि जब किसी युग-विशेष में जीवन का दृष्टि-कोण बौद्धिकतापरक, यथार्थवादी, वस्तुवादी एवं व्यावहारिक श्रधिक होता है, तो उसमें गद्य को अधिक प्रोत्साहन मिलता है, जबिक इसके विपरीत जीवन में भावुकता, तर्क-शन्यता, भ्राघ्यात्मिकता एवं काल्पनिकता की प्रतिष्ठा होने पर उसमें ग्रभिव्यक्ति पद्य का माध्यम अपनाती है। ईसा की सातवीं-आठवीं शती से लेकर अठारहवीं शती तक के समय को भारतीय इतिहास की दृष्टि से मध्यकालीन युग कहा जाता है, जिसमें धीरे-धीरे वौद्धिकता, तार्किकता, यथार्थवादिता ग्रादि के स्थान पर क्रमशः भावकता, ग्रन्ध-विश्वास, काल्पनिकता की प्रतिष्ठा हो गई। ग्रतः ऐसी स्थिति में साहित्यकारों का भी पद्य की भ्रोर उन्मुख हो जाना स्वाभाविक ही था। भ्रागे चलकर जब पुनः मुद्रण-यंत्र के प्रचलन, शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना, घार्मिक, सामाजिक एवं वौद्धिक ग्रान्दोलनों के उत्थान तथा पत्र-पत्रिकाग्रों के प्रसार के कारण जीवन में ज्यों-ज्यों वौद्धिकता, ज्ञान, तर्क एवं चिन्तन की प्रतिष्ठा हुई, त्यों-त्यों गद्य-साहित्य का भी विकास होता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात् तो हिन्दी में गद्य-साहित्य की इतनी उन्नति हुई कि कुछ इतिहासकार हिन्दी-साहित्य के ग्राघुनिक काल को 'गद्य-काल' तक की संज्ञा देते हैं। ग्रस्तु, हमारे विचार से ग्राघुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य के ग्रभाव का सबसे वड़ा कारण विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के कारण हमारे जीवन में बौद्धिकता के स्थान पर रागात्मकता, दार्शनिकता के स्थान पर भक्ति-भावना एवं यथार्थवादिता के स्थान पर काल्पनिकता की प्रतिष्ठा हो जाना ही है; अन्य कारण गौण हैं।

म्राधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की स्थित

जैसा कि पीछे कहा गया है, श्राघुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य प्रायः श्रविकसित रहा, किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि उसका सर्वथा श्रभाव रहा है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। पूर्ववर्ती युग के हिन्दी गद्य को भाषा की दृष्टि से मुख्यतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) राजस्थानी गद्य (२) मैथिली गद्य (३) ब्रज-भाषा का गद्य श्रौर (४) खड़ीवोली का गद्य। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमणः दिया जाता है।

१. राजस्थानी गद्य—राजस्थानी की प्राचीनतम उपलब्ध गद्य-रचनाएँ तेरहवीं शताब्दी की हैं, जिनमें 'श्राराधना' (१२७३ ई०), 'श्रातचार' (१२५३ ई०), 'बालशिका' (संग्रामसिंह रचित, रचना-काल १२७६ ई०) उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ मुनि जिनविजय द्वारा संपादित 'प्राचीन गुजराती गद्य-संदर्भ' में संगृहीत हैं। इन रचनाग्रों की भाषा उस समय की है, जबिक राजस्थानी और गुजराती श्रमिन्न थीं तथा वे ग्रलग-श्रलग भाषाग्रों के रूप में विकसित नहीं हुई थीं, इसी लिए गुजराती ग्रीर राजस्थानी के विद्वान् इन्हें ग्रपनी-श्रपनी भाषाग्रों के साहित्य में स्थान देते हैं। डा० मोतीलाल मेनारिया, डा० हीरालाल माहेश्वरी ने इन्हें राजस्थानी साहित्य में ही स्थान दिया है। इनकी भाषा की प्राचीनता के कारण इन्हें ग्रपभंग की रचनाएँ मान लेने की भी भान्ति हुई है। इन्हरूर इतिहरूर स्थान दिशाहर दिवेदी के निर्देशन में

लिखित शोध-प्रवन्ध में हरिमोहन श्रीवास्तव ने भी इन्हें हिन्दी-गद्य साहित्य में ही स्थान दिया है। ग्रस्तु, इन रचनाश्रों को हिन्दी-गद्य की प्रारम्भिक ग्रवस्था की सूचक कृतियों के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो ग्रनुचित नहीं होगा। इनका ग्रधिक विवरण ग्रनुपलब्ध है, यहाँ इनकी शैली के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

(क) 'सम्यक्तव प्रतिपत्ति करहु, श्ररिहंतु देवता सुसाधु ग रु जिन प्रणीत धम्म

सम्यक्तव दंडकु ऊचरहु, सागार प्रत्याख्यानु ऊचरहु चऊहु सरणि पइसरहु।

—('ग्राराघना' से)

(ख) 'पुंढ विकाई जीव ग्राउकाई जीव ते उकाइ जीव वाउकाइ जीव वणस्वइकाइ जीव वेइप्रिय त्रेप्रिय प्रिय जलचर थलचर खेचर जिवं जंतुताह भिच्छामि हुवइउं।'

—(वही)

चौदहवीं-पंद्रहवीं शती में रिचत श्रनेक राजस्थानी-गद्य-रचनाएँ श्री ग्रगरचन्द्र नाहटा के पास सुरक्षित हैं, जिनमें से कुछ पर उन्होंने समय-समय पर 'राजस्थान-भारती' (वर्ष ३, श्रंक २-४) में प्रकाशित लेखों के द्वारा प्रकाश डाला है। इनमें से 'तत्व-विचार' एवं 'धनपाल कथा' उल्लेखनीय हैं, जिनका रचना-काल चौदहवीं शती माना गया है। 'तत्त्व-विचार' में जैन-धर्म के सिद्धान्तों का निरूपण हुग्रा है। इसकी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—'एउ संसारु श्रसारु। खणभंगरु, श्रणाइ चु गईउ। श्रणोरु श्रपारु संसारु।... ईम परि परि भमता जीव जाति कुलादि गुण सम्पूर्ण दुर्लभु माणुख उजनमु। सर्वही भव मद्धि महा प्रधानु। मन चितितार्थ संपादकु। कथमिप देव तणइ योगि पावियइ।' इसकी भाषा पर्याप्त विकसित परिलक्षित होती है।

'घनपाल कथा' में 'तिलक-मंजरी' के रचयिता प्रसिद्ध जैन कि घनपाल के जीवन की एक कथा प्रस्तुत की गई है। इसकी भाषा-शैली का नमूना द्रष्टव्य है— 'उज्जयनी नाम नगरी। तिहंठे भोजदेव राजा। तीर्यीहं तणइ पंचह सयह पंडितह मांहि मुख्यु धनपाल नामि पंडितु। तीर्यीहं तणइ थिर ग्रन्यदा कदाचित साधु विहरण निमित्तु पड्ठा। पंडितह णी भार्या त्रीजा दिवसह णी दिघ लेउ उठी।.......वितया भणियउं। केता दिवसह णी दिघ। तिणि ब्राह्मणी भणियउं, त्रीजा दिवसह णी दिघ। महामुनिहि भणियउं त्रीजा दिवसह णी दिघ। विणवियउं, किसइ कारणि ठावा नीसरिया....भगवंतहु! किसइ कारणि दिघ न विहरू ? महामुनिहि भणियउं।'

इसी प्रकार पन्द्रहवीं शती की एक अन्य रचना 'पृथ्वी चन्द्र चरित्र' का भी विवरण श्री अगरचन्द नाहटा ने 'राजस्थान भारती' के माघ्यम से प्रस्तुत किया है। इस रचना का दूसरा नाम 'वाग्विलास' भी है। इसकी रचना माणिक्य चन्द्रसूरि ने १४२१ ई० में की थी। इसकी शैली अलंकारपूर्ण है। देखिए—'जिणिइ वर्षा कालि मधुर घ्विन मेह गाजइ, दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ, जाणे सुभिक्ष भूपति आवतां जय दक्का बाजइ। चिहुँ दिशि बीज अलहलइ, पंथी घर भणी पुलइ। विपरीत आकाश चंद्र सूर्य परियास। राति अंघरी, लवइं तिमिर। उत्तर नऊ उनयण, छायउ गयण।....पाणी तणा प्रवाह २४ СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

खलहलइ, वाड़ी ऊपर वेला वलइ। चीखलि चालतः सकट स्खलइं, लोक तणा मन धर्म ऊपरि वलइं।

राजस्थानी गद्य-साहित्य की एक सुदृढ़ परम्परा ऐतिहासिक एवं काल्पनिक गद्य कथाओं के रूप में मिलती है। इन कथाओं के तीन प्रकार माने जाते हैं—(१) वचिनका (२) ख्यात (३) बात। वचिनका में प्रायः ऐतिहासिक घटनाएँ ली जाती हैं तथा इसकी शैली की एक विशेषता यह है कि इसमें गद्य का प्रयोग तुकान्त रूप में होता है। ख्यात में भी किसी शौर्यपूर्ण घटना का वर्णन होता है, किन्तु इसमें तुकान्त का नियम नहीं होता। बात में प्रायः काल्पनिक रोचक वृत्तांत प्रस्तुत किए जाते हैं। तीनों प्रकार की रचनाएँ राजस्थानी में बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं, जिनमें शिवदास द्वारा रचित 'म्रचलदास खीची री वचिनका' (१४२५ ई०), खिरिया जगा-रचित 'वचिनका राठौर रतनिसह जी री' (१६५६ ई०), नयनिसह-रचित 'मुहणौत नैण सी री ख्यात' (१६६५ ई०) म्रादि विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इनमें ग्रपने ग्राश्रयदाता नरेशों के पराक्रम का वर्णन म्रालंकारिक शैली में हुमा है। इसके म्रतिरिक्त राजस्थानी में वात साहित्य (वार्ती या कहानी) का भी एक विशाल मंडार है, जो ग्रभी तक भ्रप्रकाशित है।

राजस्थानी गद्य की विशेषताएँ—राजस्थान का श्रिधकांश गद्य-साहित्य या तो जैन-मंदिरों के श्राश्रय में रिचत है या राजपूत नरेशों के श्राश्रय में । श्रतः दोनों प्रकार के श्राश्रय में इसे पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ है । धर्माश्रय में रिचत गद्य-साहित्य सर्वत्र ही धर्म से प्रेरित नहीं है, श्रनेक जैन मुनियों ने शिक्षा देने के साथ-साथ कलात्मक मृष्टि के लक्ष्य से भी गद्य-रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, अतः उनमें पर्याप्त साहित्यिकता मिलती है ।

राजस्थानी गद्य-रचनाग्रों की भाषा-शैली के सम्बन्ध में यह वात घ्यान देने की है कि उसमें विभिन्न रचनाग्रों में काल-भेद एवं स्थान-भेद के ग्रनुसार विभिन्न प्रकार की भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं, ग्रतः राजस्थानी गद्य के तेरहवीं शती से लेकर ग्रव तक के विकास-क्रम का ग्रघ्ययन ग्रविच्छिन्न रूप से किया जा सकता है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से भी राजस्थानी गद्य-साहित्य का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है। उसमें धर्म, राजनीति, लोक-वार्ता ग्रादि ग्रनेक विषयों का समावेश हुग्रा है। त्रस्तुतः यह खेद की वात है कि राजस्थानी गद्य की यह विपुल सामग्री ग्रभी तक उपेक्षित पड़ी है।

२. मैथिली गद्य—राजस्थानी की भाँति मैथिली भाषा में भी गद्य-साहित्य की दीर्घ परम्परा उपलब्ध होती है। इसका प्राचीनतम उपलब्ध गद्य-ग्रन्थ ज्योतिरीश्वर कृत 'वर्ण रत्नाकर' है, जिसका रचना-काल १३२४ ईस्वी माना जाता है। यह सात ग्रम्थायों में विभक्त है, जिन्हें क्रमशः 'नगर-वर्णन', 'नायक-वर्णन', 'ग्रास्थान वर्णन,' 'त्रहतु वर्णन', 'प्रयानक वर्णन', 'मट्टादि वर्णन' श्रोर 'कला वर्णन' नाम दिया गया है। यह वस्तुतः भारतीय काव्य-शास्त्र, कला-शास्त्र एवं ज्ञान-विज्ञान का कोष है, जिसमें विभिन्न विषयों का वर्णन काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से किया गया है। इसकी शैली का एक CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

नमूना प्रस्तुत है—'निशाक नाइकाक शंखवलय ग्रइसन ग्राकाश दीक्षित कमंडल ग्रइसन, तारकाक, सार्थवाह ग्रइसन, श्रङ्गार समुद्रक कल्लोल ग्रइसन, कुमुद वनक प्राण ग्रइ-सन, पश्चिमाचलक तिलक ग्रइसन, ग्रन्थकारक मुक्ति क्षेत्र ग्रइसन, कन्दर्प नरेन्द्रक यश ग्रइसन।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि इसमें लेखक ने जहाँ व्याकरण का ढाँचा तत्कालीन लोक-भाषा से लिया है, वहाँ उसने विभिन्न संज्ञाग्नों एवं विशेषणों के रूप में संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाया है। संस्कृत के तत्सम पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति अपभ्रंश से परे हटने के लक्ष्य की सूचक है। ग्रागे चलकर ग्राधुनिक भाषाग्रों में भी अपभ्रंश के तद्भव रूपों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम पद ही ग्रधिक प्रयुक्त हुए हैं, ग्रतः इस दृष्टि से भी 'वर्ण-रत्नाकर' ग्राधुनिक भाषाग्रों के नवोत्थान की प्रवृत्ति का सुचक है।

ग्रागे चलकर प्रसिद्ध गीतिकार विद्यापित ठाकुर (१३६०-१४४८ ई०) ने भ्रपनी दो गद्य रचनाग्रों—'कीर्तिलता' एवं 'कीर्ति पताका'—द्वारा ज्योतिरीश्वर की गद्य-परम्परा को आगे बढ़ाया। 'कीर्तिलता' गद्य-पद्य मिश्रित ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें कवि ने ग्रपने ग्राश्रयदाता कीर्तिसिंह के युद्ध की एक घटना का विवरण ग्राकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। पूरी रचना चार पल्लवों में विभक्त है तथा कथा का ग्रारम्भ गणेश, शिव, सरस्वती की वंदना, दुर्जन-सज्जन चर्चा, ग्रात्म-दैन्य के प्रदर्शन ग्रादि के ग्रनन्तर भृंगी-भृंग के संवाद से होता है। गद्य श्रौर पद्य का प्रयोग साथ-साथ हुग्रा है तथा पद्य-भाग में दोहा, छपद, रड्डा, गीतिका ग्रादि छंद प्रयुक्त हुए हैं।

विद्यापित की दूसरी रचना 'कीर्ति पताका' खंडित एवं ग्रशुद्ध रूप में उपलब्ध है। इसमें महाराजा शिवसिंह की वीरता का ग्राख्यान करते हुए युद्ध की घटना विणत की गई है। इसकी शैली का एक नमूना इस प्रकार है—'राग्रन्हि करे परसे नासंचरे राउतिन्ह करे ग्रस्त्र व्यापारे हुल्तारिह राउला कुलित हरिण यूथ न्याय परकट पपट वानस्ति रनरिह ग्रपाच्छोस ञ्चोपाति साहे पितगाहि...।' वस्तुतः इसकी शैली 'कीर्ति-लता' से वहुत भिन्न तथा दोषपूर्ण प्रतीत होती है, ग्रतः इसके वर्तमान रूप की प्रामा-

णिकता संदिग्ध है।

विद्यापित के ग्रनन्तर मैथिली गद्य की कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं होती । मिथिला, नेपाल एवं ग्रासाम में रचित नाटकों में ग्रवश्य मैथिली गद्य का प्रयोग मिलता है । विशेषतः ग्रासाम के शंकर देव (१४४६-१५५८), माघव देव (१४८६-१५६६), गोपाल देव, रामचरण ठाकुर प्रभृति ने श्रपने नाटकों में संवादों के रूप में प्रायः गद्य का ही प्रयोग किया है। यहाँ एक उद्धरण प्रस्तुत है—'हा ! हा ! हमारा स्वामी परम सुकुमार नवीन वयस । वज्राधिक कठिन महेशक धनु, इहात गुण दिते स्वामी जानी नहि पारय । हा ! हा ! पिता की दारुण कम्म कयिल ।"

इन नाटकों में प्रयुक्त गद्य में भी पूर्वोक्त रचनाम्रों की ही भाँति संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुम्रा है। मैथिली प्रदेश दीर्घकाल तक संस्कृत के भ्राष्ट्रयम का केन्द्र रहा है, संभवतः इसी से मैथिली गद्य में तत्सम शब्दों के प्रयोग की बहुलता है। इसके म्रतिरिक्त ग्रलंकृति एवं विद्वत्ता-प्रदर्शन के निमित्त भी संस्कृत-शब्दा-वली का प्रयोग संभव है। पर इससे गद्य की ग्रिमिन्यंजना-शक्ति एवं कलात्मकता में ग्रिमि-वृद्धि हुई है, अतः मैथिली गद्यकारों की यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है।

- ३. बज-भाषा-गद्य--- त्रज-भाषा के गद्य-साहित्य को मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-(क) मौलिक ग्रन्थ (ख) टीकाश्रों के रूप में लिखित रचनाएँ श्रौर (ग) म्रनूदित ग्रन्थ । इन तीनों वर्गों का परिचय यहाँ क्रमशः दिया जाता है ।
- (क) मौलिक प्रन्थ-इस वर्ग में सबसे परानी रचना गोरखनाथ कृत 'गोरखसार' समभी जाती रही है तथा इसे कुछ विद्वान सं० १४०० के ग्रास-पास की रचित मानते रहे हैं, किन्तू भ्रव यह रचना अप्रामाणिक सिद्ध हो गई है। एक तो गोरखनाथ का जीवन-काल ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा दसवीं शताब्दी या उससे पूर्व सिद्ध किया गया है, जबिक इस ग्रन्थ की भाषा बहुत परवर्ती है तथा दूसरे इसमें गोरखनाथ के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की गई है, ग्रतः इसे गोरखनाथ द्वारा रचित नहीं माना जा सकता। इसका नामकरण भी यह सूचित करता है कि इसमें किसी ग्रन्य व्यक्ति ने गोरखनाथ के विचारों का 'सार' प्रस्तुत किया है। भ्रस्तु, इसके रचयिता एवं रचनाकाल के सम्बन्ध में श्रमी तक निश्चित जानकारी का श्रभाव है। इसकी शैली का नमूना यहाँ प्रस्तुत है— "स्वामी तुम तो सत गुरु श्रम्हे तो सिष सवद एक पुछिवा दया करि मनन करिवा रोस। पराधीन उपरांति बन्धन नांहीं सुग्राघीन उपरांति मुकति नाहीं । चाहि उपरान्ति पाप नांहीं, ग्रचाहि उपरान्ति पुनि नांहीं, सुसबद उपरान्ति पास नाहीं नारायण उपरान्ति ईसर नांहीं।" वस्तुतः विषय-वस्तु भीर भाषा-शैली दोनों की ही दृष्टि से यह रचना सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी या उसके वाद की प्रतीत होती है।

व्रज-भाषा-गद्य के विकास में सर्वाधिक योग देने का श्रेय पुष्टि सम्प्रदाय के भक्त-लेखकों को है, जिन्होंने ग्रपने सम्प्रदाय के विभिन्न व्यक्तियों एवं विषयों को लेकर विपुल गद्य-साहित्य की सृष्टि की । पुष्टि-संप्रदाय के विभिन्न ग्राचार्यों एवं भक्तों द्वारा प्रस्तुत गद्य-साहित्य की एक सूची-मात्र यहाँ प्रस्तुत की जाती है :

(१) गोस्वामी विट्ठलनाथ (१५१५-१५६५ ई०) द्वारा रचित ग्रन्थ—'श्रुङ्गार रस-मंडल', 'यमुनाष्टक', 'नवरत्न सटीक' ग्रादि ।

(२) चतुर्भुजदास द्वारा रचित 'षट्ऋतु की वार्ता'।

- (३) गोकुलनाथ (१५५१-१६४० ई०) द्वारा रचित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'', 'दो सी वावन वैष्णवन की वार्ता', 'श्री गोसाईजी ग्रौर दामोदरदासजी का संवाद' 'श्री गुसाईंजी की वनयात्रा', 'नित्य सेवा प्रकार', 'चौरासी बैठक चरित्र', 'ग्रट्ठाइस बैठक चरित्र', 'घरूँ वार्ता', 'उत्सव भावना', 'रहस्य भावना', 'चरण-चिन्ह भावना', 'भाव-सिन्धु', 'भावना-वचनामृत' श्रादि ।
- (४) गोस्वामी हरिराय जी (१५६०-१६६६ ई०) द्वारा रचित ग्रंथ--- 'श्री श्राचार्य महाप्रभुन की द्वादस निज वार्ता', 'श्री ग्राचार्य महाप्रभुन के सेवक चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'गोसाईं जी के स्वरूप के चिन्तान की श्रीव्राक्ति, श्रीव्राक्ति, श्रीव्राक्ति, श्रीव्राक्ति,

निर्णय', 'सातों स्वरूपों की भावना', 'माव वरसोत्सव', 'द्वादस निकुंज की भावना', 'सात-स्वरूप की भावना', 'छप्पन भोग की भावना' ग्रादि ।

(५) गोविन्दास ब्राह्मण कृत 'वार्ता'।

- (६) व्रजभूषण (१७वीं शती) कृत ग्रंथ—'नित्य-विनोद', 'नीति विनोद', 'श्री महाप्रभुजी तथा गुसाईं जी का चरित्र', 'श्री द्वारिकानाथधीश जी की प्राकट्य वार्ता' ग्रादि ।
- (७) श्री द्वारिकेश जी भावना वाले (१६वों शती)—'श्री नाथ जी श्रादि सात स्वरूपन की भावना', 'धनुमणि भावना', 'उत्सुक भावना', 'भाव भावना', 'भाव संग्रह' ग्रादि ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायियों ने शताधिक गद्य रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनका विस्तृत विवरण देना यहाँ संभव नहीं। फिर भी सामान्य रूप में इनके सम्बन्ध में कुछ बातें यहाँ कही जा सकती हैं। एक तो प्रारम्भिक रचनाओं में से अनेक के मूल लेखक कोई और हैं तथा वे प्रचारित किसी अन्य के नाम पर हैं। यथा, 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' को लिया जा सकता है। ये दोनों गोकुलनाथ जी के द्वारा रचित वताई जाती हैं, किन्तु दोनों की भाषा-शैली में इतना ग्रन्तर है कि उन्हें एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं माना जा सकता। डा॰ धोरेन्द्र वर्मा ने प्रकाट्य तर्कों के ग्राधार पर सिद्ध किया है कि 'दो सौ वैष्णवन की वार्ता' गोकुलनाथ द्वारा रचित नहीं हो सकती । उनके विचार से यह किसी परवर्ती व्यक्ति द्वारा सत्रहवीं शती या उसके बाद की रचित है। ऐसी स्थिति में इनके रचयिता एवं रचना-काल दोनों संदिग्ध हो जाते हैं। किन्तु यह वात गोस्वामी विट्ठलनाथ एवं गोकुलनाथ की ही कुछ रचनाग्रों पर लागू होती है, परवर्ती रचनाग्रों पर नहीं। दूसरे, इन रचनाम्रों में ग्रपने संप्रदाय के म्राचार्यों एवं भक्तों का गुणगान करना, उसके सिद्धान्तों एवं विधि-विधानों पर प्रकाश डालना तथा भक्ति-भावना को पुष्ट करना ही रचयिताओं का लक्ष्य है, ग्रतः इनमें साहित्यिकता या कलात्मकता के दर्शन नहीं होते । तीसरे, इनमें कथावाचकों की-सी शैली, 'जो' 'सो' की ग्रावृत्ति भ्रादि के कारण भाषा का शैथिल्य ग्रा गया हैं। फिर भी इनमें क्रमशः गद्यशैली का विकास ग्रवश्य दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से विभिन्न शताब्दियों की रचनाग्रों का तुलनात्मक ग्रध्ययन किया जा सकता है, यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं-

(ग्र) 'जो गोपी जन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनके प्रेमामृत में बूबि के इनके मंद हास्य ने जीते है। ग्रमृत समूह ता करि निकुंज विषै श्रुङ्गार रस श्रेष्ठ

रचना कीनी सो पूर्ण होत भई।'

—विट्ठलनाथ (१६वीं शती) : 'श्रुङ्गार रस मंडन'

(या) 'वहुर श्री ग्राचार्यजी-महाप्रभुन ने श्री ठाकुरजी के पास भट्ट भाग्यो जो मेरे ग्रागे दामोदरदास की देह न छूटे ग्रौर श्री ग्राचार्य जी महाप्रभु दामोदर दास सो कछू गोपा न रखते ग्रौर श्री ग्राचार्य जी महाप्रभु श्री भागवत ग्रहानस देखत कथा कहते...।'
—गोकुलनाथ (१७वीं शती): 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता'

(इ) 'तुलसीदास श्री गोकुल में ग्राए तब श्री गुसाईं जी तो कहैं सीताजी सहित श्री रामचन्द्र जी के दर्शन होय यह कृपा करो । तब ही रघुनाथ जी को व्याह भयो हतो । सो जानकी जी बहूजी पास ठाढ़ें हते । तब ग्राप ग्राज्ञा दिये जो तुलसीदास को दर्शन दऊ।'

-श्री द्वारिकेश भावना वाले (१६वीं शती)

वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रतिरिक्त ग्रन्य सम्प्रदायों के कुछ भक्तों ने भी कितिपय गद्य या गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें नाभादास (१७वीं शती) का 'ग्रप्टयाम', लिलत किशोरी ग्रीर लिलत मोहिनी की 'श्री स्वामीजी महाराज की वचिनका', यशवन्त- सिंह की 'सिद्धान्त-बोध' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। 'ग्रष्टयाम' में रामचन्द्रजी की दिनचर्या विणत है। इसकी भाषा पर्यास प्रवाहपूर्ण है, जैसे—'तब श्री महाराज कुमार प्रयम विस्व महाराज के चरन छुई प्रनाम करते भए। फिर ऊपर वृद्धि समाज तिनको प्रनाम करत भए।' लिलत किशोरी ग्रीर लिलत मोहिनी (१ दवीं शती) निम्बार्क सम्प्रदाय के ग्रनुयायी थे। इनके ग्रन्थ की शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है।—'वस्तु को दृष्टान्त मलयागिरि को समस्त वने वाको पवन सो चन्दन ह्वं जाय। वाके कछू इच्छा नाहों। वांस ग्रीर ग्ररंड सुगन्ध न होये।' महाराजा यशवन्तिसह ने ग्रपने 'सिद्धान्त-बोध' में ब्रह्म-ज्ञान पर विचार किया है।

वस्तुतः विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों द्वारा प्रस्तुत इस गद्य-साहित्य का महत्त्व या तो तत्कालीन मनः स्थितियों एवं परिस्थितियों के ग्रध्ययन की दृष्टि से है या भाषा के नमूनों की दृष्टि से, विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इनका महत्त्व नगण्य है।

कुछ लेखकों ने काव्य-शास्त्र, छन्द-शास्त्र तथा ग्रन्य शास्त्रीय विषयों पर विचार करने के उद्देश्य से भी ब्रजभाषा में गद्यात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें ये उल्लेखनीय हैं—बनारसीवास (१७वीं शती) की 'बनारसी विलास', सुखदेवांसह मिश्र (१८वीं शती) का 'पंगल' ग्रंथ; बेनी किव (१७३५ ई०) का 'टिकेंतराय प्रकाश', प्रियादास कृत 'सेवक-चरित्र' (१७७६ ई०), लल्लूलाल कृत 'राजनीति' (१७०६ ई०) ग्रीर 'माघो विलास' (१८१७), बख्शी सुमनींसह का 'पंगल-काव्य-भूषण' (१८२२ ई०) ग्रीद । बनारसी दास जैन किव के रूप में भी ख्यात हैं। इन्होंने 'बनारसी-विलास' में अलंकारों का विवेचन किया है। इनका एक गद्य-ग्रंथ ग्रीर उपलब्ध है—'वचिनका की ग्रनुगति'। इसकी शैली विवेचनात्मक एवं गम्भीर है; जैसे—'ग्रनन्त जीव द्रव्य सिपहुँ कम जाननै। एक जीव द्रव्य ग्रनन्त पुद्गल द्रव्य करि संयोजित माननै। ताकौ व्यौरो ग्रन्य-ग्रन्य रूप-जीव-द्रव्य ताकि परनित ग्रन्य-ग्रन्य रूप पुद्गल की परनित ।' वस्तुतः इनका विषय जितना गूढ़ है, शैली उतनी स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार ग्रन्य ग्रन्थों की भी शैली ग्रस्पष्ट ग्रीर शिथिल है।

त्रज भाषा-गद्य के ग्रन्य मौलिक ग्रन्थों में व्यास का 'शकुन-विचार', वैष्णवदास का 'भक्त-माल प्रसंग'_{अट-मीजुद्धा-प्राप्ता जिस्मी} हरका लिका प्रश्नाविका कि महेश का 'हम्मीर रासो' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। ये सभी ग्रठारहवीं शती में रचित हैं तथा इनमें से ग्रनेक गद्य-पद्य मिश्रित हैं। शैली की दृष्टि से भी ये श्रविकसित एवं शिथिल हैं। जैसे, 'शकुन-विचार' की ग़ैली दृष्टव्य है—'सुन भो पृच्छक तोहि शत्रुन को आधीन एक बार होइगो प जो मन चाहि है सो तेरो कार्ज होइगो।'

ग्रस्तु, इन ग्रन्थों का न तो विषय-विवेचन की दृष्टि से महत्त्व है ग्रीर न ही साहित्यिकता एवं शैली की दृष्टि से ही । इनकी श्रपेक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय का वार्ता-साहित्य

ग्रधिक महत्त्वपूर्ण है।

(ख) टीका-साहित्य-विभिन्न साहित्यिक, धार्मिक तथा ग्रन्य प्रकार के ग्रन्थों की टीकाओं के रूप में लिखित गद्य-रचनाएँ ब्रज भाषा में वड़ी भारी संख्या में मिलती हैं। इनमें से प्रमुख रचनाम्रों की यहाँ नामावली मात्र प्रस्तुत की जाती है—(१) 'शिक्षा ग्रंथ' की टीका; टीकाकार-शी गोपेश्वर (१७वीं शताब्दी ई०)। (२) 'हित चौरासी की टीका', प्रेमदास कृत । (३) 'भुवन दीपिका' सटीक; लेखक स्रज्ञात; १६१४ ई०। (४) 'रस-रहस्य' सटीक; कुलपित मिश्र (१७वीं शती)। (५) 'भागवत की टीका'; कृष्णदेव माथुर; १७वीं शती । (६) 'विहारी सतसई' की टीका; राघाकृष्ण चौबे; १७वीं शती । (७) 'भाषामृत'; भगवानदास (१७वीं-१८वीं शती) । (८) 'कवि-प्रिया-तिलक' भौर 'विहारी सतसई' की टीका 'श्रमर-चिन्द्रका'; सूरित मिश्र (१८वीं शती)। (६) 'म्रलंकार रत्नाकर'; दलपतिराय तथा वंशीधर । (१०) 'हित चौरासी' तथा 'भक्तमाल' की टीकाएँ; प्रियादास । (११) 'विहारी सतसई की टीका': रघुनाथ ।

टीकाकारों का लक्ष्य मूल विषय की व्याख्या करना मात्र था, किन्तु इसमें उन्हें प्रायः सफलता नहीं मिली है। ग्रधिकांश टीकाकारों की शैली ग्रस्पष्ट, प्रवाहशून्य एवं

शिथिल है।

(ग) अनूदित-ग्रन्थ---व्रज-भाषा-गद्य में संस्कृत तथा ग्रन्य भाषाग्रों से ग्रनूदित ग्रन्थ भी बहुत वड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। इनमें से प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ भ्रनुवादक एवं भ्रनुवाद-काल के सिहत किया जाता है—(१) 'नासकेतु पुराण'; नन्ददास, १७०० ई०, (२) 'मार्कण्डेय पुराण'; दामोदर दास, १६५८ ई०, (३) 'भाषामृत' (श्रीमद्-भगवद् गीता का ग्रनुवाद); भगवानदास, १७०० ई०, (४) श्रीमद्भगवद् गीता का भ्रनुवाद; ग्रानन्द राय, १७०५ ई०, (५) 'वैताल-पचीसी'; सूरित मिश्र, १७११ ई०, (६) बीस उपनिषद् भाष्यों के म्रनुवाद; ग्रनुवादक ग्रज्ञात; १७२० ई०, (७) 'हितोपदेश'; देवीचन्द; १७४० ई० ई०, (८) 'दर्शनी निर्णय' (वेदान्त सम्बन्धी दर्शन); मनोहरदास निरंजनी; १७५६ ई०, (६) 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धित'; श्रनुवादक श्रज्ञात, १६वीं शती। इनमें अतिरिक्त वैद्यक शास्त्र के तथा अन्य शास्त्रीय प्रन्थों के भी कुछ अनुवाद मिलते हैं, जैसे-- 'माधव-निदान' (चन्दसेन मिश्र; १६१२ ई०), 'ग्रन्थ-संजीवन' (ग्रालम, १७वीं शती), वैद्यक ग्रन्थ की भाषा'। (भ्रंतराम, १७५७ ई०) ग्रादि।

इन अनुवाद-प्रनथों की भाषा-शैली पूर्वोक्त टीकाओं की अपेक्षा अधिक सशक्त एवं प्रवाहपूर्ण हैं; यथा—'ग्रहो विप्रनिद राजा जन्मेजय नासकेतु पुराण ही कृतास्थ है। जैसे कोई प्राणी एकाग्र चित्त दे करि सुरमें पढ़े जो पारगामी होय, जैसे राजा जनमेजय पार होत भयो श्रीर सहस्र गुरु दिये के फल होय ।' '(नासकेतु पुराण' नंददास कृत)

ग्रस्तु, व्रज-भाषा में गद्य-साहित्य की मात्रा की दृष्टि से पर्याप्त है तथा उसका विषय-क्षेत्र भी विविध है, किन्तु साहित्यिकता एवं कलात्मकता की दृष्टि से वह उच्च कोटि का नहीं है। उसकी रचना धार्मिक, दार्शनिक एवं शास्त्रीय ग्रन्थों के विचारों को सममने-समभाने की दृष्टि से ही हुई है; लालित्य की प्रेरणा उसके मूल में प्रायः दृष्टि-गोचर नहों होती।

(४) खड़ीबोली का प्रारम्भिक गद्य-दिक्खनी का गद्य-जैसा कि अन्यत्र खड़ी-बोली-पद्य पर विचार करते समय स्पष्ट किया गया है, खड़ी बोली के साहित्य का उद्भव एवं विकास प्रारम्भ में दक्षिण के श्रनेक मुस्लिम राज्यों के श्राश्रय में हुश्रा । खड़ी-बोली गद्य का भी प्रारम्भिक रूप दक्षिणी-साहित्य में मिलता है। दक्षिण के साहित्यकारों ने अपनी भाषा को 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'दिक्खनी' 'देहलवी', 'जवान हिन्दुस्तान' श्रादि कई नामों से पुकारा है, किन्तु वस्तुतः वह खड़ीबोली का ही प्रारम्भिक रूप है। दक्षिण के गद्य लेखकों में स्वाजा बंदे नवाज गेसूदराज, शाह मीराँजी शम्सुल उश्शाक, शाह बुरहानुद्दीन जानम, ग्रमीनुद्दीन ग्राला, मुल्ला वजही ग्रादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्वाजा बंदे नवाज गेसूदराज (१३४६-१४२३ ई०) का जन्म दिल्ली में हुआ था किन्तु इनका जीवन दक्षिण में दौलताबाद एवं गुलवर्गा में व्यतीत हुआ। इन्होंने लगभग पन्द्रह प्रनथ फारसी-ग्ररवी में तथा तीन प्रनथ दक्षिणी या खड़ीबोली में लिखी। इनके दिक्खनी के ग्रन्थ ये हैं—(१) मीराजुल ग्राशकीन (२) हिदायतनामा ग्रीर (३) रिसाला सेहवारा या वारहमासा । 'मीराजुल-ग्राशकीन' दिक्खिनी की पहली रचना मानी जाती है तथा चौदहवीं शती की रचना होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है। यह १६ पृष्ठों की एक छोटी-सी रचना है, जिसमें सूफी धर्म के उपदेश दिये गए हैं। इसकी भाषा-शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—'कौल नबी ग्रले उल-सलाम, कहे इन्सान के बूक्कने कों (कूं) पाँच तन, हर एक तन कों पाँच दरवाजे हैं हौर पाँच दरवान हैं। पैला तन वाजिबुल वजूद मोकाम उसका शैतानी, नफूश उसका श्रम्मार याने वाजिब के भ्रांक सों (सूँ) गैर न देखना सो, हिरस के कान गैर न सुना सों । इसकी शैली पर फारसी का प्रभाव परिलक्षित होता है। बंदे नवाज की ग्रन्य रचनाएँ भी घर्मोपदेश सम्बन्धी हैं।

दिक्खनी गद्य की अन्य रचनाओं में 'शरहमरगूव उलमलूव' (शाह मीराँजी: १६वीं शती), 'इरशादनामा' (शाह जानम: १४६४-१६८३ ई०) 'रिसाला गुफ्तार शाह अमीन' (अमीनुहीन आला; मृत्यु १६७६), 'सवरस' (मुल्ला वजही: १६०६-१६६० ई०) आदि उल्लेखनीय हैं। इनका विस्तृत परिचय 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में ब्रष्टव्य है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये रचनाएँ चौदहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक की खड़ी बोली के विकास-क्रम को स्पष्ट करती हैं। यद्यपि इन सभी का मूल लक्ष्य सूफी-सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, किन्तु समय के साथ-साथ इनकी भाषा क्रमशः अधिकाधिक शक्ति-संपन्न होती गई है; बन्दे नवाज, मीराँजी, जानम, ग्राला, वजही ग्रादि की भाषा-शैली का तुलनात्मक ग्रष्ट्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है। वजही के अधिकाधक अधिकाधक हम्मा (१६७०),

शाह बुरहानुद्दीन कादरी (१३७३), मुहम्मद शरीफ (१७००) स्रादि लेखकों ने इस परम्परा को श्रागे वढ़ाया, किन्तु ग्रठारहवीं शती में इसका स्थान उर्दू ने ले लिया जिससे इसका विकास दक्षिण में श्रवरुद्ध हो गया।

(ख) उत्तरी भारत कें खड़ीबोली गद्य का विकास—उत्तरी भारत में खड़ी बोली गद्य की परम्परा का सूत्रपात सत्रहवीं-ग्रठारहवीं शती से होता है। उत्तरी भारत की परम्परा के विकास में दक्षिणी परम्परा ने कितना योग दिया है, इसका स्पष्टीकरण ग्रभी तक नहीं हो सका; किन्तु उत्तर एवं दक्षिण दोनों पर ही मुगल शासकों का ग्रधिकार होने के कारण यह स्वीकार किया जा सकता है कि दोनों में राजनीतिक सम्बन्धों के साथ-साथ साहित्यिक सम्पर्क भी रहा होगा तथा इस तरह इनमें साहित्यिक परम्पराग्रों का भी ग्रादान-प्रदान होना सम्भव है।

उत्तरी भारत की खड़ीबोली की प्राचीनतम गद्य-रचना के रूप में भव तक प्रसिद्ध किव गंग की 'चंद छंद बरनन की मिहिमा' (रचनाकाल सत्रहवीं शती) का उल्लेख किया जाता है। इसकी शैली का एक नमूना इस प्रकार है—'इतना सुन के पातसाहिजी श्री ग्रकवर साहिजी ग्राद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया।' इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

ग्रठारहवीं शताब्दी की दो महत्वपूर्ण गद्य-रचनाएँ 'भाषा योगदासिष्ठ' (१७४१ ई०) एवं 'पद्म पुराण' (१७६१ ई०) है। इनमें से पहली रचना के रचयिता पटियाला के राज्याश्रित कथावाचक 'रामप्रसाद निरंजनों' थे तथा दूसरी के मध्यप्रदेश के निवासी पं० दौलतराम थे। दोनों ही पुस्तकें ग्रनूदित है। भाषा-शैली की दृष्टि से 'योग वासिष्ठ' दूसरी की ग्रपेक्षा ग्रधिक प्रौढ़ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के ग्रारम्भ में हिन्दी गद्य के क्षेत्र में एकाएक चार उच्चकोटि के गद्य लेखक ग्रवतित हुए । मंगी सदामुखलाल, इंशा ग्रल्ला खाँ, लल्लूलाल ग्रीर सदल मिश्र । मंगी सदामुखलाल (१७४६-१५२४ ई०) दिल्ली के निवासी थे तथा उर्दू-फारसी के भी विद्वान् एवं साहित्यकार थे । खड़ीबोली में उन्होंने 'विष्णु पुराण' के ग्राघार पर 'मुखसागर' नामक ग्रंथ का निर्माण किया, जो शैली की दृष्टि से प्रौढ़ है । उदाहरणार्थ यहाँ एक नमूना प्रस्तुत है—'इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, ग्रारोपित उपाधि है । जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए ग्रीर जो क्रिया भष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चांडाल होता है । यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं । जो वात सत्य होय उसे कहना चाहिये, कोई बुरा माने कि भला माने ।' ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी भाषाशिल भाषा चारों ग्रोर—पूरबी प्रान्तों में भी—प्रचलित पाई, उसी में रचना की । स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण ग्राभास दिया । यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले ग्रहले जबान थे, पर उन्होंने ग्रपने हिन्दी नाक्ष में अधिक के विद्या विद्या हिल्ली के रहनेवाले ग्रहले जबान थे, पर उन्होंने ग्रपने हिन्दी नाक्ष में अधिक के स्वित्र के स्वत्र के नित्र की नित्र के नित्र के नित्र के नित्र के नित्र की नि

दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा, जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी वरावर रहता था।

इंशा अल्लाखाँ (मृत्यु १८१८ ई०) उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे, किन्तु इन्होंने अपनी 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' (लगभग १८०३ ई०) की रचना में विशुद्ध 'हिन्दवी' के प्रयोग का प्रयास किया है। स्वयं उन्होंने भी इस तथ्य का निर्देश करते हुए लिखा है--'एक दिन बैठे-बैठे यह बात ग्रपने घ्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी किहए कि जिसमें हिंदवी छूट ग्रौर किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।.... हिंदवीपन भी न निकले ग्रीर भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—ग्रच्छों से ग्रुच्छे—ग्रापस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डोल रहे ग्रौर छाँव किसी का न हो।' यहाँ यह बात घ्यान देने योग्य हैं कि इंशा ने 'हिंदवीपन' ग्रौर 'भाखापन' को ग्रलग-ग्रलग या परस्पर-विरोधी माना है। जैसा कि ग्राचार्य शुक्ल ने स्पष्ट किया है, इंशा का 'भाखापन' से तात्पर्य संस्कृत मिश्रित हिन्दी से है। 'बाहर की वोली' से भी इंशा का तात्पर्य कदाचित् अरबी, फारसी ग्रौर तुर्की से था ! अस्तु, इंशा ने अपने समय के तथा ग्रपने वर्ग के सुसम्य समभे जाने वाले लोगों की भाषा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है. यह दूसरी बात है कि वे ग्रपने संस्कारों के कारण उर्दू-फारसी के प्रभाव से सर्वथा मुक्त न रह सके । विशेषतः उनका वाक्य-विन्यास फारसी से प्रभावित है । उनकी शैली का एक नमूना द्रष्टब्थ है--- 'तुम्हारी जो कुछ श्रच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम श्रमी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत, जो वह मुग्रा निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।' इंशा ने अपनी शैली को रोचक एवं आकर्षक वनाने के लिए मुहावरों के साथ बीच-बीच में तुकान्त गद्य का भी प्रयोग किया है, यथा, एक भ्रोर इस प्रकार के मुहावरों की वहार है—'जैसा मुँह वैसा-थप्पड़', 'छाती के किवाड़ खुलना', 'हिचर-मिचर न रहे', 'ग्राठ-ग्राठ ग्रांसू रोना', 'सिर मुड़ाते ही ग्रोले पड़ना' ग्रादि—तो दूसरी भोर इस प्रकार की पंक्तियाँ भी मिलती हैं—'रानी को बहुत सी बेकली थो। कब सूमती कुछ बुरी-भली थी। चुपके-चुपके कराहती थी। जीना अपना न चाहती थी। अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि इंशा ने इस कृति की रचना विश्द्ध कलात्मक प्रेरणा से की थी, इसी से इसमें चमत्कार-प्रदर्शन, कहीं-कहीं भ्रावश्य-कता से ग्रधिक हो गया।

६. प्रेमसागर (१८१० ई॰), ७. 'लतायफ-इ-हिन्दी' (१८१०), ८. ब्रजभाषा-व्याकर्ण (१८११), ६. 'सभा-विलास' (१८१५), १०. 'माधव-विलास' (१८१७), ११. 'लाल-चंद्रिका' (१८१८)। ये सभी ग्रन्थ ग्रन्थ ग्रन्थों के ग्राधार पर रचित है। 'व्रज-भाषा-व्याकरण' के ग्रतिरिक्त कोई भी पूर्णतः मौलिक नहीं है। भाषा की दृष्टि से इनमें से तीन—'राजनीति', 'माधव-विलास' ग्रीर 'लाल-चंद्रिका' व्रज-भाषा के ग्रन्तर्गत श्राते हैं जबिक शेष का सम्बन्ध खड़ीबोली से है। इनमें भी शुद्ध खड़ीबोली की रचना 'प्रेम सागर' ही है, शेष उर्दू-फारसी से प्रभावित हैं। 'प्रेमसागर' की भाषा का एक नमूना प्रस्तुत है-- महाराज ! जब ऐसे समभाय बुभाय श्रक्र्रजी ने कुन्ती से कहा तक वह सोच समभ चुप हो रही ग्रीर इनकी कुशल पूछ वोली - कहो ग्रक्रूरजी ! हमारे माता-पिता भी भाई वसुदेवजी कुटुंव समेत भले हैं भी श्री कृष्ण बलराम कभी श्रपने पाँचों भाइयों की सुध करते हैं ?' वस्तुतः 'प्रेमसागर' की भाषा पर कथावाचकों की शैली का पर्याप्त प्रभाव है तथा उसमें स्थान-स्थान पर ब्रज-भाषा के प्रयोग मिलते हैं, यथा-'सम्मुख जाय', 'सोई', 'भई', 'जाते भये', 'जान लीजे', 'जद' 'तद'। कहीं-कहीं तुक मिलाने का प्रयास भी मिलता है, जैसे—'मैंने व्रज श्रौ द्वारिका की लीला गाई—वह है सवकी सुखदाई। जो जन इसे प्रेम सिहत गावेगा-सो निःसंदेह भक्ति-मुक्ति पदारथ पावेगा।' शब्द-रूपों की ग्रस्थिरता इसमें मिलती है, एक ही शब्द के ग्रनेक रूप इसमें मिलाते हैं —िपरथी, पृथ्वी, प्रथिवी, पृथ्वी, कर्म, करम, मुक्त, मुक्ते म्रादि । डा॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इनकी भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए इसके सम्बन्ध में ठीक लिखा है—'सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर 'प्रेमसागर' की भाषा में माधुर्य ग्रोर सरसता है, काव्याभास है, लेकिन वाक्य-रचना में सुसंबद्धता नहीं है। प्रत्येक वाक्य अपनी-अपनी व्विन भ्रलग-म्रलग उत्पन्न करता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' की रचना प्रचार की दृष्टि से नहीं, वरन् पाठ्य पुस्तक के रूप में की थी। इसलिए उसमें कृत्रिमता, शिथिलता श्रीर ग्रव्यावहारिकता का ग्रा जाना कोई ग्राश्चर्य-जनक वात नहीं है। उस पर भी वह ब्रज-भाषा के प्राचीन ग्रन्थ पर ग्राधारित है। लल्लूलाल ने गद्य को अधिक ग्राह्य बनाने, उसकी ग्रिभिन्यंजनात्मक शक्ति को बढ़ाने ग्रीर उसमें चमत्कार लाने की चेष्टा भ्रवश्य की है, किन्तु उन्हें इस कार्य में भ्रघिक सफलता नहीं हई (मिली)।

सदल मिश्र (१८६८-१८४८ ई०) मूलतः विहार-निवासी थे। इन्होंने भी उपयुक्त कॉलेज में रहते हुए दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रस्तुत कीं—(१) 'चंद्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३) श्रीर (२) 'रामचरित्र' (१८०५ ई०)। ये दोनों रचनाएँ क्रमशः
संस्कृत की निवकेता कथा एवं 'ग्रध्यात्म रामायण' पर ग्राधारित हैं। स्वयं लेखक ने भी
इस सम्बन्ध में पहली कृति में स्वीकार किया है—'महाप्रतापी वीर नृपित कंपनी महाराज' के राज में खड़ीबोली में की, क्योंकि 'देववाणी' में कोई समक्त नहीं सकता।'
'नासिकेतोपाख्यान' छोटी सी रचना है, जिसमें नासिकेत उत्पत्ति से यमलोक-यात्रा तक
का विवरण प्रस्तुत है तथा श्रन्त में श्रात्म-ज्ञान की चर्चा की गई है। दूसरी रचना—
'राम-चरित्र' लगभगि ३२। विष्ठीं की हैं का प्रे का को किया हो सिक्त है। इसकी रचना का

प्रभोजन स्पष्ट करते हुए लेखक ने इसे जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से रचित वताया है। उसके शब्दों में—संस्कृत की पोथियाँ भाषा करने की महाउदार सकल गुण-निधान मिस्तर जान गिल्कृस्त साहव ने ठहराया और एक दिन भ्राज्ञा की कि भ्रध्यात्म रामायण को ऐसी बोली में करो जिनमें फारसी भ्ररवी भ्रावे, तब मैं इसको खड़ीबोली में करने लगा। 'इससे लेखक की भाषा-नीति पर भी प्रकाश पड़ता है।

जहाँ तक गद्य-शैली का सम्बन्ध है, सदल मिश्र को ग्रधिक सफलता नहीं मिली। उनकी भाषा न केवल शिथिल, दोष-पूर्ण एवं प्रवाह-शून्य है, ग्रपितु उस पर प्रान्तीय भाषाग्रों का—विशेषतः विहारी का—भी गहरा प्रभाव है—एक ग्रोर उसमें 'गाछों', 'काँदती', 'जौन-जौन' जैसे शब्द मिलते हैं तो दूसरी ग्रीर उसमें 'फूलन्ह के विछीने', 'चहुँ दिस', 'स्मरण किए से' 'विनती किया', 'सेवा में बाधा करने चाहता है', 'भूठाने नहीं सकता है' जैसे ग्रशुद्ध प्रयोग मिलते हैं।

ईसाई-प्रचारकों का योग-दान—ईसाई-प्रचारकों ने भी हिन्दी गद्य के विकास में पर्याप्त योग दिया है। उन्होंने भ्रपने मत का प्रचार करने के लिए भ्रपने धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद, व्याख्यान, लेख तथा पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी में प्रस्तुत कीं, जिनसे ग्रप्रत्यक्ष में हिन्दी-गद्य की सेवा हुई। सन् १७६८ ई० में कलकत्ते के समीप १५ मील दूर पर श्रीरामपुर में ईसाई-प्रचारकों का एक सुदृढ़ केन्द्र स्थापित हुआ। आगे चलकर इस संस्था ने अपना मुद्रण-यंत्र भी स्थापित कर लिया, जिससे भ्रानेक पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। इनके द्वारा कलकत्ता श्रीर श्रागरा में 'स्कूल-बुक-सोसायटी' की भी स्थापना हुई, जिसके द्वारा विभिन्न विषयों पर पाठ्य-पुस्तकें तैयार की गईं। विदेशी पादिरयों ने इस कार्य में अनेक भारतीय लेखकों का भी सहयोग प्राप्त किया तथा उन्हें गद्य-लेखन में प्रवृत्त किया। इन संस्थाओं के द्वारा १८३८ से १८५७ ई० के बीच में विभिन्न विषयों पर शताधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई। ग्रंकगणित, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल, ग्रर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, राजनीति, कृति-कर्म, ग्राम-शासन, शिक्षा, यात्रा, नीति, घर्म, ज्योतिष, दर्शन, अंग्रेजी राज्य, व्याकरण, कोश आदि सभी प्रमुख विषयों पर इनके द्वारा सरल एवं लोकोपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। ग्रस्तु, ईसाई-प्रचारकों ने गद्य-शैली के विकास की दृष्टि से भले ही विशेष सफलता प्राप्त न की हो, किन्तु हिन्दी-गद्य का विषय-विस्तार प्रदान करने एवं गद्य-लेखन के प्रयासों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनकी गद्य-शैली में एकरूपता एवं शुद्धता का ग्रभाव ग्रवश्य खटकता है। कहीं वे ब्रज-भाषा से प्रभावित हैं तो कहीं उदू[°] से। इनमें कहीं ऋत्यन्त दूषित एवं हास्यास्पद प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे 'परमेश्वर ने हमको डरपोकना भ्रात्मा दिया', 'वालक ऐसा मूर्छा हो गया' भ्रादि, पर विदेशी प्रचारकों की भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयों को देखते हुए इसे स्वाभाविक कहा जा सकता है। जब स्वयं भारतीयों की शैली ही श्रभी तक निश्चित नहीं हो पाई थी, तो ऐसी स्थिति में यदि विदेशियों के नेतृत्व में लिखित गद्य एकरूपता से शून्य हो तो कोई ग्राश्चर्य की बात नहीं। ग्रतः इनका प्रयास प्रशंसनीय है।

नाह्य-समाज का व्योगदामा प्रतिकृति भिन्नी के विकास में बगाल के राजा राम-

मोहनराय एवं उनके द्वारा स्थापित 'ब्राह्म-समाज' का भी योग-दान है। राजा राम-मोहनराय ने १८१५ ई० में वेदान्त-सूत्रों का हिन्दी-ग्रनुवाद प्रकाशित करवाया तथा ग्रागे चलकर १८२६ ई० में एक पित्रका 'वंगदूत' भी हिन्दी में निकाली। यद्यपि राजा साहव की भाषा पर वँगला का थोड़ा प्रभाव रहता था, किन्तु फिर भी उनकी शैली पर्याप्त प्रवाहपूर्ण है। वंगाली होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को ग्रपनाकर ग्रपनी व्यापक राष्ट्रीयता का भी पिरचय दिया है। सारे राष्ट्र की भाषा हिन्दी ही हो सकती है, इस तथ्य को राजा साहव ने ग्राज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही ग्रहण कर लिया था, जो उनकी व्यापक दृष्टि एवं दूरदिशाता का प्रमाण है।

पत्र-पित्रकाएँ—सन् १८२६ ई० में कानपुर से पं० युगलिकशोर शुक्ल के संपादकत्व में हिन्दी की प्रथम पित्रका 'उदन्त मार्तण्ड' प्रकाशित हुई जो साप्ताहिक थी।
इस पित्रका का लक्ष्य विभिन्न विषयों का ज्ञान प्रदान करना था, यतः इसमें राजनीतिक,
ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्यापारिक ग्रादि विविध विषयों का समावेश रहता था।
पर यह पित्रका लगभग एक वर्ष वाद बंद हो गई। इसके ग्रनन्तर ग्रनेक पत्रपित्रकाएँ निकलीं, जिनमें कुछ का विवरण इस प्रकार है—'बनारस ग्रखवार' (काशी से
राजा शिवप्रसाद के संपादकत्व में; १८४५ ई०), 'सुधाकर' (काशी से वाबू तारा मोहन
मित्र के संपादकत्व में; १८५० ई०), 'बुद्धि प्रकाश' (ग्रागरे से मुंशी सदासुखलाल
के द्वारा, १८५२ ई० में)। इसके ग्रतिरिक्त ग्रीर भी कई पत्र निकले यथा—
यथा—'विद्यादर्शन' (मेरठ), 'धर्म-प्रकाश' (ग्रागरा), 'ज्ञान दीपिका' (सिकन्दरावाद),
'वृत्तान्तदर्पण' (ग्रागरा), 'भारत खंड ग्रमृत' (ग्रागरा), 'ज्ञान प्रदायिनी पित्रका' (लाहौर)
ग्रादि।

इन पत्र-पत्रिकाग्नों में खड़ी वोली का प्रयोग होता था तथा इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के व्यवहारिक विषयों पर गद्य-लेखन की परम्परा को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुग्रा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राधुनिक काल के ग्रारम्भ (१८५७ ई०) से पूर्व ही गद्य के क्षेत्र में खड़ीवोली की प्रतिष्ठा सम्यक् रूप में हो गई थी तथा प्रायः सभी वर्गों में विद्वानों एवं लेखकों ने इस क्षेत्र में खड़ीवोली को ही पूर्णतः मान्यता दे दी थी। यद्यपि ग्रभी तक खड़ीवोली का पूर्ण परिष्कार होना वाकी था, किन्तु उसकी स्थापना भली-भाँति हो चुकी थी, राजस्थानी, व्रज ग्रादि भाषाग्रों का गद्य खड़ीवोली के गद्य की तुलना में सर्वथा पिछड़ गया था।

ग्राधुनिक काल में खड़ीबोली के गद्य का विकास

ग्राधुनिक काल के ग्रारम्भिक गद्य-लेखकों में दो व्यक्तियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—१. राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ग्रीर २. राजा लक्ष्मणसिंह। राजाशिवप्रसाद (१८२३-१८६५ ई०) ने १८४५ ई० में बनारस से 'बनारस ग्रखवार' निकाला, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। ग्रागे चलकर सन् १८५६ ई० में उनकी नियुक्ति सरकारी-शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर के पद पर हो गई। इस पद पर CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

रहते हुए उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों के ग्रमाव की पूर्ति के लक्ष्य से विभिन्न विषयों की पुस्तकों हिन्दी में लिखीं। प्रारंभ में उन्होंने परिष्कृत हिन्दी का प्रयोग किया, किन्तु सरकारी ग्रमिकारियों के प्रभाव से उनका भुकाव उर्दू या उर्दू मिश्रित हिन्दी की ग्रोर हो गया, ग्रावः ग्रागे चलकर वे उर्दू के ही पक्षपाती हो गए। जहाँ उनके प्रारंभिक ग्रंथों 'मानव धर्म-सार', 'योग वाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद्-सार', 'भूगोल हस्तामलक', 'वामा मन-रंजन', 'ग्रालसियों का कोड़ा', 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना', ग्रादि की भाषा संस्कृत मिश्रित हिन्दी है वहाँ परवर्ती ग्रंथों—'इतिहास तिमिर नाशक', 'वैताल-पचीसी', ग्रादि—की भाषा उर्दू है।

राजा लक्ष्मणांसह (१८२६-१८६६०) विशुद्ध हिन्दी के समर्थक थे, ग्रतः उन्होंने राजा शिवप्रसाद की उपर्युक्त भाषा-नीति का विरोध करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि हिन्दी ग्रीर उर्दू दो न्यारी-न्यारी बोलियाँ हैं तथा ग्रावश्यक नहीं कि ग्ररबी-फारसी के शब्दों के विना हिन्दी न बोली जाय । ग्रपने इसी दृष्टिकोण के ग्रनुरूप उन्होंने कालिदास के ग्रनेक ग्रंथों—मेघदूत, शकुन्तला, रघुवंश ग्रादि—का ग्रनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया । इनमें उन्होंने गद्य को खड़ीबोली में तथा पद्य को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया है । उनकी गद्य-शैली पर भी ब्रजभाषा का किचित् प्रभाव परिलक्षित होता है—यथा—'फिर भी एक वेर प्यारी ने मुक्त निर्दयी की ग्रोर ग्रांसू भरे नेत्रों से देखा । ग्रव वही दृष्टि मेरे हृदय को विष की बुक्ती भाल के समान छेदती है ।' ('शकुन्तला' नाटक; १८६१ ई०) । वस्तुतः इनकी भाषा काव्य के ग्रधिक उपयुक्त है, बौद्धिक विवेचन की समता का उसमें ग्रभाव है ।

श्रार्य-समाज को हिन्दी-सेवा—सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-८३ ई०) की प्रेरणा से महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था 'ग्रार्य-समाज' की स्थापना हुई जिसके द्वारा घर्म, समाज, शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति हुई। श्रार्य-समाज के नेताय्रों ने धर्म थ्रौर समाज के क्षेत्र में प्रचलित रूढ़ियों, श्रन्व-विश्वासों, पाखंडों श्रादि का खंडन करके घर्म ग्रौर सदाचार के शुद्ध रूप को प्रकाशित किया। इससे भारतीय समाज में जागृति की एक नई लहर ग्रीर बौद्धिक चेतना की एक नई उद्दीप्ति ग्रायी, जिसका प्रभाव साहित्य और भाषा पर भी पड़ना स्वाभाविक था। जैसा कि हमने अन्यत्र प्रतिपादित किया है, बौद्धिक चेतना का गद्य से सीघा-सम्बन्ध है। जब भी किसी व्यक्ति या समाज के द्वारा विचार-विमर्श, तर्क-वितर्क एवं चिन्तन-मनन के बौद्धिक प्रयास होते हैं तो उस स्थिति में उसकी ग्रिभिव्यक्ति में गद्य के तत्त्वों का ग्राविभीव सहज ही हो जाता है। ग्रार्य-समाज भक्ति-ग्रान्दोलन की भाँति भावात्मकता पर श्राश्रित श्रान्दोलन नहीं था श्रपितु वह वौद्धिकता पर श्राघारित था, ग्रतः उसके नेताग्रों के द्वारा श्रत्यन्त सशक्त गद्य का प्रयोग हुआ है। स्वामी दयानन्द स्वयं गुजराती थे, तथा संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे, फिर भी उन्होंने हिन्दी के राष्ट्रीय महत्त्व को स्वी-कार करते हुए अपने अनेक ग्रंथों की रचना हिन्दी में ही की, जिनमें 'सत्यार्थ-प्रकाश' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका प्रथम संस्करण १८७५ ई० में तथा द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुग्रा । यह ग्रंथ चौदह CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi हुग्रा । यह ग्रंथ चौदह समुल्लासों में विभक्त है' जिनमें वैदिक धर्म की व्याख्या के अनन्तर विभिन्न वेद-विरोधी धर्म-सम्प्रदायों का खंडन किया गया है। इसकी शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है—'ये सव बातें पोप-लीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहाँ जाते हैं, उनका धर्मराज वित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं तो वे यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिए कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं?' यह उनकी तर्कपूर्ण शैली का नमूना है। कहीं-कहीं उनकी शैली व्यंगात्मक भी हो जाती है, यथा—''जैसे पहाड़ के वड़े-बड़े अवयव गरुड़ पुराण के वाँचने सुनने वालों के आँगन में गिर पड़ेंगे तो वे दव मरेंगे वा घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायगी तो वे वैसे निकल और चल सकेंगे।'' यद्यपि स्वामीजी के अन्य भाषी होने के कारण उनकी शैली में कही-कहीं प्रयोग-शुद्धता का अभाव है, पर उनकी वैचारिक शक्ति के कारण शैली पर्याप्त सशक्त हो गई है।

ग्रागे चलकर भ्रार्य-समाज ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाग्रों, शास्त्रार्थीं, प्रवचनों, उपदेशों, जीवन-चिरतों, निवन्धों, श्रनुवाद-ग्रंथों, पाठ्य-पुस्तकों, उपन्यासों ग्रादि के रूप में इतना साहित्य प्रस्तुत किया कि उसका पूरा लेखा-जोखा प्रस्तुत करना इस लेख में संभव नहीं। इसका विवरण डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त के शोध प्रवन्ध—'हिन्दी भाषा ग्रौर साहित्य को भ्रार्य-समाज की देन' (१६६१ ई०) में देखा जा सकता है।

वस्तुतः ग्रार्य समाज ने गद्य की विभिन्न विधाग्रों एवं उसके विभिन्न माध्यमों को ग्रपने प्रचार का साधन बनाते हुए हिन्दी गद्य-साहित्य की उन्नति में पर्याप्त योग दिया। उसने न केवल संस्कृत की तत्सम शब्दावली को ग्रपनाकर खड़ीवोली के शब्द-भण्डार में ग्रिमवृद्धि की, ग्रिपतु तर्कपूर्ण शैली का विकास करके उसे वौद्धिक विवेचन के भी उपयुक्त बनाया। गद्य के लिए जिस वौद्धिकता, तार्किकता, सूक्ष्मता एवं प्रवाहपूर्णता की ग्रपेक्षा है, वह ग्रार्य समाजी साहित्य में प्रायः दृष्टिगोचर होती है; ग्रतः गद्य के विकास में इस ग्रान्दोलन के योगदान को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र एवं अन्य लेखक—जिस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती एवंउनके अनुयायी धर्म एवं समाज के क्षेत्र में सुधार-कार्य कर रहे थे, ठीक उसी समय
हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नयी क्रान्ति का सूत्रपात कर रहे थे।
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५ ई०) ने अपने अल्प जीवन-काल में ही हिन्दी गद्य
के क्षेत्र में अद्भुत कार्य किया। एक ओर उन्होंने गद्य-शैली को परिमार्जित एवं परिष्कृत
करते हुए उसका मार्ग निश्चित किया तो दूसरी ओर उन्होंने निवन्ध, नाटक, इतिहास,
आलोचना, संस्मरण, यात्रा-विवरण आदि गद्य-रूपों की परम्परा का प्रवर्त्तन किया।
गद्य की विभिन्न विधाओं के क्षेत्र में भारतेन्दु के योगदान का स्पष्टीकरण अन्यत्र
तत्सम्बन्धी विवेचन करते समय किया जाएगा, यहाँ उनकी गद्य-शैली की कितपय
विशेषताओं का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। एक तो, जैसा कि प्रारम्भ में कहा
गया है, भारतेन्दु की गद्य-शैली अत्यन्त व्यावहारिक एवं हिन्दी की मूल प्रकृति के अनुकूल है। उन्होंने न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का अनावश्यक रूप में प्रयोग किया और
CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

न ही उनका विह्कार किया। तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग उन्होंने यथोचित रूप में किया है। इसी प्रकार उर्दू-फारसी के शब्दों के प्रयोग में भी उन्होंने संतुलित दृष्टि का परिचय दिया है। विभिन्न प्रान्तीय भाषाग्रों के शब्दों तथा ब्रजभाषा के उपयुक्त प्रयोगों से भी उनकी भाषा मुक्त है। दूसरे, उन्होंने विषयवस्तु, भाव-विशेष एवं रूप-विशेष के अनुसार विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। जहाँ प्रणय, विरह एवं शोक के प्रसंग में उनकी शैली अत्यन्त कोमल एवं मधुर हो जाती है, तो हास्य के क्षेत्र में वह चुलबुलेपन से युक्त हो जाती है। इसी प्रकार उनके नाटकों की शैली समीक्षात्मक लेखों की शैली से इतनी भिन्न है कि डा॰ श्यामसुन्दर दास को तो एक वार यहाँ तक भ्रम हो गया था कि उनका नाटक सम्बन्धी समीक्षात्मक लेख किसी और का लिखा हुआ है, क्योंकि उसकी शैली नाटकों की शैली से भिन्न है। वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भाषा के मर्म को समभने वाले प्रतिभाशाली लेखक थे तथा उसे विषय, भाव एवं प्रसंग के अनुसार नये-नये रूपों में ढाल लेने को कला में सिद्धहस्त थे, ग्रतः यदि उनकी सिद्धि कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में चका-चौंध उत्पन्न कर दे तो ग्राश्चर्य नहीं। वैसे, देखा जाय तो न केवल उनके लेख एवं नाटकों की शैली में, अपितु विभिन्न नाटकों की शैली में भी पारस्परिक अन्तर दिखाई देगा; यथा, यहाँ दो उद्धरण प्रस्तुत हैं—

(अ) 'हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है धौर तुम तिनक नहीं च्यान देते । प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ ?....हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ ! प्यारे रात छोटी है और स्वांग बहुत हैं।'
—('चन्द्रावली' नाटिका)

(ग्रा) 'वात यह है कि कल कोतवाल को फाँसी का हुक्म हुग्रा था। जब फाँसी देने को उसको ले गये, तो फाँसी का फंदा बड़ा हुग्रा, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से ग्रर्ज किया, इस पर हुक्म हुग्रा कि एक मोटा ग्रादमी पकड़कर फाँसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के ग्रपराघ में किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याय न होगा।'

—(ग्रंघेर नगरी)

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में से जहाँ पहले में एक भी उर्दू-फारसी का शब्द नहीं है, वहाँ दूसरे में 'हुकुम', 'ग्रजं', 'सजा', 'जरूर' जैसे ग्रनेक उर्दू-शब्द ग्राये हैं। इस ग्रन्तर का कारण दोनों के पात्रों, परिस्थितियों एवं भावों में ग्रन्तर का होना है। एक का सम्बन्व प्रणय-निवेदन से है, जब कि दूसरे सरकारी सिपाही की ग्रदालत की चर्चा से है। ग्रतः प्रसंगानुसार भाषा में ग्रन्तर ग्रा जाना स्वाभाविक है।

भारतेन्दु-युग के श्रन्य लेखकों—प्रतापनारायण मिश्र, वालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, राधाकृष्ण दास, सुधाकर द्विवेदी, कार्त्तिकप्रसाद खत्री, राधाचरण गोस्वामी, वद्रीनारायण चौधरी, वालमुकुन्द गुप्त, दुर्गाप्रसाद मिश्र, श्रद्धाराम फिल्लौरी, काशीनाथ, किशोरीलाल गोस्वामी, विहारीलाल चौबे, तोताराम वर्मा, दामोदर शास्त्री प्रभृति ने भी हिन्दी गद्य के विकास में विभिन्न प्रकार से योग दिया। मूलतः हिन्दी भाषा न होते हुए भी हिन्दी-गद्य लेखन को प्रोत्साहित करने वाले इस युग् के दो महान् व्यक्तियों CC-0. Jangamwad Math Collection, प्रवासनावक दो महान् व्यक्तियों

में वंगाली वाबू नवीनचन्द्र राय (१८३७-१८६०) ग्रीर इंगलैण्ड के फ्रेडरिक पिन्काट (१८३६-१८६६) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नवीनचन्द्र राय ब्राह्म-समाज के ग्रनुयायी थे। उन्होंने हिन्दी में ग्रनेक पाठ्य-पुस्तकों का प्रणयन किया तथा एक पत्रिका 'ज्ञान-प्रदायिनी' भी १८६७ ई० में निकाली। उन्होंने पंजाव में हिन्दी का प्रचार-कार्य भी किया, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। फ्रेडरिक पिन्काट महोदय भी हिन्दी के सच्चे हितैषी थे तथा उन्होंने हिन्दी में लेख लिखने एवं-पित्रकाएँ सम्पादित करने के ग्रतिरक्त ग्रपने युग के भारतीय हिन्दी-लेखकों को भी बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होंने लंदन में बैठे-बैठे ही हिन्दी पर अच्छा ग्रधिकार प्राप्त कर लिया था। भारतेन्द्र हिरश्चन्द्र के भी वे प्रशंसक थे। इस भारती-भक्त का देहान्त भी भारत-भूमि (लखनऊ में) हुग्रा, जबिक वे रीग्रा घास की खेती का प्रचार करने के लिए यहाँ ग्राये हुए थे।

भारतेन्द्र-युग के विभिन्न लेखक अपनी-अपनी पत्रिकाएँ भी चलाते थे, जिनमें वे सामियक एवं ज्ञानवर्द्धक विषयों पर वरावर कुछ न कुछ लिखते रहते थे। कुछ लेखक सामियक एवं ज्ञानवर्द्धक विषयों पर वरावर कुछ न कुछ लिखते रहते थे। कुछ लेखक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर व्यंग्यपूर्ण लेख एवं नाटक भी लिखते थे। इससे गद्य-शैली के विकास की गित में वृद्धि हुई। पर इस युग के लेखक मनमौजी, विनोदी एवं निरंकुश स्वभाव के भी थे, व्याकरण की शुद्धता एवं शब्द-रूपों की एकता का उन्होंने वहुत कम व्यान रखा। साथ ही व्यंग्यात्मक शैली का विकास अधिक हुआ, गंभीर विषयों में प्रवृत्ति कम होने के कारण विवेचनात्मक शैली अपेक्षाकृत कम विकसित हो पाई। वस्तुतः इन अभावों की पूर्ति परवर्ती युग में हुई। जिसकी चर्ची आगे की जायगी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं उनके सहयोगी—हिन्दी गद्य के क्षेत्र में नयी गति महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८ ई०) के प्रयासों से आई। वे सन् १६०० में 'सरस्वती' के संपादक नियुक्त हुए तथा इस पत्रिका के माघ्यम से ही उन्होंने श्रपने युग के हिन्दी-साहित्यकारों का नेतृत्व करते हुए उनका घ्यान हिन्दी गद्य ग्रीर पद्य की विभिन्न न्यूनताओं एवं त्रुटियों की ग्रोर श्राकिषत किया। जहाँ पद्य के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी-वोली की प्रतिष्ठा के म्रान्दोलन को दृढ़ किया वहाँ गद्य के क्षेत्र में भाषा की शुद्धता, शब्द-रूपों की एकरूपता, व्याकरण के दोष-परिष्कार भ्रादि की भ्रोर भ्रपना घ्यान केन्द्रित किया। गद्य के सम्वन्घ में उनकी भाषा-नीति के चार सूत्र इस प्रकार बताए जा सकते हैं—१. विषयानुकूल एवं जनता के अनुकूल सरल, शुद्ध एवं प्रवाहपूर्ण शैली का प्रयोग करना। २. उर्दू एवं ग्रंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को स्वीकार करना। ३. शब्द-रूपों एवं प्रयोगों को निश्चित रूप प्रदान करते हुए भाषा में एकरूपता लाना। ४. भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की अभिवृद्धि के लिए संस्कृत के सरल एवं उपयुक्त तत्सम शब्दों, लोकोक्तियों एवं मुहावरों तथा ग्रन्य भाषाग्रों के शब्दों को स्वीकार करना। इस नीति का न केवल उन्होंने स्वयं पालन किया, अपितु दूसरों से भी करवाया। उनके समय में विभिन्न लेखक एक ही शब्द को अनेक रूपों में प्रयुक्त करते थे, यथा-'इकलोता' 'एकलोता', 'इकलोता'; 'कुटलता', 'कुटिलता'; 'सिंघासन', 'सिंहासन'; 'हुवा', 'हुया', CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. 24

'हुआ' ग्रादि । कई लेखक व्याकरण की ग्रशुद्धियाँ भी करते थे, जैसे—'हमारे संतान', 'घी पड़ जाती हैं', 'घन्य है वह नयन', 'जन्म दिन पर' ग्रादि । ग्राचार्य द्विवेदी ने ग्रपने विभिन्न लेखों में इन पर प्रकाश डालकर हिन्दी गद्य को एक परिष्कृत एवं सशक्त रूप प्रदान किया । गद्य-शैली के परिष्कार के ग्रातिरिक्त गद्य के विषय-क्षेत्र के विस्तार एवं विभिन्न रूपों के विकास के लिए भी उन्होंने ग्रपने युग के साहित्यकारों को प्रेरित एवं उत्साहित किया । इसके ग्रातिरक्त उन्होंने स्वयं भी साहित्यक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, भौगोलिक विषयों को ग्रपने निवन्धों में प्रस्तुत किया । हिन्दी-समीक्षा के विकास में भी उनका योगदान है ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन भ्रन्य गद्य-लेखकों में डा॰ श्यामसुन्दरदास, माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पद्मिसह शर्मा, मिश्र-वन्धु, वालमुकुन्द गुप्त, भ्रयोध्या सिंह उपाध्याय, गोपालराम गहमरी, गोविन्दनारायण मिश्र, लाला भगवानदीन प्रमृति उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने गद्य के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया। इनकी सेवाग्रों की भी चर्चा भ्रन्यत्र निवन्ध, उपन्यास भ्रादि के प्रसंग में की जायगी।

हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप—हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप महावीरप्रसाद द्विवेदी के परवर्ती युग में दृष्टिगोचर होता है। न केवल गद्य-शैली की दृष्टि से; अपितु गद्य की विभिन्न विघाओं की दृष्टि से भी परवर्ती युग अत्यन्त समृद्ध एवं वैविष्यपूर्ण दिखाई पड़ता है। यद्यपि इस युग के समस्त गद्य-साहित्य का विस्तृत परिचय देना यहाँ संभव नहीं, किन्तु विभिन्न गद्य-रूपों के उच्चतम उन्नायकों का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है, जिससे गद्य की प्रगति का अनुमान लगाया जा सके।

गद्य की कसौटी निवन्ध है-इस दृष्टि से सर्वप्रथम निवन्ध-साहित्य को लिया जा सकता है। इस क्षेत्र में ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि', ग्राचार्य हजारी-प्रसाद दिवेदी के 'ग्रशोक का फूल', डा॰ नगेन्द्र के 'ग्रास्था के चरण', महादेवी वर्मा के 'म्रतीत के चल-चित्र' को सर्वोत्तम उपलब्धियों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इनमें जहाँ विषय-वस्तु की व्यापकता, विचारों की गंभीरता एवं शैली की प्रौढ़ता दुष्टिगोचर होती है, वहाँ साहित्यिक सौन्दर्य भी भ्रपने पूर्ण वैभव के साथ दिखाई पड़ता है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक समस्याओं के चित्रण की दृष्टि से मुंशी प्रेमचन्द, यशपाल, श्रमृतलाल नागर का, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवती-चरण वर्मा, प्रभृति का तथा ऐतिहासिक दृष्टि से डा० वृन्दावनलाल वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने ग्रपने-ग्रपने क्षेत्र में ग्रादर्श रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। ग्रालोचना के क्षेत्र में डा॰ नगेन्द्र के 'रस-सिद्धान्त' को सर्वोत्कृष्ट सैद्धान्तिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है तो व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में क्रमशः ग्राचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी एवं भ्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्य सर्वोत्तम उपलब्धि है। उसी प्रकार नाटक श्रीर एकांकी के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण 'प्रेमी', लक्ष्मीनारायण मिश्र, डा॰ रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ ग्रश्क, उदय-शंकर भट्ट, मोहन राकेश, डा॰ लक्ष्मीनारायण लाल के योगदान पर गर्व किया जा

सकता है । इसी प्रकार जीवनी, श्रात्मकथा, रेडियो-रूपक, रेखाचित्र, गद्यकाव्य ग्रादि के क्षेत्र में भी न्यूनाधिक मात्रा में कार्य हुग्रा है ।

ग्रस्तु, कहा जा सकता है कि यद्यपि खड़ीबोली गद्य की प्रतिष्ठा हुए ग्रभी एक शताब्दी भी नहीं हुई, पर इस ग्रल्पकाल में ही प्रत्येक दृष्टि से इसने जिस प्रकार प्रगति की है, वह सचमुच ग्राश्चर्यजनक है। वस्तुतः यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी एक ऐसी जीवित भाषा है, जिसके बोलनेवालों में पर्याप्त प्रतिभा, ग्रद्भुत कर्मठता एवं निरन्तर कार्य में लगे रहने की क्षमता है, जिसके बल पर वह द्रुतगित से ग्रागे वढ़ रही है। हाँ, स्वतन्त्रता के बाद ग्रवश्य हम थोड़े शिथिल एवं व्यक्ति-केन्द्र हो गए हैं, जिससे हमारे कार्य में वैसी निष्ठा एवं तत्परता दृष्टिगोचर नहीं होती, जैसी कि पूर्ववर्ती उन्नायकों— भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद प्रभृति—में दृष्टिगोचर होती थी; फिर भी हिन्दी भाषा ग्रीर उसके साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है—यह वात गद्य-साहित्य पर विशेष रूप से लागू होती है।

0

ः पैंतीसः

हिन्दी नाटक: उद्भव ग्रौर विकास

- १. नाटक की मूलभूत प्रवृत्तियाँ।
- २. नाटक का उद्भव।
- ३. प्राचीन भारतीय नाटक साहित्य।
- ४. हिन्दी में नाटक-साहित्य—(क) मैथिली नाटक, (ख) रास-लीला नाटक, (ग) पद्मबद्ध नाटक, (घ) भारतेन्दु-युगीन नाटक, (ङ) प्रसाद-युगीन नाटक,
 - (च) प्रसाद-युगोत्तर नाटक।

नाटक की उत्पत्ति के मूल में मनोवैज्ञानिकों ने मुख्यतः चार मनोवृत्तियों को स्वीकार किया है—(१) अनुकरण की प्रवृत्ति, (२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति, (३) जाति या समुदाय की रक्षा की प्रवृत्ति ग्रीर (४) ग्रात्माभिव्यक्ति की प्रवित्त । ये चारों प्रवृत्तियाँ मानव-हृदय में सहज स्वाभाविक रूप में ही विद्यमान हैं, ग्रतः नाट्य-कला के उद्भव के लिए किसी विशेष वाह्य परिस्थिति पर विचार करना श्रनावश्यक प्रतीत होता है। फिर भी 'भारतीय-नाटक' की उत्पत्ति को लेकर स्वदेशी एवं विदेशी विद्वानों में गहरा वाद-विवाद हुम्रा तथा उन्होंने इस सम्बन्ध में विभिन्न मत स्थापित किए हैं । डाक्टर रिजवे (Ridgeway) का मत है कि नाटक का उदय मृत-वीरों की पूजा से हुआ। उनके विचारानुसार प्रारम्भिक काल में मृत श्रात्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन हुआ। प्रोफेसर हिलेब्रॉ (Hillebrandt) और प्रोफेसर कोनो (Konow) भारतीय नाटक का उदय लौकिक व सामाजिक उत्सवों से मानते हैं। उघर डा॰ पिशेल (Pischel) भारतीय नाटकों का मूल लौकिक भ्राधार मानते हुए कहते हैं कि नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुम्रा । प्राचीन भारतवर्ष में कठपुतलियों का प्रचार अवश्य था, इसके प्रमाण गुणाढ्य की वृहत्कथा, महाभारत एवं राजशेखर-कृत वाल रामायण में मिलते हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि कठ-पतिलयों से ही नाट्य-कला का विकास हुआ। कौन जानता है, शायद कठपुतिलयों के नाच का प्रचलन ही नाट्य-कला के अनुकरण पर हुआ हो ! डॉ॰ गुलाबराय ने इन सब मतों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए लिखा है—''ये सब कल्पनाशील विद्वान् इस बात को मूल जाते हैं कि भारतवर्ष में घार्मिक, सामाजिक ग्रीर लौकिक कृत्यों में ऐसा भेद नहीं है, जैसा कि लोग समभते हैं। भारतवर्ष में धर्म मानव-जीवन का ग्रंग है। इस देश का दुकानदार भी तो श्रपनी गोलक को महादेव बाबा की गोलक बताता है।" डॉक्टर साहव के इस तर्क में बहुत वल है, श्रतः लौकिक या घार्मिक कृत्यों के वाद-विवाद में उल्सना मनावश्यक हैं दे-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में भरतमुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में एक घटना का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार देवताओं की प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पाँचवें वेद के रूप में नाट्य-वेद की रचना की। इसके लिए शिवजी ने ताण्डव नृत्य दिया और पार्वती जी ने लास्य प्रदान किया। यद्यपि यह प्रसंग विशुद्ध कल्पना पर आधारित है। किन्तु इससे दो तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, एक तो नाटक की उत्पत्ति चारों वेदों की रचना के अनन्तर हुई और दूसरे, नाटक के विभिन्न तत्त्व मूलतः चारों वेदों में विद्यमान है। अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि भारत में नाट्य-कला का उदय भी उत्तर-वैदिक युग से पूर्व हो गया हो।

कुछ विद्वान् भारतीय नाटक को यूनानी नाट्य-कला की देन मानते हैं। ग्रतः उनके मतानुसार भारत में नाट्य-कला का विकास भारत पर यूनानियों (सिकन्दर) के श्राक्रमण के अनन्तर हुआ । वे लोग यूनानी प्रभाव के प्रमाण-स्वरूप 'यवनिका' शब्द को प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इस मत का खंडन विभिन्न भारतीय विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। 'यवनिका' शब्द यवन (यूनानी) प्रदेश से सम्बन्धित नहीं है, ग्रपित इसका शुद्ध रूप 'जवनिका' (जव-वेग, जवनिका-वेग से उठने व गिरनेवाला पट) है। स्वयं यूनानी नाटकों में पर्दे का प्रचलन नहीं था, श्रतः 'यवनिका' का सम्बन्ध यूनानी नाटकों से स्थापित करना घुणाक्षर-न्याय मात्र है। इसके ग्रतिरिक्त भी भारतीय नाटकों की प्रकृति एवं स्वरूप में गहरा अन्तर मिलता है। हमारे यहाँ नाटक ग्रंकों में विभाजित होते हैं, जबिक यूनानी नाटकों में ग्रंक नहीं होते, वहाँ केवल दो दृश्यों में श्रन्तर लाने के लिए सम्मिलित गान (Chorus) का ग्रायोजन कर दिया जाता था। वस्तुतः भारत में नाटकों का प्रचलन भारत-यूनानी सम्पर्क से भी बहुत पहले हो चुका था। इस तथ्य के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। पाणिनि (ईसा से ४०० वर्ष पूर्व) के सूत्रों में कुशाश्व ग्रीर शिलालिन् नाम के नट-सूत्रकारों के नामों का उल्लेख हम्रा है। 'विनय-पिटक' में ग्रश्वजित् ग्रीर पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुग्रों का वृत्तान्त मिलता है, जिन्हें रंगशाला में नर्तिकयों से वात करने व नाटक देखने के भ्रपराघ में प्रवाजनीय दण्ड मिला था। इसी प्रकार जैन कल्प-सूत्रों में भद्रबाहु स्वामी ने जड़वृत्ति के साधुय्रों के स्रन्तर्गत एक ऐसे साधु का भी उल्लेख किया है, जिसे नाटक देखने का शौक हो गया था। वाल्मीकि रामायण में ग्रयोध्या की प्रशंसा करते हुए उसमें भ्रनेक नट एवं नर्तिकयों के निवास का वर्णन किया है। 'हरिवंश पुराण' में 'राम-जन्म' तथा 'कौबेर-रंभाभिसार' भ्रादि नाटकों के खेले जाने का विस्तृत वर्णन मिलता है । इनके श्रतिरिक्त भरत के 'नाट्य-सूत्र' (ईसा से लगभग १५० वर्ष पूर्व) में श्रभिनय-कला का जैसा सूक्ष्म-विवेचन हुग्रा है, वह इस बात का प्रमाण है कि भारत में नाट्य-कला की एक दीर्घ परम्परा इससे कई शताब्दियों पूर्व रही होगी । वस्तुतः भारतीय नाट्य-कला बहुत प्राचीन है तथा उसका विकास यूनानी आक्रमण से पूर्व ही हो गया था। सम्भव है कि यूनानी यहाँ से अन्य कुछ कलाओं की भाँति नाट्य-कला की भी कुछ विशेषताएँ ले गए हों भीर उनका समन्वय भ्रपने नाटकों में कर दिया पहोश्वी gamwadi Math Collection, Varanasi.

भारतं का बहुत-सा प्रारम्भिक साहित्य अनुपलब्ध है, अतः हमारे प्रारम्भिक नाटक भी अब प्राप्य नहों हैं। उपलब्ध नाटकों में सबसे प्राचीन महाकिव भास (प्रथम शती ईसा पूर्व) की रचनाएँ—प्रतिभा, पंचरात्र, स्वप्नवासवदत्ता आदि हैं, जिनमें नाट्य-कला का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। उनके अनन्तर कालिदास, शूद्रक, भवभूति, हर्ष-वर्द्धन, भट्टनारायण, विशाखदत्त आदि नाटककारों की अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ मिलती हैं। संस्कृत में नाटक-साहित्य में बुद्धि और भावना का एकान्त संयोग, अनुभूतियों की विविध्या और गंभीरता, चित्रण की असाधारण कुशलता और शैली की स्वामाविकता और रोचकता आदि गुणों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कथावस्तु के क्षेत्र की जैसी व्यापकता भास में मिलती है, सौन्दर्य का जैसा सजीव अंकन कालिदास में मिलता है, प्रेम की जैसी गंभीरता भवभूति में है, जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का जैसा मार्मिक चित्रण शूद्रक ने किया है और राजनीति के दाँव-पेचों का गुम्फन जिस सफलता से विशाख-दत्त ने किया है, वह विश्व-नाटक-साहित्य के क्षेत्र में अद्वितीय है। संस्कृत नाटककारों में स्वाभाविकता का आग्रह इतना अधिक है कि वे अशिक्षित पात्रों के संभाषणों को सहज स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने के लिए असंस्कृत, हेय एवं निम्नवर्गीय भाषा को भी कृतियों में स्थान दे देते हैं।

संस्कृत की नाट्य-परम्परा का विकास परवर्ती भाषाओं में समुचित रूप से नहीं हो सका । यद्यपि संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने श्रपनी रचनाओं में प्राकृत भाषा को थोड़ा बहुत स्थान दिया है, किन्तु फिर भी प्राकृत में उत्कृष्ट कोटि के नाटक वहत कम लिखे गये। नाटक के एक विशेष रूप-सट्टक का ही प्राकृत में श्रधिक प्रचलन रहा। प्राकृत सट्टकों में कर्पूर-मंजरी, रंभामंजरी, चन्द्रलेखा, श्रुङ्गारमंजरी, श्रानन्दसुन्दरी श्रादि उल्लेखनीय हैं। श्रागे चलकर ग्रपभ्रंश में नाटक की परम्परा एक वार विलुप्त-सी हो गई। रासक-काव्यों के रूप में अवश्य अपभ्रंश में कई सौ रचनाएँ मिलती हैं, किन्तु उनमें नाटकीय तत्त्वों का प्रायः श्रभाव है । एक तो वे विशुद्ध पद्य-बद्ध हैं श्रौर दूसरे उनमें श्रभिनय सम्बन्धी संकेतों का उल्लेख नहीं मिलता । इसके श्रतिरिक्त श्रभिनेय वस्तु का भी उनमें वर्णन कर दिया गया है, अतः उन्हें नाटक कहना उचित नहीं। फिर भी 'नाट्य-दर्पण', 'भाव-प्रकाश' व 'साहित्य-दर्पण' थ्रादि ग्रंथों में 'रासक' के लक्षणों का निरूपण नाटक के रूप में हुग्रा है। 'साहित्य-दर्पणकार' के विचारानुसार रासक में पाँच पात्र होते हैं, एक ग्रंक होता है, सुख ग्रौर निर्वहण संघियाँ होती हैं ग्रौर कैशिकी एवं भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसमें सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध श्रीर नायक मूर्ख होता है। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मेनका हित' का नाम लिया है। यद्यपि ग्रब न तो 'मेनका-हित' ही उप-लब्ब है और न ही उपर्युक्त लक्षणों से युक्त कोई रासक-कृति मिलती है, परन्तु इसी से यह निश्चित हो जाता है कि कभी नाट्यरासकों की परम्परा भी ग्रवश्य रही है, यद्यपि म्राज वे मनुपलब्ध या मप्रकाशित हैं।

हिन्दी में नाटक-साहित्य का उद्भव

कुछ वर्षों तर्क हिन्दी भी नाट्य-साहित्य का उद्भव १६वीं शती में माना जाता रहा,

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास

किन्तू ग्रव डॉ॰ दशरथ ग्रोभा ने ग्रपने महत्त्वपूर्ण ग्रनुसंघान के द्वारा तेरहवीं शताब्दी से ही इसका उद्भव सिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार हिन्दी का सर्वप्रथम उपलब्ध नाटक 'गय सुकुमार-रास' है, जो संवत् १२८६ वि० में रचित हुआ था । उनका कथन है कि ''इस रास में रास के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। इसकी भाषा पर राजस्थानी हिन्दी का प्रभुत्व स्वीकार किया गया है। भ्रागे चलकर रास के तीन रूप हो गये। पहला रूप तो नाट्य-रासक का ही रहा, जो गय-सुकूमार रास व भरतेश्वर बाहुबली रास आदि में वताया गया है। दूसरा रूप धार्मिक महापुरुषों के चरित्र-काव्य के रूप में निकसित हुआ, जिसमें से नृत्य ग्रीर नाट्य का ग्रंश क्रमशः लोप होने लगा। रास का तीसरा रूप रासो है, जो किसी राजा की पूरी जीवन-गाथा को लेकर विरचित होता रहा।" डॉ॰ स्रोक्ता जी के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि रास के अन्तिम दो रूपों में तो अभिनेयता का सर्वथा श्रभाव ही है, किन्तु उन्होंने प्रथम वर्ग में ग्रानेवाली रचनाग्रों 'गय-सुकुमार-रास' व 'भरतेश्वर वाहवली रास' का विवेचन इतने चलताऊ ढंग से किया है कि जिससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये दोनों ग्रन्थ भी मूलतः नाट्य-रासक हैं। 'गय-सुकुमार-रास' का जो थोड़ा सा परिचय दिया गया है, उससे उसके पात्रों के नाम व कथा-वस्तु का संकेत मात्र मिलता है, उसके नाटकीय तत्त्वों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता । श्रतः इसे हिन्दी का श्रादि नाटक कहना संदेहास्पद है।

मैथिली नाटक

हिन्दी का प्राचीनतम नाटक-साहित्य जो वास्तव में नाटकीय तत्त्वों से युक्त है, मैथिली भाषा में मिलता है। महाकवि विद्यापित द्वारा रचित अनेक नाटक वताये जाते हैं, किन्तु उनमें से ग्रव 'गोरक्ष-विजय' ही उपलब्ध है। इसका गद्य भाग संस्कृत में व पद्य भाग मैथिली में है। ग्रप्रकाशित होने के कारण इसका ग्रधिक विवरण ग्रनुपलब्ध है। जब मिथिला के शासक-वर्ग के कुछ लोग नेपाल में चले गये, तो विद्यापित की नाट्य-परम्परा का विकास मिथिला ग्रीर नेपाल—दोनों प्रदेशों में साथ-साथ हुग्रा । नेपाल में रचित नाटकों में 'विद्या-विलाप' (१५३३ ई०), 'मुदित कुवलयाश्व' (१६२८ ई०), 'हर गौरी विवाह' (१६२६ ई०), 'उषा-हरण', 'पारिजात-हरण', 'प्रभावती-हरण' (१७वीं शती) ग्रादि उल्लेखनीय हैं। मिथिला के नाटकों में से गोविन्द का 'नल-चरित-नाटक' (१६३६ ई०), रामदास भा का 'म्रानन्दविजय नाटक', देवानन्द का 'उषा-हरण' (१७वीं शती), रमापति उपाच्याय का 'रुक्मिणी-हरण' (१८वीं शती), उमापति उपा-घ्याय का 'पारिजात-हरण' (१ नवीं शती) ग्रादि महत्त्वपूर्ण हैं। नेपाल ग्रीर मिथिला में रचित इन मैथिली नाटकों की परम्परा बीसवीं शती तक श्रक्षुण्ण रूप में मिलती है। इनकी रचना रंगमंच पर अभिनय करने के लिए होती थी, अतः इनमें अभिनेयता का गुण मिलता है । गद्य श्रीर पद्य दोनों का प्रयोग इनमें हुग्रा है । भाषा प्रायः सरल मैथिली है। मैथिली नाटकों के प्रभाव से आसाम और उड़ीसा में भी कई ऐसे नाटक लिखे गए, जिनमें विषय-वस्तू, शिल्प एवं भाषा-शैली की दृष्टि से परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर

रास-लीला नाटकों का विकास

जिस समय भारत के पूर्वी-प्रदेशों—िमिथला, ग्रासाम, उड़ीसा ग्रादि में उपर्युक्त मैं शिली-नाटक-साहित्य का विकास हो रहा था, ज़ज-प्रदेश में रास-लीला नाटकों का उद्भव हुग्रा। डॉ॰ दशरथ ग्रोमा ने रास-लीला नाटकों को जैन-किवयों द्वारा रिचत रासक या रासो काव्यों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वास्तव में दोनों में कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। ज़ज-प्रदेश में विकसित रास-लीलाग्रों का मूल प्रेरणा-म्रोत भागवत का रास सम्बन्धी वर्णन है। सर्व-प्रथम सोलहवीं शताब्दी में हित-हरिवंश जी को राधा-कृष्ण के ग्रलौकिक रास का दर्शन हुग्रा, जिसके ग्रनुकरण पर उन्होंने 'कृष्ण रास-मंडल' की स्थापना की ग्रौर रास-लीलाग्रों का ग्रायोजन किया। जिस रास-लीला के दर्शन हित-हरिवंश जी को हुए थे, वह कैसी थी, इसका चित्रण उन्होंने स्पष्ट रूप में किया—

श्राजु नागरी किशोरी भावती विचित्र ओर, कहा कहीं ग्रंग-अंग परम आघुरी ।। करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड गंड-गंड, परम सरस रास लास मंडली जुरी ॥ स्याम सुन्दरी विहार बांसुरी मृदंग तार, मघुर घोष नूपरादि किंकनी चुरी ॥ देखत हरिवंश श्रालि नस्तानी सुधंग चालि, वारि फेरि देत प्रान देह सी दुरी ॥

गोस्वामी जी के इस रास-लीला-वर्णन में नाटकीयता का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता । न ही तो इसमें कोई कथावस्तु है श्रीर न ही पात्रों का वार्तालाप । केवल क्रिया-विशेष का ही खुला वर्णन है। हमारी समक्त में नहीं म्राता कि यह रास-लीला भक्तों भीर साघकों को इतनी मनोमुग्घकारी क्यों प्रतीत हुई तथा रंग-मंच पर इसका ग्रिभनय किस प्रकार किया गया होगा। डॉ॰ ग्रोभा लिखते हैं--- 'इसका पुनः पुनः प्रदर्शन करने के लिए ललितसखी के गाँववाले कुछ लड़कों को इसके ग्रभिनय के लिए पूरी शिक्षा दी गई।" ग्रोक्ता जी के 'इस पूरी शिक्षा' वाले रहस्य को समक्तना कठिन है, किन्तु हम मान लेते हैं कि ऐसी लीलाएँ भ्रवश्य ब्रज में होती रही होंगी। भ्रागे चलकर इस रास-लीला का क्षेत्र कुछ व्यापक किया गया ग्रीर उसमें कथावस्तु के कुछ ग्रंशों व दूसरे क्रिया-व्यापारों को स्थान दिया गया । नन्ददास जी ने 'गोवर्द्धन लीला' एवं 'श्याम-सगाई-लीला' की रचना की तथा घ्रुवदासजी व चाचा वृन्दावनदास ने लगभग ४०-५० लीलाएँ लिखीं। श्रागे चलकर व्रजवासीदास ने ७४ लीलाएँ लिखीं। कृष्ण-लीला के नाटकों की शैली पर नर्रांसह लीला, भागीरथ लीला, प्रह्लाद लीला, दान लीला ग्रादि की रचना हुई। यद्यपि प्रारम्भिक लीलाएँ नाटक की भ्रपेक्षा कविताएँ भ्रघिक हैं, किन्तु घीरे-घीरे उनका विकास अभिनय के अनुकूल होता गया, यद्यपि उनका रूप अन्त तक पद्य-बद्ध ही रहा। वस्तुतः इस श्रेणी के नाटक 'रास-लीला' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनका प्रदर्शन ग्रब भी विभिन्न रास-मंडलियों द्वारा होता है। रास-लीलाग्रों में नृत्य ग्रीर गान की ही प्रधानता है।

पद्य-बद्ध नाटक

हिन्दी नाटक : उद्भवं और विकास

शैली की दृष्टि से रास-लीलाओं से भिन्न हैं तथा जिनका ग्रिभनय कदाचित् नहीं हुग्रा। इन नाटकों में रामायण महानाटक (१६६७ वि०), हनुमन्नाटक (हृदयराम, १६८० वि०), समयसार नाटक (वनारसीदास, १६९३ वि०), चंडी-चरित्र (गुरु गोविन्दिसह), प्रबोध-चन्द्रोदय (यग्रवन्तिसह, १७०० वि०), शकुन्तला नाटक (नेवाज, १७२७ वि०) ग्रौर सभासार नाटक (श्री रघुराम नागर, १७५७ वि०), करुणाभरण (कृष्ण जीवन लछीराम १७७२ वि०) उपलब्ध हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भी इस प्रकार नाटक ग्रौर भी लिखे गए। माधव-विनोद नाटक, जानकी रामचरित नाटक, रामलीला विहार नाटक, रामायण नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, नहुष नाटक ग्रौर ग्रानन्द रघुनन्द नाटक की रचना हुई। इन नाटकों में विशुद्ध पद्य का प्रयोग हुग्रा है तथा 'नाटक' के नाम के ग्रितिरक्त ग्रौर कोई ऐसी विशेषता नहीं मिलती, जिससे इन्हें नाटक कहा जा सके। हाँ, प्रवोध-चन्द्रोदय में ग्रवश्य मूल संस्कृत रचना के ग्रनुरूप ही नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है।

म्राधुनिक युग का नाटक साहित्य

हिन्दी में नाटक के स्वरूप का समृचित विकास ग्राधुनिक युग के ग्रारम्भ से होता हैं। सन् १८६० से ग्रव तक के युग को हम नाट्य-रचना की दृष्टि से तीनों खंडों में विभक्त कर सकते हैं: (१) भारतेन्द्र युग (१८६०-१६०० ई०), (२) प्रसाद युग (१६००-१६३०) ग्रीर (३) प्रसादोत्तर युग (१६३० से ग्रव तक)। इनमें से प्रत्येक युग के प्रमुख नाटककारों का परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(क) भारतेन्द्र युग-स्वयं वाबू भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का प्रथम नाटक श्रपने पिता बाबू गोपालचन्द द्वारा रचित 'नहुष नाटक' (सन् १८४१ ई०) को बताया है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह पूर्ववर्ती ब्रजभाषा पद्य-बद्ध नाटकों की ही परम्परा में श्राता है। सन् १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'ग्रिभिज्ञान शाकुन्तलम्' का ग्रनुवाद प्रका-शित करवाया। भारतेन्दु जी का प्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' (सन् १८६८ ई०) भी किसी वंगला के नाटक का छायानुवाद था। इसके ग्रनन्तर उनके ग्रनेक मौलिक व श्रनुवादित नाटक प्रकाशित हुए, जिनमें पाखंड-विडम्बनम् (१८७२), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७२), घनंजय-विजय, मुद्राराक्षस (१८७५), सत्य-हरिश्चन्द्र (१८७५), प्रेम योगिनी (१८७५), विषस्य-विषमौषधम् (१८७६), कर्पूर-मंजरी (१८७६), चन्द्रावली (१८७६), भारत दुर्दशा (१८७६), नीलदेवी (१८७७), अधेर-नगरी (१८८१), ग्रौर सती-प्रताप (१८८४ ई०) ग्रादि उल्लेखनीय हैं । भारतेन्द्र के नाटक मुख्यतः पौराणिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर ग्राधारित हैं। सत्य-हरिश्चन्द्र, धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर-मंजरी-ये चारों धनुवादित हैं। ग्रपने मौलिक नाटकों में उन्होंने सामाजिक कुरीतियों एवं धर्म के नाम पर होनेवाले कुकृत्यों म्रादि पर तीखा व्यंग्य किया है। 'पाखण्ड-विडम्बनं', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इसी प्रकार के नाटक हैं। 'विषस्य विषमौषधम्' में देशी-नरेशों की दुर्दशा पर आँसू बहाए गए हैं तथा छन्हें चेतातुद्वी स्त्रीत महित है तिह सिंद हो तका की सीरे-भीरे अग्रेज

सभी देशी रियासतों को ग्रपने ग्रधिकार में ले लेंगे। 'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु की राष्ट्र-भिक्त का स्वर उद्घोषित हुग्रा है। इसमें 'ग्रंग्रेज' को भारत-दुर्देव के रूप में चित्रित करते हुए भारतवासियों के दुर्भाग्य की कहानी को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्थान-स्थान पर विदेशी शासकों की स्वेच्छाचारिता, पुलिसवालों के दुर्थ्यवहार, भारतीय जनता की मोहान्धता पर गहरे ग्राघात किए गए हैं। कुछ ग्रालो-चक भारतेन्द्र-साहित्य को भली प्रकार न समम्भने के कारण भारतेन्द्र की राष्ट्रीयता के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सके। वस्तुतः उस युग में जबिक १८५७ की ग्रसफल क्रान्ति को लोग भूले नहीं थे, भारतेन्द्र ने ब्रिटिश शासन एवं उसके विभिन्न ग्रंगों की जैसी स्पष्ट ग्रालोचना ग्रपने साहित्य में की है, वह उनके उज्ज्वल देश-प्रेम एवं ग्रपूर्व साहस का परिचय देती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को संस्कृत, प्राकृत, बँगला व ग्रंग्रेजी के नाटक-साहित्य का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने इन सभी भाषाओं से अनुवाद किए थे, नाट्य-कला के सिद्धान्तों का भी उन्होंने सूक्ष्म ग्रघ्ययन किया था, जो उनकी रचना 'नाटक' से सिद्ध है। साथ ही उन्होंने अपने नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की थी तथा उन्होंने अभिनय में भाग भी लिया था। इस प्रकार नाट्य-कला के सभी ग्रंगों का उन्हें पूरा ज्ञान ग्रौर अनुभव था। यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूँढ़ें, जिसने नाट्य-शास्त्र के गम्भीर ग्रध्ययन के आघार पर नाट्य-कला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी ग्रौर विदेशी नाटकों का ग्रघ्ययन व ग्रनुवाद किया हो, जिसने वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना की हो श्रौर जिसने नाटकों की रचना ही नहीं, श्रपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया हो-इन सब विशेषताओं से सम्पन्न नाटककार हिन्दी में ही नहीं समस्त विश्व-साहित्य में केवल दो-चार ही मिलेंगे, ग्रौर उन सवमें भारतेन्दु का स्थान सबसे ऊँचा होगा । उनके नाटकों में जीवन ग्रीर कला, सौन्दर्य ग्रीर शिव, मनो-रंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वाभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। यह ग्राश्चर्य की बात है कि ऐसे उच्चकोटि के नाटककार की केवल कुछ उपेक्षणीय दोषों के आधार पर डॉ॰ श्यामसुन्दर दास जैसे ग्रालोचक ने भर्त्सना की है। भारतेन्दु द्वारा लिखे गए गम्भीर ग्रालोचनात्मक ग्रन्थ-'नाटक' को उन्होंने किसी ग्रन्य व्यक्ति द्वारा रचित घोषित कर दिया, जबिक इस ग्रन्थ की भूमिका में भारतेन्दु ने स्पष्ट रूप से इसे स्वरचित स्वीकार किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा व उनके प्रभाव से उस युग के अनेक लेखक नाट्य-रचना में प्रवृत्त, हुए। श्री निवासदास ने 'रणधीर और प्रेममोहिनी', राधा-कृष्णदास ने 'दुःखिनी वाला' और 'महाराणा प्रताप', खंगवहादुरलाल ने 'भारत-ललना', वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत-सौभाग्य', तोताराम वर्मा ने 'विवाह-विडम्बन', प्रतापनारायण मिश्र ने 'भारत-दुर्दशा रूपक' और राधाचरण गोस्वामी ने 'तन-मन-धन श्री गोसाईंजी के श्रपंण' श्रादि नाटक लिखे। इन नाटकों में भारतेन्द्र हिरश्चन्द्र की ही प्रवृत्तियों का अतुक्रसणक्ष स्थान हिराह्म स्थान स्थान सुधार, देश-

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास

प्रेम या हास्य-विनोद की प्रवृत्ति मिलती है। इनमें गद्य खड़ीवोली में तथा पद्य ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुग्रा है। संस्कृत नाटकों के अनेक शास्त्रीय लक्षणों की इनमें उपेक्षा की गई है। भाषा पात्रों के अनुरूप रखी गई है। शैली में सरलता, स्वाभाविकता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं। वस्तुतः भारतेन्दु-युग का नाटक-साहित्य जनता के बहुत समीप था तथा वह 'लोक-रंजन' एवं 'लोक-रक्षण'—दोनों के तत्त्वों से युक्त रहा है। उसने पाट्य और दृश्य—दोनों रूपों में तत्कालीन लोक-हृदय का अनुरंजन किया।

(ख) प्रसाद-युग—ग्रायुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य के दूसरे प्रभावशाली नेता जयशंकर प्रसाद हुए। यद्यपि भारतेन्द्र युग की समाप्ति एवं जयशंकर प्रसाद के श्रागमन से पूर्व हिन्दी में ग्रनेक नाटक लिखे गए, जिनमें ग्रियकांश संस्कृत, वंगला व ग्रंग्रेजी से ग्रनुवादित हैं, किन्तु वे ग्रियक महत्वपूर्ण नहीं माने जाते। ग्रनुवाद के माच्यम से वंगला के द्विजेन्द्रलाल राय ग्रीर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव हिन्दी के नाटककारों पर पड़ा, जिससे उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। पहले जहाँ पौराणिक एवं किल्पत कथानकों को ग्रहण किया जाता था, वहाँ नए युग में ऐतिहासिक विषयों को ग्रपनाया गया। पूर्ववर्ती समाज-सुधारक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण के स्थान पर सांस्कृतिक एवं दार्शनिक चित्रण को ग्रिथक महत्व प्राप्त हुग्रा। ग्रस्तु, इस परिवर्तन की सूचना सबसे पूर्व जयशंकर प्रसाद के नाटकों में मिलती है।

श्री जयशंकर प्रसाद ने एक दर्जन से श्रिधिक नाटकों की रचना की-सज्जन (१६१० ई०), कल्याणी परिणय (१६१२), करुणालय (१६१३), प्रायश्चित्त (१६१४), राज्यश्री (१६१५), विशाख (१६२१), ग्रजातशत्रु (१६२२), कामना (१६२३-२४), जनमेजय का नाग-यज्ञ (१६२३), स्कंदगुप्त (१६२८), एक घूँट (१६२६), चंद्रगुप्त (१६३१) ग्रौर ध्रुव-स्वामिनी (१६३३)। भारतेन्द्र-युग के कवियों ने देश की दुर्दशा का वर्णन बारम्वार श्रपनी रचनात्रों में किया, जिसके प्रभाव से भारतवासियों में करुणा, ग्लानि, दैन्य एवं ग्रवसाद की भावना का विकास हो जाना स्वाभाविक था। ऐसी मन:-स्थिति में समाज एवं राष्ट्र विदेशी-शक्तियों से संघर्ष करने की क्षमता से शून्य हो जाता है। ग्रंतः प्रसाद जी ने ग्रपने देशवासियों में ग्रात्मगौरव, उत्साह, वल एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए ग्रतीत के गौरवपूर्ण दृश्यों को ग्रपनी रचनाग्रों में चित्रित किया। यही कारण है कि उनके ग्रधिकांश नाटकों का कथानक उस वौद्ध-युग से सम्वन्धित है, जब कि भारत की सांस्कृतिक पताका विश्व के विभिन्न भागों में फहरा रही थी। प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति को प्रसाद ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है; उसमें केवल उस युग की स्थूल रेखाएँ ही नहीं मिलतीं, तत्कालीन वातावरण के सजीव ग्रंकन की रंगीनी भी मिलती है। धर्म की बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा उन्होंने दर्शन की भ्रन्तरंग गुरिययों को स्पष्ट करना भ्रधिक उचित समक्ता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी उन्होंने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हुए उनमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन व विकास दिखाया है। मानव चरित्र के सत् ग्रीर ग्रसत् दोनों पक्षों को पूर्ण प्रतिनिधित्व उन्होंने प्रदान किया है। नारी-रूप को जैसी महानता, सूक्ष्मता, शालीनता एवं गम्भीरता वर्षि-प्रसम्बन्धे स्थान हर्ज़िल्हें एवं तजस्वी स्थान सिक्रिय एवं तेजस्वी

रूप उसे नाटककार प्रसाद ने प्रदान किया । प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में किसी-न-किसी ऐसे नारी पात्र की अवतारणा हुई है, जो धरतों के दुःखपूर्ण अन्धकार के वीच प्रसन्नता की ज्योति की भाँति उद्दीस है; जो पाश्चिकता, दनुजता और क्रूरता के वीच क्षमा, करुणा एवं प्रेम के दिव्य संदेश की प्रतिष्ठा करती है; जो अपने प्रभाव से दुर्जनों को सज्जन, दुराचारियों को सदाचारी और नृशंस अत्याचारियों को उदार लोक-सेवी वना देती है। 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' की उक्ति प्रसाद की इन दिव्य नायिकाओं पर पूर्णतः लागू होती है।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटकों में पूर्वी श्रौर पश्चिमी तत्त्वों का सिम्मिश्रण मिलता है। जहाँ उनके नाटकों में कथावस्तु, रस, नायक, प्रतिनायक, विदूषक, श्रील-निरूपण, सत्य श्रौर न्याय की विजय में भारतीय नाट्य-साहित्य की परम्पराग्रों का पालन हुग्रा है, वहाँ पाश्चात्य नाटकों के संघर्ष एवं व्यक्ति-वैचित्र्य का निरूपण भी उनकी रचनाग्रों में हुग्रा है। भारतीय नाटकों की रसात्मकता इनमें भरपूर मिलती है, तो दूसरी श्रोर पाश्चात्य नाटकों की सी कार्य-व्यापार की गतिशीलता भी उनमें विद्यमान है। भारतीय नाटककार सुखान्त को पसन्द करते हैं—पश्चिम के कलाकार दुःखान्त को। प्रसाद ने श्रपने नाटकों का श्रन्त इस ढंग से किया है कि हम उन्हें सुखान्त भी कह सकते हैं श्रौर वुःखान्त भी; न उन्हें सुखान्त कह सकते हैं श्रौर न दुःखान्त ही। वस्तुतः उनका श्रन्त एक ऐसी वैराग्यपूर्ण भावना के साथ होता है, जिसमें नायक की विजय तो हो जाती है, किन्तु वह फल का उपभोग स्वयं नहीं करता; उसे वह प्रतिनायक को ही लौटा देता है। इस प्रकार के विचित्र श्रन्त को 'प्रसादांत' की संज्ञा दी गई है।

रंगमंच व ग्रिमनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में ग्रनेक दोष मिलते हैं। उनका कथानक इतना विस्तृत एवं विश्वास्त्रिलित सा है कि उसमें उनसे शिथिलता ग्रा जाती है। उन्होंने ग्रनेक ऐसी घटनाग्रों एवं दृश्यों का ग्रायोजन किया है, जो रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त एवं उचित नहीं। लम्बे-लम्बे स्वगत कथन एवं वार्तालाप, गीतों का ग्रत्यधिक प्रयोग, दर्शन शास्त्र की सूक्ष्म एवं जिंटल उक्तियों का समावेश, सर्वत्र संस्कृत-गिमत भाषा का प्रयोग, वातावरण की गम्भीरता ग्रादि बातें उनके नाटकों की ग्रिभनेयता में बाधक सिद्ध होती हैं। वस्तुतः ग्रपने नाटकों में प्रसाद किव-दार्शनिक ग्रिधिक हैं, नाटककार कम। उनके नाटक विद्वानों द्वारा गम्भीर मनन की वस्तु हैं, जन-साधारण के सामने उनका सफल प्रदर्शन नहीं किया जा सकता।

प्रसाद-युग के भ्रन्य नाटककारों में माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन युद्ध), पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त (बरमाला, राजमुकुट भ्रादि), पाण्डेय बेचन भर्मा 'उग्न' (महात्मा ईसा), मुंशी प्रेमचन्द (कर्बला, संग्राम) भ्रादि उल्लेखनीय हैं। यह ध्यान रहे कि विषय एवं शैली की दृष्टि से इन नाटककारों में परस्पर थोड़ा-बहुत भ्रन्तर है, तथा ये सभी नाटकों के भ्रतिरिक्त साहित्य के भ्रन्य भ्रंगों की भी पूर्ति करते रहे हैं, भ्रतः नाटककार के रूप में इनकी कोई विशिष्टता-लहीं किन्नसीवा Math Collection, Varanasi.

प्रसादोत्तर नाटक साहित्य

(क) ऐतिहासिक नाटक—प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का पर्यात विकास हुआ । इस क्षेत्र में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट तथा श्रन्य कतिपय नाटककारों ने महत्वपूर्ण योग दिया । हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों में 'रक्षावन्धन' (१६३४), 'शिव-साधना' (१६३७), 'प्रतिशोध' (१६३७), 'स्वप्न-भंग' (१६४०), 'ग्राहुति' (१६४०), 'उद्धार' (१६४६), 'शपथ' (१६५१), 'भग्न-प्राचीर' (१६५४), 'प्रकाश-स्तम्भ' ('५४), 'कीर्ति-स्तम्भ' ('५५), 'संरक्षक' ('५८), 'विदा' ('५८), 'संवत्-प्रवर्त्तन' ('५६), 'साँपों की सृष्टि' ('५६), 'ग्रान का मान' (१६६१) ग्रादि को लिया जा सकता है। प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अति प्राचीन या सुदूर पूर्व के इतिहास को न लेकर प्रायः मुस्लिम-कालीन भारतीय इतिहास को लेतें हुए उसके सन्दर्भ में श्राधुनिक युग की अनेक राजनीतिक, साम्प्रदायिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सकल प्रयास किया है। उनके विभिन्न नाटकों से राष्ट्र-भक्ति, ग्रात्म-त्याग, बिलदान, हिन्दू-मुस्लिम एकता ग्रादि भावों एवं प्रवृत्तियों की उद्दीप्ति एवं पुष्टि होती है। उन्होंने इतिहास का उपयोग रोमांस की सृष्टि के लिए नहीं, ग्रपितु ग्रादशों की स्थापना के लिए किया है। नाट्य-कला एवं शिल्प की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ प्रायः निर्दोष एवं सफल सिद्ध होती हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा इतिहास के विशेषज्ञ हैं, उनकी यह विशेषज्ञता उपन्यास धौर नाटक—दोनों के माघ्यम से व्यक्त हुई है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में 'फाँसी की रानी' (१६४८), 'पूर्व की धोर' ('४०), 'वीरवल' ('४०), 'ललित विक्रम' ('४३) ध्रादि उल्लेखनीय हैं। इनके ध्रतिरिक्त वर्माजी ने सामाजिक नाटक भी लिखे हैं, जिनकी चर्चा ध्रन्यत्र की जायगी। वर्माजी के नाटकों में कथावस्तु एवं घटनाध्रों पर विशेष वल मिलता है, तथा कहीं-कहीं वे ग्रति घटना-प्रधान हो गए हैं। फिर भी दृश्य-विधान की सरलता, चरित्र-चित्रण की स्पष्टता, भाषा की उपयुक्तता एवं गतिशीलता तथा संवादों की संक्षिप्तता के कारण इनके नाटक ग्रभिनय की दृष्टि से सफल हैं।

गोविन्दवल्लभ पंत ने अनेक सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। उनके 'राज-मुकुट' (१६३५), 'अन्तःपुर का छिद्र' (१६४०) ग्रादि ऐतिहासिक नाटक हैं। पहले नाटक में मेवाड़ की पन्ना घाय का पुत्र-बिलदान तथा दूसरे में वत्सराज उदयन के अन्तःपुर की कलह का चित्रण प्रभावोत्पादक रूप में किया गया है। पंतजी के नाटकों पर संस्कृत, ग्रंग्रेजी, पारसी ग्रादि विभिन्न परम्पराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। श्रभिनेयता का उन्होंने अत्यधिक घ्यान रखा है।

मूलतः श्रन्य क्षेत्रों से संबद्ध होते हुए भी ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में यदा-कदा प्रवेश करने वाले लेखकों की कृतियों में से यहाँ ये उल्लेखनीय हैं—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'श्रशोक' (१६३५), 'रेवा' ('३८); सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष' ('४२), 'शशिगुप्त'

('४२), 'कुलीनता' ('४१); उदयशंकर भट्ट का 'मुक्ति-पथ' ('४४), 'दाहर' ('३३), 'शक-विजय' ('४६); सियारामशरण गुप्त का 'पुण्य-पर्व' ('३३); लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'गरुड़-घवज' ('४८), 'वत्मराज' ('४०), 'वितस्ता की लहरें' ('४३); उपेन्द्र नाथ अश्रक का 'जय-पराजय' ('३७); सत्येन्द्र का 'मुक्ति-यज्ञ' ('३७), सुदर्शन का 'सिकन्दर' ('४७), वेकुण्ठनाथ दुग्गल का 'समुद्रगुप्त' ('४६), जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' का 'गौतम नन्द', बनारसीदास करणाकर का 'सिद्धार्थ बुद्ध' ('४५), जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' ('४१), देवराज दिनेश के 'यशस्वी भोज' श्रौर 'मानव-प्रताप' ('४२), चतुरसेन शास्त्रों का 'छत्रसाल' ('४४) ग्रादि । कुछ लेखकों ने जीवनी-परक नाटक भी लिखे हैं, यथा—लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'किव भारतेन्द्र' ('४५) तथा सेठ गोविन्ददास ने 'भारतेन्द्र' ('४५), 'रहीम' ('४५) ग्रादि की रचना की है । इन्हें भी हम ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दे सकते हैं ।

ऐतिहासिक नाटकों की उपर्युक्त सूची से इनकी प्रगति एवं ग्रिभवृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि यहाँ इनके विस्तृत विश्लेषण व विवेचन के लिए अवकाश नहीं है, किन्तु सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि इनमें इतिहास ग्रीर कल्पना का सन्तुलित संयोग मिलता है। अधिकांश नाटकों में इतिहास की केवल घटनाग्रों को ही नहीं, ग्रिपतु उनके सांस्कृतिक वातावरण को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पात्रों के अन्तर्द्धन्द्द, युगीन चेतना एवं तात्कालिक सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास भी अनेक नाटककारों ने किया है। कला, शिल्प ग्रीर शैली की दृष्टि से भी इनमें पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में विकास दृष्टिगोचर होता है। पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक ज्ञान, विचार एवं प्रयोग की नूतनता पर ग्रिधक वल दिये जाने के कारण रोचकता एवं प्रभावोत्पादकता में भी न्यूनता ग्रा गई है।

(ख) पौराणिक नाटक—इस युग में पौराणिक नाटकों की परम्परा का भी विकास हुआ। विभिन्न लेखकों ने पौराणिक आधार को ग्रहण कहते हुए अनेक उत्कृष्ट नाटक प्रस्तुत किए, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है: सेठ गोविन्ददास का 'कर्त्तव्य' (१६३५), चतुरसेन शास्त्रों का 'मेधनाद' ('३६); पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उमिला' ('४०); सद्गुरशरण अवस्थी का 'मेकली रानी'; रामवृष्त बेनीपुरी का 'सीता की माँ'; गोकुलचन्द्र शर्मा का 'ग्रिनय रामायण'; किशोरोदास वाजपेयी का 'सुदामा' (१६३६); चतुरसेन शास्त्रों का 'राधाकृष्ण'; वीरेन्द्रकुमार गुप्त का 'सुमद्रा-परिणय'; कैलाशनाथ भटनागर के 'भीम-प्रतिज्ञा' (१६३४); ग्रीर 'श्रीवत्स' (१६४१); उदयशंकर भट्ट के 'विद्रोहिणी ग्रम्वा' (१६३५) ग्रीर 'सगर-विजय' (१६३७); पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्न' का 'गंगा का वेटा' ('४०), डा० लच्मणस्वरूप का 'नल-दमयन्ती' ('४१); प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का 'श्री शुक' ('४४); तारा मिश्र का 'देवयानी' ('४१); गोविन्ददास का 'कर्ण' ('४६); कामनिधि शास्त्रों का 'प्रणपूर्ति' ('४०); उमाशंकर बहादुर का 'वचन का मोल' ('४१); गोविन्दवल्सम पंत का 'प्रयाति' ('४१); डा० कृष्णवास भारद्वाज का 'ग्रजातवास' ('४२); मोहनलाल 'जिज्ञासु' का 'पर्वदान' ('४२); हरिशंकर सिनहा 'श्रीवास' का 'माँ दुर्गे' ('४३); लक्मोनारायण मिश्र के 'नारद की वीणा' ('४६), ग्रीर СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanassi!' ('४६), ग्रीर

'चक्र-व्यूह' ('५४), रांगेय राघव का 'स्वर्गभूमि का यात्री' ('५१), मुखर्जी गुंजन का 'शक्तिपूजा' ('५२); जगदीश का 'प्रादुर्भान' (५५); सूर्यनारायण मूर्त्ति का 'महानाश की ध्रोर' ('६०) ब्रादि । डा० देवींष सनाट्य शास्त्री ने अपने शोध-प्रवन्ध में इनकी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित किया है कि 'इनका कथानक पौराणिक होते हुए भी उसके व्याज से आज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । पौराणिक चरित्रों द्वारा किसी ने कर्त्तव्य के ब्रादर्श को पाठकों के सम्मुख रक्खा है, किसी ने किसी उपेक्षित पात्र के साथ सहानुभूति के दो आँसू बहाए हैं । किसी ने जाति-पाँति के भेद की समस्या का समाधान ढूँढ़ा है तो किसी ने नारी के गौरव के प्रति अपनी श्रद्धा के फूल अपित किए हैं । अधिकांश नाटककार इन पौराणिक नाटकों द्वारा ब्राज के जीवन को देखने लगे हैं।

इन नाटकों की दूसरी विशेषता है—प्राचीन संस्कृति के भ्रावार पर पौराणिक गाथाओं के असम्बद्ध एवं भ्रसंगत सूत्रों में सम्बन्ध एवं संगति स्थापित करने का प्रयास । तीसरे, वे हमें भ्राज के जीवन की संकीर्णताओं एवं सीमाओं से ऊपर उठाकर जीवन की व्यापकता एवं विशालता का सन्देश देते हैं। रंग मंच एवं नाटकीय शिल्प की दृष्टि से भ्रवश्य इनमें भ्रनेक नाटक दोष-पूर्ण सिद्ध होंगे, किन्तु गोविन्दवल्लभ पंत, सेठ गोविन्दवास, लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे मंजे हुए नाटककारों ने इसका पूरा व्यान भी रक्खा है। भ्रस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये नाटक विषय-वस्तु की दृष्टि से पौराणिक होते हुए भी प्रतिपादन-शैली एवं कला के विकास की दृष्टि से भ्राधुनिक हैं तथा वे भ्राज के सामा-जिक की रुचि एवं समस्याओं के प्रतिकृत नहीं हैं।

(ग) समस्या-प्रधान नाटक-इस युग के कल्पनाश्रित नाटकों को भी उनकी मूल-प्रवृत्ति की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) समस्या-प्रधान नाटक (२) भाव-प्रधान नाटक एवं (३) प्रतीकात्मक नाटक । समस्या-प्रधान नाटकों का प्रचलन मुख्यतः इव्सन, वर्नार्ड शा भ्रादि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से ही हुम्रा है । पाश्चात्य नाटक के क्षेत्र में रोमांटिक नाटकों की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप यथार्थवादी नाटकों का प्रादुर्भाव हुम्रा, जिनमें सामान्य जीवन की समस्याम्रों का समाधान विशुद्ध वौद्धिक दृष्टि-कोण से खोजा जाता है। इनमें विशेषतः यौन समस्याग्रों को ही लिया गया है। वाह्य द्वन्द्व की अपेक्षा इनमें ग्रान्तरिक या मानसिक द्वन्द्व अधिक दिखाया गया है। स्वगत-भाषण, गीत, काव्यात्मकता श्रादि का इनमें परित्याग कर दिया गया है । विषय-वस्तु की दृष्टि से इन्हें भी दो उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मनोवैज्ञानिक एवं (२) सामाजिक । मनोवैज्ञानिक नाटकों में मुख्यतः काम सम्बन्धी समस्याग्रों का विश्लेषण यौन-विज्ञान एवं मनोविश्लेषण के भ्राघार पर प्रस्तुत किया गया है । इस वर्ग में मुख्यतः लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक ग्राते हैं। दूसरे वर्ग में ग्राज के युग ग्रौर समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान भ्रादर्शवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग के लेखकों में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क', वृन्दावनलाल वर्मा, हरिक्रुष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पंत के नाम उल्लेखनीय हैं।

लक्मीनारायण मिश्र के समस्या-प्रधान नाटकों में 'संन्यासी' (१६३१), 'राक्षस CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. का मंदिर' ('३१), 'मुक्ति का रहस्य' ('३२), 'राजयोग' ('३४), 'सिन्दूर की होली' ('३४), 'श्राघी रात' ('३७) ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रतिरिक्त इन्होंने कुछ ऐति-हासिक नाटक भी लिखे थे जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। मिश्रजी के इन नाटकों में बौद्धिकताबाद, यथार्थवाद एवं फायडवाद की प्रमुखता है। इब्सन, शा ग्रादि पाश्चात्य नाटककारों की भाँति इन्होंने भी जीवन के प्रति विशुद्ध बौद्धिकताबादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए पूर्ववर्ती रोमांसवादी या भावुकताबादी दृष्टिकोण का विरोध किया है। उनके ग्रधिकांश नाटकों में यौन सम्बन्धी प्रवृत्तियों एवं काम-समस्याओं को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क', वृन्दावनलाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी ग्रादि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों के ग्रतिरिक्त सामाजिक समस्याग्रों का चित्रण भी ग्रपने श्रनेक नाटकों में किया है, जिनमें से 'कुलीनता' ('४०), 'सेवा-पथ' ('४०), 'दु:ख क्यों ?' ('४६), 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' ('३०), 'त्याग या ग्रहण' ('४३), 'संतोष कहाँ' ('४५), 'पाकिस्तान' ('४६), 'महत्त्व किसे' ('४७), 'गरीबी ग्रौर ग्रमीरी' ('४७), 'बड़ा पापी कौन' ('४८) ग्रादि उल्लेखनीय हैं। सेठजी ने ग्राधृनिक युग की विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय समस्याग्रों का चित्रण सफलतापूर्वक किया है।

उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क' को न तो लक्ष्मीनारायण मिश्र की भाँति विशुद्ध यथार्थवादी कहा जा सकता है ग्रीर न ही सेठजी की भाँति ग्रादर्शवादी; वे इन दोनों के बीच की स्थिति में हैं, ग्रतः उन्हें ग्रादर्शोन्मुख यथार्थवादी कहना उचित होगा। उन्होंने व्यक्ति, समाज ग्रीर राष्ट्र की विभिन्न समस्याग्रों का चित्रण जहाँ यथार्थ के स्तर पर किया है, वहाँ उनके मूल में सुघार या क्रान्ति की भावना निहित्त है, जो ग्रादर्शवाद की सूचक है। उनके प्रमुख नाटकों में 'स्वर्ग की भलक' ('३६), 'कैद' ('४६), 'उड़ान' ('४६), 'छठा बेटा' (४६), 'ग्रलग-ग्रलग रास्ते' ('४६) ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इन्होंने ग्रपने नाटकों में नारीशिक्षा, नारी-स्वातंत्र्य, विवाह-समस्या, संयुक्त-परिवार ग्रादि से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर सामाजिक दृष्टि से तीखे व्यंग्य किए हैं। ग्रनेक नाटकों में उन्होंने ग्राधुनिक समाज की स्वार्थपरता, धन-लोलुपता, कामुकता, ग्रनैतिकता ग्रादि का भी चित्रण यथार्थवादी शैली में किया है। पर ग्रश्क की नाट्य-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समस्याग्रों ग्रीर समाधानों को उपदेशात्मक एवं गम्भीर रूप में प्रस्तुत नहीं करते, ग्रपितु उनका निदर्शन हास्य-व्यंग्यमयो शैली में करते हैं, जिससे उनका प्रभाव ग्रीर ग्रधिक तीखा हो जाता है। रंगमंच ग्रीर शैली की दृष्टि से तो उनकी तुलना किसी भी ग्रन्य नाटककार से करना कठिन है।

वृत्वावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों ग्रौर नाटकों के ग्रतिरिक्त सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में से भी सफलता प्राप्त की है। उनके इस वर्ग के नाटकों में से 'राखी की लाज' (१६४३), 'बाँस की फाँस' ('४७), 'खिलौने की खोज' ('५०), 'केवट' ('५१), 'नीलकंठ' ('५१), 'सगुन' ('५१), 'निस्तार' ('५६), 'देखा-देखी' ('५६) ग्रादि प्रमुख हैं। वर्माजी ने इन नाटकों में विवाद्ध, जातिना हैंदि, जहें साती का विषय, नेताओं हन्दी नाटक : उद्भव और विकास

को स्वार्थ-परायणता आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का ग्रंकन प्रस्तुत किया है।

गोविन्दवल्लभ पंत के सामाजिक नाटकों में 'ग्रंगूर की बेटी' (१६३७), 'सिन्दूर की विन्दी' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहली रचना में मदिरा-पान के विषम एवं भयंकर परिणामों का दिग्दर्शन कराते हुए ग्रन्त में इस व्यसन से मुक्ति पाने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। 'सिन्दूर की विन्दी' में भ्रष्ट एवं परित्यक्त नारी की समस्या का चित्रण श्रत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार पंतजी के नाटकों में सर्वत्र समाज-सुधार की भावना परिलक्षित होती है, किन्तु साथ ही उनमें रोचकता ग्रौर कलात्मकता का भी ग्रभाव नहीं है।

पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' (१६३८), 'ग्रपराघी' ('३६), 'साध' ('४४) ग्रादि सामाजिक नाटकों की रचना की है, जिनमें उन्मुक्त-प्रेम, विवाह तथा सामाजिक न्याय से सम्विन्धत विभिन्न प्रश्नों को प्रस्तुत किया गया है। 'दुविधा' की नायिका स्वच्छन्द-प्रेम एवं विवाह में से किसी एक को चुनने की दुविधा से ग्रस्त दिखाई गई है। यही समस्या 'साध' में भी है। इस दृष्टि से वे लच्मीनारायण मिश्र के समीप पड़ते हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण मिश्रजी के दृष्टिकोण की भाँति श्रति यथार्थवादी नहीं है।

इस युग के अन्य सामाजिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट के द्वारा रचित 'कमला' ('३६)', मुक्ति-पथ' ('४४), 'क्रान्तिकारी' ('४३); हिरकुष्ण 'प्रेमी' का 'छाया'; प्रेम-चंद का 'प्रेम की वेदी' ('३३), चन्द्रशेखर पाण्डेय की 'जीत में हार' ('४२); जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' ('४०), चतुरसेन शास्त्री का 'पग व्वित' ('४२), दयानाथ का का 'कर्मपथ' ('४३); जयनाथ निलन का 'ग्रवसान' शंभूनाथ सिंह का 'घरती ग्रौर ग्राकाश' ('४४); ग्रमथकुमार 'यौंघेय' का 'नारी की साधना' ('४४); रघुवीरशरण मिश्र का 'भारत माता' ('४४); श्री संतोष का 'मृत्यु की ग्रोर'; तुलसी भाटिया का 'मर्यादा'; रामनरेश त्रिपाठी का 'पैसा परमेशवर' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन लेखकों में से अधिकांश मूलतः नाटककार न होकर किव या उपन्यासकार हैं, किन्तु फिर भी इन्होंने ग्रपने युग, समाज ग्रौर राष्ट्र की विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं समस्याग्रों का ग्रंकन इनमें कुशलतापूर्वक किया है। विषय-प्रतिपादन एवं नाट्य-शिल्प की दृष्टि से ग्रिध-कांश रचनाएँ सफल एवं रोचक हैं।

गीतिनाटक—कल्पनाश्चित नाटकों का दूसरा वर्ग भावप्रधान नाटकों का है, जिन्हें शैली की दृष्टि से सामान्यतः 'गीतिनाटक' नाम दिया जाता है। इस वर्ग के नाटकों के लिए भाव की प्रमुखता के साथ-साथ पद्य का माघ्यम भी अपेक्षित होता है। ग्राधुनिक युग में रिचत हिन्दी का पहला गीतिनाटक जयशंकर प्रसाद द्वारा रिचत 'करुणालय' (१६१२) माना जाता है। इसमें पौराणिक ग्राधार पर राजा हरिश्चन्द्र तथा शुनःशेप की बिल की कथा प्रस्तुत की गई है। प्रसाद के ग्रनन्तर एक दीर्घ समय तक गीति-नाटकों के क्षेत्र में कोई नया प्रयास नहीं हुग्रा, किन्तु परवर्ती युग में ग्रनेक गीति-नाटक लिखे गए, यथा—मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा 'स्वर्ण-

विहान'; उदयशंकर भट्ट के द्वारा 'मत्स्यगंघा', 'विश्वामित्र', 'राघा' ग्रादि; सेठ गोविन्द-दास के द्वारा 'स्नेह या स्वर्ग' (१६४६); भगवतीचरण वर्मा द्वारा 'तारा' ग्रादि । इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता उदयशंकर भट्ट को मिली हैं। उन्होंने ग्रपने पात्रों की विभिन्न भावनाग्रों एवं उनके ग्रन्तर्द्वन्द्व को ग्रत्यन्त सशक्त एवं संगीतात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इनमें पात्रों के संवाद भी प्रायः लय ग्रीर संगीत से परिपूण शब्दों में प्रस्तुत हुए हैं। गीति-नाटकों की परम्परा में सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजत शिखर' ग्रीर 'शिल्पी' (जिनमें उनके नौ गीति-नाट्य संगृहीत हैं), डॉ॰ धर्मवीर भारती का 'ग्रंधा युग', सिद्धकुमार का 'लीह देवता' ग्रादि उल्लेखनीय हैं।

(ङ) प्रतीकवादी नाटक—प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा का उत्थान प्रसाद के 'कामना' (१६२७) नाटक से माना जा सकता है। इसके ग्रनन्तर लिखे गये प्रतीकवादी नाटकों में से ये उल्लेखनीय हैं—सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्स्ना' ('३४), भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'छलना' ('३६), सेठ गोविन्ददास का 'नवरस', कुमार हृदय का 'नक्शे का रंग' ('४१) ग्रादि।

इघर स्वातंत्र्योत्तर युग के नाटककारों में से डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल ने भी प्रतीकात्मक नाटकों के माघ्यम से श्राधुनिक जीवन की विसंगतियों के उद्घाटन का प्रयास किया है। उनके नाटकों में से 'मादा कैक्टस' ('५७), 'सुन्दर रस', 'दर्पण' 'करफ्यू', 'तीन श्रांखों वाली मछली', 'सूखा सरोवर', 'रात की रानी', 'मिस्टर श्रभिमन्यु' श्रादि उल्लेखनीय हैं।

इस युग के प्रमुख नाटककारों में स्वर्गीय मोहन राकेश का नाम सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण हैं। उन्होंने 'श्राषाढ़ का एक दिन' ('१६), 'लहरों का राजहंस' ('६३), 'श्राधे-प्रधूरे' ('१६) श्रादि नाटकों के माध्यम से जीवन की यथार्थता का बोध प्रस्तुत किया है। 'श्राषाढ़ का एक दिन' संस्कृत के महाकवि कालिदास के चरित्र पर श्राधारित है जबिक 'लहरों का राजहंस' श्रश्वघोष के संस्कृत नाटक 'सौन्दरनन्द' पर श्राधारित है। दोनों का देश-काल प्राचीन होते हुए भी चरित्र-चित्रण, श्रन्तर्द्वन्द्व एवं संवेदनाश्रों की दृष्टि से वे श्राधुनिक हैं। 'श्राधे-श्रधूरे' पूर्णतः कल्पनाश्रित है जिसमें नारी-पुरुष, काम, प्रेम, विवाह श्रीर परिवार की समस्याश्रों को चित्रित करते हुए श्राज के दाम्पत्य-जीवन की विषमताश्रों के उद्घाटन का प्रयास किया गया है। राकेश के नाटक शिल्प एवं रंगमंच की दृष्टि से भी सफल सिद्ध हुए हैं।

विगत दो दशकों में अनेक नाट्य रचनाएँ प्रकाश में आई हैं, जिनमें नरेश मेहता की 'सुबह के घंटे' ('-६), 'उलभन', 'दामाद', 'खंडित यात्राएँ' आदि; विनोद रस्तोगी की 'आजादी के बाद', 'नये हाथ' आदि, विमला रैना की 'तीन युग', रेवती शरण शर्मा की 'चिराग की ली', 'अपनी घरती', शम्भूनाथ सिंह की 'घरती और आकाश', मन्तू भंडारी की 'विना दीवारों के घर', अजमोहन शाह की 'निरंकुश', लक्ष्मीनारायण मिश्र की 'चक्रव्यूह', 'वितस्ता की लहरें' आदि, सर्वदानन्द की 'भूमिका', चिरंजीत की 'तस्वीर इसकी' आदि उल्लेखनीय हैं अवस्त्राम्लवा Math Collection Varanasi.

जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया गया है तथा नाट्य शिल्प एवं ग्रभिनेयता का घ्यान रखा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नाटक का विकास ग्रनेक रूपों ग्रीर ग्रनेक दिशाग्रों में हुग्रा है फिर भी हिन्दी रंगमंच के ग्रभाव तथा एकांकी, रेडियो-रूपकों तथा चल-चित्रों की प्रतियोगिता के कारण इसके विकास की गित मंद रही है। वैसे पिछले कुछ वर्षों में ग्रव्यावसायिक संस्थाग्रों की ग्रीर से रंगमंच के विकास का प्रयास हो रहा है जिससे नाटक का भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ता है। यदि चल-चित्रों के माध्यम से साहित्यिक नाटकों को प्रस्तुत किया जा सके तथा चल-चित्र को भी नाट्य साहित्य का ग्रंग मान लिया जाय तो इससे दोनों की ही प्रगति सम्भव है। किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जबिक नाटककारों, फिल्म-निर्माताग्रों एवं दर्शकों के बीच सामंजस्य स्थापित हो। ग्राशा है कि निकट भविष्य में ऐसा सम्भव हो सकेगा।

ः छत्तीसः

हिन्दी उपन्यास : स्वरूप और विकास

- १. उपन्यास शब्द की व्याख्या।
- २. उपन्यास शब्द का प्रचलित ग्रर्थ ।
- ३. उपन्यास के तत्त्व।
- ४. उपन्यास के भेद या प्रकार।
- उपन्यास का उद्भव भ्रीर विकास ।
- ६. हिन्दी उपन्यास—(क) भारतेन्द्र-युग, (ख) खत्री-गहमरी-गोस्वामी, (ग) प्रेमचन्द भीर उनके भ्रनुयायी, (घ) जैनेन्द्र, जोशी, भगवतीचरण, (ङ) राहुल, यशपाल, (च) हजारीप्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, (छ) भ्रन्य।
- ७. उपसंहार।

'उपन्यास' शब्द का मूल धर्य है—'निकट रखी हुई वस्तु,' (उप—निकट, न्यास
—रखी हुई), किन्तु ग्राघुनिक युग में इसका प्रयोग साहित्य के एक ऐसे रूप-विशेष के लिए होता है, जिसमें एक दीर्घ कथा का वर्णन गद्य में किया जाता है। यद्यपि मूल ग्रर्थ से प्रचलित ग्रर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी कुछ विद्वानों ने दोनों में संगित बैठाने का प्रयत्न किया है। एक लेखक महोदय का विचार है कि उपन्यास में जीवन को बहुत निकट प्रस्तुत कर दिया जाता है, ग्रतः इसका यह नाम सर्वथा उचित है, किन्तु वे मूल गए हैं कि साहित्य के कुछ ग्रन्य ग्रंगों—जैसे कहानी, नाटक, एकांकी ग्रादि में भी जीवन को उपन्यास की ही मांति बहुत समीप उपस्थित कर दिया जाता है। प्राचीन काव्य-शास्त्र में इस शब्द का प्रयोग नाटक की 'प्रतिमुख-संधि' के एक उपभेद के रूप में किया गया है। भरत मुनि ने इसके लिए 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थः' तथा 'प्रसादनम्' ग्रादि विशेषण प्रस्तुत किए हैं, जिनका ग्रर्थ होता है—'किसी ग्रर्थ को युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करनेवाला तथा प्रसन्नता प्रदान करनेवाला' किन्तु यह बात साहित्य के ग्रन्य ग्रंगों पर भी लागू होती है। ग्रस्तु, 'उपन्यास' शब्द का कथा-साहित्य के ग्रंग-विशेष के लिए क्यों प्रयोग होने लग गया, तथा सबसे पूर्व किस व्यक्ति ने ऐसा किया—यह एक ग्रनुसंधान का विषय है।

ग्राघुनिक युग में 'उपन्यास' शब्द ग्रंग्रेजी के 'नॉवेल' (novel) के भ्रर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका ग्रर्थ जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, एक दीर्घ कथात्मक गद्य रचना है। 'वह वृहत् श्राम्हार क्या ग्राह्म अपन्ता सा हिता किया जिसके श्रम्तर्गत वास्तविक जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाले पात्रों ग्रीर कार्यों का चित्रण किया जाता है।'

गुजराती में 'नवल-कथा', मराठी में 'कादम्बरी' एवं बँगला में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग भी अंग्रेजी के 'नॉवेल' के अर्थ में ही किया जाता है। सम्भवतः हिन्दी में भी इस शब्द का प्रयोग वंगला के अनुकरण पर ही होने लगा है। खैर, यह अनुकरण चाहे ठीक हो या न हो, किन्तु अब इसका प्रचलन इतना अधिक हो गया है कि इसे हटाना, परिवर्तित करना या संशोधित करना सम्भव नहीं।

उपन्यास के तत्त्व

पाश्चात्य विद्वानों ने उपन्यास के मुख्यतः ये छः तत्त्व निर्घारित किए हैं, (१) कथा-वस्तु, (२) पात्र या चित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) देश-काल, (५) शैली ग्रीर (६) उद्देश्य। हमारे विचार से इस विश्लेषण में उपन्यास के एक बड़े महत्त्वपूर्ण तत्त्व की उपेक्षा की गई है श्रीर वह तत्त्व है भाव या रस। साहित्य का सबसे महत्त्व-पूर्ण तत्त्व—भाव माना गया है तथा साहित्य श्रीर दर्शन, साहित्य श्रीर विज्ञान को पृथक् करनेवाला तत्त्व भाव ही है। साहित्य का कोई भी ग्रंग या कोई भी रूप कितता, नाटक, उपन्यास इस भाव-तत्त्व से शून्य नहीं रह सकता, वह साहित्य की श्रेणी में ही नहीं श्रा सकता। वृन्दावनलाल के उपन्यासों में से भाव-तत्त्व को निकाल दीजिए, वे उपन्यास न रहकर इतिहास वन जाएँगे; जैनेन्द्र, श्रज्ञेय, जोशी के उपन्यासों को मनोविज्ञान श्रीर मनोविश्लेषण से पृथक् करनेवाला तत्त्व, भावनाश्रों का चित्रण ही है। श्राचार्यं गुलाबराय जी ने एक वार इस तत्त्व की श्रोर संकेत भी किया था, किन्तु विदेशी विद्वानों की विचार-शक्ति से हमारा दिमाग इस तरह श्रवरुद्ध रहता है कि उसमें स्वदेशी श्राचार्यों की मौलिक धारणाएँ कठिनता से प्रवेश पा सकती हैं।

उपन्यास की कथावस्तु में प्रमुख कथानक के साथ-साथ कुछ प्रासंगिक कथाएँ भी चल सकती हैं; किन्तु दोनों परस्पर सुसम्बद्ध होनी चाहिए। उसके कथानक का प्राचार वास्तविक जीवन होना चाहिए जिससे कि उसमें स्वाभाविकता रहे, किन्तु जिन उपन्यासों का लक्ष्य ही विचित्र घटनाथ्यों द्वारा ग्राश्चर्यजनक वातों का निरूपण करना हो, वहाँ यह नियम लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए श्रंग्रेजी के एच० जी० वेल्स ने श्रपने कथा-साहित्य में जान-बूभकर ही काल्पनिक-चमत्कारपूर्ण घटनाथ्यों का वर्णन किया है, ग्रतः यदि इस ढंग से उपन्यास लिखे जायँ तो उनमें ऐसा होना स्वाभाविक है। श्री प्रेमचन्द जी ने श्रपने 'काया-कल्प' में 'पुनर्जन्म' को ही उद्देश्य माना है ग्रतः उसमें एक ही पात्र के तीन जीवनों की घटनाथ्यों का समावेश होना स्वाभाविक है, भले ही वे पाठक जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते, इसे एक दोष बतावें।

उपन्यास के कथानक के तीन ग्रावश्यक गुण हैं—रोचकता, स्वाभाविकता एवं प्रवाह या गितशीलता। उपन्यास के प्रथम पृष्ठ में ही ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि पाठक के हृदय में ऐसा कौतूहल जागृत कर दे कि वह पूरी रचना को पढ़ने के लिए विवश हो जाय। यदि कोई पाठक किसी उपन्यास को जान-बूभकर ग्रधूरा छोड़ देता है, तो यह दोष पाठक का नहीं, ग्रपितु लेखक का है, जो श्रपने उपन्यास के कथानक में प्राण नहीं फूंक सका।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी स्वाभाविकता, सजीवता एवं क्रमिक विकास का होना भावश्यक है। प्राचीन महाकाव्यों की भाँति उपन्यास के पात्र न तो स्रति मानवीय होते हैं ग्रीर न ही उनका चरित्र प्रारम्भ से लेकर ग्रन्त तक एक जैसा होता है। पात्रों में वर्गगत विशिष्टताओं के साथ-साथ वैयक्तिक विशेषताओं का भी समन्वय होना चाहिए, म्रन्यथा उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाएगा। 'गोदान' में होरी, हीरा और शोभा —तीनों एक ही परिवार और एक ही वर्ग से सम्बन्धित हैं, किन्तु फिर भी तीनों में इतना सुक्ष्म अन्तर रखा गया है जिससे हम एक-दूसरे को पहचान सकें, अलग कर सकें। पात्रों के चरित्र में परिवर्तन या विकास परिस्थितियों व वातावरण के प्रभाव से क्रमणः दिखाया जाना चाहिए । कथोपकथन, देश-काल ग्रौर शैली पर भी स्वाभाविकता श्रीर सजीवता की बात लागू होती है। विचार, समस्या श्रीर उद्देश्य की व्यंजना इस ढंग से होनी चाहिए कि वह रचना की स्वाभाविकता एवं रोचकता में वाधक सिद्ध न हो। इन सभी तत्त्वों का लक्ष्य मुख्यतः पाठक को भावानुभूति प्रदान करना है, ग्रतः इनका समन्वय भाव-तत्त्व के अनुकुल होना चाहिए, न कि भाव-तत्त्व का इनके अनु-कुल। प्रत्येक उपन्यास में किसी एक भावना की प्रमुखता होती है; जैसे-प्रेमचन्दजी के 'निर्मला' श्रौर 'गोदान' में करुणा की; वर्माजी के 'मृगनयनी' में शौर्य्य या उत्साह की: जोशीजी के 'संन्यासी' में रित या प्रेम की । उपन्यास के भाव-तत्त्व की ग्रायोजना एवं उसका विश्लेषण रस-सिद्धान्त के म्राघार पर किया जाना उचित है। यदि हमारे लेखक ग्रौर भ्रालोचक इस भ्रोर व्यान दें तो नवीनतम उपन्यास-साहित्य में विकसित होनेवाली ग्रति वौद्धिकता व शुष्कता की प्रवृत्ति को नियंत्रित किया जा सकता है। जो विद्वान् विशुद्ध विचारात्मकता या शुष्क सिद्धान्त-प्रतिपादन में रुचि रखते हैं, उन्हें चाहिए कि वे उपन्यास को छोड़कर 'दर्शन', 'मनोविज्ञान' या 'तर्क-शास्त्र' के ग्रन्थों की रचना में प्रवृत्त हों, अन्यथा उपन्यास-साहित्य, उपन्यास-साहित्य न रहकर, 'उपन्यास-शास्त्र' वन जायगा।

भेद

हिन्दी के ग्रालोचकों ने उपन्यास के ग्रनेक भेद किए हैं, जैसे घटना-प्रधान, चित्र-प्रधान, सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक ग्रादि। यह वर्गीकरण वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा ग्रसंगत एवं ग्रव्यावहारिक है। क्या सामाजिक उपन्यासों में घटनाग्रों की प्रधानता नहीं होती? ग्रथवा मनोविश्लेषणात्मक में चित्र की प्रधानता नहीं होती? पहले दो वर्गों का सम्बन्ध उपन्यास के तत्त्वों से है, जब कि सामाजिक ग्रौर ऐतिहासिक का सम्बन्ध उनकी विषय-वस्तु से है। उपन्यासों का वर्गीकरण या तो उसके विषय के ग्राधार पर ग्रथवा तात्त्विक या शैलीगत विशेषताग्रों के ग्रनुसार होना चाहिए, किन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण में दोनों को ग्रनुचित ढंग से मिला दिया गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उपन्यास के भेदों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है—वैय-किक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक ग्रादि भिन्न, विषयों का समावेश हुए ग्राह्मों में किन्न हुए। असकता है विश्व के समावेश हुए ग्राह्मों में किन्न हुए। असकता है विश्व के समावेश हुए ग्राह्मों में किन्न हुए। असकता है विश्व के समावेश हुए ग्राह्मों में किन्न हुए। असकता है किन्न हुए। विश्व के समावेश हुए ग्राह्मों के समावेश हुए। समाजिक हुए। स्राह्म हुए। समाजिक हुए। समाजिक हुए। समाजिक हुए। समाजिक हुए। समावेश ह

के अनुसार मानव-जाति की रुचि में परिवर्तन होता जायगा, त्यों-त्यों उपन्यास का विषय भी बदलता रहेगा, ग्रतः विषय-वस्तु के ग्राधार पर किए गए वर्गीकरण को भी प्रत्येक युग में परिवर्तित करना पड़ेगा। इसी प्रकार उपन्यास-साहित्य के विकास के साथ-साथ उनमें नयी-नयी शैलियों का प्रयोग तथा नवीन शिल्पगत प्रवृत्तियों का विकास भी सदा होता रहेगा, श्रतः इनके श्राधार पर भी उपन्यास के भेदोपभेद को स्थायी रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। हम उपन्यास के तत्त्वों की प्रमुखता के आधार पर ही उसे इन सात वर्गों में विभाजित करना ग्रधिक उचित समभते हैं—(१) कथावस्तू-प्रधान या घटना-प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान, (३) कथोपकथन-प्रधान या संवादात्मक, (४) देश-काल-प्रधान या वातावरण-प्रधान, (५) शैली-प्रधान, (६) उद्देश्य-प्रधान या विचारात्मक प्रथवा समस्या-प्रधान भ्रौर (७) रस-प्रधान म्रथवा भावात्मक । यद्यपि प्रत्येक उपन्यास में उपर्युक्त सभी तत्त्व किसी न किसी मात्रा में विद्यमान रहते हैं, किन्तु फिर भी लेखक के दृष्टि-कोण, युग की प्रवृत्ति, ग्राधारभूत विषय के ग्रनुसार प्रत्येक उपन्यास में कोई एक तत्त्व प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। हिन्दी के प्रारम्भिक तिलस्मी, ऐयारी एवं जासूसी उपन्यासों में घटनायों की प्रधानता थी, तो श्रयोध्यासिंह उपाध्याय के 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' में कोरी शैली का ठाठ था। प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में समस्याग्रों की प्रमुखता थी, तो वुन्दावन-लाल वर्मा की रचनाग्रों में वातावरण या देश-काल की प्रमुखता है। इसी प्रकार जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी ग्रादि लेखकों की रचनाग्रों में जिन्हें 'मनोविश्लेषणात्मक' कहा गया है. मुख्यतः पात्रों के चरित्र के विश्लेषण को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। कूछ ऐसे उपन्यास भी रचे गए हैं ग्रीर रचे जा सकते हैं, जिनमें कथोपकथन का बाहुल्य हो या जिनमें विचारात्मकता की अपेक्षा भावात्मक उदगारों की प्रधानता हो। अतः हम सम-भते हैं कि इस प्रकार का वर्गीकरण उपन्यास-कला के स्वरूप एवं उसकी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने में भी सहायक सिद्ध होगा।

उपन्यास का उद्भव भ्रौर विकास

श्राधुनिक उपन्यास-साहित्य के रूप-विधान का विकास सबसे पहले यूरोप में माना जाता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन भारत में उपन्यास जैसी किसी विधा का प्रचार ही नहीं रहा। संस्कृत गद्य में लिखे गए पंचतन्त्र, हितोपदेश, वैताल-पंचविशति, बृहत्कथा-मंजरी, वासवदत्ता, कादम्बरी ग्रीर दशकुमार-चरित में हमें क्रमशः ग्रीपन्यासिकता का विकास मिलता है। पंचतन्त्र श्रीर हितोपदेश में पशु-पक्षियों का इतिवृत्त है, वैताल-पंचविशति ग्रीर बृहत्कथा-मंजरी में मानवीय घटनाग्रों का वर्णन है, किन्तु उनमें ग्रस्वाभाविकता ग्रा गई है, ग्रतः ग्राधुनिक उपन्यास से इनमें बहुत ग्रन्तर है। कुछ विद्वानों ने 'कादम्बरी' को भारत का पहला उपन्यास माना है, यहाँ तक कि मराठी साहित्य में 'उपन्यास' का पर्यायवाची ही 'कादम्बरी' है, किन्तु हमारे विचार से यह ठीक नहीं। 'कादम्बरी' में ग्रलौकिकता, भावात्मकता एवं ग्रालंकारिकता का ग्राग्रह इतना ग्रधिक है कि उसे उपन्यास कहना, 'उपन्यास' शब्द के साथ ग्रन्याय होगा। वस्तुतः मानवीय चरित्र के स्वाभाविक चित्रण, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्घाटन, यथार्थवादी मानवीय चरित्र के स्वाभाविक चित्रण, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्घाटन, यथार्थवादी मानवीय चरित्र के स्वाभाविक चित्रण, मनोवैज्ञानिक तथ्यों के उद्घाटन, यथार्थवादी

दृष्टिकोण एवं शैली की स्वाभाविकता की दृष्टि से 'दशकुमार-चरित' को हम भारत का पहला सफल 'उपन्यास' कह सकते हैं। इसमें भ्रनेक स्वतन्त्र कथानकों को मूल कथावस्तु के क्षीण तन्तुओं के द्वारा परस्पर सम्बद्ध किया गया है, जो श्राधृनिक उपन्यास की दृष्टि से इसका यह एक बड़ा भारी दोष है; किन्तु इसके भ्रन्य गुणों को देखते हुए यह दोष उपक्षणीय कहा जा सकता है।

संस्कृत के कथा-साहित्य का प्रचार ग्ररब, इराक तथा यूरोप के ग्रनेक प्रदेशों में होता हुआ ठेठ यूनान तक हो गया। संस्कृत की ग्रनेक कथाओं का ग्रनुवाद मध्य-एशिया ग्रीर यूरोप की विभिन्न भाषाग्रों में हुग्रा, जिनके ग्राघार पर ग्रनेक पाश्चात्य विद्वान् यूरोप के रोमांटिक कथा-साहित्य का मूल उद्भव भारतवर्ष के कथा-साहित्य को मानते हैं। जिस प्रकार भारत से भेजी हुई रुई ग्रीर ऊन को यूरोपवाले कपड़े के बिढ़्या थानों में परिवर्तित करके लौटाते रहे हैं, कुछ वैसे ही भारत का प्राचीन कथा-साहित्य यूरोप के क्रमशः रोमांटिक कथा-साहित्य एवं उपन्यास का रूप धारण करके लौटा।

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, उपन्यास का उद्भव यूरोप में रोमांटिक कथा-साहित्य से हुम्रा, जो मूलतः भारतीय प्रेमाख्यानों से प्रेरित था। रोमांटिक का भ्रर्थ है जिसमें प्रेम और साहस का निरूपण हो। संस्कृत के 'वासवदत्ता', 'कादम्वरी' श्रौर 'दशकुमार-चरित' में प्रेम, साहस श्रीर धैर्य का ही चित्रण किया गया है। इस युग के भारतीय कथा-साहित्य में इन तत्त्वों की इतनी प्रधानता थी कि ग्राचार्य रुद्रट ने कथा-साहित्य के लक्षण निर्घारित करते समय प्रेम श्रीर साहस को उसका श्रावश्यक लक्षण माना है। यूरोप में रोमांटिक उपन्यासों का प्रचार सर्वप्रथम इटली में माना जाता है। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में इटली के लेखक वोकेशियो ने 'डी केमरान' की रचना की, जो व्यंग्य और विनोद से ग्रोत-प्रोत थी। सत्रहवीं शती में स्पेन के लेखक सरवन्ते ने 'डान क्विकजोट्' की रचना की। ग्रागे चलकर फान्स में रोमानी ग्रीर यथार्थवादी कथा-साहित्य की बहुत उन्नति हुई। दूसरी थ्रोर सत्रहवीं-ग्रठारहवीं शती में इंगलैंड में अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, जैसे—सर फिलिप सिडनी कृत 'म्रार्केटिया' (१५६०), जॉन बुनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (१६८४), डेनियल डैफो का 'राविन्सन क्रूसो' (१७१६), जोनाथन स्विपट का 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' (१७२६) म्रादि । भ्रागे चलकर इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी व रूस में भ्रनेक उच्च कोटि के उपन्यासों की रचनाएँ हुईं, जिनमें सेम्युश्रल रिचर्डसन का 'पामेला' (१७४०), हैनरी फील्डिंग का 'टाम जोन्स' (१७४६), **ग्रालिवर** गोल्डस्मिथ का 'विकार ग्रॉफ वेकफील्ड', जेन ग्रास्टिन का 'प्राइड एण्ड प्रेजुडिस', सर वाल्टर स्कॉट का 'वेवर्ली नॉवेल्स', चार्ल्स डिकेन्स का 'डेविड कॉपरफील्ड', ब्रॉण्टी का 'जेन भ्रायर', थैकरे का 'वेनिटी फेयर', जार्ज इलियट का 'एडम वीड' भ्रादि इंगलैंड में प्रकाशित हुए। फ्रान्स के उपन्यास-लेखकों में वाल्तेयर, विकटर ह्यूगो, वालज़क, जार्ज सेण्ड, जोला, फ्लावेयर, ग्रनातोले फांस ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रतिरिक्त जर्मनी में गेटे तथा रूस में पुश्किन, गोगोल, लर्मान्तोफ, तुर्गनेव, दास्ताएव्स्की, टॉलस्टाय जैसे महान् लेखकों का भ्राविभीव हुम्पारी Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

उपर्युक्त नामावली से स्पष्ट है कि ग्रठारहवीं शताब्दी के ग्रन्त तक यूरोप के विभिन्न भागों में उपन्यास साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था, किन्तु हिन्दी में इसका ग्राविभाव उन्नीसवीं शती के ग्रन्तिम चरण में हुग्रा। ग्राधुनिक युगीन भारतीय साहित्य में उपन्यासों का विकास ग्रंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में हुग्रा, ग्रतः जिन भाषा-भाषियों का ग्रंग्रेजी से ग्रधिक सम्पर्क था, उनमें उपन्यासों का प्रचार पहले होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि वंगाल में उपन्यासों की रचना हिन्दी से पूर्व ग्रारम्भ हो गई थी। बँगला के ग्रनेक उपन्यासकारों—वंकिमचन्द्र, शरत्, रवीन्द्र ग्रादि—का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा।

हिन्दी उपन्यास

हिन्दी साहित्य के सभी श्रंगों के विकास की श्रोर घ्यान देनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की दृष्टि उपन्यास-साहित्य पर भी पड़ी। उन्होंने 'पूण प्रकाश श्रौर चन्द्रप्रभा'
नामक एक उपन्यास का श्रनुवाद किया तथा एक मौलिक उपन्यास की भी रचना
श्रारम्भ की जो दुर्भाग्य से पूरा नहीं हो सका। हिन्दी में सबसे पहला मौलिक उपन्यास
'परीक्षा गुरु' भारतेन्दु के जीवन काल में ही—सन् १८६२ में—प्रकाशित हो गया था,
जिसकी रचना का श्रेय लाला श्रोनिवासदास को है। लेखक ने भूमिका में स्पष्ट किया
है कि इसके लेखन में 'महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ता वगैरह फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड
बेकन, गोल्डिस्मिथ, विलियम कूपर श्रादि के पुराने लेखों श्रौर स्त्रीबोध ग्रादि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है।' इससे तथा इसके ढाँचे से पता चलता है कि
इसकी रचना बँगला उपन्यासों के श्राधार पर न होकर सीधे श्रंग्रेजी के उपन्यासों की
श्रेरणा से हुई। 'परीक्षा-गुरु' में दिल्ली के एक सेठ-पुत्र की कहानी है, जो कुसंगति में
पड़ गया था जिसका उद्धार श्रन्त में एक सज्जन मित्र द्वारा हुग्रा है। लेखक में उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति श्रिधक होने के कारण यह रचना एक सफल उपन्यास का रूप धारण
नहीं कर सकी।

भारतेन्दु-युग के भ्रन्य कई लेखकों ने भी उपन्यासों की रचना की, जिनमें श्रद्धाराम फिल्लौरी का 'भाग्यवती', रत्नचन्द प्लीडर का 'नूतन चरित्र' (१८६३), वालकृष्ण
भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८६६) ग्रौर 'सौ भ्रजान एक सुजान' (१८६२), राधाकृष्ण
दास का 'निस्सहाय-हिन्दू' (१८६०), राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा-विपत्ति' (१८८६),
कार्तिकप्रसाद खत्री का 'जया' (१८६६), वालमुकुन्द गुप्त का 'कामिनी' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। डा० विजयशंकर मल्ल ने श्री फिल्लौरी जी के 'भाग्यवती' को हिन्दी का
पहला उपन्यास घोषित किया है, किन्तु उन्होंने भ्रपनी घोषणा की पृष्टि भ्रपेक्षित
प्रमाणों से नहीं की। इन लेखकों ने मौलिक उपन्यासों के भ्रतिरिक्त वँगला के उपन्यासों के भी हिन्दी में भ्रनुवाद किए। बाबू गदाघर सिंह ने 'वंग विजेता' ग्रौर 'दुगेंशनिद्दनी', राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्दिरा',
'राधारानी' ग्रादि; राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'जावित्री', 'मृण्मयी' भ्रादि
का भ्रनुवाद कियाते अञ्चलक्ष क्राह्मकृष्ण क्राह्म हिन्दु क्राह्मकृष्ण क्राह्म हिन्दु मार्ग भ्राह्म स्वाह खत्री ने उर्दू ग्रौर भ्रंग्रेजी

के बहुत से रोमांटिक ग्रौर जासूसी उपन्यासों के श्रनुवाद प्रस्तुत किए। वस्तुतः भारतेन्दु-युग में ग्रनूदित उपन्यासों की ही प्रधानता रही। मौलिक उपन्यासों में भी कला का विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें इतिवृत्त एवं घटनाग्रों की प्रधानता, चित्र-चित्रण का ग्रभाव, उपदेशात्मकता की भरमार एवं शैली की ग्रपरिपक्वता दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी के मौलिक उपन्यासों के प्रचार में वृद्धि करने का श्रेय तीन लेखकों—
देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी ग्रीर किशोरीलाल गोस्वामी को है। खत्रीजी ने
सन् १८६१ में 'चन्द्रकांता' ग्रीर 'चंद्रकांता-संतित' की रचना की, जिनमें तिलस्मी ग्रीर
ऐयारी का वर्णन है। ये उपन्यास इतने ग्रधिक लोकप्रिय हुए कि कई लोगों ने केवल
इन्हें पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। गहमरीजी ने एक 'जासूस' नामक पत्र निकाला,
जिसमें पाँच दर्जन से भी ग्रधिक जासूसी उपन्यास लिखकर प्रकाणित किए। उनके
उपन्यासों का मूलाधार ग्रंग्रेजी के जासूसी उपन्यास होते थे। गोस्वामीजी ने भी
'उपन्यास' पत्रिका निकाली, जिसमें उनके ६५ छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाणित हुए।
गोस्वामीजी के उपन्यासों का विषय सामाजिक था। किन्तु उनमें कामुकता ग्रीर
विलासिता का चित्रण ग्रत्यधिक था। ग्रस्तु, लेखक-त्रय की ये रचनाएँ कलात्मक
दृष्टि से ग्रत्यन्त साधारण कोटि की हैं। इनमें प्रायः ग्रस्वाभाविक घटनाग्रों की भरमार है।

खत्री, गहमरी ग्रीर गोस्वामी की सिम्मिलित त्रिवेणी ग्रीर प्रेमचन्द के बीच की सीमा को मिलानेवाले श्री हरिग्रीध, लज्जाराम मेहता एवं कुछ ग्रनुवादक हैं। हरि-ग्रीघजी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' ग्रीर 'ग्रधिखला फूल' लिखकर ग्राई० सी० एस० के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी मुहावरों की पाठ्य-पुस्तक का ग्रभाव पूरा किया, तो दूसरी ग्रोर मेहताजी ने 'ग्रादर्श हिन्दू' ग्रीर 'हिन्दू गृहस्थ' लिखकर सुधारवाद की पताका लहराई।

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६ ई०) के पदार्पण के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास मानो किसी अविकसित कलिका की भाँति मौन, निस्पन्द एवं चेतनाहीन सा हो रहा था, दिवाकर की प्रथम रिश्मयों की भाँति प्रेमचन्द की पावन कला का पुनीत स्पर्श पाकर मानो वह जग उठा, खिल उठा और मुस्कराने लगा। राजा-रानियों और सेठ-सेठानियों के महलों की चारदीवारी में बन्द रहनेवाला कथानक जनसाधारण की लोक-भूमि में उन्मुक्त रूप से विचरण करने लगा। लौह-मूर्तियों की भाँति स्थिर रहनेवाले या कठ-पुतिलयों की भाँति लेखकों के मौन-संकेतों पर अस्वाभाविक गित से दौड़ने-फुदकनेवाले पात्र मांसल, सजीव और व्यक्तित्व-सम्पन्न होकर सामान्य मनुष्यों के रूप में आत्म-प्रेरणा से परिचालित होते दिखाई पड़ने लगे। इसी प्रकार कथोपकथन, देश-काल, शैली, उद्देश्य, रस आदि अन्य औपन्यासिक तत्त्वों का विकास प्रथम वार प्रेमचन्दजी की कृतियों में हुआ। उन्होंने केवल सस्ते मनोरंजन के स्थान पर जीवन की ज्वलंत समस्याओं को अपनी कला का लक्ष्य बनाया। यही कारण है कि उनके प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी सामयिक समस्या कृतितृत्वस्तासकारकार्यों हुआ एक प्रतेक उपन्यास में किसी न

वेश्याग्रों की, रंगभूमि (१६२८) में शासक वर्ग के ग्रत्याचारों की, प्रेमाश्रम (१६२१) में किसानों की, कर्म-भूमि (१६३२) में हरिजनों की, निर्मला (१६२२) में दहेज ग्रौर वृद्ध-विवाह की, ग्रवन (१६३१) में मन्यवर्ग की ग्राधिक विषमता की ग्रौर गोदान (१६३६) में पुनः किसान, मजदूर के शोषण की। प्रेमचन्दजी के प्रारम्भिक उपन्यासों में ग्रादर्श-वादिता ग्रधिक होने के कारण उनमें कहीं-कहीं काल्पनिकता ग्रौर ग्रस्वाभाविकता ग्रधिक ग्रा गई है, किन्तु ग्रागे चलकर वे पूरे यथार्थवादी वन गए, जिसका प्रमाण गोदान में मिलता है। जहाँ प्रारम्भिक रचनाग्रों में उन्होंने समस्याग्रों के समाधान का गाँधीवादी ढंग से प्रयत्न किया है, वहाँ उनके ग्रन्तिम उपन्यासों—निर्मला, गोदान—ग्रादि में केवल समस्या को प्रस्तुत करके ही सन्तोष कर लिया गया है।

प्रेमचन्दजी के ग्रनन्तर हिन्दी में शताधिक उच्चकोटि के उपन्यासकारों का प्रादु-र्भाव हुग्रा है, जिन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न विषयों पर लेखनी उठाई। इनको हम ग्रनेक वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वर्ग वे में लेखक ग्राते हैं, जिन्होंने सामा-जिक समस्याग्रों का चित्रण करते हुए प्रेमचन्दजी की परम्परा को ग्रागे बढ़ाया । इस वर्ग में जयशंकर प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क', ग्रादि उल्लेखनीय हैं । श्री जयशंकर प्रसाद जी ने 'कंकाल' में भारतीय नारी-जीवन की दुर्दशा पर प्रकाश डाला है । उनके भ्रन्य उपन्यास 'तितली' में नारी-हृदय की महानता का उद्घाटन हुग्रा है। कौशिकजी ने 'माँ' ग्रौर 'भिखारी' में भी नारी की सामाजिक स्थिति का चित्रण करते हुए उसके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला है। 'उग्र' जी लेखक के रूप में सचमुच उग्र हैं—उन्होंने 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुवा की वेटी' ब्रादि में सम्य-समाज की भीतरी दुर्वलताग्रों, ग्रनीतियों ग्रौर घृणित प्रवृत्तियों का उद्घाटन म्रावेगपूर्ण एवं घड़ल्लेदार शैली में किया है। श्री चतुरसेन शास्त्री ने विधवा-श्रमों की ग्रोट में 'हृदय की प्यास' बुक्तानेवालों की खबर ली है। उनकी 'गोली' देशी रियासतों के शासकों की घृणित विलासिता को नग्न रूप में प्रस्तुत करती है। शास्त्रीजी ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं, जिनकी चर्चा ग्रागे की जायगी। ग्रश्कजी के उपन्यासों---मुख्यतः 'गिरती-दीवारें'---में मध्यदर्गीय समाज की वाह्य एवं ग्रांतरिक परिस्थितियों का उद्घाटन यथार्थवादी शैली में हुग्रा है। विवाह सम्बन्धी सामाजिक रूढ़ियों के कारण होनेवाली ग्राधुनिक युवक-युवितयों के प्रणय की ग्रसफल परिणित पर उन्होंने 'चेतन' के माध्यम से प्रकाश डाला है। सामाजिक समस्याग्रों को लेकर लिखे जानवाले इन सभी उपन्यासों की शैली में प्रायः सरलता ग्रौर स्वाभाविकता का श्राग्रह मिलता है।

दूसरे वर्ग में चरित्र-प्रधान उपन्यास-रचिताग्रों को रखा जा सकता है। श्री जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा व श्री सिच्चितान्द हीरानन्द वात्स्यायन 'ग्रज्ञेय' ने विभिन्न मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषण-कर्ताग्रों के सिद्धान्तों के ग्रनुकूल अपने ग्रीपन्यासिक पात्रों के चरित्र को सूच्मतापूर्वक चित्रित किया है। चरित्र-चित्रण को इनमें इतनी ग्रधिक प्रमुखता प्राप्त हुई है कि उसके समक्ष श्रन्य तत्त्व गौण हो गए हैं। ऐसी स्थिति में इनमें सामाजिक परिस्थितियों के स्थान पर व्यक्ति की मानसिक CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

प्रवृत्तियों के विश्लेषण को विस्तार मिलना स्वाभाविक था। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में 'सुनीता', 'परख', 'सुखदा', 'त्यागपत्र', 'विवर्त्त' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। उनके ग्रधिकांश उपन्यासों में पित-पत्नी एवं ग्रन्य पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों का चित्रण किया गया है। इनमें प्रायः एक-सा ही चित्रण उपस्थित किया गया है। इनकी नायिका प्रायः विवाहिता होती है, जो वैयक्तिक कुण्ठाग्रों के कारण ग्रपने सम्पर्क में ग्राने वाले किसी ग्रन्य प्रभावशाली व्यक्ति की ग्रोर ग्राकित होती है। नायिका का पित इस स्थिति से परिचित होता हुग्रा भी, उसे चुपचाप सहन कर लेता है। प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि नायिका पित को छोड़कर नव-परिचित से सम्बन्ध स्थापित कर लेगी, किन्तु ग्रन्त तक जाते-जाते जैनेन्द्रजी परिस्थिति को सँभाल लेते हैं। कदाचित् वें यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि पत्नी को ग्रन्य व्यक्तियों से मिलने-जुलने की जितनी ग्रधिक स्वतंत्रता दी जाए, उतनी ही उसके चरित्र में दृढ़ता एवं सबलता ग्राती है। वस्तुतः उनके उपन्यासों में शैलो की सरलता के साथ-साथ शुष्कता, भावात्मकता के साथ-साथ बौद्धिकता ग्राव-श्वता से ग्रिषक है।

श्री इलाचन्द्र जोशी ने भी अपने 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'सुबह के भूलें', 'मुक्ति-पथं' ग्रादि में चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं वैयक्तिक परिस्थितियों का ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है, किन्तु जैनेन्द्रजी की भाँति शुष्क कथानक नहीं हैं। उनके पास प्रत्येक उपन्यास में प्रस्तुत करने के लिए नये-नये कथानक हैं, नयी-नयी समस्याएँ हैं, ग्रतः उन्हें एक ही वस्तु को वार-वार दोहराने की ग्रावश्यकता नहीं पडती। एक श्रोर उनके पास कल्पना का वैभव है तो दूसरी श्रोर श्रनुभूतियों का संचित कोष-जिसके वल पर वे अपनी रचनाओं को सौन्दर्य और रस से भरपूर करने में समर्थ हैं। जैनेन्द्रजी के उपन्यास यदि पेंसिल से बनाए हुए 'रफ स्केच' सदृश हैं, तो जोशीजी की रचनाएँ रंग-बिरंगी सूक्ष्म रेखाओं से सजे हुए सुन्दर चित्र हैं। जिस जटिल दार्शनिकता पर जैनेन्द्रजी गर्व कर सकते हैं, उससे जोशीजी के उपन्यास शून्य है, किन्तु जोशीजी की भावनाथों का तारल्य, भाषा का प्रवाह थीर शैली की प्रौढ़ता भाज के किसी भी उपन्यासकार के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन सकती है। किन्तु ग्रपनी कुछ रचनाओं में वे दार्शनिकता-प्रिय भानोचकों से प्रशंसा पाने के निमित्त या उन्हें केवल विद्यार्थियों के काम की वस्तु बनाने के लोभ से उस शुष्क सिद्धान्त-निरूपण में भी पड़ गए हैं, जो उपन्यास की ग्रौपन्यासिकता का ह्रास कर देते हैं—'सुबह के भूले', 'मुक्ति-पथ' ग्रादि रचनाएँ ऐसी ही हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष', 'ग्राखिरी दाँव', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में सामा-जिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को घ्यान में रखते हुए भी मनोविश्लेषण को प्रमु-खता दी है। दूसरी श्रोर श्रज्ञेय जी ने 'शेखर: एक जीवनी' श्रौर 'नदी के द्वीप' में यौन प्रवृत्तियों का चित्रण सूचम, जिटल एवं गम्भीर शैली में किया है, जो सामान्य पाठक के हृदय को शान्ति प्रदान करने की श्रपेक्षा उसके मस्तिष्क को कुरेदने में सहायक सिद्ध होता है।

तृतीय वर्गं में साम्स्यादी कद्भित्रकोमा असे तिखा क्षा क्षा क्षा क्षा क्षा क्षा क्षा का

हिन्दी उपन्यास : स्वरूप ग्रौर विकास

सकता है। श्री राहुल सांकृत्यायन की 'सिंह सेनापित', 'वोल्गा से गंगा' श्रौर श्री यशपाल की 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप', 'मूठा सच' भ्रादि रचनाग्रों में वर्ग-वैषम्य का चित्रण करते हुए सामाजिक क्रान्ति का समर्थन किया गया है।

चतुर्थं वर्ग में देशकाल-प्रधान या ऐतिहासिक उपन्यास भ्राते हैं। यद्यपि ऐति-हासिक कथानकों की स्रोर हिन्दी लेखकों का व्यान बहुत पहले चला गया था, किशोरी-लाल गोस्वामी ने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे, किन्तु उनमें ऐतिहासिकता का निर्वाह नहीं मिलता। इस क्षेत्र की उत्कृष्ट रचनाओं में भ्राचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू', श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'वाणभट्ट की श्रात्म-कथा' श्रीर 'चारु चंद्रलेख', यशपाल की 'दिव्या' म्रादि हैं, जिनमें सम्वन्धित युग के सम्पूर्ण वातावरण को प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को चरम विकास तक पहुँचा देने का श्रेय श्री वृन्दावनलाल वर्मा को है। ग्रापने 'गढ़-कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'भाँसी की रानी लक्ष्मीवाई' श्रौर 'मृगनयनी' का प्रणयन किया है, जिनमें इतिहास के अनेक विस्मृत प्रसंगों को नव-जीवन प्राप्त हुआ है। विशेषतः 'मृगनयनी' में ऐतिहासिकता और ग्रीपन्यासिकता, तथ्य ग्रीर कल्पना, भाव ग्रौर शैली का सुन्दर समन्वय मिलता है। नवीनतम ऐतिहासिक उपन्यासों में डॉ॰ रांगेय राघव का 'ग्रंघा रास्ता', सुनामी का 'भगवान् एकलिंग' ग्रादि उल्लेखनीय हैं।

इनके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यासों का एक नया वर्ग 'श्रांचलिक उपन्यासों' का भी ग्रौर विकसित हो रहा है। इनमें किसी ग्रंचल या प्रदेश-विशेष के वातावरण को सजीव रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यासों में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला ग्रांचल' ग्रीर 'परती परिकथा', उदयशंकर भट्ट का 'लोक परलोक', वलभद्र ठाकुर के 'ग्रादित्यनाथ', 'मुक्तावती', 'नैपाल की वो बेटी', श्यामू संन्यासी का 'उत्थान', तरन-तारन का 'हिमालय के ग्राँचल' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इनमें लोक-संस्कृति, लोक-गीतों

एवं लोक-शब्दावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुम्रा है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी उपन्यास की प्रगति तीव्र गति से हुई है। पिछले पच्चीस वर्षों में ग्रनेक नये ग्रीर पुराने उपन्यासकारों की शताधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में ग्राई हैं। इस युग के लेखकों में ग्रमृतलाल नागर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने 'महाकाल', 'सेठ बाँके लाल', 'बूँद ग्रीर समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'ग्रमृत ग्रौर विष', 'मानस का राजहंस' ग्रादि में मानवतावादी दृष्टि से समाज के विभिन्न पक्षों का चित्रण मार्मिक रूप में किया है। इसी वर्ग में राजेन्द्र यादव को स्थान दिया जा सकता है जिन्होंने 'सारा ग्राकाश', 'उखड़े हुए लोग', 'शह श्रौर मात' श्रादि उपन्यासों में दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन की श्रनुभूतियों को प्रस्तुत किया है। मोहन राकेश के 'ग्रेंघेरे बंद कमरे', 'न भ्राने वाला कल' ग्रादि उपन्यासों में उच्च शिक्षित व्यक्तियों के जीवन की कुंठाग्रों को सफलतापूर्वक व्यक्त किया गया है।

सामाजिक दृष्टिकोण से समस्याग्रों का विश्लेषण करने वाले उपन्यासकारों में से नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, श्रमृत राय, मन्मथनाथ गुप्त प्रभृति की श्रनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस युग्टमें प्रकाश में प्राई हैं जिनमें नागार्जुन की 'रतिनाथ की चाची',

'बलचनमा', 'दुखमोचन', 'उग्रतारा' ग्रादि; भैरवप्रसाद गुप्त की 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा' ग्रादि; ग्रमृत राय की 'बीज', 'नागफनी का देश' ग्रौर 'हाथी के दाँत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मन्मथनाथ गुप्त ने 'काजल की कोठरी', 'बहता पानी' ग्रादि में क्रान्तिकारी जीवन के ग्रनुभवों का चित्रण किया है। वस्तुतः इन लेखकों ने व्यक्ति के ग्रन्तुदृन्द्व की ग्रपेक्षा सामाजिक विषमताग्रों के उद्घाटन पर ग्रधिक बल दिया है।

मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण को प्रमुखता देने वाले नये उपन्यासकारों में डा० देवराज, डा० प्रभाकर माचवे, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, नरेश मेहता, गिरिधर गोपाल, यादवचन्द्र जैन प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। डा० देवराज ने 'पथ की खोज', 'वाहर भीतर', 'ग्रजय की डायरी' 'मैं, वे ग्रौर ग्राप' में नारी-पुरुष सम्बन्धों का चित्रण मनो-वैज्ञानिक ग्राधार पर किया है। डा० प्रभाकर माचवे के 'द्वाभा' ग्रौर 'साँचा'; डा० लक्सीनारायण लाल के 'वया का घोंसला ग्रौर साँप', 'धरती की ग्राँखें', 'काले फूल का पौदा'; नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' 'धूमकेतु: एक श्रुति', 'यह पथ वंघु था'; गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी का खंडहर', यादवचन्द्र जैन के 'पत्थर पानी' में विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व का विश्लेषण सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है।

नवोदित उपन्यासकारों में से श्रीलाल शृष्य का 'राग दरवारी', राही मासूम रजा के 'ग्राघा गाँव' ग्रौर 'टोपी शुक्ला' तथा शिवप्रसाद सिंह का 'ग्रलग-ग्रलग वैतरणी' उल्लेखनीय हैं। महिला उपन्यासकारों में से मन्तू मंडारी ('ग्रापका बंटी'), ऊषा प्रियंवदा ('रुकोगी नहीं राधिका'), मेहरुक्तिसा परवेज ('ग्रांखों की दहलीज'), कृष्णा सोवती ('सूरजमुखी ग्रॅंघेरे के') ग्रादि के नाम उल्लेखनीय हैं। महिला लेखिकाग्रों में शिवानी ने भी ग्रनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे हैं जिनमें नारी-जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण मार्मिक रूप में हुग्रा है। उनका 'चौदह फेरे' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उपलिश्यां ग्रोर ग्रभाव उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी का उपन्याससाहित्य ग्राज ग्रनेक दिशाग्रों में बड़ी तेजी से ग्रागे बढ़ रहा है (हिन्दी का उपन्याससाहित्य प्रत्येक दृष्टि से विशाल, व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण है। ग्रतः ग्रव तक की प्रगित
पर हम संतोष कर सकते हैं, किन्तु भविष्य की ग्रोर देखने पर थोड़ी ग्राशंका भी होती
है। स्वतंत्रता के बाद से हमारे साहित्यकार ग्रतियथार्थवादिता, प्रयोगशीलता एवं नूतनता
की प्रवृत्तियों से बुरी तरह ग्रस्त होते जा रहे हैं। यह बात कथा-साहित्य के रचिताग्रों
पर भी लागू होती है। हमारे विचार से ग्रतियथार्थवाद या नग्न यथार्थवाद उस रंगीन
मिठाई की तरह से ग्राकर्षक, लुभावना एवं स्वादिष्ट है, जिसे खाने के बाद हैजा हो
जाने का भय रहता है। ग्रवश्य ही नग्नता, ग्रश्लीलता ग्रौर कामुकता भी जीवन का
एक पक्ष है, किन्तु हमें ग्रपनी दृष्टि उसी तक सीमित नहीं कर लेनी चाहिए। यदि
हमारे साहित्यकार ग्रपने युग ग्रौर समाज की नग्न तस्वीर देने के साथ-साथ स्वस्थ
जीवन-दृष्टि, ग्रसंतुलित दृष्टिकोण एवं व्यापक जीवन-दर्शन भी दे सकें, तो इससे उनकी
कला में सौन्दर्य के साथ-साथ ग्रौदात्य का भी संचार हो सकता है। यदि वे जीवन को
केवल भोगने के साथ-साथ खुली दृष्टि से उसे देखने-पढ़ने का भी प्रयास करें तथा ग्रपने
ग्रापको काफी-हाउसों के वित्तिवरक सिक्षाहरीं निकी लिकरे ग्रीतीत की महान् परम्पराग्रों

एवं वर्तमान की समस्याओं पर भी नजर डालें, तो इनसे उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में अधिक संतुलन आ सकता है।

ग्राज के उपन्यास-साहित्य पर यह ग्राक्षेप भी लगाया जा सकता है कि उसका क्षेत्र केवल सुशिक्षित समाज एवं शहरी जीवन तक सीमित हो गया है। आंचलिक उपन्यासों में ग्रामीण जीवन की भी भलकियाँ दी गई हैं, पर भ्रनेक उपन्यासकारों ने श्रांचलिकता को फैशन के रूप में ग्रहण किया है, ग्रामीण जीवन की परिस्थितियों एवं समस्याभ्रों का यथार्थ-बोध बहुत कम रचनाभ्रों में उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में नवो-दित लेखिका सोमा वीरा की यह चुनौती घ्यान देने योग्य है—'हमारा आधिनक साहित्य केवल 'मध्यवर्गीय नगर साहित्य' इसलिए है क्योंकि हमारे श्रधिकांश साहित्यकार केवल इसी वर्ग की वातों को लेकर, केवल इसी वर्ग के लिए लिखते हैं। थोड़ा विचार करने से ही यह वात भली-भाँति समभ में ग्रा सकती है । पिछले दस वर्षों में कितनी कहानियाँ या उपन्यास गाँव की वास्तविक जिन्दगी को लेकर लिखे गए हैं ? स्रादिवासियों के जीवन पर, किसी राजनैतिक पृष्ठभूमि पर, करोड़पतियों की जिन्दगी पर, रात को सड़क पर सोनेवालों और दिन में चना-मूँगफली वेचनेवालों की जिन्दगी पर, भिखारियों पर, स्पोर्ट्स के खिलाड़ियों भ्रौर वैज्ञानिकों पर, मिछयारों पर, श्रछ्तों पर अर्थात् मध्यवर्ग के श्रतिरिक्त समाज के श्रन्य श्रंगों से सम्बन्धित विषयों पर कितने साहित्यकारों ने श्रपनी कलम उठायी है ?' (ज्ञानोदय; नवम्वर '६४) वस्तुतः हमारे उपन्यास-साहित्य का विषय-क्षेत्र संकृचित एवं जीवन-दृष्टि संकीर्ण होती जा रही है, जो ठीक नहीं। श्राशा है, हमारे साहित्यकार स्वस्य दृष्टिकोण, व्यापक युग-बोध एवं संतुलित जीवन-दर्शन का उपयोग करते हए इन ग्रभावों की पूर्ति का प्रयास करेंगे।

ः सैंतीस ः

हिन्दी कहानी : स्वरूप ऋौर विकास

- १. 'कहानी' शब्द की व्याख्या।
- २. कहानी के सामान्य लक्षण।
- ३. कहानी के तत्त्व।
- ४. कहानी के स्वरूप।
- ५. कहानी का उद्भव भ्रौर विकास—(क) प्राचीन कहानी, (ख) भ्राधुनिक कहानी।
- ६. हिन्दी में कहानी का विकास—(क) प्रारम्भिक कहानीकार, (ख) प्रथम युग, (ग) द्वितीय युग, (घ) तृतीय युग, (ङ) महिला लेखिकाएँ।
- ७. उपसंहार।

'कहानी' या 'कथा' शब्द का शाब्दिक ग्रर्थ है—कहना । इस ग्रर्थ के अनुसार जो कुछ भी कहा जाय, कहानी है; किन्तु विशिष्ट ग्रर्थ में हम किसी विशेष घटना के रोचक ढंग से वर्णन को 'कहानी' कहते हैं। 'कथा' ग्रौर 'कहानी' पर्यायवाची होते हुए भी ग्रव दोनों के ग्रर्थ में सूक्ष्म ग्रन्तर ग्रा गया है। 'कथा' व्यापक है, इसमें सभी प्रकार को कहानियाँ तथा उपन्यासों का समावेश किया जाता है, जबिक कहानी के ग्रन्तर्गत लघु कथाग्रों को ही लिया जाता है। कहानी के ग्रनिवार्य लक्षण हैं—(१) गद्य में रचित होना। (२) मनोरंजक या कौतूहल-वर्द्धक होना। (३) ग्रन्त में किसी चमत्कार-पूर्ण घटना की योजना। हिन्दी के एक प्राघ्यापक महोदय लिखते हैं—''कहानी में कथानक का होना ग्रावश्यक तो है लेकिन ग्रनिवार्य नहीं।'' हमारे विचार से कहानी में किसी कथानक या घटना का होना ग्रनिवार्य है, ग्रन्यथा रेखा-चित्र ग्रौर कहानी में कोई ग्रन्तर नहीं रह जायगा।

कहानी के तत्त्वों की विवेचना करते समय प्रायः उन्हीं छः तत्त्वों का उल्लेख किया जाता है, जो उपन्यास के माने गए हैं; जैसे—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोप-कथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। इसका तात्पर्य यह है कि तात्त्विक दृष्टि से कहानी और उपन्यास में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। उपन्यास में इन सभी तत्त्वों का प्रयोग किसी न किसी मात्रा में किया जाता है, किन्तु कहानी का क्षेत्र इतना सीमित होता है कि उसमें कुछ तत्त्वों का छूट जाना स्वाभाविक है। दूसरे, उपन्यास और कहानी में तत्त्वों की प्रयोग-विधि में अन्तर है। सभी प्रकार के मिष्टान्नों में मैदा, चीनी, घृत आदि का प्रयोग सामान्यतः किया जाता है, किन्तु उनके प्रयोग की मात्रा एवं विधि में अन्तर हीता है, किन्तु उनके प्रयोग की मात्रा

की कथावस्तु में एक से अधिक कथानकों का गुम्फन किया जाता है, किन्तु कहानी में केवल एक ही कथानक रहता है। उपन्यासकार के कथानक का मार्ग लम्बा होता है. उसके वीच-वीच में ग्रनेक मोड़, श्रनेक विश्राम-स्थल एवं ग्रनेक घटना-स्थल उपस्थित होते हैं, जनिक कहानीकार की यात्रा छोटी-सी होती है, जिसमें विभिन्न मोड़ों, विश्राम-स्थलों ग्रौर घटना-स्थलों की सम्भावना ही नहीं होती । इसके ग्रतिरिक्त उपन्यासकार की गति शिथिल होती है; बैलगाड़ी में बैठे हुए राहगीर की भाँति वह अपने दाएँ-बाएँ भाँकता हुआ घीरे-घीरे आगे बढ़ता है जब कि कहानीकार वायुयान की चाल से अपने नक्ष्य की श्रोर सीया दौड़ता है; उसके दाएँ-वाएँ क्या हो रहा है, इसे देखने का श्रवकाश उसे नहीं रहता। उपन्यास में पात्रों की संख्या कहानी से कई गुणा श्रिधिक होती है श्रीर वह सभी के व्यक्तित्व की प्रायः सभी विशेषताग्रों का चित्रण करता है, जबकि कहानी-कार कुछ पात्रों का लेकर उनकी कुछ विशेषताग्रों का या किसी एक प्रमुख प्रवृत्ति का ही उद्घाटन कर पाता है। कहानी के कथोपकथन में लम्बे-लम्बे व्याख्यानों या दीर्घ वहसदाजी के लिए स्थान नहीं होता। सभी कहानीकार ग्रपने देश-काल के समस्त वातावरण को प्रस्तुत करना भ्रावश्यक नहीं समभते । उपन्यासकार की भाँति कहानी-कार अपनी रचना में अनेक समस्याओं का या अनेक सिद्धान्तों का चित्रण नहीं करता, ग्रपितु वह ग्रपना सारा घ्यान किसी एक विचार सिद्धान्त या समस्या पर ही केन्द्रित करता है।

इनके श्रितिरिक्त कहानी में भाव-तत्त्व की भी स्थित होती है। पीछे हमने उपन्यास के प्रसंग में प्रमाणित किया है कि साहित्य के प्रत्येक ग्रंग में भाव-तत्त्व का होना श्रिनवार्य है, यह बात कहानी पर भी लागू होती है। कहानी में श्रनेक स्थायी भावों एवं संचारियों का ही प्रस्फुटन हो पाता है। मुक्तककार की भाँति कहानीकार भी रस के सभी अवयवों का प्रत्यक्ष रूप में चित्रण न करके उन्हें व्यंजना के द्वारा व्यक्त करता है। जिन कहानियों में शुष्क इतिवृत्त या कोरा मनोदिश्लेषण होता है, जिनमें मानवीय भाव-नाओं को उद्देलन करने की क्षमता नहीं होती, वे चौपड़, ताश या शतरंज के खेल की भाँति पाठक के मस्तिष्क को थोड़ी देर तक उलभाए रखने में तो समर्थ होती हैं, किन्तु ह्वय को सच्ची भावानुभूति उनसे प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी कहानियों का स्थान साहित्य में वृन्द, गिरिधर, वैताल जैसे मुक्तकारों की सूक्तियों के तुल्य ही है।

कहानी के स्वरूप का परिचय देनेवाली एक पुस्तक हिन्दी में बहुत सुन्दर आवरण पृष्ठ के साथ प्रकाशित हुई है, जिसमें कहानी के छः उपकरण निर्धारित किए गए है— (१) कल्पना और भाव, (२) प्रेम, (३) सौन्दर्य, (४) कथानक का आधार, (४) करुणा और (६) हास्य । यहाँ लेखक के दृष्टिकोण की मौलिकता का तो परिचय मिलता है— क्योंकि हमारा विश्वास है कि किसी भी अन्य स्वदेशी या विदेशी लेखक ने ऐसा विवेचन नहीं किया होगा, किन्तु साथ ही उसमें अनेक असंगतियाँ भी विद्यमान हैं। क्या प्रेम, करुणा और हास्य का समावेश प्रथम उपकरण 'भाव' में नहीं हो जाता ? इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न उठता है कि क्या कहानी में प्रेम, करुणा और हास्य के अतिरिक्त अन्य मानवीय भावनाओं का चित्रण सम्भव नहीं ? कहानी के उपकरणों में 'कथानक के

भाघार' को तो स्थान दिया गया है, किन्तु स्वयं कथानक को नहीं, भ्रौर यदि कथानक के भ्राघार को लिया जाता है तो सौन्दर्य भ्रौर प्रेम के भ्राघार की उपेक्षा क्यों ? वस्तुतः कहानी के तत्त्वों का यह विवेचन सर्वथा भ्रनुपयुक्त एवं भ्रसंगत है।

कहानी का उद्भव भ्रौर विकास

मानव-सम्यता के ग्रादि-काल से ही कहानी कहने की परम्परा किसी-न-किसो रूप में रही है, ग्रतः विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में भी यम-यमी, पुरूरवा- उर्वशी ग्रादि संवादात्मक ग्राख्यानों का मिलना स्वाभाविक है। ग्रागे चलकर हमारे विभिन्न ब्राह्मणों, उपनिषदों, महाकाव्यों, पुराणों, जैन-बौद्ध साहित्य तथा ग्रवदान ग्रौर जातक साहित्य में कहानियों का ग्रगाघ मंडार मिलता है। संस्कृत में रचित पंच-तंत्र ग्रौर हितोपदेश की कहानियों का प्रचार दूर-दूर तक हुग्रा। पंचतंत्र का ग्रनुवाद छठी शती में ईरान के शाह खुसरो नौशेरवां ने पहलवी भाषा में करवाया। तदनन्तर ईसाई पादरी बुद ने सीरियन भाषा में तथा कुछ ग्रन्य विद्वानों ने ग्रदवी, लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फाँच, स्पेनिश ग्रौर ग्रंग्रेजी में इसके ग्रनुवाद किए। भारतीय कथा साहित्य के कुछ ग्रन्य ग्रन्थों का भी पाश्चात्य देशों में पर्याप्त प्रचार हुग्रा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व के कथा-साहित्य के विकास में भारतीय कथा-साहित्य ने पर्याप्त योग दिया।

श्राधुनिक कहानी का श्रारम्भ यूरोप के विभिन्न लेखक-समूहों के द्वारा १६वीं शती में हुग्रा। इस लेखक-समूह में सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं जर्मनी के ई० टी० डब्ल्यू० हॉफमैन, जिनके कहानी संग्रह १८१४ श्रौर १८२१ के बीच प्रकाशित हुए। दूसरी श्रोर जैकव श्रौर बिल्हेल्म ग्रिम ने परियों श्रौर पुराणों की कथाश्रों के संग्रह इसी काल में प्रकाशित करवाए। किन्तु इस युग में सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ एडगर एलन पो के द्वारा लिखी गईं। पो ने न केवल कहानियाँ लिखीं, श्रिपतु उसने कहानी-कला का विवेचन भी किया। उसके अनुसार कहानी में पूर्व-निश्चित प्रभावान्वित सबसे श्रधिक महत्त्वपूर्ण है। लेखक इसी प्रभावान्वित को घ्यान में रखकर सारी कहानी को एक सूत्र में गूँथता है। श्रागे चलकर मोपासाँ, चेखब, श्रो' हेनरी श्रादि ने कहानी-कला के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप का श्रौर भी श्रिषक विकास किया। यूरोप में विकसित कहानी का स्वरूप श्रंग्रेजी श्रौर बँगला के माघ्यम से बीसवीं शताब्दी के श्रारम्भ में हिन्दी में पहुँचा।

यहाँ हमें प्राचीन कहानी और भ्राघुनिक कहानी के स्वरूप का भ्रन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। प्राचीन कहानियों का क्षेत्र इतना व्यापक होता था कि उसमें पशु-पक्षियों तक का भी पात्रों के रूप में समावेश होता था, किन्तु भ्राघुनिक कहानी सामान्यतः मनुष्य वर्ग तक सीमित है। दूसरे, प्राचीन कहानी में उच्च-वर्ग—राजा-रानी, सेठ-सेठानी भ्रादि—के जीवन की काल्पनिक घटनाभ्रों का वर्णन भ्रधिक होता था, जबिक भ्राधुनिक युग में जन-साधारण के जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का भ्रंकन होता है। प्राचीन कहानियों में पात्रों के चरित्र का विश्लेषण नहीं होता था, ब्राह्मी उनके चरित्र में

कृत्रिम विकास प्रस्तुत किया जाता था, जबिक श्राधुनिक कहानियों में ऐसा होता है। उनमें देश-काल के वातावरण का भी चित्रण श्रपेक्षित नहीं था। वस्तुतः प्राचीन कहानी में श्रलौकिकता, श्रस्वाभाविकता, श्रादर्शवादिता एवं काल्पनिकता का श्राग्रह श्रधिक था, जबिक श्राधुनिक कहानी में लौकिकता, स्वाभाविकता, यथार्थवादिता एवं विचारा-त्मकता पर श्रधिक वल दिया जाता है। प्राचीन कहानी स्वर्ग-लोक की कल्पना थी, जबिक श्राधुनिक कहानी हमें घरती के सुख-दुःख का स्मरण कराती है। हिन्दो में विकास

हिन्दी गद्य में कहानी शीर्षक से प्रकाशित होनेवाली सबसे पहली रचना 'रानी केतकी की कहानी' है, जो सन् १८०३ ई० में लिखी गई। इसके ध्रनन्तर राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' के 'राजा भोज का सपना', भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र के 'ध्रद्भुत-ग्रपूर्व स्वप्न' का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें कहानी की सी रोचकता मिलती है। ग्राधुनिक ढंग की कहानियों का ग्रारम्भ ग्राचार्य शुक्ल ने 'सरस्वती' पित्रका के प्रकाशन काल से माना है। इन्होंने प्रारम्भिक कहानियों का विवरण इस प्रकार दिया है—(१) इंदुमती—किशोरीलाल गोस्वामी (१६०० ई०), (२) गुलबहार—किशोरीलाल गोस्वामी (१६०२), (३) प्लेग की चुड़ैल—मास्टर भगवानदास (१६०२), (४) ग्यारह वर्ष का समय—रामचन्द्र शुक्ल (१६०३), (५) पंडित ग्रौर पंडितानी—गिरजादत्त वाजपेयी (१६०३), (६) दुलाईवाली—वंग-महिला (१६०७)। ये सभी कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। इस प्रकार हिन्दी के प्रथम कहानीकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त प्रारम्भिक कहानीकारों के श्रनन्तर हिन्दी में श्रनेक उच्चकोटि के लेखकों—जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', ग्राचार्य चतुरसेन शास्त्री ग्रादि का ग्राविभीव हुग्रा। प्रसाद जो (१८६१-१६३७) की प्रथम कहानी 'ग्राम' सन् १६०६ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् ग्रापने समय-समय पर ग्रनेक कहानियाँ लिखीं। ग्रापके कहानी-संग्रह 'छाया', 'प्रतिच्विन', 'ग्राकाशदीप', 'ग्रांधी' ग्रौर 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुए हैं। उनकी ग्रारम्भिक कहानियों पर वँगला का प्रभाव है, किन्तु वाद में वे ग्रपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर सके। उनके दृष्टिकोण में भावात्मकता की रंगीनी होने के कारण उनकी कहानियाँ भी इसी से ग्रोत-प्रोत हैं। उनमें भावनाभ्रों का सूक्ष्म चित्रण, वातावरण की सघनता एवं शैली की गम्भीरता ग्रधिक है, स्थूल समस्याग्रों एवं सरल विचारों का प्रतिपादन उनमें कम हुग्रा है। उनकी कुछ कहानियों में ऐतिहासिक कथानकों को लिया गया है। किन्तु फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रसाद की कहानियों में रहस्यवाद की ग्रस्पष्टता, दर्शन की जित्तता एवं विचारों को दुष्हता के कारण मनोरंजन की मात्रा कम हो गई है। वस्तुतः नाटकों की भाँति उनकी कहानियाँ भी विद्रान् पाठकों के चिन्तन की वस्तु हैं।

मुंशी प्रेमचन्द के द्वारा रचित कहानियों की संख्या तीन सौ से श्रिष्ठिक है, जो 'मानसरोवर' के श्राठ भागों में संगृहीत हैं। उनके कुछ स्फुट संग्रह—सप्त सरोज, नव-

निधि, प्रेम-पचीसी, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-तीर्थ, सप्त-सुमन श्रादि शीर्षकों से भी प्रकाशित हुए हैं। प्रेमचन्दजी पहले उर्दू में लिखते थे—उनका उर्दू में लिखा हुग्रा प्रसिद्ध कहानी-संग्रह 'सोजे-वतन' सन् १६०७ में प्रकाशित हुग्रा था जो स्वातन्त्र्य भावनाग्रों से ग्रोत-प्रोत होने के कारण सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया। सन् १६१६ में उनकी हिन्दी में रचित प्रथम कहानी 'पंच-परमेंश्वर' प्रकाशित हुई। उनकी कहानियों में 'पंच-परमेश्वर' के श्रतिरिक्त 'ग्रात्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'बज्र-पात', 'रानी सारंघा', 'ग्रलग्योभा', 'ईदगाह', 'पूस की रात', 'सुजान भगत', 'कफन', 'पं० मोटेराम' ग्रादि ग्रधिक विख्यात है।

प्रेमचन्दजी की कहानियों में जन-साधारण के जीवन की सामान्य परिस्थितियों, मनोवृत्तियों एवं समस्याग्रों का चित्रण मार्मिक रूप से हुग्रा। वे साधारण-से-साधारण वात को भी मर्म-स्पर्शी रूप में प्रस्तुत करने की कला में सिद्ध-हस्त थे। प्रसादजी की रहस्यात्मकता, जिटलता एवं दार्शनिकता से वे मुक्त हैं। उनकी शैली में ऐसी सरलता, स्वाभाविकता एवं रोचकता मिलती हैं, जो पाठक के हृदय को उद्देलित करने में समर्थ हो सके। उनकी सभी कहानियाँ सोह्श्य हैं—उनमें किसी-न-किसी विचार या समस्या का ग्रंकन हुग्रा है, किन्तु इससे उनकी रागात्मकता में कोई न्यूनता नहीं ग्राई। भाव ग्रौर विचार, कला ग्रौर प्रचार का सुन्दर समन्वय किस प्रकार किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रेमचन्द का कहानी-साहित्य है।

केवल तीन कहानियाँ लिखकर ही ग्रमर हो जानेवाले कहानीकार श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का हिन्दी कहानी-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। उनकी प्रथम कहानी 'उसने कहा था' सन् १९१५ में प्रकाशित हुई थी, जो श्रपने ढंग की श्रनूठी रचना है। इसमें किशोरावस्था के प्रेमांकुर का विकास, त्याग श्रीर बलिदान से श्रोत-प्रोत पवित्र भावना के रूप में किया गया है। कहानी का ग्रन्त गम्भीर एवं शोकपूर्ण होते हुए भी इसमें हास्य ग्रौर व्यंग्य का समन्वय इस ढंग से किया गया है कि उसमें मूल स्थायी-भाव को कोई ठेस नहीं पहुँचती। विभिन्न दृश्यों के चित्रण में सजीवता, घटनाग्रों के म्रायोजन में स्वाभाविकता एवं शैली की रोचकता — सभी विशेषताएँ एक-से-एक वढ़कर हैं। कहानी की प्रथम पंक्ति ही पाठक के हृदय को पकड़कर बैठ जाती है, भ्रौर जब तक वह पूरी कहानी नहीं पढ़ लेता, उसे छोड़ती नहीं, तथा जिसने एक बार कहानी को पढ़ लिया, वह 'उसने कहा शा' वाक्य को कदाचित् जीवन-भर भूल नहीं पाता । क्या भाव, क्या विचार, क्या शिल्प और क्या शैली—सभी की दृष्टि से यह कहानी एक अमर कहानी है। गुलेरोजी की दूसरी कहानी 'सुखमय जीवन' भी पर्याप्त रोचक एवं भावोत्ते-जक है। इसमें एक भ्रविवाहित युवक के द्वारा विवाहित जीवन पर लिखी गई पुस्तक की लेकर श्रच्छा विवाद खड़ा किया गया है, जिसकी परिणति एक ग्रत्यन्त रोचक प्रसंग में हो जाती है। 'बुद्धू का कांटा' भी श्रच्छी कहानी है।

उर्दू से हिन्दी में घानेवाले लेखकों में विश्वम्भरनाय शर्मा 'कौशिक' (१८६१-१६४६) भी उल्लेखनीय हैं। उनकी प्रथम कहानी 'रक्षा-बन्धन' सन् १९१३ में प्रकाशित CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanas हुई थी। विचारधारा की दृष्टि से 'कौशिक' जी प्रेमचन्द की परम्परा में ग्राते हैं, उन्होंने भी समाज-सुधार को अपनी कहानी-कला का लक्ष्य बनाया। उनकी कहानियों की शैली अत्यन्त सरस, सरल एवं रोचक है। उनकी हास्य ग्रीर विनोद से परिपूर्ण कहानियाँ 'चाँद' में 'दुबे जी की चिट्टियाँ' के रूप में प्रकाशित हुई थीं। उन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं जो 'कल्प-मंदिर', 'चित्रशाला' ग्रादि में संगृहीत हैं। पं० बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' (जन्म—१८६६) का भी महत्त्व कहानी-कला के क्षेत्र में 'कौशिक' जी के तुल्य माना जाता है। उनकी प्रथम कहानी 'हार की जीत' सन् १६२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, तब से ग्रापके ग्रनेक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जैसे—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थ-यात्रा', 'पुष्प-लता', 'गल्प-मंजरी', 'सुप्रभात' 'चार कहानियाँ', 'नगीना', 'पनघट' ग्रादि। उन्होंने ग्रपनी कहानियों में भावनाग्रों एवं मनो-वृत्तियों का चित्रण ग्रत्यन्त सरल ग्रीर रोचक शैली में किया है।

पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र' का प्रवेश हिन्दी कहानी-जगत् में सन् १६२२ में हुया। श्रापकी उग्रता के प्रभाव को खालोचकों ने 'उल्कापात' 'धूमकेतु', 'तूफान' या 'बवंडर' की उपमा दी है, इसी से खापको कला के विद्रोही रूप का अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में राजनीतिक परिस्थितियों, सामाजिक रूढ़ियों और राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाली प्रवृत्तियों के प्रति गहरा विद्रोह व्यक्त किया। उनमें वीभत्सता एवं अश्लोलता भी आ गई हैं, किन्तु उनका उद्देश्य जीवन की इस कुरूपता का प्रचार करना नहीं, अपितु उसका अन्त करना है। उनके कहानी-संग्रह 'दोजल की आग', 'चिनगारियां', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर' आदि प्रकाशित हुए हैं।

श्राचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी श्रपनी कहानियों में सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया है, किन्तु उनकी शैली में 'उग्न' जी की सी उग्नता नहीं है। 'उग्न' जी की सी यथार्थवादिता भी उनमें नहीं मिलती। उनकी कहानियों के संग्रह 'रजकण' ग्रौर 'ग्रक्षत' श्रादि प्रकाशित हुए हैं। उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'दे खुदा की राह पर', 'भिक्षुराज', 'ककड़ी की कीमत' ग्रादि हैं।

हिन्दी कहानी-साहित्य का दूसरा युग जैनेन्द्रकुमार के आगमन से आरम्भ होता है। आपने स्थूल समस्याओं के स्थान पर सूक्ष्म मनोविज्ञान का चित्रण किया है। उन्होंने हिन्दी कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की। किन्तु उन्होंने सामान्य मानव की सामान्य परिस्थितियों को न लेकर असामान्य मानव की असामान्य परिस्थितियों को प्रभावित मानसिक-प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया। उनका दृष्टिकोण समाजवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी, भौतिकवादी की अपेक्षा अध्यात्मवादी अधिक है। उनके पास विषय-सामग्री का अभाव है। प्रायः वे एक ही बात का पिष्टपेषण अपनी अनेक रचनाओं में करते रहते हैं। घटनाओं की अपेक्षा उन्होंने चरित्र-चित्रण एवं शैली को अधिक महत्त्व दिया है। आपकी कहानियों के संग्रह वातायन, स्पर्धा, फाँसी, पाजेव, जय-संधि, एक रात, दो चिडियाँ आदि हैं।

श्री ज्वालादत्त शर्मा ने बहुत थोड़ी संख्या में कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु हिन्दी जगत् में उनका श्रच्छा स्वरम्हा हम्माना हम्माना कहानियों की 'भाषाना बहुत', 'श्रनाथ बालिका' म्रादि उल्लेखनीय हैं। जनार्दन प्रसाद भा 'द्विज' ने श्रपनी कहानियों में करुण-रस की म्राभिव्यक्ति मौलिक ढंग से की है। उनके कहानी-संग्रह 'किसलय', 'मृदुदल', 'मधुमयी' म्रादि प्रकाशित हुए हैं। मार्मिकता की दृष्टि से 'द्विज' की कहानियों का वहुत ऊँचा स्थान है। श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' का दृष्टिकोण म्रादर्शवादी था। उनकी कहानियों में हमें सेवा, त्याग, विलदान, म्रात्म-शुद्धि म्रादि उच्च भावनाम्रों का चित्रण मिलता है। उनमें भावुकता का प्राधान्य है। उनके कहानी-संग्रह 'नन्दन-निकुंज', 'वनमाला' म्रादि नामों से प्रकाशित हुए हैं।

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त की कहानियों में यथार्थ की कटुता ग्रीर कल्पना की रंगीनी का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनमें प्रणय-भावनाग्रों का चित्रण मधुर रूप में हुग्रा है। उघर सियारामशरण गुप्त ने किवता की भाँति कहानी के क्षेत्र में भी श्रच्छी सफलता प्राप्त की है। उनकी सबसे श्रच्छी कहानी 'भूठ-सच' है, जिसमें ग्राधुनिक युगीन यथार्थवादी लेखकों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। कहानी-कला की दृष्टि से भी यह रचना बेजोड़ है। उनकी कहानियाँ 'मानुषी' में संगृहीत हैं।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने कहानी की अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में अधिक ख्याति अजित की है। उनकी कहानियों में भी कल्पना और इतिहास का समन्वय मिलता है। 'कलाकार का दंड' संग्रह में उनकी कई कहानियाँ संगृहीत हैं। वर्माजी की शैली में सरलता और स्वाभाविकता होती है।

हिन्दी कहानी के तीसरे युग में जैनेन्द्रजी द्वारा प्रवितित मनोविश्लेषण की परम्परा का विकास हुया। श्री भगवतीप्रसाद बाजपेयी ने अपनी कहानियों में मनो-वैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन किया है। उनके अनेक कहानी-संग्रह—'हिलोर', 'पुष्किरणो', 'खाली बोतल' ग्रादि प्रकाशित हुए हैं। उनकी कहानियों में 'मिठाईवाला', 'फाँकी', 'त्याग', 'वंशी-वादन' ग्रादि उत्कृष्ट कोटि की मानी गई हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा ने कहानी के क्षेत्र में असाधारण सफलता प्राप्त की है। उनमें विश्लेषण की गम्भीरता के साथ-साथ मार्मिकता और रोचकता का गुण भी मिलता है। उनके कहानी-संग्रह 'खिलते फूल', 'इन्स्टालमेंट', 'दो बाँके' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। श्री सिच्चितान्द हीरानन्द वात्स्यायन 'ग्रज्ञेय' ने ग्रपने साहित्य में मनोविश्लेषण की परम्परा को ग्रीर भी ग्रागे बढ़ाया है। विषयगा, परम्परा, कोठरी की बात, जयदोल ग्रादि उनके सुन्दर कहानी-संग्रह हैं। इसी परम्परा में इलाचन्द्र जोशी के 'रोमांटिक छाया', 'ग्राहुर्ति', 'दीवाली ग्रीर होली' ग्रादि कहानी-संग्रह ग्राते हैं। जोशीजी ने मनोविज्ञान के सत्यों का उद्घाटन ग्रन्थ लेखकों से ग्रिविक मर्मस्पर्शी रूप में किया है।

सामाजिक विषयों को लेकर कहानी लिखनेवाले लेखकों में उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क' का नाम उल्लेखनीय हैं। उनकी कहानियों में पिजरा, पाषाण, मोती, दूलो, मरुस्थल, गोखरू, खिलौने, चट्टान, जादूगरनी, चित्रकार की मौत ग्रादि बहुत लोकप्रिय हुई हैं। 'ग्रश्क' जी विषय-वस्तु, शैली एवं रोचकता की दृष्टि से प्रेमचन्दजी की परम्परा को ग्रागे बढ़ाते हैं। श्री ग्रेमणमाख ने श्रापेनी किही मिथी में श्रीधिनिक समाज की विषयता ग्रों

पर व्यंग्य किया है। उनकी कहानियों में 'पराया सुख', 'हलाल का टुकड़ा', 'ज्ञानदान',

'कूछ न समभ सका', 'जबरदस्ती', 'बदनाम' ग्रादि उल्लेखनीय है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और रमाप्रसाद 'पहाड़ी' का हिन्दी कहानी के क्षेत्र में बहुत ऊँचा स्थान है । भ्रापकी कहानियों के द्वारा कहानी-कला का विकास हुम्रा है । विद्यालंकार जी के कहानी-संग्रह 'चन्द्रकला', 'ग्रमावस' तथा पहाड़ी जी के 'सड़क पर', 'मौली', 'वरगद की जड़ें' ग्रादि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में हास्य-रस की कहानियाँ लिखनेवालों में श्री जी० पी० श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, 'बेढव वनारसी', अन्नपूर्णानन्द, मिर्जा अजीम वेग चुगताई ग्रीर जयनाथ 'नलिन' ग्रादि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियों में 'पिकनिक', 'भड़ामसिंह शर्मा', 'गुदगुदी', 'लतखोरीलाल' ग्रादि महत्व-पूर्ण हैं । उनका हास्य साधारण स्तर का है । 'बेढव बनारसी' ग्रौर ग्रन्नपूर्णानन्दजी की रचनाग्रों में ग्रिधिक परिष्कृत रुचि का हास्य मिलता है। ग्रन्नपूर्णीनन्दजी की कहानियों में 'महाकिव चच्चा', 'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला' उल्लेखनीय हैं। मिर्जा जी ने 'गीदड़ का शिकार', 'लेफ्टिनेन्ट', 'कोल-तार' ग्रादि कहानियाँ लिखीं। 'निलन' जी के कहानी-संग्रह में 'नवावी सनक', 'शतरंज के मोहरे' 'जवानी का नशा', 'टीलों की चमक' ग्रादि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि में महिला लेखिकाओं ने भी कम योगदान नहीं किया । सुभद्राकुमारी चौहान, उमा नेहरू, शिवरानी देवी, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मलिक, कमलादेवी वर्मा, चन्द्रप्रभा, तारा पांडेय, चन्द्रिकरण सौन-रिक्सा, रामेश्वरी शर्मा, पुष्पा महाजन, विद्यावती शर्मा ग्रादि ने बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों में प्रायः पारिवारिक जीवन और हिन्दू समाज में नारी की दारुण स्थिति के चित्र हैं, फिर वे जीवन के उस गरिमामय द्वन्द्व को भी उस व्यापक दृष्टि से नहीं ग्राँक सकी हैं, जैसा कि विश्व की महान् कहानी-लेखिकाओं ने किया है।

नयी कहानी

सन् १९५० से हिन्दो कविता की भाँति हिन्दी कहानी के क्षेत्र में भी ग्रति यथार्थ-वादी प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन एवं विकास हो रहा है। 'नयी कविता' की भाँति 'नयी कहानी' का नारा बुलन्द करते हुए नवोदित कथाकार नग्न यथार्थ का चित्रण स्वच्छन्द रूप से अपनी कहानियों में कर रहे हैं। भ्राधुनिकता, समसामयिकता न्यूनता भ्रादि भ्राकर्षक शब्दों की ओट में अपनी भोगवादी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को अवगुंठित करने के प्रयास में ये संलग्न हैं। उनके पास निजी दृष्टिकोण एवं वैयक्तिक मान्यताओं का स्रभाव है, इसलिए स्वदेश ग्रौर विदेश की प्रत्येक नवोदित प्रवृत्ति के ग्रन्धानुकरण के लिए वे सदा प्रस्तुत रहते हैं, एक ही लेखक किसी समय एक प्रवृत्ति से ग्रस्त दिखाई पड़ता है तो दूसरे क्षण किसी दूसरी से। जो लेखक कुछ समय पूर्व प्रगतिशीलता के गुण गाता हुआ दिखाई पड़ता था। ग्रब नग्न यौनवाद के प्रवाह में बहता हुआ, प्रतिक्रियावादी साहित्य की रचना में निरत दिखाई पड़ता है। उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क' ने इस प्रवृत्ति को फैशन का नाम देते हुए बताया है कि हिन्दी कहानी में किस प्रकार एक के बाद एक नये-नये फैशन प्रचलित हो रहे हैं। कभी अश्लील कहानियों का फैशन चलता है, तो कभी आंचलिक कहानियों का और कभी सैक्स तथा सिम्बलिज्म का। वस्तुतः नये कहानीकारों में सुदृढ़ आस्था, स्वस्थ जीवन दर्शन एवं व्यापक जीवन-दृष्टि का नितान्त अभाव है, वे वासना की संकीर्ण घाटियों और विलासिता की खंदक में फँसकर प्रगति की राह से विमुख होते हुए दिखाई पड़ते हैं। यह स्थिति न केवल इन साहित्यकारों व साहित्य-जगत के लिए, अपितु समाज के लिए भी घातक है।

नये कहानीकारों को भी विषयगत प्रवृत्तियों की दृष्टि से भ्रनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहले वर्ग में राजेन्द्र यादव (कहानी संग्रह—'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'एक पुरुष एक नारी' श्रादि), मोहन राकेश (संग्रह—'नये वादल', 'जानवर श्रीर जानवर', 'एक श्रीर जिन्दगी' श्रादि), धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय, कमलेश्वर, भ्रमरकान्त (जिन्दगी भ्रौर जोंक), डा० लक्ष्मीनारायण लाल, रमेश वसी, शैलेश मटियानी, नरेश मेहता, मन्नू भंडारी, प्रभृति कहानीकार ग्राते हैं, जिन्होंने मुख्यतः शहरी मध्यवर्गीय जीवन की भ्रान्तरिक परिस्थितियों का चित्रण किया है। इनका दृष्टिकोण म्रति यथार्थवादी, तथा लक्ष्य यौन विकृतियों, कुंठाग्रों, ग्रभावों श्रादि के चित्रण का रहा है। शिल्प श्रौर शैली के क्षेत्र में भी इन्होंने नूतनता पर वल दिया है। दूसरे वर्ग में फणीश्वरनाथ 'रेणु' (संग्रह—'ठुमरी'), राजेन्द्र श्रवस्थी तृषित (संग्रह—गंगा की लहरें'), मार्कण्डेय (महुग्रा ग्राम के जंगल), शिवप्रसाद सिंह ('इन्हें भी इन्तजार हैं) शेखर जोशी भ्रादि को स्थान दिया जा सकता है। इन्होंने भ्रांचिलक पृष्ठभूमि पर ग्रामीण जीवन को ग्रंकित करने का प्रयास किया है। तीसरे वर्ग में हास्य-व्यंग्यमयी कहानियों के लेखकों को स्थान दिया जा सकता है, जिनमें केशवचन्द्र वर्मा, श्रीलाल शुक्ल, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शान्ति मेहरोत्रा भादि का नाम उल्लेखनीय है। चतुर्थ वर्ग ऐसे लेखकों का है, जिन्होंने व्यापक प्रगति-शील दृष्टि से जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण किया है। इस वर्ग में कृष्णचन्द्र (संग्रह 'गरजन की एक शाम' 'काला सूरज' 'घूँघट में गोरी जले'), ग्रमृतराय (संग्रह— 'भोर से पहले', 'तिरंगे कफन', 'नूतन आलोक', भैरवप्रसाद गुप्त प्रभृति को स्थान दिया जा सकता है। इनके भ्रतिरिक्त भ्रनेक कहानीकार ऐसे भी हैं जिन्हें किसी एक विशिष्ट वर्ग में स्थान नहीं दिया जा सकता, यथा—विष्णु प्रभाकर, सत्यपाल ग्रानन्द, कृष्ण बलदेव वैद ग्रादि।

इघर सातवें दशक में 'नयी कहानी' के विरुद्ध भी अनेक छोटे-वड़े संप्रदाय खड़े हुए हैं, जो 'अकहानी', 'सचेतन कहानी', 'समकालीन कहानी', 'प्रभाववादी कहानी', 'सिक्रिय कहानी', 'लघु कहानी' आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'अकहानी' पश्चिम की 'एन्टी पोइट्री' एवं 'एन्टी स्टोरी' से प्रेरित हैं जिसमें अनास्था मूलक प्रवृत्तियों की प्रमुखता है। 'सचेतन कहानी' आन्दोलन के प्रवर्त्तकों ने मानवतावादी मूल्यों, आस्थान्मूलक प्रवृत्तियों एवं स्वस्य जीवन दृष्टिकोण का लक्ष्य अपनाया था, किन्तु व्यवहार में वे ऐसा नहीं कर पाये। इस वर्ग में डा॰ महीप्रसिद्ध सनह्य जीवन कुल मूषण, रमेश CC-0. Jangamwadi Main Collection, हिन्त कुल मूषण, रमेश

गौड़, हिमांशु जोशी, सुदर्शन चोपड़ा, सुरेन्द्र मल्होत्रा, जगदीश चतुर्वेदी, वेद राही, धर्मेन गुप्त, देवेन्द्र गुप्त (स्वर्गीय), योगेन्द्रकुमार लल्ला, राजीव सक्सेना, देवेन्द्र सत्यार्थी जैसे ध्रनेक प्रतिभाशाली लेखक सम्मिलित हैं। इसी प्रकार 'समकालीन कहानी', 'प्रभाववादी कहानी', 'सिक्रय कहानी' 'लघु-कहानी' ग्रादि शीर्षक हिन्दी कहानी के क्षेत्र में ग्रात्म-स्थापना के लिए किये गये विभिन्न लघु प्रयासों के सूचक हैं। हर वर्ग या गुट ग्रपने ग्रलग लेबिल से ग्रपना ग्रस्तित्व प्रमाणित करना चाहता है किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इनमें परस्पर ग्रधिक ग्रन्तर नहीं है।

हिन्दी कहानी-क्षेत्र में अवतीर्ण होनेवाली अन्य नयी प्रतिभाओं में कृष्णा सोवती, रजनी पिनकर, पुष्पा जायसवाल, उषा प्रियम्बदा, विजय चौहान, सलमा सिद्दीकी, सोमा बीरा, मेहरुन्निसा परवेज, शान्ति मेहरोत्रा, इन्दुवाली प्रभृत्ति लेखिकाओं तथा डा॰ बीरेन्द्र महेन्दीरत्ता (संग्रह—'शिमले की क्रीम', 'पुरानी मिट्टी नये साँचे') प्रयाग शुक्ल, रघुवीर सहाय, दूधनार्थीसह, सुरेन्द्रपाल, गिरिराज, धर्मेन्द्र गुप्त, रवीन्द्र कालिया, मृत्युञ्जय उपाध्याय, अवधनारायण सिंह, निर्मल वर्मा, रामकुमार, अमरकान्त, मार्कण्डेय, ठाकुरप्रसाद सिंह, वलवन्त सिंह, गंगाप्रसाद विमल, परेश आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

ग्रस्तु, ग्रव तक के पर्यालोचन से स्पष्ट है कि हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रति-भाग्रों का ग्रभाव नहीं है, किन्तु जीवन में किसी व्यापक लक्ष्य एवं उदात्त मूल्यों के ग्रभाव में उपन्यास की भाँति कहानी का क्षेत्र भी संकीर्ण एवं सीमित होता जा रहा है। उसमें मुख्यतः मध्यवर्गीय शहरी जीवन के कलुषित, ग्रस्वस्थ एवं कुंठाग्रस्त रूप का ही उद्घाटन ग्रधिक हो रहा है, ग्रन्य वर्ग ग्रीर ग्रन्य पक्ष उपेक्षित हो रहे हैं। ग्रांचलिकता के फैशन ने अनेक कहानीकारों का घ्यान ग्रामीण जीवन की ग्रोर ग्राकिषत किया है, किन्तू जैसा कि उपेन्द्रनाथ ग्रश्क ने स्पष्ट किया है, ग्रामीण जीवन के वास्तविक ग्रनुभवों के ग्रभाव में लेखकों को उसके चित्रण में बहुत कम सफलता मिली है। ग्रश्कजी के शब्दों में 'देहात की कटु यथार्थता से इन कथाकारों को कोई प्रयोजन नहीं था। देहात में कैसे ग्रत्याचार-ग्रनाचार हो रहे हैं, इससे भी कोई इन्हें गरज नहीं थी। देहात की उस धरती में उन्होंने शहर के पेचीदा मन वाले लोग वसा दिए।' वस्तुतः विषय-वस्तु की दृष्टि से तथाकथित 'नयी कहानी' एक ऐसे वर्ग के कहानीकारों के व्यक्तित्व, चरित्र एवं जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है, जिनका जीवन घर के वंद दरवाजों, कालेज की दीवारों, शहर की गलियों भ्रौर नगर के मदिरालयों में वीता है, जिनकी जीवन-यात्रा काफी हाउसों से लेकर पत्र-सम्पादकों के कार्यालयों तक सीमित है, जिनकी सबसे बड़ी समस्या दिमत वासना, सैक्स की भूख, सून्दर प्रेयसियों की चाह ग्रीर भोगी हुई पितनयों का तलाक है, जिनका ग्रादर्श फायड, सार्त्र ग्रीर कामू है; जो रहते हैं भारत में, किन्तु स्वप्न लंदन की रात या पेरिस के मध्यान्ह का लेते हैं तथा काफी का प्याला, सिगरेट का घर्मां भौर सम्पादक का मनीभार्डर ही जिनकी रचनाओं का सबसे बड़ा प्रेरणा-स्रोत है। ऐसी स्थिति में उनसे किसी गंभीर प्रनुभूति, व्यापक प्रनुभव एवं बड़े सत्य की ग्राशा करना व्यर्थ-है Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

विषय-क्षेत्र की माँति शैली की दृष्टि से भी नयी कहानी में अनेक हासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं। साहित्य की अन्य विधाओं से कहानी के सबसे बड़े वैशिष्ट्य कथातत्व का हास होता जा रहा है। जिस प्रकार रस-विहीन कविताएँ और सिद्धान्त-शून्य आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं, उसी प्रकार कथाशून्य कहानियाँ लिखने के भी प्रयोग किए जा रहे हैं। वे कहानी कम एवं रेखाचित्र, डायरी, पत्र या निवन्थ अधिक दिखाई देती हैं। रचना-शैली में कलात्मक चातुर्य, साज-सज्जा एवं परिष्कार को त्याज्य घोषित करते हुए स्वच्छन्द एवं निर्वाध अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। सरल उपमाओं के स्थान पर अस्पष्ट विम्वों, दुष्ट्ह प्रतीकों तथा अप्रचलित शब्दों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। ये सब प्रवृत्तियाँ कहानी को प्रगति की ओर ले जा रही हैं या दुर्गति की ओर, यह चिन्तनीय है। फिलहाल इन सारी दूषित-प्रवृत्तियों का समर्थन करने के लिए 'आधुनिकता', 'नूतनता', 'कलात्मकता', 'नयी संवेदना', 'आधुनिक बोध' जैसे लुभावने विशेषणों का आश्रय लिया जा रहा है, पर दूसरी ओर अनेक प्रतिभाशाली एवं प्रगतिशील कहानीकार, आलोचक एवं पत्र-सम्पादक इस स्थिति के प्रति सावधान भी हैं—अतः आशा की जा सकती है कि इसमें शीघ ही सुधार होगा।

ः ग्रडतीसः

हिन्दी निबंध : स्वरूप ऋौर विकास

- १. 'निबन्ध'-परिभाषा ।
- २. निवन्ध —स्वरूप ग्रीर लक्षण ।
- ३. निवन्ध के भेदोपभेद ।
- ४. निवन्ध की शैली के भेद ।
- ५. हिन्दी में विकास—(ग्र) भारतेन्दु युग, (ग्रा) द्विवेदी युग, (इ) शुक्ल युग, (ई) शुक्लोत्तर युग।
- ६. उपसंहार।

मूलतः 'निवन्ध' शब्द का ग्रर्थ 'रोकना' या वाँधना है तथा इसके पर्यायवाची के रूप में 'लेख', 'संदर्भ', 'रचना', 'प्रस्ताव' श्रादि का उल्लेख किया जाता है, किन्तु भ्राजकल इसका प्रयोग लैटिन के 'एग्जीजियर' (निश्चिततापूर्वक परीक्षण करना) से व्युत्पन्न 'ऐसाई' (फ्रेंच) व 'ऐसे' (ग्रंग्रेजी Essay) के ग्रर्थ में होता है। ग्राघुनिक साहित्य में 'निवन्ध' की विधा का विकास भी वहुत कुछ पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणा से हुमा है, श्रतः इसके स्वरूप को स्पष्ट रूप में हृदयंगम करने के लिए पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई विभिन्न परिभाषाओं पर दृष्टिपात कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा। भाधनिक निवन्ध के जन्मदाता मौनतैन महोदय का कथन है-- "निबन्ध विचारों, उद्धरणों भीर कथाश्रों का मिश्रण है।" दूसरी श्रीर जानसन महोदय के मत में "निबन्ध मन का आकिस्मिक भ्रौर उच्छृं खल भ्रावेग—भ्रसम्बद्ध भ्रौर चिन्तनहीन बुद्धि-विलास मात्र'' है । केवल नामक एक पाश्चात्य विद्वान् ने निवन्ध की उपहासपूर्ण ढंग से व्याख्या करते हुए लिखा है—'निवन्घ लेखन-कला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में न प्रतिभा है भीर न ज्ञान-बुद्धि की जिज्ञासा, वही निवन्ध लेखन में प्रवृत्त होता है तथा विविधता तथा हल्की रचनाम्रों में म्रानन्द लेने, वाला पाठक ही उसे पढ़ता है।" वस्तुतः प्रारम्भिक निवन्धों में ग्रसम्बद्धता, उच्छुं खलता एवं हल्कापन होता था, जिसका उल्लेख इन परि-भाषाओं में किया गया है, किन्तु भ्रागे चलकर निबन्ध भी एक विचार-प्रधान, सुसम्बद्ध एवं प्रौढ़ रचना के रूप में विकसित हो गया; इसीलिए बेकन, लौक्स व भ्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे विचार प्रकाशन का एक गम्भीर सायन माना है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि निबन्ध में दो रूप मिलते हैं—एक ग्रसम्बद्ध ग्रीर चिन्तनहीन विचारों से समन्वित और दूसरा गम्भीर विचारों की प्रौढ़ ग्रभिव्यक्ति के रूप में; भ्रतः इनमें से किस रूप को स्वीकार किया जाय—यह विचारणीय है। हमारे विचार से उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोण भ्रतिवादी हैं। यदि निबन्ध सर्वथा भ्रसम्बद्ध भीर उच्छृं खल विचारों ट्रिस्मु हिन्नु स्ट्रुसा Ma हो ट्रागुल के प्रलाप में घोर उसमें कोई धन्तर

नहीं रह जायगा; दूसरी भ्रोर गूढ़ विचारों का लेखा होने की स्थिति में निवन्ध भीर दर्शन-शास्त्र में भी कोई भेद न रह जायगा। व्यापक ग्रर्थ में राजनीतिक, सामाजिक, ग्रर्थशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विषयों के प्रतिपादक लेख को भी निवन्ध कहते हैं, किन्त् क्या उन्हें निवन्ध के संकुचित ग्रर्थ-साहित्यिक निवन्ध-के ग्रन्तर्गत स्थान दे सकते थे ? निबन्ध को हम साहित्य (संकुचित अर्थ में काव्य) का एक अंग मानते हैं और साहित्य का एक अनिवार्य तत्व है-भाव तत्व। इसी भाव तत्व के आधार पर ही हम इतिहास और साहित्य में ग्रन्तर मानते हैं। ग्रतः साहित्यिक निबन्ध में विचारों का प्रतिपादन करते हुए भी उसमें भावोत्तेजन की क्षमता होनी भ्रावश्यक है। निवन्धों में भावोत्तेजना का यह गुण तभी भ्रा सकता है, जबिक इनमें रचियता के व्यक्तित्व का जीवित स्पर्श हो. उनमें उनकी अनुभृतियों का प्रकाशन हो श्रीर उनकी शैली में रोचकता हो। निबन्ध में विचार होते हैं, किन्तु वे मस्तिष्क के शुष्क चिन्तन पर ही ग्राधारित नहीं होते । उनके पीछे हृदय की तरल रागात्मकता भी होती है । ग्रस्तु, साहित्यिक निवन्ध के लिए तीन बातों का होना ग्रावश्यक है-(१) वैयक्तिक ग्रनुभृतियों से समन्वित विचारों का प्रतिपादन, (२) पाठक के मस्तिष्क को ही नहीं, उसके हृदय को भी गृदगुदाने की क्षमता, (३) साहित्यिक गुणों से समन्वित शैली । कुछ लोगों का विचार है कि गम्भीर निबन्ध केवल मस्तिष्क को ही छुते हैं, हृदय को नहीं, किन्तू ऐसी बात नहीं। साहित्य की श्रेणी में श्रानेवाले निवन्ध चाहे कितने ही गम्भीर या गम्भीर विषय पर क्यों न हो, वे हमारे हृदय की भाव-वीचियों को श्रवश्य उद्वेलित करते हैं। वे भ्रौत्सुक्य, चिंता, वितर्क, विवोध, हर्ष भ्रादि संचारियों को उद्दीप्त करते हुए उस भाव-दशा का विकास करते हैं, जिसे रस-सिद्धान्त के श्राचार्यों ने 'शांत-रस' कहा है। बौद्धिक विषयों की भावात्मक अनुभूति या पूर्ण तन्मयता का नाम ही शान्त-रस है, जो उत्कृष्ट साहित्यिक निबन्धों के द्वारा प्राप्य है।

प्रश्न है, क्या साहित्यिक निबन्धों का विषय भी साहित्यिक होना श्रावश्यक है ? इस उत्तर में हम कहेंगे कि यदि निबन्ध-लेखक विषय का प्रतिपादन साहित्यिक ढंग से करता है, तो साहित्येतर विषयों पर लिखे गए निबन्ध भी साहित्यिक बन सकते हैं, जबिक शुष्क वैज्ञानिक शैली में लिखे गए साहित्यिक विषयों के लेख भी साहित्यिक नहीं कहे जा सकते। स्वर्गीय वालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखे गए 'शिव-शंभु के चिट्ठों' की मूल प्रेरणा राजनीतिक होते हुए भी वे विशुद्ध साहित्य के श्रन्तर्गत लिये जा सकते हैं, जबिक हमारे कुछ विद्वानों द्वारा शुष्क शैली में लिखे गए श्रनेक जिटल साहित्यिक निबन्ध भी साहित्यकता से शून्य हैं।

यद्यपि निवन्ध को किसी परिभाषा में बाँधना या उसके लिए कुछ नियमों का निर्धारित करना संभव नहीं, फिर भी विद्वानों ने उसके सामान्य लक्षण निश्चित करने का प्रयास किया हैं। डाक्टर गुलाबराय जी ने निवन्ध के ये पाँच लक्षण निश्चित किए हैं— (१) निवन्ध एक गद्य रचना के रूप में लिखा जाता है। (२) निवन्ध में लेखक के निजीपन ग्रीर व्यक्तित्व की सलक होती है। (३) निवन्ध में ग्रपूर्णता ग्रीर स्वच्छन्दता के होते हुए भी वह स्वतः पूर्ण हीता है विपालक्षण को Math Collection Varanasi एक दृष्टिकोण का प्रतिपादन

होता है। (५) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक और सजीव होता है। निवन्ध के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए प्रो० जयनाथ 'नलिन' ने ग्रपने ग्रन्थ 'हिन्दी निवन्धकार' में लिखा है कि निवन्ध का कोई निश्चित विषय नहीं होता । सभी स्थानों पर निवन्ध स्वतन्त्रता से विचरण कर सकता है। 'सबै भूमि गोपाल की जा में ग्रटक कहा' वाली वात निवन्ध के विषय में स्वतःसिद्ध है। निवन्ध में महत्व विषय का नहीं, उस ग्रात्मा का है जो वोल रही है, उन प्राणों का है जो उसमें सिक्रय है। निवन्ध नमक-मिर्च पर भी लिखा जा सकता है ग्रीर कृष्ण महाराज की कपड़े की कंगाली पर भी, जो फुटपाथों पर पड़ी ग्रनेक द्रौपिदयों को एक इंच कपड़ा भी नहीं दे सकती। निवन्ध के स्वरूप की दूसरी विशेषता है--ग्राकार-लघुता। निवन्ध सामान्यतः पन्द्रह-बीस पृष्ठों के ग्राकार का होता है। अधिक वड़ा निवन्ध, निवन्ध न होकर प्रवन्ध हो जायगा। तीसरी विशेषता है-निवन्ध मन के स्वाधीन विचरण एवं चिन्तन पर ग्राधारित होता है। इसी को दूसरे शब्दों में लेखक के व्यक्तित्व की ग्रिभिव्यंजना कह सकते हैं। चौथी विशेषता है-निवन्थ की शैली में संक्षिप्तता, रोचकता एवं व्यंग्यात्मकता का होना। वस्तुतः डॉ॰ गुलावराय जी के निर्धारित लक्षणों व प्रो॰ नलिन द्वारा उल्लिखित विशेषताग्रों में ग्रन्तर नहीं है। ग्रतः निबन्ध की ये विशेषताएँ बहुमत से स्वीकृत मानी जा सकती हैं।

निवन्ध की विषय-वस्तु के वर्णन, विवेचन, प्रकटीकरण ग्रादि के भ्राधार पर उसके सामान्यतः चार भेद किए जाते हैं—(१) वर्णनात्मक, (२) विवरणात्मक, (३) विचारात्मक ग्रीर (४) भावात्मक । वर्णनात्मक निवन्धों में प्रायः भुगोल, यात्रा, वाता-वरण, ऋतु, तीर्थ-दर्शनीय स्थान, मेले-तमाशे, पर्व-त्योहार, सभा-सम्मेलन ग्रादि विषयों का वर्णन होता है जविक विवरणात्मक में किसी वृत्तान्त या घटना का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। वर्णनात्मक निवन्धों में दृश्यों का चित्रण ग्रधिक होता है, जबिक विवरणात्मक में घटनाश्रों का। वर्णनात्मक में स्थानगत वर्णन होता है, जबिक विवरणात्मक में कालगत; दूसरे शब्दों में वर्णनात्मक निवन्ध में ग्रधिकतर स्थिर क्रियाहीन पदार्थ का चित्र रहेगा, जविक विवरणात्मक में क्रियाशीलता का । ग्रतः वर्णनात्मक श्रौर विवरणात्मक में मोटा भेद घटनात्मकता या कथात्मकता का होता है। विचारात्मक निवन्धों में किसी विचारधारा, सामाजिक, साहित्यिक या राजनीतिक समस्या का अथवा किसी नवीन तथ्य ग्रादि का प्रतिपादन, विवेचन, विश्लेषण या स्पष्टीकरण होता है। भावात्मक निवन्धों में लेखक की शैली में भावुकता श्रिधिक होती है। वैसे विचारात्मक एवं भावात्मक दोनों में ही विचार श्रीर भावना का श्रंश किसी न किसी रूप से अवश्य होता, है, किन्तु एक में बौद्धिकता अधिक होती है, जबकि दूसरे में उसकी हार्दिकता को प्रमुखता प्राप्त होती है। इन चारों प्रकार के ही निबन्धों में क्रमणः लेखक से सम्बन्धित किसी दृश्य, घटना, विचार या भावना का चित्रण होता है भीर यही विशेषता इन सबको एक ही शीर्षक के भ्रन्तर्गत वैंघे रहने के लिए विवश करती है।

निबन्ध में प्रयुक्त की जानेवाली शैली के भी अनेक भेद किए गए हैं, जैसे-

समास शैली, व्यास शैली, घारा-शैली, विक्षेप-शैली स्नादि । सामान्यतः वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक निवन्धों में व्यास शैली का, विचारात्मक में समास शैली का तथा भावात्मक में घारा शैली, तरंग शैली एवं विक्षेप शैली का प्रयोग होता है । किन्तु यह नियम दृढ़ता से लागू नहीं होता ।

हिन्दी में विकास

हिन्दी में निबन्ध का म्राविभाव म्राधुनिक युग में ही हुम्रा । इसके कारण स्पष्ट हैं । एक तो इससे पूर्व गद्य का ही विकास नहीं हुम्रा था । दूसरे, पूर्ववर्ती साहित्य-कारों का लक्ष्य मुख्यतः भ्रपनी भावानुभूतियों का ही प्रकाशन था, विचारों की म्रिभिव्यं-जना करना कम था । तीसरे, निबन्धों के प्रचार के साधनों—मुद्रण-यंत्र, समाचार-पत्र म्रादि का भी प्रचलन ग्राधुनिक युग में हुम्रा भौर चौथे, मघ्ययुग में उस सामाजिक भौर राजनीतिक चेतना का भी उन्मेष नहीं हुम्रा था, जिसने भारतेन्दु युग के निबन्धों में प्राण फूंके । भारतेन्दु युग में हरिश्चन्द्र-चिन्द्रका, ब्राह्मण, सार-सुधा-निधि, प्रदीप भ्रादि पित्रकाम्रों का भी प्रकाशन हुम्रा, जिनसे हिन्दी निबन्ध के विकास में पर्याप्त योग मिला । भारतेन्दु युग से लेकर भव तक के निबन्ध-साहित्य को प्रो० जयनाथ निलन ने चार युगों में बाँटा है—भारतेन्दु युग, (२) द्विवेदी युग, (३) प्रसाद युग भौर (४) शुक्लोत्तर-युग । हमारे विचार से भ्रन्तिम दो युगों का यह नामकरण ठीक नहीं है । प्रसाद जी ने कुछ निबन्ध म्रवश्य लिखे थे, किन्तु फिर भी निबन्धकार के रूप में उनका महत्त्व भ्रधिक नहीं । वस्तुतः 'प्रसाद युग' को 'शुक्लोत्तर-युग' कहना ही निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में भ्रधिक उपयुक्त होगा ।

भारतेन्द्र युग (१९३०-६० वि०) के प्रमुख निबन्धकारों में स्वयं भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र, वालकृष्ण भट्ट, वदरीनारायण चौघरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, बाल-मुकुन्द गुप्त, राघाचरण गोस्वामी म्रादि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतेन्द्र हरिचन्द्र मात्र एक साहित्यकार नहीं थे, ग्रपितु साहित्यकार के विराट् रूप थे। उन्होंने कविता, नाटक, निवन्ध, ग्रालोचना ग्रादि सभी रूपों का विकास ही नहीं किया, ग्रपितु उनमें उन विशेषताम्रों भीर प्रवृत्तियों का समन्वय भी किया जो उस युग में सम्भव थीं। कविता श्रीर नाटक की भाँति उनके निवन्धों का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, भ्रालोचना, खोज, यात्रा, प्रकृति-वर्णन, भ्रात्मचरित, व्यंग्य-विनोद ग्रादि सभी विषयों पर इस महामानव ने कलम उठाई है। काश्मीर-कुसुम, उदय-परोदय, कालचक्र, बादशाह-दर्पण-भ्रादि निबन्धों में उस युगावतार की सूक्ष्म ऐतिहासिक दुष्टि का परिचय मिलता है, तो वैद्यनाथ धाम, हरिद्वार भ्रौर सरयूपार की यात्रा सम्बन्धी लेखों में उनका भारतीय संस्कृति एवं भारत-भूमि के प्रति ग्रनुराग छलक रहा है। म्राचार्य शुक्ल ने एक बार घोषित किया था कि भारतेन्दु में प्रकृति प्रेम नहीं है, किन्तू यदि वे इनके प्रकृति-सम्बन्धी निबन्धों को घ्यान में रखते तो उन्हें ऐसी बात कहने का साहस नहीं होता। पूरा निबन्ध नहीं, उसकी कुछ पंक्तियाँ मात्र इस भ्रम का निराकरण कर देंगी-cc-'ळण्डी इतालसन्त्रकी काली तिल्लाती हुई वहने लगी। दूर से

धानी ग्रीर काही रंग के पर्वतों पर सुनहरापन ग्रा चला। कहीं ग्राधे पर्वत वादलों से घिरे हुए, कहीं एक साथ वाष्प निकलने से उनकी चोटियाँ छिपी हुई ग्रीर कहीं चारों ग्रोर से उन पर जलधारा-पात से बुक्के की होली खेलते हुए वड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे।" यात्रा-सम्बन्धी निवन्धों में भी उनकी भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का स्रोत वीच-वीच में फूट पड़ा है—"गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुग्रों की किस्मत ग्रीर हिम्मत। ग्रव तो तपस्या करके गोरी-गोरी कोख से जन्म लें तव ही संसार में सुख मिले।"

भारतेन्दु जी ने ग्रनेक निबन्धों में तत्कालीन धार्मिक एवं राजनीतिक सबस्याओं पर तीक्षण व्यंग्य किया है; 'लेवी प्राण लेवी', 'स्वर्ग में विचार सभा का ग्रधिवेशन', 'ज्ञाति विवेकिनी सभा', 'पाँचवें पैगम्बर', 'ग्रंग्रेज स्तोत्र', 'कंकड़ स्तोत्र' ग्रादि निवन्ध इसी कोटि के हैं। 'कंकड़ स्तोत्र' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—''कंकड़ को प्रणाम है। देव नहीं महादेव, क्योंकि काशी के कंकड़ शिव शंकर के समान हैं।....श्राप ग्रंग्रेजी राज्य में भी गएशेश-चतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़कर रुधिरधारा से नियम ग्रौर शान्ति का ग्रस्तित्व वहा देते हो। ग्रतएव, हे ग्रंग्रेजी राज्य में नवाबी स्थापक! तुमको नमस्कार है।'' यहाँ हिन्दुग्रों की मूर्तिपूजा, बहुदेवो-पासना पर जो व्यंग्य किया गया है, वह मोठा होता हुग्रा भी कबीर को उक्तियों से ग्रधिक प्रभावशाली है।

भारतेन्दु के निवन्धों में विषय के अनुरूप विभिन्न प्रकार की भाषा-शैलियों का प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा में मार्मिक अभिन्यंजना, विदग्ध वाग्मिता, सजीव अनेक-रूपता और मन-मोहक स्वच्छता मिलती है। उसमें कहीं स्वाभाविक अलंकार-योजना है तो कहीं गोष्ठी-वार्तालाप का ढंग अपनाया गया है। उनके आलोचनात्मक निवन्धों, 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ है, किन्तु फिर भी उसमें दुरूहता, दुर्वोधता, कृत्रिमता और समासात्मकता दृष्टिगोचर नहीं होती। अस्तु, विषय और शैली—दोनों की ही दृष्टि से भारतेन्दु का निवन्ध-साहित्य महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु युग के ग्रन्य निवन्धकारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र एवं बालमुकुन्द गुप्त का बहुत ऊँचा स्थान है। भट्टजी 'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक थे, श्रौर उनकी लेखनी से वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक श्रौर विचारात्मक सभी प्रकार के निवन्ध प्रसूत हुए हैं। कुछ निवन्धों के शीर्षक से ही उनके विषय-क्षेत्र की व्यापकता का श्रनुमान लगाया जा सकता है—'मेला-ठेला', 'वकील', सहानुभूति', 'श्राशा', 'खटका' 'इंगलिश पढ़े तो बाबू होय !', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खाय मुछन्दर', 'श्रात्म-निर्भरता', 'माधुयें', 'शब्द की श्राक्षण शक्ति' श्रादि। भट्टजी के निवन्धों से विचारों की मौलिकता, विषय की व्यापकता, शैली की रोचकता श्रादि सभी गुण विद्यमान हैं।

'ब्राह्मण' के सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र ने भी विभिन्न विषयों पर लेख लिखे। कभी 'भौं', 'दाँत', 'पेट', 'मुच्छ', 'नाक' ग्रादि पर मिश्रजी की विनोदिनी लेखनी चली, तो कभी उसने 'बुद्ध', 'प्रताप-चरित', 'दान', 'जुग्रा', 'ग्रपव्यय' जैसे विषयों पर प्रकाश डाला। एक ग्रोर उन्होंने 'नास्तिक', 'ईश्वर की मूर्ति', 'शिव मूर्ति' 'सोने का डंडा', 'मनोवेग' ग्रादि विषयों पर लिखा, तो दूसरी ग्रोर 'समभदार की मौत है', 'टेढ़ जान शंका सब काहू', 'धूरे के लत्तां विने', 'कनातन क डोल बाँधे', 'होली है ग्रथवा होरी हैं' जैसी उक्तियों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। मिश्रजी के निवन्धों में मुहावरों का प्रयोग भी ग्रत्यधिक मात्रा में हुग्रा है, कहीं-कहीं तो वे एक वाक्य में ही ग्रनेक मुहावरों की भड़ी लगा देते हैं—''डाकखाने ग्रथवा तारघर के सहारे से वात की बात में चाहे जहां की जो वात हो, जान सकते हैं। इसके ग्रतिरिक्त बात वनती है, बात विगड़ती है, वात ग्रा पड़ती है, वात जलती है, वात जमती है, वात उखड़ती है, वात खुलती है, वात छिपती है, वात चलती है, वात ग्रहती है।''

एक विद्वान् ने लिखा है—''भाषा में स्खलन, शैली में घरूपन और ग्रामीणता, चंचलता ग्रीर उछल-कूद मिश्रजी की विशेषता है। भाषा सम्बन्धी दोष जहाँ-तहाँ लापर-वाहो से बिखरे पड़े हैं। कहीं-कहीं वाक्य का विलक्षण ग्रीर दुवौंघ रूप भी मिलता है। उर्दू के एक-दो शब्द भी परदेशी की तरह डरे-डरे से दीख पड़ते हैं। 'तेग्र-ग्रदा', 'कमाने ग्रव्न', 'निहायत' ग्रादि 'भौं' में मिल जाएँगे। 'पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इनकी निन्दा की जाय?' का ग्रर्थ टेढ़ी खीर है। विराम चिन्ह तब प्रयुक्त ही ग्रिधक नहीं होते थे। इन्होंने तो उनका जैसे विहष्कार ही कर रखा हो। इनके ग्रभाव में वाक्य कभी इतना लम्बा हो जाता है, कि समभने में उसे बार-वार पढ़ना पड़ता है।'' (हिन्दी निबन्धकार पु० ६७)

भारतेन्दु के मित्र चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमधन' दो पत्रों—'ग्रानन्द कादिम्बनी' (मासिक) श्रौर 'नागरी-नीरद' (साप्ताहिक)—के सम्पादक थे। इन पत्रों में उनके ग्रनेक निवन्ध प्रकाशित हुए, जैसे—'हिन्दी भाषा का विकास', 'परिपूर्ण प्रवास,' 'उत्साह-ग्रालम्बन,' ग्रादि। 'प्रेमधन' जो की भाषा में ग्रालंकारिकता, कृत्रिमता ग्रौर चमत्का-रोत्पत्ति का प्रयास मिलता है। एक बार उन्होंने शुक्लजी की एक पंक्ति को सुधारकर यह रूप दिया—''दोनों दलों की दल-दली में दलपित का विचार भी दलदल में फँसा रहा।'' दलपित का विचार दलदल में फँसा या नहीं, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'प्रेमधन' जी की भाषा इस कृत्रिमता के दलदल में फँसी रही।

वालमुकुन्द गुप्त एवं राधाचरण गोस्वामी—भारतेन्द्र युग और द्विवेदी युग को मिलानेवाली दो किंड्यों के सदृश हैं। गुप्तजी ने 'बंगवासी', 'भारत मित्र' ग्रादि का संपादन करते हुए ग्रनेक निबन्ध लिखे। उनके निबन्धों में विदेशी शासकों की नीति पर मीठा व्यंग्य किया गया। 'शिव-शम्भु' के उपनाम से उन्होंने ग्रनेक निबन्ध लिखे जो 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' प्रसिद्ध है। इनमें लार्ड कर्जन को सम्बोधित करके भारतवासियों की राजनीतिक विवशता को ग्रमिव्यक्ति प्रदान की गई है। कहीं-कहीं उनका व्यंग्य वड़ा तीखा हो गया है। होली के ग्रवसर पर लिखे गए चिट्ठे में वे लिखते हैं—''कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य है, घूप नहीं, चन्द्र है, चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर में ही हैं, पर शिव-शम्भु उनके द्वार तक नही फटक CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

सकता है, उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक वात की हवा तक नहीं पहुँच सकती ।....माई लार्ड के मुख चन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं है।" इस प्रकार राधाचरण गोस्वामी के निवन्ध भी व्यंग्य से भ्रोत-प्रोत हैं। उन्होंने अपने युग की सामाजिक कुरीतियों पर तीखा व्यंग्य किया है। "जब राधाचरण धार्मिक अन्धविश्वास पर चोट करते हैं, तो उनकी बोली में कबीर के प्राण बज़ते दीखते हैं। कबीर के व्यंग्य में कट्ट तीखापन है, गले से उतरते हुए लकीर-सी खिंचती है; गोस्वामी जी का व्यंग्य शहद में डूबा, हँसी में लिपटा और कल्पना से रंगीन है।" 'यमपुर की यात्रा' लेख में वैतरणी पार करते समय लेखक को वहाँ के प्रधान ने रोक लिया, पूछा क्या तुमने गोदान किया है? तब लेखक उत्तर देता है—''साहब प्रथम प्रश्न तो सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या? यदि गौ की पूँछ पकड़कर पार उत्तर जाते हैं, तो क्या बैल से नहीं उतर सकते ? जब बैल से उतर सकते हैं; तो कुत्ते ने क्या चोरी की है?" लेखक ने किसी साहब को कुत्ता दान में दिया था, इसी से वह 'वैतरणी-पार' का पास-पोर्ट बनवा लेना चाहता है।

वस्तुतः भारतेन्दु युग के सभी निवन्धकारों में वैयक्तिकता के साथ-साथ सामा-जिकता का समन्वय मिलता है। उनके विषय क्षेत्र में ज्यापकता ग्रौर विविधता मिलती है। हास्य ग्रौर व्यंग्य का पुट उन्होंने दिया है, किन्तु यह रहस्य ग्रौर व्यंग्य सोद्देश्य है— उसका उद्देश्य किसी सामाजिक या राजनीतिक विषमता पर चोट करना है। गूढ़ से गूढ़ विषयों को भी इस युग के लेखकों ने सरल, सुबोध एवं मनोरंजक ग्रैली में प्रस्तुत किया है। उनकी भाषा-ग्रैली में व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छता या शुद्धता भले ही न हो, किन्तु पाठक के हृदय को गुदगुदाने, उसके मस्तिष्क को भंकृत करने व उसकी ग्रात्मा को स्पर्श करने में वह पूर्णतः समर्थ है। उनके निवन्ध शुष्क वैज्ञानिक निवन्ध नहीं, ग्रपितु वे ग्रादर्श साहित्यिक निवन्ध हैं, जिनसे विचारों के साथ-साथ भावनाग्रों का भी उद्देलन होता है; जिनसे केवल ज्ञान की ही वृद्धि नहीं होती, रसानुभूति की प्राप्ति भी होती है।

द्विवेदी-युग—द्विवेदी युग का ग्रारम्भ हम श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य-भार सँभालने के समय (सन् १६०३ ई० या १६६० वि०) से ही मान सकते हैं। 'सरस्वती' में ग्राते ही द्विवेदीजी ने सबसे पहला कार्य तत्कालीन लेखकों की भाषा को संस्कारित एवं परिमार्जित करने का किया। वे व्याकरण सम्बन्धी भूलों की ग्रालोचना करते हुए विराम-चिन्हों के प्रयोग एवं उपयोग पर प्रकाश डालने लगे। वे भाषा के गठन ग्रीर स्वरूप को समभाने का प्रयत्न करते थे। भाषा के सम्बन्ध में उनकी नीति थी कि हिन्दी को अन्य भाषाग्रों के शब्दों से सर्वथा ग्रखूता न रखा जाय। किन्तु प्रयत्नपूर्वक तत्सम शब्दों का भी वहिष्कार न किया जाय। उनकी इस नीति का प्रभाव तत्कालीन सभी प्रमुख निबन्धकारों की भाषा-शैली पर पड़ा।

निवन्धकार द्विवेदी का भ्रादर्श बेकन था। उन्होंने बेकन के निवन्धों का भ्रनुवाद 'बेकन विचार-रत्नावली' के रूप में किया। बेकन की भाँति द्विवेदीजी भी निबन्धों में विचारों को प्रमुखता देते हैं। उनके निबन्ध—'किव भ्रीर किवता,' 'प्रतिभा', 'किवता', 'साहित्य की महत्ता', 'क्रोध', 'लोभ' ग्रादि—नये-नये विचारों से गुम्फित हैं। भारतेन्द्र

युगीन निवन्घों की-सी वैयक्तिकता का प्रदर्शन, सजीवता, रोचकता एवं सहज उच्छृ ह्वलता का द्विवेदीजी के निवन्धों में श्रभाव सा है। उनके निवन्धों में भाषा की शुद्धता, सार्थकता, एकरूपता, शब्द-प्रयोग-पटुता म्रादि गुण तो मिलते हैं, किन्तु पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता, विश्लेषण की गम्भीरता, चितन की मौलिकता उनमें बहुत कम है। फिर भी उनके निवन्धों में व्यास-शैली के कारण पर्याप्त सरलता श्रा गई है। तथा कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य व भावात्मकता का भी प्रस्फुटन हुम्रा है; जैसे—''फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पाटन ग्रौर उन्नयन किसने किया है ? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया ? साहित्य ने ! साहित्य ने ! साहित्य ने !!!'' ग्राजकल के छायावादी 'कवि ग्रौर कविता' लेख में भी उनकी शैली द्रष्टव्य है-- 'छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समक्ष में भी नहीं भाती। वे बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दों का या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छः पदे; कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरह पदे। किसी की चार सतरें गज-गज लम्बी तो दो सतरें दो ही भ्रंगुल की ! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीव गोरखधंधा हो जाती है। न ये शास्त्र की ग्राज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के ग्रनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवाह करनेवाले । इनका मूल-मन्त्र है—"हम चुनीं दीगरे नेस्त ।"

सम्भवतः उपर्युक्त पंक्तियों में थोड़े हलकेपन का श्राभास हो, किन्तु ऐसा सर्वत्र ही नहीं हुग्रा है। विषय के अनुरूप उनकी शैली में गम्भीरता भी दृष्टिगोचर होगी। 'मेचदूत' निवन्च की कुछ पंक्तियाँ हमारे कथन की सार्थकता प्रमाणित करेंगी। ''कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेचदूत एक ऐसे भव्य-भवन के सदृश है, जिसमें पद्य-रूपी ग्रनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं ग्रिधिक है।'' वस्तुतः द्विवेदीजी के प्रमुख संग्रह 'रसज्ञ-रंजन' में सचमुच रसज्ञ पाठकों के रंजन की पूर्ण क्षमता है।

द्विवेदी-युग के अन्य निबन्धकारों में माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर दास, पद्मसिह शर्मा, अध्यापक पूर्णिसह एवं गुलेरी का नाम उल्लेखनीय है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उन्होंने द्विवेदी जी का ही अनुकरण करते हुए विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं, किन्तु फिर भी इनमें कहीं-कहीं शैली की विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है। माधवप्रसादजी ने 'धृति', 'सत्य' जैसे विषयों पर गम्भीर शैली में प्रकाश डाला है। गोविन्दनारायण मिश्र की शैली में अलंकारों की छटा मिलती है। संस्कृत की शब्दा-वली के अतिशय प्रयोग के कारण उनके निबन्ध जिल्ल से हो गए हैं। उदाहरण के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य की परिभाषा देखिए—''मुक्ताहारी नीर-क्षीर-विचार सुचतुर-किव-कोविद-राज-हिम-सिहासनासिनी मंदहासिनी, त्रिलोक प्रकाशनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम, अनोखी, अनुलवाली, परम प्रभावशाली सुजन मन-मोहिनी नवरस भरी सरस सुखद-विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।'' इस परिभाषा की पढ़कर साहित्य तो दूर रहा, स्वयं इस परिभाषा को समभना ही टेढी खीर हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

वाबू श्यामसुन्दरदास उच्च कोटि के ग्रालोचक होने के साथ-साथ सफल निवन्ध-कार भी थे। उन्होंने प्रायः ग्रालोचनात्मक गम्भीर विषयों पर ही लेख लिखे—जैसे 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ', 'समाज ग्रौर साहित्य', 'हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा', 'कर्त्तव्य और सम्यता' आदि । उनके निवन्धों में विचारों का संग्रह ग्रीर समन्वय ही मिलता है, ग्रात्मानुभूतियों का प्रकाशन या भावात्मकता के दर्शन उनमें नहीं होते। उनकी शैली प्रौढ़ होते हुए भी सरल थी, उसमें कहीं भी ग्रस्पष्टता या जटिलता दृष्टि-गोचर नहीं होती । किन्तु भारतेन्द्र युग की-सी रोचकता या द्विवेदीजी की-सी सुबोधता का भी उनके निवन्धों में ग्रभाव है। वाबूजी के समकालीन ही तुलनात्मक समालीचना के जन्मदाता पद्मसिंह शर्मा थे। शर्माजी के निवन्धों में के दो संग्रह—'पद्मपराग' श्रौर 'प्रवन्ध-मंजरी' प्रकाशित हुए हैं । उन्होंने ग्रपने निवन्धों में महापुरुषों के जीवन का चित्रण, समकालीन व्यक्तियों के संस्मरण या उनको श्रद्धांजलि, साहित्य-समीक्षा ग्रादि विषयों को ग्रहण किया है। उनकी शैली में वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सरसता का पट मिलता है। गणपित शर्मा को दी गई श्रद्धांजलि की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं - हा ! पंडित गुणपति शर्मा जी हमको व्याकूल छोड गये । हाय हाय ! क्या हो गया । यह वज्र-पात, यह विपत्ति का पहाड़ ग्रचानक कैसे टुट पड़ा । यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया। यह किसके वियोग-वाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राणपखेरू के पंख जलाए डालती हैं। हा ! निर्दय काल-यवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय-मंदिर सूना कर दिया।"

ग्रध्यापक पूर्णसिंह ग्रीर पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ग्रपनी शैली की विशिष्टता के लिए प्रसिद्ध हैं। ग्रध्यापक पूर्णसिंह के निवन्धों में स्वाधीन-चिंतन, निर्भय-विचार-प्रकाशन, एवं प्रगतिशील तत्त्व मिलते हैं। उनकी शैली में ग्रनूठी लाक्षणिकता ग्रौर ग्रपूर्व व्यंग्य मिलता है। "वादल गरज-गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं, परन्तु वरसनेवाले वादल जरा-सी देर में बारह इंच तक वरस जाते हैं।" या "पुस्तकों या ग्रखबारों के पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो वस ड्राइंग-हाल के वीर पैदा होते हैं।" "ग्राज-कल भारतवर्ष में परोपकार का बुखार फैल रहा है।", "पुस्तकों के लिखे नुस्खों से तो ग्रौर भी वदहजमी हो जाती है।" जैसे वाक्य उनकी शैली की रोचकता का नमूना प्रस्तुत करते हैं।

गुलेरी जी के निबन्ध संख्या में कम हैं, किन्तु गुणों की दृष्टि से वे बहुत महत्व-पूर्ण हैं। उनमें गम्भीरता के साथ मनोविनोद, पांडित्य के साथ चुलबुलापन, प्राचीनता के साथ नवीनता, सांस्कृतिकता के साथ प्रगतिशीलता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली में सरलता, सरसता, व्यंग्यात्मकता, एवं रोचकता का गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। 'कछुवा-धर्म' से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"पुराने से पुराने ग्रायों की श्रपने भाई श्रसुरों से ग्रनबन हुई। श्रसुर श्रसुरिया में रहना चाहते थे, श्रार्य सप्तिंध्यु को श्रार्यावर्त बनाना चाहते थे। श्रागे ये चल दिये, पीछे वे दबाते श्राये....पर ईरान के श्रंगूरों श्रीर गुलों का, मुञ्जवत् पहाड़ की सोमलता का चस्का पड़ा हुग्ना था, लेने जाते तो वे पुराने गन्धर्व मारने दौड़ते हैं। हाँ, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौग्रा CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं।....मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी, जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़ियों से हुम्रा करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता, वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने भ्रपने कन्धे पर चढ़ी बाल-बधू के लिए कहा था कि 'या ही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि 'इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है, वह होता है।" वस्तुतः गुलेरी जी के निबन्ध उनके व्यक्तित्व की सजीवता से भ्रोत-प्रोत हैं, उनकी शैली पर सर्वत्र उनका व्यक्तित्व ग्रंकित है।

द्विवेदी-युग के उपर्युक्त निवन्धकारों के परिचय से स्पष्ट है कि इस युग के निवंध सामान्यतः विचार-प्रधान ही हैं। भारतेन्द्र-युगीन निवन्धों की भाँति इनमें तत्कालीन जीवन की ग्रिभिन्यिक्त एवं राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों का ग्रंकन नहीं मिलता। हास्य भौर व्यंग्य के स्थान पर इनमें गम्भीरता ग्रिधिक है। ग्रध्यापकजी एवं गुलेरीजी के निवन्धों को छोड़कर शेष में वैयक्तिकता का प्रस्फुटन नहीं मिलता। मौलिकता, नवीनता एवं ताजगी भी इनमें नहीं है। वस्तुतः ये निवन्ध कम हैं, विचारों के संग्रह भ्रधिक। व्याकरण की दृष्टि से भ्रवश्य इन निवन्धों की भाषा शुद्ध एवं परि-मार्जित हुई।

शुक्ल-युग—हिन्दी निबन्ध के विकास की गित में तीसरा मोड़ तब उपस्थित होता है, जब ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ग्रपने 'चिंतामणि' द्वारा नये विचार, नयी ग्रानुमूित ग्रीर नवीन शैली पाठकों के सामने प्रस्तुत की । 'चिंतामणि' के निवन्धों का विषय ग्रत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर—मनोविज्ञान एवं रसानुभूित—है, तथा उनका प्रतिपादन भी प्रौढ़तम शैली में हुग्रा । उनमें एक ग्रोर चिंतन की मौलिकता, विवेचन की गम्भीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं शैली की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है, तो दूसरी ग्रोर उनमें लेखक की वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं व्यंग्यात्मकता का दर्शन भी स्थानस्थान पर होगा । उनके निवन्धों में व्यक्ति एवं विषय का ऐसा सफल समन्वय हुग्रा कि इस बात का निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उन्हें व्यक्ति-प्रधान कहें, या विपयप्रधान ? ईष्यी, श्रद्धा, लज्जा, क्रोध, लोभ ग्रादि मनोवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने ग्रत्यन्त पैनी दृष्टि से किया है । इन निवन्धों में एक ग्रोर उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचय मिलता है, तो दूसरी ग्रोर उनका समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण भी स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है । एक मनोवैज्ञानिक, समाज-शास्त्री एवं साहित्यकार—तीनों के कार्य भार का निर्वाह ग्रकेले शुक्लजी ने 'चिंतामणि' में सफलतापूर्वक किया है ।

उनके साहित्यिक एवं ग्रालोचनात्मक निवन्घों—'कविता क्या है ?' 'साधारणी-करण' ग्रौर 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' ग्रादि—से उनकी ग्रपूर्व प्रतिभा, उनके स्वतन्त्र चिंतन एवं मौलिक विचारों की धाक पाठक पर बैठ जाती है। उनके विचारों एवं निष्कषों से कोई चाहे सहमत हो या न हो, किन्तु अध्वक्षकी भौतिकता सभीको स्वीकार करनी होगी। साधारणी- हिन्दी निवन्ध : स्वरूप ग्रौर विकास

करण की जिस समस्या को शताब्दियों पूर्व संस्कृत के ग्राचार्यों ने सुलभाने का प्रयत्न किया था, उसे माचार्य शुक्ल ने नये ढंग से सुलभाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः ऐसी 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' को लेकर अवतरित होनेवाले निवन्धकार व आलोचक शताब्दियों के पश्चात एक-दो दिखाई पडते हैं।

निवन्धकार शुक्लजी की शैली में भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दु युग की सी मौलिकता उसमें है, किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर हैं; द्विवेदी-युग की सी विचारात्मकता उसमें है, किन्तु वैसी शुष्कता का उनमें ग्रभाव है। विचारों की गम्भीर घाटियों के बीच-बीच में उतरी हास्य-व्यंग्य से ग्रोत-प्रोत उक्तियाँ किसी स्वच्छ-शीतल निर्भर के कोमल-मधुर कल-कल स्वर की तरह सुनाई पड़ती है। कहीं लज्जा ग्रौर ग्लानि पर विचार करते-करते वे लिखने लगते हैं— "लक्ष्मी की मूर्ति घातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए ।....ग्राजकल तो बहुत सी वातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं।....राजधर्म, ग्राचार्य धर्म, वीर धर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टका-धर्म हो गए ।....सवकी टकटकी टके की ग्रोर लगी हुई है।" तो कहीं वे चाटुकार लोगों की खबर लेते हुए कह बैठते हैं—"इसी बात का विचार करके सलाम-साघक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दिलयों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।" वस्तुतः शुक्लजी के निबन्धों में वे सभी गुण मिलते हैं, जो गम्भीर विषयों के निबन्धों के लिए अपेक्षित हैं। हाँ, उनके कुछ निवन्ध अति गम्भीरता, अति प्रौढ़ता एवं अति सूच्मता के कारण साधारण पाठक के लिए पहेलियों के तुल्य जटिल, दुरूह एवं शुष्क ग्रवश्य वन गए हैं।

शुक्ल-युग के श्रन्य निवन्धकारों में डा० गुलावराय, पदुमलाल पुन्नालाल वरूशी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, रायकृष्णदास, वासुदेवशरण श्रग्रवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी भ्रादि उल्लेखनीय हैं । गुलाबरायजी के भ्रनेक निवन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'फिर निराशा क्यों ?', 'मेरी ग्रसफलताएँ', 'मेरे निवन्ध' भ्रादि लोक-प्रिय हैं। श्रापके निवन्धों में व्यक्तित्व की सरलता, श्रनुभूति का सम्मिश्रण, विचारों की स्पष्टता एवं शैली की सुबोधता मिलती है। 'मेरी ग्रसफलताएँ' में ग्रापने वैयक्तिक विषयों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके निबन्धों में व्यंग्य भी स्थान-स्थान पर मिलता है, किन्तु उसका लक्ष्य कोई ग्रौर नहीं, वे स्वयं ही हैं। 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं — 'खैर, ग्राजकल उस (भैंस) का दूघ कम हो जाने पर भी भौर श्रपने मित्रों को छाछ भी पिला न सकने की विवशता की भूमल के होते हुए भी उसके लिए भूसा लाना भ्रनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण भौर भ्रभिव्यंजनावाद की चर्ची भीर कहाँ भूसे का भाव! भूसा खरीदकर मुक्ते भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से लोग प्रकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं।....लेकिन मुफ्ते गधे के पीछे चलने में उतना ही म्रानन्द म्राता है, जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में।" श्राचार्यजी ने अपने अनेक निवन्धों में साहित्य श्रौर मनोविज्ञान की अनेक समस्याओं का भी समाधान प्रस्तुत किया है।

बस्शी पदुमलाल पुत्रालालजी ने भ्रपने निबन्धों में मौलिक विचार एवं नूतन शैली

का आदर्श उपस्थित किया है। उसके निबन्धों के विषय हैं—'उत्सव', 'रामलाल पंडित', 'नाम', 'समाज-सेवा', 'विज्ञान' ग्रादि। उनको शैली में कुछ ऐसी विशिष्टता परिलक्षित होती है, जो ग्रन्थत्र सुलभ नहीं। राय कृष्णदास, वियोगी हरि एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी के निवन्धों में विचारों की ग्रपेक्षा निजी ग्रनुभूतियों एवं भावनाग्रों की ग्रिभव्यक्ति ग्रधिक हुई है। वस्तुतः हिन्दी में भावात्मक निबन्धों या गद्य-काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करने का श्रेय इन्हीं लेखकों को है। डॉ॰ वासुदेवशरण ग्रग्रवाल ने प्रायः सांस्कृतिक विषयों पर कलम उठाई है, तो दूसरी ग्रोर रघुवीर्रासह ने इतिहास के धूमिल दृश्यों को नया रंग-रूप प्रदान किया है। इन सभी निवन्धकारों की शैली में निजी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्तल-युग में निवन्धों के विषय-क्षेत्र में और अधिक गम्भीरता एवं सूक्ष्मता आई। इस युग के निवन्धों में मुख्यतः साहित्य, मनोविज्ञान, संस्कृति, इतिहास जैसे विषयों की गम्भीर समस्याओं पर नये-नये दृष्टिकोण से मौलिक विचार प्रस्तुत किए गए। साथ ही निजी अनुभूतियों एवं भावनाओं का प्रकाशन भी अनेक निवन्धकारों ने किया है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी द्विवेदी-युग इस युग का निवन्ध-साहित्य बहुत अधिक विकसित एवं प्रौढ़ दिखाई पड़ता है।

शुक्लोत्तर युग—शुक्ल परवर्ती निवन्धकारों में ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, वासुदेवशरण ग्रग्नवाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, जैनेन्द्र कुमार, डा० सत्येन्द्र, डा० विनयमोहन शर्मा, डा० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, इलाचन्द्र जोशी, चन्द्रवली पांडे, रामवृक्ष वेनीपुरी, रामधारीसिंह 'दिनकर', शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, देवेन्द्र सत्यार्थी, कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभाकर', डा० भगवतशरण उपाव्याय, डा० भगीरथ मिश्र, डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', विश्वम्भर 'मानव', डा० रामरतन भटनागर ग्रादि प्रमुख रूप में उल्लेखनीय हैं।

शुक्लोत्तर निवन्धकारों में श्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्थान शीर्षस्थ है। उनके अनेक निवन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, यथा— 'ग्रशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार ग्रीर वितर्क', 'विचार-प्रवाह', 'कुटज' ग्रादि। ग्रापके निवन्धों का विषय-क्षेत्र भ्रत्यन्त व्यापक है, उनमें भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति एवं परम्परागत ज्ञान-विज्ञान के साथ श्राधुनिक युग को विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं समस्याग्रों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जहाँ उनके निवन्ध ग्रध्ययन-क्षेत्र को व्यापकता एवं चिन्तन की गम्भीरता से युक्त हैं, वहाँ वे उनके व्यक्तित्व की सरलता, सहजता एवं सरसता से भी समन्वित हैं। वस्तुतः व्यक्ति ग्रीर विषय का गृढ़ तादातम्य उनमें परिलक्षित होता है। इसलिए उनके गम्भीर से गम्भीर निवन्ध भी पाठक को उवाते नहीं, श्रिपतु वे उसका भनुरंजन करते हुए रसानुभूति प्रदान करते हैं। ग्रवश्य ही उनके कुछ निवन्ध इसके ग्रपवाद भी हैं, जिनमें लेखक का मन रमा नहीं है, पर उनके ग्रधिकांश निबन्ध लित या कलात्मक निवन्ध के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

ग्राचार्य दिवेदी के निवन्धों की शैली लेखक के मनोभाव एवं विषय की प्रकृति के ग्रनुकूल वदलती रहति हैं। अवकालियासं श्रृणी के वीतिविर पे की विचत्र करते समय जहाँ उनकी शब्दावली सहज ही संस्कृत-गिंभत हो जाती है, वहाँ ग्रामीण जीवन के प्रसंगों में लोक-भाषा के चलताऊ शब्द भी यत्र-तत्र ग्रा टपकते हैं। ग्राधृनिक जीवन की विकृतियों एवं दूषित प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते समय वे प्रायः हास्य-व्यंग्यमयी शैली का प्रयोग करते हैं। यहाँ उनकी व्यंग्यमयी शैली का एक नमूना प्रस्तुत है—"श्रासमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं ग्रीर मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी ग्रालोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुग्रा तक नहीं ग्रीर ग्राचोलना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित ! यह क्या कम साधना है!"

श्राचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी मूलतः विचारक एवं श्रालोचक हैं, श्रतः उन्होंने मुख्यतः श्रालोचनात्मक निवन्ध ही लिखे हैं। उनके निवन्धों के ग्रनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'हिन्दी-साहित्य : वीसवीं शताब्दी', 'श्राधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न'। इन कृतियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से जहाँ श्रालोचना में स्थान दिया जाता है, वहाँ काव्य-रूप एवं शैली की दृष्टि से निवन्ध के श्रन्तर्गत भी लिया जा सकता है। इनके निवन्ध विचार-प्रधान वर्ग के श्रन्तर्गत श्राते हैं। उनके विचार निजी चितन-मनन पर श्राधारित हैं, श्रतः इस दृष्टि से श्रवश्य उन पर व्यक्तित्व की छाप है, किन्तु उनकी प्रतिपादन-शैली विषय के साथ इस प्रकार वँघी हुई, विचारों से जकड़ी हुई है कि उसमें व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता का श्राभास प्रायः नहीं मिलता। जहाँ उनका विचारक श्रत्यन्त गम्भीर हो जाता है, वहाँ उनकी शैली भी गूढ़ एवं बोभिल हो जाती है। वस्तुतः इस दृष्टि से वे श्राचार्य रामचन्द्र शुक्त की परम्परा में श्राते हैं। उनकी शैली की बौद्धिकता एवं तार्किकता उच्च स्तरीय पाठकों को बौद्धिक श्रानन्द प्रदान करती है।

भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों पर निबन्ध-रचियाग्नों में डा॰ वासुदेवशरण श्रग्रवाल का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इनके तत्सम्बन्धी ग्रनेक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'पृथ्वी-पुत्र', 'मातृ-भूमि', 'कला ग्रौर संस्कृति' ग्रादि उल्लेख-प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'पृथ्वी-पुत्र', 'मातृ-भूमि', 'कला ग्रौर संस्कृति' ग्रादि उल्लेख-प्रवास हैं। डा॰ ग्रग्रवाल के निबन्धों में ग्रध्ययन की गम्भीरता के साथ-साथ चिन्तन की मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। वे प्राचीन तत्त्वों एवं गुत्थियों को ग्रपनी व्याख्याग्रों हारा नया रूप प्रदान करते हुए उन्हें ग्राधुनिक पाठक के लिए बोध-गम्य वता देते हैं। उनकी शैली में सरलता ग्रौर स्पष्टता मिलती है, जो उनके निबन्धों का ग्रतिरिक्त गण है।

गुण है।

ग्रात्मानुभूतिपरक वैयक्तिक निबन्ध प्रस्तुत करने की दृष्टि से पं॰ शांतिप्रिय

ग्रात्मानुभूतिपरक वैयक्तिक निबन्ध प्रस्तुत करने की दृष्टि से पं॰ शांतिप्रिय

द्विवेदी का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इनके विभिन्न निवन्ध-संग्रह प्रकाशित

हुए हैं। यथा—'जीवन-यात्रा', 'साहित्यिकी', 'हमारे साहित्य-निर्माता', 'किव ग्रौर

काव्य', 'संचारिणी', 'युग ग्रौर साहित्य', 'सामियकी' ग्रादि। इन्होंने प्रायः कला एवं

साहित्य सम्बन्धी विषयों पर ही स्वानुभूतिमूलक विचार प्रस्तुत किए हैं, किन्तु 'पथ

चिन्ह', 'परिव्राजक की प्रज्ञा' ग्रादि में वैयक्तिक प्रसंगों को भी लिया है। इनकी शैली

ग्रत्यन्त सरस एवं प्रभावोत्पादक है, जो कहीं-कहीं करुणोत्पादक भी वन गई है, यथा,
वे ग्रपनी वहिन से सम्बन्धित संस्मरण में उसका परिचय प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'खुटपन में ही वह विध्वा हो गई थी। उस ग्रबोध वय में उसने जाना हो नहीं कि

'खुटपन में ही वह विध्वा हो गई थी। उस ग्रबोध वय में उसने जाना हो नहीं कि

उसके भाग्य-क्षितिज में क्या पट-परिवर्तन हो गया। जन्मकाल से माँ का जो ग्रंचल उसके मस्तक पर फैला हुग्रा था। सयानी होने पर उसने वही ग्रंचल ग्रपने मस्तक पर ज्यों का त्यों पाया, मानो शैशव ही उसके जीवन में ग्रक्षुण्ण हो गया। ग्रचानक एक दिन जब वह ग्रंचल भी मस्तक पर से छाया की तरह तिरोहित हो गया, तब उसके जीवन में मध्यान्ह की प्रखर ज्वाला के सिवा ग्रीर क्या शेष रह गया था।

डा॰ नगेन्द्र ने साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्धों की अभिवृद्धि में असाधारण योग दिया है। उनके निबन्ध-संग्रहों में से 'विचार और विवेचन', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विश्लेषण', 'कामायनी के अध्ययन को समस्याएँ' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबन्धों का मूल स्वर विषय-प्रधान है, किन्तु अनेक निबन्धों में व्यक्तित्व के दर्शन भी स्पष्ट रूप में होते हैं। फिर भी इनका प्रयास पाठक का ध्यान अपनी अपेक्षा विवेच्य विषय या मूल समस्या की ओर आकर्षित करने की ओर अधिक रहता है; एक कुशल व्याख्याता की भाँति वे किसी भी समस्या पर अपना समाधान प्रस्तुत करने से पूर्व उसे पाठक के हृदय में उतार देते हैं। यही कारण है कि गूढ़ से गूढ़ विषय को भी पाठक रुचिपूर्वक ग्रहण करता चलता है। उनका साधारणीकरण सम्बन्धी निबन्ध इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। कुछ निबन्धों में डा॰ नगेन्द्र ने व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली के स्थान पर रूपकात्मक या अप्रस्तुतात्मक शैली के भी प्रयोग किए हैं, यथा— 'वीणापाणि के कम्पाउण्ड में' या 'हिन्दी उपन्यास' में किया गया है। वस्तुतः विचारों की गम्भीरता, चिन्तन की मौलिकता एवं शैली की रोचकता—इन तीनों का समन्वय इनके निबन्धों में परिलक्षित होता है।

जैनेन्द्रकुमार मुख्यतः कथाकार हैं, किन्तु निवन्धों के क्षेत्र में भी उन्होंने योगदान किया है। उनके निबन्ध-संग्रहों में 'जड़ की वात', 'जैनेन्द्र के विचार', 'साहित्य का श्रेय भीर प्रेय', 'प्रस्तुत प्रश्न', 'सोच-विचार', 'मन्थन' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। जैनेन्द्रजी ने प्रायः दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक भ्रादि विभिन्न विषयों पर ग्रपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी चिन्तन-प्रणाली स्पष्ट न होकर द्वन्द्वात्मक है। इसका प्रभाव उनकी शैली पर भी पड़ा है। उनके निवन्घ पाठक को एकाएक किसी सुस्पष्ट निर्णय तक नहीं पहुँचाते, श्रपितु उसे चक्करदार मार्ग से ले जाकर एक संदिग्ध स्थिति में छोड़ देते हैं। वस्तुतः जैनेन्द्र पाठक पर अपना निर्णय नहीं थोपते, अपितु उसकी निर्णय-शक्ति को इस प्रकार उत्तेजित एवं ग्रान्दोलित कर देते हैं कि जिससे वह स्वयं ही उस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, जहाँ कि जैनेन्द्र उसे पहुँचाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए इनकी शैली का एक नमूना यहाँ प्रस्तुत है—'पर भ्रांखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है, इंसान को छोड़ दिया जाता है। उनकी कीमत पैसे की नहीं है। मैं जानना चाहता हूँ कि यह अनर्थ कैसे होने में आया ? क्यों यह जरूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ प्रीति का हाथ बढ़ता है, वैसे ही विल्क उससे भी श्रियक इंसान की तरफ हमारा श्रेम का हाथ बढ़े ? क्यों यह जरूरी है कि भादमी दया की प्रतीक्षा करे भीर तब तक उस भीर से भ्रपने को म्राष्ट्रता बनाए रखे ? भ्रगर पेसे की धूल में से उठा कर जब में रखना उस पर उपकार

करना नहीं है, तो रोगी को सड़क पर से उठाकर ग्रस्पताल में रखने में भी उपकार की कहाँ ग्रावश्यकता ग्रा जाती है!'

डा० नगेन्द्र ने साहित्य एवं कला सम्बन्धी विषयों पर उत्कृष्ट निवन्ध प्रस्तुत किए हैं जो 'कला, कल्पना और साहित्य', 'साहित्य की भाँकी' ग्रादि में संगृहीत हैं। इनके निवन्धों में भ्रष्ययन की गम्भीरता, ज्ञान-क्षेत्र की व्यापकता एवं चिन्तन की स्पष्टता परिलक्षित होती है। ग्रपने तथ्य को ये तर्क एवं प्रमाण से भली-भाँति पुष्ट करके प्रस्तुत करते हैं, जिनसे वह पाठक की बुद्धि को सहज ही ग्राह्य हो जाता है। इनकी शैली में भी स्पष्टता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं।

डा० विनयमोहन शर्मा के निवन्ध 'साहित्यावलोकन', 'दृष्टिकोण' श्रादि में संगृहीत हैं । उन्होंने मुख्यतः सौन्दर्य-शास्त्रीय एवं साहित्यिक विषयों को लिया है । इनके व्यक्तित्व की सरलता एवं उदारता के श्रनुरूप ही इनके निवन्धों में भी विचारों की स्पष्टता व शैली की ऋजुता मिलती है। किसी विषय का प्रतिपादन करने से पूर्व प्रायः वे उसके सम्बन्ध में पाठक की जिज्ञासा को इस प्रकार जागृत कर देते हैं कि जिससे वह इनके प्रतिपाद्य को सुनने व समभने में तत्कालीनतापूर्वक प्रवृत्त हो जाता है। उदाहरणार्थ 'कलाकार ग्रीर सौन्दर्य वोध' शीर्षक निवन्ध का यह अश द्रष्टव्य है-सौन्दर्य क्या है, उसका 'वोघ' कैसे होता है, स्रौर कवि या कलाकार पर उसकी किस प्रकार प्रतिक्रिया होती है ? ये प्रश्न वर्षों से साहित्य ग्रीर दर्शन में विवाद वने हुए है । इस प्रकार के प्रश्नों से पाठक की उत्सुकता का वढ़ जाना स्वाभाविक है।

अत्यन्त तीखी, व्यंग्यपूर्ण एवं सशक्त शैली में निर्वाध रूप में अपने विषय को प्रस्तुत कर देने वाले निवन्धकारों में डा॰ रामविलास शर्मा का विशेष स्थान है। उन्होंने साहित्य, कला, संस्कृति एवं राजनीति सम्बन्धी विषयों पर शताधिक निवन्ध प्रस्तुत किए हैं, जो 'संस्कृति ग्रौर साहित्य', 'प्रगति ग्रौर परम्परा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' आदि संग्रहों में संगृहीत हैं। डा० शर्मा का दृष्टिकोण मार्क्सवादी या प्रगतिवादी है, ग्रतः उन्होंने ग्रपने निबन्धों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन इसी दृष्टिकोण से किया है। उनके अतिरिक्त प्रकाश चन्द्र गुप्त एवं शिवदानसिंह चौहान ने भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण से विभिन्न निबन्य प्रस्तुत किए हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त के निवन्ध 'नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका', 'साहित्य-धारा' ग्रादि में तथा शिवदानिसह वौहान के निवन्ध 'साहित्यानुशीलन', 'ग्रालोचना के मान' ग्रादि में संगृहीत हैं। इन दोनों की शैली में भी सरलता, स्पष्टता एवं रोचकता मिलती है।

डा॰ भगवतशरण उपाध्याय ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व सामाजिक विषयों पर उत्क्रिष्ट निवन्ध प्रस्तुत किए हैं। उनके निवन्धों में ग्रध्ययन एवं चिन्तन की गम्भी-रता परिलक्षित होती है। उनके निबन्ध-संग्रहों में 'भारत को संस्कृति का सामाजिक विश्लेषण', 'इतिहास के पृष्ठों पर', 'खून के घब्बे', सांस्कृतिक निवन्ध म्रादि उल्लेख-नीय है। डा॰ भगीरथ मिश्र, डा॰ रामरतन भटनागर, डा॰ रामधारी सिंह 'दिनकर' प्रभृति ने साहित्य के विभिन्न पक्षों एवं विषयों को लेकर सुन्दर निवन्ध प्रस्तुत किए हैं। डा॰ भगीरथ मिश्राटके जिन्हासार्थकाला क्षीर होतिहार प्राप्त के 'ग्रध्ययन धौर धालोचना' में तथा डा॰ 'दिनकर' के 'मिट्टी की ग्रोर', 'ग्रर्ख नारीश्वर, 'रेती के फल' ग्रादि में संगृहीत हैं।

संस्मरणात्मक निबन्धों के क्षेत्र में महादेवी वर्मा, रामवृत्त बेनीपुरी, हरिवंशराय 'बच्चन' ग्रीर देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महादेवी वर्मा ने 'ग्रतीत के चल-चित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'श्रुंखला की कड़ियाँ' ग्रादि निवन्ध-संग्रह प्रस्तुत किए हैं। इनमें विषमता एवं दीन-हीन जनों की वेदना का चित्रण ग्रुनुभूति से ग्रोत-प्रोत शब्दों में किया गया है। जहाँ इनका विषय उदात्त है, वहाँ इनकी शैली भी ग्रत्यन्त सशक्त एवं प्रौढ़ है। उनमें दार्शनिक की ग्रन्तदृष्टि, किव की वाणी, चित्र-कार की तूलिका एवं गद्यकार की लेखनी का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार जैनीपुरीजी ने भी ग्रपने संस्मरणात्मक निवन्धों के रूप में समाज के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित व्यक्तियों के चित्र सहृदयतापूर्ण शैली में ग्रंकित किए हैं, जो 'माटी की मूरतें' व 'गेहूँ ग्रीर गुलाव' में संगृहीत हैं। इनकी शैली कहीं-कहों ग्रत्यन्त काव्यात्मक हो उठती हैं; यथा—'कभी-कभी मालूम होता है, किसी ग्रदृश्य छोर को पकड़कर शत-सहस्र ज्योत्सना-कुमारियाँ चन्द्र-मंडल से एक-एक कर उत्तर रही हैं ग्रीर ग्राकुल-व्याकुल समुद्र-की इन तरंग-मालाग्रों के कम्पित ग्रघरों को चूम-चूमकर ग्रद्रहास कर उठती हैं।' 'वच्चन' ने 'क्या मूलूँ: क्या याद करूँ' में ग्रीर मस्तजी ने 'करोखे' में ग्रपने जीवन के मर्मस्पर्शी संस्मरण ग्रंकित किए हैं।

श्राचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने श्रनेक समीक्षात्मक एवं गवेषणात्मक निवन्ध लिखे थे जो 'एकता', 'विचार-विमर्श', ग्रादि में संगृहीत हैं। इनके निवन्धों में गम्भीर श्रव्ययन एवं तर्कपूर्ण शैली का सामंजस्य परिलक्षित होता है। निलनिवलीचन शर्मा, रांगेय रावव, डा॰ देवराज प्रभृति ने विभिन्न साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों पर उच्चकोटि के निवन्ध लिखे हैं। इलाचन्द्र जोशी के ग्रनेक निवन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, यथा-'साहित्य-सर्जना', 'विवेचन', 'विश्लेषण', 'देखा-परखा', 'महापुरुषों की प्रेमकथाएँ' श्रादि । जोशी जी ने साहित्य, मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का विवेचन प्रभावोत्पादक शैली में किया है। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'स्रज्ञेय' ने भी साहित्यिक विषयों पर निवन्ध प्रस्तुत किए हैं, जो उनके 'त्रिशंकु' में संगृहीत हैं। यशपाल ने कथा-साहित्य के अतिरिक्त निवन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि में भी असाधारण योग दिया है। 'देखा, सोचा, समभा', 'मानर्सवाद', 'चनकर नलव', 'न्याय का संघर्ष', 'गांघीवाद की शव-परीक्षा', 'राज्य की कथा' ग्रादि संग्रहों में उनके विभिन्न प्रकार के निवन्ध संगृहीत हैं। उनकी शैली में सरलता ग्रौर विचारोत्तेजकता मिलती है। कहीं-कहीं वे स्वयं व्यंग्य का भी प्रहार करते हैं, यथा— 'कारतूसों की एक दूकान खोलो, जिसमें 'कलमाइड कारतूस' मुसलमानों के लिए ग्रौर 'भटकाइड कारतूस' सिखों के लिए रहें। अच्छा मुनाफा रहेगा।'

हास्य-व्यंग्यपूर्ण निवन्धों के क्षेत्र में गोपालप्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे एवं बेढब बनारसी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। व्यासजी के व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्ध कुछ सच : कुछ भूष्ठ⁶,- श्रीविश्मिष्सिम्हिति हैं। व्यासजी के व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्ध रोचक एवं साहित्यिक ढंग से प्रस्तुत कर देने की कला में सिद्ध-हस्त हैं। उदाहरण के लिए स्नान-घर में एक भैंस के घुस जाने की घटना को लेकर वे एक अनुठा निवन्ध रच देने के साथ-साथ यत्र-तत्र विभिन्न वर्गों के साहित्यकारों को भी भैंस के वहाने याद कर लेते हैं-- 'एक दिन बावूजी की पत्नी गुसलखाने में स्नान कर रही थी, तो भैंस भी अपना ग्रिधिकार समभकर उसमें घुस पड़ी। सँकरा दरवाजा, छोटी जगह। भैंस घुस तो गई, मगर अब निकले कैसे ?....एकदम नई उलभन थी। प्रगतिशील भैंस के बढ़े हुए कदम प्रतिक्रियावादी होने की कतई तैयार न थे।'

प्रभाकर माचवे ने भी सावारण विषयों—'मुंह', 'गला', 'गाली', 'विल्ली', 'मकान' श्रादि-को लेकर ग्रत्यन्त रोचक निवन्धों की रचना की है, जो उनके 'खरगोश के सींग' में संगृहीत हैं। उनकी शैली सरल, मुहावरेदार एवं प्रवाहपूर्ण है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-संस्कृति एवं लोक गीतों की पृष्ठभूमि को लेकर विभिन्न विपयों पर अनुभूतिपूर्ण निवन्ध लिखे हैं, जो 'एक युग : एक प्रतीक', 'रेखाएँ बोल उठीं'<mark>, 'क्या</mark> गोरी क्या साँवरी', 'कला के हस्ताक्षर' ग्रादि में संग्रहीत हैं। सत्यार्थीजी की शैली में मन को श्राकर्षित करने की क्षमता मिलती है। 'जयनाथ निलन' के श्रालोचनात्मक निवन्व 'कला ग्रीर चितन' में संगृहोत हैं, जो उनके मौलिक चितन के द्योतक हैं।

हिन्दी में ग्रन्तर्व्यू-शैली में निवन्ध प्रस्तुत करने की परम्परा के प्रवर्त्तक के रूप में डा॰ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का नाम उल्लेखनीय है। इनके निवन्ध 'मैं इनसे मिला' (दो भाग) में संगृहीत हैं । इन्होंने विभिन्न साहित्यकारों के इण्टरव्यू के ग्राधार पर उनके व्यक्तित्व, दर्शन एवं साहित्य-सर्जन के विभिन्न पक्षों को कलात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इनके ग्रतिरिक्त भी डा० कमलेश ने हिन्दी को भ्रनेक उच्चकोटि के नियन्य प्रदान किए हैं, जो विचारों की स्पष्टता के साथ-साथ शैली की सरसता से भी युक्त हैं।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' एवं रामनाथ सुमन ने जीवन ग्रौर समाज के लिए प्रेरणादायक निवन्ध रोचक एवं प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किये हैं। 'प्रभाकर' जी के निवन्ध-संग्रहों में 'जिन्दगी मुस्कराई', 'वाजे पायलिया के घुँघरू', 'दीपजले, शंख वजे', 'क्षण वोले, कण मुस्काये', ग्रादि उल्लेखनीय हैं 'सुमन' जी के निवन्धों की संख्या शता-धिक है, जो विभिन्न संग्रहों में संगृहीत हैं। इधर हिन्दी में अनेक निवन्ध-संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें डा॰ विद्यानिवास मिश्र के 'तुम चन्दन हम पानी' ठाकुरप्रसाद सिंह का 'पुराना घर : नये लोग', डा० शिवप्रसाद सिंह का 'शिखरों का सेतु', श्रीलाल शुक्ल का 'ग्रंगद का पाँन' ग्रादि निबंध-संग्रह उल्लेखनीय हैं। श्री हरिशंकर परसाई एवं कुबेरनाथ राय के भी अनेक ललित निवन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

श्रस्तु, उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी-निवन्ध-साहित्य ने थोड़े से समय में ही पर्याप्त उन्नति कर ली है। भारतेन्दु युग से लेकर ग्रव तक निवन्ध-साहित्य में क्रमशः प्रौढ़ता आती रही, किन्तु फिर भी नवीनतम निवन्ध-साहित्य में कुछ दूषित प्रवृत्तियों का भी विकास हो रहा है। एक तो भ्रपने ज्ञान की घाक जमाने के लिए कुछ निवन्धकार पाश्च:त्य लेखकों से उधार लिए विचारों को विना समभे ही उगलते चले जा रहे हैं, जिससे उन्की भाषा ब्रेंग स्वाम श्री मिलता है ग्रीर न ही कला का सौन्दर्य।

दूसरे, हमारे निवन्धों में वैयक्तिकता का तत्त्व न्यून होता जा रहा है। तीसरे, हमारा दृष्टिकोण साहित्य की समस्याग्रों तक ही सीमित है, क्या हम राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याग्रों को ग्रपने निवन्य का विषय नहीं वना सकते; जैसा कि भारतेन्दु-युग में हुग्रा था ? चौथे, हमारे निवन्धों में सहज प्रफुल्लता, ताजगी, रोचकता एवं व्यंग्यात्मकता का ह्रास होता जा रहा है। भ्राशा है, हिन्दी के लेखक इस भ्रोर ध्यान देंगे।

:: उन्तालीस ::

हिन्दी एकांकी : स्वरूप ग्रौर विकास

- (क) एकांकी की व्याख्या-
- १. 'एकांकी' का ग्रर्थ।
- २. एकांकी का स्वरूप।
- ३. एकांकी का नाटक से सम्बन्ध ।
- ४. एकांकी के भेद।
 - (ख) एकांकी का विकास-
- १. उद्भव।
- २. प्राचीन भारतीय साहित्य में एकांकी।
- ३. हिन्दी में विकास : प्राचीन एकांकी—(ग्र) भारतेन्दु युग, (ग्र) द्विवेदी युग।
- ४. हिन्दी में ब्राघुनिक एकांकी का विकास—(ब्र) प्रसाद—'एक घूँट', (ब्रा) रामकुमार वर्मा, (इ) लक्ष्मीनारायण मिश्र, (ई) उपेन्द्रनाय ग्रश्क, (उ) उदयशंकर भट्ट, (ऊ) भुवनेश्वर प्रसाद, (ए) सेठ गोविन्ददास, (ऐ) जग-दीशचन्द्र माथुर, (ग्रो) गणेशप्रसाद द्विवेदी, (ग्री) ग्रन्य एकांकीकार।

'एकांकी शब्द का ग्रर्थ है-एक ग्रंकवाला। दृश्यकाव्य का वह विशेष भेद जिसमें केवल एक ग्रंक होता है, 'एकांकी' कहलाता है। ग्राधुनिक हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रचलन अंग्रेजी के 'वन ऐक्ट प्ले' के अर्थ में हुआ। हिन्दी के विभिन्न विद्वानों ने एकांकी की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। प्रो॰ सद्गुरुशरण अवस्थी की मान्यता है कि एकांकी में एक सुनिश्चित-सुकल्पित लक्ष्य, एक ही घटना, परिस्थिति ग्रथवा समस्या, वेग-सम्पन्न प्रवाह ग्रौर निदर्शन में चातुरी ग्रावश्यक है। वे एकांकियों में लम्बे-लम्बे कथोपकथनों, दृश्यों की ग्रतिशयता, विषयान्तरता, वर्णन-वाहुत्य, चरित्र-विकास के लम्बे प्रयोगों ग्रौर उलभी कल्पनाग्रों को पसन्द नहीं करते। सेठ गोविन्ददासजी का मत भी अवस्थीजी से मिलता-जुलता है। वे सर्वप्रथम किसी एक मूल विचार या समस्या को भावश्यक मानते हैं । इसके भ्रनन्तर विचार के विकास के लिए संघर्ष की भ्रावश्यकता बताई गई है तथा विचार और संघर्ष दोनों के लिए कथानक, पात्र, कथोपकथन भ्रादि की आयोजना होती है। प्रसिद्ध एकांकीकार श्री उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क' ने 'एकांकी' की तीन आवश्यक बातें बताई हैं—(१) आकार तथा समय की लघुता (३५ मिनट से ४५ मिनट तक की भ्रविध), (२) भ्रमिनय-शीलता भ्रौर (३) रंग-संकेतों की स्पष्टता । वे एकांकी में संकलन-त्रय को भी बहुत महत्व देते हैं।

डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने एकांकी के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। डॉ॰ साहब के विवेचन को प्रो॰ रामचरण महेन्द्र ने भ्रगांकित निष्कर्षों में प्रस्तुत किया है :— े CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

- १. एकांकी में मुख्यतः किसी एक ही घटना या जीवन को कोई एक प्रमुख संवेदना होनी चाहिए, उसका विकास कौतूहलवर्द्धक नाटकीय शैली में होना चाहिए तथा चरम सीमा पर पहुँचकर एकांकी का ग्रन्त होना चाहिए।
- २. एकांकी में ग्रिभिव्यंजित घटनाग्रों का चुनाव जीवन की दैनिक घटनाग्रों में से होना चाहिए, जिससे उसमें यथार्थता एवं मनोरंजन का समावेश हो सके।
- ३. दो विरोधी पात्रों या वर्गों के विरोधी भावों में संघर्ष दिखाया जाना चाहिए। संघर्ष ही एकांकी का प्राण है।
- ४. एकांकी के कथन में कौतूहल, जिज्ञासा, गति की तीव्रता एवं चरम-सीमा में परिणति होनी चाहिए।
 - यथार्थवाद को स्थान देते हुए ग्रादर्शवाद की ग्रोर संकेत किया जा सकता है।
- ६. एकांकी में स्वाभाविकता एवं जीवन से निकटता बनाए रखने के लिए संकलन-त्रय का पालन कठोरता से होना चाहिए। संकलन-त्रय से तात्पर्य है—समय की एकता ग्रीर कार्य की एकता।

उपर्युक्त सभी विद्वानों के विचारों का गहरा मन्थन करते हुए डा॰ रामचरण महेन्द्र ने अन्त में एकांकी के आठ तत्व निर्धारित किए हैं-(१) कथावस्तु, (२) संघर्ष या द्वन्द्व, (३) संकलन-त्रय, (४) पात्र ग्रौर चरित्र-चित्रण, (४) कथोपकथन, (६) श्रभिनयशीलता, (७) रंगमंच निर्देश श्रीर (८) प्रभाव-ऐक्य । हमारे विचार से इस संख्या में थोड़ी-बहुत घटा-बढ़ी की जा सकती है। ग्रिभनय-शीलता ग्रौर रंगमंच निर्देश दोनों का समावेश एक ही तत्त्व 'ग्रभिनय' में किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रभाव-ऐक्य का समावेश भी संकलन-त्रय में हो जाता है-जब कार्य की एकता होगी तो प्रभाव-ऐक्य होना स्वाभाविक है। (साहित्य का सबसे प्रमुख तत्त्व है-भाव। साहित्य का चाहे कोई भी भेद हो, उसमें भाव तत्व का होना ग्रावश्यक है ।)किन्तु डॉ॰ महेन्द्र ने पाश्चात्य विद्वानों की ही भाँति इस तत्व की ग्रोर घ्यान नहीं दिया। संघर्ष या द्वन्द्व तथा संकलन-त्रय, पात्र ग्रौर कथा-वस्तु के ग्रावश्यक लक्षण हैं, ग्रतः इन तत्वों की ग्रलग स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। वस्तुतः डॉ॰ महेन्द्र ने तत्वों ग्रीर विशेष-ताग्रों को घुला-मिला दिया है। हमारे दृष्टिकोण से एकांकी के सात तत्व माने जा सकते हैं---कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य (विचार) ग्रीर भावना तथा एकांकी की विशेषताग्रों के श्रन्तर्गत संकलन-त्रय, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, रोचकता, गतिशीलता एवं ग्रमिनयशीलता का उल्लेख होना चाहिए।

एकांकी का नाटक से सम्बन्ध

एकांकी ग्रीर नाटक दोनों ही दृश्य-काव्य के ग्रंग हैं, किन्तु फिर भी दोनों में पर्याप्त ग्रन्तर है। 'एकांकी' में एक ग्रंग, एक घटना; एक कार्य ग्रीर समस्या होती है, जबिक नाटक में कई ग्रंकों, घटनाग्रों, कार्यों ग्रीर समस्याग्रों का ग्रायोजन हो सकता है। ग्रतः स्थूल दृष्टि से एकांकी नाटक बहुत लघु ग्रीर सीमित होता है, किन्तु फिर भी किसी छोटे नाटक को एकांकी ग्रायु बहु ग्रावासी को खोटा प्रस्कान की एकांकी ग्रायु

से निकालकर अलग किए गए एक अंक को भी एकांकी नहीं कहा जा सकता। एकांकी अपने आपमें पूर्ण होता है तथा उसकी सत्ता, उसका व्यक्तित्व एवं उसकी चाल-ढाल नाटक से बहुत कुछ भिन्न होती है। एकांकीकार अपने लक्ष्य की ओर सीधा दौड़ता है, जबिक नाटककार धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। एकांकी की शैली में संक्षिप्तता एवं गित-शीलता होती है।

डॉ॰ महेन्द्र ने दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—''एकांकी का नाटक से वही सम्बन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से अथवा खंडकाव्य का महाकाव्य से । नाटक में जीवन का विस्तार, लम्बाई और परिधि का विस्तार है, उसका क्षेत्र जीवन की भाँति सुविस्तृत है। एकांको का क्षेत्र सीमित है, परिधि संकुचित है और जीवन का एक पहलू ही चित्रित करने का अल्प कार्य है।....एकांकी में केवल एक ही घटना, एक ही महत्वपूर्ण पहलू या परिस्थित रह सकती है। नाटक में कथानक के चारों भाग स्पष्ट रहते हैं। एकांकी प्रायः संघर्ष-स्थल से प्रारम्भ होता है और शोघ्र ही गित पकड़कर चरम सीमा की ओर अग्रसर होता है। नाटक को गित घीमी होती है, एकांकी में वेग-संपन्न प्रवाह का महत्व है।....एकांकी में संकलन-त्रय का हाना महत्वपूर्ण है; यही उसे जीवन का यथार्थवादी चित्र बनाता है। बड़े नाटक में संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं है।'' (हिन्दी एकांकी: उद्भव और विकास; पृ० ३७-३८)

क्या एकांकी को नाटक का लघु-संस्करण कह सकते हैं ? इसका निषेधात्मक उत्तर देते हुए प्रो॰ सद्गुरुशरण ग्रवस्थी लिखते हैं—''वह विल को छलनेवाला वावन ग्रंगुल का मनुष्य नहीं ग्रीर न चक्र-सुदर्शन सिहत विष्णु का हाथ है। वह न किसी का लघु संस्करण है ग्रीर न किसी का खण्ड ग्रवतार। वह ग्रपनी निजी सत्ता रखनेवाला साहित्य का एक ग्रंग है।'' (नाटक ग्रीर नाटक; पृ० १०) वस्तुतः जिस प्रकार मेढक को न तो वैल का लघु संस्करण कह सकते हैं ग्रीर न ही उसका एक ग्रंग, उसी प्रकार एकांकी को नाटक का लघु-संस्करण या उसका कोई एक भाग नहीं कहा जा सकता।

एकांकी के भेद

मूल प्रवृत्तियों, विषयों एवं शैलियों के ग्राधार पर एकांकी के विभिन्न भेद किए गए हैं। डॉ॰ सत्येन्द्र ने मूल प्रवृत्तियों के ग्राधार पर एक एकांकी के ग्राठ भेद किए हैं—(१) ग्रालोचक एकांकी, जो हमारी त्रुटियों की ग्रालोचना करते हैं। (२) विवेकवान एकांकी, जिसमें वाद-विवाद रहता है। (३) भावुक एकांकी, जिसमें भावात्मकता ग्रादि होती है। (४) समस्या एकांकी, जिसमें समस्या का चित्रण होता है। (४) ग्रानुभूतिमय एकांकी। (६) व्याख्यामूलक एकांकी। (७) ग्रादर्शमूलक एकांकी ग्रीर (८) प्रगतिवादी एकांकी। हमारी दृष्टि में एकांकियों का यह वर्गीकरण ठीक प्रतीत नहीं होता। भावुक एकांकी ग्रीर ग्रानुभूतिमय एकांकी में, ग्रालोचक एकांकी ग्रीर व्याख्यामूलक एकांकी में, विवेकवान एकांकी ग्रीर प्रादर्श एकांकी में कोई विशेष ग्रन्तर नहीं है। फिर जब प्रगतिवादी एकांकी है, तो छायावादी, रहस्यवादी ग्रीर प्रयोगवादी एकांकी भी हो सकते हैं।

विषयों के भ्राधार पर एकांकी के पाँच भेद किए हैं—(१) सामाजिक, (२) पौराणिक, (३) ऐतिहासिक; (४) राजनीतिक ग्रीर (५) साहित्यिक। किन्तू इनके ग्रतिरिक्त भी एकांकी के विषय हो सकते हैं, जैसे, मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक. आत्माभिन्यंजनात्मक, काल्पनिक ग्रादि । ग्रतः विषयों की संख्या निश्चित करना संभव नहीं । डॉ॰ रामचरण महेन्द्र ने दूसरे दृष्टिकोण से नौ प्रकार के एकांकियों की गणना की है—(१) सुखान्त, (२) दु:खान्त, (३) प्रहसन, (४) फेंटेसी, (४) गीतिनाट्य या ग्रीपेरा. (६) फ्रांंकी, (७) संवाद या संभाषण, (८) स्वीक्ति रूपक या मोनो-ड्रामा, (६) रेडियो-प्ले। ये भेद संभवतः पाश्चात्य ग्रालोचकों के मतानुसार किए गए हैं। प्रत्येक नाटक या एकांकी या तो दुःखान्त होगा या सुखान्त या समन्वयात्मक (प्रसादान्त) । श्रतः 'श्रन्त' के भाषार पर उसके तीन ही भेद किए जा सकते हैं। 'प्रहसन' से तात्पर्य हास्य-प्रधान एकांकी से है। फैंटेसी में रोमांस थ्रौर कल्पना की श्रधिकता होती है। गीति-नाट्य में काव्यात्मकता भ्रधिक होती है। भाँकी में केवल एक छोटा-सा दृश्य प्रस्तूत कर दिया जाता है। 'सम्भाषण' में केवल दो पात्रों की बात-चीत का श्रायोजन होता है। मोनो-ड़ामा या स्वोक्तिरूपक में केवल एक पात्र स्वगत-कथन के रूप में किसी पूर्व घटना या -ग्राप-बीती को व्यक्त करता है। रेडियो-प्ले में घ्वनि के उतार-चढाव ग्रादि को प्रमखता दी जाती है।

वस्तुतः समय के साथ-साथ एकांकी के स्वरूप, विषयों ग्रौर शैलियों में जो विकास होगा, उसके श्रनुसार उसके भेदोपभेदों की संख्या में भी विस्तार ग्रौर परिवर्तन होता रहेगा, ग्रतः किसी भी वर्गीकरण को स्थायी ग्रौर ग्रन्तिम नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में हम एकांकी के दो प्रमुख भेद कर सकते हैं—(१) प्राचीन एकांकी—प्राचीन संस्कृत में प्रचलित ग्रौर (२) ग्राघुनिक एकांकी—पारचात्य साहित्य में विकसित।

एकांकी का उद्भव

यद्यपि श्राधुनिक युग में एकांकी के जिस रूप श्रीर शैली का प्रचलन हो रहा है, उसका विकास पाश्चात्य देशों में हुश्रा, किन्तु यह सत्य है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में भी एकांकी या एकांकी से मिलते-जुलते रूपकों का प्रचार रहा है। नाटक के विभिन्न भेदों में व्यायोग, प्रहसन, भाण, वीथी, नाटिका, गोष्ठी श्रादि में एक ही श्रंक होता है, श्रतः इन्हें प्राचीन ढंग के 'एकांकी' कह सकते हैं। इसी श्राधार पर डॉ॰ सरनामसिंह, प्रो॰ लिलतप्रसाद श्रीर प्रो॰ सद्गुरुशरण श्रवस्थी ने एकांकी का उद्गम संस्कृत साहित्य से सिद्ध किया है, जब कि प्रो॰ श्रमरनाथ गुप्त, प्रो॰ प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डॉ॰ एम॰ पी॰ खत्री ने इसे पाश्चात्य साहित्य की देन के रूप में स्वीकार किया है। यदि हम 'एकांकी के व्यापक रूप को ग्रहण करते हुए उसमें सभी प्रकार के—प्राचीन एवं नवीन—एकांकियों को लेते हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि एकांकियों की दीर्घ परम्परा भारत में रही है, यह दूसरी बात है कि श्राधुनिक एकांकी का विकास उससे स्वतंत्र रूप में हुश्रा हो।

संस्कृत एवं प्राकृत में 'एकांकी' के अनेक उदाहरण मिलते हैं। श्री प्रहलादावन देव ने सन् ११६३ ई० में 'पार्थ पराक्रम' (व्यायोग) की रचना की थी। इसके अतिरिक्त सौगंधि हरण (विश्वनाथ); किरातार्जुनीय (वत्सराज), धनंजय-विजय (कंचन-पंडित), भीम विक्रम (मोक्षादित्य), निर्भय भीम (रामचन्द्र) आदि, सफल व्यायोग हैं। 'प्रहसन' की कोटि में आनेवाले एकांकियों में 'कन्दपंकेलि', 'धूर्त्तचरित्र', 'लटक मेलक', 'लता काम लेखा', 'धूर्त्त समागम', 'धूर्त्त नाटिका', 'हास्य चूड़ामणि' आदि संस्कृत में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार 'भाण' (जिसमें केवल एक ही ग्रंक और पात्र होता है) के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं—जैसे वामन भट्ट का 'श्रुङ्गार-भूषण', रामचन्द्र दीक्षित कृत 'श्रुङ्गार-तिलक', शंकर कृत 'श्रुद्धातिलक', वत्सराज कृत 'कर्पूर चरित' आदि। यह आश्चर्य की वात है कि हमारे अनेक विद्वानों ने इन एकांकियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। यह कहना कि पश्चिमी ढंग से एकांकी लिखने पर ही एकांकी कहला सकता है, वास्तव में हमारे दृष्टिकोण की एकांगिता है, अन्यथा हमारा 'भाण' जिसमें कि केवल एक ही पात्र होता है—एकांकी कला का अत्यन्त विकसित रूप है।

हिन्दी में एकांकी का विकास

हिन्दी में एकांकी लेखन का भ्रारम्भ भारतेन्दु-युग से होता है, किन्तु एकांकी के कुछ तत्व हमारे पूर्ववर्ती साहित्य में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। यदि हम गद्ध भौर पद्य के भ्रन्तर को भूल जाँय तो तुलसी के 'रामचरितमानस', केशव की 'रामचन्द्रिका', नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' में से कुछ दृश्य ऐसे निकालकर भ्रलग किए जा सकते हैं, जो एकांकी का रूप धारण करने में समर्थ हो सकें। तुलसी के 'परशुराम-लक्ष्मण संवाद', 'कैकेयी-मंथरा संवाद'; 'ग्रंगद-रावण-संवाद' या केशव के 'रावण-वाणासुर संवाद', 'रावण-ग्रंगद संवाद' भ्रथवा नरोत्तम के 'सुदामा चरित्र' में 'पित-पत्नी' संवाद में स्वतन्त्र रूप में एकांकी की सी नाटकीयता, तीव्रता, मामिकता एवं व्यंग्यात्मकता मिलती है। सन् १८५० के भ्रनन्तर गीति-नाट्यों में लिखे गए 'इन्दरसभा', 'वन्दर सभा', 'मुछन्दर सभा' श्राद्ति को भी डा० रामचरण महेन्द्र ने एकांकी का प्रारम्भिक रूप माना है।

हिन्दी में प्राचीन ढंग के गद्य-पद्य एकांकियों का भ्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा हुग्रा। उन्होंने प्राचीन संस्कृत-नाट्य-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते हुए नाटक व एकांकी के विभिन्न रूपों के विकास का प्रयत्न किया। उन्होंने 'धनंजय-विजय' (ब्यायोग-धनूदित), 'प्रेम-योगिनी' (भ्रपूर्ण मौलिक), 'पालण्ड-विडम्बना' (भ्रनूदित), श्रंघेर नगरी (प्रहसन), 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण), 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन) भ्रादि की रचना की, जिनमें प्राचीन ढंग के एकांकियों के लक्षणों का निर्वाह हुम्रा है। भ्रपने इन एकांकियों में जहाँ उनका एक लक्ष्य कला का विकास करना है, वहाँ दूसरी भ्रोर जनता का घ्यान तत्कालीन समस्याभ्रों की भ्रोर भ्राक्षित करना भी है। उनके प्रहसनों में विभिन्न रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, सामाजिक एवं राष्ट्रीय बुराइयों पर तीखा व्यंग्य किया गया है। विवेशी क्रिक्सिक्सिक्ति क्रील्या हिंता स्वर्त्वाद्वा हों। 'विषस्य विष-

मौषघम्' में वे लिखते हैं—"धन्य है ईश्वर! सन् १५६६ में जो लोग सौदागरी करने आये थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।"

हिन्दी एकांकी-साहित्य के पूर्ण ग्रधिकारी विद्वान् डॉ॰ महेन्द्र भारतेन्द्र के इन एकांकियों पर विचार करते हुए लिखते हैं—''किन्तु जिस बात से हम विशेष प्रभावित होते हैं, वह उनकी प्रतिभा है। उन पर नये ढंग के बँगला नाटकों तथा फारसी रंगमंच का भी प्रभाव था। फारसी रंगमंच की दोहा-शेर वाली पद्धित की छाप उनके एका-कियों पर है। ग्रंग्रेजी का प्रभाव बंग-साहित्य के माध्यम से उनकी एकांकी-कला पर पड़ा है।''

भारतेन्दु के ग्रतिरिक्त उनके युग में ग्रन्य लेखकों ने शताधिक रूपकों व प्रहसनों ग्रादि की रचना की, जिन्हें प्राचीन ढंग के एकांकी कह सकते हैं। इनमें से कुछ का नाम यहाँ उद्घृत किया जाता है—'तन मन घन गुसाई जी के ग्रपंण' (राधाचरण गोस्वामी), 'कलयुगी जनेऊ' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'शिक्षादान' (बालकृष्ण भट्ट), 'दुःखिनी बाला' (राधाकृष्ण दास), 'रेल का विकट खेल' (कार्तिकप्रसाद), 'वैदिकी मिथ्या मिथ्या न भवति' (जी० एल० उपाघ्याय), 'हिन्दी उर्दू नाटक' (रत्नचन्द्र) 'चौपट-चपेट' (किशोरीलाल गोस्वामी) ग्रादि। इन एकांकियों में वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं, जो पीछे भारतेन्द्र के एकांकियों में बताई गई हैं। वस्तुतः इन्हें इनके लेखकों ने 'नाटक' की संज्ञा दी है, जिससे इनकी गणना 'नाटक' के ग्रन्तर्गत हो होती रही है। किन्तु इनके लक्षणों एवं शैली को देखते हुए इन्हें एकांकी के ग्रन्तर्गत ही स्थान दिया जाना उचित है।

द्विवेदी-युग में हिन्दी एकांकी के स्वरूप पर पाश्चात्य एकांकी का भी प्रभाव पड़ने लगा जिससे उनके बाह्य रूप में क्रमशः थोड़ा-थोड़ा ग्रन्तर ग्राने लगा; किन्तु उनकी मूल ग्रात्मा भारतेन्दु-युग के ग्रनुरूप ही रही। उनका प्रमुख उद्देश्य—समाज सुधार एवं राष्ट्रोन्नति ही रहा। इस युग के प्रमुख एकांकियों में मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा का 'शेरसिंह', सियाराम शरण का 'कृष्ण', बजलाल शास्त्री के 'भारती' में प्रकाशित ग्रनेक एकांकी—'नीला', 'दुर्गावती', 'पन्ना', 'तारा' ग्रादि, रामसिंह वर्मा के दो प्रहसन—'रेशमी रूमाल' 'क्रिसमिस', सरयूप्रसाद मिश्र का 'भयंकर भूत', शिवरामदास गृप्त का 'नाक में दम', बदरीनाथ भट्ट का 'रेगड़ समाचार के एडीटर की धूल दच्छना', रूपनारायण पांडेय का 'मूर्ख मंडली', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्न' का 'चार बेचारे', श्री सुदर्शन का 'ग्रानरेरी मजिस्ट्रेट' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। इस युग के एकांकियों को विषय-वस्तु की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) सामाजिक व्यंग्यात्मक, (२) राष्ट्रीय ऐतिहासिक, (३) धार्मिक पौराणिक ग्रौर (४) ग्रनुवादित।

शिल्प की दृष्टि से भी दिवेदी-युग के एकांकियों में पूर्व युग से विकास दृष्टि गोचर होता है। भारतेन्द्र-युग में कहीं-कहीं नांदी, प्रस्तावना, भरत वाक्य ग्रादि की प्रवृत्ति दीख पड़ती थी, जो इस युग में ग्राकर लुस हो गई। कथानक को तीव्रगति से चरम-सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न भी किया जाने लगा। पद्य का पूर्ण बहिष्कार होने लगा।

फिर भी एकांकी के पाश्चात्य रूप का पूर्ण विकास इनमें दृष्टिगोचर नहीं होता। स्राधुनिक एकांकी

पाश्चात्य शैली में लिखे गए एकांकी—जिन्हें हम यहाँ 'ग्राघुनिक एकांकी' कह सकते हैं—का विकास हिन्दी में लगभग सन् १६३० ई० के ग्रनन्तर हुग्रा। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने संवत् १६५३ लगभग (१६३० ई०) में 'एक घूँट' की रचना की। विभिन्न विद्वानों ने 'एक घूँट' को ग्राघुनिक ढंग का सर्वप्रथम हिन्दी एकांकी स्वीकार किया है। डाँ० हरदेव वाहरी का कथन है—''यों तो भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौघरी, राधारमण गोस्वामी, वालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र ग्रौर राधाकृष्ण दास ने पिछली शताब्दी में ही ऐसे रूपक लिखे थे, जो ग्राजकल के एकांकियों से मिलते-जुलते हैं, परन्तु उन्हें श्रादर्श एकांकी नहीं कह सकते। हिन्दी एकांकी का प्रादुर्भाव जयशंकर 'प्रसाद' के 'एक घूँट' से होता है।'' दूसरी ग्रोर डाँ० नगेन्द्र की मान्यता है—''सचमुच हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ 'प्रसाद' के 'एक घूँट' से होता है। 'प्रसाद' पर संस्कृत का प्रभाव है— इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह वात मान्य नहीं है। एकांकी की टैकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है।'' (ग्राघुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १३१) इस मत का समर्थन प्रो० सद्गुरुशरण श्रवस्थी, डाँ० सत्येन्द्र, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभृति विद्वानोंने भी किया है, ग्रतः इसे स्वीकार कर लेने में हमें कोई ग्रापत्ति नहीं है। डाँ० महेन्द्र ने प्रसाद के 'सज्जन' ग्रौर 'करणालय' को भी एकांकी के ग्रन्तर्गत लिया है।

'प्रसाद' के 'एक घूँट' के ग्रनन्तर ग्रनेक लेखकों ने ग्रनूदित एवं मौलिक एकांकी लिखे। श्री कामेश्वरनाथ भागंव ने 'विशप्स केण्डिल स्टिक्स' का ग्रनुवाद 'पुजारी' शीर्षक से प्रस्तुत किया। हेराल्ड ब्रिगहाउस के 'दि प्रिंस हू वाज पाइपर', जे० ए० फर्गूसन के 'कैम्पवेल ग्राफ् किल्म्होर', ए० ए० मिलन के 'दि मैन इन दि बौउलर हैट' ग्रादि के ग्रनुवाद भी विभिन्न लेखकों द्वारा सन् १६३८-३६ के लगभग किए गए। सन् १६३८ में 'हंस' का 'एकांकी' विशेषांक प्रकाशित हुग्रा, जिससे हिन्दी के लेखकों को एकांकी की कला के सम्बन्ध में ग्रनेक नयी वातें ज्ञात हुई।

मौलिक एकांकियों की परम्परा को ग्रागे बढ़ाने का श्रेय सर्वप्रथम डॉ॰ रामकुमार वर्मा को है। उनका 'बादल की मृत्यु' सन् १६३० में प्रकाशित हुग्रा, जिसे डॉ॰ सत्येन्द्र ने 'एक घूँट' के ग्रनन्तर दूसरा स्थान दिया है। कला की दृष्टि से यद्यपि यह सफल एकांकी नहीं था, पर प्रयोग की दृष्टि से एकांकी के इतिहास में इसका स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें काल्पनिकता एवं काव्यात्मकता ग्रधिक है, नाटकीयता कम। इसी से कुछ विद्वानों ने इसे 'ग्रभिनयात्मक गद्यकाव्य' के नाम से पुकारा है। ग्रागे चलकर वर्माजी के कई एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए, जिन्हें कालक्रमानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—'पृथ्वीराज की ग्राँखें' (१६३७), 'रेशमी टाई' (१६४६), चारुमित्रा (१६४३), विभूति (१६४३), सप्तकिरण (१६४७), रूप-रंग (१६४८), कौमुदी-महोत्सव (१६४६), घ्रव-तारिका (१६४०), त्रमुत्राज (१६४२), रजत-रिम (१६४२), दीपदान (१६४४), काम-कंदला (१६४४), बापू (१६४४), इन्द्र-धनुष (१६४७), रिमिक्सम

(१६५७) म्रादि । डा॰ वर्मा के एकांकियों को विषय को दृष्टि से सामाजिक एवं ऐति-हासिक वर्ग में रक्खा जा सकता है । उन्होंने जीवन की तात्कालिक यथार्थता के स्थान पर चिरन्तन सत्य का चित्रण किया है । उनका दृष्टिकोण म्रादर्शवादी है, म्रतः उनकी रचनाम्रों में महत्वपूर्ण संदेश की म्राभिन्यिक्त हुई है । उनके कुछ एकांकियों में भावात्मकता की भी प्रधानता है । वर्माजी की शैली में सरसता एवं प्रौढ़ता मिलती है ।

वर्माजी के साथ-साथ ही एकांकी के क्षेत्र में अवतीणं होनेवाले लेखकों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क', उदयशंकर भट्ट, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, सेठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर, गणेशप्रसाद द्विवेदी ग्रादि प्रमुख हैं। मिश्रजी के एकांकी-संग्रह इस क्रम से प्रकाशित हुए हैं—ग्रशोक वन, प्रलय के पंख पर, एक दिन, कावेरी में कमल, बलहीन, नारी का रंग, स्वर्ग में विप्लव, भगवान मनु तथा ग्रन्य एकांकी ग्रादि। इन्होंने ग्रपने एकांकियों में पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक समस्याग्रों का चित्रण सूक्ष्म रूप में किया है। उनमें ज्ञान ग्रीर मनोरंजन का समन्वय सुन्दर ढंग से हुग्रा है। ग्रिमनयशीलता का भी उनमें पूर्ण निर्वाह है। डॉ॰ नगेन्द्र का मत है—'इसके ग्रतिरक्त विदेशी साहित्य का बुद्धिवाद, यथार्थवाद, चिरन्तन नारीत्व की समस्या, प्रकृति की ग्रोर परिवर्तन का ग्रनुरोघ, जीवन के मौलिक सत्यों की निर्श्रान्त स्वीकृति ग्रादि संस्कृति संकुल प्रवृत्तियाँ उनके मन में काम कर रही हैं। इघर भारत की ग्रपनी समस्याग्रों—यहाँ की ग्राघ्यात्मकता का भी उन पर प्रभाव है।'' (ग्राघुनिक हिन्दी नाटक; पृ० ५६)।

सामाजिक समस्याग्रों के चित्रण में श्री उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क' को ग्रभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई । वे मध्यवर्ग के समाज की कमजोरियों, रूढ़ियों तथा जीर्ण-शीर्ण परम्पराग्रों पर व्यंग्यात्मक शैली से प्रकाश डालते हैं। व्यंग्य की तोखी चोट करने में 'ग्रश्क' की बराबरी हिन्दी का भ्रौर कोई एकांकी लेखक नहीं कर सका। 'भ्रघिकार का रक्षक' उनकी इस व्यंग्यात्मक शैली का स्थायी प्रमाण है। उन्होंने सर्वत्र पात्रानुकूल भाषा शैली का प्रयोग किया है, जिससे उनके एकांकियों में कहीं-कहीं खड़ी बोली के स्थान पर राजस्थानी, ग्रवधी, वंगाली, पंजाबी ग्रादि का भी प्रयोग मिलता है। मनोरंजन एवं ग्रभि-नेयता की दृष्टि से भी भ्रनेक एकांकी पूर्णतः सफल हैं। उनके एकांकियों को तीन वर्गी में विभाजित किया जा सकता है—(१) सामाजिक व्यंग्य—पापी (१६३७), लक्ष्मी का स्वागत (१६३८), मोहब्बत (१६३८), क्रासवर्ड पहेली (१६३६), ग्रधिकार का रक्षक (१६३६), ग्रापस का समभौता (१६३६), स्वर्ग की भलक (१६३६), विवाह के दिन (१६३६), जोंक (१६३६) म्रादि । (२) सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक एकांकी—चरवाहै (१६४२), चिलमन (१६४२), खिड़की (१६४२) चुम्बक (१६४२), मैमूना (१६४२), देवताग्रों की छाया में (१९४२), चमत्कार (१९४३), सूखी डाली (१९४६), ग्रंधी गली (१६५२) म्रादि । (३) मनोवैज्ञानिक एकांकी प्रहसन—म्रादि मार्ग (१६४७), म्रंजी दीदी, भवर (१६४४), कसी साव, किसी अवगं, पदी खडायी, पर्दा गिरायो (१६५१), बतसिया (१६५२), सयाना मालिक, जीवन-साथी (१६५२) ग्रादि । वस्तुतः 'ग्रश्क' की एकांकी साहित्य परिमाण की दृष्टि से विशाल है, रूप भ्रौर शैलियों की दृष्टि से विवि-धता-पूर्ण है ग्रीर कला की दृष्टि से ग्रत्यन्त प्रौढ़ है।

श्री उदयशङ्कर भट्ट ने 'एक ही कब्र में' (१६३३), 'दस हजार' (१६३८), 'दुर्गा', 'नेता', 'उन्नीस सौ पैतालिस', 'वर-निर्वाचन', 'सेठ लाभचन्द्र' ग्रादि एकांकियों की रचना सन् १६४० से पूर्व की । इनमें विभिन्न सामाजिक समस्याग्रों का चित्रण है । सन् १६४० ग्रौर १६४२ के मघ्य उन्होंने 'स्त्री का हृदय', 'नकली ग्रौर ग्रसली', 'बड़े श्रादमी की मृत्यु', 'विष की पुड़िया', 'मुंशी श्रनोखेलाल' श्रादि एकांकियों की रचना की. जिनमें हास्य ग्रीर व्यंग्य का भी विकास मिलता है। ग्रागे चलकर उनके ग्रनेक एकांकी प्रकाशित हुए जिनमें 'श्रादिम युग', 'प्रथम विवाह', 'मनु ग्रीर मानव', 'समस्या का श्रन्त', 'कुमार-संभव', 'गिरती दीवारें', 'पिशाचों का नाच', 'वीमार का इलाज', 'ग्रात्म-प्रदान', 'जीवन', 'वापसी', 'मंदिर के द्वार पर', 'दो श्रतिथि', 'ग्रघटित', 'ग्रंघकार', 'नये मेहमान', 'नया नाटक', 'विस्फोट', 'धूम-शिखा' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। भट्टजी की कला का प्रौढ़तम रूप 'वाबूजी', 'यह स्वतन्त्रता का युग', 'मायोपिया', 'ग्रपनी ग्रपनी खाट पर', 'वार्गेन', 'ग्रहदशा' 'पर्दे के पीछे' श्रादि में मिलता है। पिछले कुछ वर्षी में जन्होंने रेडियो के लिये भी एकांकी लिखे हैं, जैसे—'गांघी का रामराज्य', 'घर्म-परम्परा', 'एकला चलो रे', 'ग्रमर ग्रर्चना', 'मालती माधव', 'वन-महोत्सव', 'मदन-दहन' ग्रादि ।

'विश्वामित्र', 'मत्स्यगंवा', ग्रादि में भट्टजी ने काव्यात्मक शैली में भावनाओं के घात-प्रतिघात का चित्रण किया है । वस्तुतः भट्टजी के एकांकियों का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक है; उनमें जीवन के विभिन्न पहलुग्रों का चित्रण मार्मिक रूप में हुग्रा है। डॉ॰ नगेन्द्र ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—''भट्टजी के एकांकियों का संविधान रंगमंचीय है तथा उन्हें सरलता से ग्रभिनीत किया जा सकता है "तात्पर्य यह है कि भट्टजी के एकांकी जहाँ ज्ञान-बहुल हैं, भ्रौर मानव जीवन की पारदर्शिता को प्रकट करते हैं, वहाँ वे जीवन के बहु-व्यापी ग्रंग-उपांगों का गहन विश्लेषण भी करते हैं। भूत, भविष्यत्, वर्त-मान के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि, मानव के विकास में चेतना का ग्रन्तर्दर्शी विवेचन, उनके इस साहित्य का रूप है। मालूम होता है, जैसे भट्टजी के द्वारा गीति, कविता, कथानक की प्रौढ़ता, समय की अन्तरंग दृष्टि, ऐतिहासिक ऊहापोह, जीवन-कल्याण की सभी भाव-नाग्रों का उनके नाटकों में प्रकटीकरण हुग्रा है।" (हिन्दी एकांकी : उद्भव ग्रौर विकास; पुष्ठ १६३)

श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र पाश्चात्य एकांकियों एवं एकाकीकारों की शैली का हिन्दी में पूर्ण विकास करने की दृष्टि से बहुत विख्यात हैं। उनका प्रथम एकांकी 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' सन् १९३९ में प्रकाशित हुम्रा था जिस पर बर्नार्ड शा के 'कैन्टिडा' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तत्पश्चात् 'पतिता' (१६३४), 'एक साम्यहीन साम्यवादी' (१९३४), 'प्रतिभा का विवाह' (१९३६), 'रहस्य रोमांच: लाटरी' (१६३५), 'मृत्यु' (१६३६), म्रादि प्रकाशित हुए जो पाश्चात्य प्रभाव से युक्त हैं। उनकी प्रौढ़ रचनाम्रों में 'सवा म्राठ वजें', 'म्रादमखोर' (१६३८), 'इंसपेक्टर जन-रल' (१६४०), 'रोशनी ग्रीर ग्राग' (१६४१), 'फोटोग्राफर के सामने' (१६४४),

'ताँवे के कीड़े' (१६४६), 'इतिहास की केंचुल' (१६४८), 'ग्राजादी की नींद' (१६४८), 'सींकों की गाड़ी' (१६५०) ग्रादि उल्लेखनीय हैं। ग्रापने ऐतिहासिक कथानकों के ग्राघार पर 'सिकन्दर' (१६५०), 'ग्रकबर' (१६५०) ग्रीर 'चंगेज खाँ' की भी रचना की है।

श्रापने सामाजिक रूढ़ियों, विवाह-वैषम्य, विभिन्न मनोवृत्तियों एवं मानसिक प्रवृत्तियों के चित्रण को ही श्रपनी कला का लक्ष्य बनाया है। उनके एकांकियों का मूल केन्द्र काम-चेतना तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का भावात्मक चित्रण है। "हिन्दू समाज के कठोर नियंत्रण, रूढ़ियों एवं पाखण्ड में श्राधुनिक शिक्षाप्राप्त युवक-युवित्यों की वासना श्रनियंत्रित रूप से भड़ककर विकृत हो चुकी है, जैसे-जैसे सम्यता बढ़ रही है, वैसे-वैसे शिक्षित एवं श्राधिक दृष्टि से सम्पन्न मध्यवर्ग की सेक्स भावना-ग्रान्थियाँ जटिलतर होती जा रही हैं। इस प्रकार की क्रान्तिकारी भावनाश्रों से परिपूर्ण समस्याश्रों में भुवनेश्वर ऐसे उलभ गए हैं कि कहीं-कहीं यह भ्रम हो जाता है कि ये एकांकी भारत के लिए हैं या पश्चिमी प्रदेशों के विकसित समाज के लिए। उन्मुक्त प्रेम, वैवाहिक वैषम्य, बाहर से सुसंस्कृत किन्तु ग्रन्दर से ग्रनेक जटिलताश्रों के पुलिदे पात्र प्रारम्भिक एकांकियों को कुछ कृत्रिम ग्रौर ग्रस्वाभाविक बनाते हैं।" फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकांकी के विविध तत्वों के विकास, उसकी शिल्प-विधि के प्रयोग एवं शैली की कलात्मकता की दृष्टि से उनके एकांकियों का बहुत महत्व है।

सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक एवं सामियक द्यादि सभी विषयों पर कलम उठाई है। उनके नाटकों एवं एकांकियों की संख्या सौ से भी ऊपर है। ग्रापके कुछ एकांकी ये हैं—(१) ऐतिहासिक—बुद्ध की एक शिष्या, बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन? नानक की नमाज, तेगबहादुर की भविष्यवाणी, परमहंस का पत्नीप्रेम ग्रादि। (२) सामाजिक समस्या प्रधान—स्पर्धा, मानव-मन, मैत्री, हंगर-स्ट्राइक, ईद ग्रीर होली, जाति-उत्थान, वह मरा क्यों? ग्रादि। (३) राजनैतिक—सच्चा कांग्रेसी कौन? (४) पौराणिक—कृषि-यज्ञ ग्रादि। सेठजी का दृष्टिकोण ग्रादर्शवादी एवं सुधारवादी है, ग्रतः उनमें समस्याग्रों का चित्रण प्रचारात्मक ढंग से होता है। कला की सूक्ष्मता के स्थान पर उनमें विचारों की प्रौढ़ता ग्रधिक है। कहीं-कहीं मनोरंजन की मात्रा उनमें न्युनातिन्युन रह जाती है। उनकी शैली सरल एवं रोचक है।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर का प्रथम एकांकी 'मेरी बाँसुरी' सन् १६३६ में प्रकाशित हुग्रा था। तदनन्तर ग्रापके भ्रनेक एकांकी प्रकाशित हुए—भोर का तारा (१६३७), किलग-विजय (१६३७), रीढ़ की हड्डी (१६३६), मकड़ी का जाला (१६४१), खंडहर (१६४३), खिड़की की राह (१६४६), घोंसले (१६५०), कबूतर-खाना (१६५१), भाषण (१६५२), भ्रो मेरे सपने (१६५३), शारदीय (१६५५), बंदी (१६५५) भ्रादि। माथुरजी के प्रायः सभी एकांकी रंगमंच की दृष्टि से बहुत सफल हैं। भ्रापने यथार्थवादी शैली में विभिन्न समस्याग्रों का न केवल चित्रण किया है, भ्रपितु, उनका मौलिक समाधान की प्रस्तुत किया है। हास्य भ्रार व्यंग की पुट उनके एकांकियों में मिलता है। वस्तुतः

उनकी रचनाओं में विचार श्रीर श्रनुभूति, प्रचार श्रीर कला तथा ज्ञान श्रीर मनोरंजन दोनों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है।

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी श्रंग्रेजी-एकांकी साहित्य की ज्ञान-गरिमा को लेकर हिन्दी में अवतीण हुए। भुवनेश्वरप्रसादजी पाश्चात्य प्रभाव को भली प्रकार पचा नहीं पाए थे, किन्तु द्विवेदीजी ऐसा कर पाए हैं। श्रापके प्रमुख एकांकी ये हैं—सोहाग-विन्दी, वह फिर श्रायी थी, पर्दे का अपर पार्श्व, शर्माजी, दूसरा उपाय ही क्या है, सर्वस्व-समर्पण, कामरेड गोष्ठी, परीक्षा, रपट, रिहर्सल, घरती-माता श्रादि। श्रापने प्रायः सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याग्रों का चित्रण किया है। यौन-श्राकर्षण, प्रेम-वैषम्य, अनमेल-विवाह श्रादि से उत्पन्न होनेवाली मानसिक जटिलताग्रों का सूक्ष्म विश्लेषण इनके साहित्य में मिलता है। एकांकी के शिल्प श्रीर कला का विकास भी उनकी रचनाग्रों में मिलता है।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी एकांकी का विकास बड़ी द्रुत गित से हुम्रा है। डॉ॰ जयनाथ 'निलन', प्रभाकर माचवे, भगवतीचरण वर्मा, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल, विनोद रस्तोगी, सत्येन्द्र शरत, रेवतीशरण शर्मा, विमला लूथरा, चिरंजीत, देवराज दिनेश, राजीव सक्सेना प्रभृति ने शताधिक सफल एकांकियों की रचना की है। इनके कथानक में विविधता का पर्याप्त समावेश दृष्टिगत होता है। राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक, धार्मिक, पौराणिक, सांस्कृतिक सभी विषयों पर एकांकी लिखे गए हैं। समकालीन समस्याम्रों पर भी लेखकों ने एकांकियों द्वारा प्रकाश डाला है। टैकनीक की दृष्टि से भी वे रंगमंच के भौर श्रधिक निकट थ्रा रहे हैं। भ्रव प्रारम्भिक पूर्वकथा नहीं दी जाती, पात्र स्वयं ग्रपना परिचय देते हैं, रंगमंच की सूचनाएँ पर्याप्त होती हैं, संगीत का बहुत कम प्रयोग होता है। हर प्रकार की भ्रस्वाभाविकता से बचने ग्रौर भाषा, संवाद भ्रादि सभी क्षेत्रों में स्वाभाविकता की रक्षा के प्रयत्न में भ्राज एकांकी विविधता, कलात्मकता ग्रौर प्रौढ़ता सभी दृष्टियों से उन्नति करता है।

रेडियो नाटक को हम एकांकी का रूप मानते हैं। यद्यपि उनकी टेकनीक मंचीय एकांकी से भिन्न होती है, तथापि वह एकांकी का ही एक भेद है—१. जिससे वर्तमान सामाजिक विषमताग्रों से मुक्ति ग्रीर नई ग्रामीण ग्रर्थव्यवस्था के चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं। २. समाजवादी यथार्थवाद जिसमें व्यक्ति ग्रीर समाज की समस्याग्रों का यथार्थ चित्रण होता है। ३. मनोविश्लेषणात्मकता की जिसमें ग्रवचेतन मन की उलभी संवेदनाग्रों ग्रीर कुंठाग्रों के चित्र प्रस्तुत किए जाते हैं। ४. ऐतिहासिक—जिसमें ग्रतीत की ऐतिहासिक, पौराणिक या धार्मिक परिस्थित एवं वातावरण से सम्बन्धित कथावस्तु को लिया गया है। रेडियो प्रहसन ग्रीर भलकियाँ जहाँ एक ग्रीर हमारा मनोरंजन करती हैं वहाँ वे समाज के गले-सड़े ग्रंगों पर व्यंग कर उनके प्रति हमारा ग्राक्रोश ग्रीर विक्षोभ भी जागृत करती हैं। सारांश यह है कि नवीन एकांकी केवल मनोरंजन की वस्तु ही नहीं है, वे गम्भीर सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक ग्रीर मनोवैज्ञानिक समस्याग्रों का समाधान तथा नया व्यक्तिक सांस्कृतिक, राजनीतिक ग्रीर मनोवैज्ञानिक समस्याग्रों का समाधान तथा नया व्यक्तिक सांस्कृतिक, राजनीतिक ग्रीर प्रकृतिक सांकियों ने भनेक,

ध्यात देंगे।

ग्रस्तूते विषयों, नई समस्याग्रों तथा नवीन दृष्टिकोण ग्रिभिव्यक्त कर हिन्दी साहित्य को

सम्पन्न बनाया है।
इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का एकांकी-साहित्य आज पर्याप्त उन्नत दशा
में है। विषय-वस्तु की दृष्टि से यह अत्यन्त व्यापक, विचारों की दृष्टि से गम्भीर एवं
शैली की दृष्टि से वैविष्यपूर्ण है। इसके माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति,
सम्यता एवं इतिहास-पुराण की नयी व्याख्या प्रस्तुत हुई है, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक
जीवन के प्रायः सभी पक्षों एवं उसकी समस्याओं का अंकन भी इनमें हुआ है। एकांकी
के प्रायः सभी प्रचलित भेदोपभेदों, यथा—ध्विन रूपक, संगीत रूपक, रेडियो प्रहसन या
भलकी, मोनोलाँग या स्वगत-नाट्य, आदि का भी विकास इसमें दृष्टिगोचर होता है।
अतः हिन्दी-एकांकी साहित्य की प्रगति को संतोषजनक कहा जा सकता है। इतना
अवश्य है कि विद्वान् पाठकों एवं समीक्षकों द्वारा एकांकीकारों को अपेक्षित प्रोत्साहन
प्रायः नहीं दिया गया है। आज जितनी चर्चा कहानी एवं किवता की की जाती है, उतनी
एकांकियों की नहीं होती, जबिक अपनी उपलब्धियों की दृष्टि से यह इनकी अपेक्षा
कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आशा है, आलोचकगण इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व पर

:: चालीस ::

हिन्दी श्रालोचना : स्वरूप और विकास

- १. 'म्रालोचना' शब्द की व्याख्या।
- २. ग्रालोचना के प्रकार।
- ३. भारतीय साहित्य में ग्रालोचना का विकास।
- ४. हिन्दी में समीक्षा का विकास—(क) भक्तिकाल ग्रौर रीतिकाल, (ख) ग्राघु-निक युग—भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्लजी ग्रौर उनके परवर्ती समी-क्षक, ग्रन्य प्रमुख समीक्षक ।
- ५. उपसंहार।

'ग्रालोचना' शब्द 'लोचृ' घातु से बना है, 'लोचृ' का ग्रर्थ है—देखना ग्रतः ग्रालोचना का ग्रर्थ है 'देखना'। किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या उसका मूल्यां-कन ग्रादि करना ही ग्रालोचना है। डॉ॰ श्यामसुन्दरदास के शब्दों में ''साहित्य-क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों ग्रीर दोषों का विवेचन करना ग्रीर उसके सम्बन्ध में ग्रपना मत प्रकट करना ग्रालोचन कहलाता है।—यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या माने तो ग्रालोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।'' ग्रालोचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए डॉ॰ गुलाबरायजी लिखते हैं कि—''ग्रालोचना का मूल उद्देश्य कि की स्पष्ट करते हुए डॉ॰ गुलाबरायजी लिखते हैं कि—''ग्रालोचना का मूल उद्देश्य कि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से ग्रास्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के ग्रास्वाद में सहायता हैना तथा उनकी रुचि को परिमाजित करना एवं साहित्य की गित निर्धारित करने में योग देना है।''

विभिन्न दृष्टिकोणों, प्रयोजनों एवं पद्धितयों की दृष्टि से आलोचना के मूलतः वो भेद किए जा सकते हैं—(२) साहित्यिक समीक्षा एवं (२) वैज्ञानिक समीक्षा। साहित्यिक समीक्षा में समीक्षक का लक्ष्य व्यक्तिगत (Subjective) दृष्टि से कृति के सम्बन्ध में निजी अनुभूतियों, धारणाश्रों एवं मूल्यों को कलात्मक शैली में प्रस्तुत करने का होता है, जबिक वैज्ञानिक समीक्षा में वस्तुगत (Objective) दृष्टि से कृति का प्रामाणिक विवेचन, विश्लेषण करते हुए उसके सम्बन्ध में सुनिश्चित एवं संतुलित निणयप्रामाणिक विवेचन, विश्लेषण करते हुए उसके सम्बन्ध में सुनिश्चित एवं संतुलित निर्णयप्रामाणिक विवेचन, विश्लेषण करते हुए उसके सम्बन्ध में सुनिश्चित एवं संतुलित निर्णयप्रामाणिक विवेचन, विश्लेषण करते हुए उसके सम्बन्ध में सुनिश्चित एवं संतुलित निर्णयप्रामाणिक विवेचन, विश्लेषण करते हुए उसके सम्बन्ध में स्वातित्य को कोटि में आती त्मक होती हैं। वस्तुतः साहित्यिक समीक्षा जहाँ कला या साहित्य की कोटि में आती त्मक होती हैं। वस्तुतः साहित्यक समीक्षा विज्ञान या अनुसंधान की श्रेणी में रखी जा सकती है। इनमें है, वहाँ वैज्ञानिक समीक्षा विज्ञान या अनुसंधान की श्रेणी में रखी जा सकती है। इनमें से भी प्रत्येक के तीन-तीन उपभेद होते हैं—ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक। ऐतिहासिक में जहाँ इतिहास के उद्भव एवं विकास की व्याख्या की जाती है, वहाँ सैद्धान्तिक में सिद्धान्तों एवं मूल्यों की स्थापना की जाती है। व्यावहारिक समीक्षा में पूर्व निर्वत सिद्धान्तों के आधार पर कृति का विवेचन एवं मूल्योंकन प्रस्तुत किया जाता तिश्चत सिद्धान्तों के आधार पर कृति का विवेचन एवं मूल्योंकन प्रस्तुत किया जाता

है। समीक्षक के द्वारा प्रयुक्त दृष्टिकोण के आधार पर इन सबके तीन-तीन उपभेद और किए जा सकते हैं—(१) शास्त्रीय (२) मनोविश्लेषणात्मक (३) सामाजवादी। इनमें क्रमशः परम्परागत साहित्य-शास्त्र, आधुनिक मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण, समाजवादी या प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अपनाया जाता है। इसी प्रकार समीक्षा के दो निम्नस्तरीय भेद और भी हैं—(१) भावाभिन्यंजक (२) पत्रकारक (पत्र-पत्रिकाओं में निकलने वाले रोचक परिचय)। वस्तुतः ये दोनों भेद शुद्ध समीक्षा के अन्तर्गत नहीं आते, अतः इन्हें समीक्षाभास ही मानना चाहिए। इस प्रकार समीक्षा के अनेक भेद प्रचलित हैं।

भारतीय साहित्य में ग्रालोचना का विकास

भारतीय साहित्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम सैद्धान्तिक श्रालोचना का विकास हुग्रा जिसे 'काव्य-शास्त्र' या 'ग्रलंकार-शास्त्र' के नाम से पुकारा जाता रहा है। उपलब्ध ग्रंथों में प्राचीनतम रचना भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्य-शास्त्र' है जिसमें साहित्य के मानदण्ड के रूप में 'रस-सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की गई है। साहित्य का मूल तत्व भाव है; रस-सिद्धान्त भी भाव ग्रीर भावनाग्रों के उद्देलन की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करता हुग्रा साहित्य की विषय-वस्तु का वर्गीकरण एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है। काव्य में भाव तत्व को सर्वाधिक महत्व प्रदान करके रस-सिद्धान्त के ग्राचार्यों ने एक उचित दिशा में काव्य-शास्त्र को आगे बढ़ाया। भरत के परवर्ती आचार्यों में से अनेक ने रस-सिद्धान्त के विभिन्न ग्रस्पष्ट स्थलों की विस्तृत व्याख्या की, विशेषतः रस-निष्पत्ति की समस्या को लेकर भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने अपने-अपने स्वतंत्र मत की प्रतिष्ठा की । आगे चलकर भामह, उद्भट, दण्डी आदि भ्राचार्यों ने रस के स्थान पर काव्य की म्रात्मा के रूप में 'म्रलंकार' की प्रतिष्ठा की। श्रलंकार के सम्वन्घ में उनकी घारणाएँ बहुत व्यापक थीं, वे उसे 'सौन्दर्य' के पर्यायवाची के रूप में ग्रहण करते थे। परवर्ती युग में वामन के द्वारा 'रीति-सम्प्रदाय' की, कुंतक के द्वारा 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' की तथा ग्रानन्द-वर्द्धनाचार्य द्वारा 'व्विन सम्प्रदाय' की प्रतिष्ठा हुई, जिन्होंने क्रमशः रीति, वक्रोक्ति एवं व्विन को काव्य की श्रात्मा के रूप में स्वीकार किया । क्षेमेन्द्र ने इन सभी के उचित प्रयोग को महत्वपूर्ण मानते हुए 'श्रौचित्य सम्प्रदाय' की स्थापना की । मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ ग्रादि व्याख्याताग्रों ने क्षेमेन्द्र के दृष्टिकोण को अपनाते हुए अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति भ्रादि सभी का विवेचन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-साहित्य में ग्रालोचना का पर्याप्त विकास हुग्रा, किन्तु यह ग्रालोचना सिद्धान्त-स्थापना तक ही सीमित है, उनका व्यवहार विशव रूप में उपलब्ध नहीं होता। जितना श्रम नए-नए सिद्धान्तों की स्थापना के लिए किया गया, उतना संभवतः उनके प्रयोग में नहीं किया गया। ग्राधुनिक युग की भाँति हमें कहीं भी किसी पूरे ग्रन्थ या किसी किव की ग्रालोचना स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में नहीं मिलती। बात यह है कि हमारे यहाँ ग्रालोचना की निर्णयात्मक पद्धित का प्रचलन रहा, विभिन्न विद्यालयों, गोष्ठियों एकं वाराज्य स्थारि भे किवल प्रालविक रूप से इस बात की

चर्चा होती रही थी कि भ्रमुक रचना में यह दोष है, भ्रमुक में यह गुण है उनका लिखित विवेचन नहीं होता था। हाँ, कुछ काव्य-शास्त्रियों ने भ्रपने ग्रन्थों के 'काव्य-दोष' प्रकरण में भ्रवश्य पूर्ववर्ती एवं समकालीन साहित्यकारों की खबर भ्रप्रत्यक्ष रूप में ली है। भ्रालोचना के कुछ भ्रन्य रूपों, जैसे टोकाभ्रों, व्याख्याभ्रों भ्रादि के लिखने का भ्रवश्य संस्कृत में प्रचार रहा।

हिन्दी में सभीक्षा का विकास

संस्कृत की काव्य-शास्त्र की परम्परा के श्रनुसार हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सैद्धान्तिक ग्रालोचना का विकास हुग्रा । यह ग्राश्चर्य की वात है कि हमारे प्रारम्भिक सैद्धान्तिक भ्रालोचना के ग्रन्थ सिद्धांत-विवेचन के उद्देश्य से न लिखे जाकर भक्ति या प्युङ्गार भ्रथवा काव्य-रचना की प्रेरणा से रचित हुए। सूरदास की 'साहित्य-लहरी' एवं नन्ददास की 'रस-मंजरी' में नायिका-भेद का प्रतिपादन संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के ग्राघार पर ही हुग्रा है, किन्तु उनका लक्ष्य नायिका-भेद को समभाना न होकर ग्रपने भ्राराध्य कृष्ण की प्रेम-लीलाग्रों में योग देना है। भ्रकबर के कुछ दरवारी कवियों— करणेश, रहीम, गोपा, भूपति भ्रादि द्वारा भी काव्य-विवेचन न होकर रसिकता का पोषण करना था। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में केशवदास ने 'कवि-प्रिया' ग्रौर 'रसिक-प्रिया' की रचना की, जिनका उद्देश्य काव्य शास्त्र के सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों का परिचय कराना था, इनकी रचना ही पातुर प्रवीण राय को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देने के निमित्त हुई थी। ग्रतः केशवदास के विवेचन में भले ही प्रौढ़ता न मिलती हो, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा उन्होंने विशुद्ध भ्राचार्यत्व की प्रेरणा से किया था। केशवदास की परम्परा का विकास परवर्ती युग के किवयों ने किया, जिन्हें हम चार वर्गी में विभाजित कर सकते हैं—(१) काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता—ग्रनेक कवियों ने काव्य-शास्त्र के सभी ग्रंगों का प्रतिपादन किया, जिनमें ग्राचार्यत्व की भलक मिलती है। (२) रस ग्रीर नायिका-भेद सम्बन्धी ग्रन्थों के रचयिता—इस वर्ग के किवयों का लक्ष्य भ्राचार्यत्व कम था, मनोरंजन के निमित्त काव्यशास्त्र की भ्राड़ में कामुकता भीर रसिकता को प्रवाहित करना भ्रधिक था। (३) भ्रलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों के रचियता—कुछ कियों ने केवल भ्रलंकारों का प्रतिपादन किया है। इनका उद्देश्य विद्यार्थियों के भ्रलंकार-ज्ञान के निमित्त काव्यमय शैली में 'पाट्य-पुस्तकों' का निर्माण करना था। उस युग में मुद्रण यंत्र का अभाव था, अतः किसी एक ही पुस्तक का सर्वत्र प्रचार नहीं हो पाता था, विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न कवियों द्वारा विभिन्न ग्रन्थों की रचना होती थी। (४) कवियों ने केवल नख-शिख एवं षड्ऋतु-वर्णन को लेकर काव्य ग्रंथों की रचना की। इनमें भी विशुद्ध रसिकता का उद्रेक मिलता है।

इस प्रकार मध्यकाल में काव्य-शास्त्रीय एवं ग्रलंकार-सम्बन्धी ग्रंथों में ही समीक्षा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु इनका महत्व ग्रधिक नहीं है। एक तो इनका ग्राधार संस्कृत काव्य-शास्त्र है, जिनका क्रज-भाषा-पद्य में ग्रनुवाद कर देना ही इनका ग्राधार संस्कृत काव्य-शास्त्र है जिनका क्रज-भाषा-पद्य में ग्रनुवाद कर देना ही

इनका लक्ष्य रहा है। इनमें मौलिकता नहीं मिलती। दूसरे, इनमें विवेचन की प्रौढ़ता, गम्भीरता या स्पष्टता का ग्रमाव है ग्रौर तीसरे, इनमें गद्य का प्रयोग न होने के कारण ये समीक्षा के सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करने में ग्रसमर्थ हैं।

वस्तुतः मघ्यकालीन ग्रंथों का इतना ही महत्व है कि इनके द्वारा हमारा साहित्य-शास्त्र संस्कृत काव्य-शास्त्र के सामान्य नियमों से परिचित रह सका—संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा ग्रशुद्ध, ग्रपूर्ण एवं ग्रपरिपक्व रूप में प्रचलित रह सकी। हाँ, इनकी एक देन ग्रौर भी—इन ग्रन्थों में विभिन्न ग्रंगों के सरस उदाहरण भी भारी संख्या में उपलब्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से ये संस्कृत काव्य-शास्त्र से भी ग्रागे बढ़ जाते हैं।

ग्राधुनिक हिन्दी साहित्य में समीक्षा का विकास

श्राघनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता एवं पोषक विराट् साहित्यकार भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-साहित्य के सभी उपेक्षित ग्रंगों का विकास किया था, श्रतः ग्रालो-चना-साहित्य भी उनके युग-परिवर्तनकारी करों के स्पर्श से वंचित कैसे रह सकता था। यदि संस्कृत के प्रथम भ्राचार्य भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' लिखा, तो भ्राधुनिक हिन्दी के जनक बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' की रचना की। यह दुर्भाग्य की बात है कि डा॰ श्यामसुन्दरदासजी की यह धारणा वन गई थी कि 'नाटक' स्वयं भारतेन्द्र द्वारा रचित नहीं है, जिसके कारण यह ग्रन्थ ग्रभी तक उपेक्षित-सा रहा ! डा० श्याम-सुन्दरदास ने श्रपनी घारणा को स्पष्ट करते हुए कहा कि ग्रन्थ की भाषा भारतेन्दु के श्रन्य ग्रन्थों से नहीं मिलती, किन्तु उनका यह तर्क समीचीन नहीं। विषय के ग्रनुरूप लेखक की शैली में थोड़ा-बहुत परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यह ग्रन्थ सैद्धान्तिक ग्रालोचना का है, अतः नाटक की भाषा-शैली से इसमें अन्तर होना कोई ग्राश्चर्य की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की 'भूमिका' ग्रौर 'समर्पण' में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्पष्ट रूप में लिखा है-"ग्राशा है सज्जनगण मात्र गुणग्रहण करके मेरा श्रम सफल करेंगे।" इस प्रन्थ को भारतेन्दुजी ने भ्रपने इष्टदेव को प्रेमपूर्वक समर्पित किया है-"नाथ ! ग्राज एक सप्ताह होता कि मेरे इस मनुष्यजीवन का ग्रंतिम ग्रंक हो चुकता.... नहीं तो यह ग्रंथ प्रकाश भी न होने पाता....जब प्रकाश होता है तो समर्पण भी होना आवश्यक है। अतएव अपनाए हुए की वस्तु समभकर अंगीकार कीजिए !" सब कुछ होने पर भी डा॰ श्यामसुन्दरदास ने इसे किसी भ्रन्य का रिचत घोषित क्यों किया, यह समभ में नहीं ग्राता। एक बात भ्रवश्य है कि स्वयं डा० श्यामसुन्दरदास ने भी नाट्य-शास्त्र पर एक ग्रन्थ 'रूपक-रहस्य' लिखा था। हो सकता है 'रूपक-रहस्य' के महत्व को बनाये रखने के लिए ही उन्होंने यह रहस्य खड़ा किया हो।

भारतेन्दु के 'नाटक' का प्रकाशन सन् १८८३ ई० हुग्रा था। यह ग्रन्थ एक ग्रत्यन्त प्रौढ़ रचना है, जिसमें प्राचीन भारतीय नाटय-शास्त्र एवं ग्राधुनिक पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का समन्वयं करते हुए तत्कालीन हिन्दी के नाटककारों के लिए सामान्य

हिन्दी ग्रालोचना : स्वरूप और विकास

नियम निर्धारित किए गए हैं, जिनमें स्थान-स्थान पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएँ प्रकट हुई हैं। एक ग्रोर वे नाटक के मेदों का विवेचन करते हुए श्रपने युग के सभी नाटकों-कठपुतिलयों के खेलों, वाजीगरों के तमाशों, पारिसयों के नाटकों ग्रादि-पर दृष्टि-पात करते हैं, तो दूसरी ग्रोर वे ग्रपने युग का मार्ग-प्रदर्शन करते हुए लिखते हैं—'नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें, यह ग्रावश्यक नहीं किन्तु वर्तमान समय में इस काल के किव तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की ग्रपेक्षा ग्रनेकांश में विलक्षण है, इसमें संप्रति प्राचीन मत ग्रवलम्बन करके नाटक ग्रादि दृश्यकाव्य लिखना युक्ति-संगत नहीं वोध होता। नाटक की ग्रर्थ-प्रकृतियों, संधियों ग्रादि रूढ़ियों के सम्बन्ध में वे घोषणा करते हैं 'संस्कृत नाटक की गाँति हिन्दी नाटकों में इनका ग्रनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।'' इस प्रकार की उक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि भारतेन्दुजी में केवल ग्रनुवाद करने की ही क्षमता नहीं थी, वे प्राचीन नाट्य-शास्त्र को नया रूप देने में भी पूर्णत: समर्थ थे, भले ही 'रूपक-रहस्य' के लेखक महोदय को यह मौलिकता ग्रविकर प्रतीत हो।

इस ग्रन्थ में सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन के ग्रनन्तर संस्कृत, हिन्दी ग्रीर यूरोप के नाटक-साहित्य के विकास पर प्रकाश डाला गया है तथा ग्रपने समकालीन नाटकों की यत्र-तत्र समीक्षा की गई है। उनकी समीक्षा के व्यावहारिक रूप में कहीं-कहीं तीखी व्यंग्यात्मकता के भी दर्शन होते हैं। जैसे वे पारसी नाटकों की ग्रालोचना करते हुए लिखते हैं—"काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला ग्रौर उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक-कर नाचने ग्रौर 'पतरी कमर वल खाय' यह गाने लगा तो डॉक्टर थिवो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ ग्राये कि ग्रव देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे ग्रनुवादों की होती है। विना पूर्व-कि क हृदय से हृदय मिलाए ग्रनुवाद करना शुद्ध भख मारना हो नहीं, किव की लोकान्तर स्थित ग्रात्मा को नरक-कष्ट देना है।"

भारतेन्दु की 'नाटक' रचना के साथ-साथ ही चौधरी वदरीनारायण 'प्रेमधन' ने अपनी 'आनन्द कादिम्बनी' पित्रका में 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'वंग-विजेता' पुस्तकों की समालोचना विस्तृत रूप में की तथा दूसरी थ्रोर वालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' में 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से 'संयोगिता-स्वयंवर' की ग्रालोचना की। भारतेन्दु के द्वारा प्रवित्त समालोचना के कार्य को ग्रागे बढ़ाने का श्रेय इन्हों दोनों लेखकों को है। द्वारा प्रवित्त समालोचना के कार्य को ग्रागे बढ़ाने का श्रेय इन्हों दोनों लेखकों को है। 'संयोगिता-स्वयंवर' लाला श्रीनिवासदासजी द्वारा रिचत ऐतिहासिक नाटक था। ग्रतः कहना चाहिए कि सद्धान्तिक समीक्षा की भाँति व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी प्राथ-कहना चाहिए कि सद्धान्तिक समीक्षा की भाँति व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी प्राथ-कहना चाहिए कि सद्धान्तिक होता है। कहीं-कहीं उनमें तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता भी ग्रा गई विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं उनमें तीक्ष्ण व्यंग्यात्मकता भी ग्रा गई है—''नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से ग्रापको कितना गाढ़ा परिचय है, यह दर्शाना चाहिए तें। असदुद्धजी की श्रेली में भावात्मकता, ग्रात्मानुभूति एवं लेखक को यह दर्शाना चाहिए तें। असदुद्धजी की श्रेली में भावात्मकता, ग्रात्मानुभूति एवं लेखक को यह दर्शाना चाहिए तें। असदुद्धजी की श्रेली में भावात्मकता, श्रात्मानुभूति एवं लेखक को यह दर्शाना चाहिए तें।

सीधा सम्बोधित करने की प्रवृत्ति भी मिलती है—''लालाजी यदि बुरा न मानिये तो एक बात आपसे धीरे से पूछें, वह यह कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगे ? क्या केवल किसी पुराने समय के ऐतिहासिक पुरावृत्त की छाया लेकर नाटक लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया !'''कृपा करके विचारी निरपराधिनी कवित्व-शक्ति के भाव का प्राण ऐसी निर्दयता के साथ न लीजियेगा'''लालाजी। कभी आपने इस बात पर भी घ्यान दिया है कि स्त्रियों की कितनी मृदु प्रकृति होती है और कितनी लज्जा उनमें होती है।.... अहा, अहा, तिनक और ज्यादा धँस जाता तो काहे को आपको नाटक लिखने का कष्ट सहना पड़ता !'' प्रेमधन जी की शैली में भट्ट की-सी सरसता एवं व्यंग्यात्मकता तो नहीं मिलती, किन्तु गम्भीरता उनमें अधिक है।

भारतेन्दु-युग में उपर्युक्त लेखकों द्वारा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से समालोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं, जिससे हिन्दी में व्यावहारिक समीक्षा का विकास होने लगा। सन् १६०० ई० में 'सरस्वती' के संपादक के रूप में महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी-समीक्षा क्षेत्र में अवतरण हुआ। किन्तु उनके आगमन से पूर्व दो-तीन आलोचनात्मक छोटी पुस्तिकाएँ और भी प्रकाशित हो चुकी थीं—गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोचना, (१६६६), ग्रंविकादत्त व्यास की 'गद्ध-काव्य मीमांसा' आदि। द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता', 'नैषध-चरित्र-चर्चा', 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' आदि ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्राचीन एवं नवीन किवयों के गुण-दोषों का विवेचन व्यंग्यात्मक शैली में किया। वस्तुतः वे मूलतः एक शिक्षक, संशोधक और सुधारक थे। उन्होंने अपनी समीक्षाओं के द्वारा हिन्दी-काव्य को श्रुङ्गारिकता के दल-दल से निकालकर उसे देश-प्रेम और समाज-सुधार की भावनाओं से अनुप्राणित कर दिया। ब्रज-भाषा के स्थान पर शुद्ध खड़ीबोली को प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी उन्हें हो है। द्विवेदीजी की शैली में सरलता, सरसता एवं व्यंग्यात्मकता मिलती है।

द्विवेदीजी के अनन्तर हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में मिश्रबन्धुओं (गर्धोशविहारी मिश्र श्यामिवहारी मिश्र और शुकदेविवहारी मिश्र) का प्रवेश हुआ, जिन्होंने 'हिन्दी नवरत्न', 'मिश्रबन्धु-विनोद' आदि की रचना की । 'हिन्दी-नवरत्न' में किवयों का श्रेणी विभाग करते हुए देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध किया । उन्होंने बिहारी की किवता में अनेक दोष ढूंढ़ निकाले । बिहारी पर किए गए इस आक्रमण से प्रेरित होकर पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' लिखी, जिसमें चमत्कारपूर्ण ढंग से बिहारी की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया । इस प्रकार देव और बिहारी को लेकर एक विवाद चल पड़ा । पंडित कृष्णिबहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में दोनों किवयों की किवताओं की तुलना संयत तथा मार्मिक शैली में की । किन्तु कहीं-कही उन्होंने बिहारी पर भई आक्षेप भी किए । इसके उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखी, जिसमें पुन: बिहारी को बड़ा सिद्ध किया गया ।

इस प्रकार भाचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस क्षेत्र में भ्रवतीर्ण होने से पूर्व हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा-पद्धित का प्रचार हो। स्द्धान्य विसक्ते सामके आ कोई विशेष भ्रादर्ण था भ्रौर न ही कोई विशेष सिद्धान्त । भ्रपनी-श्रपनी रुचि के भ्रनुसार भ्रपने-भ्रपने ढंग से जिसे चाहें वड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न हो रहा था। किन्तु ग्राचार्य शुक्ल साहित्य का एक सुनिश्चित मान-दण्ड एवं समीक्षा की एक विकसित पद्धित लेकर ग्रवतरित हुए। उन्होंने स्थूल नैतिकता या भौतिक लाभ-हानि के प्रश्न को त्यागकर साहित्य की सूक्ष्म शक्ति—भावनाग्रों के उद्देलन की शक्ति को साहित्य की कसौटी के रूप में ग्रपनाया। उन्होंने शताब्दियों प्राचीन रस-सिद्धान्त को नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने काव्य में सौन्दर्य या रस को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया, किन्तु फिर भी उसमें कुछ ऐसे तत्वों का समन्वय किया, जिससे उनकी ग्रालोचना सामाजिकता से दूर नहीं जा सकी। वे समाज-हितैषिता को साहित्य का साध्य तो नहीं मानते, किन्तु एक ऐसे साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, जो साहित्य को व्यापकता प्रदान करता है। वस्तुतः उन्होंने 'कला कला लिए' ग्रीर 'कला जीवन के लिए' दोनों में ग्रपूर्व सामंजस्य स्थापित किया।

श्राचार्य शुक्ल द्वारा रिचत ग्रन्थों में 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का इतिह(स', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'चितामणि' ग्रादि उल्लेखनीय हैं। ग्राचार्य शुक्ल जी के ग्रादर्श किव तुलसीदासजी हैं। उन्होंने जितना ग्रधिक महत्व इन्हें दिया तथा जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इनके काव्य का किया, उतना वे किसी ग्रन्य किव व उसकी रचनाग्रों का नहीं कर सके। शुक्ल जी की शैली में सूक्ष्मता, गम्भीरता ग्रौर प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। वस्तुतः ग्राचार्य शुक्ल ने ग्रपनी प्रौढ़ रचनाग्रों के द्वारा हिन्दी ग्रालोचना के क्षेत्र में युग-परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

शुक्लजी के ही समकालीन आलोचकों में वाबू श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने एक वैज्ञानिक की भाँति पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धान्तों का निष्पक्ष दृष्टि से अनुशीलन करके उन्हें हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया। हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रथम प्रौढ़ ग्रंथ 'साहित्यालोचक' वाबू श्याम-सुन्दरदास जी के द्वारा प्रस्तुत हुआ। यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिकता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु फिर भी इसका स्थायी महत्व है। वख्शीजी ने 'विश्व-साहित्य' की रचना की, जिसमें विश्व साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है।

शुक्लोत्तर युग—शुक्ल-परवर्ती युग में हिन्दी-समीक्षा का विकास द्रुत गति से हुया। इस युग के समीक्षात्मक विकास को विभिन्न वर्गों में विभाजित करते हुए इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है—

(क) ऐतिहासिक समीचा—इस वर्ग में मुख्यतः ग्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा॰ रामकुमार वर्मा, डा॰ भगीरथप्रसाद मिश्र प्रभृति ग्राते हैं। ग्राचार्य द्विवेदी ने ग्रपने 'हिन्दी साहित्य को भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का ग्रादिकाल', 'हिन्दी साहित्य : उद्भव ग्रौर विकास' ग्रादि ग्रन्थों द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास पर नूतन ग्रालोक प्रसारित करते हुए ग्रनेक नूतन स्थापनाएँ स्थापित कीं। विशेषतः संत-साहित्य एवं वैष्णव भक्ति ग्रान्दोलन के सम्बन्ध में उन्होंने ग्रनेक नये तथ्यों का उद्घाटन किया। उनके ग्रन्य समीक्षात्मक ग्रन्थ—'सूरसाहित्य', 'कबीर' ग्रादि भी महत्त्वपूर्ण हैं जो कि व्यावहारिक समीक्षा के ग्रन्तर्गत ग्राते हैं। डा॰ रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी साहित्य का ग्रालोचनात्मक इतिहास' में ग्रादिकाल एवं भक्तिकाल का विवेचन ग्रत्यन्त विस्तार से किया है

तथा ग्रनेक कियों का मूल्यांकन साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। डा॰ भगीरथप्रसाद मिश्र ने 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' एवं 'हिन्दी साहित्य : उद्भव ग्रीर विकास' के द्वारा हिन्दी के इतिहास को स्पष्ट किया है। इनके ग्रितिरिक्त डा॰ श्रीकृष्णलाल एवं डा॰ केसरी नारायण शुक्ल, ने भी ग्राधुनिक काल का स्पष्टीकरण किया है।

- (ख) सैद्धान्तिक समीचा—इस वर्ग में मुख्यतः डा० गुलावराय, डा० नगेन्द्र, भाचार्य बलदेव उपाच्याय, डा॰ राममुर्ति त्रिपाठी, प्रभृति म्राते हैं। डा॰ गुलाबराय ने 'सिद्धान्त ग्रीर ग्रध्ययन', 'काव्य के रूप', 'हिन्दी नाट्य विमर्श' ग्रादि ग्रन्थों में भारतीय एवं पाश्चात्य दिष्टकोणों से साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया है। डा॰ नगेन्द्र इस क्षेत्र में भाचार्य शुक्ल के वास्तविक उत्तराधिकारी सिद्ध होते हैं; उन्होंने 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका', 'रस-सिद्धान्त', 'काव्य-विम्व', 'श्ररस्तू का काव्य-शास्त्र' जैसे ग्रन्थों के द्वारा भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों को निकट लाने का प्रयास करते हुए हिन्दी समीक्षा को एक प्रौढ़ एवं सशक्त श्राधार प्रदान किया है। उन्होंने एक ग्रोर तो संस्कृत को श्राचार्य परम्परा को तथा दूसरी श्रोर ग्रीक-चिन्तन-परं-परा को हिन्दी की घरती पर भवतरित करने में भगीरथ का प्रयास किया है, जिस पर हिन्दी समीक्षा गर्व कर सकती है। भ्राचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' में तथा डा॰ राममूर्ति त्रिपाठी ने 'भारतीय साहित्य', 'रस-विमर्श', ग्रादि में भारतीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इस प्रसंग में डा॰ रामलाल सिंह का 'समीक्षा-दर्शन', डा॰ सत्यदेव चौघरी का 'रीतिकालीन ग्राचार्य', डा॰ कृष्ण देवभारी का 'रस-शास्त्र श्रोर साहित्य-समीक्षा' डा० भोलाशंकर व्यास का 'व्वनि-सम्प्रदाय श्रोर उसके सिद्धान्त' भी उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा भारतीय सिद्धान्तों का पुनर्विवेचन नूतन दृष्टि से हम्रा है।
- (ग) व्यावहारिक समीचा—इस वर्ग में शुक्लोत्तर समीक्षकों में श्राचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य: वीसवीं शती', 'श्राधृतिक
 हिन्दी-साहित्य', 'नया साहित्य: नये प्रश्न', 'जयशंकर प्रसाद', 'स्रदास' श्रादि ग्रन्थों का
 प्रणयन किया। वस्तुत: छायावादी रचनाग्रों का सर्वप्रथम सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत करने
 का श्रेय श्राचार्य वाजपेयी को है। उपन्यासकार प्रेमचन्द की सीमाग्रों की श्रोर भी सर्व
 प्रथम संकेत करने का साहस ग्रापने ही किया। स्वातंत्र्योत्तर युग में प्रयोगवादियों के साथ
 संघर्ष करते हुए उन्हें नयी किवता की ग्रोर ग्रग्नसर करने का श्रेय भी इन्हें दिया जा
 सकता है। वस्तुत: वे ग्रपने युग के सजग समीक्षक थे।

शुक्ल-परम्परा के भ्रन्य समीक्षकों में भ्राचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा॰ विनय मोहन शर्मा, डा॰ सत्येन्द्र, डा॰ हरवंशलाल शर्मा, डा॰ पद्यसिंह शर्मा 'कमलेश', डा॰ त्रिगुणायत का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने भ्रपनी प्रौढ समीक्षात्मक कृतियों द्वारा भ्रनेक प्राचीन एवं भ्रविचीन ^Cसाहित्यक्षिरा भ्रति नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। डा॰ शम्भूनाथ

४६४

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha हिन्दी स्रालोचना : स्वरूप श्रीर विकास

सिंह, डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त ने भी इस क्षेत्र में योग दिया है।

मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से समीक्षा करनेवाले ग्रालोचकों में डा॰ देवराज उपाध्याय का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने ग्रपने 'हिन्दी-काव्य-साहित्य ग्रौर मनोविज्ञान' में मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से कथा-साहित्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। हिन्दी के कतिपय श्रालोचकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के ग्राघार पर हिन्दी-साहित्य के विभिन्न पक्षों की भ्रालोचना प्रस्तुत की है, जिनमें डा॰ रामविलास शर्मा, भ्रमृतराय, डा॰ शिवदान सिंह चौहान का नाम उल्लेखनीय है।

(घ) वैज्ञानिक समीक्षा—हिन्दी समीक्षा की विगत दशाब्दी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि समीक्षा की वैज्ञानिक पद्धति की स्थापना है। इसमें समीक्षक भारतीय एवं पाश्चात्य प्राचीन एवं नवीन मानदंडों को संशोधित एवं समन्वित करता हुम्रा तटस्थ व संतुलित दृष्टि से विषय-वस्तु का विवेचन-विश्लेषण व मूल्यांकन करता है। साहित्य के विभिन्न तत्वों, उसकी प्रक्रियाओं व समस्याओं के स्पष्टीकरण के लिए इसमें सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण की भी सहायता ली जाती है। वस्तुतः इसमें साहित्य-सिद्धान्तों को व विभिन्न रचनाग्रों से सम्बन्धित निष्कर्षों को सार्वदेशिक या यूनिवर्सल रूप देने की चेष्टा की जाती है, इसलिए उसमें शैली की भावकता एवं काल्पनिकता या रंगीनी की ग्रपेक्षा निष्कर्षों की प्रामाणिकता पर ग्रधिक बल दिया जाता है।

वैज्ञानिक समीक्षा पद्धति के उन्नायकों में डा॰ माताप्रसाद गुप्त का नाम सर्वो-परि है जिन्होंने एक ग्रोर तो ग्रपने 'तुलसीदास' में तुलसी-साहित्य का संतुलित विवेचन प्रस्तुत करके तथा दूसरी थ्रोर 'वीसलदेव रास', 'पद्मावत', 'चाँदायन', 'मृगावती', 'कवीर-ग्रन्थावली' भ्रादि का पाठ-शोधन करके वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया। तदनन्तर डा॰ दीनदयालु गुप्त ने अपने 'अष्टछाप श्रीर बल्लभ सम्प्रदाय' के द्वारा वैज्ञानिक शोध-पढित को ग्रग्रसर किया। इनके ग्रतिरिक्त हिन्दी के ग्रनेक शोध-कर्ताग्रों ने विभिन्न साहित्यकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विश्लेषण व मूल्यांकन में वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग किया है-इसमें डा॰ भगीरथ मिश्र, डा॰ कृष्णलाल, डा॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय डा॰ सावित्री सिन्हा, डा॰ सरनाम सिंह, डा॰ सत्येन्द्र, डा॰ भोलानाय तिवारी, डा॰ हीरालाल माहेश्वरी, डा॰ सरयू प्रसाद ग्रग्नवाल प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दी में वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धित को सम्यक् रूप में प्रतिष्ठित करने का एक विनम्र प्रयास प्रस्तृत पंक्तियों के लेखक के द्वारा भी हुग्रा है। उसने ग्रपने 'साहित्य-विज्ञान' या 'साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन' तथा 'रस-सिद्धान्त का पुनविवेचन' में साहित्य-सिद्धान्तों को वैज्ञानिक रूप देने की तथा 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में साहित्येतिहास लेखन के विकासवादी सिद्धान्तों की स्थापना की चेष्टा की है। इसी प्रकार 'बिहारी-सतसई: वैज्ञानिक समीक्षा' व 'महादेवी: नया मूल्यांकन' में विवेच्य वस्तु की तटस्थ एवं संतुलित दृष्टि से विवेचना का प्रयास किया। गया है। ये प्रयास कहाँ CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. तक सफल हैं इसका निर्णय तो विद्वान् पाठक ही करेंगे, हमारा लच्य तो यहाँ केवल सुचना देना मात्र है।

ग्राधुनिक साहित्य ग्रीर नयी किवता के ग्रालोचकों में डा॰ इन्द्रनाथ मदान, डा॰ नामवर सिंह, डा॰ जगदीश गुप्त, डा॰ श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रभृति के नाम महत्व-पूर्ण हैं। डा॰ मदान ने प्रेमचन्द से लेकर ग्राज तक के कथा-साहित्य की विवेचना ग्रत्यन्त सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करते हुए उसकी ग्रनेक नवीन प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया है। साधुनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार ग्रन्य ग्रालोचकों ने भी नये साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

इघर हिन्दी में पत्रकारिता के स्तर की एकांगी, व्यक्तिगत, रोचक किन्तु असंतु-लित समीक्षाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं, जो वस्तु की समीक्षा तो कम करती हैं, किन्तु चौंकाती अधिक हैं।

इस प्रकार हिन्दी समीक्षा का विकास विभिन्न क्षेत्रों में नये-नये रूपों में हो रहा है। 'साहित्य-संदेश', 'ग्रालोचना', 'माघ्यम', 'लहर', 'कल्पना', 'नयी-घारा' ग्रादि पत्रिकार्यों ने भी इसके विकास में पर्याप्त योग दिया है। वस्तुतः हिन्दी-समीक्षा ग्राज प्रत्येक दृष्टि से प्रौढ़ है। फिर भी यह एक कटु सत्य है कि हिन्दी के ग्रालोचक या तो प्राचीन संस्कृत काव्य-शास्त्र के तत्त्वों का उपयोग करते रहे हैं या पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों, मूल्यों एवं विचारों से प्रभावित रहे हैं। तथाकथित नये समीक्षक प्रायः पाश्चात्य समीक्षा की नूतन प्रवृत्तियों के ही श्रनुयायी दृष्टिगोचर होते हैं। प्रश्न है—हिन्दी का ग्रालोचक कोई नया दृष्टिकोण, विचार या सिद्धान्त क्यों नहीं दे पाता? उसकी दृष्टि एवं पद्धित दोनों ही उघार ली हुई क्यों है? कदाचित् यह हमारी मानसिक गुलामो का परिचायक है। फिर भी नूतन सिद्धान्तों का सर्वथा ग्रभाव भी नहीं है। ग्राष्ट्रीनिक सौन्दर्य शास्त्र एवं मनोविज्ञान के ग्राघार पर 'ग्राकर्षण शक्ति सिद्धान्त' एवं 'साहित्य के विकासवादी सूत्रों' की स्थापना मौलिक रूप में हुई है, जो केवल हिन्दी की ग्रपना उपलब्धि है, यह दूसरी बात है कि ग्राज भी हम ग्रपनी मौलिक उपलब्धियों की ग्रपेक्षा पश्चिम की ग्रनुकृतियों का ग्रिषक ग्रादर करते हैं। ग्राष्ट्रा है कि भविष्य में यह स्थित नहीं रहेगी।

हिन्दी साहित्य: प्रमुख वाद एवं प्रवृत्तियाँ

ः इकतालीसः

रहस्यवाद ऋौर हिन्दी काव्य

- १. 'रहस्य' का ग्रर्थ।
- २. रहस्यवाद की परिभाषाएँ।
- ३. रहस्यवाद के प्रमुख लक्षण।
- ४. रहस्यवाद के भेदोपभेद।
- ५. रहस्यवाद की विभिन्न ग्रवस्थाएँ।
- ६. भारतीय साहित्य में रहस्यवाद का विकास।
- ७. हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादी कवि—(क) कबीर, (ख) जायसी, (ग) प्रसाद, (घ) निराला, (ङ) पंत, (च) महादेवी।
- दहस्यवाद की सामान्य प्रवृत्तियाँ।
- ६. उपसंहार।

'रहस्य' का ग्रर्थ है-छिपी हुई वात, ग्रतः रहस्यवाद का ग्रर्थ हुग्रा, वह वाद (विचार-धारा) जिसका मूलाधार छिपा हुम्रा है, म्रज्ञात है। विश्व का सबसे वड़ा रहस्य वह परम तत्त्व या परमेश्वर है, जिसने इस विश्व का निर्माण किया, जो इसके पालन-पोषण एवं संहार में प्रवृत्त है तथा जिसे जानने, देखने व प्राप्त करने का प्रयत्न सह-स्नाब्दियों से ग्रसंख्य दार्शनिक, साधक, भक्त एवं महात्मा-गण करते ग्रा रहे हैं, किन्तु फिर भी वह भ्रज्ञेय है, भ्रदृश्य है भ्रौर भ्रगम्य है। रहस्यवाद का सम्बन्ध विश्व की इसी रहस्यमयी शक्ति से है। जब मानव-भ्रात्मा उस शक्ति तक पहुँचने का प्रयास करती हुई विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों प्राप्त करती है और उन्हें भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर देती है तो एक ऐसे भाव-समूह का संचयन हो जाता है, जिसे साहित्यिक शब्दावली में 'रहस्यवाद' कहते हैं। इस 'रहस्यवाद' को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाग्रों के प्रकाश की रंग-बिरंगी किरणें विकीर्ण की हैं, जिनसे रहस्यवाद चाहे द्योतित हो पाता हो या नहीं, किन्तु पाठकों की दृष्टि में चकाचौंघ अवश्य उत्पन्न हो जाती है। यह दोष विद्वानों का नहीं, स्वयं रहस्यवाद का ही है, श्रौर तो श्रौर स्वयं रहस्यवादी भी इसे स्पष्ट करने में सफल नहीं हुए हैं। जिस कवीर ने श्रपनी वाणी के तीखे एवं नुकीले वाणों से काशी के पण्डितों को वाग्युद्ध में परास्त कर दिया था, वही जब रहस्य की व्याख्या में प्रवृत्त होता है तो एक भोले शिशु की भाँति तुतलाने लगता है, वह 'रहस्य-शक्ति' को—'किहबे कूँ शोभा नहीं, देख्या ही परमाण' कहकर, 'रहस्य-गाथा' को 'ग्रकथ कहानी प्रेम की' बताकर श्रीर रहस्यानुभूति को 'गूँगे का गुड़' मानकर मौन हो जाता है। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

भ्राघुनिक युग के रहस्यवादी (या रहस्यवादी कहे जाने वाले) कवियों ने भी या तो रहस्यवाद की व्याख्या करने में ग्रपनी ग्रसमर्थता प्रकट की है और यदि उन्होंने ऐसा करने का प्रयत्न भी किया है, तो उनकी व्याख्या अपने-आपमें एक रहस्यवाद वन गई है। जहाँ प्रसाद ने "हे भ्रनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता!" (कामायनी) कहकर ग्रपनी ग्रसमर्थता स्वीकार कर ली, वहाँ महादेवी ने परिभाषा के नाम पर ऐसी कहानी खेड़ दी, जो केवल रहस्यवादियों की ही समक्त में श्रा सकती है— "जब प्रकृति की अनेकरूपता, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने एक ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया, जिसका एक छोर किसी ग्रसीम चेतन में ग्रीर दूसरा उसके ग्रसीम हृदय में समाया हुम्रा था, तब प्रकृति का एक-एक ग्रंश एक म्रलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुक्त सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते थ्रीर जब तक यह मघुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का ग्रभाव नहीं दूर होता। इसी से इस ग्रनेकरूपता के कारण पर एक मघुरतम व्यक्तित्व का भ्रारोपण कर उसके निकट भ्रात्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।" यहाँ रहस्यवाद को 'दूसरा सोपान' बताया गया है, किन्तु हमारी समक में तो यही नहीं भ्राया कि इस चक्रव्यूह का प्रथम सोपान ही कहाँ से भ्रारम्भ होता है।

कविता, नाटक, ग्रालोचना, इतिहास ग्रादि सभी में गति रखने वाले डा॰ राम-कुमार वर्मा ने भी 'रहस्यवाद' के रहस्योद्घाटन का प्रयास करते हुए लिखा है— "रहस्यवाद जीवात्मा की उस ग्रन्तानिहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य ग्रौर अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।" वह 'अन्त-निहित प्रवृत्ति' क्या है और वह 'दिव्य और अलौकिक शक्ति' से अपना सम्बन्ध क्यों जोड़ना चाहती है-इन प्रश्नों का उत्तर संभवतः इन पंक्तियों में न मिल सकेगा। हमारे श्रीर भी कई ग्रालोचकों ने इसके स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। ग्राचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखा है—''चिन्तन से क्षेत्र में जो ग्रद्धैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।" श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने 'रहस्यवाद' को 'हृदय की दिन्य अनुभूति' बताकर इसे स्पष्ट किया है तो डॉ॰ त्रिगुणायत ने 'रहस्य अनुभूतियों' से रहस्यवाद की सृष्टि बताकर श्रपनी मौलिकता का परिचय दिया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी रहस्यमयी वाणी का प्रयोग करते हुए लिखा है—"रहस्यवाद शब्द काव्य की एक घारा-विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होनेवाली उस ग्रिमिव्यक्ति की ग्रीर संकेत करता है, जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव अनुभूति के साथ सम्बद्ध रखती है।"

रहस्यवाद की उपूर्यक्त परिभाषाओं के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी वाद को समक्षते के लिए 'परि' को छोड़कर केवल 'भाषा' का ही आश्रय ग्रहण करें तो श्रधिक ग्रच्छा होगा। विल्कुल साधारण भाषा में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्य में ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा के प्रेम की व्यंजना को 'रहस्यवाद' कहते हैं।

रहस्यवाद के प्रमुख लक्षण

रहस्यवाद के तीन प्रमुख लक्षण ये हैं—(१) अद्वैतवादी विचारधारा की स्वीकृति—अर्थात् रहस्यवादी किव चाहे किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का माननेवाला क्यों न हो, किन्तु मूलतः उसे यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि आत्मा और परमात्मा अद्वैत (एक) हैं। (२) परम सत्ता से रागात्मक सम्बन्ध की अनुभूति—प्रत्येक अद्वैतवादी दार्शनिक आत्मा और परमात्मा की एकता को स्वीकार तो करता है, किन्तु उसकी भावात्मक अनुभूति भी उसे हो, यह आवश्यक नहीं, जबिक रहस्यवादी के लिए इस ऐक्य सम्बन्ध की रागात्मक अनुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। (३) भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति—हमारे कितने ही साधकों ने अपने जीवन में अद्वैत-सम्बन्ध की अनुभूति प्राप्त की है, किन्तु उन सबको हम रहस्यवादी नहीं कह सकते। अनुभूतियों का प्रकाशन हँसकर, रोकर, नाचकर या गाकर—विविध प्रकार से किया जा सकता है, किन्तु रहस्यवाद के अन्तर्गत उन्हीं अनुभूतियों का समावेश किया जाता है जो भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त की जाती हैं।

किसी भी साहित्य को 'रहस्यवादी' घोषित करने के लिए उसमें उपर्युक्त तीनों लक्षणों का मिलना श्रावश्यक है, किन्तु कई बार देखा जाता है कि इनमें से किसी एक के श्रभाव में भी रहस्यवाद की कल्पना कर ली जाती है। जैसे, कबीर की निम्नांकित पंक्तियों को रहस्यवाद के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जाता है—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी। फूटा कुम्भ जल जल ही समाना, यह तत्त कथों ग्यानी।।

यहाँ ग्रद्वैत का सिद्धान्त कोरा प्रतिपादन है—'यह तत्त कथों ग्यानी' से स्पष्ट है कि यहाँ 'तत्त्व-कथन' या 'तत्त्व का विवेचन मात्र किया गया है'। अनुभूति की तरलता इन पंक्तियों में नहीं है, ग्रतः इसमें ग्रद्वैतवाद ही है, रहस्यवाद नहीं। ग्रद्वैतवाद की ऐसी सोदाहरण व्याख्याएँ गद्य ग्रीर पद्य के ग्रनेक दार्शनिकों ग्रीर भक्तों ने की हैं, किन्तु उन सवको हम रहस्यवादी नहीं कह सकते।

इसी प्रकार तुलसी, सूर, मीरा भ्रादि भक्त-किवयों में भ्रलौकिक के प्रति प्रेम, काव्यमय व्यंजना—ये दो लक्षण तो मिलते हैं, किन्तु उनमें भ्रद्धैत की मान्यता का भ्रमाव होता है, भ्रतः उन्हें भी रहस्यवादी नहीं कह सकते। कुछ लोग मीरा के मिलन को भ्रात्मा भीर परमात्मा का मिलन समक्तकर उसे रहस्यवादी बता देते हैं, किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि सभी भक्त किवयों की भाँति मीरा अपने भ्रलौकिक प्रभु से मिलना चाहती हैं, वे उसमें मिलकर भ्रद्धैत हो जाना नहीं चाहतीं। भक्त किव भ्रपने भ्राराष्ट्य से केवल 'दर्शन' की याचना करता है—'दर्शन' के लिए 'द्रष्टा' भीर 'दृश्य'—दो की केवल 'दर्शन' की याचना करता है—'दर्शन' के लिए 'द्रष्टा' भीर 'दृश्य'—दो की

उपस्थिति ग्रनिवार्यं है, ग्रतः उनमें ग्रद्धैत भावना के विकास की सम्भावना नहीं रहती।

रहस्यवाद के भेदोपभेद

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद के कई भेद किए हैं। पाश्चात्य विद्वान् स्पर्जन ने रहस्यवाद के चार भेद बताए हैं—(१) प्रेम ग्रौर सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद, (२) दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद, (३) धर्म ग्रौर उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद ग्रौर (४) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद। इसी प्रकार रामचन्द्र शुक्त ने भी दो प्रकार के रहस्यवाद का उल्लेख किया है—(१) साधनात्मक रहस्यवाद ग्रौर (२) भावात्मक रहस्यवाद। कुछ ग्रन्य ग्रालोचकों ने एक 'साहित्यिक रहस्यवाद' की भी चर्चा की है। हमारी दृष्टि में उपर्युक्त सभी भेद ग्रप्राकृतिक ग्रौर ग्रनावश्यक हैं। रहस्यवाद में ग्रलौकिक प्रेम ग्रौर ग्रवृत दर्शन की सत्ता ग्रनिवार्य रूप से रहती है, ग्रतः प्रेम सम्बन्धी रहस्यवाद ग्रौर दर्शन सम्बन्धी रहस्यवाद—दोनों को एक दूसरे से भिन्न बताना उचित नहीं। कोरे धर्म, दर्शन या कोरी उपासना या साधना से भी रहस्यवाद की सृष्टि नहीं हो सकती, इन सबमें रागात्मकता का पुट होने पर ही रहस्यवाद का विकास हो सकता है, ग्रतः धार्मिक, दार्शनिक, उपासनात्मक या साधनात्मक भेद भी भावात्मक रहस्यवाद से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार रागात्मकता या प्रणय में ही भावात्मकता एवं साहित्यिकता का भी समावेश हो जाता है। ग्रस्तु, उपर्युक्त भेद, भेद न होकर एक ही रहस्यवाद के विभिन्न ग्रंग हैं, जो समन्वित रूप में साथ-साथ विद्यमान रहते हैं।

हाँ, रहस्यवादी किवयों के भ्रवश्य हम दो भेद कर सकते हैं। एक तो वे जो भ्रपने वास्तिवक जीवन में पूर्णतः साधक या उपासक होते हैं, जो भ्रपनी साधना के बल पर परम तत्व की भ्रनुभूति प्राप्त करते हैं भौर उसे स्वाभाविक रूप में भ्रभिव्यक्त कर देते हैं। दूसरे वे हैं जो प्रत्यक्ष जीवन में तो सांसारिकता में मग्न होते हैं, किन्तु विश्राम की कुछ घड़ियों में कल्पना या चितन के बल पर रहस्यवाद की सृष्टि कर लेते हैं। कुछ किव भ्रपने लौकिक प्रेम को भी भ्रलौकिकता का भ्रावरण डालकर व्यक्त करते हैं, भ्रतः ये भी दूसरी कोटि में भ्राते हैं। इन दोनों प्रकार के किवयों को क्रमशः यथार्थ रहस्यवादी भीर काल्पनिक रहस्यवादी कहा जा सकता है। प्राचीन संत किव—कबीर, दाह भ्रादि यथार्थ रहस्यवादी थे, जब कि प्रसाद, पंत, निराला भ्रादि काल्पनिक रहस्यवादी। सच्चे रहस्यवादी जीवन के भ्रन्त तक रहस्यवादी रहते हैं, किन्तु काल्पनिक रहस्यवादिता का रंग समय के साथ फीका पड़ जाता है।

रहस्यवाद की विभिन्न ग्रवस्थाएँ

कोई भी रहस्यवादी ध्रपने लक्ष्य तक एकाएक नहीं पहुँच जाता। पहले उसे ईश्वर की सत्ता का विश्वास व ध्राभास होता है, तदनन्तर वह उसकी घ्रोर घ्राकित होता है। घीरे-घीरे यह ध्राकर्षण विरह का रूप धारण कर लेता है ग्रौर ग्रंत में साधक को ग्रद्धैत स्थिति—मिलिने काश्रमुक्ष्य अन्नांति हीता है। प्रवस्था तो घ्यान में रखते हुए रहस्यवाद की मुख्यतः चार अवस्थाएँ निर्धारित की जा सकती हैं। पहली अवस्था में साधक की परम सत्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वह प्रकृति और जगत् के रूप-सौन्दर्य एवं क्रिया-व्यापारों के मूल में छिपी हुई किसी अलौकिक शक्ति को जानने का प्रयत्न करने लगता है। दूसरी अवस्था में आत्म-चिंतन, दर्शन-शास्त्रों के अध्ययन या गुरु के उपदेश से उसका परम सत्ता तथा उससे आत्मा के अद्वैत सम्बन्ध में दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर वह परमात्मा के प्रति गहरे आकर्षण, प्रेम व विरह का अनुभव करने लगता है, जिसे तीसरी अवस्था कह सकते हैं। चौथी अवस्था में रहस्यवादी परम-तत्व का साक्षात्कार अपने हृदय में करने लगता है। इस प्रकार ये चार अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं, किन्तु ध्यान रहे, अवस्थाओं के इस वर्गीकरण को सर्वथा अपरिवर्तनीय नहीं समक्षना चाहिए। प्रत्येक कि की व्यक्तिगत परिस्थित के कारण इनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन भी हो सकता है और यह भी सम्भव है कि वह एक अवस्था को पार किए विना ही दूसरी अवस्था प्राप्त कर ले। उदाहरण के लिए, हम कवीर में प्रथम अवस्था—जिज्ञासा की स्थित का आभास नहीं पाते; गुरु के उपदेश से उनकी साधना का आरम्भ ही दृढ़ आस्तिकता से होता है।

भारतीय साहित्य में रहस्यवाद का विकास

यद्यपि रहस्यवाद का पूर्ण रूप बहुत बाद में विकसित हुग्रा है, किन्तु उसके कुछ तत्त्व हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ—ऋग्वेद में भी उपलब्ध हो जाते हैं। रहस्यवाद की मूल वृत्ति—जिज्ञासा का विकास प्राचीन वैदिक ऋचा में भी उसी प्रकार मिलता है, जैसा कि भ्राज के युग में सम्भव है। सृष्टि की लीला से चमत्कृत होकर वह पूछ बैठता है—

"को श्रद्धावेद ! क इह प्रवोचत्; कुत श्राजाता, कुत इयं विसृष्टिः ? श्रवीग्देवा श्रस्य विसर्जनेनाथा, को वेद यत श्रावभूव ! इयं विसृष्टियंत श्रावभूव, यदि वा दधे यदि वा न । यो श्रस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सो अंग वेद व्यदि वा न वेद।

(ऋग्वेद १०।१२६।६-७)

ग्रथीत्—कौन ठीक-ठीक जानता है ? कौन यह सच-सच बता सकता है कि इस सृष्टि का उद्भव कहाँ हुग्रा, कैसे हुग्रा, ग्रौर कव हुग्रा ! सृष्टि का निर्माण स्वतः ही हुग्रा या किसी ने किया ! यह सव कुछ वह ग्रन्तरिक्षवासी ही जानता है या वह भी जानता है या नहीं—किसे पता !

यहाँ हमें प्रारम्भिक जिज्ञासा ही मिलती है, किन्तु ग्रागे चलकर उपनिषद् ग्रंथों में हमें उस ग्रद्धैत का प्रतिपादन मिलता है, जो रहस्यवाद का मूलाधार है। छांदोग्य उपनिषद् में ग्रात्मा ग्रीर परमात्मा की एकता को व्यक्त करते हुए कहा गया है— "तत्सत्यं स ग्रात्मा तत्वमिस" (वह सत्य है, वह ग्रात्मा है, वह तू है!) एक ग्रन्य उपनिषद् में लिखा है— "ग्रन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (वह ग्रन्य है, मैं ग्रन्य हूँ— जो यह जानता है हि कुक्क वन्हीं जानता!) वस्तुतः उपनिषदों में ग्रद्धैत ज्ञान का

पूर्ण विकास मिलता है, किन्तु उसकी वह काव्यमय भ्रनुभूति नहीं मिलती, जिसे रहस्य-

परवर्ती धार्मिक साहित्य में क्रमशः बौद्धिकता के स्थान पर भावात्मकता का विकास हुम्रा जिसके फलस्वरूप ज्ञान का स्थान भक्ति ने ले लिया। भक्ति-सूत्र म्रौर पौराणिक ग्रंथों में म्रलौकिक सत्ता के प्रति प्रेम-भावना का तो विकास हुम्रा, किन्तू रहस्यवाद का मूलाधार—ग्रद्वैत विचार ही लुप्त हो गया । भक्ति के लिए एक का महत् ग्रीर दूसरे का लघु होना ग्रावश्यक है ग्रतः ऐसी स्थिति में उपनिषदों की ग्रहैत मूलक चिन्तन धारा का प्रचार शिथिल हो जाना स्वाभाविक था । ग्राठवीं-नवीं शती में शंकरा-चार्य ने पुनः भ्रद्वैतवाद का उद्घार किया, किन्तु परवर्ती भ्राचार्यों ने विशिष्टाद्वैत, द्वैता-दैत, शुद्धादैत म्रादि का म्राविष्कार करके भ्रदैतवाद का मार्ग भ्रवरुद्ध कर दिया। म्रतः शुद्ध भारतीय-परम्परा में पन्द्रहवीं शती तक ग्रद्वैतवाद उस स्थिति तक नहीं पहुँच सका जिससे वह रहस्य का रूप धारण कर पाता । इस सम्बन्ध में प्रायः सिद्धों एवं नाथपंथियों का उल्लेख किया जाता है, किन्तु हमारी दृष्टि में दोनों ही रहस्य से शून्य हैं। सिद्धों की साधना-पद्धति में कुछ रहस्य ग्रवश्य था; नारी या साधिका के स्थूल शरीर को ही वे अपनी साधना का सबसे बड़ा साधन समभते थे; उनमें अद्वैतावस्था भी मिलती है, किन्तु वह पुरुष और नारी की शारीरिक भ्रद्वैतावस्था है, भ्रात्मा भौर परमात्मा से उसका कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता; ग्रतः उसे 'रहस्यवाद' नहीं 'भुक्तिवाद' करना चाहिए। नाथ-पंथियों में अवश्य आध्यात्मिक एकता का निदर्शन हुआ है, किन्तु उनकी इस एकता का साघन भावना न होकर योग-साघना है। भावात्मक अनुभूति के बिना किसी भी प्रद्वैत साधना को रहस्यवाद का नाम नहीं दिया जा सकता।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती में भारतीय संतों द्वारा रहस्यवाद का प्रवर्तन मुख्यतः दो धार्मिक सम्प्रदायों के योग से हुग्रा—एक था नाथ-पन्थी सम्प्रदाय ग्रौर दूसरा वैष्णव-भक्ति सम्प्रदाय । संत लोग एक तो नाथ-पंथियों के निर्गुण की उपासना स्वीकार करते थे, किन्तु हठ योग की साधना-पद्धित से बचना चाहते थे, दूसरी ग्रोर वे भक्ति-ग्रान्दोलन की भावात्मकता को ग्रहण करना चाहते थे, पर उसके सगुणवाद से दूर रहे । इस प्रकार नाथ-पन्थियों का निर्गुण वैष्णव-भक्ति के भक्तिभाव से मिश्रित होकर रहस्यवाद का ग्राधार वन गया । नामदेव, कवीर, दादू ग्रादि संतों में हमें यही रूप दृष्टिगोचर होता है । हमारे ग्रनेक विद्वानों की मान्यता है कि संतों का रहस्यवाद सूफी मत का प्रभाव है, किन्तु इसका कोई प्रमाण ग्रभी तक उपलब्ध नहीं हुग्रा । नामदेव ग्रौर कबीर ने नाथ-पन्थ के प्रायः सभी पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण किया है, तथा वैष्णव-भक्ति ग्रान्दोलन के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की है, किन्तु सूफी मत के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं मिलती । हाँ, कहीं-कहीं सूफी मत का खण्डन करने के लिए उसकी चर्चा ग्रवश्य की है, जिसका कोई महत्व नहीं है । ग्रपनी प्रणय-विह्वल ग्रवस्था में कबीर सर्वत्र हिर, गोविंद राम ग्रादि का ही उच्चारण करते हैं, यद्यि वे उन्हें सगुण ग्रथं में ग्रहण नहीं करते । इसके ग्रितिरक्त संतों की प्रणय भावना के स्वरूप में भी सुफियों की मावना से गहरा ग्रन्तर है । सूफी परमारिमि की प्रयय भावना के स्वरूप में भी सुफियों की मावना से गहरा ग्रन्तर है । सूफी परमारिमि की प्रयय भावना के स्वरूप में भी सुफियों की मावना से गहरा ग्रन्तर है । सूफी परमारिमि की प्रयय भावना के स्वरूप में भी सुफियों की मावना से गहरा ग्रन्तर है । सूफी परमारिमि की प्रयय भावना के स्वरूप में भी सुफियों की मावना से गहरा

रूप में स्वीकार करते हैं। सूफी मार्गानुयायियों की विरह-व्यंजना में मार-काट, हृदय के घाव, रक्त के ग्राँसुग्रों ग्रादि की चर्चा के कारण वीभत्सता मिलती है, जिसका भारतीय संतों में ग्रभाव है। दार्शनिक दृष्टि से भी सूफी मत के मूल में सर्वात्मवाद है, जबकि संतों की भावना ग्रहैतवाद पर ग्राश्रित है। संतों ने सूफियों के शैतान को न लेकर वेदान्त के मायावाद को ग्रहण किया है। ग्रतः जहाँ तक दार्शनिक मान्यताग्रों, प्रेमपद्धित, रूपकों एवं प्रतीकों का प्रयोग ग्रौर भाषा एवं शब्दावली के क्षेत्र की वात है, संतों का रहस्यवाद सूफी मत से सम्वन्धित नहीं है। वाकी जहाँ तक कोरी कल्पना पर ग्राधारित मान्यताग्रों की वात है, सूफी मत से प्रभावित होने की तो वात ही क्या, कवीर, दादू ग्रादि को सूफी ही मान लिया जाय तो कोई ग्राश्चर्य नहीं।

हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादी कवि

वैसे तो हिन्दी साहित्य में विद्यापित, कवीर, जायसी, तुलसी, मीरा, मैथिली-शरण गुप्त, राय कृष्णदास, जयशंकर प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा ग्रादि कवियों की कृतियों में किसी-न-किसी परिमाण में रहस्यवादी पंक्तियाँ ढूँढ़ निकाली गई हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि विद्यापित, तुलसी, मीरा, गुप्त को रहस्यवादी कहना ग्रमुचित है। हिन्दी के प्रमुख रहस्यवादियों में सामान्यतः कबीर, जायसी, प्रसाद, निराला, पंत ग्रीर महादेवी की ही चर्चा की जाती है, ग्रतः हम इन पर ही विचार करेंगे।

हिन्दी के प्रथम रहस्यवादी किव होने का गौरव महात्मा कवीर को प्राप्त है। यद्यपि उनकी काव्य-धारा पर 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी' का लेबिल लगाकर यह आन्ति उत्पन्न कर दी गई है कि वे ज्ञानमार्गी थे, जबिक वास्तव में वे प्रेम-मार्ग के दृढ़ पथिक थे। प्रेम के समक्ष ज्ञान की हेयता का प्रतिपादन उन्होंने वारम्बार किया है—'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ें सो पंडित होय!' प्रेम को जीवन में वे इतना अधिक महत्व प्रदान करते हैं कि उसकी तुलना में प्राणों का भी कोई मूल्य नहीं—

सीस काटि पासंग दिया जीव सर भरि लीन्ह। जाहि भावे सो म्राइल्यो, प्रेम हाट हम कीन्ह।।

किन्तु कवीर का यह प्रेम ग्रलीकिक प्रेम था—ग्रात्मा ग्रीर परमात्मा का ग्रहैत-मूलक प्रेम था, जिसे रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। इस प्रेम के दोनों पक्ष—विरह ग्रीर मिलन—उनके काव्य में मिलते हैं। पहले विरह दशा की व्यंजना देखिए—

ग्राइ न सकौं तुभ पै, सकूँ न तुज्भ बुलाइ। जियरा यों ही लेहुगे विरह तपाइ-तपाइ।।

इन पंक्तियों में वियोग-वेदना की तीव्रतम ग्रवस्था का ग्रनुभव भलकता है। कबीर जैसा ग्रवखड़ साघु भी प्रणय की तीखी चोट से घायल होकर किसी विरह-विधुरा बाला की भाँति दीन, ग्रसहाय भीर व्याकुल हो उठता है। उनकी ग्रात्मा जल-वियुक्त मछली की भाँति तड़पने लगती है, किन्तु ग्रन्त में उन मिलन की घड़ियों का भी प्रवेश होता है, जब कि किसी ग्रज्ञात-यौवना मुग्धा की भाँति उनकी ग्रात्मा सोचने लगती है—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग। क्या जाणों उस पीव सूं कैसा रहसी रंग।।

ग्रीर ग्रन्त में उन्हें परम सत्ता का साक्षात्कार हो जाता है, उनकी ग्रात्मा इस ग्रवसर पर ग्राह्मादित होकर नाच उठती है, भूम उठती है :—

कहें कबीर में कछू न कीन्हां। सखी सुहाग राम मोंहि दीन्हा।।

मिलन की इन मघुरतम घड़ियों का भ्राख्यान उन्होंने शत-शत शब्दों में किया है, किन्तु फिर भी उन्हें विश्वास नहीं होता कि भ्रपने हृदयस्थ उल्लास को व्यक्त करने में सफल हो सके हैं। रहस्यानुभूति के भ्रास्वादन के सम्बन्ध में उन्हें भ्रन्ततः यही स्वीकार करना पड़ता है कि वह बताने की या बता सकने की बात नहीं है। वह तो गूँगे के गुड़ का स्वाद है।

कुछ ग्रालोचकों ने कबीर के रहस्यवादी रूप का मूल्यांकन करते हुए उसे यौगिक गव्दावली, खण्डन-मण्डन, जिटलता, दुरूहता ग्रादि से ग्रसित बताया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर साहित्य में कुछ ग्रंश ऐसे भी हैं, जिन पर ये ग्राक्षेप लागू होते हैं, विशेषतः जहाँ उन्होंने ग्रपने विचारों का प्रतिपादन किया है, वहाँ ऐसा हो गया है, किन्तु रहस्यानुमूति सम्बन्धी पंक्तियाँ इन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं। विरह-वेदना से त्रस्त कबीर खण्डन-मण्डन, नाथ-पंथ ग्रीर योग इस सबको भूल गए हैं, मिलन की बेला में भी उनकी ग्रात्मा केवल उस ग्रलौकिक प्रियतम से ही बातचीत करने में लीन है। इस क्षेत्र में हमें किसी भी प्रकार की ग्रस्पष्टता या जिटलता नहीं मिलती। किसी किन का मूल्यांकन करते समय उसके ग्रनुभूति-पक्ष को लेना चाहिए, न कि विचार-पक्ष को। वस्तुतः रहस्य-वादी के रूप में कबीर की महानता ग्रसंदिग्ध है, ग्रतुल्य है।

जायसी के 'पद्मावत' की प्रालीचकी ने सूफी रहस्यवाद से सम्बन्धित करते हुए

रत्नसेन को ग्रात्मा का तथा पद्मावती को परमात्मा का प्रतीक वताया है-किन्तु यह ठीक नहीं । जायसी ने कुंजी स्वयं दी है, उसके अनुसार रत्नसेन 'मन' पद्मावती 'बुघि' श्रीर नागमती 'दुनिया, घन्धा' है—'तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल वुद्धि पिंदानी चीन्हा ।....नागमती दुनिया धन्धा ।' यह भी ग्राश्चर्य की बात है कि नागमती (जो कि दुनिया-धन्धा है) को उक्तियों में रहस्यवाद की श्रभिव्यक्ति ढूँढी गई है। वस्तुतः पद्मावत पर सूफी मत को वलात् ग्रारोपित किया गया है, जिसके फलस्वरूप इसके रूपक में अनेक असंगतियाँ दृष्टिगोचर होनी स्वाभाविक हैं। जब इन असंगतियों का निराकरण नहीं हो सका, तो श्रव यह कहा जाने लगा है कि 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाला ग्रंश ही प्रक्षिप्त है। वास्तव में रूपक में कोई ग्रसंगति नहीं, इसकी पूरी व्याख्या हम ग्रपने शोध-प्रवन्ध (हिन्दी-काव्य में श्रृंगार-परम्परा ग्रौर महाकवि बिहारी) में कर चुके हैं। हम ग्रपने ग्रनुसंघान से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पद्मावत का सूफीमत से कोई सम्बन्ध नहीं है। जायसी ने ग्रपने रूपक में मन (रत्नसेन) का पहले गुरु (तोता) की सहायता से बुद्धि या ज्ञान (पिंद्यनी) को उपलब्ध करना, तथा फिर ज्ञान की सहायता से शैतान की माया के जाल (म्रलाउद्दीन का जाल) को काटकर मोक्ष प्राप्त करने (वन्धन-मोक्ष ग्रध्याय) का प्रतिपादन किया है। इस रूपक में प्रेम का कोई उल्लेख नहीं है, यह विशुद्ध ज्ञान-साधना से सम्बन्ध रखता है। ग्रतः हमारी दृष्टि में 'पद्मावतकार' को रहस्यवादी बताना भ्रान्ति मात्र है। नागमती की विरह-व्यंजना में जिस ढंग से रहस्यवाद सिद्ध किया जाता है, उस ढङ्ग से विद्यापित एवं सूर की गोपिकाग्रों, तथा देव, विहारी, पद्माकर की नायिकाओं की उक्तियों में भी सिद्ध किया जा सकता है ग्रौर उस स्थिति में इन सभी कवियों को रहस्यवादी स्वीकार करना होगा। श्रस्तु, इस संबंध में यहाँ श्रधिक चर्चा करना ग्रनावश्यक है।

म्राघुनिक युगीन रहस्यवादी कवियों में श्री जयशंकर प्रसाद सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं। जैसा कि हमने 'छायावाद' लेख में वताया है—सभी छायावादी कवियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति गौण रूप में मिलती है। इनका रहस्यवाद वास्तविक न होकर काल्पनिक है अर्थात् इन्होंने अपनी लौकिक अनुभूतियों को अलौकिक रूप में व्यक्त किया है, जिस प्रकार कवीर ने ग्रलौकिक प्रणय को लौकिक रूपकों में स्पष्ट किया या। इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण यह है कि जिन रचनाग्रों—प्रेम-पथिक, ग्रांसू म्रादि—में प्रसाद ने पहले लौकिक प्रेम की व्यंजना की थी उन्हें ही दूसरे संस्करण में ग्रलीकिकता से ग्रावृत कर दिया । खैर, विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रेम चाहे लौकिक हो या धलौकिक इसमें विशेष ग्रन्तर नहीं है; कला के लिए दोनों का मूल्य समान है, यदि प्रभाव की दृष्टि से दोनों का स्तर समान हो ? ग्रतः देखना यह है कि प्रसाद ग्रपने इस ग्रलौकिक प्रेम को (चाहे वह काल्पनिक ही हो) कितना भ्रनुभूतिगम्य बना सके हैं, उसमें हृदय को स्पर्श करने की शक्ति कितनी है। कहना न होगा कि इस दृष्टि से प्रसाद श्रिष्ठिक सफल नहीं हैं। वे लौकिक श्रौर ग्रलौकिक के बीच ही इस भांति उलके रहे कि वे किसी भी एक को चरमोत्कर्ष तक नहीं पहुँचा सके । 'प्रेम-पथिक', 'ग्राँसू', 'ऋरना' ग्रौर लहर' के गीतों की लौकिकता पर भ्रलोकिकता का भीना भ्रावरण पड़ा रहता है, दूसरो भ्रोर भ्रलोकिकता CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

भी अनुभूतियों के अभाव में भावात्मकता से युक्त नहीं हो पाई । प्रायः वे प्रभु के प्रति 'श्रात्म-निवेदन' करते ही दिखाई पड़ते हैं—

"हम हों सुमन की सेज पर या कंटकों की श्राड़ में। पर प्राणधन ! तुम छिपे रहना, इस हृदय की श्राड़ में॥"

एक सच्चे रहस्यवादी को ऐसी याचना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अद्वैतवादी के लिए परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है, अतः हृदय की आड़ में छिपे रहने के लिए प्रार्थना करना अनावश्यक है। वह तो सदैव छिपा हुआ है ही—हमारे अनुराग में ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि उसे अनुभव कर सकें।

'लहर' में भ्रवश्य कवि एक गीत में भक्ति-भावना से थोड़ा ऊपर उठ पाया है-

क्यों जीवन-धन ! ऐसा ही है, न्याय तुम्हारा क्या सर्वत्र ? लिखते हुए लेखनी हिलती, कॅपता जाता है यह पत्र ! औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुक्तको दुःख नहीं ! जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं !

× × ×

कुछ भी न दो अपना ही जो मुक्ते बना लो, यही करो।

इन पंक्तियों में 'लौकिक प्रेम' का आभास ही अधिक मिलता है; रहस्यवाद के लिए आवश्यक अद्वैत स्थिति का अनुभव इनमें नहीं है। 'श्रौरों के प्रति प्रेम' की चर्चा करने की रहस्यवादी को क्या आवश्यकता पड़ गई?

'कामायनी' में भी रहस्यवाद, समरसतावाद, श्रद्धावाद, श्रानन्दवाद श्रादि-श्रादि अनेक वाद एकत्रित हो गए हैं, अतः पर्याप्त स्थान के अभाव में सबको संकुचित होकर बैठना पड़ा है। निम्नांकित पंक्तियों में आत्मा और परमात्मा की एकता देखी जा सकती है—

हम अन्य न भ्रौर कुटुम्बी, हम केवल एक हमीं हैं ! तुम सब मेरे भ्रवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है।

घ्यान रहे, यहाँ श्रात्माओं को परमात्मा का अवयव ही वताया गया है—यह घारणा अद्वेतवाद की अपेक्षा विशिष्टाद्वेतवाद के अंशांशी-भाव के अधिक निकट पड़ती है। अतः हमारी दृष्टि में प्रसाद के काव्य में आत्मा और परमात्मा की एकता पर आघारित रहस्यवाद कम है, लौकिक और अलौकिक प्रेम के मिश्रण की अस्पष्टता से उद्भूत रहस्यवाद अधिक है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने रहस्यवाद के क्षेत्र में भ्रवतीर्ण होने से पूर्व ग्रहैतवादी दर्शन का गहरा मन्थन कर लिया था, भ्रतः उसका प्रतिपादन इन्होंने भ्रनेक स्थानों पर किया है—

> "व्यष्टि ग्रीर समष्टि में नहीं है भेद भेद आ जाता भ्रम, माया जिसे कहते हैं! जिस प्रकाश Janga नाम aसे Math Collection, Varanasi.

सौर ब्रह्माण्ड को उद्भासमान देखते हो, उससे नहीं वंचित है एक भी मनुष्य भाई !"

यहाँ अद्वैत मत की व्याख्या की गई है, उसकी अनुभूति का यहाँ अभाव है, अतः यह रहस्यवाद की पूर्व अवस्था मात्र ही है। आगे चलकर उनमें रहस्य-भावना का विकास भी दृष्टिगोचर होता है। "तुम तुंग हिमालय श्रुङ्ग, मैं चंचल-गित सुरसरिता" कहकर वे अलौकिक के साथ अपना निकट सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। उनके मस्तिष्क की दार्शिनिकता, हृदय की वेदना और जीवन की अस्त-व्यस्तता ने मिलकर निराला के रहस्य-वादी स्वरों को और भी अधिक तीव्रता प्रदान कर दी। उनके स्वरों की शुष्कता, कठोरता एवं जटिलता के वीच स्पष्ट कोमल मधुरता का उन्मेष हो उठा। नीचे की पंक्तियों में उनका हृदयस्पर्शी उल्लास द्रष्टव्य है—

हमें जाना जग के उस पार जहाँ नयनों से नयन मिलें, ज्योति के स्वरूप सहस्र खिलें सदा ही बहती नव रस धार ! वहीं जाना इस जग के पार !!

इसमें संदेह नहीं कि यहाँ किव की रहस्य-पथ पर अग्रसर होने की लालसा भली भाँति व्यक्त हुई है। उनकी यह लालसा कहाँ तक पूरी हुई है। इसका कोई पता नहीं चलता। सुना है कि ग्रागे चलकर उन्होंने श्रपना मार्ग वदल लिया, जिससे रहस्यवाद के स्थान पर किसी ग्रन्थ वाद में पहुँच गए।

प्रकृति के सुकुमार कवि पन्त की रहस्यभावना उनके कोमल व्यक्तित्व की देन है। जन-सम्पर्क से दूर रहकर प्रकृति माँ की गोद में मुँह छुपानेवाली भोली वालिका का किसी काल्पनिक लोक की भ्रोर ग्राकिषत हो जाना स्वाभाविक था। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो ग्रज्ञात लोक में बैठा हुग्रा कोई श्रपरिचित उसे ग्रामन्त्रित कर रहा है—

''स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार चिकत रहता शिशु सा नादान विश्व के पलकों पर सुकुमार विचरते हैं जब स्वप्न ग्रजान ! न जाने नक्षत्रों से कौन ? निमन्त्रण देता मुक्तको मौन !!

किन उस अज्ञात-लोक की तैयारी करने लगा, किन्तु 'पल्लव' की प्रकृति ने उसे जाने को आज्ञा नहीं दी और जब आगे उसे ऐसा करने का मौका मिला तो वह 'गुंजन' के मधुर स्वप्नों में लीन होकर किसी 'भावी पत्नी की प्रतीक्षा' में डूब गया; और जब उसकी चेतना पुनः लौटी तो उसे पता चला कि पिछले युग का—जिसमें कि वह अज्ञात लोक की वातें सोचा करता था—जब अन्त हो चुका है। अतः 'युग-वाणी' में प्रवाहित होता हुआ रहस्य-लोक के स्थान पर गाँव की दुनिया—'ग्राम्या—में पहुँच गया। पन्त के रहस्यवादी जीवन की यही है छोटी-सी गाथा, जो 'वीणा', 'पल्लव' और 'गुंजन' में बिखरी पडी है।

रहस्यवाद के पथ पर एकांत पथिक की भाँति निरन्तर अग्रसर होनेवाली कवियत्री हिन्दी को महादेवी के रूप में प्राप्त हुई है। यद्यपि उनका अधिकांश जीवन ग्रघ्यापन-कार्य में बीतता है, जिससे वे साहित्य-साधना के लिए रात-दिन के चौबीस

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

घंटो में से कुछ ही क्षण निकल पाती हैं, किन्तु फिर भी वे एक युग से एक ही क्षेत्र में अखंड साधना कर रही हैं—यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं। महादेवी में नारी-हृदय की सहज करुणा, उपनिषदों का अद्वैत-ज्ञान, एकाकी जीवन की अनुभूति और सांसारिक वेदनाओं का अनुभव आदि सभी कुछ है, अतः वे रहस्य-गीतियों की सृष्टि में सफल हो सकी हैं। उनकी रहस्यानुभूतियों का आरम्भ उस दिन से होता है जब—

इन ललचाई पलकों पर जब पहरा था वीडा का ! साम्राज्य मुभे दे डाला, उस चितवन ने पोड़ा का !!

गई वह श्रघरों की मुस्कान मुक्ते मधुमय पीड़ा में बोर ! गए तब से कितने युग बीत, हुए कितने दीपक निर्वाण !!

प्रस्तु, यह इतिहास बहुत लम्बा है। इस लम्बी ध्रविध में उन्होंने कितनी वार दीपक जलाए, कितनी वार उनमें स्नेह उँडेला और फिर कितनी बार उन्हें बुक्ता देने के लिए विवश हुई हैं, इसे कोई नहीं जानता। बीच-बीच में कई ऐसे ध्रवसर भी ध्राए हैं जबकि उन्हें ध्रनुभव हुआ कि उनका चिर-प्रतीक्षित बहुत समीप था गया है, उसके दर्शन थव होनेवाले हो हैं, किन्तु दीपक के प्रकाश में वे साक्षात्कार करना पसंद नहीं करतीं। वैसे देखा जाय तो प्रथम बार भेंट में ऐसा संकोच होना प्रत्येक नारी के लिए स्वाभाविक भी है। अतः वे अपने दीपक को ही नहीं, सभी प्रकाश-पुंज को वुक्ता देती हैं—

हे नभ को दोपावलियो ! तुम पल भर को बुक्त जाना ! मेरे प्रियतम को भाता है, तम के परदे में भ्राता !

स्वयं देवीजी को ही नहीं, उनके प्रियतम को भी ग्रंधेरा पसंद है। श्रालोचकों ने इस ग्रंधकार-स्नेही प्रियतम को पक्षी-विशेष की उपमा दी है—हमारी दृष्टि में ऐसा करना उचित नहीं है।

महादेवीजी ने विरह का भी वर्णन किया है, किन्तु उसमें एक विचित्रता मिलती है। जहाँ कबीर विरह की चोट से घायल हो जाते हैं, वहाँ ये उसमें माधुर्य की ग्रनुभूति प्राप्त करती हैं—

विरह का दुःख ग्राज दीखा मिलन के मधु पल सरीखा ! दुःख सुख में कौन तीखा, में न जानी ग्री न सीखा !!

विरह श्रौर मिलन का भेद कवियत्री नहीं कर सकती, यह एक विचित्र बात है। जो कहता है कि मैं रात-दिन में कई अन्तर नहीं देखता—समभना चाहिए कि कुछ भी नहीं देखता। ठीक उसी प्रकार जिन्हें विरह श्रौर मिलन की अनुभूति में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता, समभना चाहिए कि उन्हें किसी की भी अनुभूति नहीं है। अन्यथा कवीर ने कहा था—"मारणहारा जाँणि है, कै जिहि लागी सोइ" ठीक ही है। जिन्हें विरह की चोट लगी ही नहीं है, वह उसका अन्तर कैसे जान सकते हैं।

वस्तुतः महादेवीजी का रहस्यवाद मंद-मंद गति से ग्रागे बढ़ रहा है; भले ही वे ग्राधिक प्रगति न कर सकीं, किन्तु इससे हिंदी रहस्यवाद का क्षेत्र बिल्कुल सूना होने CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

से तो बचा हुआ ही है। उनके दीप का प्रकाश चाहे मंद ही हो, फिर भी वे अपनी साधना में लीन तो हैं-यह कम महत्व की वात नहीं है।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

38

उपर्युक्त ग्रच्ययन के ग्राधार पर हिंदी के रहस्यवादी काव्य की निम्नांकित प्रवित्तयाँ निर्घारित की जा सकती हैं :--

(१) श्रद्धेतवादी मान्यता-यद्यपि रहस्यवाद से सम्बन्ध रखनेवाले कई दार्शनिक सम्प्रदाय हैं-जैसे सूफियों का सर्वात्मवाद, प्लेटो का प्रतिविम्ववाद, अंग्रेजी के कवियों का प्रकृति-दर्शन ग्रादि-किन्तु हिन्दी के रहस्यवादी मुख्यतः ग्रद्वैत-दर्शन से ही सम्बन्धित हैं।

(२) दाम्पत्य-प्रेम-पद्धति—रहस्यानुभूति की ग्रिभव्यक्ति के लिए प्रेयसी-प्रियतम, सखी-सखा म्रादि विभिन्न रूपक ग्रपनाए जाते हैं। हिन्दी में कवीर से लेकर महादेवी तक-प्रायः सभी ने ग्रलौकिक प्रभु को पति रूप में स्वीकार करते हुए ग्रपनी ग्रात्मा को पत्नी रूप में प्रस्तृत किया है।

(३) प्रेम में स्वच्छता एवं पवित्रता—दाम्पत्य का रूपक ग्रपनाते हुए भी हिन्दी कवियों ने उसमें स्थूल-मिलन के दृश्य या जुगुप्सोत्पादक क्रिया-कलापों, जैसे—रक्त के आंसू वहाना, हृदय के घाव का बहना भ्रादि—का चित्रण नहीं किया। कबीर मिलन की घड़ियों का वर्णन करते हैं, किन्तु वे भ्रश्लीलता एवं नग्नता में प्रवृत्त नहीं होते।

(४) दैन्य एवं आत्म-समर्पण की भावना-यद्यपि रहस्यवाद के क्षेत्र में ग्रात्मा भीर परमात्मा की समानता में विश्वास किया जाता है, भतः भक्तों की भाँति रहस्य-वादी साधक में दीनता या लघुता का भाव उदित होना स्वाभाविक नहीं; किन्तु हिन्दी के रहस्यवादी कवियों में यह प्रवृत्ति मिलती है। कवीर जैसा अक्खड़, शुष्क और कठोर साधक भी प्रभ के सम्मुख दीन-सा वन जाता है-

ना कुछ किया न कर सका, ना करणे जोग शरीर। जो कुछ किया सो हरि किया है, ता तें भया कबीर।।

कहें कबीर में कछ न कीन्हाँ। सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा।। यही नहीं, वे दीनता के प्रवाह में अपने आपको राम का कुत्ता तक कह बैठते हैं— कबीर कृत्तिया राम का, मृतियाँ मेरा नाउँ। गलै राम की जेवड़ी, जित खेंचे तित जाउँ॥

भ्राधनिक कवि प्रसाद भी प्रियतम से दैन्य-पूर्ण, शब्दों में याचना करते हैं-करुणा-निधे, यह करुण ऋन्दन भी जरा सुन लीजिए। कुछ भी दया हो चित्त में तो नाथ रत्ता कीजिए।।

× हम हैं तुम्हारे, इसलिए फिर भी दया के पात्र हैं।।

-कानन कुसूम

भौर रौद्र-रूप-घारी निराला भी प्रियतम के द्वार पर पहुँचकर किसी कोमल-किशोरी बाला के स्वर में बोलते हैं—

> "बन्द नुम्हारा द्वार मेरे मुहाग श्रृङ्गार, द्वार यह खोलो सुनो भी मेरी करुण-पुकार जरा कुछ बोलो ।"

प्रश्न है, हमारे किवयों में इस प्रवृत्ति का विकास क्यों मिलता है ? जो लोग हर बात को राजनीतिक परिस्थितियों से सम्बद्ध करने के ब्रादी हैं, वे चट उत्तर दे देंगे—भारत गुलाम था, गुलाम देश के किवयों में दीनता न ब्रायेगी तो ब्रीर क्या ब्रायेगी। पर वास्तविकता यह नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं; एक तो वैष्णव मिक्त का प्रभाव ब्रीर दूसरा भारतीय दाम्पत्य-भावना जिसमें पित को पूज्य माना जाता है। तीसरी बात ब्रीर भी है—प्रेम के विकास से ब्रहं का विगलन हो जाता है, ब्रतः दैन्य का संचार होना स्वाभाविक है।

- (५) प्रतीकात्मकता—रहस्यानुभूति को व्यक्त करने के लिए साधारण शब्दावली से काम नहीं चलता, श्रतः प्रायः सभी कवियों ने किसी-न-किसी मात्रा में प्रतीकों का प्रयोग किया है।
- (६) मुक्तक गीति-शैली—रहस्यवाद में आत्म-निवेदन तथा व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रकाशन होता है, अतः इसके लिए प्रवन्ध की अपेक्षा मुक्तक-गीति-शैली का
 ही प्रयोग उपयुक्त रहता है। कबीर, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी प्रभृति सभी कवियों
 ने इसी शैली को अपनाया है।

उपसंहार

श्चन्त में हम कहेंगे कि हिन्दी में रहस्यवाद की व्यंजना श्रत्यन्त व्यापक रूप में हुई है। यद्यपि श्राधुनिक किवयों को श्रनुभूति के श्रभाव में कबीर की-सी सफलता नहीं मिली, फिर भी प्रेम के स्वच्छ एवं पित्र रूप के चित्रण की दृष्टि से वे बधाई के पात्र हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि साहित्य श्रीर समाज की दृष्टि से रहस्यवादी काव्य का क्या मूल्य है ? श्राधुनिक श्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण से रहस्यवादी काव्य का विशेष महत्व नहीं है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। जिस श्रनुभूति ने कबीर जैसे शुष्क तार्किक को भावनाश्रों से विह्वल बना दिया, वह काव्य के क्षेत्र में उपेक्षणीय कैसे हो सकती है ? हाँ, इतना श्रवश्य है कि प्रत्येक रहस्यवादी रचना में श्रनुभूति की सच्चाई होनी श्रावश्यक है। कोरी कल्पना पर खड़े किए गये महल या छन्द-रूप में प्रस्तुत की गई श्रनुभूतियाँ हृदय को प्रभावित नहीं कर पातीं। श्रतः लौकिकता के भय से ही कृत्रिम श्रलौकिकता झारण करना उचित प्रतीक्ष-पाहीं होना। अवा Math Collection, Varanasi.

मानव जाति के छोटे-छोटे समूहों को रहस्यवादी साहित्य भले ही कोई वड़ा सन्देश न दे पाए, किन्तु जहाँ तक श्रिखल मानव-समाज का प्रश्न है, वह सभी श्रात्माश्रों को एक ही सत्ता से सम्बन्धित करके श्रखण्ड एकता का सन्देश तो देता ही है। विश्व-हित, विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-प्रेम का श्रादर्श जितनी सत्यता के साथ एक रहस्यवादी व्यक्त कर सकता है, उतना संभवतः कोई श्रौर नहीं। श्राज भले ही इसकी घारा मंद हो गई है, किन्तु यदि विश्वात्मा की सत्ता का विश्वास साहित्यकार में बना रहा तो श्रवश्य ही उसे रहस्य-लोक की शान्ति-प्रदायिनी छाया में विश्राम के कुछ क्षण ढूँढने होंगे।

:: बयालीस ::

छायावाद ऋौर हिन्दी-काव्य

- १. छायावाद-नामकरण का रहस्य।
- २. छायावाद की परिभाषा ग्रीर स्वरूप।
- ३. बाह्य परिस्थितियाँ ग्रीर उनका प्रभाव।
- ४. छायावाद का प्रवर्तन ।
- ४ छायावाद के कवि भीर उनका काव्य।
- ६. छायावाद की सामान्य प्रवृत्तियाँ—(क) भाव-गत, (ख) विचार-गत एवं (ग) शैलो गत ।
- ७. उपसंहार।

हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८ ई०) के आस-पास एक विशेष काव्य-घारा का प्रवर्त्तन हुग्रा, जिसे 'छायावाद' की संज्ञा दी गई है। यह नाम-करण किस म्राघार पर तथा किसके द्वारा किया गया, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है । जहाँ तक 'छाया' ग्रीर 'वाद' का सम्बन्ध है, 'छायावाद' काव्य के स्वरूप या उसके लक्षणों से इनका कोई मेल नहीं है। भ्राचार्य शुक्ल का विश्वास था कि बँगला में म्राध्यात्मिक प्रतीकवादी रचनाम्रों को छायावाद कहा जाता था, भ्रतः हिन्दी में भी इस प्रकार की कविताओं का नाम छायावाद चल पड़ा, किन्तु डा० हजारीप्रसाद दिवेदी ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि वैंगला में 'छायावाद' नाम कभी चला ही नहीं। हिन्दी की कुछ पत्र-पत्रिकाग्नों—'श्री शारदा' ग्रौर 'सरस्वती'—में क्रमशः सन् १६२० भ्रौर १६२१ में मुकुटघर पाण्डेय भ्रौर श्री सुशीलकुमार द्वारा दो लेख 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक से प्रकाशित हुए थे; ग्रतः कहा जा सकता है कि इस नाम का प्रयोग सन् १६२० से या उससे पूर्व से होने लग गया था ! सम्भव है कि श्री मुकुट-घर पाण्डेय ने ही इसका सर्वप्रथम भ्राविष्कार किया हो। यह भी घ्यान रहे कि पाण्डेय जी ने इसका प्रयोग व्यंग्यात्मक रूप में — छायावादी काव्य की ग्रस्पष्टता (छाया) के लिए किया था, किन्तु भ्रागे चलकर यही नाम स्वीकृत हो गया। स्वयं छायावादी कवियों ने इस विशेषण को वड़े प्रेम से स्वीकार किया है; एक भ्रोर श्री जयशंकर प्रसाद लिखते हैं—'मोती के भीतर छाया जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्ति की तरलता ग्रंग में लावण्य कही जाती है।....छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति की भंगिमा पर निर्भर करती है। घ्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृद्धि झायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से पानी की तरह द्यान्तर-स्पर्श करके भाव-समर्पण करनेवाली श्रभिव्यक्ति छाया....कान्तिमय होती है।" दूसरी श्रोर महादेवीजी भी प्रसाद के स्वर में स्वर मिलाती हुई कहती हैं—''सृष्टि के वाह्याकार पर इतना लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय श्रभव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव श्रनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था श्रौर मुक्ते तो श्राज भी उपयुक्त लगता है।'' प्रसाद श्रौर महादेवी को इन उक्तियों में कोई तर्क नहीं हैं—प्रसाद जिन गुणों का श्राख्यान कर रहे हैं, उनके श्राधार पर तो इस कविता का नाम 'प्रकाश', 'चमक' या 'कान्ति' होना चाहिए था, या महादेवी द्वारा परिगणित विशेषता को लेकर इसे श्रनुभूति, भावुकता श्रादि किसी नाम से पुकारा जाना चाहिए था, किन्तु वास्तविकता यह है कि नामकरण के संबंध में पूर्वजों के श्रागे किसी का वश नहीं चलता। कविता की तो बात ही क्या, स्वयं कियों को भी कुछ ऐसे नाम विरासत में मिले हैं कि उन्हें 'उपनाम' ढूँढ़ने को विवश होना पड़ा है। श्रतः छायावाद' नाम को लेकर श्रधिक ऊहापोह करना श्रनावश्यक है।

परिभाषाएँ ग्रौर स्वरूप

छायावाद का नामकरण भले ही विना सोचे-समभे कर दिया गया हो, किन्तु परिभाषात्रों की दृष्टि से यह वड़ा सौभाग्यशाली है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से 'छायावाद' की इतनी ग्रधिक ग्रीर विचित्र परिभाषाएँ दी हैं कि उन्हें पढ़कर चाहे छायावाद समक में थावे, या न भ्रावे पाठक के मस्तिष्क पर अवश्य छायावाद छा जाता है । भ्राचार्य शुक्ल ने छायावाद का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—''छायावाद शब्द का प्रयोग दो ग्रथों में समभना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के ग्रर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है ग्रर्थात् जहाँ कवि उस ग्रनन्त भौर भ्रज्ञात प्रियतम को श्चालम्बन बनाकर ग्रत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की ग्रनेक प्रकार से व्यंजना करता है। 'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।" डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने भी शुक्लजी की ही भाँति छायावाद को रहस्यवाद का ग्रभिन्न रूप स्वीकार करते हुए लिखा है—"परमात्मा की छाया ग्रात्मा में पड़ने लगती है और ब्रात्मा की छाया परमात्मा में। यही छायावाद है।" श्रीरामकृष्ण शुक्ल एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी ने छायावाद भीर रहस्यवाद को सर्वथा श्रभिन्न तो नहीं माना, किन्तु दोनों में चचेरे भाइयों का-सा सम्बन्ध ग्रवश्य स्थापित कर दिया है। श्रीरामकृष्ण जी के शब्दों में — 'छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिविम्ब देखता है, रहस्यवाद समस्त सृष्टि में ईश्वर का; ईश्वर श्रव्यक्त है श्रीर मनुष्य व्यक्त है। इसलिए छाया मनष्य की, व्यक्ति की ही देखी जा सकती है, श्रव्यक्त की नहीं। श्रव्यक्त रहस्य ही रहता है।" ग्रतः कहना चाहिए कि दोनों में लौकिक ग्रौर ग्रलौकिक, व्यक्त ग्रौर ग्रव्यक्त, स्पष्ट ग्रीर ग्रस्पष्ट, ज्ञात श्रीर ग्रज्ञात तथा छाया श्रीर रहस्य का ही श्रंतर है। दूसरी ग्रीर शान्तिप्रिय द्विवेदी भी मानते हैं — "छायावाद एक दार्शनिक अनुभृति है।" अतः दोनों में गहरा सम्बन्ध स्वतः ही सिद्ध हो गया।

श्री गंगाप्रसाद पांडेय ने भाव-लोक की प्रगति के तीन चरण माने हैं, प्रथम वस्तु-

वाद, द्वितीय छायावाद भ्रौर तृतीय रहस्यवाद, भ्रतः उनके शब्दों में "यह (छायावाद) वस्तुवाद व रहस्यवाद के बीच कड़ी है।" डॉ॰ नगंन्द्र ने छायावाद को एक भ्रोर "स्थूल के प्रति सूचम का विद्रोह" माना है तो दूसरी भ्रोर वे स्वीकार करते हैं—"छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धित है, जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भिक्त-काव्य जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण था भ्रौर रीति-काव्य एक दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।" डॉ॰ नन्ददुलारे वाजपेयी बहुत सोच-समक्षकर लिखते हैं—"मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में भ्राघ्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" डॉ॰ देवराज ने एक ही परिभाषा में बहुत कुछ कह देने की लालसा से व्यक्त किया है—"छायावाद गीति-काव्य है, प्रकृति-काव्य है, प्रेम-काव्य है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से 'छायावाद' के सम्बन्ध में ध्रनेक वातें ज्ञात होती हैं-(१) छायावाद ग्रीर रहस्यवाद एक हैं। (२) छायावाद एक शैली-विशेष है। (३) छायावाद प्रकृति में मानव-जीवन का प्रतिबिम्व देखता है प्रर्थात् प्रकृति का मानवीकरण करता है। (४) छायावाद एक दार्शनिक धनुभूति है। (५) छायावाद एक भावात्मक दिष्टिकोण है। (६) छायावाद प्रकृति में भ्राघ्यात्मिक सौन्दर्य का दर्शन करता है। (७) छायावाद में प्रेम का चित्रण होता है। (८) छायावाद में प्रकृति का चित्रण होता है। (१) छायावाद में गीति-तत्त्व की प्रमुखता होती है। (१०) छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। इनमें से कोई भी तथ्य छायावाद के सर्वांगीण रूप का परिचय देने में धसमर्थ है, किन्तु भ्रन्ध-गज न्याय के अनुसार प्रत्येक तथ्य छायावाद के किसी एक श्रंग या उसकी किसी एक विशेषता का निदर्शन भवश्य करता है। श्रतः यदि इन सारी विशेषतायों को उचित क्रम से एक सूत्र में गुँथ लिया जाय तो सम्भवतः वह छायावाद का अधिक-से-अधिक परिचय देने में समर्थ हो सकेगा। अस्तु, हम कहेंगे "छायावाद हिन्दी कविता के एक विशेष युग में पूर्ववर्ती युग के विरोध में प्रस्फुटित एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण, एक विशेष दार्शनिक श्रनुभूति एवं एक विशेष शैली है, जिसमें लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक का एवं अलौकिक प्रेम के व्याज से लौकिक अनुमूतियों का चित्रण होता है, जिसमें प्रकृति को मानवी रूप में प्रस्तृत किया जाता है और जिसमें गीति तत्त्वों की प्रमुखता होती है।"

बाह्य परिस्थितियाँ ग्रौर उनका प्रभाव

प्रत्येक युग के साहित्य पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव किसी न किसी हिंप में भ्रवश्य पड़ता है—अतः किसी भी साहित्य के सम्यक् विश्लेषण के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का विवेचन अपेक्षित है। छायावादी साहित्य पर भी उस युग की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। राजनीतिक दृष्टि से प्रथम महायुद्ध के अनन्तर भारतीय स्वातंत्र्य-भ्रान्दोलन ने एक नयी करवट ली। भ्रव तक भारतीय नेता स्वतन्त्रता के लिए, सहायता या विरोध के स्थूल

उपकरणों का प्रयोग करते थ्रा रहे थे, किन्तु इस युग में गाँघीजी के नेतृत्व में सत्य, ग्रहिंसा एवं ग्रसहयोग की सूक्ष्म शक्ति का प्रयोग होने लगा। यद्यपि प्रारम्भ में यह प्रयोग विशेष सफल नहीं रहा, किन्तु इससे भारतीय नेता हताश या निराश नहीं हुए थे। कुछ विद्वान् जो छायावाद की निराशा को सन् १६१६ के प्रथम अवज्ञा आन्दोलन की ग्रसफलता से सम्बन्धित करते हैं, यह भूल जाते हैं कि इस ग्रसफलता के ग्रनन्तर भी भारतीयों के उत्साह, नीति एवं लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं भ्राया था, गांधीजी का नेतत्व यथावत् चल रहा था । यह ठीक है कि छायावादी कवि तत्कालीन राजनीतिक ग्रान्दोलनों के प्रति उदासीन से थे, किन्तू इस उदासीनता का कारण उनका 'वैयक्तिकता' में लीन हो जाना है, राजनीतिक निराशा नहीं। यह ग्राश्चर्य की बात है कि जिस युग में जलियाँ-वाला वाग काण्ड, भगतिसह को फाँसी, साइमन कमीशन-बहिष्कार, नमक-कानुन-भंग जैसी घटनाएँ हुई, उसी युग में जीवित रहकर भी छायावादी कवि ग्रपने देश की स्वतंत्रता के लिए एक पंक्ति भी नहीं लिख सका। इसका क्या कारण है ? हमारे दृष्टिकोण से छायावादी कवियों की मूल प्रकृति करुणा श्रीर प्रेम से मेल खाती थी, जबिक राजनीतिक यान्दोलनों एवं स्वातंत्र्य-संग्रामों के लिए वीर एवं रौद्र के स्थायीभाव उत्साह एवं जुगुप्सा की म्रावश्यकता पड़ती थी। छायावादी करुणा भीर प्रेम में उत्साह एवं जुगुप्सा के विकास की कोई सम्भावना नहीं थी। भ्रतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन कवियों का तत्कालीन राजनीति के प्रति उदासीन रहना स्वाभाविक था।

धर्म श्रौर दर्शन के क्षेत्र में इस युग में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गांधी, टैगोर तथा श्ररिवन्द जैसे महान् व्यक्तियों का श्राविभीव हुश्रा, जिनके प्रभाव से स्थूल एवं संकुचित हिन्दुत्व के स्थान पर व्यापक विश्व-धर्म की प्रतिष्ठा हुई । ठाकुर रवीन्द्रनाथ राष्ट्र-प्रेमी होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयता से श्रोत-प्रोत थे । वे मानवता के उपासक थे, तथा उन्होंने विश्व-शान्ति श्रौर विश्व-कल्याण का सन्देश दिया । यही बात हमें छायावादी किवयों के दृष्टिकोण में मिलती है । हमारे प्राचीन श्रद्धतवाद व सर्वात्मवाद के दर्शन ने भी छायावाद को कम प्रभावित नहीं किया । कवियत्री महादेवी का तो यहाँ तक विश्वास है कि "छायावाद का कित, धर्म के अध्यातम से श्रधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है, जो मूर्त श्रौर श्रमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है । बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर किन ने जीवन की श्रखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी श्रनुभूति की श्रौर दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक्ष ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, श्रध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद श्रादि श्रनेक नामों का भार सँभाल सकी।" (महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ६१)

पाश्चात्य सम्यता और संस्कृति के प्रभाव से हमारे नवयुवकों के वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण में पर्याप्त श्रन्तर ग्राया। जहाँ मध्यकाल का युवक विवाह की चर्चा सुनते ही किसी ऐसी सजी-सजाई ढँकी हुई दुलहिन की कल्पना करने लगता था, जो गुड़िया की भाँति रथ में बैठाकर लायी जाती थी, वहाँ छायावादी युग के सुशिक्षित युवाओं के हृदय में किसी ऐसी रंग-बिरंगी चहकती हुई जीवन-सहचरी CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

को कल्पना समाई रहती थी, जो जीवन के हर क्षेत्र में उनका साथ दे सके। ग्रीर इतना ही नहीं, उनको दृष्टि बिना माता-पिता की आज्ञा प्राप्त किए ही इस किल्पत सहचरी की खोज में प्रवृत्त भी हो जाती थी। किसी प्रकार वे कोई ऐसा भ्राघार प्राप्त कर लेते थे, जिसके समीप बैठकर वे भ्रपने स्वप्नों को साकार कर सकें, जिसे हृदय देकर वे भ्रपनी प्रेम करने की चाह पूरी कर सकें। किंतु अपने इस मधुर सम्बन्ध को स्थायी दाम्पत्य में परिणत करने के लिए जब वे समाज से 'ग्रन्थि-बन्धन' की प्रार्थना करते तो उन्हें पता चलता कि उनके मार्ग में जाति-पाँति, कुल-गोत्र, मान-मर्यादा ग्रादि की ऐसी चट्टानें डटी हुई हैं, जिन्हें तोड़कर ग्रागे बढ़ना उनके बस की बात नहीं। फल यह होता या कि उनके प्रेम ग्रौर विवाह के विदेशी स्वप्न स्वदेशी समाज की रूढ़ियों से टकराकर चकनाचूर हो जाते थे। चाहे 'प्रेम-पथिक' का नायक हो या 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास', 'ग्राँस्' ग्रादि का ग्रसफल प्रेमी हो, उसके स्वर में हमें सर्वत्र इसी निराशा की प्रतिष्विन सुनाई पड़ती है। हो सकता है, यह निराशा, व्यथा या वेदना कवियों के वैयक्तिक जीवन से पूर्णतः सम्बद्ध न हो, किन्तु उसमें उस युग के सामान्य सुशिक्षित वर्ग के हृदय की विवश वेदना का विस्फोट ग्रवश्य है। वस्तुतः छायावादी ग्रतृप्ति, कुण्ठा एवं निराशा के मूल में समाज की यही परिस्थिति कार्य कर रही है, इसका सम्बन्ध तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से स्थापित करने की कोई ग्रावश्यकता नहीं।

पाश्चात्य साहित्य ने भी हमारे छायावादी काव्य को कम प्रभावित नहीं किया। विशेषतः ग्रंग्रेजी के रोमांटिसिज्म का तो छायावाद के किवयों पर गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। रोमांटिसिज्म या स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्त्तन ग्रंग्रेजी में वर्ड्सवर्थ एवं कॉलरिज के काव्य-संग्रह 'लिरीकल बैलेड्स' (Lyrical Ballads) के प्रकाशन की तिथि सन् १७६८ से माना गया है। इसके प्रमुख कवि वर्ड सवर्थ, शैली, कीट्स, वायरन, काउपर आदि हैं, जिन्होंने प्राचीन काव्य-शास्त्र की पद्धतियों, समाज के रूढ़िवादी दृष्टिकोण एवं घर्म-वेत्ताग्रों की ग्रति संकुचित मान्यताग्रों का विरोध करते हुए सरल-स्वाभाविक काव्य-पद्धति, स्वछन्द वैयक्तिक प्रेम-मूलक दृष्टिकोण एवं व्यापक मानववाद की प्रतिष्ठा की । उन्होंने वैयक्तिक धनुभृतियों का प्रकाशन सुन्दर, मधुर गीतियों में निःसंकोच रूप से किया। उन्होंने सौन्दर्य के स्थूल उपकरणों के स्थान पर उसके सूक्ष्म गुणों तथा प्रकृति के चेतन रूप को महत्व दिया है। किन्तु ग्रतिवैयक्तिकता, स्वच्छन्दता एवं कोमल मधुर श्रनुभूतियों का परिणाम जीवन में सुखद नहीं होता; इस प्रकार के व्यक्ति ग्रपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र के साथ समभौता कर पाने में ग्रसमर्थ रहते हैं; उनके मार्ग में धनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं, जिनका सामना न करने के कारण वे ग्रसफल, निराशावादी या रहस्यवादी हो जाते हैं। छायावादी कवियों की परिस्थितियाँ ग्रौर उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ स्वच्छन्दतावादी कवियों से मिलता-जुलता है, ग्रतः उनसे प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण करना स्वाभाविक था। यही कारण है कि अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद की प्रायः सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ -- प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, व्यापक मानववाद, वैयक्तिक प्रेम की अभिव्यंजना, रहस्यात्मकता का आभास, सौन्दर्य के सक्म गुणों की पूजा, Jan प्रकृति भें चैतमा क्षा अपरोप वानि सिल शालि आदि —हिन्दी

के छायावाद में समान रूप से मिलती हैं। ग्रंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद से वँगला के किव पहले ही प्रभावित हो चुके थे, ग्रतः हिन्दी के किवयों को भी ऐसा करने में कोई विशेष संकोच नहीं हुग्रा।

ग्रंग्रेजी के स्वच्छन्दतावाद से हिन्दी के छायावाद की इस गहरी समानता को देखते हुए कुछ ग्रालोचकों ने इसे रोमांटिसज्म का ही हिन्दी संस्करण सिद्ध किया था। इन ग्रालोचकों में एक डॉ॰ नगेन्द्र भी थे, किन्तु ग्रागे चलकर उन्होंने ग्रपना मत बदल दिया । वे लिखते हैं — ''दूसरी भ्रांति उन ग्रालोचकों की फैलाई हुई है, जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का ग्रन्ययन न कर सकने के कारण—ग्रीर उन ग्रपराधियों में मैं भी हुँ—केवल वाह्य समय के ग्राघार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से ग्रभिन्न मानकर चले हैं। इसमें संदेह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है ग्रौर दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण ग्रौर कुष्ठा का मिश्रण है। परंतु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायाबाद एक सर्वया भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था, वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे फांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन ग्रात्मविश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का ग्राधार ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक निश्चित ग्रीर ठोस था, उसकी दुनिया ग्रधिक मूर्त्त थी, उसकी ग्राशा ग्रौर स्वप्न ग्रधिक निश्चित ग्रौर स्पष्ट थे, उसकी ग्रनुभूति ग्रधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चित ही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।" (आधुनिक हिन्दो साहित्य की प्रवृत्तियाँ; पृ० १४) यहाँ डाक्टर साहत ने दोनों में जो अन्तर स्पष्ट किया है, वह केवल देश काल, मूलाधार एवं गुणों की मात्रा का है, दोनों के परिणामों में या दोनों की प्रवृत्तियों में कोई भेद वे नहीं दिखा सके। साथ ही उन्होंने 'ग्रसफल सत्या-ग्रह' के प्रभाव को भी ग्रावश्यकता से ग्रधिक महत्व दिया है। जैसा कि हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं, चाहे हमारे सत्याप्रह प्रारम्भ में ग्रसफल होते रहे हों, किन्तु इससे भारतीय जनता में कोई स्थायी निराशा नहीं ग्रा पाई, ग्रन्यथा न तो साइमन कमीशन-विहिष्कार व नमक कानून-भंग जैसी घटनाएँ होतीं भीर न ही स्वातंत्र्य-म्रान्दोलन भ्रागे वढ़ता। दूसरी बात यह भी घ्यान देने की है कि रोमांटिसिज्म इंगलैण्ड में पनपा ग्रौर राज्य-क्रांति हुई फ्रांस में, ग्रतः यदि फ्रांस की क्रांति इंगलैण्ड को प्रभावित कर सकती है, तो इंगलैण्ड का काव्य भारत को क्यों नहीं प्रभावित कर सकता ? हमारी दृष्टि में छायावादी निराशा का सम्बन्ध तत्कालीन राजनीति से स्थापित करना वैसा ही है, जैसा कि प्रयोग-वादी कवियों की वैयक्तिकता को पिछले चुनावों में जनसंघ की पराजय का प्रभाव बताना है।

यदि हम देश-काल की स्थूल सीमाओं को भूलकर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो रोमांटिसिज्म और छायावाद के मूलाधारों—दोनों को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में भी गहरा साम्य दृष्टिगोचर होगा। रोमांटिसिज्म के ग्रभ्युत्यान से पूर्व ग्रंग्रेजी किवता में भी ग्रनैतिकता, सुधारवाद एवं शास्त्रीय रूढ़ियों का बोलबाला था, उसी प्रकार हिन्दी में भी द्विवेदी युग में यही परिस्थिति थी, जिसका विरोध छाया-

वादी किवयों ने किया । फांस की राज्य-क्रान्ति ने इंगलैण्ड के किवयों को वैयिक्तिक स्वतंत्रता का संदेश दिया, तो दूसरी भ्रोर 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध श्रधिकार है' की घोषणा ने हमारे छायावादियों को गुलामी की भावना से मुक्त किया । रोमांटिक युग के युवकों की सौन्दर्य भ्रौर प्रेम की उन्मुक्त लालसा पर धार्मिक संस्थाभ्रों एवं सामाजिक मान्यताभ्रों का श्रंकुश लगा हुम्रा था तो छायावादी युग के प्रेमियों पर हिन्दू समाज को इन्हियों का नियन्त्रण था । रोमांटिक किव दैनिक जीवन की भ्रसंगतियों, विषमताभ्रों एवं कटुता से त्राण प्रकृति एवं भ्रव्यात्म में ढूँढ़ने को विवश हुए थे, तो हिन्दी किवयों को भी इनसे बढ़कर भ्रौर कोई भ्राश्रय प्राप्त नहीं था । भ्रतः मूलाधार की दृष्टि से मी दोनों में गहरा साम्य है । हाँ, हम इतना भ्रवश्य स्वीकार करते हैं कि दोनों सर्वथा एक नहीं है । इंगलैण्ड के एक जन्मजात क्रिश्चियन में भ्रौर भारतीय ईसाई में जितना भ्रन्तर होता है, उससे कहीं भ्रधिक भ्रन्तर रोमांटिसिज्म भ्रौर छायावाद में है ।

छायावाद का प्रवर्त्तन

छायावाद के प्रवर्त्तन काल एवं प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है। ग्राचार्य शुक्ल का मत है—"हिन्दी कविता की नई धारा (छायावाद) का प्रवर्त्तक इन्हीं को-विशेषतः मैथिलीशरण गुप्त ग्रीर मुकुटधर पांडेय को समभना चाहिये।" ऐसा शुक्लजी ने अभिन्यंजना की एक विशेष शैली को ही 'छायावाद' मान-कर लिखा है। श्री इलाचन्द्र जोशी ने इस मत का खंडन करते हुए लिखा है-"छायावाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल का वक्तव्य एकदम भ्रामक, निर्मुल एवं मनगढ़न्त है। "प्रसादजी भ्रविवादास्पद रूप से हिन्दी के सर्वप्रथम छायावादी कवि ठहरते हैं। सन् १९१३-१४ के श्रासपास 'इन्द्र' में प्रतिमास उनकी जिस ढंग की कविताएँ निकलती थीं, (जो बाद में 'कानन-कुसुम' के नाम से पुस्तकाकार में प्रकाशित हुईं) वे निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी काव्य-क्षेत्र में युग विवर्तन की सूचक थीं।" श्री विनयमोहन शर्मा एवं प्रभाकर माचवे ने छायावाद का प्रारम्भ तो सन् १९१३ ई० से ही माना है, किन्तु इनके प्रवर्त्तन का श्रेय वे माखनलाल चतुर्वेदी "एक भारतीय श्रात्मा' को देना चाहते हैं। उधर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है—'साहित्यिक दृष्टि से छायावादी काव्य शैली का वास्तविक भ्रभ्युदय सन् १६२० के पश्चात् पंत की 'उच्छ्वास' नाम की काव्य-पुस्तिका के साथ माना जा सकता है।" हमारे दृष्टिकोण से मैथिलीशरण गुप्त, मकुटघर पांडेय ग्रीर माखनलाल चतुर्वेदी में छायावाद की प्रवृत्ति गौण रूप से मिलती है, समग्र रूप से उन्हें छायावादी नहीं कहा जा सकता; ऐसी स्थिति में किसी अ-छायावादी को छायावाद का प्रवर्त्तक मानना अवास्तविक है। छायावाद का प्रवर्त्तक भ्रवश्य ही कोई छायावादी ही होना चाहिये-चाहे वह प्रसाद हो या पंत । पन्तजी की अपेक्षा प्रसादजी काव्य क्षेत्र में पहले ग्राये तथा 'ऋरना' की भूमिका में प्रकाशक की श्रोर से भी एक वश्रतस्था है जा शिकास से स्वी की श्री की हिन्दी साहित्य में याज दिन 'छायावाद' नाम मिल रहा है, उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुमा था। इस दृष्टि से यह संग्रह ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण है।"—ग्रव तक किसी किव ने प्रकाणक के वक्तव्य का खंडन नहीं किया है, भ्रतः प्रसाद के 'भरना' (सन् १६१६) से ही छायावाद का प्रारम्भ मानना चाहिये, किन्तु यह घ्यान रहे, प्रसाद की कुछ किवताएँ इससे पूर्व भी पत्र-पत्रिकाग्रों में छप गई थीं, जिनमें छायावादी शैली का प्रारम्भिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है तथा इन रचनाग्रों का प्रकाशन काल सन् १६०६ से १६१७ है, ग्रतः छायावाद का उद्भवकाल ग्रौर पीछे तक ले जाया जा सकता है। प्रसाद का 'कानन-कुसुम' पुस्तक के रूप में 'भरना' के पश्चात् प्रकाशित हुग्रा, जबिक उसमें संगृहीत रचनाएँ 'भरना' से पूर्व ही पत्र-पत्रिकाग्रों में प्रकाशित हो चुकी थीं। ग्रतः इन सब तथ्यों पर विचार करते हुए छायावाद का ग्रारम्भ प्रसाद की स्फुट किवताग्रों (पत्रिकाग्रों में प्रकाशित) से (लगभग सन् १६१५ ई० से) ही मानना उचित होगा।

छायावाद के प्रमुख कवि श्रौर उनका काव्य

छायावाद के चार प्रमुख स्तम्भ सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ग्रौर महादेवी वर्मा हैं। श्री जयशंकर प्रसाद प्रारम्भ में क्रज-भाषा में किताएँ लिखते थे, किन्तु १६१३-१४ से वे खड़ी बोली में लिखने लग गये। उनके प्रमुख काव्य-ग्रंथ ये हैं—चित्राधार, प्रेम-पियक, करुणालय, महाराणा का महत्व, कानन-कुसुम, भरना, ग्रांसू, लहर, कामायनी। उनकी ग्रन्तिम काव्य-रचना 'कामायनी' सन् १६३६ में रचित हुई थी। इन रचनाग्रों में से चित्राधार, करुणालय ग्रौर महाराणा का महत्व को छोड़कर शेष सभी छायावाद की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हैं। वैसे गौणरूप से इनमें भी छायावाद की कुछ विशेषताएँ मिलती हैं। 'प्रेम-पिथक' एक लघु प्रवन्ध-काव्य है, जिसमें एक ग्रसफल प्रेम की कहानी नायक के मुंह से कहलाई गई है! ग्रनुभूतियों से परिपूर्ण होने के कारण यह रचना ग्रत्यन्त मार्मिक वन गई है। जब नायिका का विवाह किसी ग्रन्य से हो रहा था तो निराश प्रेमी के हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे:

किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृतंत्री भनकार जो नौबतलाने में बजती थी, ग्रपनी गहरी घुन में— रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है!

'कानन-कुसुम', 'भरना' और 'लहर' प्रसाद की स्फुट कविताओं के संग्रह हैं, जिनमें विषय की दृष्टि से चार प्रवृत्तियाँ मिलतो हैं—

(१) लौकिक प्रभु के प्रति ग्रात्म-निवेदन, (२) लौकिक प्रेम की व्यंजना (३) प्रकृति एवं नारी सौंदर्य का चित्रण ग्रौर (४) ग्रतीत भारत की किसी घटना का वर्णन । 'ग्राँसू' उनका 'विरह-गीत' है। ग्रागे चलकर 'कामायनी' में इन सभी प्रवृत्तियों का विकास समुचित रूप में प्रवन्ध-शैली में हुग्रा है। मानव-हृदय की प्रवृत्तियों में सूक्ष्माति-

सूक्ष्म निर्णण, प्रकृति एवं नारी-सौन्दर्य के सजीव ग्रंकन, प्रणय ग्रौर विरह की मार्मिक व्यंजना, ज्ञान-कर्म ग्रौर इच्छा के समन्वय के मंगलकारी संदेश ग्रौर शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से 'कामायनी' श्रनुपम है। वस्तुतः मुक्तक-शैली को छोड़कर छायावाद की सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ 'कामायनी' में उपलब्ध होती हैं ग्रौर यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कामायनी की प्रवन्धात्मकता पर भी छायावाद की मुक्तकता पूरी तरह छाई हुई है। वस्तुतः प्रसाद छायावाद के प्रवर्त्तक के रूप में ही नहीं, उसके नेता ग्रौर प्रौढ़तम कि के रूप में भी सर्वश्रेष्ठ छायावादी कि हैं।

खायावाद के क्षेत्र में पंत थ्रौर निराला साथ-साथ ही ग्राये। पन्तजी की रचनाथ्रों का प्रकाशन-क्रम यह है—वीणा (१६१८), प्रन्थि (१६२०), पल्लव (१६१८-२४), गृंजन (१६१६-३२), युगान्त (१६३४-३६), युग-वाणी (१६३६-३६), प्राम्या (१६३६-४०), स्वर्ण किरण (१६४७), स्वर्ण-प्रृलि (१६४७), युगान्तर (१६४८), उत्तरा (१६४६), रजत-शिखर (१६५१), शिल्पी (१६५२), श्रौर श्रतिमा (१६५५)। पंत जी सन् १६३८ के लगभग छायावादी से प्रगतिवादी वन गये, श्रतः इस युग से पूर्व की रचनाथ्रों में ही छायावादी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। वीणा, पल्लव ग्रौर गुंजन में उनकी स्फुट किवताएँ संगृहीत हैं। 'वीणा' में रहस्य की प्रवृत्ति ग्रधिक है, 'पल्लव' में निराशा ग्रौर प्रकृति-चित्रण की तथा 'गुंजन' में नारी-सीन्दर्य एवं मानववाद की। 'ग्रन्थि' एक छोटा-सा प्रवन्ध-काव्य है जिसमें ग्रसफल प्रेम की कहानी कही गई है। प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' की मौंति 'ग्रन्धि' की नायिका का विवाह भी किसी ग्रन्य से हो जाता है। मार्मिकता की दृष्टि से यह रचना 'प्रेम-पथिक' से ग्रागे बढ़ जाती है। 'ग्रुगान्त' में ग्राकर पंत के छायावादी ग्रुग का ग्रन्त हो जाता है। प्रकृति एवं नारी सौन्दर्य के चित्रण व शैंली की कोमलता की दृष्टि से पंत का स्थान छायावादी किवयों में सबसे ऊँचा माना जा सकता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने किवताएँ लिखना सन् १६१५ से ही ग्रारम्भ कर दिया था, किन्तु उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'परिमल' सन् १६२६ ई० में प्रकाशित हुग्रा। उनके ग्रन्य काव्य-ग्रन्थ 'ग्रनामिका', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता', 'ग्रणिमा', 'वेला', 'नये पत्ते', 'ग्रर्चना', 'ग्राराधना' ग्रादि हैं। निरालाजी भी 'तुलसीदास' काव्य के ग्रनन्तर प्रगतिवाद से प्रभावित हो गये थे, ग्रतः उनके परवर्ती ग्रन्थों में छायावाद लुप्त है। निराला जी की रचनाग्रों में वैसे तो छायावाद की सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु उसे ग्रहैत दर्शन की सुदृढ़ ग्राधार-भूमि प्रदान करके रहस्य-युक्त बनाने का श्रेय सर्विधिक 'निराला' जी को है। निरालाजी की शैली में ग्रस्पष्टता एवं कठोरता ग्रन्य किवयों से ग्रधिक है।

महादेवी छायावाद के क्षेत्र में सबसे पीछे ग्राई, किन्तु उसका सबसे ग्रधिक साथ भी वही दे रही हैं। उनकी कविताग्रों के संग्रह—'नीहार', 'रिश्म', 'नीरजा', 'सांघ्य-गीत' ग्रौर 'दीपिशाखा' ग्रादि शीर्षकों से प्रकाशित हुए हैं। उनके सभी संग्रहों की मूल प्रकृति प्रायः एक है—पंत ग्रौर निराला की भाँति उनकी राह में नये-नये मोड़ या परिवर्तन नहीं ग्राते। उनके काक्ष्य भें छायावादी श्रौती, की आक्री प्रमृष विशेषताएँ दृष्टि-

गोचर होती हैं, किन्तु विषयगत प्रवृत्तियों को दृष्टि से उनमें छायावाद से रहस्यवाद ग्रिधिक है। नारी होने के कारण वे प्रकृति के मानवी रूप से वैसा स्वच्छन्द-व्यवहार नहीं कर सकीं, जैसा निराला ग्रीर पंत ने किया है। लौकिक प्रणय ग्रीर स्थूल सौन्दर्य के चित्रण में भी उन्हें संकोच होना स्वाभाविक था, ग्रतः छायावाद के विभिन्न विषयों में उनके पास ग्रलौकिक प्रेम, विरह ग्रीर रुदन ही शेष रह गया।

उपर्युक्त चार प्रमुख किवयों के श्रितिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, श्रंचल, मोहनलाल महतो श्रादि का भो छायावाद के साथ नाम लिया जाता है, किन्तु इनमें छायावाद की प्रवृत्तियाँ श्रांशिक रूप में ही मिलती हैं।

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

छायावादी काव्य में मिलनेवाली प्रवृत्तियों हम मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(क) विषयगत, (ख) विचारगत ग्रीर (ग) शैलीगत । इनमें से प्रत्येक का परिचय यहाँ ग्रलग-ग्रलग दिया जाता है।

(क) विषयगत प्रवृत्तियां — छायावादी किवयों ने मूलतः सौन्दर्य ग्रौर प्रेम की व्यंजना की, जिसे हम तीन खण्डों में विभक्त कर सकते हैं — (१) नारी-सौदर्य ग्रौर प्रेम का चित्रण, (२) प्रकृति-सौन्दर्य ग्रौर प्रेम की व्यंजना ग्रौर (२) ग्रलौकिक प्रेम या रहस्यवाद का निरूपण। नारी-सौन्दर्य ग्रौर प्रेम — दोनों श्रुङ्गार रस के ही ग्रंग हैं, ग्रतः एक दूसरे के पूरक हैं। यदि शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो प्रथम श्रुङ्गार रस का ग्रालम्बन है तथा द्वितीय उसका स्थायी भाव। छायावादी किवयों ने नारी को उसके प्रेयसी रूप में ग्रहण किया, जो हृदय ग्रौर यौवन की सम्पूर्ण विभूतियों से परिपूर्ण है तथा जो घरती के यथार्थ सौन्दर्य एवं स्वर्ग की काल्पिनक सुषमा से सुसज्जित है। विवाह-वन्धन में न पड़ने के कारण एक ग्रोर तो वह लाज, उमंग ग्रौर उत्साह से भरपूर है, दूसरी ग्रोर वह स्वकीया-परकीया के पचड़े से भी दूर है। प्रसाद, पंत ग्रौर निराला के काव्य में इसी प्रेयसी के सौन्दर्य के शत-शत चित्र ग्रंकित हैं। 'कामायनी' की श्रद्धा का सौन्दर्य-चित्रण द्रष्टव्य है—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल ग्रधखुला ग्रंग। खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेधवन बीच गुलाबी रंग।।

छायावादी कवियों ने सीन्दर्य के स्थूल-चित्रण की ग्रपेक्षा उसके सूक्ष्म प्रभाव का ही ग्रंकन किया है। उसमें ग्रश्लीलता, नग्नता एवं स्थूलता प्रायः न के बराबर है।

प्रेम के क्षेत्र में छायावादी किव किसी प्रकार की रूढ़ि, मर्यादा या नियमबद्धता को स्वीकार नहीं करते। 'निराला' ने 'प्रेयसी' में प्रेम का भ्रादर्श स्थापित करते हुए लिखा है—

दोनों हम भिन्न वर्ण, भिन्न जाति, भिन्न रूप, भिन्न धर्म भाव, पर केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे।

(भ्रनामिका, ५८)

इनके प्रेम की दूसरी विशेषता है, वैयक्तिकता । हिन्दी के अनेक पूर्ववर्ती श्रृङ्गारी कियों ने प्रेम का वर्णन किया, किन्तु स्वच्छन्द प्रेम-मार्गी कियों को छोड़कर सबने किसी राघा, पिंचनी, उर्मिला आदि को ही माध्यम बनाया, जबिक छायावादियों ने निजी प्रेमानुभूतियों की व्यंजना की । उनके प्रेम की तीसरी विशेषता सूक्ष्मता है । इन्होंने श्रृङ्गार के स्थूल क्रिया-व्यापारों की अपेक्षा उनकी सूक्ष्म भाव-दशाओं का उद्घाटन अधिक किया । चौथी विशेषता—इनकी प्रणय-गाथा का अन्त असफलता एवं निराशा में होता है । प्रेम निरूपण के क्षेत्र में इन्हें सबसे अधिक सफलता विरहानुभूतियों की ही व्यंजना में मिली है । कुछ पंक्तियाँ देखिए—

विस्मृत हों वे बीती बातें, ग्रब जिनमें कुछ सार नहीं। वह जलती छाती न रही, ग्रब वैसा शीतल प्यार नहीं। सब ग्रतीत में लीन हो चलीं आशा, मधु अभिलाषाएँ। प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं।।

—प्रसाद

शून्य जीवन के अकेले पुष्ठ पर, 'विरह' ग्रहह, कराहते इस शब्द को, किस कुलिश की तीच्ण, चुभती नोक से, निठुर विधि ने श्रश्रुश्रों से है लिखा !!

—पन्त

एक बार यदि अजान के अन्तर से उठ आ जातीं तुम ! एक बार भी प्राणों की तम-छाया में आ कह जातीं तुम ! सत्य हृदय का अपना हाल ! कैसा था अतीत वह, अब बीत रहा है कैसा काल ! में न कभी कुछ कहता, बस तुम्हें देखता रहता!

—निराला

उपर्युक्त विरह-वर्णन वेदनानुभूतियों से श्रोत-प्रोत है। विरही हृदय की पीड़ा स्वतः ही मुखरित हो रही है; उनकी नाप-जोख करने के लिए शारीरिक दुर्बलता, क्षीणता या व्याधि का उल्लेख यहाँ नहीं! प्रेमी श्रौर प्रेमिका—दोनों में से किसी के भी स्थूल ग्रंगों या बाह्य चेष्टाग्रों का निरूपण किए बिना ही हृदय की सूच्मातिसूक्षम भावनाग्रों को साकार रूप में प्रस्तुत कर देना छायावादी कला का सबसे बड़ा जादू है।

प्रकृति के सौन्दर्य थौर उससे प्रेम का वर्णन भी छायावादी किवयों की श्रृङ्गारिकता का दूसरा रूप है। वे प्रकृति के रूप में भी नारी का रूप देखते हैं; उसकी छिव
में किसी प्रेयसी के सौंदर्य-वैभव का साक्षात्कार करते हैं, उसकी चाल-ढाल में किसी नवयौवना की चेष्टाग्रों का प्रतिबिम्ब पाते हैं, उसके पत्तों की मर्मर या फूलों की गुन-गुनाप्रति-प्रवास का प्रतिबिम्ब पाते हैं स्वास प्रति वाला-किशोरी के मधुर-ग्रालाप या ग्रुढे-स्फुट हास्य की प्रतिष्विन

सुनाई पड़ती है! ऐसी स्थित में भला यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि वे नारी से नहीं—प्रकृति से प्रेम करते हैं! हाँ, प्रकृति से प्रेम का नाटक श्रवश्य वे खेलते हैं श्रौर कभी उसे प्रसन्न करने के लिए नारी को ठुकराने का श्रभिनय भी करते हैं, किन्तु श्रन्त में उनकी कलई खुल जाती है। जिस प्रकार स्वर्ग के रंगमंच पर उर्वशी नाटक के नायक को श्रपने प्रेमी के नाम से सम्बोधित कर बैठती है या श्रपनी पत्नी के प्रति कृत्रिम प्रेम का प्रदर्शन करते समय मितराम के मुँह से श्रचानक ही किसी श्रौर तिय का नाम निकल पड़ा था, वैसी ही भूल छायावादी कियों से भी हो जाती है। जिस पंत ने कभी प्रकृति के माया-जाल को किसी बाला के वाल-जाल से बढ़कर बताया था, वही श्रागे चलकर 'भावी-पत्नी' के स्वप्नों में लीन हो गया। निराला की 'जूही की कली' को भले ही कुछ लोग प्रकृति-वर्णन का श्रेष्ठ उदाहरण मानें, किन्तु हमारी दृष्टि में तो वह पुरुष श्रौर नारी के संगम का ही चित्रण है; उसका भौरा कोई श्रौर नहीं, वे कन्दर्प देव ही हैं, जो छायावादी कियों के हृदय में सोए हुए थे श्रौर 'जूही की कली' किसी जीती-जागती रित देवी की प्रतिच्छाया मात्र है—

सोतो थो जाने कैसे प्रिय आगमन वह नायक ने चूमे कपोल डोल उठी बल्लरो की जड़ जैसे हिंडोल !

-ज़ही की कली

इस दृश्य को 'प्रकृति-चित्रण' वताना ग्रपनी ग्राँखों को घोखा देने के ग्रितिरिक्त ग्रौर कुछ नहीं। हाँ, इतना ग्रवश्य है कि प्रकृति का मानवीकरण—ग्रपितु 'नारीकरण' करने में इन्होंने ग्रपनी काव्य-कुशलता का ग्रच्छा परिचय दिया है।

ग्रव लीजिए, इनके प्रेम के तीसरे रूप—ग्रलौकिक प्रेम को। पहले इन्होंने प्रकृति की ग्रोट में प्रकृतिर-क्रीड़ा की, जब इससे भी इनका काम नहीं चला तो वे ग्रध्यात्म की चह्र ग्रोढ़कर रहस्यवादी वन गए ग्रौर कबीर, दादू ग्रादि की पंक्ति में ग्रा बैठे। इनका यह रहस्यवाद कितना कृत्रिम एवं वलात् ग्रारोपित है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि 'प्रेम पिथक', 'ग्राँसू' ग्रादि—जिनमें प्रसाद ने पहले लौकिक प्रेम की ग्रिमिव्यक्ति की थी, उनके नये-संस्कारों में दस-वीस पंक्तियाँ घटा बढ़ाकर उन्हें ग्रलौकिक प्रेममय बना डाला। यदि इसी तरह किसी को रहस्यवादी बनाना हो तो फिर घनानन्द, बोधा, ग्रालम ग्रादि को भी रहस्यवादी, बनाया जा सकता है। रहस्यवादी किव लौकिकता से ग्रलौकिकता की ग्रोर, स्थूल से सूक्ष्म की ग्रोर ग्रग्रसर होता है, किन्तु पन्त ग्रौर निराला की जीवनी का क्रम उलटा है। 'वीणा' में पन्त रहस्यवादी थे, 'गुंजन' में 'पत्नी' या 'प्रेयसी' वादी ग्रौर 'युगान्त' के बाद स्थूल भौतिकवादी बन गए। यही बात निराला में मिलती है। यह ठीक है कि इन्होंने ग्रह्तैतवादी ग्रन्थों का ग्रध्ययन करके उनसे 'ज्ञान-तत्व' भी बटोरा किन्तु उसे वे ग्रपनी ग्रनुभूति का विषय नहीं बना सके। घ्यान रहे, 'ग्रह्तैतवाद' का कोरा ज्ञान रहस्यवाद नहीं है ग्रौर न ही ग्रह्तैतवाद को पद्यबद्ध कर देना रहस्यवाद का कोरा ज्ञान रहस्यवाद नहीं है ग्रौर न ही ग्राह्तैतवाद को पद्यबद्ध कर देना रहस्यवाद

अपितु रहस्यवाद तो हृदय की एक ऐसी अनुभूति है, जिसको प्राप्त करने के अनन्तर भौतिक जगत् की कोई इच्छा, आकांक्षा या लालसा शेष नहीं रह जाती। सच्चा रहस्य-वादी किव 'गुंजन' के किव की भांति घर बसाने के लिए भावी-पत्नी की प्रतीक्षा में नहीं बैठता, अपितु कबीर की भांति आत्मा स्वयं ही किसी अलौकिक की दुलहनियाँ बनकर नाच उठती है, भूम उठती है!

शायद कहा जाय कि इनकी भ्रलौकिक वासना का उन्नयन भ्रागे चलकर भ्राच्याव त्मिक प्रेम से हो गया, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। कामायनीकार प्रसाद तक में रहस्यवाद की कोई भ्रनुभूति नहीं मिलती है। यही कारण है कि 'कामायनी' के भ्रन्तिम सर्ग, जिसमें रहस्य-दर्शन का चित्रण है, शुष्क, नीरस, एवं भ्रनुभूति-शून्य है। जीवन के श्रन्तिम दिनों में 'प्रसाद' से जब भ्रात्म-कथा लिखने के लिए कहा गया था तो उन्होंने उत्तर में कहा था—

यह विडंबना ! अरी सरलते,
तेरी हुँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें श्रपनी, या प्रवंचना
श्रीरों को दिखलाऊँ मैं।

× × ×

भिला कहाँ वह सुख जिसका
मैं स्वप्न देखकर जाग गया !
श्रालिंगन में आते-आते
मुस्काकर जो भाग गया !

× × ×

उसकी स्मृति पाथेय बनी है

थके पथिक की पंथा की।

—(लहर)

कोई भी रहस्यवादी किव अपने 'दिन्य प्रेम' को अपनी भूल बनाकर या 'आराघ्य की लीला' को 'प्रवंचना' कहकर अपमानित नहीं करता । रहस्यवादी के जीवन में पहले वियोग आता है और फिर संयोग—िकन्तु यहाँ विपरीत बात है : रहस्य-पथ का पथिक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, उसका उत्साह बढ़ता जाता है; वह अपने आपको 'थका हुआ पथिक' अनुभव नहीं करता । वस्तुतः इन किवयों के 'आलिंगन में आते-जाते मुस्कराकर भाग जानेवाला' कोई इस घरती का ही जीव है ।

हाँ, रहस्य-साधना के क्षेत्र में महादेवी अवश्य दृढ़तापूर्वक मग्न हैं। रहस्यवाद के कई स्तर होते हैं—प्रथम अलौकिक सत्ता के प्रति आकर्षण, द्वितीय उसके प्रति दृढ़ानु-राग, तृतीय विरहानुभूति और चतुर्थ मिलन का आनन्द। उन्होंने अपने हृदय की बात पूर्णतः खोलकर नहीं सुनाई है, अतः उसके सम्बन्ध में कुछ कहना तो अपराध होगा, किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि अभी को सहस्यवाद के प्रथम स्कर से आगे नहीं बढ़ी हैं।

कबीर श्रौर दादू की-सी तीक्ष्ण विरहानुभूतियाँ उन्हें श्रभी तक प्राप्त नहीं हुईं, इसीलिए वे विरह के एक क्षण के लिए तृषित हैं। प्रेम जितना गहरा होगा, विरह उतना ही श्रिषक वेदनापूर्ण श्रौर दुःसह्य प्रतीत होगा। महादेवी को तो श्रभी विरह श्रौर मिलन का हो श्रन्तर ज्ञात नहीं है—

> विरह का युग श्राज दोखा मिलन के लघु पल सरीखा दुःख सुख में कौन तीखा में न जानी औ न सीखा।।

> > (ब्राघुनिक कवि, पृ० ६८)

घ्यान रहे, विरह की घड़ियों में कवीर जैसे अनखड़ साधक का हृदय भी हाहाकार कर उठा था, उनके रोम-रोम से वेदना फूट पड़ी थी, जिसे सहन करने की अपेक्षा
उन्होंने मृत्यु का आर्लिंगन कर लेना श्रेयस्कर समक्ता था—"या विरिष्टिणि को मौत दे,
या आपा दिखलाय। आठ पहर का दाक्तणाँ मो पै सह्या न जाय!!"—अतः आश्चर्य
है कि महादेवी में ऐसी कठोरता कहाँ से आ गई कि विरह में वे तिनक भी दुःख अनुभव नहीं करतीं। महादेवी के श्रद्धालु भक्त कह सकते हैं कि भारतीय नारी पुष्प की
अपेक्षा अधिक सहनशील होती है, महादेवी नारी हैं जबिक कबीर पुष्प थे—िकन्तु उन्हें
यह न भूल जाना चाहिए कि नारी एक कवियत्री पहले भी हो चुकी है, जो अलौकिक
प्रेम में महादेवी से पीछे नहीं थी और जिसने कहा था—

वस्तुतः मीरा का कहना ठीक था—जो घायल हो, वही घायल के दर्द को समभ सकता है, किन्तु केवल घायलपन का ग्रभिनय करनेवाले पात्रों के लिए दर्द ग्रौर दर्द का न होना—दोनों एक जैसे हैं।

(ख) विचारगत प्रवृत्तियाँ—छायावाद की विचारगत प्रवृत्तियाँ सामान्यतः ये हैं—(१) दर्शन के क्षेत्र में ग्रद्धैतवाद व सर्वात्मवाद, (२) धर्म के क्षेत्र में रूढ़ियों एवं वाह्याचारों से मुक्त व्यापक मानव-हितवाद, (३) समाज के क्षेत्र में समन्वयवाद, (४) राजनीति के क्षेत्र में ग्रन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्व-शान्ति का समर्थन, (५) गार्हस्थ्य, पारि-वारिक एवं दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र में हृदयवाद या प्रेमपूर्ण व्यवहार, (६) साहित्य के क्षेत्र में व्यापक कलावाद या सौन्दर्यवाद । इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी कवियों ने प्रत्येक क्षेत्र में ग्रादर्श, व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टिकोण को ग्रपनाया है। वे जीवन के स्थूल उपकरणों की ग्रपेक्षा सूक्ष्म गुणों को ग्रधिक महत्त्व देते हैं। प्रसाद की 'कामायनी', पंत

के 'गुंजन' ग्रौर निराला के 'परिमल' के कुछ स्थलों में उनका विचार-पक्ष व्यक्त हुग्रा है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) भ्रद्वेतवाद—

तुम तुंग हिमालय शृंग,
ग्रीर में चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
ग्रीर में कान्त-कामिनी कविता।।

—निराला

(२) व्यापक मानवतावाद— श्रीरों को हँसते देखो मनु, हँसो श्रीर मुख पाग्रो। श्रपने मुख को विस्तृत कर लो, सब को मुखी बनाग्रो।

—प्रसाद

(३) समन्वयवाद—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा पूरी क्यों हो मन की ! दोनों मिल एक न हो सके, यही विडम्बना है जोवन की ।।

—प्रसाद

—पन्त

खायावादी कवियों ने विचारों की अभिव्यक्ति शुष्क ढंग से की है, उस अभि-व्यक्ति के पीछे अनुभूति की गहरी तरलता नहीं मिलती, जिससे वे पाठक के हृदय को कम प्रभावित कर पाते हैं। कविता में विचार भावों में घुले-मिले हुए होने चाहिए, किंतु खायावादी कवियों में अलग-अलग विखरे से पड़े हैं। कहीं-कहीं अतिविचारात्मकता के कारण खायावाद में शुष्कता, जटिलता एवं अस्पष्टता भी आ गई है।

(ग) शैलोगत प्रवृत्तियाँ—छायावादी शैली की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—(१) मुक्तक गीति-शैली, (२) प्रतीकात्मकता, (३) प्राचीन एवं नवीन अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग; जैसे मानवीकरण, विरोधाभास, विशेषण-विपर्यय भ्रादि, (४) कोमल-कान्त, संस्कृतमय शब्दावली । धीति सोखी को सम्भिक्त प्रमुख्य का विशेषण निवस्ति का सावात्मकता,

संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, कोमलता ग्रादि—इनके कान्य में उपलब्ध होते हैं। प्रतीकों के द्वारा इन्होंने ग्रपनी ग्रमिन्यक्ति की मार्मिकता में ग्रमिनृद्धि की है, जैसे—'यह पत्मुक्त मधुवन भी हो, शूलों का दर्शन भी हो, किलयों का चुम्बन भी हो।' यहाँ पत्मुक्त मधुवन भी हो।' यहाँ पत्मुक्त मधुवन, शूल, किलयाँ ग्रादि जीवन के विभिन्न रूपों व ग्रंगों के प्रतीक हैं। मूर्त्त का श्रमूर्त्त रूप में तथा ग्रमूर्त्त को मूर्त्त रूप में चित्रित करने के लिए ग्रनेक नवीन उपमानों का प्रयोग किया गया है। इनकी शैली के कुछ उदाहरण द्रष्टन्य हैं—

मूर्त्त के लिए श्रमूर्त्त उपमान— श्रमूर्त्त के लिए मूर्त्त उपमान— विशेषण-विपर्यय—

विरोधाभास— • रूपकातिशयोक्ति—

कोमल-कान्त पदावली-

'बिखरी श्रलकें ज्यों तकं जाल।' कीर्ति किरन सी नाच रही है।' तुम्हारी श्रांखों का बचपन, खेलता जब श्रल्हड़ खेल। 'शीतल ज्वाला में जलता हूँ' बांघा था विघु को किसने, इन काली जन्जीरों से। मृदु मन्द-मन्द मंथर-मंथर। लघु तरिणी हंसिनी सी सुन्दर तिर रही खोल पालों के पर।

वस्तुतः छायावादी कवियों के कारण हिन्दी की ग्रिभव्यंजना-शक्ति में ग्रभूतपूर्व वृद्धि हुई है। छायावादी शैली की चित्रात्मकता, लाक्षणिकता एवं व्यंग्यात्मकता की प्रशंसा ग्राचार्य शुक्ल जैसे विरोधी ग्रालोचकों ने भी की है।

छायावादी काव्य में कुछ शैलीगत दोष भी मिलते हैं, जैसे ग्रशुद्ध प्रयोग, ग्रस्पष्टता, कल्पना की क्लिष्टता, उपमानों का ग्रस्वाभाविक प्रयोग ग्रादि । इससे रसानु-भूति में बाधा उपस्थित हो जाती है, तथा जन-साधारण इस काव्य के ग्रास्वादन से वंचित रहता है।

उपसंहार

कहते हैं कि अब 'छायावाद का पतन' हो गया। बड़े-बड़े आलोचकों ने इसकी घोषणा गम्भीर पुस्तकें लिखकर की है। प्रसाद की मृत्यु के पश्चात् ऐसा कोई दृढ़ व्यक्ति छायावाद के पास नहीं रह गया, जो इसके नेतृत्व को सँभाल सकता। 'निराला' भी विदा हो गए और पंत ने घर्म-परिवर्तन—या कहिए 'वाद'-परिवर्तन—कर लिया। महादेवी जैसी अबला सिवा करुण-गीतियाँ लिखने के और कर ही क्या सकती थीं। वे भी औरों के स्वर में स्वर मिलाकर कहने लग गईं—''छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्य सत्ता को ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्य रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।'' दूसरी और पंति भी भिष्मित हो प्राप्त हमारे हिए कठिन हो गया।'' दूसरी और प्राप्त सींदर्ग भिष्मित हो स्वर्ग हमारे हमारे किए कठिन हो गया।'' दूसरी और प्राप्त सींदर्ग भिष्मित हमारे हमा

नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन ग्रादशों का प्रकाश, नवीन भावना का सौंदर्य-बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था....।" ग्राश्चर्य है कि छायावाद के व्यापक ग्रादर्शवाद, मानवतावाद एवं कलावाद वीस वर्ष की छोटी-सी श्रविध में ही पुराने और फीके पड़ गए। क्या ग्राज मनुष्य स्थूल भौतिकता, वैज्ञानिकता और तार्किकता के तीक्ष्ण वाणों से विद्ध नहीं है? क्या प्रतिस्पर्धा, घृणा श्रौर हिंसा के वादल ग्रव छिन्न-भिन्न हो गए हैं? विश्व-शान्ति का स्वप्न पूरा हो गया है? यदि नहीं, तो फिर कैसे कह सकते हैं कि छायावादी ग्रादर्श भविष्य के लिए उपयोगी नहीं थे, नवीन नहीं थे।

हमारा तो यह विश्वास है कि सौन्दर्य श्रीर प्रेम की जिस ग्रक्षय-निधि को लेकर खायावाद चला था, वह किसी एक युग, एक देश या एक वाद की सम्पत्ति नहीं है। कालिदास से लेकर शेक्सपीयर तक सभी महान् कलाकारों ने इसी श्रमर सम्पदा के संचयन में श्रपनी प्रतिभा का प्रतिफलन किया है। श्राज कालिदास या शेक्सपीयर नहीं हैं, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनकी यह दी हुई सम्पदा भी महत्त्वहीन हो गई। व्यापक मानवता का श्रादर्श किसी भी युग श्रौर किसी भी देश में फीका नहीं पड़ सकता। गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, कबीर, नानक, रवीन्द्र, भारतेन्द्र श्रौर गांघी ने विश्व-प्रेम की जो ज्योति समय-समय पर जलाई हैं, उसका प्रकाश मानवता के किसी स्तर पर श्रमंद, श्रनावश्यक एवं श्रनुपयोगी नहीं हो सकता।

भले ही छायावादी इस घरती पर न रमे हों, किन्तु व्यापक आदर्शों एवं सूक्ष्म सौन्दर्य को लेकर चलनेवाला छायावाद अब भी अजर है, अमर है !! हाँ, कामायनीकार के शब्दों में हम आज के भूले-अटके छायावादियों से इतना अवश्य कहेंगे—

> ''हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते जिसको मर कर वीर।''

the property of the late

:: 83 ::

प्रगतिवाद श्रौर हिन्दी-साहित्य

- १. प्रगति का अर्थ।
- २. प्रगतिशील भीर प्रगतिवादी का भन्तर।
- ३. मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्त (क) द्रन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त, (ग) विश्व-सम्यता के विकास की व्याख्या।
- ४. प्रगतियादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ।
- ५. भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता।
- ६. हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य।
- ७. न्यूनताएँ।
- **म.** उपसंहार ।

। 'प्रगति' शब्द का अर्थ है—चलना, ग्रागे बढ़ना, ग्रतः प्रगतिवाद का शाब्दिक अर्थ हुग्रा—वह वाद जो ग्रागे बढ़ने में विश्वास रखता है। इस दृष्टि से इसका ग्रथं बहुत ब्यापक है, किन्तु ग्राधुनिक हिन्दी में इसका प्रयोग एक विशेष विचार-घारा के लिए ही रूढ़ हो गया है। यह विशेष विचारधारा है—मार्क्सवादी या साम्यवादी दृष्टिकोण के ग्रनुकूल साहित्यिक विचारधारा। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि साम्यवादी विचारों का प्रचार करनेवाला या साम्यवादी लक्ष्य को पूर्ति में योग देनेवाला साहित्य ही प्रगतिवादी साहित्य कहलाता है। जिंध्यान रहे, 'प्रगतिवाद' से एक मिलता-जुलता शब्द—'प्रगतिशील'—भी हिन्दी में प्रचलित है, किन्तु दोनों के ग्रथं में सूक्ष्म ग्रन्तर है। जहाँ 'प्रगतिवाद' सर्वथा मार्क्सवाद से वँघा हुग्रा है, वहाँ 'प्रगतिशील' उससे स्वतंत्र है। समाज की प्रगति के कई मार्ग हो सकते हैं। प्रगतिवादी केवल साम्यवादी मार्ग को ही ग्रपनाने के लिए विवश हैं, जब कि 'प्रगतिशील' किसी भी वाद-विशेष से ग्राबद्ध नहीं होता।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रगतिवादी विचाराधारा का मूलाधार मार्क्सवाद या साम्यवाद है, ग्रतः इसका भी थोड़ा परिचय यहाँ दे देना ग्रावश्यक है। इस वाद के प्रवर्त्तक कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३ ई०) थे। मार्क्सवादी विचारधारा को मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं—(१) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, (२) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त ग्रौर (३) मानव-सम्यता के विकास की व्याख्या। इनमें से हम प्रत्येक को ग्रलग-ग्रलग ले सकते हैं—

(क) द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद—प्रायः सभी घर्मों के आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति किसी अलौकिक या आष्यात्मिक सत्ता के द्वारा हुई, जिसे CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है; किन्तु कार्ल मार्क्स की मान्यता के श्रनुसार संसार की 'उत्पत्ति' नहीं हुई, श्रपितु उसका धीरे-धीरे 'विकास' हुग्रा। मार्क्स से पूर्व डारिवन विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्यक् रूप से कर चुके थे।

यह विकास किसके द्वारा हुआ ? क्या किसी आध्यात्मिक शक्ति ने इस विकास में योग दिया ? इसके उत्तर में मार्क्सवाद का उत्तर है—आध्यात्मिक शक्ति ने नहीं, अपितु भौतिक जगत् स्वयं ही इस विकास का कारण है । मार्क्सवाद आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक तथा मृत्यु के बाद के जीवन आदि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता । मानव-हृदय या दूसरे प्राणियों में हम जिस चेतना का अनुभव करते हैं, वह हमारे स्थूल तत्त्वों पर ही आधारित है, उसका कोई अलौकिक या आध्यात्मिक रूप नहीं है ।

भौतिक विकासवाद को परिचालित करनेवाली प्रवृत्ति का नाम—द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक का ग्रर्थ है संघर्ष से ही विकास होता है। दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से तीसरी शक्ति या वस्तु विकसित होती है, ग्रागे चलकर तीसरी को चौथी वस्तु से संघर्ष करना पड़ता है और उससे पाँचवीं का उद्भव या विकास होता है। इसी क्रम से भौतिक जगत् में नई वस्तुओं, नये-नये रूपों, नई-नई शक्तियों और सत्ताओं का विकास होता रहता है। घ्यान रहे, प्रत्येक नई विकसित वस्तु को मार्क्स ने प्रथम दो से ग्रधिक उच्च-तर, श्रोडठतर माना है। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद का ग्रर्थ हुग्रा, दो शक्तियों के पारस्परिक द्वंद्व से भौतिक जगत् का विकास होता है या यों कहिए कि दो भौतिक शक्तियों के द्वन्द्व से ही सृष्टि का विकास होता है।

- (ख) मूल्य-वृद्धि का सिद्धान्त—िकसी भी वस्तु का मूल्य किस प्रकार बढ़ जाता है, इसकी व्याख्या करते हुए कार्ल मार्क्स ने उत्पत्ति के चार धंग निर्धारित किए—(१) मूल पदार्थ, (२) स्थूल-साधन, (३) श्रमिक का श्रम, धौर (४) मूल्य-वृद्धि । उदाहरण के लिए पाँच रुपए की कपास को जब कात-बुनकर कपड़े के थान में परिवर्तित कर लिया जाता है, तो उसी थान का मूल्य पच्चीस रुपये से भी ग्रधिक हो जाता है । ग्रस्तु, यहाँ बीस रुपये की मूल्य-वृद्धि हुई । यहाँ स्थूल-साधन ग्रर्थात् कपड़े बुनने के यन्त्रादि की घिसाई की कीमत के लिए लगभग एक रुपया धौर कम कर दें तो वास्तविक लाभ १६ रुपया हुग्रा । यह सारा लाभ श्रमिक के श्रम पर निर्भर है । ग्रतः श्रमिक को ही मिलना चाहिए किन्तु पूंजीवादी युग में मिल-मालिक ही इसका ग्रधिकांश हड़प कर लेता है । इससे समाज में दो वर्गों का विकास हुग्रा—एक जो श्रमिक हैं, दूसरे श्रमिकों के श्रम का ग्रनुचित लाभ उठाते हैं । मार्क्सवादी शब्दावली में किसान-मजदूर (श्रमिक) 'शोषित' हैं, ग्रौर मालिक, जागीरदार, पूंजीपित ग्रादि 'शोषक' हैं ।
- (ग) विश्व-सभ्यता के विकास को नई व्याख्या—विभिन्न देशों एवं जातियों के विकास का इतिहास लिखनेवाले लेखकों ने प्रायः मानव जाति को राष्ट्र, वर्ण या जाति के ग्राधार पर वर्गीकृत किया है, किन्तु मार्क्स दुनिया के सब मनुष्यों की—चाहे वे किसी भी देश या जाति से सम्बन्धित हों—दो जातियाँ या वर्ग मानते हैं—(१) शोषक वर्ग ग्रीर (२) शोषित वर्ग। मानव-सम्यता का समस्त इतिहास इन दो वर्गों के संघर्ष की ही कहानी है। इस कहानी को मीक्षा व्यास स्वासे के खंदर का सकता है —पहला युग दास-

प्रया का युग था, जबिक श्रमिक के व्यक्तित्व, उसके श्रम, उत्पत्ति के साधनों एवं उत्पादन—इन चारों पर मालिक (शोषक) का ग्रधिकार था। ग्रागे चलकर दूसरा युग सामन्ती प्रथा का ग्राया, जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व को तो स्वतन्त्रता मिल गई, किन्तु शेष तीनों वातों पर सामन्त (शोषक) का ही अधिकार रहा है। जहाँ दास-प्रथा के युग में श्रमिक को वैयक्तिक मामलों में कोई स्वतन्त्रता नहीं थी, वहाँ सामन्तवादी युग में उसे यह प्राप्त हो गई, ग्रतः नई व्यवस्था पहली व्यवस्या से भ्रच्छी थी। तीसरा युग पुँजीवादी व्यवस्था का भ्राया, जिसमें मजदूर के व्यक्तित्व एवं उसके श्रम पर मजदूर का ग्रिधिकार हो गया, किन्तु शेष दो पर पूँजीपति का ग्रिधिकार रहा। ग्रर्थात् सामन्तवादी युग की भाँति पूँजीवादी युग में कोई किसी से बलात् श्रम नहीं करवा सकता। मजदूर ग्रपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे ग्रपने श्रम को बेच सकता है। ग्रतः दूसरी व्यवस्था से तीसरी व्यवस्था ग्रच्छी है। किन्तु फिर भी मजदूरों को उत्पादन का पूरा लाभ तभी मिल सकता है, जबिक उत्पादन के साधनों पर उनका ग्रिधिकार हो । यह व्यवस्था एक ऐसे समाज में ही संभव है, जहाँ मजदूरों की ही सत्ता हो। ग्रस्तु, कार्ल मार्क्स का लक्ष्य उस चौथी व्यवस्था—साम्यवादी व्यवस्था—को स्थापित करना था, जिसमें मजदूरों की प्रतिनिधि सरकार द्वारा उत्पादन के समस्त साधनों पर नियन्त्रण हो तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के मनुरूप फल मिले।

इस प्रकार मार्क्सवाद का लक्ष्य समाज में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त वह हिंसात्मक क्रांति का भी समर्थन करता है। मार्क्सवादी या प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य भी साम्यवादी विचारघारा का प्रचार करना तथा शोषित वर्ग को क्रांति के लिए, शोषक वर्ग के विरुद्ध उत्तेजित करना है।

प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

ग्रस्तु, दर्शन में जो द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद है, राजनीति में जो साम्यवाद है, वही साहित्य में प्रगतिवाद है। प्रगतिवादी साहित्य का प्रचार सर्वप्रथम यूरोप के विभिन्न देशों में हुग्रा, तदनन्तर एशिया के कुछ भागों में। प्रगतिवाद का सम्बन्ध केवल हिन्दी से हो नहीं, विश्व की विभिन्न भाषाग्रों से है, ग्रतः हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य पर विचार करने से पूर्व विभिन्न देशों के प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार कर लेना उचित होगा। प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं—

(क) वमं, ईश्वर एवं परलोक का विरोध—समाज में वर्ग-चेतना उत्पन्न करने तथा शोषित वर्ग को संघर्ष के लिए तैयार करने के लिए सर्वप्रथम ईश्वर, धमं, परलोक एवं भाग्य सम्बन्धी विचारों का उन्मूलन करना ग्रावश्यक है। जब तक एक मजदूर ईश्वरवादी, धर्म-परायण, परलोक में विश्वास रखनेवाला तथा भाग्यवादी होगा, वह हिंसात्मक क्रांति के लिए तैयार नहीं होगा। शोषक वर्ग इन्हीं ग्रध्यात्मवादी मान्यताग्रों के बल पर शोषित वर्ग पर प्रत्याचार करता है। ग्रतः प्रगतिवादी कलाकार 'ईश्वर के बल पर शोषित वर्ग पर्वावादी आपता Math Collection, Varanasi.

असफल हो गया है', 'धर्म अफीम का नशा है' जैसी घोषणाएँ कला के माध्यम से घोषित करता है।

- (स) पूँजीपित वर्ग के प्रति घृणा का प्रचार—पूँजीपित वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए प्रगतिवादी कलाकार उसके घृणित रूप का चित्रण करता है। प्रायः सभी प्रगतिवादी रचनाओं में एक पूँजीपित को घोर 'स्वार्थी, कपटी, क्रूर एवं निर्दय' के रूप में चित्रित किया जाता है।
- (ग) शोषित वर्ग के जीवन की दोनता एवं कटुता का चित्रण—पूँजीपितयों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के साथ-साथ प्रगतिवादी साहित्यकार किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के निमित्त उनकी दयनीय दशा का चित्रण करता हुग्रा दोनों वर्गों के जीवन की विषमता का उद्घाटन करता है।
- (घ) नारी के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण—प्रगतिवादी कलाकार नारी के रूप-वैभव को कल्पना की आँखों से नहीं देखता, न तो वह उसके सौन्दर्य को स्वर्ग का जादू समभता है और न ही उसकी पूजा करना आवश्यक मानता है। वस्तुतः उसके लिए नारी केवल नारी है, जो पुरुष की ही भाँति स्यूल सृष्टि का एक अंग है। वह उसके सूक्ष्म गुणों की अपेक्षा उसके स्थूल शरीर को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। वह महलों में सुरक्षित राजकुमारियों की अपेक्षा खेत-खिलहानों में कार्य करनेवाली स्वस्थ कृषक-बालाओं एवं मजदूरिनयों के चित्रण में अधिक प्रवृत्त होता है। यथार्थवाद के नाम पर कहीं-कहीं इन किवयों ने पुरुष और नारी सम्बन्धी गोपनीय व्यापारों को भी नग्न रूप में प्रस्तुत कर दिया है।
- (ङ) सरल शैली—प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य उच्च-वर्ग के सुशिक्षित पाठक नहीं हैं, अपितु वह जन-साधारण के लिए काव्य की रचना करता है, अतः उसमें जन-भाषा एवं सरल शैली का प्रयोग होना स्वाभाविक है। साहित्य की प्राचीन रूढ़ियों—छंद-अलंकारों आदि—का भी प्रगतिवाद में निर्वाह नहीं किया जाता।

भारतीय साहित्य में प्रगतिशीलता

'प्रगतिवादी' साहित्य के संकुचित रूप का ग्राविर्माव कार्ल मार्क्स के पश्चात् १६वीं-२०वीं शती में हुग्ना, किन्तु इससे यह न सममना चाहिए कि इससे पूर्व साहित्य में प्रगतिशीलता के तत्त्व थे ही नहीं। ग्रन्य देशों के साहित्य के बारे में तो हम ग्रधिक नहीं जानते, किन्तु जहाँ तक भारतीय साहित्य का सम्बन्ध है, हमें उसमें प्रगतिशीलता के पर्याप्त तत्त्व मिलते हैं। यदि प्रगतिशीलता का ग्रर्थ समाज के निम्न, उपेक्षित वर्ग से सहानुभूति दिखाना है, तो सम्भवतः संस्कृत में 'मिट्टो की गाड़ी' का रचयिता नाटककार शूद्रक भारत का पहला प्रगतिशील साहित्यकार है। उसने ग्रपने 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) में तत्कालीन ग्रादशों के विरुद्ध उच्चकुलीन नायक-नायिका के स्थान पर 'चारवत्त' नामक मध्यम वर्ग के व्यक्ति को नायक के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए दिखाया है कि राजाग्रों, ज्यायाग्रीकों एकं भ्रन्य उच्चविर्मी के क्तिगीं की ग्रपेक्षा मानवता की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोग कहीं ग्रधिक महान् हैं। क्या एक चोर जो किसी प्रकार धनी वर्ग का थोड़ा-सा पैसा चुरा लेने में समर्थ होता है, सचमुच घृणा का पात्र है ? क्या समाज की परिस्थितियाँ ही उसे चोरी करने के लिए बाघ्य नहीं करती ? क्या ग्रपने रुपए-पैसे के मद में विभोर रहने वाले धनिक-पुत्रों एवं सत्ता के गर्वीन्माद से ग्रस्त राज-प्रयालक की ग्रपेक्षा वह गरीब चारुदत्त ग्रधिक महान् नहीं है, जो ऋण-भार से दवा हुग्रा होने पर भी ग्रन्य लोगों की सहायता करता है ? ग्रादि प्रश्नों का उत्तर शूदक ने प्रगतिशील दृष्टिकोण से दिया है। खेद है कि संस्कृत-नाटक-साहित्य में शूदक की परम्परा का विकास ग्रधिक नहीं हो सका।

भारतीय साहित्य में यथार्थवादी या प्रगतिशील काव्य की सुदृढ़ परम्परा का प्रवर्त्तन हाल की 'गाथा-सप्तशती' से हुग्रा। इस ग्रन्थ में उच्च वर्ग के भोग-विलास के स्थान पर श्रमिक लोगों के जीवन की ग्रनुभूतियों का प्रकाशन स्वाभाविक शैली में हुग्रा है। ग्रागे चलकर 'ग्रमरुक-शतक', भर्तृ हिर के 'श्रुङ्गार-शतक', गोवर्द्धनाचार्य की 'ग्रार्था-सप्तशती' में भी इसी परम्परा का विकास हुग्रा। ग्रमरुक ने तो ग्रपने शतक में एक ऐसे स्थूल भौतिकवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जो सम्भवतः ग्राधुनिक ग्रालोचक को ग्राश्चर्यान्वित कर दे। ग्रमरुक घरती के सौन्दर्य पर ऐसे मुग्ध हैं कि उन्होंने देवताओं को मूढ़ घोषित कर दिया। भला घरती पर सुन्दरियों के ग्रधरामृत के होते हुए भी समुद्र-मंथन की क्या श्रावश्यकता थी? ग्रपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य में भी प्रगतिशीलता दृष्टिगोचर होती है यद्यपि उसमें विलासिता का रंग ग्रधिक है।

प्राचीन रुढ़ियों एवं उच्च वर्ग के विरोध की दृष्टि से हिन्दी का समस्त सन्तसाहित्य प्रगतिशोलता से स्रोत-प्रोत है। क्या भाव, क्या विचार एवं क्या भाषा—सभी
दृष्टिकोणों से कवीर ने साहित्य में जो मौलिकता प्रस्तुत की है, वह प्रतिशीलता का ही
दूसरा रूप है। संस्कृत के विद्वानों की नगरी में रहकर भी 'संसिकरत है कूप-जल, भाषा
बहता नीर' की घोषणा करनेवाले कवीर की प्रगतिशीलता स्पष्ट है। कुछ विद्वान्
तुलसी को भी प्रगतिशील मानते हैं। किन्तु हमारे विचार से उनका दृष्टिकोण ग्रादर्शवादी ग्रधिक था, यथार्थवादी कम; वे प्राचीनता के समर्थक ग्रधिक थे, नवोनता के कम;
के क्रान्ति की ग्रपेक्षा समन्वय को, ऊँच-नीच की समानता की ग्रपेक्षा विषमता को ग्रधिक
पसन्द करते थे, करुण-रस की दो-चार पंक्तियों के ग्राधार पर ही उन्हें 'प्रगतिशोल'
सिद्ध करना कठिन है। तुलसी की महानता ग्रादर्शवादी के रूप में ही ग्रधिक है ग्रौर
यदि वे यथार्थवादी प्रगतिशील न भी सिद्ध होते हों, तो भी उनकी इस महानता में
विशेष श्रन्तर नहीं पड़ेगा।

रीतिकालीन किवयों में बिहारी ने सर्वाधिक यथार्थवादिता का परिचय दिया है। उन्होंने घर-मिन्दिरों, हाट, खेत-खिलहानों में मिलनेवाले कुत्सित रूपों का उद्घाटन निःसंकोच रूप में किया है। किन्तु केवल यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही इन्हें पूर्ण प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। सच्ची प्रगतिशीलता का पूर्ण विकास हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम भारतेन्द्र-युगीन साहित्य में ही उपलब्ध होता है। घर्म, समाज, राजनीति, साहित्य एवं भाषा—सभी क्षेत्रों में भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र व उनके ग्रनुयायी पूरे प्रगतिशील थे।

उन्होंने सरलतम भाषा में प्राचीन रूढ़ियों एवं मान्यताग्रों का खण्डन व्यंग्यात्मक शैली में किया तथा साथ ही विदेशी साम्राज्य की दूषित प्रवृत्तियों पर भी तीखा प्रहार किया।

किसानों के प्रति सहानुभूति प्रविश्वत करने व सुधारात्मक प्रवृत्तियों की दृष्टि से दिवेदी युगीन साहित्य में भी प्रगतिशीलता के कुछ तत्त्व स्वीकार किए जा सकते हैं। छायावादी युग में किवता वैयक्तिक प्रवृत्तियों से बहुत ग्रधिक भ्राच्छन्न हो गई, किन्तु इसी युग में उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्दजी के द्वारा सच्ची प्रगतिशीलता का निरूपण हुग्रा। भ्रागे चलकर तो प्रगतिवाद युग की प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में ही प्रस्फुटित हो गया।

हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य

ऊपर हमने प्रगतिशील साहित्य पर संकेतात्मक ढंग से प्रकाश डाला है। विशुद्ध 'प्रगतिवादी चेतना' का प्रस्फुटन हिन्दी में सन् १९३६ ई० के लगभग हुम्रा। इसी वर्ष लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई, जिसके प्रथम भ्रधिवेशन की भ्रध्यक्षता मुंशी प्रेमचन्द ने की। किवता, कहानी, उपन्यास, नाटक भ्रौर भ्रालोचना भ्रादि सभी क्षेत्रों में प्रगतिवादी साहित्य की प्रवृत्तियों का विकास होने लगा। भ्रनेक प्रमुख खायावादी किव—पंत, निराला, नरेन्द्र भ्रादि प्रगतिवादी वन गए। पन्तजी ने भ्रपनी नवीन रचनाभ्रों में घरती के निम्न एवं उपेक्षित वर्ग का चित्रण निरलंकृत शैली में किया। जो किव खायावादी युग में कल्पना के पंखों पर सवार होकर भ्राध्यात्मिक लोक में विचरण करते थे, वे ही भ्रब दूसरों को भ्रपनी दृष्टि घरती तक ही सीमित रखने की शिक्षा देने लगे—

ताक रहे गगन ? मृत्यु नीलिमा गहन गगन ? निस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन ? देखो भू को, स्वर्गिक भू को, मानव-पुण्य प्रसू को !

दूसरी श्रोर 'निराला' ने जन-साधारण के दुःख-सुख का चित्रण ग्रपनी रचनाओं में किया। उनकी 'भिखारी' किवता में इसी प्रवृत्ति का पता चलता है। फिर भी 'निराला' प्रगतिशील ही रहे, मार्क्सवाद के पिछलग्यू वे नहीं बने। 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, 'ग्रंचल', नवोन, सुमन, गिरिजाकुमार माथुर, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा ग्रादि किवयों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ग्रपनाते हुए काव्य-रचना की। विषमता का चित्रण करते हुए दिनकर ने सशक्त भाषा में लिखा—

श्वानों को मिलता दूध-वही, बच्चे भूखे तड़पाते हैं। मां की हड्डी से ठिठुर चिपक जाड़ों की रात बिताते हैं।। युवती की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाए जाते हैं। मिल-मालिक तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं।।

कुछ ग्रन्य प्रगतिवादी कवियों की भी कुछ पंक्तियाँ नमूने के रूप में देखी जा सकती हैं:

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

र्वालन श्रव नजदीक है फासिस्तों को काल-रात्रि में घोर घटा घिर श्राई। चली लाल सेना ज्यों सावन में चलती पुरवाई।।

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

इन खिलहानों में गूँज रही, किन अपमानों की लाचारी। हिलती हड्डी के ढाँचों ने, पिटती देखी घर की नारी॥ युग-युग के ग्रत्याचारों की; ग्राकृतियाँ जीवन के तल में, घिर-घिर कर पुंजीभूत हुई, ज्यों रजनी की छाया-छल में!

—रामेश्वर शुक्ल 'ग्रंचल'

दुनिया के मजदूर भाइयो, सुन लो एक हमारी बात । सिर्फ एकता में ही बसता, इस दुनिया के सुख का राज ।।

—चन्द्रकिरण सौनरिक्सा

है जीने का अधिकार नहीं, हमको किस्मत की मर्जी पर। जड़ रूढ़िवाद के शव को जो जीवित कहता है, श्राह श्राज!

-- नरेन्द्र शर्मा

उपर्युक्त ग्रंशों में मार्क्सवादी विचारघारा का प्रतिपादन ग्रघिक है, उसकी ग्रनु-भृति कम, जिससे इन रचनाग्रों में रागात्मकता नहीं ग्रा सकी।

कथा साहित्य के क्षेत्र में राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा म्रादि लेखकों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनके साहित्य में जहाँ यथार्थवादी ढंग से समाज की विभिन्न परिस्थितियों का म्रंकन हुम्रा है, वहाँ नग्न-भ्रश्लीलता का भी चित्रण पर्याप्त मिलता है। सांकृत्यायनजी की 'वोल्गा से गंगा', यशपालजी की 'प्रतिष्ठा का बोभ' म्रौर 'घर्म-रक्षा', नागार्जुन की 'रितिनाथ की चाची' जैसी रचनाम्रों में जुगुप्सोत्पादक कामुकता की ग्रिभिव्यक्ति हुई है।

श्रालोचकों में भी एक वर्ग ऐसा है जिसे प्रगतिवादी कह सकते हैं। इनमें डॉ॰ रामिवलास शर्मा, शिवदानिसह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्रमृतराय श्रादि प्रमुख हैं। इन श्रालोचकों की पारस्परिक प्रतिद्वनिद्वता के कारण प्रगतिवादी श्रालोचना श्रीधक विकसित नहीं हो सकी। साथ ही इनके दृष्टिकोण में एक गम्भीर श्रालोचक की सी सुदृढ़ता, परिपक्तता एवं उच्चता नहीं मिलती, फिर भी इनका श्रपना विशिष्ट स्थान है।

हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की न्यूनताएँ

हिन्दी में प्रगतिवाद का प्रचार जितनी शीघ्रता से हुआ, उतनी स्थिरता वह प्राप्त नहीं कर सका। लगभग बीस वर्ष की भ्रविध में भी वह ऐसी कोई विशिष्ट रचना नहीं दे सका, जिसे हम 'कामायनी' या 'गोदान' के स्तर पर रख सकें। कविता, कहानी, उपन्यास, भ्रालोचना किसी भी क्षेत्र में उसकी कोई ऐसी देन नहीं है, जिसे हम

ग्रविस्मरणीय कह सकें। इस ग्रसफलता के कई कारण हैं। एक तो प्रगतिवाद की मूल सैद्धान्तिक न्यनता ही यह है कि भ्राघ्यात्मिकता का पूर्ण तिरस्कार करता है। भारत जैसे देश में ग्राघ्यात्मिकता का बहिष्कार एकाएक कर देना बहुत कठिन है। दूसरे, जैसा कि मार्क्स ने स्वयं कहा था, कोई भी व्यवस्था या पद्धति श्रन्तिम नहीं होती, एक के बाद एक भ्रच्छी व्यवस्था या पद्धति का विकास होता रहता है, अतः यह बात साम्यवादी व्यवस्था पर भी लागू होती है। किसी युग में साम्यवादी व्यवस्था सबसे श्रच्छी मानी जा सकती थी, किन्तु ग्रव वह अपूर्ण सिद्ध हो गई है। ग्राज का मानव उससे भी कोई ग्रच्छी व्यवस्था चाहता है, जिसमें एकांगी स्थलता एवं भौतिकता न होकर उसमें सूक्ष्मता एवं ग्राघ्यात्मिकता का भी मिश्रण हो। पंतजी जैसे कवि मार्क्सवाद की इस एकांगिता से ही ऊवकर लौट श्राये। तीसरे, जो लक्ष्य मार्क्सवादी विचारों का है-समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना—उसी लक्ष्य की श्रोर कांग्रेस सरकार भी घीरे-धीरे श्रागे बढ़ रही है; ग्रतः ऐसी स्थिति में भारत में मार्क्सवाद का प्रभाव न्यून हो जाना स्वाभाविक था। चौथे, हमारे कवि व साहित्यकार प्रगतिवादी विचारघारा को पूरी तरह पचा नहीं पाए, वे उसे अपनी बुद्धि का ही विषय बना सके, हृदय की वस्तू नहीं बना पाये, फलतः उनकी रचनाओं में शुष्क विचार मिलते हैं, अनूभूति की तरलता का असाव है। सच्ची वात तो यह है कि हमारे अधिकांश साहित्यकार जो प्रगतिवादी वर्ग के नेता माने जाते हैं, स्वयं किसी पूँजीपति से कम नहीं हैं। पहाड़ियों के वैभवपूर्ण वाता-वरण में बैठकर निश्चिन्तता से मजदूरों के दुःख-दर्द के गीत लिखे जा सकते हैं, किन्तु उनमें भ्रनुभृति की सजीवता भ्रा जाय, यह भ्रावश्यक नहीं। फलतः प्रगतिवादी साहित्य हमारे हृदय को स्पर्श नहीं करता । पाँचवें, हिन्दी के अनेक प्रगतिवादी कथाकारों को कुछ ऐसा मति-भ्रम हो गया है कि वे नग्न-चित्रण को हो सच्चा मार्क्सवाद समभने लग गए, इससे उन लेखकों की प्रतिष्ठा को तो ठेस पहुँची ही, प्रगतिवाद को भी धक्का लगा। छठे, स्वयं प्रगतिवादी भ्रालोचकों में परस्पर मतभेद बढ़ जाने से भी इस क्षेत्र के लेखकों को पर्याप्त उत्साह नहीं मिला। सातवें, शैली एवं भाषा की दृष्टि से प्रगतिवादी काव्य का स्तर बहुत नीचे गिर गया। इन सब कारणों से प्रगतिवाद हिन्दी में ग्रधिक नहीं जम सका । वस्तुतः जैसी सच्ची लगन एवं सामर्थ्य किसी नयी प्रवृत्ति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अपेक्षित है, उसका प्रगतिवादियों में अभाव है।

उपसंहार

ग्रस्तु, प्रगतिवाद हिन्दी में ग्रधिक फल-फूल नहीं सका, किन्तु उसकी जड़ें ग्रब भी हरी हैं। चाहें स्वयं प्रगतिवाद ने कोई विशेष महत्त्वपूर्ण रचना न दी हो, किन्तु इसके प्रभाव से प्रायः सभी वर्गों के साहित्यकारों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विकास हुग्रा है। नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे ग्रालोचकों ने भी ग्रालोचना के कई दृष्टिकोणों में समाज-वादी दृष्टिकोण को भी स्थान देकर इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। भले ही हम मार्क्स की विचारधारा स्वरक्ष क्रालाक निकास मिन्सिक हों, किन्सु इसेना तो सभी स्वीकार करते हैं कि श्रमिक वर्ग को पूरा पारिश्रमिक मिलना ही चाहिए, उनकी स्थिति में पूर्णतः सुधार होना ही चाहिए; चाहे मजदूरों की गरीबी ग्रमीरों में न बाँटी जाय, किन्तु ग्रमीरों की ग्रमीरी तो मजदूरों में बाँटनी ही चाहिए। यदि इस परिस्थिति के निर्माण में, श्रमिक वर्ग के ग्रम्युत्थान में तथा समाज को सुखी बनाने में प्रगतिवादी साहित्य कुछ भी मदद दे सके, तो यह उसकी एक बड़ी भारी सेवा होगी। हाँ, इतना ग्रवश्य है कि जब तक प्रगतिवादी साहित्य विचारों के शुष्क संकलन से वचकर भावनाग्रों से ग्रोत-प्रोत नहीं हो जाता, तब तक वह जन-समूह को प्रभावित करने के ग्रपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकता।

作品 (b) (b) 并对 下面对于 (b) 并 (b) 并 (b) 并 (b) (b)

THE WAY THE PERSON OF THE PERS

का के कि की कि कि का में का माने कि कि कि कि कि कि कि

कि कि एक अर्थ सम्बो एक एक के कि के कि

SPACE STOR HE 'SE THE WE PRO SE I THE A LANDING

THE PURITY AND PURITY PRINTED IN THE

and the first offered in the figure of the contract of the con

रोज , 'कार्य हार , 'नार्गका - गार्गक देवार का नव मंत्री, प्राप्त स्वरूप र का

क्षा प्रकारको और प्रतान के प्रचार पूर्ण है। उनमंत्रियात विद्यु के छा। यह जिस स्वाह

CALL TO THE HOLD BY THE PARTY OF THE PARTY O

ः चौवालीस ः

प्रयोगवाद और नयी कविता

- १. नामकरण : पुनर्विचार
- २. विकास-क्रम
- ३. पूर्व परम्परा भ्रौर प्रेरणा-स्रोत
 - (क) प्रतीकवाद, (ख) बिम्बवाद, (ग) दादावाद,
 - (घ) ग्रतियथार्थवाद, (ङ) ग्रस्तित्ववाद, (च) फायडवाद
- ४. विभिन्न संप्रदायों से गृहीत प्रभाव
- ५. सामान्य प्रवृत्तियाँ
- ६. उपलब्धियाँ भीर भ्रभाव

सन् १६४३ ई० में भ्रज्ञेय के नेतृत्व में हिन्दी किवता के क्षेत्र में एक नये भ्रान्दोलन का प्रवर्तन हुमा, जिसे मब तक विभिन्न संज्ञाएँ—'प्रयोगवाद', 'प्रपद्यवाद', 'नयी किवता' म्रादि—प्रदान की गई हैं। ये इसके विकास की विभिन्न म्रवस्थामों एवं दिशामों को सूचित करती हैं; यथा—प्रारम्भ में जबिक किवयों का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य स्पष्ट नहीं था, नूतनता की खोज के लिए केवल प्रयोग की घोषणा की गयी थी तो इसे 'प्रयोगवाद' कहा गया। इसी म्रान्दोलन की एक शाखा ने स्वर्गीय निलनिवलोचन शर्मा के नेतृत्व में प्रयोग को ग्रपना साध्य स्वीकार करते हुए भ्रपनी किवतामों के लिए 'प्रपद्यवाद' का प्रयोग किया। दूसरी म्रोर डॉ॰ जगदीश गुप्त एवं लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसे म्रिषक व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हुए 'नयी किवता' नाम का'प्रचार किया। संप्रति 'नयो किवता' नाम का ही म्राव्यक्त में कृत्व इसे भी एक म्रस्थायी नाम ही मानना चाहिए। जिस प्रकार नविवाहिता को घर में कुछ समय तक 'नयी बहू' कहा जाता है, पर म्रागे चलकर वह नयी वहू भी किसी मन्य को 'नयी बहू' कहने लगती है, वैसी ही स्थिति 'नयी किवता' की है। पिछले युगों में खड़ीबोली की किवता तथा छायावादी किवता को भी क्रमशः 'नयी घारा' भीर 'नयी किवता' कहा जाता रहा है, म्रतः यह नाम किसी विशिष्टता का सूचक नहीं है।

हमारे विचार से इस काव्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियों —व्यक्तिवाद एवं यथार्थ-वाद — को घ्यान में रखते हुए इसे 'व्यक्तिपरक यथार्थवाद' की संज्ञा देना उचित होगा। पर उच्चारण-सुविधा की दृष्टि से इसे और भी संक्षिप्त रूप देने के लिए 'ग्रतियथार्थवाद' भी कहा जा सकता है। वस्तुत: पाश्चात्य साहित्य में भी इस प्रवृत्ति को इसी नाम से — Surrealism (ग्रतियथार्थवाद) —पुकारा गया है, ग्रत: इस दृष्टि से इसे 'ग्रतियथार्थ-वाद' कहा जाय तो सार्थक सिद्ध होत्रामुक्ति Madi Math Collection, Varanasi. विकास-क्रम—इस ग्रतियथार्थवादी ग्रान्दोलन का प्रवर्त्तन सिंच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'ग्रज्ञेय' द्वारा संपादित 'तार-सप्तक' (१६४३) के प्रकाशन के द्वारा हुग्रा। ग्रागे चलकर 'ग्रज्ञेय' ने क्रमशः 'दूसरा सप्तक' (१६५१) ग्रौर 'तीसरा सप्तक' (१६५६) भी संपादित एवं प्रकाशित किया। इन तीनों सप्तकों में सात-सात कवियों की रचनाएँ संकलित हैं, जिनकी सूची इस प्रकार है—

(क) 'तार-सप्तक'—१. भ्रज्ञेय, २. गजानन माधव 'मुक्तिबोध', ३. गिरिजा-कुमार माथुर, ४. प्रभाकर माचवे, ५. नेमिचन्द्र जैन, ६. भारत भूषण, ७. रामविलास

शर्मा ।

(ख) 'दूसरा सप्तक'—१. भवानीप्रसाद मिश्र, २. शकुन्तला माथुर, ३. हिरिनारायण व्यास, ४. शमशेर वहादुर सिंह, ५. नरेशकुमार मेहता, ६. रघुवीर सहाय, ७. धर्मवीर भारती।

(ग) 'तीसरा सप्तक'—१. प्रयागनारायण त्रिपाठी, २. कीर्ति चौघरी, ३. मदन वात्स्यायन, ४. केदारनाथ सिंह, ५. कुंवरनारायण, ६. विजयदेव नारायण साही, ७.

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

इस सप्तकों में केवल इन्हीं कवियों को क्यों स्थान दिया गया--इसका स्पष्टी-करण करते हुए 'ग्रज्ञेय' ने मुख्यतः दो वातें कही हैं, एक तो उन्होंने ऐसे कवियों को लिया है, जो इतने प्रतिष्ठापित नहीं हुए हैं कि कोई प्रकाशक सहसा उनके म्रलग-म्रलग संग्रह निकाल सके । दूसरे 'उनके एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं। ग्रभी राही हैं। इनके ग्रतिरिक्त एक तीसरी वात और भी थी, जिसका उल्लेख स्वयं 'ग्रज्ञेय' ने नहीं किया। वह यह कि जिन कवियों ने भ्रज्ञेय का पिछलग्गू बनना स्वीकार किया, वे ही इसमें स्थान पा सके। जिन्होंने बाद में नेतृत्व ग्रस्वीकार कर दिया, उनका नाम ग्रागे चलकर कवियों की सूची में से काट दिया गया। 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में ग्रज्ञेय ने इसी कोटि के कवियों की श्रोर संकेत करते हुए लिखा है—'कम से कम एक ने तो न केवल एलान करके किवता छोड़ दी,बल्कि क्रमणः कविता के ऐसे भ्रालीचक हो गये कि उसे साहित्य क्षेत्र से ही खदेड़ देने पर तुल गये। यह विचित्र बात है कि पहले 'तार-सप्तक' के चुने हुए सात कवियों में से अनेक 'दूसरे सप्तक' के प्रकाशन से पहले ही किव से आलोचक बन गये! इससे एक ग्रोर जहाँ सप्तक के कवियों के कविपन की ग्रस्थिरता ग्रीर क्षणभंगुरता सिद्ध होती है, वहीं सम्पादक की श्रदूरदर्शिता भी प्रमाणित होती है। वस्तुतः जिन व्यक्तियों को ग्रज्ञेय ने ही 'कवि-रूप' में प्रतिष्ठित किया था, वे तभी तक इस पद पर रह सकते थे जब तक कि ग्रज्ञेय के ग्रनुयायी रहते । ज्योंही उन्होंने ग्रज्ञेय का नेतृत्व ग्रस्वीकार किया, श्रज्ञेय ने उन्हें 'ग्रकवि' घोषित कर दिया । श्रतः हमारे विचार से श्रज्ञेय के उपर्युक्त एलान का वास्तविक भ्रर्थ इस प्रकार लिया जाना चाहिए— कम से कम एक ने एलान करके हमारा नेतृत्व छोड़ दिया है तथा हमारे ऐसे आलोचक हो गए हैं कि हमें साहित्य के क्षेत्र से खदेड़ देने पर ही तुल गए हैं।

ग्रज्ञेय के प्रयासों से प्रेरित होकर निलनिवलोचन शर्मा तथा जगदीश गुप्त भी

इस क्षेत्र में अवतरित हुए। निलनिवलोचन शर्मा ने अपने दो साथियों—केसरी कुमार और नरेश—को मिलाकर 'नकेनवाद' (तीनों व्यक्तियों के नाम के प्रथम ग्रक्षरों के ग्राधार पर) की स्थापना की, जिसे दूसरा नाम—'प्रपद्यवाद' भी दिया गया। प्रपद्यवाद के प्रतिनिधि के रूप में केसरीकुमार ने इसके विभिन्न सूत्रों की भी चर्चा की, जिसमें से कुछ ये हैं:

- (१) प्रपद्यवाद भाव ग्रीर व्यंजना का स्थापत्य है।
- (२) प्रपद्यवाद के लिए किसी शास्त्र के द्वारा निर्घारित नियम ग्रनुपयुक्त हैं।
- (३) प्रपद्मवाद पूर्ववर्तियों की महान् परिपाटियों को निष्प्राण मानता है।
- (४) प्रपद्यवाद प्रयोग को साधना ही नहीं, साध्य मानता है।
- (४) प्रपद्यवाद दूसरों के श्रनुकरण की तरह ग्रपना श्रनुकरण भी वर्जित मानता है।

वस्तुतः नकेनवादियों का यह 'प्रपद्यवाद', ग्रज्ञेय के 'प्रयोगवाद' की स्पर्द्धा में खड़ा किया गया ग्रान्दोलन था, जो परम्परा का विरोध करने, नूतनता की दुहाई देने, तथा प्रयोग पर वल देने की दृष्टि से ग्रज्ञेय से भी ग्रागे था। इसने सिद्ध कर दिया कि ग्रसली प्रयोगवाद तो प्रपद्यवाद ही है, क्योंकि यह प्रयोग को ही साध्य मानता है, केवल साधन नहीं।

सन् १६५४ से डॉ॰ जगदीश गुप्त ने 'नयी किवता' शीर्षक के अनेक अर्द्धवार्षिक संकलन प्रकाशित करवाए, जिनमें कई नये किवयों को प्रकाश में लाने के साथ-साथ नयी किवता के विभिन्न पक्षों पर भी विचार-पूर्ण सामग्री भी प्रस्तुत की। इस प्रकार अब नयी किवता का नेतृत्व केवल अज्ञेय के हाथ में ही नहीं रह गया, और भी लोग उनकी प्रतिस्पद्धी में खड़े हो गए हैं। अज्ञेय ने अपने प्रतिस्पद्धियों को 'नकलची' घोषित करते हुए 'तीसरे सप्तक' की भूमिका में उनकी तीव्र भर्त्सना की है—''पर नकलची हर प्रवृत्ति के रहे हैं और जिनका भंडाफोड़ अपने समय में नहीं हुआ, उन्हें पहचानने में फिर समय की लम्बी दूरी अपेक्षित हुई है।....पर यह माँग भी करनी है कि उनके अस्तित्व के कारण मूल्यवान् की उपेक्षा न हो, असलो को नकली न माना जाय।'' इसी प्रकार जो किव सप्तकों का आश्रय लिये बिना या अज्ञेय की स्वीकृति पाये बिना ही नये किवयों की पंक्ति में आ बैठे है, उनके सम्बन्ध में भी वे लिखते हैं—'नये किवयों में ऐसों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने विषय को वस्तु समभ्रने की भूल की है और इस प्रकार स्वयं भी पथन्नष्ट हुए हैं और पाठकों में नये किवयों के बारे में अनेक भ्रान्तियों के कारण वने हैं।"

ग्रस्तु, नयी कविता का ग्रब तक का इतिहास देखने से कई वार्ते स्पष्ट होती हैं; यथा—(१) इस घारा का प्रवर्त्तन किसी गम्भीर लक्ष्य को सामने रखकर नहीं, श्रिपतु नेतृत्व की भूख को शान्त करने के लिए हुआ था, तथा ग्रागे चलकर इस नेतृत्व को लेकर ही इनमें पारस्परिक मतभेद होते रहे। (२) नयी कविता की प्रतिष्ठा पत्रकारिता के स्तर पर हुई है। इसके उन्नायकों ने जानबूभकर ऐसे वक्तव्य दिये जिनसे वे चर्चा (या कुचर्चा) के विषय वन्ते । अली सो से के कि स्मार्क निक्त कि स्तर या भर्त्सना को ही उन्होंने श्रपनी सफलता का श्राघार माना। उदाहरण के लिए 'श्रज्ञेय' जहाँ 'दूसरे सप्तक' की भूमिका में लिखते हैं—'श्रालोचकों द्वारा उसकी उतनी चर्चा हुई है कि उसे सप्तक के प्रभाव का सूचक मान लेना कदाचित् श्रनुचित न होगा।'—वहाँ जगदीश गुप्त भी लिखते हैं—'नयी कविता' के प्रथम श्रंक की काफी गहरी प्रतिक्रिया हुई है।....श्रौर कुछ नहीं तो कम से कम इन सबके कारण 'नयी कविता' की वहुत सी प्रतियाँ विक गई।'

हमारे विचार से उत्तेजनात्मक वार्ते कहकर चर्चा का विषय बन जाना, गुट-विन्दियों के वल पर येन-केन-प्रकारेण श्रपनी रचनाश्रों को छपवाकर बेच डालना तथा पारस्परिक समझौते के ग्राधार पर पारस्परिक मान्यता प्राप्त कर लेना; ये सब प्रयास संगठन-शक्ति एवं पत्रकारिता की कुशलता को तो प्रमाणित करते हैं किन्तु उन्हें साहित्यिक उपलब्धि के रूप में तो उसी ग्रवस्था में स्वीकार किया जा सकता है जब कि वे पाठकों को साहित्यिक ग्रास्वादन प्रदान कर सकें। ग्रपनी रचनाग्रों की नीरसता को छिपाने के लिए पाठकों को श्रनुभूतिशून्य घोषित करते हुए उन्हें कविता पढ़ने के लिए ग्रयोग्य घोषित कर देना, 'नाच न जाने, ग्रांगन टेढ़ा' वाली कहावत को ही सार्थक करता है।

पूर्व-परम्परा और प्रेरणा-स्रोत—हिन्दी की यह काव्य-धारा यूरोप के अनेक आधुनिक काव्य सम्प्रदायों एवं काव्येतर सिद्धान्तों से प्रेरित एवं प्रभावित है, जिनमें प्रतीकवाद, विम्ववाद, दादावाद, श्रतियथार्थवाद, श्रस्तित्ववाद, फायडवाद श्रादि का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(क) प्रतीकवाद — प्रतीकवाद की स्थापना फान्स के कुछ तरुण लेखकों एवं किवयों द्वारा १८६५ ई० में 'फिगारो' (Figaro) पत्रिका के माघ्यम से हुई। इसके उन्नायकों में बौदेलेग्रर (Baudelaire), ग्रार्थर रिम्वो (Arthur Rimbau), वरलेन (Verlaine), मलार्मे (Mallarme), पाल वेलरी (Paul Valary), ग्रादि प्रमुख थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में 'प्रतीकवाद' (Symbalism) किसी निश्चित ग्रर्थ का सूचक नहीं था तथा इसके ग्रलग-ग्रलग कियों में ग्रलग-ग्रलग प्रवृत्तियाँ लक्षित होती थीं। इसीलिए इसके एक नेता वेलरी (Valary) ने प्रतीकवादी ग्रान्दोलन को 'Intention of several groups of poets' किवयों के विभिन्न वर्गों का विचार मात्र माना है तथा बुक्स महोदय ने इसे 'a bundle of tendencies not all of them very closely related' (परस्पर ग्रसंबद्ध प्रवृत्तियों की गठरी) मात्र घोषित किया है। प्रतीकवादी ग्रान्दोलन में भाग लेनेवाले प्रत्येक किव का ग्रपना-ग्रपना मत था, फिर भी उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता के सम्बन्ध में एक संगठित प्रयास किया।

'प्रतीकवाद' की परिभाषा करते हुए शिप्ले महोदय ने लिखा है कि यह एक संदर्भ के यथार्थ को उसके अनुरूप दूसरे संदर्भ के यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है।

इसे यदि भारतीय काव्य-शास्त्र की शब्दावली के माध्यम से स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि यह अप्रस्तुत के माध्यम से प्रस्तुत को व्यक्त करने पर वल देता है या ग्रभिधा के स्थान पर व्यंजना शक्ति की प्रतिष्ठा को ग्रपना लक्ष्य मानता है। इस दृष्टि से काव्य-शैली के क्षेत्र में प्रतीकवाद का लक्ष्य निश्चित ही प्रशंसनीय था, किन्तु इस लक्ष्य तक बहुत कम प्रतीकवादी कवि पहुँच पाए। प्रतीकों का वही प्रयोग कलात्मकता को जन्म दे सकता है, जो अर्थ की प्रेषणीयता में साधक सिद्ध होता है तथा उसे श्रधिक श्राकर्षण प्रदान करता है, ग्रन्यथा बीजगणित ग्रौर कविता में कोई श्रन्तर नहीं रहता। दूसरे, प्रतीक ग्रन्ततः विषय-वस्तु की व्यंजना के माध्यम मात्र हैं, ग्रतः उसकी विषय-वस्तु की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती । किन्तु यूरोप के प्रतीकवादियों ने अपनी वैयक्तिक कल्पनाओं एवं ग्रसामाजिक प्रवृत्तियों की ग्रभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का ऐसा भ्रन्धाघुंघ प्रयोग किया जिससे उनका काव्य भ्रस्पष्टता एवं दुरूहता से ग्रसित हो गया। प्रतीकवाद का सिद्धान्त ठीक था, किन्तु उसका व्यवहार ठीक क्षेत्र में ग्रीर ठीक तौर पर नहीं किया गया । अधिकांश प्रतीकवादी आत्मोन्मुखी होकर कल्पना-लोक के निर्माण में लग गए। श्रपनी इसी श्रात्मोन्मुखता, पलायनवृत्ति, श्रसामाजिकता, निराशावादिता, रुग्णता, ग्रस्पष्टता एवं निलष्टता के कारण, दीर्घकाल तक प्रतीकवादियों को 'क्षयोन्मुखी' (Decadents) विशेष से विभूषित किया जाता रहा, किन्तु उन्होंने कुख्याति को ही भ्रपनी उपलब्धि मानते हुए इतिहास में भ्रपने लिए स्थान बना लिया।

(ख) विम्ववाद-प्रतीकवादियों की ही भाँति श्रंग्रेजी के कुछ कवियों ने विम्व-वादी (Imagists) सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके उन्नायकों में टी० ई० ह्यूम (T. E. Hulme), एजरा पाउण्ड (Ezra Pound), रिचर्ड एलडिंग्टन (Richard Aldington), एफ॰ एस॰ पिलण्ट (F. S. Flint) आदि के नाम प्रमुख हैं। सन् १६० इ से 'पोयट्स क्लब' की स्थापना करते हुए बिम्बवाद के सिद्धान्तों की घोषणा की गई तदनन्तर १९१४ से लेकर १९३० तक विभिन्न काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। इनमें पहला संग्रह १९१४ में एजरा पाउण्ड के नेतृत्व में "Des Imagists' शीर्षक से प्रकाशित हमा। जिसमें फ्लिण्ट, एलॉडिंग्टन, लावेल, हिल्डा डूलिट, एच० एम० ह्यूफर, जेम्स ज्वायस, एजरा पाउण्ड, एलेन भ्रपवर्ड, विलियम कार्ल्स विलियमस भ्रादि की रचनाएँ संगृहीत थीं । सन् १६१५ में एक ग्रन्य संग्रह Some Imagists Poets (कुछ विम्ब-वादी कवि) प्रकाशित हुग्रा जिसमें विम्बवादियों ने भ्रपने-भ्रपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए। इसी प्रकार आगे भी इनके विभिन्न संकलन प्रकाशित हुए। यद्यपि अपनी गुटबन्दी के बल पर यह सम्प्रदाय बीस-पच्चीस वर्ष तक चलता रहा, किन्तु जन-समाज के हृदय में प्रतिष्ठा पाने में उसे सफलता नहीं मिली। इतना ही नहीं, इसका प्रवल विरोध भी हुआ, जिसके अनेक कारण थे। एक तो इन कवियों ने सर्वधा नृतनता की खोज में पड़कर प्रपनी उक्तियों में कृत्रिम ढंग से काव्यात्मकता उत्पन्न करने का प्रयास किया। दूसरे, उन्होंने स्पष्ट निरीक्षण, यथावत चित्रण ग्रीर विम्बों के यथार्थ-विधान पर इतना बल दिया कि उनकी कविताएँ सामान्य जीवन की निर्जीव धनुकृतियाँ-वनाकाक्री। असीसारेवा एवले विकार में संक्षिण घटता एवं स्सम्बद्धता का

अभाव था। चौथे, उनकी विषय-वस्तु भी इतनी सामान्य एवं दैनिक जीवन के स्तर की है, जिसमें ग्राकर्षण की उद्दीप्त बहुत कम हो पाती है। इसके ग्रांतिरक्त भी विम्ववाद के किरोध के कई ग्रौर कारण थे, जैसा कि डाक्टर शिवकुमार मिश्र ने स्पष्ट किया है— 'ग्रपनी व्यक्तिगत तुष्टि की धुन में विम्ववादी भूल-से गए कि उनकी कविता के पाठक हैं, ग्रौर उनकी ग्रपनी रुचियाँ हैं। यह एक सामाजिक दृष्टिकोण था ग्रौर इसकी प्रतिक्रिया भी हुई है। विरोध का दूसरा कारण विम्ववादियों का प्रतीकवादियों की भांति समाज की वाह्य वास्तविकताग्रों से पूर्णतः कट जाना था। कविता की शैली-शिल्पगत प्रयोगों की धुन में वाह्य यथार्थ के प्रति इतनी निर्मम उदासीनता युग की जागरूक काव्य-चेतना द्वारा सह्य न हो सकी। समाज तथा जीवन के प्रति विम्ववादियों के विचार भी वड़े ही निराशाजनक थे। ह्यूम के विचारों में तो स्पष्टतः प्रतिक्रियावाद की छाप थी। विम्ववादियों द्वारा विषय-वस्तु की उपेक्षा ही विरोध का कारण बनी ग्रौर इन सबने मिलकर इस ग्रान्दोलन को ग्रियक काल तक जीवित न रहने दिया।

(ग) दादा वाद (Dada movement)—यह यूरोप का कला सम्बन्धी म्रान्दो-लन था, जिसका प्रवर्त्तन सन् १६१६ ई० के म्रासपास जीन भ्रपं तथा म्रन्स्ट मानसं म्रादि चित्रकारों ने किया था। इसका संचालन ग्रौर प्रचार मुख्यतः 'कवरे वोल्त्येर' 'दादा' ग्रादि पत्र-पत्रिकाग्रों के द्वारा हुग्रा तथा समय-समय पर ग्रायोजित चित्र प्रदर्श-नियों के रूप में हुग्रा। कुछ जीवन से जले-कटे तरुण-तरुणियाँ एकत्र हुए जिनका कहना था कि जीवन ने उनके साथ दगा किया है, ग्रौर उन्होंने इस संसार के ग्रनैतिक स्वभाव के भंडाफोड़ का बीड़ा उठाया है। उन्होंने सारे परंपरागत तर्क, कला, संस्कृति ग्रादि पर प्रहार किया। चित्र में ग्राकस्मिक ग्रौर ग्रप्रत्याशित का ग्राधार लेकर उन्होंने कला में एक नयी धारा प्रवाहित की। उनकी कला का साधारण रसवादी सौन्दर्य से कोई संबंध नहीं था। ग्रन्य भी ग्रनेक रूपों से उन्होंने परंपरागत संस्कृति का उपहास किया। जैसे 'लियोनादों द' विची के प्रसिद्ध चित्र 'मोनालीजा' में मोनालीजा के मूंछें बनाकर फिर से चित्रित किया गया। दूशों का चित्र 'चश्मा' भी इसी प्रकार था, जो वास्तव में चश्मा या फव्वारा नहीं, मात्र मूत्रालय था ग्रौर जिसे उसने १६१७ ई० में नियोजित न्यूयार्क की एक चित्र-प्रदर्शनी में प्रदिश्चित किया था।'

इस दादावाद ने फांस, जर्मनी, स्विट्जरलैंड ग्रादि यूरोपियन देशों तथा ग्रमरीका के न केवल मूर्तिकारों एवं चित्रकारों को, ग्रपितु साहित्यकारों को भी प्रभावित किया है। इसी की प्रेरणा से कविताग्रों में नग्न, ग्रश्लील एवं मद्दे दृश्यों के ग्रंकन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला।

(घ) अति यथार्थवाद (Surrealism)—उपर्युक्त दादावाद का ही विकसित रूप 'ग्रति यथार्थवाद' है। वस्तुतः दादावाद का मूल क्षेत्र चित्रकला का था, जबिक

१. नया हिन्दी काव्य : डा० शिवकुमार सिष्ठ, पू० ४१८।

२. डा० भगवतशरण उपाघ्याय : 'हिन्दी साहित्य-कोष', प्रथम खण्ड, पृ०

इसने साहित्य को केन्द्र बनाया । इसका ग्रारम्भ १६२० ई० के ग्रास-पास से माना जा सकता है, जबिक आन्द्रे ब्रेटन (Andre Breton) नाम के एक मनोवैज्ञानिक ने अपने मित्र फिलिप सोपोल्ट' (Phillipe Soupault) की सहायता से सम्मोहन ग्रवस्था (Hypnosis) में सामूहिक रूप से काव्य-रचना के प्रयोग किए। इसके अनन्तर आन्द्रे ब्रेटन ने १६२४ में श्रपना प्रयोग-सम्बन्धी घोषणा-पत्र प्रकाशित करते हुए बताया कि किस प्रकार ग्रचेतन की सहायता से काव्य-रचना के लिए प्रयोग किये जा सकते हैं।

श्रति यथार्थवाद के विकास-काल को सामान्यतः तीन खण्डों में वाँटा जाता है: (१) प्रारम्भ काल-१६२०-२४ ई०, जबिक विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक प्रयोग होते रहे। (२) मघ्यकाल-१६२४ से १६३० तक; इस काल में भ्रति यथार्थवादियों ने एक श्रोर तो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को स्वीकार किया तथा दूसरी ग्रोर विशुद्ध स्वच्छन्द ह्रप से - ग्रनियंत्रित रूप में - काव्य-रचना के प्रयोग करते रहे। (३) उत्तर काल-१६३० के बाद; घीरे-घीरे अतियथार्थवाद मार्क्सवाद से अलग हो गया ग्रीर काव्य-प्रयोगों में विशद्ध भ्रचेतन के स्थान पर चेतन-स्तर की भी थोड़ी-बहुत सहायता ली जाने लगी। इस युग में काव्य-रचना के एक 'Paranoic Method' (बौद्धिक उन्माद की पद्धति) का भी म्राविष्कार किया गया, जिसके अनुसार काव्य-रचना के क्षणों में कवि ग्रपने मन को इस प्रकार उन्मत्त बना देने का प्रयास करता है कि जिससे वह विषय-वस्तु को नये रूप में देख सके।

ग्रस्तु, ग्रति यथार्थवादियों ने जहाँ उन्मुक्त एवं विक्षिप्त रूप में काव्य-रचना के प्रयोग करके नयी रचना-पद्धति का भ्राविष्कार किया, वहाँ उन्होंने विषय-वस्तु के क्षेत्र में भी क्रांति की । इन्होंने चेतन मन के स्थान पर श्रचेतन स्तर की सामग्री को प्रस्तुत करते हुए कुंठाग्रों, वासनाग्रों, भावनाग्रों, एवं ग्रसामाजिक विचारों की ग्रभिव्यक्ति निर्द्वन्द्व रूप में की । साथ ही इन्होंने फायडवादी विचारों का ग्रनुसरण करते हुए समाज एवं संस्कृति-विरोधी भावनाग्रों को भी व्यक्त किया। ग्रंग्रेजी में इनकी कविताग्रों के संग्रह 'New verse' या 'नयी कविता' शीर्षक से प्रकाशित हुए ।

श्रति यथार्थवादियों के मूल प्रयोजनों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-(क) वास्तविकता या यथार्थ के स्वीकृत मानदंडों एवं सीमाग्रों को ग्रस्वी-कारना। (ख) काव्य में भ्रव तक भ्रप्रयुक्त सामग्री को प्रयुक्त करना। (ग) चेतन भौर ध्रचेतन स्तर के मानसिक संस्कारों से सम्बन्ध स्थापित करना। (घ) बिना किसी बाह्य प्रयास के उन्मुक्त रूप में सामग्री को प्रस्तुत करना। (ङ) जिस प्रकार भ्रचेतन मन में सामग्री ग्रव्यवस्थित एवं क्रम-शून्य रूप में स्थित है, उसी प्रकार काव्य-रचनाग्रों में भी अचेतन को वस्तु को प्रस्तुत करना, जिससे उसे अचेतन मन का सही प्रतिरूप कहा जा सके। (च) मन की कुंठाओं एवं वर्जनाओं को मुक्ति प्रदान करके अचेतन का विस्तार करना । इन लक्ष्यों को देखते हुए ग्रति यथार्थवाद को फायडवादी काव्य भी कहा जा सकता है।

(ङ) अस्तित्ववादी दर्शन-ग्रस्तित्ववाद (Existentialism) यूरोप की सर्वी-धिक व्यक्तिवादी, श्रारमोन्मुखी, श्रराजकतावादी श्रीर सामाजिक दार्शनिक विचारधारा CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. है, जिसका विकास सोरेन किर्केगार्ड (Soren Kirkeguard 1813-1855), एफ॰ नीत्शे (F, Nietzsche: 1844-1900), मार्टिन हैंड्गर (Martin Heidgger: 1899) तथा जे॰ पी॰ सार्न (J. P. Sartre; 1905) जैसे स्वच्छन्द चिन्तकों द्वारा हुआ। यद्यपि इसकी भी भ्रनेक शाखा-प्रशाखाएँ हैं, किन्तु सामान्यतः सभी श्रस्तित्ववादी तीन सामान्य मूल्यों (सत्यों) को स्वीकार करते हैं —(१) दुःख भौर पीड़ा ग्रस्तित्व की भ्रनुभूति का ग्रनिवार्य भ्राधार है, भ्रर्थात् दुःखी भौर पीड़ित हुए विना हम अपने भ्रस्तित्व का भ्रनुभव नहीं कर सकते। (२) दुःख भौर पीड़ा से मुक्ति पाने का सबसे बड़ा उपाय यही है कि हम उसे स्वीकार कर लें। (३) मनुष्य को ऐसा कार्य करना चाहिए कि जिसमें उसकी सारी शक्तियाँ लग जाएँ तथा वह भ्रपनी संवेदनाओं को गंभीरतम रूप में संवेदित कर सके। इसके लिए उसे खतरनाक परिस्थितियों का सामना करना चाहिए।

ग्रस्तित्ववाद के व्याख्याता सार्त्र ने ग्रस्तित्व की ग्रनुभूति को ही जीवन का चरम सत्य मानते हुए वताया है कि मनुष्य ग्रपनी रुचि के चुनाव में, ग्रपने निर्णयों में पूर्ण स्वतन्त्र है, ग्रपने किसी भी कार्य के लिए वह ग्रन्य सत्ता या सामाजिक संस्था के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

ग्रस्तित्ववाद ग्रतीत ग्रीर भविष्य के स्थान पर केवल वर्तमान में विश्वास करता है। वह वर्तमान क्षण की ग्रनुभूति को भविष्य की कल्पनाग्रों से ग्रधिक महत्व देता है। वह परंपरागत चितन, सामाजिक मूल्यों, नैतिक विचारों को ही नहीं, वैज्ञानिक तर्क-प्रणाली को भी ग्रस्वीकार्य मानता है।

ग्रस्तु, ग्रस्तित्ववादी साहित्यकारों के ग्रनुसार पात्रों की महानता, उदात्तता ग्रादि कोई महत्त्व नहीं रखती । स्वयं सार्त्र ने ग्रपने कथा-साहित्य एवं नाटकों में मानव के ग्रत्यधिक कुरूप, बीभत्स, भयानक, हीन एवं तुच्छ रूप का चित्रण किया है। उनके नायक प्रायः बर्वर कायर, नपुंसक एवं ग्रधम श्रेणी के पात्र हैं। वस्तुतः वे साहित्य में महान मानव के स्थान पर लघु मानव की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं।

कुरूप एवं ग्रशोभनीय पक्षों का भी स्वागत किया जा सकता है, यदि उनके पीछे प्रेरणाएँ ग्रौर प्रयोजन शुभ हों। किन्तु ग्रस्तित्ववाद मनुष्य में केवल निराशा एवं ग्राकांक्षा-शून्यता की भावना उत्पन्न करना चाहता है, जो मानव-हित की दृष्टि से घातक है। इसीलिए यह वाद वावजूद भ्रपने प्रचार के लोकप्रिय नहीं हो सका।

(व) फ्रायडवादी मनोविश्लेषण—प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सिग्मंड फ्रायड (१५६६१६) के ग्रनुसार कला-सर्जन के मूल में कलाकार की दिमत वासनाग्रों एवं कुंठित काम प्रवृत्ति का योग रहता है। कलाकार ग्रपनी कामवासना को समाज के भय से ग्रथवा ग्रन्य कारणों से सामान्य जीवन में व्यक्त नहीं कर पाता, वही वासना या तो यौन-विकृतियों तथा मानसिक रोगों के रूप में व्यक्त होती है, या स्वप्न ग्रौर कला के माध्यम से। पर कला में दिमत वासनाएं ग्रपने प्रकृत रूप में व्यक्त न होकर उदात्त (Sublimated) रूप में ही व्यक्त होती है, अर्थात् कला के माध्यम से कलाकार ग्रपनी

^{8.} Existen figilism nga Rwadi Matt. Constian, Varanasi.

दिमत वासनाओं एवं कुंठाओं का उदात्तीकरण करके एक प्रकार से उनकी विकृतियों से मुक्ति पाता है। ऐसी स्थिति में कला में यौन श्रंगों, वासनाओं एवं कुंठाओं का चित्रण होना स्वाभाविक माना गया है।

विभिन्न संप्रदायों से गृहीत प्रभाव—उपर्युक्त सम्प्रदायों से हिन्दी की नयी किवता ने ग्रनेक प्रकार के प्रभाव प्रत्यक्ष या ग्रप्रत्यक्ष रूप में ग्रहण किए हैं। ग्रप्रत्यक्ष से हमारा तात्पर्य यह है कि सभी नये किवयों ने इन सम्प्रदायों का ग्रध्ययन स्वयं नहीं किया, ग्रपितु कुछ पथ-प्रदर्शकों ने ग्रंग्रेजो की किवताओं के माध्यम से ही ये प्रभाव जान या ग्रनजान में ग्रहण किए हैं, ग्रतः इस प्रकार के प्रभाव को ग्रप्रत्यक्ष रूप में गृहीत मानना उचित होगा। नयी किवता के उन्नायकों ने पाश्चात्य काव्य-सम्प्रदायों की न केवल काव्यगत प्रवृत्तियों का ग्रनुसरण किया गया है, ग्रपितु उनकी संगठन-पद्धति, प्रचार-पद्धति एवं नारेवाजी ग्रादि का भी ग्रनुकरण किया है। ग्रतः इन प्रभावों को हम यहाँ दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) बाह्य प्रभाव श्रीर (२) ग्रान्तरिक प्रभाव। इन दोनों का विश्लेषण ग्रलग-ग्रलग किया जाता है:

(क) बाह्य प्रभाव

- (ग्र) जिस प्रकार प्रतीकवादियों तथा बिम्बवादियों ने समय-समय पर श्रपने गुट वनाकर योजना-बद्ध एवं संगठित रूप में श्रपने काव्य-सम्प्रदायों की स्थापना की, उसी प्रकार प्रयोगवाद एवं नकेनवाद की स्थापना की गई।
- (ग्रा) जिस प्रकार प्रतीकवाद में सम्मिलित होनेवाले किवयों ने ग्रपने पार-स्परिक मतभेद को स्वीकार करते हुए ग्रपने गुट को 'Intention of several groups of poets' (विभिन्न वर्गों के किवयों का विचार) तथा 'a bundle of tendencies not all of them very closely related' (परस्पर ग्रसम्बद्ध प्रवृत्तियों की गठरी) घोषित किया, लगभग उन्हीं शब्दों में ग्रज्ञेय ने ग्रपने 'तार-सप्तक' की भूमिका में घोषित किया—''उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं—ग्रभी राही नहीं, राहों के ग्रन्वेषी।"
- (इ) जिस प्रकार बिम्बवादियों ने 'पोयट्स क्लब' की स्थापना के भ्रनन्तर भ्रनेक किवयों के सामूहिक काव्य-संग्रह तथा किवयों के वक्तव्य प्रकाशित किए, उसी प्रकार प्रयोगवाद एवं नयी किवता के सामूहिक काव्य-संग्रह किवयों एवं उनके परिचायकों के वक्तव्य के साथ प्रकाशित हो रहे हैं।
- (ई) ग्रति यथार्थवादियों ने ग्रपने प्रयोगवादी संग्रहों को ग्रागे चलकर 'न्यू वर्स' (नयी कविता) नाम दे दिया, लगभग वैसे ही हिन्दी के प्रयोगवादियों ने ग्रागे चलकर 'नयी कविता' नाम स्वीकार कर लिया।
- (उ) पाश्चात्य साहित्य के इन ग्रान्दोलनों ने ग्रपनी 'कुचर्चा' को ही ग्रपनी 'ख्याति' मानते हुए ऐसे जिल्ले जनसङ्खल्या हिसे, अन्निसंदेशक उनकी ग्रधिक से ग्रधिक प्रतिक्रिया हो, लगभग ऐसा ही लक्ष्य प्रयोगवाद ने भी रखा है।

(ख) ग्रान्तरिक प्रभाव

(ग्र) प्रतीकवादियों की भाँति हिन्दी के नये किवयों ने परम्परागत भाषा को मृत एवं प्रभावशून्य घोषित करते हुए नये प्रतीकों का प्रयोग ग्रस्पष्ट एवं ग्रसंबद्ध रूप में किया।

(ग्रा) प्रतीकवादियों की वैयक्तिकता, ग्रसामाजिकता, निराशावादिता, रुग्णता, श्रादि की उन प्रवृत्तियों को, जिनके कारण वे 'क्षयोन्मुखी' (Decadents) कहलाए,

हिन्दी के इन कवियों ने भी प्रश्रय दिया।

(इ) प्रतीकवादियों के द्वारा कृत्रिम रूप में प्रतीकों के प्रयोग के कारण उनके काव्य में श्रस्पष्टता, दुरूहता एवं क्लिष्टता मिलती है, जिसे उन्होंने दोष के स्थान पर गुण सिद्ध किया, यह बात हिन्दी के इन कवियों पर लागू होती है।

(ई) विम्ववादियों ने जिस प्रकार नये विषयों, नई वस्तु, नये रूपों, नयी शैली श्रीर नयी भाषा को अपना लक्ष्य घोषित किया, वैसी ही घोषणा हिन्दी के नये कवियों

ने की है।

(उ) विम्ववादियों ने स्पष्ट निरीक्षण, यथावत् चित्रण एवं विम्वों के यथार्थं विधान पर इतना वल दिया कि उनकी कृतियाँ सामान्य जीवन की निर्जीव अनुकृतियाँ वन गईं। यह वात इन पर भी लागू होती है।

(ऊ) विम्ववादियों ने विषय-वस्तु की प्रायः उपेक्षा की तथा दैनिक जीवन की श्रित साधारण वातों को कविता में स्थान दिया, इस प्रवृत्ति को हिन्दी कवियों ने भी

भ्रपनाया है।

(ए) दादावादियों ने परम्परागत संस्कृति एवं सम्यता का जैसा विरोध किया वह हिन्दी के नये कवियों में भी मिलता है।

(ऐ) ग्रति यथार्थवादी काव्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ हिन्दी के नये कवियों में

ज्यों की त्यों मिलती हैं:

१. श्रचेतन की कुण्ठाग्रों को व्यक्त करने का लक्ष्य सामने रखकर काव्य सम्बन्धी प्रयोग करना।

२. फायडवादी मनोविज्ञान को स्वीकार करते हुए कुण्ठाग्रों, वासनाग्रों, गुह्य

भावनाग्रों को काव्य में व्यक्त करना।

वास्तविकता एवं यथार्थ के स्वीकृत भ्रायामों को ग्रस्वीकार करना ।

४. ग्रब तक ग्रप्रयुक्त सामग्री को पहली बार काव्य में प्रयुक्त करने का दावा करना।

५. कला का लक्ष्य भ्रपने व्यक्तित्व (व्यक्तिगत कुण्ठाओं एवं दिमत वासनाग्रों) से मुक्ति पाने का ।

(ग्रो) ग्रस्तित्वादी जीवन-दर्शन के प्रभाव से हिन्दी कविता में क्षणवाद, निराशा-वाद, लघु मानव की प्रतिष्ठा, ग्राकांक्षा-शून्यता ग्रादि की प्रवृत्तियाँ ग्राई हैं।

(म्री) फायडवाड फ्रीigaक्तिवासम्भाष्ट्रविहियों टाकी उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके

श्रतिरिक्त 'फी एसोसियेशन' को पद्धति भी फायडवाद की देन है। इस पद्धति के श्रनुसार मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति को सम्मोहित या श्रर्द्धनिद्रित श्रवस्था में लाकर उससे उन सभी विचारों को, उसी क्रम से, निर्वाध रूप में व्यक्त करने के लिए कहा जाता है, जिस क्रम से वे उनके मस्तिष्क में उठे हों। इस प्रकार रोगी की दिमत वासनाग्रों एवं ग्रंथियों का पता लगाया जाता है। किवयों ने भी इस पद्धति का प्रयोग काव्य-रचना में किया है। यहाँ इस प्रकार की एक कविता का उदाहरण प्रस्तुत हैं:

'आह, सारी रात चाय रख दो कागजों पर. या निशा सर्वं भूतानां तस्यां जागति संयमी, ई ईश्वर, उ उल्लु चल हट बेटा।'

—राधाकान्त भारती उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि हिन्दी का यह नया वाद अपनी विभिन्न बाह्य एवं भ्रान्तरिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से भ्रंग्रेजी कविता के कतिपय भ्राधुनिक संप्रदायों का धनुवर्ती मात्र है, किन्तु अपनी नूतनता एवं मौलिकता का दावा करने के कारण अधि-कांश हिन्दी कवि इस तथ्य को स्वीकार करने में संकोच करते हैं। फिर भी कुछ कवियों ने अवश्य इसे स्वीकार करने का साहस किया है। यथा, शमशेर बहादुर सिंह (जो दूसरे सप्तक के कवियों में से हैं) ने अपने सम्बन्ध में लिखा है-"'उन दिनों शैली, रोजेटी शीर कुछ जार्जियन कवियों का मुक्त पर बहुत ग्रसर था—मेटरलिक की ट्रेजेडी की व्याख्या बहुत महत्वपूर्ण लगती थी कि 'होना ही' ट्रेजेडी है। मगर सिवा थोड़ी बहुत कविता के मैं और चीजें कम पढ़ता था। एक वार क्लास में इलियट और कींमग्स की दो मशहर कविताएँ पढ़कर सुनायी गई।""उन्होंने मुक्ते कविता में एक विस्तार, एक नयी युक्ति और जीवन के नाटक तत्व का श्राभास दिया। टेकनीक में एजरा पाउण्ड शायद मेरा सबसे बड़ा म्रादर्श बन गया। "" इसी प्रकार भ्रपने एक भ्रन्य लेख में भी इन्होंने हिन्दी के इस नये काव्य को पश्चिम के 'सिम्बोलिज्म' (प्रतीकवाद) भ्रीर 'फार्मे-लिज्म' (रूपवाद) का ही एक रूप मानते हुए लिखा है-'यह चीज यूरोप में १६वीं शताब्दी के अन्त में हुई, पहले विश्व-युद्ध के आस-पास परवान चढ़ी और अब अमरीका को छोड़कर भ्रन्य जगहों में कमजोर पड़ गई है। उर्दू में भी यह चीज भ्राई थी, मगर मजाज, साहिर, सरदार, मखदूम, कैफी ग्रीर जोश की कविताग्रों ने उसे विल्कुल दबा दिया । वस रुक्तान में 'सिम्बोलिज्म' श्रीर 'फार्मेलिज्म' (प्रतीकवाद श्रीर रूप प्रकारवाद) के नाना रूप और छायाएँ हैं। यूरोप में ये भ्रान्दोलन लगभग भ्रपना काम पूरा कर चुके, हिन्दी में इनका युग ग्राना वाकी था, सो ग्राया ।' र

तीसरे 'सप्तक' के किव केदारनाथ सिंह ने भी श्राधुनिक ग्रँग्रेजी किवता के प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखा है- 'फिर धीरे-धीरे ग्रेंग्रेजी की ग्राधुनिक कविता का

१. 'दूसरा सप्तक' पुरु हु३। CG-0, Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

२. 'नया हिन्दी काव्य' : डा॰ शिवकुमार मिश्र, पू॰ २०४।

सौन्दर्य भी मेरे निकट खुलने लगा ग्रौर उसके माघ्यम से कुछ ग्रन्य भाषाग्रों की किव-ताग्रों से परिचय हुग्रा। ग्राज वहाँ ग्राकर मन टिक गया है, जहाँ से कालिदास, सूर, बोदलेयर, निराला, ग्रॉडेन, डायलन टामस ग्रौर जीवनानन्दास समान रूप से प्रिय लगते हैं।"

श्रस्तु, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस किवता का मूल स्रोत ग्राघुनिक श्रॅंग्रेजी किवता है, उसी के माध्यम से यूरोप के विभिन्न कला-सम्प्रदायों एवं काव्य-सम्प्रदायों, दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक विचारों का प्रभाव हिन्दी के नये किवयों तक पहुँचा है, यह दूसरी वात है कि सभी नये किवयों ने यह प्रभाव सीधे श्रंग्रेजी से ग्रहण न करके श्रपने पथ-प्रदर्शक हिन्दी किवयों के माध्यम से ग्रहण किया हो तथा उन्हें इस तथ्य का पता भी न हो।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

इस वाद से सम्बन्धित प्रमुख हिन्दी कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का विवेचन मुख्यतः दो वर्गों के ग्रन्तर्गत किया जा सकता है—(१) वाह्य प्रवृत्तियाँ भौर (२) ग्रान्तरिक प्रवृत्तियाँ। इन दोनों को यहाँ क्रमशः लिया जाता है:

(क) बाह्य प्रवृत्तियाँ

जैसा कि श्रन्यत्र संकेत किया जा चुका है, नये किवयों ने श्रपनी चर्चा को ही श्रपना प्रचार, कुख्याति को ही श्रपनी प्रसिद्धि एवं स्वयं को श्रच्छे या बुरे रूप में स्थापित कर देना ही श्रपने किव-कर्म का लक्ष्य माना है, ग्रतः उन्होंने श्रपनी किवताग्रों के साथ प्रायः ऐसे ऊहात्मक वक्तव्य दिये हैं, जो पाठकों में गहरी प्रतिक्रिया या उत्तेजना पैदा कर सकें। उदाहरण के लिए यहाँ कुछ नमूने प्रस्तुत हैं—

(ग्र) "मैं कविता क्यों लिखता हूँ—मैंने कविता क्यों लिखी ? कहूँ कि किसी लाचारी से ही लिखी ।....मैं किवता न लिखता यदि हिन्दी के ग्राज के प्रतिष्ठित कियों में एक भी ऐसा होता जिसकी किवताग्रों में किव का एक व्यापक-जीवन-दर्शन मिलता, (यदि) ग्राज के गण्य-मान्य श्रालोचकों में एक भी ग्रालोचक ऐसा होता, जिसने प्रयोग-वादी या नयी किवता के बारे में एक भी समभदारी की बात कही होती (यदि) हिन्दी का एक भी जागरूक पाठक ऐसा होता जिसने हिन्दी की वर्तमान विभूतियों की नयी लिखी जानेवाली रचनाग्रों पर घोर ग्रसंतोष न प्रकट किया होता।" (तीसरा सप्तक': पृष्ठ ३००)।

यह वक्तव्य सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का है। इसका यदि विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि किव ने किवता की प्रेरणा से किवता नहीं लिखी, ग्रिपितु हिन्दी में एक भी दार्शनिक किव, एक भी समभदार ग्रालोचक ग्रीर एक भी जागरूक पाठक न होने की विवशता के कारण लिखी। पर सवाल यह है कि जब ग्रालोचक ग्रीर पाठक

१. 'तीसरा संस्कृ, Jangan भूव्या Math Collection, Varanasi.

'वर्तमान विभूतियों' की पूर्व रचित किवताश्रों को ही नहीं समक्ष पा रहे हैं, तो श्रापके किवता लिखने मात्र से उनमें 'समक्ष' कहाँ से श्रा जाएगी? उनका तर्क वैसा ही है, जैसा कि यह कहना कि मैं रोटी इसलिए बना रहा हूँ, क्योंकि कोई भी रोटी नहीं खाता, किसी की भी रोटी खाने की इच्छा नहीं है। फिर भी वह 'व्यापक दर्शन' कौन सा है, जिसका प्रचार श्रव तक एक भी हिन्दी किव ने नहीं किया—इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया, पर उनकी किवताश्रों से शायद इसका श्रनुमान लगाया जा सकता है। उपर्युक्त वक्तव्य के बाद प्रस्तुत की गई उनकी प्रतिनिधि किवताश्रों में से एक निम्नलिखित है:

(तीसरा सप्तक; पृ० ३३६)

सक्सेना ने हिन्दी में जिस व्यापक दर्शन के ग्रभाव की शिकायत की है, उसी की पूर्ति उन्होंने कदाचित् इस किवता में की है। पर उन्हें पता नहीं कि इस प्रकार का दर्शन उन्हें निम्न स्तर की सस्ती फिल्मों के गानों में तथा उनके ग्रास-पास की गिलयों में भी देखने को मिल सकता था। हाँ, 'प्रतिष्ठित किवयों' में से ग्रवश्य किसी ने इस प्रकार के 'दर्शन' को प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की, श्रन्यथा वे 'प्रतिष्ठित' नहीं हो पाते।

(आ) "उषा देवता से लेकर गधे तक, नग्न यौन-भावना से लेकर सामाजिक क्रांति तक, देहाती श्रमराई से लेकर कल-पुर्जी तक, श्रवचेतन से लेकर स्थूल के श्रनुत्ते-जित चित्रण तक इतना व्यापक विस्तार शायद पहले किसी 'वाद' की कविता का न हुआ। (मदन वात्स्यायन: तीसरा सप्तक; पृ० ११६)

किव का यह वक्तव्य व्याकरण की अनेक भूलों से युक्त होता हुआ भी ('उषा' हिन्दी में देवता नहीं, 'देवी' होता है, 'न हुआ' के स्थान पर 'नहीं हुआ' होना चाहिए था) पर्याप्त रोचक है। हम मानते हैं कि अब तक किसी भी बाद की किवता ने गधे की देवताओं की परम्परा में स्थान नहीं दिया और न ही 'नग्न यौन भावना के चित्रण' में तथा 'अनुक्तेजित चित्रण' में वैसा विस्तार किया है, जैसा कि वात्स्यायन जी तथा उनके वन्धुओं ने किया है!

(ई) 'श्रपनी रचनाग्रों की व्याख्या श्राजकल प्रायः सभी लेखक करने लगे हैं। पहले युगों में ऐसी बात नहीं थी। इस दृष्टि से हमारे साहित्य ने बड़ी प्रगति की है। (कीर्ति चौधरी; 'तीसरि सिमक पृष्ठ ६५)

चौधरीजो को शायद मालूम नहीं कि पहले ऐसी ग्रस्पष्ट रचनाएँ नहीं लिखी जाती थीं, जिनकी व्याख्या स्वयं लेखकों (कवियों) को करनी पड़े, श्रन्यथा इसे वे 'प्रगति'

के स्थान पर 'दुर्गति' ही मानतीं।

खैर ! इस प्रकार के वक्तव्यों की वहुत वड़ी संख्या है, जो वक्ताय्रों <mark>के वीद्धिक</mark> एवं नैतिक स्तर के साथ-साथ उनके भाषा-ज्ञान के स्तर पर भी प्रकाश डालती है। जिस प्रकार कोई गंजा यह वक्तव्य दे कि दुनिया में उसकी तथा उसके जैसे कुछ व्यक्तियों की ही खोपड़ी सबसे अधिक सुन्दर है, क्योंकि उस पर कोई वाल नहीं है, उसी प्रकार के हास्यास्पद वक्तव्य देते हुए इन कवियों ने भी नये 'दर्शन', नये सौन्दर्य शास्त्र एवं नये काव्य की प्रतिष्ठा का दावा किया है। पर दुर्भाग्य यह है कि इनके समर्थक स्रालोचकों एवं मित्रों ने भी इन्हें इस हास्यास्पद स्थिति से अवगत कराने के स्थान पर दुनिया के शेष सब लोगों को नासमक घोषित कर दिया है। ग्रभी १९६३ में प्रकाशित एक वक्तव्य में प्रो॰ कुमार 'विमल' ने घोषित किया है कि 'हिन्दी के नब्बे प्रतिशत पाठकों' में नयी कविता में सौन्दर्य को समभने की बुद्धि नहीं है। १ प्रश्न है, बाकी दस प्रतिशत कौन से कौन से लोग हैं-इसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया, पर समभना चाहिए कि इसमें स्वयं नये किव एवं उनके नये आलोचक ही आते हैं। यदि दुनिया के पागलों से पूछा जाय, तो वे भी यही कहेंगे कि पागलखाने के बाहर रहनेवाले सब लोग मूर्ख हैं, क्योंकि वे उनके प्रलाप का ग्रर्थ नहीं समभते । यदि बाकी सभी लोग मूर्ख हैं तो उन्हें वे ग्रपने महान् काव्य को समभाने की इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ? क्यों न ये समभदार आपस में एक दूसरे की रचनाएँ सुनकर, समभकर एवं प्रशंसा करके संतुष्ट हो लेते ?

(ख) भ्रान्तरिक प्रवृत्तियाँ

हिन्दी की इन नयी कविताश्रों में सामान्यतः निम्नांकित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर

होती हैं:

(ग्र) घोर वैयक्तिकता—'नयी कविता' का प्रमुख लक्ष्य निजी मान्यताश्रों, विचारधाराभ्रों एवं अनुभूति का प्रकाशन करना है। वैयक्तिकता की यह प्रवृत्ति रीतिकाल के स्वच्छन्द शृङ्गारी कवियों एवं श्राधुनिक युग के छायावादी कवियों में भी विकसित हुई थी, किन्तु उन्होंने वैयक्तिक ग्रनुभूतियों की ग्रभिव्यंजना इस प्रकार की जिससे वह प्रत्येक पाठक के हृदय को ग्रान्दोलित कर सके; किन्तु इन कवियों में यह वात नहीं मिलती । कुछ पंक्तियाँ उदाहरण के लिए देखिए—

साधारण नगर के एक साधारण घर में बेरा जन्म हुआ, बचपन बीता अति साधारण साधारण खान-पान साधारण वस्त्र-वास

१. नयी फिविती, भयी अप्रतिसमा ग्रीस्थकला व्राप्त कार्

तब में एकाग्र मन जुट गया ग्रन्थों में मुभे परीक्षाग्रों में विलक्षण श्रेय मिला !

—भारत भूषण

यह रचना भारत-भूषणजी के द्वारा रिचत है; इसमें 'ग्रात्म-विज्ञापन' किया गया है; भावनाग्रों के स्थान पर किव ने ग्रपनी महानता का चित्रण किया है। 'साधारण खान-पान' होते हुए भी उसने परीक्षाग्रों में विलक्षण सफलता प्राप्त की—इसी तथ्य का निदर्शन है!! हमें किव के साथ पूरी सहानुभूति है। साधारण खान-पान से ही किव ने ऐसी सफलता प्राप्त कर ली, यिद उसे ग्रसाधारण खान-पान मिलता तो न जाने उसकी प्रतिभा का क्या हाल होता! भारत-सरकार ग्रीर जनता को चाहिए कि वह ऐसी महान् प्रतिभाग्रों के ग्रात्म-विज्ञापन पर घ्यान दे।

(अ) दूषित वृत्तियों का नग्नरूप में चित्रण—जिन वृत्तियों का भ्रश्लील, असामा-जिक एवं अस्वस्थ कहकर समाज श्रीर साहित्य में दमन किया जाता रहा है, जन्हीं को उभार कर प्रस्तुत करने में नये किव गौरव का ग्रनुभव करते हैं। अपनी ग्रतृप्ति, कुण्ठाश्रों एवं दिमत वासनाश्रों का प्रकाशन वे निःसंकोच रूप में करते हैं।

> "मेरे मन की बॅबियारी कोठरी में अतृप्त श्राकांक्षा की वेश्या बुरी तरह खाँस रही हैं! × × ×
>
> पास घर श्राये तो
>
> दिन भर का थका जिया मचल-मचल जाये!"

> > —श्रनन्तकुमार 'पाषाण'

इसी प्रकार श्रीमती शकुन्तला माथुर ने 'सुहाग-वेला' में जो 'लपक-भापक' दिखाई है, वह भी द्रष्टव्य है—

''चली भ्राई वेला सुहागिन पायल पहने... बाणविद्ध हरिणी सी बाँहों में लिपट जाने की उलक्कने की, लिपट जाने की, मोती की लड़ी समान...।"

यंहाँ कवियत्री ने सुहागिन की अनुभूति की तुलना 'वाणविद्ध हरिणी' से की है, जो पाठक के मन में करुणा ही उत्पन्न कर सकती है, उल्लास नहीं, जविक कवियत्री का लक्ष्य यहाँ सुहागिन के उल्लास को व्यक्त करना था।

(इ) निराशावादिता—नये किव को न तो भ्रतीत से ही प्रेरणा मिलती है भीर न ही वह भविष्य की भ्राशा-भ्राकांक्षाभ्रों से उल्लिसित है। उसकी दृष्टि केवल वर्तमान तक सीमित है, भ्रतः ऐसी स्थिति में उसका क्षणवादी, निराशावादी भ्रीर विनाशात्मक प्रवृत्तियों में लीन हो जाना स्त्राभाविक्षाविक्ष्ण अविज्ञानि क्षिप्रक्रिक की भाँति है जिसे

यह विश्वास हो कि भ्रगले क्षण प्रलय होनेवाली है, भ्रतः वे वर्तमान क्षण में ही सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं—

> श्राओ हम उस श्रतीत को भूलें श्रीर आज की श्रपनी रग-रग के अन्तर को छू लें! छू लें इसी क्षण क्योंकि कल के वे नहीं रहे, क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।

> > —मुद्राराक्षस

(ई) बौद्धिकता एवं शुष्कता—नये कि अनुभूतियों से प्रेरित होकर काव्य-रचना कम करते हैं, अपने मस्तिष्क को कुरेद-कुरेदकर उसमें से किवता को वाहर खींच लाने का प्रयास अधिक करते हैं। वस्तुतः उसमें रागात्मकता की अपेक्षा विचारात्मकता अपितु अस्पष्ट विचारात्मकता अधिक होती है। नयी किवता के अनुयायियों का दावा है कि बौद्धिकता में भी एक रस होता है, बौद्धिक युग में वौद्धिकता की ही अधिक आवश्यकता है। बौद्धिकता से पाठक का हृदय आप्लावित नहीं हो सकता, इस तथ्य को ये कि भी ईमानदारी से स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही उनका कहना है कि किवता का उद्देश्य ही मस्तिष्क को कुरेदना है। निस्संदेह नयी किवता इस उद्देश्य की पूर्ति करने में पूर्णतः समर्थ है। कुछ पंक्तियाँ देखिये—

अंतरंग की इन घड़ियों पर छाया डाल दूँ ! श्रपने व्यक्तित्व को एक निश्चित साँचे में ढाल दूँ ! निजी जो कुछ है श्रस्वीकृत कर दूँ ! संबोधनों के सगं को उपसंहत कर दूँ ! श्रात्मा को न मानूँ तुम्हों न पहचानूँ तुम्हारी त्वदीयता को स्थिर शून्य में उछाल दूँ तभी हाँ शायद तभी...।

—राजेन्द्रकिशोर

ये पंक्तियाँ श्रपनी श्रस्पष्टता के कारण पाठक के मस्तिष्क को उलभाने में पूर्णतः समर्थ हैं, श्रतः इनकी उत्कृष्टता श्रसंदिग्ध है।

(उ) भदेस का चित्रण—नये किवयों ने ग्रपनी ग्रस्वस्थ सौन्दर्य-चेतना एवं विकृत किच के कारण कुरूप, ग्रसुन्दर एवं भद्दे दृश्यों का भी चित्रण क्ष्मिपूर्वक किया है; यथा—

'मूत्र-सिचित मृत्तिका के वृत्त में तीन टांगों पर खड़ा नत ग्रीव धैर्यंघन गदहा।'

प्रयोगवाद ग्रीर नयी कविता

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लगता है, कहीं कोई ठौर नहीं... आज का मनुष्य, गर्भ से धक्के देकर निकाला हुआ—ऋषिपुत्र !

—राजेन्द्रकिशोर⁹

मुहब्बत एक गिरे हुए गर्भ के बच्चे सी होती है। चाहत वह, मजबूरी हो सकती है, जिसे मरीज खाँस कर थूक न सके।

—मुद्राराक्षस^२

वस्तुतः यह प्रवृत्ति ग्रंग्रेजी की ग्राधुनिक किवताग्रों में भी मिलती हैं, जिसका ग्रंघानुकरण करने का प्रयास किया गया है। बी॰ पी॰ बागची ने ग्रंग्रेजी किवता की इस ग्राधुनिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह इन किवयों पर भी लागू होता है—"The modern poets have taught us to seek beauty in places where we would not have expected it, even in things which we used to consider dirty and ugly (ग्राधुनिक किवयों ने हमें उन स्थानों में भी सौन्दर्य खोजने की शिक्षा दी है, जहाँ सामान्यतः सौन्दर्य की ग्राशा नहीं की जाती; यहाँ तक कि गंदे श्रीर भद्दे समफे जाने वाले विषयों में भी)।

(क) साघारण विषयों का चयन—नये किन के पास कहने के लिए कोई वड़ी बात या कोई निशेप निषय नहीं है। ग्रपने ग्रास-पास की साधारण नस्तुग्रों—जैसे, चूड़ी का टुकड़ा, चाय की प्यालियाँ, बाटा का चप्पल, साइकिल, फ्रेंच लेदर, कुत्ता, नेटिंग-रूम, होटल, दाल, तेल, नोंन, लकड़ी ग्रादि—को लेकर इधर-उधर की कुछ कह देता है, वही उनके लिए किनता न जाती है—

बैठ कर ब्लेड से नाखून काटें, बढ़ो हुई दाढ़ी में वालों के बीच की खाली जगह छाटें, सर खुजलायें, जम्हुग्रायें, कभी धूप में श्रायें कभी छाँह में जायें।

-सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

दिन मर गया है, मैं भी मर गया हूँ, हींग और हल्दी से वासित मेरी बीबी मगर ग्रभी जिंदा है ! ग्रीर उसके पेट में कुछ ग्रीर नयी जिन्दगी है, मेरा कोट फटा है उसने ही सिया है।

—ग्रनन्त कुमार 'पाषाण'^१ यदि इस प्रकार की उक्तियों को 'कविता' का नाम दिया जा सकता है, तो निस्संदेह

१-३. नयी कविता श्रीर उसका मूल्यांकन ३ सुरेशचन्द्र सहल, पृ० १४८-१६०। ४. वही, पृ० १६१। हर एक व्यक्ति को 'किव' कहा जा सकता है। यदि किसी घर के कोने में या किसी गली के बीच कोई टेप-रिकार्डर लगा दिया जाय तो ऐसी हजारों किवताएँ रोज तैयार हो सकती हैं। वच्चों की रफ कािपयों में, या हमारी रोजाना की डायरियों में भी ऐसी उक्तियाँ मिल जायेंगे। यही कारण है कि 'एक दिन यह भी रहस्य खुला कि नयी किवता की भरपूर निन्दा करनेवाली कई सदस्याओं ने स्वयं नयी किवता लिखकर कािपयाँ भर डाली थीं।' (तीसरा सप्तक', पृ० ६४) हमारा विचार है कि ऐसी स्थित में अब किवता का अकाल नहीं रहेगा तथा किवयों की संख्या उतनी ही बताई जा सकेगी, जितनी कि जन-संख्या है।

(ए) व्यंग्य एवं कटूक्ति—नये किवयों ने कहीं-कहीं ग्राधुनिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यंग्य करने का प्रयास किया है, किन्तु व्यंग्य के लिए जिस मानसिक संतुलन की ग्रपेक्षा है, उसका प्रायः नये किवयों में ग्रभाव है, इससे उनकी उक्तियाँ सफल व्यंग्य वनने के स्थान पर प्रभाव-शून्य कटूक्तियाँ वन जाती हैं, यथा—

'साँप ! तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होगे, नगर में बसना भी तुम्हें नहीं श्राया,

> > —ग्रज्ञेय

यहाँ किव मानकर चलता है कि ग्राधुनिक सम्यता साँप से भी ग्रधिक विषैती है, साँप तो बेचारा निर्दोष प्राणी था—फिर उसने डसना कहाँ से सीख लिया ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह नगर में रहा हो ! पर किव की इस भावना के साथ सामान्य पाठक का तादातम्य स्थापित नहीं होता, श्रतः इसमें ग्रपेक्षित व्यंग्यात्मकता का ग्रभाव है।

(ऐ) ग्रसम्बद्ध प्रलाप—फायडीय चिकित्सा प्रणाली में रोगी के द्वारा निद्रित या ग्रानिद्रित ग्रावस्था के कहे गए ग्रसम्बद्ध उद्गारों का ग्रध्ययन करके उसकी कुंठाग्रों का पता लगाया जाता है तथा इस पद्धित को 'उन्मुक्त साहचर्य' (Free Association) की पद्धित कहते हैं। नयी किवता में इस पद्धित का उपयोग करते हुए ग्रसम्बद्ध प्रलाप प्रस्तुत किए हैं, यथा—

म्राह, सारी रात चाय रख दो कागजों पर या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागींत संयमी ई, ईश्वर, उ, उल्लू चल हट बेटा

—राधाकान्त भारती

ओ शैलीगत प्रवृत्तियां—नये कवियों ने नूतन प्रयोगों को अपना लक्ष्य मानते हुए अपनी कविता में छवे अनिमुझों अवसे अपनी कों क्ष्यसादों, सुक्त छंदों और नयी शब्दावली का प्रयोग किया है। परंपरागत प्रतीकों एवं उपमानों के स्थान पर उन्होंने धाघुनिक युग के उपकरणों—विशेषतः वैज्ञानिक साधनों—की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

- १. नये प्रतीक-- 'प्यार का बल्व पयूज हो गया।'
- २. नये उपमान-म्रापरेशन थियेटर सी,

'जो हर काम करते हुए भी चुप है।'

या-'विजली के स्टोव सी जो एकदम सुर्ख हो जाती है।'

- ३. नये विम्व---'कोठरी में दीप की लौ सेंकती ठंडा ग्रंघेरा'

 "विछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा।'
- ४. नये शब्द—(क) बोल-चाल के शब्द: मटियाली, फर्फूंद, ललोंई, दुधारू, भूनगे, श्रन्देशे, बिटिया, ठहराव ग्रादि।
 - (ख) विदेशी शब्द : क्रुसेड, टाउन, क्यूब, ग्राटोग्राफ, नासिसस, लाग्रोकून, फीनिक्स, ग्रादि ।
 - (ग) ग्रप्रचलित शब्दों का प्रयोग—निर्व्याख्या, विश्ववत, श्रिस्मिता, ईप्सा, विलन्न, समवाय, विकीरित, इयत्ता, विप-र्यास, पारमिता ग्रादि।

इन कवियों की शिल्पविधि श्रीर शैली में श्रनेक महत्त्वपूर्ण दोष हैं, जिनकी विस्तृत चर्चा डा॰ कैलाश वाजपेयी ने श्रपने शोध-प्रबंध में की है; यहाँ उनका संकेत मात्र किया जाता है—

- १. नवीनता के नाम पर श्रकाव्यात्मक तत्त्वों को स्थान देना ।
- २. नवीनता के ग्रत्यधिक ग्राग्रह के कारण वेढंगी उपमाग्रों, ग्रनगढ़ शब्दों, असंबद्ध पदों ग्रीर ग्रनुपयुक्त विशेषणों का प्रयोग करना; जैसे—
 - (क) मस्तक इतना खाली-खाली;लगता जैसे हो कोई सड़ा हुम्रा नारियल ।

—धर्मवीर भारती

(ख) एक दिन होगी प्रलय भी मत रहेगी भोंपड़ी।

—भवानीप्रसाद मिश्र

(ग) तू उमड़ बढ़ वक्र में अपने गगन को घेरे।

-कुंवरनारायण

यहाँ तीनों उदाहरण क्रमशः बेढङ्गी उपमा एवं ध्रनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग को प्रस्तुत करते हैं।

- ३. विषय-वस्तु में श्रृंखला एवं रागात्मक-सामंजस्य का स्रभाव।
- ४. विलष्ट एवं भ्रप्रचलित शब्दों का प्रयोग ।
- आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प : डा० कैलाश बाजपेयी, पू० ३०५,
 ३११।

- ५. ग्रशोभन उत्प्रेचा का प्रयोग।
- ६. क्रिया-पदों स्रोर विशेषगों का मनमाना प्रयोग ।
- ७. ग्रश्लील एवं ग्रहिचकर दृश्यों का ग्रंकन।
- कविता के नाम पर कहीं-कहीं शब्दों की खिलवाड़ करना, यथा—

 ए + क
 = क

 एक + वियोग
 = कवि

 एक + वियोग + तीन
 = कविता

वस्तुतः हमारे काव्य-शास्त्र में काव्यगत दोषों के जितने भेद बताये गये हैं, उन् सभी के सुन्दर एवं उपयुक्त उदाहरएा नयी कविता में मिल जाते हैं, ग्रब आवश्यकता केवल इस बात की है कि एक ऐसा नया सौन्दर्य-शास्त्र तैयार किया जाय जिससे सभी दोषों को गुरा सिद्ध किया जा सके; सौभाग्य से नये कवि, कवि होने के साथ-साथ व्याख्याता एवं आलोचक भी हैं तथा इस आवश्यकता की पूर्ति में भी पूरी शक्ति से लगे हुए हैं, ग्रतः ग्राशा की जा सकती है कि भविष्य में ये दोष काव्य के गुरा मान लिये जारोंगे।

जारोंगे।
उपलब्धियाँ ग्रीर ग्रभाव—ग्रपने बीस-बाईस वर्ष के जीवन में इस ग्रतियथार्थ-बादी हिन्दी कविता ने हमें क्या दिया है, यदि इसका विश्लेषएा किया जाय तो दो बातें स्पष्ट रूप से ही कही जा सकती हैं, एक तो इसने कविता ग्रीर ग्रकविता के

ग्रन्तर को इतना कम कर दिया है कि ग्रव हर व्यक्ति कवि होने का गौरव प्राप्त कर सकता है। दूसरे, अब हिन्दी के साहित्यकार भी कह सकते हैं कि आधुनिकता में वे यूरोप की किसी भी धारा से पीछे नहीं हैं, उनका भी दृष्टिकोए। ग्राधुनिकतम या नवीनतम है। पर इस कविता का दुर्भाग्य यही है कि ग्रभी तक हिन्दी में ऐसे पाठक उत्पन्न नहीं हुए, जो कि इनका ग्रास्वादन प्राप्त कर सकें। जैसा कि पीछे कहा गया है, एक नए ग्रालोचक ने बताया है कि 'हिन्दी के नव्ये प्रतिशत पाठकों' में नयी कविता को सममने की दृष्टि एवं बुद्धि नहों है। हिन्दी के पाठकों में एकाएक बुद्धि का यह ग्रकाल कैसे ग्रा गया, इसका स्पष्ट उत्तर तो ग्राज तक किसी भी नये कवि या नये ग्रालोचक ने नहीं दिया, पर सामान्यतः यह कह दिया जाता है कि नयी कविता के लिये 'ग्राधुनिक बोध' (Modern Sensibility) चाहिए । यह ग्राधुनिक बोध क्या है ? तथा नये कवियों को ही यह बोध कहाँ से प्राप्त हो गया तथा भारत की शेष जनता उस बोध से क्यों वंचित है—इसका रहस्य ग्रभी तक उद्घाटित नहीं हुग्रा । सामान्यतः अंग्रेजी की ग्राधुनिक कविता के अध्ययन, अस्तित्ववादी दर्शन, फायडवादी मनोविज्ञान के प्रभाव से रुचि का-या काव्य-रुचि का-इतना विकृत हो जाना कि वह यौन वास-नाम्रों के नग्न चित्रएा, कुंठाम्रों की म्रिमिन्यक्ति, निराशा एवं शून्यता की मनुभूति एवं ग्राश्लील, ग्रस्वस्थ एवं भोंड़े दृश्यों में ही रुचि लेने लग जाय, इसी को 'ग्राघुनिक बोध' कहते हैं। 'बीरबल-विनोद' में एक किस्सा है कि एक बार बीरबल ने शर्त रखी थी कि जो अपनी नाक कटायेगा, उसे ही स्वर्ग दिखाई देगा; कुछ ऐसी ही शर्त नयी

कविता के ग्रास्वादन की है।

पर हमें यहाँ इस तथ्य की न भूलना चाहिए कि जिस 'ग्राधुनिक वोध'--पर हम इतना गर्व कर रहे हैं, वह पश्चिम के एक वर्ग-विशेष की निराशावादिता एवं चयोन्मुखता की देन है। पश्चिम के समाज-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र के विद्वानों ने इसे एकस्वर से सम्यता एवं संस्कृति की पतनोन्मुखता एवं ह्वासोन्मुखता का लक्षरा माना है। नये काव्य में घोर व्यक्तिवाद, निराशावाद, भोगवाद-एवं उच्छक्कलतावाद की जैसी ग्रिमिव्यक्ति हुई है, वह न प्रतिमा के वैशिष्ट्य की सूचक है, न कला के सीन्दर्य की ग्रीर न ही समाज-हित की । उसका कथ्य छिछला है ग्रीर कथन-विधि ग्रस्पष्ट, भौड़ी एवं कला-श्रन्य है। इसलिए प्रसिद्ध जर्मन समाज-शास्त्री ग्रोस्वाल्ड स्पैंग्लर ने ग्रपनी विश्व-विख्यात कृति The Decline of West (पश्चिम का पतन) में ग्राधुनिक कला की रुग्णावस्था एवं हासोन्मुखी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हए ग्राज की कलावाजी को 'फरेब' ग्रीर 'मक्कारी' तथा ग्राज के कलाकारों का 'Industrious Cobblers' ग्रीर 'Noisy fools' की संज्ञा दी है।' इसी प्रकार सी० डी० लेविस ने जो स्वयं ग्रंग्रेजी के भाष्मिक किव एवं भ्रालोचकों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, उन तथ्यों का विवेचन एवं स्पष्टीकरण किया है जिनके कारण नये कवियों की कविताएँ सामाजिक के द्वारा ग्राद्त नहीं हो सकीं। उनके विचार से ग्रंग्रेजी की ग्राधुनिक कविता में, विशेषतः बिम्बवादियों की कविता में ये दोष हैं --(१) श्राधुनिक युग परिवर्तनशील है, श्रतः श्रावृतिक बिम्बों का प्रभाव भी क्षएामंगुर है। (२) नये बिम्ब एवं उपमान रागा-त्मक संपकों से शून्य होने के कारए। काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में ग्रसफल सिद्ध होते हैं। (३) नया कवि परंपरागत शैलियों का एकाएक तिरस्कार करके एकमात्र बिम्ब-सिद्धान्त का ही भ्रन्धानुयायी हो गया है। (४) जिन विम्बों का नया कवि प्रयोग करता है, वे जनसामान्य की कल्पना से बहुत दूर के होते हैं। (४) नये कवियों के विम्ब किसी एक अनुभूति एवं भावना में अनुस्यूत न होने के कारएा कोई स्पष्ट, व्यवस्थित एवं सुसमन्वित प्रमाव उत्पन्न नहीं करते। (६) नये कवियों ने विषय को सर्वथा गौए। कर दिया है। इस प्रकार नयी कविता पाठकों के लिए ग्रस्पष्ट, ग्रसंवेद्य एवं प्रभाव-शून्य हो गई है। ग्रतः कवियों का अपनी त्रुटियों एवं अपूर्णता के लिए पाठक को दोष देना वैसा ही है, जैसा कि एक ग्रकुशल कारीगर का ग्रपने ग्रीजारों में मीनमेख निकालना।

यदि ग्राधुनिक किन ने उपर्युक्त दोषों को दूर नहीं किया तो वर्तमान समाज में उसकी क्या स्थिति हो जायगी, इसकी कल्पना करते हुए लेनिस महोदय ने लिखा है—Can he (modern poet) survive in the modern world, except as a kind of village idiot, tolerated but ignored talking to himself, hanging around the pub and the petrol pumps, his head whirled with broken images, mimicking the movements of a life in which he has no part?

^{1.} The Decline of West: Oswald Spengler, 1959, p. 299.

2. The Poetic Image: C. D. Lewis p. 1959, p. 299.

The Poetic Image: C. D. Lewis, p. 105.
 The Poetic Image: C. D. Lewis, p. 110.

ग्रर्थात् वह (नया कवि) ग्राधुनिक दुनियां के केवल उस देहाती मूर्ख की भाँति ही जीवित रह सकता है, जिसे उपेक्षापूर्वक सहन कर लिया जाता है तथा जो स्वयं जीवन से दूर रहकर दूसरों की गतिविधियों की नकलें उतारता हुग्रा, ग्रपने दिमाग में चक्कर काटते हुए टूटे-फूटे विम्बों को लिये हुए, ग्रयने-ग्रापसे वातें करते हुए सराय ग्रीर पेट्रोल-पंप के चारों ग्रोर चक्कर काटता रहता है!

उपर्य क्त सभी वातें हिन्दी की नयी कविता एवं उनके रचयिताग्रों पर भी लागू होती हैं। ग्राचार्य नन्दरुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, शिवदान-सिंह प्रभृति ग्रालोचकों ने नयी कविता का सूच्म विश्लेषणा प्रस्तुत करते हुए इसकी विभिन्न त्रुटियों एवं न्यूनताग्रों पर प्रकाश डाला है । श्राचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट किया है कि इनमें ग्रनेक रचनाएँ भींडे व्यंग्य की मृष्टि करती हैं, उनमें श्रर्थ-परम्परा का निर्वाह नहीं होता, पूरी रचना पढ़ लेने पर भी भावान्विति का बोध नहीं होता तथा इसकी विषय-वस्तु भी सामाजिक, नैतिक एवं चारित्रिक दृष्टि से ग्रच्छा प्रभाव उत्पन्न नहीं करती । साथ ही साथ इनमें जीवन के प्रति किसी रचनात्मक दृष्टि, कर्मग्यता ग्रीर क्रियाशीलता का भी ग्रभाव है। डा० नगेन्द्र ने नयी कविता की दुरूहता का विश्ले-पए करते हुए इसके पाँच कारए बताये हैं—(१) भाव तत्त्व ग्रीर काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के स्थान पर वृद्धिगत सम्बन्ध होना । (२) साधारणीकरण का त्याग । (३) उपचेतन मन के अनुभव-खएडों का यथावत् चित्रण । (४) भाषा का एकान्त एवं अन-गंल प्रयोग । (५) नूतनता का सर्वंग्राही मोह । नये किव ग्रालोचकों की ग्रालोचनाग्रों से लाभ उठाने के स्थान पर किस प्रकार प्रत्यारोप करते हैं, इस प्रवृत्ति पर व्यंग्यात्मक शैली में विचार करते हुए डा॰ रामविलास शर्मा ने लिखा है—'किसी शास्त्रीय ग्रालो-चक की क्या मजाल कि प्रयोगवादी कविताश्रों की निष्पक्ष समीक्षा करके भी पूर्वाग्रही कहलाने से बच सके । जहाँ किसी ग्रालोचक ने नयी किवता के सिलसिले में 'रस' की चर्चा की कि नये कवि दल-वल सिहत ग्रपने-ग्रपने वक्तव्यों ग्रीर परिभाषाग्रों का ग्रस्त्र लेकर उसके सामने खड़ हो जाएँगे। तब ग्रालोचक के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं। या तो वह शास्त्र ग्रीर कविता दोनों को लेकर वहाँ से माग खड़ा हो जहाँ रस-मर्मज्ञ पाठक एवं श्रोता हों, या नये कवियों के ग्रर्थंहीन वक्तव्यों पर मुग्ध होकर कहने लगे—'मनुष्य को बिम्बों के सहारे जीना चाहिये, प्रयोगवाद एक नया सीन्दर्य-शास्त्र लेकर ग्राया है।' (समालोचक, ग्रगस्त १६५६)।

इसी प्रकार शिवदानिसह चौहान ने भी इन कवियों की विभिन्न प्रचारात्मक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में निर्भीकतापूर्वक कहा है—'प्रयोगवादी कवि स्रिभजात वर्ग के उन अल्पसंख्यक पाठकों तक ही अपनी कविता को प्रेषित करते हैं, जो एक स्रोर तो ग्रपने उपजीवी ग्रौर निठल्ले जीवन के कारएा भावना से उच्छृङ्खल ग्रौर दायित्वहीन हैं, दूसरी ग्रोर वर्तमान पूँजीवादी समाज के ग्रन्ततः हास की ग्राणंका से संत्रस्त ग्रीर उद-भ्रान्त भी हैं। "इन कवियों के म्रहंकार को प्रोत्साहन देने म्रीर साधारण पाठकों की सहज मानवीय भावनाओं और वस्तु-बोध को कुंठित करने के लिए 'प्रयोग' के वकील, श्रालोचकों, संपादकों ग्रीर ग्रघ्यापकों का एक गिरोह पैदा होता जा रहा है, जो उक्ति-

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha वैचित्र्य, शब्दचयन, ध्वनि-चित्र के टेकनिकल स्तर तक ही प्रयोगवादी कविता के विवेचन को सीमित रखकर सामान्य पाठकों में एक विशेष प्रकार की हीन-भावना पैदा करने की उद्धत चेष्टा करते हैं। उनके तर्कों का सार यह है- 'तुम्हें (साधारए।तया प्रवृद्ध पाठकों को) ये प्रयोगवादी कविताएँ पसन्द नहीं हैं। तुम्हें ये दुरूह लगती हैं ? तुम इसे अनगंल प्रलाप कहते हो ? तो तुम निश्चय ही रूढ़िपन्थी हो, समय से पिछड़े हुए हो, तुम्हारी, रुचि का ग्राधुनिक संस्कार नहीं हुन्ना, तुम मतवादी, पूर्वग्रहों से ग्रस्त हो !' (काव्य-धारा, पृ० १,४, २०६-७)

वस्तुतः इस प्रकार के तर्कों से अपने युग के पाठकों एवं आलोचकों का मुँह बंद किया जा सकता है, किन्तू उनकी मान्यता एवं प्रशंसा तो तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि मानवीय मावनात्रों को ग्रान्दोलित करनेवाली सच्ची कविताएँ लिखी जाये। हमें यह समभ लेना चाहिये कि ब्राधुनिकतम या नवीनतम का अर्थ सर्वोत्तम नहीं है, उदाहरए। के लिए नवीन शोध से ऐसे रोगागुश्रों एवं बीमारियों का भी पता चला है कि जिन्हें श्राघुनिकतम कहा जा सकता है, किन्तु केवल इसी विशेषता के कारए। हम उन्हें भ्रपनाने के लिए तैयार न होंगे। पश्चिम की ग्राधुनिक सभ्यता ग्रपने क्रोड़ से नये-नये वैज्ञानिक भाविष्कारों के साथ-साथ ऐसी प्रवृत्तियों को भी जन्म दे रही है, जो ग्रस्वस्थ, ग्रनैतिक एवं मानवधाती हैं । ग्रतः पश्चिम की प्रत्येक ग्राधुनिक प्रवृत्ति का ग्रंधानुकरए। करना केवल प्रतिभाशून्य नकलिचयों एवं बौद्धिक गुलामों का ही काम है। समभदार व्यक्ति चाहे वह किसी भी चेत्र का क्यों न हो, पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और नवीन की देन में से केवल उतना ही स्वीकार करता है, जितना कि उपयोगी स्वस्थ, गुम ग्रौर सुन्दर हो, शेष को वह ठुकरा देता है। साहित्य और कला के चेत्र में मी इसी दृष्टिकोएा की श्रावश्यकता है।

विभिन्न ग्रालोचकों के प्रभाव से ग्रव नये कवियों में से कुछ लोग ग्रपनी न्यून-ताग्रों एवं त्रुटियों को समफने लग गये हैं। श्री प्रयागनारायए। त्रिपाठी ने 'तीसरे सहक' में इसी स्थिति का परिचय देते हुए ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है—'मुक्ते लगता है कि नयी कविता के नाम पर ग्राज जो कुछ लिखा जा रहा है, उसके ग्रन्तगैत बहुत क्रिं कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज बकवास हैं। पंक्तियों को छोटी-बड़ी कर देना, क्र प्रव्दों को तोड़-मरोड़ देना, कोलन, डैश, उक्ति-चिह्न ग्रौर कोष्ठकों को निरर्थंक ढंग से बैठा देना, मनमाने तौर पर लय को बदल देना, बिना ग्रात्मसात् किये हुए नया उपमा, उत्प्रेक्षाम्भों या बिम्बों को परेशान पाठकों के सम्मुख ढकेल देना-ये तथा इसी प्रकार के श्रनेक दोष श्राज की श्रनेक कविताश्रों में दिखाई देते हैं। "नयी कविता में मुक्ते एक श्रीर भी भ्रांति दिखाई दे रही है। नये श्रीर यथार्थ के चित्रएा के नाम पर इस प्रकार की पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, (जो) न तो हमारे सम्मुख कोई प्रभावशाली बिम्ब ही उपस्थित करती हैं श्रौर न श्राज के जीवन-यथार्थ के प्रति कोई रागात्मक उत्ते जना ही उत्पत्र करती हैं।'

(तीसरा ससक, पृ० २४)

श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी 'तीसरे सप्तक' के शीर्षस्य किव हैं, ग्रतः उनका यह

वक्तव्य पर्याप्त महत्त्वपूर्णं है। यदि अन्य किव भी आत्मिनिरीक्षण की इसी प्रवृत्ति का पिरचय देते हुए अपनी त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करें, वे 'नयी किवता' नहीं, केवल 'किवता' लिखने की चेष्टा करें तथा पिरचम के अंधानुकरण के स्थान पर निजी अनुभूतियों पर विश्वास करें तो अवश्य ही तथाकथित 'नयी किवता' 'सच्ची किवता' का रूप प्राप्त कर सकती है, अन्यथा यहाँ भी किवता की स्थिति वही हो जायेगी, जो उसकी इंगलैंड और अमेरिका में हो रही है, समाज को उसके प्रति स्थायी अकिच एवं विवृष्णा उत्पन्न हो जायगी।

इघर 'नयो किवता' के ग्रौर भी कई विद्रूपों का ग्राविर्भाव हुग्रा है—िजनमें ग्रकविता, ठोस किवता, ग्रस्वीकृत किवता, युयुत्सुवादो किवता, भूखी पढ़ी की किवता ग्रादि के नाम उल्लेखनीय हैं। विकासवाद के नियम के ग्रनुसार जब कोई परम्परा ग्रपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचकर ह्रासोन्मुखी होने लगती है तो उसके ग्राधारभूत तत्त्व क्षोए हो जाते हैं ग्रीर उसका रूप ग्रनेक कृत्रिम रूपों में विभक्त हो जाता है—यहाँ तक कि उसके मूल स्वरूप को पहचानना भी किठन हो जाता है। प्रति दशान्दी के बाद बदलनेवाले किवता के ये नये-नये रूप, उसके सहज स्वाभाविक तत्त्वों के स्थान पर विजातीय एवं विरोधो तत्त्वों को प्रतिष्ठा तथा उसकी ग्रात्मघाती समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ क्या यह सूचित नहों कर रही हैं कि किवता ग्रपनी प्रौढ़ावस्था से ग्रागे बढ़कर उस ग्रवस्था के समीप पहुँच गई है, जिसे हम जीएं जरावस्था कहते हैं! ऐसी स्थित में स्वस्थ, सबल एवं सुन्दर किवता की ग्राशा करना दुराशा मात्र ही है।

the or it shall make the consequences

: : पै तालिस : :

यथार्थवाद ऋौर हिन्दी-काव्य

- १. यथार्थं की व्याख्या।
- २. दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति ग्रौर साहित्य में यथार्थवाद ।
- ३. ग्रादर्शं ग्रीर यथार्थं का ग्रन्तर।
- ४. यथार्थवादी साहित्य को प्रवृत्तियाँ।
- ५. भारतीय साहित्य में यथार्थवाद ।
- ६. हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद-प्रारम्भिक युग-(क) ग्रमीर विद्यापतिं, (ग) नरपति ।
- ७. मध्यकालीन हिन्दी कवि ।
- प्राधुनिक य्ग ।
- ६. उपसंहार ।

'यथार्थवाद' का शाब्दिक ग्रर्थं है-जो वस्तु जैसी हो, उसे उसी ग्रर्थं में ग्रहरण करना । दर्शन, मनोविज्ञान, सौन्दर्यं-शास्त्र, कला एवं साहित्य के चेत्र में वह विशेष दृष्टिकोरा, जो सूदम की अपेक्षा स्थूल को, काल्पनिक की अपेक्षा वास्तविक को, मविष्य की अपेक्षा वर्तमान को, सुन्दर के स्थान पर कुरूप को, ग्रादर्श के स्थान पर यथार्थ को प्रहरा करता है- यथार्थवादी दृष्टिकोरा कहलाता है। दर्शन के चेत्र में जहाँ एक ग्रादर्श-वादी किसी अप्रत्यक्ष सत्ता, अलौकिक शक्ति, सूदम जगत् और मरगोत्तर जीवन के ग्रस्तित्व में विश्वास करता है, वहाँ यथार्थवादी स्थूल, भौतिक एवं प्रत्यक्ष जगत् में ही जीवन की इतिश्री मानता है, भारतीय श्रौर ग्रभारतीय—सभी दार्शनिकों में ग्रादर्शवादी भीर यथार्थवादी—दोनों दृष्टिकोएा मिलते हैं । जहाँ हमारे उपनिषद्कारों ने ग्रौर पाश्चात्य विद्वान् प्लेटो ने स्थूल जगत् को मिथ्या बताते हुए सूदम ग्राघ्यात्मिक लोक को ही सत्य घोषित किया, वहाँ भारतीय जैन, सांख्य, योग, न्यायादि दर्शनों में तथा पश्चिम के भौतिक विकासवाद में यथा बादी दृष्टिकोएा के अनुसार भौतिकता को महत्त्व प्रदान किया गया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोए। को ग्रपनाते हुए भी प्रत्येक धर्म ग्रौर दर्शन में ग्रादर्श - का थोड़ा-बहुत स्थान ग्रवश्य होत है, किन्तु इसके विपरीत विज्ञान ग्रीर मनोविज्ञान में विशुद्ध यथार्थवादिता का बोलबाला होता है। राजनीति के चेत्र में ग्रादर्श ग्रौर यथार्थ दोनों को स्थान प्राप्त है। जहाँ गांधी जी का 'राम-राज्य' म्रादर्शवादिता का प्रतीक है, वहाँ मार्क्स की साम्यवादी व्यवस्था विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोए। को लेकर चलती है। सोन्दर्य-शास्त्र के चेत्र में दोनों वर्गां के विद्वान् मिलते हैं। श्रादर्शवादी चिन्तक सौन्दर्यं को

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

विषयगत न मानकर विषयोगत मानते हैं। जबिक यथार्थवादी विषय-वस्तु की स्थूल विशेषताश्रों में सौन्दर्य के उपादानों की खोज करते हैं। श्रादर्शवादी श्रालोचकों ने सौन्दर्य पर सामाजिकता, नैतिकता एवं उपयोगिता का श्रंकुश लगाया तो यथार्थवादियों ने उसे वैयक्तिकता, उच्छुङ्खलता एवं कलात्मकता के उन्मुक्त प्रांगए। में खेलने की पूरी छूट दी।

साहित्य के चेत्र में भी दोनों दृष्टिकोगों का विकास हुम्रा है। जहाँ म्रादर्शवादी मादर्भ व्यक्तियों के म्रादर्भ क्रिया-कलापों एवं उच्च मावनाम्रों का चित्रए। म्रादर्भ शैली में करता है, वहाँ यथार्थवादी मानव-जीवन की वास्तविक परिस्थितियों का चित्रण सहज-स्वाभाविक माघ्यम से प्रस्तुत करता है । ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हम दोनों में से किसे ग्रहण करें। ग्रादर्शवादी साहित्य को ग्रधिक सम्मानित करें या यथार्थवादी को ? इसी प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि साहित्य की साहित्यिकता किस पर निर्भर है -- ग्रादर्श पर या यथार्थ पर ? साहित्य के मूल तत्त्व चार माने गये हैं--भाव, कल्पना, बुद्धि ग्रोर शैली। इनमें से भाव ग्रीर कल्पना का सम्बन्ध ग्रादर्श से है, जब कि शेष दो का यथार्थ से । कोई भी साहित्यकार चाहे वह कितना ही यथार्थवादी क्यों न हो, विना कल्पना के पंखों पर सवार हुए भाव-जगत् का भ्रमगा नहीं कर सकता । ग्रतः किसी-न-किसी स्तर पर यथार्थवादी साहित्यकार को भी स्राद्शवादिता से सम्वन्धित तत्त्वों का स्राश्रय लेना पड़ता है। दूसरी स्रोर कोरे स्रादर्शी की मृष्टि करनेवाला साहित्य, जो मानव को देवता के रूप में उपस्थित करता है, धरती को स्वर्ग में परिएात कर देता है, वह ग्रस्वाभाविकता ग्रीर ग्रसाधारएाता से इत प्रकार युक्त हो जाता है कि उसका साधारगोकरगा होना ही ग्रसम्भव हो जाता है। ग्रतः साहित्यकार का मार्ग ग्रादर्श ग्रीर यथार्थ की पटरियों को छूते हुए ग्रागे बढ़ता है। जो इनमें से एक की उपेत्ता कर देता है, वह एकांगी हो जाता है। किसी एक को ही ग्राधार मानकर रचित साहित्य भी 'साहित्य' तो कहलाता है, किन्तु उसकी स्थिति उस व्यक्ति की भाँति रहती है, जो एक पैर के ग्रमाव में पंगु हो गया हो -- जीवित वह रहता है, किन्तु उसकी गति में तीव्रता श्रीर संतुलन नहीं रहता।

काव्य में दोनों का उचित समन्वय हो—यह मी एक ग्रादमों है; यथार्थ यह है कि ऐसा हो नहीं पाता । किव को निजी दृष्टिकोए ग्रोर पिरिस्थितियों के प्रमाव से किसी एक की ग्रोर भुक जाना पड़ता है । यद्यपि थोड़ी बहुत ग्रादर्शवादिता ग्रोर यथार्थवादिता प्रत्येक काव्य में उपलब्ध होगी, किन्तु उनमें प्रमुखता किसी एक की ही रहती है । ग्रतः इसी ग्राधार पर साहित्य को दो वर्गों—(१) ग्रादर्शवादी ग्रोर (२) यथार्थवादी—में

विमाजित किया जा सकता है। यथार्थवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ

विसी भी रचना को 'श्रादशंवादी' श्रेणो में रखा जाय या यथार्थवाद की कोटि किसी भी रचना को 'श्रादशंवादी' श्रेणो में रखा जाय या यथार्थवाद की कोटि में—इसका निर्णंय करने के लिए उसकी मुख्य प्रवृत्तियों का ग्रध्ययन करना श्रावश्यक है। हमारे दृष्टिकोण से एक यथार्थवादी रचना में ग्रग्नांकित प्रवृत्तियाँ सामान्यतः होती हैं— CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

- (क) यथार्थवादी कलाकार—'जीवन क्या है ?' का उत्तर देता है । 'वह क्या होना चाहिए ?' की समस्या में नहीं पड़ता ।
- (ख) यथार्थवादी रचना में श्रतीत श्रौर भविष्य की श्रपेक्षा वर्तमान का चित्रएा श्रिधक होता है।
- (ग) यथार्थंवादी रचना में जीवन की ग्रसंगतियों, कटुताग्रों एवं विषमताग्रों का चित्रए होता है।
- (घ) यथार्थंवादी रचना में परिस्थितियों का मानव पर प्रभाव बताया जाता है, जबिक श्रादर्शंवादी में मानव परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेता है।
- (ङ) यथार्थवादी केवल समस्या प्रस्तुत करता है, उसका समाधान ग्रादर्शवादी करता है।
- (च) यथार्थवादी में वैयक्तिकता ग्रधिक होती है, जबिक ग्रादर्शवादी में सामा-जिकता।
- (छ) यथार्थवादी शैली में स्वाभाविकता, तीव्रता, व्यंग्यात्मकता ग्रिधिक होती है, जबिक ग्रादर्शवादी में काल्पनिकता, शिथिलता ग्रीर कोमलता का वेग होता है।
- (ज) यथार्थवादी साहित्य में रौद्र, बीभत्स एवं श्रृङ्गार की ग्रमिव्यक्ति ग्रिधिक होती है, जविक ग्रादर्शवादी में करुए, वीर ग्रौर शान्त की।

ये प्रवृत्तियाँ सामान्य रूप में ही बताई गई हैं, किन्तु ग्रनेक स्थानों पर इनका ग्रपवाद मी मिलता है। ऐसी स्थिति से प्रवृत्तियों की बहुलता के ग्राधार पर दोनों का निर्णैय करना उचित होगा।

भारतीय साहित्य में यथार्थवाद

प्रायः सर्वसाधारण की धारणा है कि प्राचीन भारतीय जीवन एवं साहित्य में ग्रादर्शोन्मुखता की ही प्रधानता रही है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। जहाँ रामायण युगीन समाज में हम ग्रादर्श के लिए यथार्थ की बिल होती देखते हैं, वहाँ महाभारतीय जीवन में यथार्थ की पूर्ति के निमित्त ग्रादर्शों का पतन दृष्टिगोचर होता है। समाज की मर्यादाएँ क्या हैं—इन प्रश्नों का उत्तर महाभारतीय नेताग्रों ने यथार्थ-वादी ढंग से दिया है। युधिष्टिर ने एक स्थान पर स्वीकार किया है कि समाज की मर्यादाएँ एवं नियम देश-काल सापेक्ष हैं, ग्रतः उनमें ग्रावश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। महाभारत की ग्रनेक घटनाग्रों में भी हम ग्रादर्शवादिता के विरुद्ध कूटनीति व कपट-कौशल का प्रयोग देखते हैं। महाभारत-परवर्ती युग में भी इस यथार्थवादी दृष्टि-कोण का पर्याप्त विकास हुग्रा था, जिसका प्रमाण कौटिल्य के 'ग्रप्रशासत्र' व वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' में मिलता है। प्राचीन ग्रादर्श के विपरीत कौटिल्य स्त्रियों के लिए ग्राव-श्यकतानुसार ग्रपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद करने व ग्रन्य पुरुषों से विवाह करने की ग्रानुमित देता है। कामसूत्रकार मनोरंजन के निमित्त परकीयाग्रों व वेश्याग्रों तक से गृप्त सम्बन्ध स्थापित करने का समर्थन करता है। 'नाट्य-शास्त्र' के रचिता भरत मुनि ने नाटक की नायिकाग्रों को सूची में परकीया को भी स्थान दिया है। वस्तुतः ये उदाहरण СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanass । वस्तुतः ये उदाहरण

इस तथ्य के द्योतक हैं कि प्रथम-द्वितीय शती तक भारतीय समाज के दृष्टिकोए। में पर्याप्त यथार्थवादिता ग्रा गई थी जिसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ना ग्रावश्यक था।

महाकवि कालिदास के दृष्टिकोएा में हमें स्थान-स्थान पर यथार्थवादिता का परिचय मिलता है। 'मेयदूत' में वे एक ग्रोर पत्नी-वियुक्त ग्रपराधी के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हैं तो दूसरी ग्रोर वे मानव दुर्वलताग्रों को स्वीकार करते हुए पूछते हैं— "कौन है जो विवृत-जघनाम्रों के स्वाद से परिचित होकर उन्हें ठुकरा सके ?" उन्होंने 'कुमार-संभव' में शिव-पार्वती के प्रथम समागम का वर्रान यथार्थानुमोदित शैली में किया, यद्यपि इसके लिए उन्हें लोकापवाद का भी कम सामना नहीं करना पड़ा। स्रागे चलकर शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) में एक वेश्या-पुत्री को नायिका का पद देकर तथा चोर-जुग्रारियों के जीवन का चित्रएा सहानुभूति से करके ग्रपने यथार्थवादी दृष्टिकोएा का परिचय दिया । संस्कृत के ग्रन्य नाटकों में भी यथार्थवादिता का ग्राग्रह इतना ग्रिधिक है कि उन्होंने निम्न-वर्ग के पात्रों के सम्भाषरण में प्राकृत भाषा तक का प्रयोग किया है।

साहित्य में संस्कृत के स्थान पर जब प्राकृत की प्रतिष्ठा हुई तो यथार्थवादी प्रवृत्ति का ग्रीर भी ग्रधिक विकास हुग्रा । हाल की 'गाथा-सप्तशती' विशुद्ध यथार्थवादी दृष्टि-कोएा से रचित है। इसमें रचयिता ने स्वर्ग या मोक्ष प्रदान करने का ग्राडम्बर न रचकर ग्रपना उद्देश्य-पाठकों को काम-कला की व्यावहारिक शिचा देना-स्पष्ट रूप में स्वी-कार कर लिया है। इस ग्रन्थ में देवताओं के स्थान पर जन-साधारएा को, ग्रलौकिक क्रिया-कलापों के स्थान पर दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों को, नैतिकता से भुकी हुई ग्राकांचाग्रों के स्थान पर मानव-हृदय की सहज-स्वाभाविक वृत्तियों के चित्रएा को प्रमुखता प्राप्त हुई है। प्रेम की विभिन्न परिस्थितियों का निरूपण 'गाथा-सप्तशती' में ग्रत्यन्त स्वामाविक शैली में हुम्रा है। यहाँ प्ररायोद्भव के लिए कल्पना के बड़े-वड़ करतव नहीं दिखाए जाते ग्रौर न ही मानवेतर प्राणियों को प्रेम-सन्देश पहुँचाने के लिए ग्रामन्त्रित किया जाता है। स्वप्त-दर्शन या चित्र-दर्शन की ग्रायोजना भी यहाँ नहीं होती। कोई अहीर कुल की बाला अपनी मौसी के यहाँ आई हुई है, वह गाँव के सब लोगों के मुँह से एक विशेष युवक की ही वार-वार चर्चा सुनकर उसकी ग्रोर ग्राक्षित हो जाती है। प्रेम का ग्रंकुर इसी ग्राकर्षण में निहित है, किन इसी तथ्य को व्यंजित करता है-

उसी की कथाएँ होती हैं, विकसती हैं, फिर उसी तक समाप्त होती हैं! क्या में यह समऋ लूँ, मौसी ! कि वही एक युवक है इस गाँव में !!

(भ्रनुवाद)

'गाथा-सप्तशती' का नायक व्यभिचारी है, ग्रतः उसकी विवाहिता पत्नी का दुः सी रहना स्वाभाविक है। हाल ने इस उपेचित पत्नी की व्यथा का चित्रएा मार्मिक शब्दों में किया है-जब उसका पित उसी के सम्मुख ग्रपनी किसी प्रेमिका के सौन्दर्य की प्रशंसा करता है तो वह उत्तर देती है— "सचमुच ही वह सुन्दर, रूप-गुरा-शील है और यह भी मानती हूं कि हम में कोई भी गुए। नहीं, पर क्या जो उसके समान सुन्दर नहीं, उसे मर ही जाना चाहिए।" वस्तुतः गाथा-सप्तशती इस प्रकार की यथार्थपूर्ण उक्तियों से भरी टर्ड है। से भरी हुई है।

श्रागे चलकर 'श्रमरक-शतक', 'शृङ्गार-शतक', 'गोवर्द्ध'न-सप्तशती', 'चोर-'पंचाशिका' श्रादि मुक्तक रचनाश्रों ने गाथा-सप्तशती की यथार्थवादी परम्परा को ग्रागे बढ़ाया। यही परम्परा ग्रपभ्रंश मुक्तककारों में होती हुई हिन्दी के मुक्तक किवयों—देव बिहारी, पद्माकर ग्रादि तक पहुँची, जिसकी चर्चा ग्रागे की जाएगी। उपर्युक्त पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत के नाटक एवं मुक्तक साहित्य में यथार्थवादिता को पर्याप्त प्रश्रय मिला है।

हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद

हिन्दी-काव्य के प्रारम्भिक काल से ही उसमें यथार्थवादी दृष्टिकोएा का स्फुरएा मिलता है। ग्रमीर खुसरो, विद्यापित, नरपित नाल्ह ग्रादि किव राज्याश्रित थे, जिनका उद्देश्य शिक्षा देना न होकर मनोरंजन करना था, ग्रतः उनमें यथार्थवादी दृष्टिकोएा का मिलना स्वाभाविक है। खुसरों की निम्नांकित पंक्तियों में यथार्थवादिता का ही रंग दृष्टिगोचर होता है—

यहाँ सौन्दर्य श्रौर यौवन की तरंगों का चित्रण उद्दाम रूप में है, किसी प्रकार की स्रादर्शवादिता या नैतिकता का नियन्त्रण इन पर दृष्टिगोचर नहीं होता।

प्रणाय के उन्मुक्त किव विद्यापित से तो किसी ग्रादर्श की ग्राशा करना ही व्यथं है। सौन्दर्य की प्रथम फलक देखकर ही उनकी समस्त ग्रादर्शवादिता मूच्छित होकर गिर पड़ती है, ग्रीर फिर जब हृदय में प्रेम का महोदिध उछलने लगता है तो समाज के तारे रीति-नियम उसमें हुब जाते हैं, उन्हीं के शब्दों में—

मनमधि मदन महोदधि उछलल

बूड़ल कुल मरजादे!!

प्रेम और धर्म में से किसे स्वीकार करना चाहिए—एक ग्रादर्शनादी इसके उत्तर में कहेगा कि धर्म की रक्षा के लिए प्रंणय का गला घोंट देना उचित है, किन्तु यथार्थनादी किव विद्यापित ग्रपनी प्रणय-विह्वल नायिकाग्रों को सलाह देते हुए प्रेम को 'नीलमिएं। हार' तथा धर्म को काँच या शीशे के सदृश वताते हैं—

कुलबित घरम काँच समतूल। मदन दलाल भेल ग्रनुकूल।। ग्रान्त बेचि नीलमिन हार। से तुह पहिरबि करि ग्रिभिसार।। ग्रादर्शवादियों के प्रेम का ग्रन्त भी ग्रादर्शमय होता है, या तो प्रेमी-प्रेमिका

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

यथार्थवाद ग्रीर हिन्दी-काव्य

अनेक कठिनाइयों के अनन्तर एक सूत्र में वैंधने में सफल हो जाते हैं, या दोनों अपने स्वप्नों की पूर्ति के निमित्त प्राएगों की बिल दे देते हैं; किन्तु विद्यापित के प्रएाय-लोक में यह कुछ नहीं होता । रस-लोलुप नायक-भ्रमर कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर विमुख हो जाता है और अद्धै-विकसित म्लान किलका सी नायिका के पास केवल वेदना, निराशा, ज्लानि और अपर्ष से परिपूर्ण कुछ दाहक-स्मृतियाँ शेष रह जाती हैं। वह सोचती हैं:-

कुल-कामिनि छलों, कुलटा भए गेलों तिन कर बचन लोभाई।
ग्रपने कर हम मूंड मुड़ाएल कानु से प्रेम बढ़ाई।।
चोर रमिन जिन मन मन रोग्नई ग्रम्बर बदन छिपाई।
दीपक लो सलभ जिन धाएल से फल भुजइत चाई।।

ग्रपने विगत प्रेम पर किया गया यह पश्चात्ताप कवि के यथार्थवादी दृष्टिकोएा

को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

'बीसलदेव रासो' सामन्तवादी व्यवस्था में जकड़ी हुई पराधीन नारी की यथार्थ गाथा है। वह प्रेयसी या पत्नी न होकर अपने पित की दासी-मात्र है। यही कारएा है कि बीसलदेव की इस गर्वोक्ति का—मेरे समान और राजा कौन है? मेरे यहाँ नमक की झील है!"—सीधा और स्पष्ट उत्तर देने-मात्र के अपराध में उसकी रानी को बारह वर्ष वियोग का दण्ड भुगतना पड़ता है। नारी-जीवन के प्रति किव की सहानुभूति रानी राजमती के शब्दों में व्यक्त हुई है—

त्रिय जनम कांई दियो हो महेस। ग्रवर जनम थारे घणां हो नरेस।।

मध्यकालीन भारत की नारी मनुष्य-जीवन की ग्रवेचा वन की काली कोयल, जंगल की हरिएा। या घर की गाय का जन्म प्राप्त करना ग्रधिक श्रेयस्कर समझती है—
पशु-पक्षियों का जीवन मानव के लिए स्पृह्रएाय वन गया है। तत्कालीन परिस्थितियों
को देखते हुए यह तथ्य वास्तविकता पर श्राधारित है।

मध्यकालीन हिन्दी कवि

मध्यकालीन मक्त किवयों का दृष्टिको ए ग्रादशंवादी था, किन्तु उन्होंने उसमें यथार्थं का भी कहीं-कहीं समन्वय किया है। विशेषतः सूरदास के काव्य में यथार्थं चित्रए। सर्वाधिक मात्रा में हुग्रा है। उनके कृष्णा ग्रवतार-पुरुष होते हुए भी साधारए। बालक की माँति माँ से चोटी बढ़ाने की बात पूछते हैं। गोपी-जीवन के विभिन्न दृश्यों में तत्कालीन ग्रामीए। जीवन की झाँकी मिलती है। इसी प्रकार गोपियों की विरहाग्नि की व्यंजना में भी सर्वथा यथार्थात्मक शैली का प्रयोग हुग्रा है। उद्धव ज्ञान की जिस गठरी को लेकर गोकुल पहुँचे थे, वह ग्रादर्शवादिता का ही दूसरा रूप था; उसे ठुकरा कर मानो सूर ने ग्रादर्शवादिता को ठुकरा दिया हो। गोपियाँ यह नहीं कहतीं कि उद्धव के ज्ञान का ग्रादर्श मिथ्या है, ग्रपितु उनका निवेदन तो यह है कि वह उसके वश की बात नहीं है—

मघुकर, मन नांही वस बीस । ८०-० Janganun स्थानि स्मिनिक्षिण प्रार्शके ईस ।। एक हुती सी नीया स्थानिक स्मिनिक्षिण प्रार्शके ईस ।। गोपियों की इस विवशता में सूर का यथार्थवाद मुखरित है।

ग्रागे चलकर रीतिकालीन शृङ्गारी किवयों में तो यथार्थवाद ग्रपनी चरम सीमा तक पहुँचा हुग्रा है। वे सामाजिक ग्रादर्शों के विरुद्ध परकीया की गुप्त क्रीड़ाग्रों का चित्रएा रुचिपूर्वक करते हैं, ग्रिमसारिकाग्रों की छद्य-लीला के वर्णन में वे नीति ग्रीर नियम को भुला बैठते हैं; ग्रीर इतना ही नहीं, वे सिद्धान्त रूप में भो स्वीकार कर लेते हैं:—

कौन गने, पुर बन नगर, कामिनि एक रीत। देखत हरे विवेक लो, चित्त हरे किर प्रोति ॥

— देव

इन श्रृङ्गारी किवयों में यथार्थंवादिता का आग्रह सबसे अधिक बिहारी में मिलता है। एक ग्रोर तो वे श्रृङ्गारिकता को ही जीवन का चरम लक्ष्य घोषित कर देते हैं—'तन्त्री नाद, किवत्त, रस, सरस राग, रित रंग'',—दूसरी ग्रोर आदर्शंवादिता को ढींग हाँकने वालों को वे ललकारते हैं—

इक भीजे, चहलें परें, बूडें, बहें हजार। किते न श्रीगुन जग करें, बे नै चढ़ती बार।।

प्रेम के क्षेत्र में नीति-नियम ग्रौर मर्यादाग्रों का उल्लंघन हो जाता है, इस कटु, यथार्थ को वे नि:संकोच रूप में स्वीकार कर लेते हैं—

क्यों बसियं, क्यों निवहियं, नीति-नेह-पुर नांहि ।

किसी सुन्दरी के सौन्दर्य को देखकर मन को वश में रखना चाहिए, उसे कुपथ पर नहीं जाने देना चाहिए—ग्रादर्शवादियों की इस सीख से बिहारी भी परिचित हैं, किन्तु—

गनतु न मनु पथु-ग्रपथु, लिख बियुरे-सुथरे बार ॥

कदाचित् ऐसे कुपथ-गामियों को 'निलंज्ज' घोषित किया जायगा, पर बिहारी पहले ही ग्रपनी निलंज्जता स्वीकार कर लेते हैं --

फिरि-िफिरि चितु उत्तहीं रहतु, टूटी लाज की नाव ।। सीन्दर्यं क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर भी विहारी ने यथार्थवादी ढंग से दिया

समें-समं सुन्दर सर्ब, रूप कुरूपुन कोइ। मन की रुचि जेती जिते, तित तेती रुचि होइ।।

यह तो सिद्धान्त की बात हुई। व्यावहारिक दृष्टि से भी बिहारी ने अपने युग के उन दृष्यों का अंकन किया है, जिन्हें एक आदर्शवादी सर्वथा उपेक्षित कर देता। देवर-भाभी के गुप्त सम्बन्ध, पड़ोसी एवं पड़ोसिनों की व्यभिचारिता, मन्दिरों के कथावाचकों एवं श्रद्धालु महिलाओं के दुराचार, ठगों, वैद्यों एवं ज्योतिषियों आदि का चित्रए विहारी ने नि:संकोच रूप में किया है। वस्तुत: बिहारी को रीतिकाल का सबसे बढ़ा यथार्थवादी किव कहा जा सकता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

आधुनिक युग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का दृष्टिकोए ग्रादर्शोन्मुख यथार्थवादी था, ग्रर्थात् उन्होंने यथार्थं का चित्रए तो किया है, किन्तु उसमें रस लेते हुए नहीं, ग्रिपतु उसे व्यंग्यात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। तत्कालीन भारत की दुर्दशा, विदेशी शासकों का शोषए, सरकारी कर्मचारियों के ग्रनाचार, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों ग्रादि का नग्न चित्रए भारतेन्दु ग्रीर उनके सहयोगी कवियों द्वारा भरपूर हुग्रा है। उदाहरए के लिए भारतेन्दु की कुछ कह-मुकरनियाँ देखिये—

भीतर भीतर सब रस चूसै। हैंसि-हिंस के तन-मन-धन मूसे। जाहिर बातन में ग्रित तेज। क्यों सिंख साजन, निंह ग्रंग्रेज।।

× × × × × × × × दनकी उनको <u>खिदमत</u> करो, रुपया देते देते मरो। रोवा (फार्ल) तब ग्रावे मोहि करन खराब, क्यों सिख साजन; नहीं खिताव।।

द्विवेदी युग ग्रीर छायावाद युग में किवयों का दृष्टिकोएं। ग्रादर्शात्मक ही रहा, यद्यपि दोनों की ग्रादर्शवादिता में सूच्म ग्रन्तर था। द्विवेदी युग की ग्रादर्शवादिता धर्म ग्रीर संस्कृति के स्यूल रूप को ग्रहएं करके ग्रागे बढ़ी थी, जबिक छायावादी किवयों ने ग्राध्यात्मिकता ग्रीर दर्शन के सूच्म तत्त्वों को ग्रपनाया, किन्तु यथार्थवादिता का सर्वथा ग्रमाव दोनों में ही नहीं है। जहाँ गृप्त जी की 'मारत-भारती' में यथार्थ का चित्रएं हुग्रा है, वहाँ छायावादियों के ग्रसफल प्रएंय की परिएंति में तत्कालीन समाज की वास्तविकता निहित है। ग्रागे चलकर प्रगतिवाद ग्रीर प्रयोगवाद में तो यथार्थवाद को ही लच्य मानकर चला गया है, ग्रतः उनमें इसका चित्रएं ग्रत्यधिक मात्रा में मिलना स्वामाविक है। प्रगतिवादियों ने जहाँ समाज की यथार्थ परिस्थितियों के ग्रंकन का प्रयास किया है, वहाँ प्रयोगवादियों ने व्यक्ति की यथार्थ ग्रनुभूतियों का। इसका विवेचन पीछे दो निबन्धों में किया जा चुका है (देखिये—'प्रगतिवाद ग्रीर हिन्दी-काव्य' तथा 'प्रयोगवाद ग्रीर नई किवता' शीर्षक निबन्ध), ग्रतः हम पुनरावृत्ति से बचने के लिए उनके सम्बन्ध में ग्रिधिक नहीं लिखेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी-कविता का कोई भी युग ऐसा नहीं है जिसमें यथार्थ को स्थान न मिला हो । वस्तुतः हिन्दी-काव्य में ग्रादर्श की ग्रपेक्षा यथार्थ का ही ग्रिष्ठिक बोलबाला रहा है । हाँ, इतना ग्रवश्य है कि परिस्थिति-भेद से इस यथार्थ के रूप विभिन्न रहे हैं । जहाँ रीतिकाल में दाम्पत्य-जीवन एवं समाज की श्रृंगारिक प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रगा रुचिपूर्वक हुग्ना, वहाँ भारतेन्दु युग में समाज की व्यापक परिस्थितियों का ग्रंकन व्यंग्यात्मक दृष्टिकोगा से हुग्ना है । प्रगतिवाद इस दृष्टि से भारपरिस्थितियों का ग्रंकन व्यंग्यात्मक दृष्टिकोगा से हुग्ना है । प्रगतिवाद इस दृष्टि से भारपरिस्थितियों को यथार्थवादिता के निकट है, जबिक प्रयोगवादी रीतिकालीन वैयक्तिक श्रृंगारिकता से भी ग्रागे बढ़े हुए हैं । ग्रस्तु, यथार्थ यथार्थ ही है, उससे ग्रादर्श की ग्राशा रखना दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी ।

: : छियालिस : :

प्रतीकवाद ऋौर हिन्दी-काव्य

- १. प्रतीक का ग्रथं।
- २. प्रतीकों का प्रयोजन ।
- ३. प्रतीक ग्रीर ग्रलंकार।
- ४. प्रतीकवाद का ग्राविर्भाव ग्रीर विकास ।
- ५. प्रतीकवादी विचारधारा।
- ६. पाश्चात्य प्रतीकवाद के गुएा-दोष ।
- ७. भारतीय काव्य में प्रतीकात्मकता ।
- ग्राधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रतीकवाद ।
- ६. उपसंहार।

श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'प्रामािएक हिन्दी (शब्द) कोष' में 'प्रतीक' शब्द के ये ग्रर्थ दिये हैं—(१) चिह्न, लक्षरा, निशान, (२) मुख, मुँह, (३) ग्राकृति या रूप या सूरत, (४), किसी के स्थान पर या बदले में रखी हुई या काम ग्रानेवाली वस्तु, (५) प्रतिमा, मूर्ति, (६) वह जो किसी समष्टि के प्रतिनिधि के रूप में ग्रीर उसकी सब बातों का सूचक या प्रतिनिधि हो (सिम्बल Symbol)। ग्रथों की यह विविधता ही 'प्रतीक' शब्द की व्यापकता सिद्ध करती है। हमारे जीवन के विभिन्न चेत्रों में 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग भी विभिन्न प्रकार से होता है। हमारे सामाजिक या राष्ट्रोय जीवन में हमारे गौरव का सूचक कोई रंग, श्राकृति या चिह्न प्रतीक कहलाता है, जैसे किसी संस्था का व्यापारिक चिह्न, किसी समाज की कोई मुद्रा या किसी राष्ट्र की ध्वजा-पताका, कोई रंग या त्राकार। धार्मिक चेत्र में पत्थर या धातु-पूर्तियाँ किसी परम सत्ता के प्रतीक के रूप में पूजी जाती हैं। इसी प्रकार साहित्य-चेत्र में किसी भाव या विचार का प्रति-निधित्व करनेवाले शब्द 'प्रतीक' कहलाते हैं। वैसे तो हमारी भाषा का प्रत्येक शब्द ही सामान्यतः प्रतीक है । हम 'गाय' को 'गाय' क्यों कहते हैं ? इसलिए कि इस व्विन को हमने पशु-विशेष का प्रतीक मान लिया है। दूसरी भाषाग्रों में 'गाय' को 'गाय' न कहकर ग्रौर कुछ कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने किसी दूसरी घ्विन को प्रतीक माना है। इस स्थिति में तो भाषा का प्रत्येक शब्द प्रतीक सिद्ध होता है, किन्तु प्रतीकवाद का सम्बन्ध इस रूप से नहीं है । वस्तुतः किसी भी शब्द के प्रचलित ग्रमिधेय ग्रथं को ग्रहरा करते हुए भी जब उसके द्वारा किसी ग्रन्य ग्रर्थ की सूचना दी जाय तो उसे प्रतीक कहतें हैं। प्रदि किसी मृत शरीर को देखकर कहा जाय कि ''पंक्षी उड़ गया, खाली पिजरा पड़ी है।" तो यहाँ पक्षी प्राणों का प्रताक तथा पिजरा शरीर का प्रतीक कहलाएगा।

प्रश्न है प्रतीकों का काव्य या साहित्य में प्रयोग क्यों किया जाता है ? इसका उत्तर है कि काव्य में उन सभी साधनों का प्रयोग किया जाता है, जो हमारी भावनाग्रों को ग्रधिक स्पष्टता से, ग्रधिक प्रभावशाली रूप में प्रकट करने में सहायक हो सकें। काव्य में विभिन्न ग्रलंकारों का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया जाता है—यह दूसरी बात है कि कुछ कवि चमत्कार-प्रदर्शन के लिए भी ऐसा करते हैं, किन्तु ग्रलंकारों का मूल लच्य तो भावाभिव्यक्ति को ग्रधिक स्पष्ट ग्रौर प्रभावशाली बनाना ही है। इसी प्रकार प्रतीकात्मकता का भी उद्देश्य है। प्रतीकों के प्रयोग से मुख्यतः इन लच्यों की पूर्ति होती है—(१) सूदम भाव, विचार या कल्पना को स्यूल रूप में प्रस्तुत करना। इससे अगोचर रूप में सहायता मिलती है। जैसे " 'निराशा' को 'ग्रंथकार' का प्रतीक बताना, या 'ज्ञान' को 'प्रकाश' का (२) ग्रपरिचित वस्तु का परिचय किसी परिचित ग्राधार पर देना । इससे पाठक सुगमतापूर्वक अपरिचित का ज्ञान प्राप्त कर सकता है । जैसे, तुलसीदासजी ज्ञान ग्रौर भिक्त का भेद बताते हुए एक को 'दीपक' के रूप में ग्रौर दूसरी को 'चिन्तामिए।' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। (३) ग्रप्रस्तुत का वर्णन करके पाठक के हृदय में प्रस्तुत के विषय में जिज्ञासा जागृत करना, जैसे कबीर का यह कथन---'ठाढ़ा सिंह चरावै गाई ।'' (४) विषय-वस्तु की व्यंजना ग्रभिधा में न करके घ्वनि या व्यंग्य रूप में करना; जैसे, बिहारी के इस दोहे-'र्नीह पराग, नींह मधुर मधु, नींह विकास इहि काल' में कमल की कली ग्रस्कुट-यौवना वाला का प्रतीक है। (५) एक ही शब्द, वाक्य, प्रसंग, कहानी या काव्य के द्वारा दो विषयों का प्रतिपादन एक साथ करना; जैसे पद्मावत ग्रीर कामायनी में रत्नसेन-पद्मिनी या मनु-श्रद्धा के प्रतीकार्थों के द्वारा लौकिक ग्रौर ग्राघ्यात्मिक विचारों की ग्रमिव्यक्ति एक साथ की गई है। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रतीकों का प्रयोग उस समय ही किया जाता है, जबकि व्यक्ति भावाभिव्यक्ति में सर्वथा ग्रसमर्थ हो जाता है या भाषा की ग्रमिधा शक्ति कुंठित हो जाती है। हमारी दृष्टि में यह विचार ठीक नहीं। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है, किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता। जिस प्रकार ग्रलंकारों के प्रयोग के विना माषा का काम चल सकता है, वैसे ही प्रतीकों के प्रयोग के बिना भी चल सकता है; किन्तु भावाभिन्यक्ति को ग्रौर ग्रिधिक स्पष्ट, ग्राकर्षक एवं प्रभावशाली बनाने के लिए ही ग्रलंकारों ग्रीर प्रतीकों का प्रयोग होना चाहिए। घ्यान रहे, प्रतीकों का प्रयोग या ग्रस्पष्ट रूप में प्रयोग माषा को दुर्बोध्य एवं ग्रमिव्यक्ति को ग्रस्पष्ट भी बना देता है।

प्रतीक और अलंकार

यहाँ हमें प्रतीक के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए यह जान लेना चाहिए कि ग्रलंकारों ग्रीर प्रतीकों में क्या ग्रन्तर है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, प्रतीकों के प्रयोग का लह्य भी वही है, जो ग्रलंकारों के प्रयोग का है। प्रतीक का स्वरूप भी हमारे ग्रन्थोक्ति ग्रलंकार से गहरा मिलता-जुलता है। प्रतीक का प्रयोग मूल वस्तु, भाव या विचार के रूप-साम्य, क्रिया-साम्य या प्रभाव-साम्य के ग्राधार पर किया जाता है,

यही बात निरंग रूपक, ग्रन्था के ग्रीर समासीकि ग्रनकारी में मिलती है। उदाहरण के लिए यहाँ कूछ पंक्तियाँ देखिए....

> (१) माली प्रावत देखि कै कलियाँ करें पुकारि। फूले फूले चुन लिये. कालि हमारी बारि॥

> (२) नींह पराग, नींह मधुर मधु, नींह विकास इहि काल । प्रली कली ही सौं बंध्यों, आगे कीन हवाल ॥ — विहारी

(३) कहां छिपा ए चांद हमारा। जेहि बिन रैनि जगत ग्रॅंघियारा।।

(४) कॅंवल जो विगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ । श्रबहुँ बेलि फिर यलुहै, जो पिय सींचै

(५) मो दिल्ली ग्रस निबहर देसू। केहि पूछहुँ को कहै सन्देसु ।।

जायसी

(६) उन्ह बानन्ह ग्रस को जो न मारा। सगरौ संसारा ॥ रहा -जायसी

यहाँ पहले दोहे में 'माली' मृत्यु का प्रतीक है तथा दोनों में क्रिया-साम्य है। दूसरे दोहे में मघु, पराग एवं विकासहीन कलिका ग्रविकसित-यौवन वाला का प्रतीक है, दोनों में गुरा-साम्य है। तीसरे में चाँद भी प्रिय का प्रतीक है, तथा दोनों में प्रभाव-साम्य है। इसी प्रकार श्रन्य उदाहरणों में भी कमल-बेलि, दिल्ली, बाएा श्रादि क्रमशः नायिका, परलोक एवं वरुिएयों की प्रतीक हैं। किन्तु ,प्रतीक में ग्रीर इन ग्रलंकारों में थोड़ा-सा अन्तर है। उपर्युक्त अलंकारों — अन्योक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति आदि - में प्रस्तुत श्रीर अप्रस्तुत दोनों अर्थ चमत्कारपूर्ण हैं, जबिक प्रतीकात्मकता में कभी-कभी केवल भ्रप्रस्तुत ग्रथं ही चमत्कारपूर्णं होता है। ग्रतः भले ही प्रतीक को इनमें से किसी प्रच-लित ग्रलंकार का पूरा पर्यायवाची न मानें, किन्तु उसे एक स्वतन्त्र ग्रलंकार - जिसमें उपमेय का वर्णन उपमान के द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि जिससे उपमेय का उल्लेख बिल्कुल नहीं हो -- कहा जा सकता है। वस्तुतः संस्कृत-हिन्दी के निरंग रूपक, समासोक्ति ग्रादि में जिसे उपमा कहते हैं। वही 'प्रतीक' का पर्यायवाची है, केवल उसके वरांन की पद्धति में थोड़ा अन्तर होता है। अतः ऐसा कोई काररा नहीं कि जिससे प्रतीक एक प्रकार का श्रलंकार नहीं माना जाय।

प्रतीकवाद का आविभाव और विकास

जिस प्रकार मारत के कुछ काव्य-शास्त्रियों ने ग्रलंकार, वक्रोक्ति ग्रौर व्वनि आदि में से प्रत्येक को ही काव्यगत सौन्दर्य का मूलाधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया, वैसे ही यूरोप के कुछ विद्धानों ने प्रतीकों के प्रयोग को काव्य-सौन्दर्य का समस्त महत्त्व प्रदान करने का प्रयास किया। फ्रांस के एक प्रसिद्ध किव जीन मोर भ्राज ने भ्रपनी पत्रिका 'फिगारो' के १८ सितम्बर, सन् १८८६ के ग्रंक में सर्वप्रथम 'प्रतीकवाद' की घोषणा की । इसकी स्थापना तत्कालीन साहित्य में प्रचलित प्राकृतवाद (Naturalism) के विरोध में हुई। प्राकृतवाद के अनुसार मानवीय मस्तिष्क की समस्त प्रतिक्रियाएँ इन्द्रिय-जन्य हैं। फलतः प्राकृतवाद में अध्यात्म के स्थान पर भौतिकता की, आदर्श के स्थान पर यथार्थ की, सीन्दर्थ के स्थान पर कुरूपता की और अलंकारिता के स्थान पर स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा की गई। प्राकृतवाद का प्रमुख उन्नायक फेंच उपन्यास-कार एमिली जोला (१८४०-१६०२) माना जाता है। प्राकृतवादी लेखक अपनी समस्त अनुभूतियों तथा मान्यताओं को दिना किसी दन्धन तथा सामाजिक नियमों को मानते हुए प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करने लगे। इस प्रकार प्राकृतवाद के विरोध में प्रतीकवादियों ने काव्य में आध्यात्मिकता, अलौकिकता, अलंकारिता एवं अस्पष्ट अभिव्यक्ति पर वल दिया।

किव जीन मोरे की प्रतीकवाद-सम्बन्धी घोषणा के कुछ समय पश्चात् इसका प्रचार विभिन्न चोत्रों में हो गया। श्री अलबर्ट ग्रोरिएट महोदय ने सन् १८६१ में एक लेख प्रकाशित करके प्रतीकवाद की व्याख्या ग्रधिक स्पष्ट रूप में की। उन्होंने बताया कि प्रतीकवादी दृष्टिकोण में प्रत्येक कला-कृति में ये विशेषताएँ होनी चाहिए—(१) वह भावात्मक हो, क्योंकि कला का लच्य भावों की व्यंजना करना है। (२) भावों को स्यूल रूप ग्रीर ग्राकार प्रदान करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग ग्रावश्यक है। (३) वह संक्लेषणात्मक हो। (४) विषयी-परक हो ग्रर्थात् उसमें किव के व्यक्तित्व को प्रमुखता प्राप्त हो। (४) वह ग्रलकृत हो या उसमें ग्रलकारिता हो। काव्य के ग्रितिरक्त चित्रकला के चेत्र में भी प्रतीकवाद की प्रतिष्ठा हुई। प्रतीकवादी ग्रान्दोलन के प्रसार में रहस्यवादी विचार-धारा ने भी पर्याप्त योग दिया। प्रतीकवादी ग्रान्दोलन से ग्रूरोप के ग्रनेक प्रमुख किव, लेखक एवं ग्रालोचक प्रभावित हुए, जिनमें कीट्स, जेम्स ज्वायस, गर्टून स्टीन, बेलेरी, रिल्के, ह्निटमैन, ग्रलेक्जेएडर, ब्लॉक, सेण्डबर्ग ग्रादि का नाम लिया जाता है।

प्रतीकवादी विचारधारा

श्री राजनारायण विसारिया ने ग्रपने एक लेख— 'प्रतीकवाद की स्थापना' (ग्रालोचना, ग्रंक ६) में प्रतीकवादी विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— "कुछ प्रतीकवादियों के ग्रनुसार ऐसे सभी माव, जो कि हमारे हृदय में उठते हैं, प्रत्येक ग्रनुभव जो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के माध्यम से हमें मिलते हैं, ग्रौर प्रत्येक चाण, जो कि हमारी मनस्-वेतना को एक विशिष्ट तरंग में मंग्नत कर जाते हैं, एक-दूसरे से सटे रहकर भी विलग, इतने ग्रस्त्रोत, इतने गतिशोल ग्रौर इतने ग्रग्राह्म होते हैं कि न तो हमारी ग्रिम्थिक उन्हें यथावत् पकड़ पाती है ग्रौर न स्मरण-शक्ति ही उनके वास्तविक रूप को सहेजकर रख पाती है। प्रत्येक कलाकार ग्रपने इन ग्रनुभवों को ग्रपने दृष्टिकोण की विशिष्टता से देखता ग्रौर ग्रपनी रुभान के ग्रनुरूप ग्रिम्थिक में रंग-प्रकाश की नियोजना करता है।" उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि प्रतीकवाद का

प्रयोजन हमारी ग्रस्पष्ट एवं ग्रनिर्दिष्ट भावनाग्रों एवं ग्रनुभूतियों को निजी दृष्टिकोरा से चित्रित करना है। एक किव की ग्रनुभूति में दूसरे किव की ग्रनुभूति से सूच्म ग्रन्तर रहता है ग्रतः सभी किव एक-जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते, ग्रतः ग्रपने-ग्रपने दृष्टिकोरा से नये-नये प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। प्रतीकवादी केवल विचारों या भावों की ग्रमिव्यक्ति करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, ग्रपितु वह सूच्मातिसूच्म ध्वनियों, ग्रनुभूतियों, सुगन्धियों ग्रादि को व्यक्त करता है। उन्होंने ग्रन्तमंन की सूच्म स्मृतियों, ध्वनियों-प्रतिध्वनियों ग्रीर रहस्यपूर्णं संकेतों पर किवताएँ लिखीं।

प्रतीकवादी काव्य का विषय सूदमातिसूदम होने के कारण और उसकी शैली— प्रतीकात्मकता—की ग्रस्वाभाविकता, कृत्रिमता एवं नवीनता के कारण उसमें ग्रस्वाभा-विकता और ग्रस्पष्टता का ग्राना स्वाभाविक था, किन्तु इस वाद के समर्थकों ने ग्रस्प-ष्टता को काव्य का एक गुण माना है। इस सम्बन्ध में मलामें का कथन है "कविता का ग्रानन्द तभी मिलता है जबिक हमें संतोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा-थोड़ा करके ग्रनुमान लगा रहे हैं, परन्तु स्पष्ट रूप में वर्णन कर देने से कविता का तीन-चौथाई ग्रानन्द नष्ट हो जाता है। हमारी मनस्-चेतना को वही प्रिय है, जो संकेत करता हो, सचेत करता हो!"

सम्भवतः प्रतीकवादी ग्रभिधा के स्थान पर लच्चिंगा ग्रीर व्यञ्जना के महत्त्व की प्रतिष्ठा करना चाहते थे, किन्तु वे ग्रपने लद्द्य से भटक गए । लाचिंगिकता ग्रीर व्यंग्या-त्मकता के स्थान पर उन्होंने दुर्बोधता एवं ग्रस्पष्टता को ग्रपना लिया ।

पाश्चात्य प्रतीकवाद के गुण-दोष

काव्य में प्रतीकों के महत्त्व को कोई ग्रस्वीकार नहीं कर सकता—वे साहित्य-कार जो कि प्रतीकवाद के अनुयायी नहीं थे, उन्होंने भी ग्रपनी रचनाग्रों में प्रतीकों का प्रयोग किया है। सामान्य रूप से प्रतीकों का प्रयोग प्रायः सभी देशों के, सभी युगों के साहित्य में न्यूनाधिक मात्रा में सर्वंत्र हुग्रा है, किन्तु काव्य के ग्रन्य गुएों की ग्रपेचा प्रतीकात्मकता को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान करने का श्रेय पाश्चात्य प्रतीकवादियों को ही है। प्रतीकों के महत्त्व की तथा उनके प्रयोग की जैसी सूदम व्याख्या इस वाद के अनुयायियों द्वारा हुई है, वैसी ग्रन्यत्र नहीं मिलती।

प्रतीकवाद के पच में सबसे वड़ा तर्क तो यह है कि इसने प्राकृतवादियों एवं यथार्थवात्यों के ग्रान्दोलन का दृढ़ता से सामना किया। जहाँ प्राकृतवादियों ने काव्य में से ग्रलकारिता का पूर्णतः निष्कासन कर दिया था, वहाँ इन्होंने ग्रलंकारिता—प्रतीकात्मकता—को ही काव्य का सर्वोच्च गुएा सिद्ध किया। दूसरे, प्रतीकवादियों ने सूदमातिसूदम भावों की ग्रिमिव्यक्ति को लद्दय बनाकर काव्य को गंभीर स्वरूप प्रदान किया। तीसरे, उन्होंने साहित्य में सौन्दर्यं की प्रतिष्ठा की। चौथे, उन्होंने ग्रली ग्रीर ग्रिमिव्यंजना-सम्बन्धी नवीन प्रयोगों के द्वारा किता को रूढिग्रस्त भाषा से मुक्त किया। पाँचवें, उन्होंने काव्य ग्रीर संगीत में सामंजस्य स्थापित किया। इसके ग्रितिरक्त उन्होंने CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

साहित्य को राजनीति के प्रभाव से बचाया। किन्तु प्रतीकवाद में दोष भी कम नहीं हैं। अन्ततः प्रतोकात्मकता एक अलंकार ही है, उसे आवश्यकता से अधिक महत्व देन अनुचित है। प्रतिकात्मकता अभिव्यक्ति का साधन-मात्र है, साध्य नहीं, किन्तु प्रतीक-वात्यों ने उसे साध्य ही मान लिया। स्पष्ट अभिव्यक्ति के नाम पर इन्होंने ऐसे प्रतीकों का समर्थंन किया जो कि किवता और चित्र को अस्पष्ट एवं दुवींध बना देते हैं। कला के सहज-स्वामाविक रूप के स्थान पर उसे कृत्रिम एवं जटिल रूप से आच्छादित कर कर दिया गया। प्रतीकात्मकता शैली है, उसे भाव-पक्ष से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए था। प्रतीकवादियों के प्रभाव से काव्य-कला की भाँति चित्रकला में भी अस्प-ष्टता एवं दुवींधता का प्रचार हुआ। अतः प्रतीकवाद की इस अतिवादिता का समर्थंन किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता। काव्य में केवल प्रतीक ही नहीं, अन्य अलंकारों का प्रयोग भी एक सीमा तक एवं साधन रूप में ही होना चाहिए। सभी स्थानों पर प्रतीकों की भाषा में बोलना पशु-पक्षियों की वागी में बातचीत करने के तुल्य है।

भारतीय का व में प्रतीकात्मकता

भारतीय काव्य में प्रतीकों का प्रयोग चिरकाल से होता रहा है; किन्तू पाश्चात्य प्रतीकवादियों की भाँति उसमें ग्रस्वाभाविकता एवं ग्रतिवादिता को स्थान नहीं दिया गया । वैदिक साहित्य में जीव और ब्रह्म की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से की गई है-'दो पक्षी मित्रता के साथ एक (जीव) वृक्ष (शरीर) पर रहते हैं। उनमें से एक सुस्वादु पिप्पल का भक्षा करता है, जबकि दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षा नहीं करता। ग्रागे चलकर संस्कृत ग्रीर प्राकृत के कवियों ने भी प्रतीकों का प्रयोग किया है। महा-कवि कालिदास ने तरंगों से उद्दे लित सरिताओं को मद-विह्वल कामिनियों के प्रतीकाथ में, पवंतों को पृथ्वी-रूपी नारी के उन्नत स्तनों के रूप में, लता और विटप के मिलन को प्रेयसी-प्रिय के मिलन के सद्श चित्रित किया है। दूसरी ग्रोर प्राकृत और ग्रपभ्रंश के जैन एवं बौद्ध कवियों ने प्रतीकों के माध्यम से ही उपदेश देने की शैली का ग्राविष्कार किया। यही शैली सिद्ध और नाथपंथी कवियों में होती हुई हिन्दी के संत कवियों तक पहुँची । महात्मा कबीर ने यौगिक शब्दों एवं नाथ-पंथी साधना-पद्धतियों को सहज भक्ति-भावना के विभिन्न ग्रंगों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है। कबीर की उलटबासियाँ भीर सूर के कूटपदों में प्रतीकात्मकता का ही विशेष ढंग से प्रयोग है। उधर प्रेमाख्या-नक कवियों ने तो पूरे-के-पूरे काव्य प्रतीकों के ग्राधार पर निर्मित किए। पद्मावत में रत्नसेन मन का, तोता गुरु का तथा पद्मिनी बुद्धि का प्रतीक है-इस बात का उल्लेख कवि ने स्पष्ट रूप में किया है। मध्यकालीन श्रुङ्गारी कवियों ने भी यत्र-तत्र ग्रन्योक्ति के रूप में प्रतीकों की आयोजना की है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य और प्रतीकवाद

प्राचीन हिन्दी-काव्य में तो प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से ही हुग्रा है, किन्तु श्राधुनिक छायावदी ग्री ए अग्रयोगसुक्तीलकाल्याकों तहे॥इतका अम्मोनाःइतना ग्रधिक हुग्रा है कि इन्हें 'प्रतीकवाद' तक की संज्ञा देने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ छायावादी कवियों की प्रतीक-योजना के कुछ उदाहरए। द्रष्टव्य हैं—

> भंभा भकोर गर्जन है, बिजलो है, नीरदमाला। पाकर इस शून्य हूदय को, सबने आ, घेरा डाला।

> > ---प्रसाद

भर गई कली ! निज वृन्त पर उसे खिलना था, नव-नव लहरों से, मिलना था, निज सुख-दुख सहज बदलना था, रे गेह छोड़ वह बह निकली !

—पंत

-महादेवी

उपर्यंक्त ग्रंशों में प्रतीकों का प्रयोग ग्रतिशय मात्रा में हुग्रा है। वस्तुत: खाया-वादी काव्य में सुदमातिसुदम भावनाओं की ग्रिभव्यक्ति प्रकृति के उपादानों को प्रतीक बनाकर की गई है। भ्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी छायावादी काव्य की सर्वप्रमुख विशे-षता प्रतीकात्मकता को ही मानते हुए लिखा था--- "हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ रहस्यवादी रचनाओं के ग्रतिरिक्त ग्रीर प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहरण हुआ है, वह इसी प्रतीक शैली के मर्थ में । छायावाद का सामान्यत: ग्रर्थ हुमा प्रस्तृत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तृत का कथन।" प्रतीकवाद की श्रन्य श्रनेक प्रवृत्तियाँ भी छायावादी काव्य में दृष्टिगोचर होती हैं। पाश्चात्य प्रतीकवादियों की भाँति छायावादी कवियों ने भी स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म की यथार्थ के स्थान पर ग्रादश की, लौकिक के स्थान पर ग्रलौकिक की प्रत्यक्ष के स्थान पर ग्रप्रत्यक्ष की प्रतिष्ठा की । प्रतीकवादियों की दोनों प्रमुख विशेषताएँ -- रहस्यवृत्ति एवं ग्रस्पष्टता छायावादियों में मिलती हैं। दोनों ही छन्दों के स्थान पर लय ग्रौर संगीत के सामंजस्य पर बल देते हैं; दोनों ही कला में सौन्दर्य को महत्त्व देते हैं ग्रीर दोनों ही साहित्य को राजनीति से दूर रखते हैं। ग्रतः यदि छायावादी काव्य को 'प्रतीक-वादी' कह दिया जाय तो किसी सीमा तक अनुचित नहीं होगा । किन्तु स्वयं छायावादी कवियों ने प्रतीकात्मकता को ही काव्य का सर्वेप्रमुख गुए। घोषित करके प्रतीकवादियों में ग्रपना नाम नहीं लिखवाया, ग्रतः उन्हें प्रतीकवादी संज्ञा से विभूषित करना व्याव-हारिक दृष्टि से ठीक नहीं रहेगा।

श्री शिवदानसिंह चौहान ने हिन्दी के प्रयोगवादियों को छन्पवेशी प्रतीकवादी बताया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी के प्रयोगवादी कवियों ने प्रतीकों के द्वारा

अपनी दिमत वासनाओं की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है, किन्तु फिर भी उनमें पश्चात्य प्रतीकवाद की मूल भावना नहीं मिलती। जैसा कि स्वयं अज्ञेय ने स्वीकार किया है— "आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सव दिमत और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्य रखते हैं।"—प्रयोगवादियों की किवता में यौन-प्रतीकों की प्रचुरता है। पाश्चात्य प्रतीकवादियों की सी रहस्यवृत्ति, धामिकता, संगीतात्मकता, रोमांच, रोमांच का मोह और अलौकिक सौन्दर्य-मृष्टि का आग्रह इनमें नहीं मिलता। प्रतीकवादियों ने बुद्धि का तिरस्कार किया था, जब कि इन्होंने इलियट के प्रभाव से बौद्धिकता को काव्य का प्रमुख गुण स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रतीकात्मकता और प्रतीकवाद में जो अन्तर है, वही प्रयोगवाद और प्रतीकवाद में है। श्री राजनारायण के शब्दों में "प्रतीकवादी किवयों और अज्ञेय में यदि कोई सम्बन्ध है तो यह कि दोनों ने नये प्रतीकों की योजना पर बल दिया है, नये उपमान ढूँढ़ने की बात कही है। परन्तु फोंच किवयों के प्रतीक-सम्बन्धी सिद्धान्त रहस्यों, अन्तिविरोधों और अस्पष्टताओं से मरे थे, अज्ञेय में यह वात नहीं है।"

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी किवता में प्रतीकात्मकता की प्रवृत्ति और भी तेज से वढ़ रही है। विशेषतः नई किवता के चेत्र में भ्रनेक व्यक्तियों ने फायिडयन प्रतीकों का प्रयोग बिना सोचे-समफे किया है, जिससे उसकी रचनाएँ ग्रस्पष्ट, दुरूह एवं जिटल बन गई हैं। वस्तुतः इन किवताओं में प्रतोकात्मक शब्द उस बन्द ताले के समान है, जिसकी कुंजी किव की जेब में रहती है—किव महोदय जब कुंजी निकालकर दे देते हैं, तो ताला खुल जाता है, वरना ग्रथ का इन्तजार कीजिए!

हमारे विचार से प्रतीकों का ऐसा प्रयोग, जहाँ वह प्रेषणीयता के साधक के स्थान पर बाधक वन जाता है, उचित नहीं कहा जा सकता । ग्राशा है, हमारे कविगणी इस ग्रीर घ्यान देंगे ।

ः सत्तावनः

ऋस्तित्ववाद ऋौर नयी कविता

१.प्रवत्तंक।

30 1

- ् २. ग्रस्तित्ववाद की ग्राधारभूत धाराएँ।
- ३. धर्म ग्रौर ग्रघ्यात्म के प्रति दृष्टिकोएा।
- ४. ज्ञान-विज्ञान के प्रति दृष्टिकोएा।
- ५. मानव-मूल्य एवं जीवन-दर्शन ।
 - ६. हिन्दी की नयी कविता ग्रौर ग्रस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ—(क्) ग्रनास्था (ख) ग्रस्तित्व-बोध (ग) वैयिक्यकता (च) पीड़ा की स्वीकृति (ङ) भोग, प्यार, निराशा-मृत्यु ।
 - ७. उपसंहार ।

प्रकृति का यह नियम है कि प्रत्येक सकारात्मक (Positive) वस्तु के माथ किसी न किसी नकारात्मक (Negative) वस्तु का द्वन्द्व चलता रहता है जिसके परिग्णामस्वरूप एक नयी वस्तु का ग्राविर्माव या विकास होता है, जो प्रथम दोनों की स्थानापन्न होती है। इस सिद्धांत को हीगल ने दश्नेंन की शब्दावली में प्रस्तुत करते हुए कहा था कि प्रत्येक वाद (thesis) के साथ किसी प्रतिवाद (Antithesis) का संघष होता है जिससे एक नये समवाद (Synthesis) का विकास होता है जो कि प्रथम दोनों का समन्वित रूप होता है। 'श्रस्तित्ववाद' मी कदाचित् इसी प्राकृतिक प्रक्रिया का परिग्णाम है। जब उन्नीसवीं शताब्दी में विभिन्न प्रकार के श्राविष्कारों एवं सिद्धान्तों के प्रचलन के कारण मानव-जीवन पर वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का प्रभाव ग्रधिक बढ़ने लगा, जिसके सम्मुख व्यक्ति की वैयक्तिकता एवं स्वतन्त्रता उपेक्षित होने लगी, तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप एक ऐसे वाद का विकास हुग्रा, जो कि व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्त्व देता हुग्रा वैज्ञानिकता एवं सामाजिकता का तीव्र विरोध करता है। यही वाद दर्शन एवं कला के चेत्र में 'ग्रस्तित्ववाद' के नाम से से प्रसिद्ध है।

प्रवर्त्तक

श्रस्तित्ववादी विचारों के मूल प्रवर्त्त एक डेनिश विद्वान् सारन कीर्केगार्ड (१८१३-१८५५) थे, जिन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना डेनिश भाषा में की थी। आगे चलकर प्रथम महायुद्ध के आसपास उनके ग्रन्थों का ग्रनुवाद जर्मन भाषा में हुआ तथा इसी समय इसका प्रचलन ग्रन्तर्राष्ट्रीय चेत्र में ग्रारम्भ हुआ। विशेषतः जर्मनी एवं फांस के

अनेक चिन्तकों एवं साहित्यकारों ने अस्तित्ववादी विचारों को अपनाते हुए उनकी अपनीअपनी दृष्टि से व्याख्याएँ कों इन विद्वानों में जमंनी के फ्रोडिरख नीत्थे (१८४४-१६००),
मार्टिन हेड्गर (१८६६—), कार्लं जेस्पसं (१८०५—), तथा फ्रांस के गेन्नियल
मार्सल (१८८६—), ज्याँ पॉल सार्लं (१६०५—) व ग्रालवेर कामू (१६१३-१६६०),
विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों के भी ग्रास्था की दृष्टि से दो वर्गं किए जा
सकते हैं—एक ग्रास्तिक विचारकों का वर्गं एवं दूसरा नास्तिकों का। प्रथम वर्गं में कीर्केगार्ड एवं मार्सल को तथा शेष सभी को द्वितीय वर्गं में स्थान दिया जा सकता है। वस्तुतः
ग्रास्तित्ववादी विचारकों में संप्रति सर्वाधिक महत्त्व जे० पी० सार्नं का ही स्वीकार किया
जाता है, तथा उन्हीं की व्याख्याग्रों को इस वाद की प्रामाणिक व्याख्या के रूप में
ग्रहण किया जाता है, ग्रतः हम भी यहाँ ग्रस्तित्ववाद के विवेचन में इन्हीं के मतों को
ध्यान में रखते हुए ग्रागे वहेंगे।

अस्तित्ववाद की आधारमृत धारणाएँ

ग्रस्तित्ववादी विचारधारा का ग्राधारभूत शब्द 'ग्रस्तित्व' है, जो ग्रंग्रेजी के 'Existence' का पर्याय है। इस वाद के अनुयायी विचार या प्रत्यय की अपेक्षा व्यक्ति के अस्तित्व को अधिक महत्त्व देते हैं —इसी से वे अस्तित्ववादी कहलाते हैं । परम्परागत विचारधारा के अनुसार मृष्टि में पहले विचार (Idea) का उदय हुआ, फिर उसके अनुसार वस्तु का ग्राविमाव हुम्रा—प्लेटो इसी विचार-धारा को मानते थे। इसी से उन्हें विचारवादी या तत्त्ववादी (Idealist) कहा जाता है। मध्यकाल में भी तत्त्व या सार (Essence) को पदार्थ या व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया, जबिक ग्रस्तित्ववादियों का दृष्टिकोएा इसके पिपरीत है। संक्षेप में परम्परागत ग्रादर्शवादियों के अनुसार विचार, तत्त्व, सार सिद्धान्त या सामान्य निष्कर्ष ही सर्वांगीए। सत्य एवं शाश्वत सत्ता के प्रतिनिधि हैं, जबिक भौतिक पदार्थों एवं विशिष्ट प्राणियों की सत्ता (=ग्रस्तित्व) चर्ग-भंगुर होने के काररा मिथ्या है। ग्रस्तित्ववादी इस धाररा का खण्डन करते हुए तर्क देते हैं कि जब वस्तु ही नहीं तो उसका विचार या सार कैसे संमव है ? पहले वस्तु का ग्रस्तित्व होगा तदनन्तर उसके सम्बन्ध में विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण होगा। वस्तुतः सारे विचार या सिद्धान्त व्यक्ति की चिन्तना के परिस्णाम हैं, क्योंकि मनुष्य के ग्रतिरिक्त ग्रन्य पदार्थ एवं प्राग्ती तो चिन्तन-मनन करते नहीं— ग्रतः कहना चाहिए कि पहले चिन्तन करनेवाला मानव या व्यक्ति ग्रस्तित्व में श्राया तथा उसके पश्चात् उसके द्वारा विभिन्न विचारों या सिद्धान्तों का निरूपएा हुग्रा । ग्रतः व्यक्ति का ग्रस्तित्व ही प्रमुख है जबिक विचार या सिद्धान्त गौरा है।

व्यक्ति के ग्रस्तित्व को ही प्रमुखता देने के ग्रितिरिक्त ग्रस्तित्ववादियों की 'ग्रस्तित्व' के सम्बन्ध में कुछ धाराणाएँ ग्रीर भी हैं। एक तो जैसा कि उपर्युक्त धारणा से सूचित होता है, उनको सामान्य विचारों, तत्त्वों, सिद्धान्तों या नियमों में कोई ग्रास्था नहीं है। उनके विचार से प्रत्येक सिद्धान्त व्यक्ति की ग्रपनी दृष्टि की उपज है, ग्रतः

Pigitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha' वह व्यक्ति-सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में किसो भी सिद्धान्त को सर्वागीण, सार्वभोम या सार्व-जनिक नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में, उसके विचार से हर व्यक्ति को अपना सिद्धान्त स्वयं खोजना या बनाना चाहिए, दूसरों द्वारा प्रतिपादित या निर्मित सिद्धान्तों को स्वीकार करना उसके लिए ग्रावश्यक नहीं । इसी दृष्टिकोएा के कारएा ग्रस्तित्ववादी के लिए सभी परम्परागत सामाजिक, नैतिक, शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त, जो कि व्यक्ति के जीवन से सम्बद्ध हैं, ग्रमान्य एवं ग्रव्यावहारिक सिद्ध हो जाते हैं। दूसरे, वह व्यक्ति के ग्रस्तित्व को भी स्वयं व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर मानता है। यह कहना कि व्यक्ति का ग्रस्तित्व किसी बाह्य सत्ता एवं परिस्थितियों पर ग्रथवा उसके पूर्व कर्म-फल पर आधारित है, उसकी दृष्टि में उचित नहीं। उसके विचार से प्रत्येक व्यक्ति ग्रपने भाग्य का निर्माता है। व्यक्ति ग्रपने लिए जो चुनता है, वही उसे मिलता है या यों कहिये कि व्यक्ति जैसा भ्रपने को बनाना चाहता है, वैसा ही वह बनता है। भ्रतः कोई व्यक्ति क्या बनता है या क्या नहीं यह उसी की अपनी पसन्द पर निर्मर है। यह कहना कि परिस्थितियों ग्रीर भाग्य ने उसे बना दिया है, ग्रस्तित्ववादी के ग्रनुसार ठीक नहीं। परिस्थितियों के बन्धन को स्वीकार करना या न करना व्यक्ति की ही इच्छा पर निर्मर है--- ग्रतः परिस्थितियों के ग्रनुसार ढल जाने के लिए स्वयं व्यक्ति ही उत्तरदायी है। एक व्यक्ति परिस्थितियों के ग्रागे घुटने टेक देता है, इसका ग्रर्थं यह है कि उसने परि-स्थितियों की देन को स्वीकार कर लिया है या यों किहए कि उसने परिस्थितियों के श्रनुसार ही श्रपने भाग्य का चुनाव किया, जबकि वह दूसरे प्रकार का चुनाव करने के लिए भी स्वतन्त्र था। ग्रस्तु, प्रत्येक स्थिति में यह व्यक्ति का ही चुनाव है कि परि-स्थितियों के अनुकूल बनता है या प्रतिकूल-इसके लिए किसी अन्य को दोष देना व्यर्थ है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह व्यक्ति के हाथ में है कि वह जो चाहे बन सके ? क्या वह जैसा चुनता है, वैसा ही बन सकता है ? क्या यह ठीक नहीं है कि एक व्यक्ति जो कि बहुत बड़ा ग्रधिकारी बनना चाहता है, कहीं क्लर्क बनने को मजबूर होता है ? इन प्रश्नों का ग्रस्तित्ववादी के पास एक ही उत्तर है कि यदि तुम जो चाहो, वह नहीं बनते हो तो कुछ ग्रौर बनना क्यों स्वीकार करते हो ! हम ग्रपने दुख, संकट या मृत्यु के भय के कारए। ही तो ग्रप्रिय या ग्रवांछित को स्वीकार करने को विवश होते हैं। पर यदि हम दु:ख एवं मृत्यु की ग्रनिवार्यंता को स्वीकार कर लें तो यह भय कहाँ रह जाता है ? दूसरे, शब्दों में हम जो चाहें, वह नहीं बन सकें तो बदले में प्रत्येक प्रकार का दु:ख-यहाँ तक कि मृत्यु को भी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहें। यदि हम इतने साहसी हो सकते हैं तो फिर हमें कोई नहीं भुका सकता। सच पूछें तो ग्रस्तित्ववादी के ग्रनुसार व्यक्ति को ग्रपने ग्रस्तित्व का बोध दुःख या त्रास की स्थिति में ही होता है, ग्रतः उसे इस स्थिति का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिये। ग्रपनी व्यक्तिगत इच्छाग्रों एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कुचलकर तथा परिस्थितियों के सम्मुख नत-मस्तक होकर प्राप्त किये गये मुख की भ्रपेचा उस द:ख--या मृत्यु का कारएा भी श्रीयस्कर है, जो चयन की स्वतन्त्रता, या निजी इच्छाग्रों व वैयक्तिक स्वच्छन्दता की सुरत्ता करते हुए प्राप्त हो । वस्तुतः ग्रात्म-स्वातन्त्र्य की रचा के हित प्राप्त दु:ख, चाहे वह कितना ही दारुग

क्यों न हो, दासता एवं परतन्त्रता की छाया में प्राप्त सुख से हजार गुना ग्रच्छा होता है—वह ग्रस्तित्ववादियों का ग्रटल विश्वास है।

इस प्रकार, ग्रस्तित्ववादी के लिए ग्रपना ग्रस्तित्व, वैयिक्तिक स्वतन्त्रता एवं निजी ल्ह्य या चुनाव जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही दुःख या वेदना का भोग भी रुचिकर है। इस वेदना के भोग के विना न तो व्यक्ति को ग्रपनी सत्ता का वोध होता है ग्रौर ना ही वह ग्रपनी इच्छाग्रों की पूर्ति में सफल हो सकता है (सच्चा ग्रस्तित्व उसी व्यक्ति का है, जो परिस्थितियों को कुचलता हुग्रा ग्रपने द्वारा चुनी हुई दिशा में निरन्तर ग्रागे बढ़ता जाता है पर ऐसा वही कर सकता है, जो वेदना के भोग को स्वीकार करता है, ग्रदः वेदना का भोग ग्रस्तित्ववाद का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है, जिस पर ग्रस्तित्व-बोध का प्रथम सिद्धान्त निर्भर है।

धर्म और अध्यात्म के प्रति दृष्टिकोण

जैसा कि पीछे वताया जा चुका है, ग्रस्तित्ववादियों के दो वर्ग हैं-एक वर्ग ग्रास्तिक होने के कारए। ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है, जविक दूसरा वर्ग नास्तिक है तथा वह ईश्वर, धर्म, ग्रध्यात्म ग्रादि का पूर्णतः विरोध करता है । वस्तुतः प्रमुखता दूसरे वर्ग की ही है। अधिकांश अस्तित्ववादियों के अनुसार ईश्वर व्यक्ति के मन की कल्पना मात्र है, जिस प्रकार उसने धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक सिद्धान्तों एवं विचारों की कल्पना ग्रपनी निजी रुचि एवं प्रवृत्ति के ग्रनुसार कर ली है, उसी प्रकार उनकी रचा के लिए ईश्वर, धर्म एवं ग्रध्यात्म की सृष्टि कर डाली है। कुछ लोग नास्तिक होते हुए भी नैतिक एव चारित्रिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, किन्तु ग्रस्तित्ववादी इस स्थिति को भी पसन्द नहीं करते । वस्तुतः ग्रस्तित्ववादियों का विरोध ईश्वर से कम एवं धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों एवं नियमों से ग्रिधिक है, क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता—स्वच्छन्दता को नियमित एवं नियंत्रित करते हैं। ईश्वर, परलोक, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, पूर्वजन्म, भाग्य, कर्म-फल म्रादि से सम्बन्धित विचार-तत्त्व इस बात के द्योतक हैं कि मनुष्य का भाग्य किसी ग्रन्य वस्तु पर निर्भर है या यो किहए कि व्यक्ति किसी पूर्व निर्धारित तत्त्व या व्यवस्था पर निर्भर है, ऐसी स्थिति में व्यक्ति को ग्रपने स्वतन्त्र चुनाव या स्वेच्छा के ग्रनुसार ग्रागे वढ़ने की छूट कहाँ रह जायगी ? इसीलिए वे इन सभी आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्त्वों का विरोध करते हैं। दास्ताएव्स्की ने कहा था-"यदि ईश्वर के ग्रस्तित्व को मिटा दें तो फिर सब कुछ (करना) संभव है।'' इसी कथन का ग्रनुमोदन करते हुए जे० पी० सार्त्र ने लिखा है-

"Indeed, everything is permissible if God does not exist, and as a result man is forlorn, because neither within him nor without does he find anything to cling to. If existence really does precede essence there is no explaining things away by reference to a fixed and given human nature. In other words man there is no determinism, man is

free, man is freedom. On the other hand, if God does not exist. we find no values or commands to turn to which legitimize our conduct." (Existentialism and Human Emotions: Pages 22-23) श्रयीत् "वस्तुत: यदि ईश्वर का ग्रस्तित्व न हो (न माना जाय) तो सब कुछ सम्भव है. क्योंकि (उस स्थित में) मनुष्य निराश्रित होकर किसी भी श्रान्तरिक या बाह्य वस्तु से नहीं बँध सकेगा। यदि 'ग्रस्तित्व' सचमूच 'सार-तत्त्व' का पूर्ववर्ती है तो फिर किसी भी पूर्वप्रदत्त या निर्धारित मानव प्रकृति के ग्राधार पर वस्तुग्रों की व्याख्या ग्रपेक्षित नहीं। दूसरे शब्दों में मनुष्य के लिए कुछ भी पूर्वनिर्धारित नहीं है, वह स्वतन्त्र है, स्वतन्त्रता है। साथ ही, यदि ईश्वर का ग्रस्तित्व न रहे तो ऐसा कोई मूल्य या श्रादेश भी न रहेगा जिसे मानना या जिसके अनुसार भ्रपने चरित्र को अनुशासित करना भ्राव-श्यक हो।"

वस्तुतः म्रस्तित्ववादियों का भगड़ा ईश्वर से इतना नहीं है, जितना कि उन म्रास्थाम्रों, विश्वासों, धारए।।म्रों एवं नीति-नियमों से है, जो ईश्वर के कारए। बने हुए हैं। यदि ईश्वर मनुष्य के व्यक्तिगत मामले में हस्तचीप न करे तो उसे भी बने रहने की छूट देने के लिए ग्रस्तित्ववादी तैयार हैं, इसीलिए सार्व ने एक स्थान पर लिखा है-"ग्रस्तित्ववाद इतना नास्तिक नहीं है कि वह ईश्वर का विरोध करने में ही ग्रपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहे, अपितु वह तो इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता है कि अगर ईश्वर है भी तो उससे मनुष्य का कुछ बनता-विगड़ता नहीं।" इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रस्तित्ववादी उस ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, जो व्यक्ति की स्वच्छन्दता एवं भ्रात्मिनर्भरता में बाधक बनता है। ईश्वर से सम्बन्धित भ्रन्य पारलीिकक एवं - प्राघ्यात्मिक धारए। ग्रों को भी ग्रस्वीकार करने का मूल कारए। यही है।

ज्ञान-विज्ञान के प्रति दृष्टिकोण

ईश्वर, धर्म और ग्रघ्यात्म की ही माँति ज्ञान-विज्ञान के प्रति भी ग्रस्तित्ववादियों का दृष्टिकोरा विरोधमूलक है। हेड्गर की मान्यता है कि प्राकृतिक जगत् के बौद्धिक ज्ञान की अपेचा व्यक्ति के ग्रान्तरिक ग्रनुभवों का अधिक महत्त्व है, ग्रतः हमें प्रकृति के बौद्धिक या वैज्ञानिक ग्रध्ययन से ग्रपना घ्यान हटा लेना चाहिए । गैन्नियल मार्सल ने भी तथ्यों एवं विचारों के सामान्यीकरएा एवं सिद्धान्त-स्थापन की प्रक्रिया का घोर विरोध किया है। उसके विचार से संसार में सारे भगड़ों की जड़ विभिन्न सिद्धान्त, मत, संप्र-दाय एवं वाद ही है। यदि भ्राज हम भ्रपने शब्द-कोष में से 'प्रजातंत्रवाद', 'साम्यवाद', 'समाजवाद', 'पूँजीवाद' श्रादि शब्दों को निकाल दें, तो विश्व-युद्ध की श्राशंका कम हो सकती है। ग्रतः उसके विचार से ग्राज के मानव को वैज्ञानिक विवेचन एवं सैद्धान्ती-करएा से बचना चाहिए।

वस्तुतः वौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता से श्रस्तित्ववादियों के विरोध का मूल कारएा -यही नहीं है कि इससे संघर्ष, यृद्ध एवं ग्रशान्ति का जन्म होता है, ग्रिपितु यह है कि इस प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की व्यक्ति के लिए कोई उपयोगिता या महत्ता नहीं है । संघर्षों

संकटों एवं युद्धों से श्रस्तित्ववादी घृणा नहीं करता, श्रिपतु उन्हें पसन्द करता है, क्योंकि इन्हों से तो संत्रास की वह स्थिति उत्पन्न होती है, जो कि व्यक्ति के श्रस्तित्व-बोध एवं उसकी सार्थकता-सिद्धि में सहायक सिद्ध होती है। श्रतः हमें इस श्रम में न पड़ना चाहिए कि श्रस्तित्ववादी संघर्षों या युद्धों के भय से विज्ञान का विरोध करता है। वास्तव में इस विरोध का मूल कारए। यह है कि वह वौद्धिक ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को व्यक्ति के लिए श्रनावश्यक समक्तता है। उसकी दृष्टि में इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान ग्रादि की जानकारी का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि इनसे व्यक्ति के श्रस्तित्व-बोध में कोई सहायता नहीं मिलती। जानने की वस्तु व्यक्ति के लिए एक ही है—वह मानव-स्थिति (Human Condition) जिससे श्रस्तित्ववोध में सहायता मिले। पर इस स्थिति का ज्ञान, वृद्धि या तर्क द्वारा नहीं, श्रपितु घोर वेदना के द्वारा श्राप्त श्रान्तिक सहजानुभूति से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में दर्शन ग्रौर विज्ञान की प्रचलित सहजानुभूति से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में दर्शन ग्रौर विज्ञान की प्रचलित सहजानुभूति से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में दर्शन ग्रौर विज्ञान की प्रचलित सहजानुभूति से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में दर्शन ग्रौर विज्ञान की

प्रचिलत ग्रध्ययन-पद्धितयाँ ग्रस्तित्ववादी की दृष्टि में वेकार हैं।
वीद्धिक विवेचन एवं वैज्ञानिक नियमों का विरोध एक ग्रन्य दृष्टि से भी किया
जाता है। वौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता के चेत्र में सभी व्यक्तियों को समान रूप में ग्रहण
करते हुए उनके बारे में सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किए जाते हैं, जो व्यक्ति की वैयक्तिकता के स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द निर्ण्य के विरुद्ध पड़ते हैं। ग्रस्तित्ववादी प्रत्येक व्यक्ति
की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास करता है। ग्रतः उस समूह के सामान्य निष्कर्षों को लागू
करना ग्रन्याय है। उदाहरण के लिए मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि एक प्रेमी
निराश होकर हतोत्साह या पलायनवादी बन जाता है। इसका तात्पर्य हुग्ना कि सभी
एक जैसा व्यवहार करते हैं। जबिक ग्रस्तित्ववादी के ग्रनुसार हर प्रेमी पर निराशा की
प्रक्रिया ग्रलग-ग्रलग हो सकती है—होनी चाहिए। इस प्रकार किसी भी प्रकार का
सामान्य नियम या निष्कर्ष वैज्ञानिकता का विरोधी सिद्ध होता है। दूसरी ग्रोर ग्रस्तित्ववादी विचार, प्रत्यय, पूर्वनिर्धारण, सामान्यीकरण, सिद्धान्त-स्थापन, नियम-निर्धारण,
संविधान-निर्माण, ग्रनुशासन ग्रादि का जन्मजात शत्रु है, क्योंकि उसका पहला सूत्र
ही ग्रस्तित्व को सत्य एवं तत्त्व को मिथ्या मानता है।

अस्तु, श्री रावट जी० ग्राल्सन महोदय के शब्दों में कहा जा सकता है—
"In sum, the proper object of human concern for the existentialists is not God, abstract ideas, laws of nature, or empirical knowledge of human beings. What man should strive to know is the tshuman condition And by an understanding of the human condition the existentialit do not mean knowledge of human history, of man's natural and social environment or of the so-called laws of human behavior. An understanding of the human condition is rather a knowledge of certain general traits of human existence which remain the same in all ages; of man's contingency, particularity, and freedom; of man's fundamental aspiration; and of the

basic ways in which the individual can relate to the world and to other human beings." (An Introduction to Existentialism: page 89) ग्रथांत् 'समग्र रूप में ग्रस्तित्ववादी के लिए मानव-रुचि का उपयुक्त विषय ईश्वर, सूदम विचार, प्राकृतिक नियम या मनुष्य सम्बन्धी बौद्धिक ज्ञान नहीं है, ग्रपितु उसकी दृष्टि में मनुष्य के जानने की वस्तु है—मानव-स्थिति! मानव-स्थितियों के बोध से ग्रस्तित्ववादी का ग्राशय मानव-जाति के इतिहास, उसके भौतिक एवं सामाजिक वाता-वरण ग्रथवा तथाकथित मानव-व्यवहार की पद्धतियों के ज्ञान से नहीं है, ग्रपितु मानव-स्थिति के बोध से उसका ग्रमिप्राय मानव के ग्रस्तित्व सम्बन्धी उन सामान्य लच्चणों से है, जो सभी युगों में एक जंसे रहते हैं; या फिर उसकी उस ग्रनिश्चितता, विशिष्टता व स्वतन्त्रता तथा उन मूलभूत ग्राकांचाग्रों व सम्बन्धों के ज्ञान से है, जो व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों व दुनिया से जोड़ते हैं।'

मानव-मूल्य एवं जीवन-दर्शन

परम्परागत विचारों के अनुसार सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति के जीवन का लदय मूलत: सुख, वैभव एवं सम्मान प्राप्त करना होता है तथा साथ ही दूसरों को सुख पहुँचाना भी व्यक्ति के लिए ग्रादर्श माना जाता है। मानव जाति के इतिहास में जिन महान् चिन्तकों, साधकों एवं समाज-सेवियों को प्रतिष्ठा प्राप्त है, उन सव ने किसी न किसी रूप में मानव को सुखी बनाने का प्रयास किया था। इसलिए कहा जा सकता है कि व्यक्ति एवं समाज को सुखी बनाना ही ग्रब तक महान् पुरुषों का मूल लद्दय रहा है तथा किसी भी व्यक्ति के क्रिया-कलापों के मूल्यांकन का श्राधार भी एक सीमा तक यही रहा है कि उसने मानवता को सुखी एवं समृद्ध बनाने या ऊँचा उठाने में कितना योग दिया है। पर ग्रस्तित्ववादी इन लच्यों एवं मूल्यों को स्वीकार नहीं करता। उसके विचार में सुख की लालसा या धारएा ही मिथ्या है। मनुष्य चाहे कितनी ही उन्नति ग्रौर सुधार क्यों न कर ले, वह कभी पूर्णतः सुखी नहीं हो सकता। व्यक्ति को कोई भी उपलब्धि, समाज का कोई भी सुधार, राजनीति का कोई भी तंत्र, नैतिकता का कोई भी आदर्श और विज्ञान का कोई भी आविष्कार मान-वता को पूर्ण सुखी नहीं बना सकता, वस्तुतः पूर्णतः संतुष्ट ग्रौर सुखी होना मानव की प्रकृति में ही नहीं है, ग्रतः कहा जा सकता है कि जब तक मनुष्य है, तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता। या तो वह मनुष्यता को त्यागे या फिर सुखी होने की श्राशा को !

श्रस्तित्ववादी दूसरे विकल्प को स्वीकार करता है। इसीलिए उसकी दृष्टि में मानव-जीवन को मुखी बनाने के सभी वैयक्तिक एवं समाजिक प्रयास निरर्थंक हैं। साथ ही इसी दृष्टि से व्यक्तियों या तथाकथित 'महापुरुषों' का मूल्यांकन करना भी व्यथें है; सच पूछें तो उसकी दृष्टि में श्राज तक कोई भी मानव को सुखी बनाने में सफल सिद्ध नहीं हो सका ? ऐसी स्थिति में इस प्रकार के प्रयासों, कार्यों एवं उनके मूल्यांकन का क्या मूल्य है!

यहाँ कहा जा सकता है कि मानव-हितैषियों एवं समाज-सुधारकों को ग्रपने लक्त्य में पूर्णं सफलता मले ही न मिली हो, पर उसकी प्रेरणाओं, प्रयोजनों एवं प्रयासों की महानता के ग्राधार पर तो उनका महत्त्व स्वीकार किया जाना चाहिए। पर ग्रस्तित्ववाद इसे स्वीकार नहीं करता। उसके विचारानुसार एक तो प्रत्येक मानवता-वादी समाज-सुघारक ने किसी न किसी सिद्धान्त, नियम या व्यवस्था का ग्राविष्कार -करके मानव की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कम कर देने का ग्रपराध किया है—-श्रच्छा होता कि वे यह सब कुछ न करते । दूसरे, उनकी महानता को मानने का ग्रर्थ है दूसरे व्यक्तियों की महत्ता को कम करना; व्यक्ति पर व्यक्ति की प्रभुता को स्वीकार करना--यह स्थिति भी ग्रस्तित्ववादी के लिए ग्रसहा है। ग्रतः किसी भी दृष्टि से वह न तो ग्रतीत के समाज-सुधारकों की देन को स्वीकारने के लिए प्रस्तुत है ग्रीर न ही भविष्य में स्वयं को इस खोटे धन्धे में डालने को उत्सुक है ! ! यदि उसका वश चले तो वह इन सभी तथाकथित मानव-हितैषियों एवं समाज-सेवकों को धरती से परे धकेलकर इसे एक ऐसी साफ-सुथरी एवं स्वतंत्र भूमि का रूप दे दे, जिसमें हर व्यक्ति को अपनी मनचाही करने की पूरी छूट हो; हर कार्य के लिए स्वच्छन्दता हो और कहीं भी कोई भी किसी को टोकनेवाला न हो ! हो सकता है इसका परिगाम ग्रव्यवस्था, ग्रशान्ति, संघर्ष एवं मृत्यु हो-पर इसकी क्या चिन्ता है ! मृत्यु तो ग्रन्ततः होनी ही है; क्यों न डर-डरकर ग्रन्त में मरने के स्थान पर पूर्ण स्वतंत्रता एवं स्वच्छन्दता से जीते हुए साहसपूर्वंक उसका वरएा करें !! मृत्यु हमें भ्राकर भ्राक्रांत करे, इससे भ्रच्छा यह है कि हम स्वयं जाकर मृत्यु का सामना करें !! उस स्थिति में हम यह दावा कर सकेंगे कि हम मृत्यु के द्वारा मारे नहीं गए, ग्रिपितु हमने स्वेच्छा से मृत्यु का वररा किया है ! वस्तुतः इस प्रकार का मरना मी हमारी वैयक्तिक स्वच्छन्दता का प्रमाण होगा—ग्रीर सच पूछें तो ग्रस्तित्ववादी की दृष्टि में इस वैयक्तिक स्वच्छन्दता से बढ़कर जीवन का ग्रीर कोई मूल्य नहीं है।

ग्रस्तु, मानव जाति की सेवा, समाज-सुधार या राजनीतिक परिवर्तन से प्राप्त होनेवाले सुखों में ग्रस्तित्ववादी का कोई विश्वास नहीं है। इसकी ग्रपेक्षा वह दुख ग्रौर ग्रवसाद को जीवन के ग्रानिवार्य एवं काम्य तत्त्वों के रूप में स्वीकार करता है। दुःख को विवशता के रूप में नहीं, ग्रपितु एक उपलिब्ध के रूप में स्वीकार करना उसकी दृष्टि से ग्रावश्यक है, क्योंकि दुख में ही व्यक्ति की ग्रन्तश्चेतना का पूर्ण जागरण होता है, उसो में उसकी सारी शक्तियों का उद्बोधन, ग्रिक्यंजन एवं ग्रिमयोजन होता है तथा वही तो स्थिति है, जिसमें व्यक्ति को ग्रपने ग्रस्तित्व का बोध होता है तथा यदि ग्राप मेरा हाथ बिना मुफे पीड़ा पहुँचाए, उसे चेतना-शून्य करके काट देंगे तो मुफे क्या पता चलेगा कि मेरा हाथ कट रहा है, जब की दूसरी स्थिति में यह ग्रनुभव होने पर कि मेरा हाथ कट रहा है, मुफे ग्रपने ग्रस्तित्व का बोध होगा। इतना ही नहीं, वेदना जितनी गहरी होगी, ग्रपने ग्रस्तित्व का बोध मो उतना ही गम्भीर होगा। ग्रतः पीड़ा (anguish) इनके यहाँ एक महत्त्वपूर्ण मूल्य या वांछनीय तत्त्व के रूप स्वीकृत है। इस पीड़ा के ग्राधार पर ही इनका पीड़ा-दर्शन ग्राधारित है जिसकी तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्वीकार की जाती हैं—(१) पीड़ा या संविधि की क्षिण्यक्षिण क्रिक्यक्ष प्रवृत्तियाँ स्वीकार की जाती हैं—(१) पीड़ा या संविधि की क्षिण क्षिण क्रिक्यक्ष प्रवृत्तियाँ स्वीकार की जाती

संत्रास के मय को हृदय से निकाल देना चाहिए—उससे पूर्ण मुक्ति पा लेनी चाहिए । (३) पीड़ा या संत्रास के प्रति ग्रपनी चेतना को सदा जागरूक रखते हुए ग्रपनी समग्र शक्तियों के उद्बोधन एवं उपयोग के द्वारा ग्रपने ग्रस्तित्व को सार्थंक करना चाहिए। संचेप में पीड़ा ही ग्रस्तित्व-बोध की साधिका है।

यदि स्थिति ऐसी ही है तो क्यों न ग्रस्तित्ववादी सीघे यंत्रणा-प्राप्ति के मार्ग पर ग्रग्नसर हो जाते ? यंत्रणा-प्राप्ति के लिए तो किसी बड़े साधन की ग्रावश्यकता नहीं—एक छोटी सी ग्रालिपन या वह भी न मिले तो सूखी घास का एक तिनका भी पर्याप्त है, फिर वे किस बात की प्रतीक्षा में हैं ? इसका उत्तर यह है कि पीड़ा उनका साध्य नहीं, साधन है । उनका साध्य तो कुछ ग्रौर है, जिसे उनके चरम सत्य या सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । वैसे विभिन्न ग्रस्तित्ववादियों में इसके सम्बन्ध में किचित् मतभेद भी है, पर सामान्यतः कहा जा सकता है कि चयन की स्वतन्त्रता (Freedom of choice) ग्रथवा व्यक्ति की पूर्ण स्वच्छन्दता ही उनका सबसे बड़ा मूल्य है । इसी को वे जीवन का सार या ग्रस्तित्व का ग्राधार मानते हैं । जिसे चयन की पूर्ण स्वच्छन्दता है—या यों कहिए कि जो स्वेच्छानुसार परम्पराग्नों, मर्यादाग्नों, परिस्थितियों एवं नियमों की सर्वथा उपेक्षा करता हुग्ना ग्रपने जीवन का मार्ग स्वयं चुनता है तथा इस मार्ग को ग्रपनाने के बदले में प्राप्त सभी प्रकार के कष्टों को सहर्ष भोगता है, वही सच्चा ग्रस्तित्ववादी है । ग्रपने या दूसरों के सुखों की चिन्ता करना व्यर्थ है ।

चयन की स्वच्छन्दता प्रायः उन्मुक्त भोग एवं अनियमित क्रिया-कलापों में ही व्यक्त होती है, अतः कुछ विचारकों के अनुसार वैयक्तिक प्रेम एवं मृजनात्मक चेष्टा को भी अस्तित्ववादी मूल्यों के अन्तर्गंत गिना जाना चाहिए, पर वस्तुतः ये दोनों प्रवृत्तियाँ चयन की स्वच्छन्दता के ही अन्तर्गंत आ जाती हैं। वैयक्तिक प्रेम ही एकमात्र चयन की वस्तु है, या सभी के लिए सर्वोपरि तत्त्व है, ऐसा आग्रह अस्तित्ववादी नहीं करता। अतः सारांश में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चयन की स्वतंत्रता या वैयक्तिक स्वछन्दता ही अस्तित्ववाद का सर्वोपरि मूल्य या अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का मूलाधार है; अन्य सब धारएगएँ—अस्तित्व-बोध, नास्तिकता, असामाजिकता, विज्ञान-विरोधिता, पीड़ा की महत्ता आदि इसी की पूरक एवं साधिका मात्र हैं।

हिन्दी की नयी कविता और अस्तित्ववादी प्रवृत्तियाँ

ग्रस्तित्ववाद के प्रचारकों ने साहित्य के विभिन्न रूपों—मुख्यतः उपन्यास-कहानी ग्रादि—के माध्यम से ग्रपने विचारों का प्रतिपादन किया है। इसका प्रत्यच्च या ग्रप्रत्यच्च प्रभाव हिन्दी के नये कवियों पर भी पड़ा। हिन्दी का साहित्यकार, मले ही राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गया हो, पर मानसिक दृष्टि से ग्रभो पिक्चम का गुलाम हो है। उसके पास ग्रपनी दृष्टि, ग्रपने चिन्तन एवं ग्रपने ग्रादक्षों का ग्रभाव है, पर फिर भी विश्व के बहुर्चीचत साहित्यकारों की श्रोंगी में ग्रपने को प्रतिष्ठित देखने की ग्राकांचा से भी वह पीड़ित है। वैयक्तिकता एवं ग्रात्मीयता को छोड़कर दूसरों के ग्रन्थानुकरण द्वारा ग्रपने को प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति हीनता की ग्रन्थि की द्योतक है; यह प्रवृत्ति मले ही СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

उसे दूसरों की दृष्टि में ऊँचा न उठाए, किन्तु वह इसके द्वारा श्रात्म-तुष्टि तो प्राप्त करता ही है। श्रपने साहब के उतारे हुए सूट को पहनकर एक चपरासी भले ही दफ्तर में साहब का-सा सम्मान न पा सके, पर साहब की सी ऐक्टिंग करके घर में तो रोब जमा ही सकता है। यही स्थिति हिन्दी के कितपय नये साहित्यकारों की है।

ग्रस्तु, इसी ग्रनुकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप हिन्दी की नयी कविता में मी ग्रस्तित्ववादी प्रवृत्तियों का प्रतिफलन दृष्टिगोचर होता है। यहाँ कतिपय प्रवृत्तियों के

कुछ उदाहरए। प्रस्तुत हैं---

(१) भ्रनास्था—ग्रस्तित्ववाद के अनुसार ईश्वर, धर्म, नैतिकता, सामाजिक मूल्यों म्रादि से सम्बन्धित सभी परम्परागत धारणाएँ अस्वीकार्य हैं, ग्रतः वह ग्रनास्था-मूलक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। हिन्दी के नये कवियों में से भी ग्रनेक ने इसी ग्रनास्थामूलक स्वर को ग्रभिव्यक्ति दी है—

(क) मेरे जन्म से पहले मर गई थी,देवताओं की बूढ़ी दुनिया!

--- ग्रशोक वाजपेयी

(ख) जिनको तुम कहते हो प्रभु उसने जब चाहा मर्यादा को ग्रपने ही हित में बदल लिया, वंचक है।

—धर्मवीर भारती

इसी ग्रनास्था के कारएा ही भारतभूषरा ग्रग्रवाल को सभी परम्परागत पथ ग्रंधकार की ग्रोर ले जाने वाले दृष्टिगोचर होते हैं—

जितने भी पथ थे सबकी परिएति होती है श्रेंधियारे में। प्रार्गों के पंथी सहमें सिमटे बैठे हैं गलियारे में!

वस्तुतः इन कवियों ने ग्रनास्था की ग्रमिव्यक्ति ग्रनेक रूपों में की है, ग्रतीत की परम्पराग्रों के प्रति विद्रोह एवं सामाजिक मर्यादाश्रों के प्रति वितृष्णा का माव मी इसी ग्रनास्था का सूचक है—

दीवार दरारें पड़ती जाती हैं इसमें दीवार दरारें बढ़ती जाती हैं इसमें

× × × × दिवार भला कब तक रह पायेगी रिवत यह पानी नभ से नहीं घरा से श्राता है!

—दुष्यन्तकुमार

यहाँ दीवार परम्परा का प्रतीक है, जिसे गिरा देने के लिए कवि उत्सुक है।
ग्रग्नांकित पंक्तियों में सामाजिक मर्यादाओं एवं नैतिक बन्धनों से ग्रवरुद्ध जीवन के प्रति
घृगा व्यक्त करते हुए ग्रन्तिस्थामूलक कृष्टि अका प्रिकाय दिया गया है

श्रवरुद्ध श्राज जीवन-प्रवाह जड़ता की जंजीरों में जकड़ा भीत हृदय हिमशीत मृत्यु के चुण्एा स्पर्श से श्राज बना निर्जोव ।

—भारतभूषरा ग्रग्रवाल

(२) ग्रस्तित्व-बोध—ग्रस्तित्ववादी के ग्रनुसार व्यक्ति चयन की स्वतन्त्रता (Freedom of choice) का वरण करके ही ग्रपना ग्रस्तित्व सिद्ध कर पाता है। दूसरे शब्दों में वह धर्म, समाज एवं परम्परा द्वारा ग्रनुमोदित एवं ग्रारोपित पथ को त्याग करके स्वेच्छा का जीवन ग्रपनाता है—यही 'ग्रस्तित्व-बोध' है! ग्रस्तित्व-बोध जीवन भर बनी रहनेवाली स्थित नहीं है, ग्रपितु वह तो चण्विशेष पर ही ग्राधारित है, क्योंकि ग्रस्तित्ववादी के लिए स्वेच्छापूर्वक जिया हुग्रा या भोगा हुग्रा एक चण् परतन्त्रता के सौ वर्षों से ग्रधिक महत्त्वपूर्ण है, इसी लिए गुरुवर ग्रज्ञेय ग्रपने शिष्यों के साथ ऋषि ग्रगस्त्य का रूप धारण करते हुए चण्-विशेष के समुद्र का ग्राचमन करते हुए दिखाई पड़ते हैं—

एक चएा होने का

प्रस्तित्व का श्रजस्त्र ग्रहितीय चरा !

होने के सत्य का

सत्य के साचात् का
साचात् के चरा का

चरा के श्रखण्ड पारावार का
श्राज हम श्राचमन करते हैं !

इसी चर्ण-विशेष के ग्रस्तित्व-बोध को सार्त्र ग्रादि ने व्यक्ति का विस्तार या मनुष्य का मुक्ति-लाभ या मुक्ति-बोध कहा है। सार्त्र की इसी विचारगंगा को हिन्दी-पद्य की घरती पर ग्रवतरित करते हुए ग्रज्ञेयजी ग्रपने भगीरथ-प्रयास का परिचय देते हैं—

केवल बना रहे विस्तार—हमारा बोध मुक्ति का सीमा-हीन खुलेपन का!

श्रज्ञेय की उपर्युक्त उक्तियों में सार्त्र, कामू श्रादि के शब्दों की श्रनुगूँज इतनी स्पष्ट है कि इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि श्रज्ञेय ने श्रस्तित्ववाद की शब्दा-वली को भलीभाँति रटकर के ही इन पंक्तियों का निर्माण किया था। फिर भी श्रपनी मौलिकता सिद्ध करने के लिए ये किव श्रपने-श्रापको श्रस्तित्ववाद से प्रभावित न मानें तो इसे शुद्ध मिथ्यावाद ही कहना पड़ेगा।

(६) वैयक्तिकता की स्थापना—व्यक्ति-स्वच्छन्दता का प्रतिपादन होने के कारण ग्रस्तित्ववादी स्वयं को समाज की विकासोन्मुख धारा के प्रवाह से ग्रलग रखता है, यह सम्यता एवं संस्कृति की गतिशील धारा के प्रवाह में योग देने की ग्रपेचा उसके CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

ऋस्तित्ववाद श्रोर नयी कृतिहाल By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मार्गं का वाधक द्वीप वनना ग्रधिक ग्रच्छा समभता है; इसीलिए ग्रज्ञेय स्वयं को 'द्वीप' के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

किन्तु हम हैं द्वीप हम घारा नहीं हैं। स्थिर समर्पेगा है हमारा, हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के। किंदु हम बहते नहीं हैं, क्योंकि बहना रेत होना है।

—'नदी के द्वीप'

इसी प्रकार भारतभूषएा ग्रग्रवाल ग्रपने व्यक्तित्व को मनचाहा रूप देने की चोषएा। करते हुए उग्र व्यक्तिवाद की स्थापना करते हैं—

में नहीं हूँ कागज की लुग्दी
या कि निरा पिण्ड प्लास्टिक का
मिट्टी का लौंदा नहीं,
नहीं गले रांगे की धार हूँ,
जिसे तुम सांचे में ढाल दो
मनमाना रूप दो, मनमानी चाल दो!

(४) पोड़ा को स्वीकृति जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, अस्तित्व-वाद में व्यक्ति-स्वच्छन्दता का जितना महत्त्व है, उतना ही पीड़ा की स्वीकृति का है, क्योंकि स्वच्छन्दता के लिए मनमानो करने के लिए उसका परिणाम भुगतना आव-श्यक है। इसलिए व्यक्तिगत जीवन में मले ही हिन्दी के ये किव पीड़ा न भोगकर ऊँचे-ऊँचे पदों, मारी वेतन एवं येन-केन-प्राप्त पुरस्कारों का उपयोग करें, किन्तु किवता में तो उन्होंने वेदना-वाद को स्वीकृति देकर अपनी सामियकता एवं समकालीनता को प्रमाणित कर ही दिया है। एक-दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

वहन करो,
श्रो मन! वहन करो पीड़ा!
यह श्रंकुर है उस विशाल वेदना की,
तुम में भी जन्मजात
श्रात्मज है स्वीकार करो
श्रांचल से 'ढंक' कर रच्चण वो!
वहन करो, वहन करो पीड़ा!
सृष्टि प्रिया पीड़ा है कल्पवृच,
दान समच,

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha श्रो मन ! करपात्री स्त्रीकारी मधुकरि स्वीकारो वहन करो, वहन करो पीड़ा!

—नरेश मेहता

पीड़ा सम्बन्धी उपर्युक्त व्याख्यान में कई बातें परस्पर-विरुद्ध कही गयी हैं—
(१) पीड़ा को इसलिए सहन करो क्योंकि वह जन्मजात है; जन्म से तुम्हारे साथ है!
(२) पीड़ा को इसलिए सहन करो कि तुम्हारी ग्रात्मजा — वेटी है! इसलिए उसकी माँ बनकर ग्रांचल में ढककर उसे बचाग्रो! — हम 'माँ' इसलिए कह रहे हैं, क्योंकि वेचारे पिता के पास तो 'ग्रांचल' होगा नहीं! (३) पीड़ा सारी सृष्टि की प्रिया है, यह कल्प-वृज्ञ है — मनचाही मुरादें पूरी करने वाली है! (४) वह भीख है — इसलिए उसे शीश मुकाकर स्वीकार करो!!

श्रवश्य ही यहाँ चारों बातों में परस्पर कोई तुक नहीं है! मला जन्म के साथ श्रवतित होनेवाली पीड़ा बेटी कैसे बन सकती है, श्रीर फिर बेटी से वह प्रिया कैसे बन गई! श्रीर जो जन्म से साथ थी, श्रात्मजा थी, प्रिया थी, वह एकाएक मीख कैसे बन गई? फिर मीख को शीश भुकाकर स्वीकारने की क्या श्रावश्यकता पड़ गई? "मला मीख को भी कोई शीश भुकाता है! हाँ, भीख देनेवाले को भले ही कोई भुकाए! पर यहाँ पीड़ा भीख देने वाली वन गई है?

शायद ये सारी बातें हिन्दी के साधारण पाठक की समक्त में न ग्राएँ ! पर इसमें बेचारे किव का भी क्या दोष है ? उसके ग्रस्तित्ववादी गुरुग्रों ने जो बातें ग्रलग-ग्रलग संदर्भों में कही थीं, उन्हीं सबको इकठ्ठी करके पद्य का रूप दे दिया गया है । क्या यह कम उपलब्धि है कि कीर्केगार्ड, जैस्पर्स, हेड्गर एवं सार्त्र ने वेदना के सम्बन्ध में जो ग्रलग-ग्रलग मत दिये थे, वे सब मेहता जी की कृपा से हिन्दी के पाठक को एक ही जगह एकत्रित मिल गए !! हिन्दी के किव की तर्कशून्यता की न सही, उसकी ईमानदारी की तो दाद दी ही जा सकती है ! किस ईमानदारी से उसने सारे ग्रस्तित्ववाद का सार एक ही किवता में प्रस्तुत कर दिया है ।

कुछ ग्रन्य कियों ने भी सार्त्र के वेदना सम्बन्धी विचार को मूल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यहाँ भारतभूषण ग्रग्रवाल की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

अवश्य ही यहाँ सार्व के ही उद्घोष को कि वेदना की पूर्ण स्वीकृति ही अस्तित्व-बोघ या व्यक्ति की मुक्ति का एकमात्र उपाय है—ही प्रतिव्वनित किया गया, पर फिर भी वह पूर्वोक्त उद्धरण की भाँति तर्क-वृद्धि एवं अनुभूति से शून्य नहीं है। वस्तुतः कवि ने यहाँ जो कुछ कहा है, वह स्वानुभृति से परिपूर्ण है, जिससे प्रमाणित होता है उसने सात्र के शब्दों को केवल रटा नहीं है, उन्हें समफा भी है।

अन्त में वेदना के सम्बन्ध में दीचा-गुरु का प्रवचन भी सुनने योग्य है-

दुःख सबको माँजता है

चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु जिनको माँजता है

उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें !

इस उक्ति को पढकर हमें सुकरात का एक कथन याद ग्रा गया-उसने कहा था, जब ईश्वर धरती के प्रािएयों को कुछ कहना चाहता है तो वह किव के माध्यम से बोलता है। श्री अज्ञेय के बारे में भी हम कह सकते हैं कि कामू के प्रेत तथा सात्र की ग्रात्मा को जब भारतीय पाठकों के लिए कुछ कहना होता है तो वे ग्रज्ञेय जी के कल-कंठों का माध्यम ग्रपनाते हैं। ग्रतः उपर्युक्त पंक्तियों की प्रशंसा में हम सभी सार्त्र-मक्तों की स्रोर से उन्हें साधुवाद देते हुए कह सकते हैं— "धन्य है प्रमो ! धन्य है ! ! यही महर्षि सार्त्र ने कहा था, यही ग्राप कह रहे हैं !!! धन्य हैं ग्राप, धन्य हैं हम!! ग्रीर धन्य है भारत की यह राष्ट्रमाषा, जो गुरुवर सात्र के सद्वचनों से पवित्र हुई !!!"

(५) भोग, प्यार, निराशा श्रीर मृत्यु-ये सभी तत्त्व श्रस्तित्ववादी प्रवृत्तियों के विकास-क्रम को सूचित करते हैं। व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता या स्वच्छन्दता का उपयोग प्रायः मोग ग्रौर प्यार में करता है, उसका परिएाम निराशा ग्रीर मृत्यु में होता है। यह घ्यान रहे कि इनका भोग श्रौर प्यार वस्तुतः शुद्ध शारीरिक विलास का द्योतक है, जो ग्रसंयमित एवं ग्रनियंत्रित होने के कारण निराशा ग्रौर मृत्यु में परिएात होकर ही समास होता है। ग्रतः इन समी तत्त्वों की व्यंजना हिन्दी के नये कवियों में भी उपलब्ध होती है-laws gul, west guite,

(क) उन्मक्त भोग:

श्रामाशय. यौनाशय. गर्भाशय, जिसकी जिन्दगी का यही स्राशय यही इतना भोग्य कितना सुखी है वह भाग्य उसका ईर्घ्या के योग्य !

ग्राशय ही हैं! इनके जीवन का ग्राशय ही तीन ग्रायामों की पूर्ति तक सीमित है। सच-मुच ये माग्यशाली हैं—जीवन के शेष सारे उत्तरदायित्वों ग्रीर क्रिया-कलापों से मुक्ति पाकर केवल तीन सुखागारों में ही ग्रपने जीवन को समेट लिया !! क्या ग्राप नहीं मानते कि इनका माग्य सचमुच ईर्ष्या के योग्य नहीं हैं! ग्रीर सच पूछें तो इन तीन ग्राशयों में से भी मुख्य एक ही रह गया है—शेष दो तो वैसे ही हैं!

कुँवरनारायण के ही स्वर में स्वर मिलाती हुई कुमारी (?) शान्ता सिन्हा

उन्मुक्त मोग का खुला निमंत्रण देती हुई दिखाई पड़ती हैं—

फैल रही है परिधि स्तनों की हसरतें ग्रब जवान हैं। ग्राग्रो दोस्तो ग्रोर साथियो ग्राग्रो मेरे मेंडे के नीचे, उँगलियों से कह दो ग्राज रियायत न करें तनिक भी किन्तु पेश ग्रायें मुना सब बेरहमी से!

सिन्हाजी की इन उक्तियों के सम्बन्ध में क्या कहें ! ग्रवश्य ही उनका निमंत्रएा अनेक साथियों को श्राकर्षक एवं श्राल्हादक प्रतीत हुग्रा होगा, यह दूसरी बात है कि उसमें कौमाय की शिष्टता, नारीत्व के संकोच एवं काव्यत्व की श्राभा का सबँधा श्रमाव है।

यही उन्मुक्त मोग आगे चलकर निराशा, आत्मग्लानि एवं जीवन की निरथं-कता के बोघ में परिरात हो जाता है—

हम में से किसी के पास टार्च नहीं है ग्रीर ग्रेंचेरे में हम सभी गिरफ्तार हो गये हैं।

या-

लगता है सारा श्रस्तित्व किसी भूठ पर टिका हुआ, जाता है श्राप ही बिलर-बिलर केवल रव श्रथंहीन—सांसों के चीरा स्वर!

श्रीर श्रन्त में उदित होता है श्रात्म-लघुता का यह भाव— हम सब के दामन पर दाग्र हैं!

हम सब की भ्रात्मा में भूठ, हम सब के माथे पर शर्म, हम सब के हाथों में टूटी तलवारें!

े एसी स्थिति में ब्रात्म-तोष के लिए वे 'पराजय' को ही, जीत से बढ़कर ब्रीर पलायन को ही संघर्ष से महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने लग जायें तो क्या ब्राश्चयें। देखिए—

लड़ता हो क्या है चरित्र ? यश जय हो ? धैर्य पराजय में यह भी गौरव है !

—ग्रज्ञेय

सचमुच गौरव है ! ग्रव ग्रज्ञेय जो को चाहिए कि दुनिया का इतिहास नये सिरे से लिखें ग्रौर उनमें हारे हुए व्यक्तियों व मगोड़े सैनिकों की गुग्ग-गाया का ग्रंकन करें ! सचमुच यह ग्रज्ञेय जी की सर्वथा नूतन उपजव्धि सिद्ध होगी !

उपसंहार

ग्रंत में हम ग्रस्तित्ववादी विचारकों एवं किवयों के सम्बन्ध में क्या लिखें। जैसा कि स्पैंगजर ने ग्रपने ग्रन्थ The Decline of West (पिश्चम का पतन) में प्रतिपादित किया है—जव कोई सम्यता ग्रपने मरणोन्मुखी बिन्दु पर पहुँच जाती है तो उसमें इसी प्रकार की सर्वथा वैयक्तिक, ग्रात्मवाती, उच्छू ह्वल एवं विलासिता को प्रवृत्तियाँ उन्मीलित होने लगतो हैं। ग्रासुरी सम्यता, देव-सम्यता, महामारतीय ग्रायों की सम्यता, उत्तर-वौद्ध युग की भारतीय सम्यता, हिन्दू-साम्राज्य के पतन से पूर्व की राजपूती सम्यता, ग्रौरंगजेव परवर्ती मुगल सम्यता—इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं। ग्रस्तु, यदि हमने ग्रपने को संयमित न किया तो वर्तमान सम्यता का भी नाश संभव है। विनाश से बच भी सकते हैं, पर यदि समय को गित को समर्भें तो ही। जो ग्रतीत ग्रौर वर्तमान से सारे सम्बन्धों को तोड़कर वैयक्तिकता के उन्माद से ग्रस्त हैं, उन्हें भला कौन समर्भा-ग्रुभा सकता है! ऐसी स्थिति में श्रोमती विजय चौहान के शब्दों में ही उनकी स्थिति को समभा जा सकता है—

हम हैं नये नकारे किंव हम लघु मानव हैं! हमारे पुरुखे भीमकाय थे लेकिन हम किसी को अपना पुरुखा नहीं मानते! हम श्रोडिपस हैं पितृघाती हैं हमारा कोई अतीत नहीं, कोई भिवष्य नहीं, हम क्षणवादी हैं हमारो आँखों में मायोपिया है! मोतियाबिन्द हैं लेकिन हम आपरेशन नहीं कराएँगे दुनिया को हमारो नजर के दायरे में सिकुड़ना पड़ेगा!

उपर्युक्त प'क्तियाँ नये कवियों के जीवन-दर्शन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं तथा यह निस्संको सुट्कहण्डम्प्रुवसकार्या है विक्ति यह जीवन-दर्शन प्रस्तित्ववादी धारणाम्नों

पर ही आधारित है! अस्तित्ववादियों की सीमित वैयिक्तकता, उच्छृक्क लता, स्वतन्त्रता, अतीत एवं मिनष्य की अस्वीकृति एवं दृष्टि की संकीर्णता ने सचमुच आज के व्यक्ति को एक ऐसे बिन्दु पर खड़ा कर दिया है, जहाँ से वह न पीछे लीट सकता है और न ही आणे बढ़ सकता है। अतीत की सम्पदा को उसने ठुकरा दिया है और मिनष्य की कल्पना को वह स्वीकार नहीं करता तथा वर्तमान उसका सिकुड़कर इतना छोटा हो गया है कि उसे 'चर्या' कहना पर्याप्त होगा। फिर भी दुर्भाग्य यह है कि वह अपनी सीमाओं को मानने को तैयार नहीं है, अपितु वह अपनी सीमित दृष्टि के अनुसार दुनिया को ही छोटी कर देना चाहता है। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ठीक मी है—यदि चचुविहीन व्यक्ति सारे संसार को प्रकाश-शून्य घोषित करते हुए सूर्य, चाँद और नचत्रों को व्यर्थ घोषित करे तो इसमें क्या आश्चर्य है!

:: अड़तालिस ::

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण

- १. प्रकृति ग्रौर मानव का सम्बन्ध।
- २. प्रकृति ग्रीर काव्य का सम्बन्ध।
- ३. प्रकृति-चित्रगा के विभिन्न प्रकार।
- ४. भारतीय काव्य में प्रकृति-चित्रए।
- ५. हिन्दी-काव्य में प्रकृति—(क) म्रादिकाल, (ख) मध्यकाल, (ग) म्राधुनिक काल।

६. उपसंहार

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध उतना ही पुराना है, जितना कि सृष्टि के उद्मव और विकास का इतिहास प्राचीन है। प्रकृति-मां की गोद में ही प्रथम मानव-शिशु ने ग्रांखें खोली थीं, उसी की क्रोड़ में खेलकर वह वड़ा हुग्रा और ग्रन्त में उसी के ग्रांल-गनपाश में ग्रावद्ध होकर वह चिर-निद्रा में सोता रहा। प्रकृति के ग्रद्भुत क्रिया-कलापों से उसकी हृदयस्थ भावनाग्रों—भय, विस्मय, प्रेम ग्रादि—का स्फुरण हुग्रा; उसी की नियमितता को देखकर उसके मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान की बुद्धि का विकास हुग्रा। दार्शनिक दृष्टि से भी प्रकृति ग्रीर मानव का सम्बन्ध स्थायी है, चिरन्तन है। सत्-रूपी प्रकृति, चित्-रूपी जीव ग्रीर ग्रानन्द-रूपी परम-तत्त्व—तीनों ही मिलकर सिच्चदा-नन्द परमेश्वर की सत्ता का रूप धारण करते हैं। शारीरिक, मानसिक ग्रीर ग्राघ्या-रिमक, तीनों ही दृष्टियों से प्रकृति मानव का पोषण करती हुई उसे जीवन में ग्रागे बढ़ाती है।

मानव श्रीर प्रकृति के इस ग्रट्ट सम्बन्ध की ग्रिमिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य ग्रीर कला में चिरकाल से होती रही है। साहित्य मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब है, ग्रतः उस प्रतिबिम्ब में उसकी सहचरी प्रकृति का प्रतिबिम्बत होना स्वामाविक है। इतना ही नहीं, प्रकृति मानव-हृदय श्रीर काव्य के बीच संयोजक का कार्य भी करती रही है। न जाने हमारे कितने ही कवियों को ग्रव तक प्रकृति से काव्य-रचना की प्रेरणा मिलती रही है। ग्रादिकवि ने प्रकृति के दो सजीव प्राणियों में से एक का वध देखकर इतने ग्राँसू बहाए कि उनसे कितने ही भूजंपत्र गीले हो गये ग्रीर वे ग्राज भी गीले हैं। ग्राषाढ़ के प्रथम बादलों को देखकर कित-कुल-शिरोमिण कालिदास तो इतने भावामिभूत हो गये कि उनकी ग्रनभूतियाँ 'मेघदूत' का रूप धारण करके बरस पड़ीं। हमारे मध्यकालीन किवयों ने ग्रपनी विरह-गाथा सुनाने के लिए प्रकृति की ग्रोट बार-बार ली है। ग्राधुनिक किवयों में भी ग्रनेक को काव्य-रचना की प्रेरणा प्रकृति से मिली है। प्रकृति हमारे किवयों कि जिल् अभैररण भीकी की सिक्ट हिए कि सिक्ट के ग्रवय मंडार,

कल्पना का श्रद्भुत है लोक, श्रनुभूति का श्रगाध सागर, विचारों की श्रटूट श्रङ्खला मी रही है।

प्रकृति-चित्रण के प्रकार

काव्य में प्रकृति का प्रयोग कई प्रकार से किया जाता है। हिन्दी के एक विद्वान् ने इसके निम्नांकित ११ भेद गिनाये हैं—(१) ग्रालम्बन रूप में, (२) मानवीकरएा, (३) पृष्ठभूमि के रूप में, (४) उदीपन रूप में, (५) प्रतीकात्मक रूप में, (६) विम्ब-प्रति-विम्ब रूप में, (७) उपदेशिका के रूप में, (६) ग्रालंकार-दर्शन के रूप में, (६) दूर्तिका के रूप में, (१०) रहस्यात्मक रूप में, (११) मानवीकरएा के रूप में। ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिगएान केवल संख्या विस्तार के निमित्त ही किया गया है। "पृष्ठ-भूमि के रूप में जिसके ग्रन्तर्गत प्रकृति कहीं ग्रनुकूल बनकर न्नाती है ग्रीर कहीं प्रतिक्ल"—इसमें ग्रीर 'उद्दीपन रूप में' कोई ग्रन्तर नहीं है। इसी प्रकार 'दूर्तिका' का रूप मी मानवीकरएा में समाविष्ट हो जाता है। मानवीकरएा को भी दो वार जिना दिया गया। वस्तुतः उपर्युक्त भेदों का समाहार निम्नांकित रूपों में ही हो जाता है:—

- श्रालम्बन रूप—जहाँ कवि स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का चित्रए। केवल प्रकृति-वर्णन के उद्देश्य से ही कर रहा हो, वह ग्रालम्बन रूप कहलाता है।
- २. उद्दोपन रूप—जहाँ किव के मूल-भाव का ग्रालम्बन तो कोई ग्रीर होता है, किन्तु प्रकृति से वातावरए। के द्वारा उस भाव को उत्ते जित करने में सहायता ली जाती है, उसे उद्दीपन रूप कहते हैं। जैसे चाँदनी रात के प्रभाव से विरहिणियों की वियोग-वेदना का बढ़ जाना दिखाया जाता है।
- 3. उपमान रूप मूल विषय को स्पष्ट करने के लिए कविगरा प्रकृति के उपादानों से उनका सादृश्य या वैषम्य प्रदिशत करते हैं; जैसे "उसका मुख चंद्र-सा है।" यहाँ चंद्र उपमान रूप में प्रयुक्त हुआ है। विभिन्न अलंकारों में इन उपमानों का प्रयोग कई प्रकार से होता है, अत: उनके अनुसार उपमान रूप के भी अनेक रूपभेद किए जा सकते हैं, जैसे उपमा, उत्प्रेचा, रूपक, अपह्नुति आदि।
- ४. मानवीकरण रूप—जहाँ प्रकृति को सजीव रूप में उपस्थित करते हुए उसे मानवी रूप प्रदान कर दिया जाता है, उसे ही मानवीकरण रूप कहते हैं; जैसे— चाँदनी को लच्य करके कहना—"हे गुभ्र-वसना! तुम किसे देखकर मुस्करा रही हो?" वस्तुत: मानवीकरण रूपकातिशयोक्ति का ही एक भेद है।
- ५. प्रतीक रूप में कित ग्रपने भावों को स्पष्ट रूप में न बताकर उन्हें प्रतीकों के माध्यम से व्यंजित करता है, जैसे—'निराशा' के लिए 'ग्रन्धकार' का, दुःख के लिए 'रात्रि' का, सुख के लिए 'दिन' का प्रयोग।
- ६. श्रन्योक्ति या व्यंग्योक्ति के रूप में—कई वार कविता में किसी विचार को प्रत्यच रूप में व्यक्त न करके प्रकृति के क्रिया-कलापों के माध्यम से व्यक्ति किया जाता है। जैसे—

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रग्

भ्रन्योक्ति-

माली म्रावत देखि कै क्लियां करें पुकार। फूले-फूले चुनि लिये, कालि हमारी बार।

व्यंग्योक्ति--

नाँह पराग, नाँह मधुर मधु, नाँह विकास इहि काल। स्रली कली ही सौं बँघ्यो, स्रागे कीनु हवाल।।

सामान्य रूप से उपर्युक्त छह भेद ही प्रचलित हैं, किन्तु वैसे हमारे काव्य-शास्त्र में जितने ग्रर्थालंकार हैं, प्राय: सभी में प्रतीक का प्रयोग हो सकता है।

भारतीय काव्य में प्रकृति-चित्रण की परम्परा

विश्व के प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य—ऋग्वेद—से ही हमें प्रकृति-चित्रण की सुदृढ़ परम्परा प्राप्त होती है। इस ग्रंथ में उषा, सूर्यं, मस्त, इन्द्र ग्रादि को ग्रलौकिक शिक्तयों के रूप में स्वीकार करते हुए, उनके मानवी क्रिया-कलापों का चित्रण किया गया है। उषा की कल्पना एक कुमारी वाला के रूप में करते हुए सूर्यं को उसका प्रेमी बताया गया—'हे प्रकाशवती उषा! तुम कमनीय कन्या की भाँति ग्रत्यन्त ग्राकर्षणमयी बनकर ग्रपने प्रियतय सूर्यं के निकट जाती हो तथा उसके सम्मुख स्मित-वदना युवती की माँति ग्रपने वच-प्रदेश को निरावृत करती हो। इसी प्रकार पुरूरवा को छोड़कर जाती हुई कान्तिमती उवंशी के सौन्दर्यं को मी मेघों को चीरकर जाती हुई बिजली के सदृश बताया गया है। मंहक सूक्त में वर्षा के ग्रागमन ग्रीर मेंढकों पर उनके ग्राह्लाद-कारी प्रभाव का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है—''जल की बूँदों से प्रसन्न होकर क्रीड़ा-मग्न मेंढक एक-दूसरे को बधाई-सी देते प्रतीत होते हैं। वर्षा हो जाने पर चित्त-कबरे रंग वाला मेंढक पीले मेंढक के साथ उछल-उछलकर उसके स्वर में स्वर मिलाता है।'' (ऋग्वेद ७।१०३।४) ''एक मेंढक दूसरे मेंढक की टर्राहट को इस प्रकार दोहराता है।'' कहना न होगा कि इन पंनितयों में वैदिक ऋषि के प्रकृति से निकट सम्बन्ध की व्यंजना सम्यक् रूप में हुई है।

ग्रादिकवि—वाल्मीकि—प्रकृति के रोमांचकारी प्रभाव से पूर्णतः परिचित थे। मानवीय भावनाग्रों के उद्दीपन के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रकृति का ग्राश्रय ग्रह्ण कर लिया है। वालकाएड में कौशिक ऋषि के संयम को मंग करने की योजना बनाता हुग्रा इन्द्र रंभा से कहता है—

मा भैषी रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम् । कोकिल हृदयग्राही मायवे रुचिर द्रुमे । ग्रहं कन्दर्प सहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः । त्वं हि रूपं । बहुगुरां कृत्वा परमं भास्वरम् । तमुणि व्योधान्येवा भूद्रों भेदयस्व तपस्वनम् ॥ श्रर्थात्, हे रम्भे ! डरो मत ! तुम्हारा कोई ग्रनिष्ट नहीं होगा, मेरी ग्राज्ञा मानो । वसन्त काल में किसी मनोहर वृत्त पर सुन्दर कोकिल वनकर कामदेव के साथ मैं तुम्हारे निकट ही स्थित होऊँगा । तुम जरा ग्रपने रूप को सजाकर तपस्वी के मन को ग्रपनी ग्रोर ग्राक्षित करने की चेष्टा करना ।

उद्दीपन के ग्रतिरिक्त रूप-सौन्दर्यं की साज-सज्जा (ग्रलंकार) के रूप में भी प्रकृति का प्रयोग वाल्मीकि रामायए। में हुग्रा है। राजा कुशनाम की युवती कन्याग्रों के सौन्दर्यं को प्राकृतिक वैभव से सम्पन्न करते हुए लिखा गया है— ''रूप-यौवन-सम्पन्न वे कन्याएँ ग्रलंकृत होकर उपवन में गईं। वर्षा-काल की विद्युत् के समान वे प्रतीत होती थीं। " ग्रप्ने ग्रपूर्वं रूप से सजी हुई वे सर्वाङ्ग सुन्दरियाँ वाटिका में ग्राकर ऐसी प्रतीत होती थीं, मानों मेघ से छिपी हुई तारिकाएँ हों।"

(बालकाएड, सगं ३२)

महामारत में ग्राकर प्रकृति की ग्रनुपम सौन्दर्य-श्री में ग्रौर मी ग्रधिक ग्रमिवृद्धि हुई है। इसके शकुन्तलोपाख्यान में कएव-ऋषि के ग्राश्रम का एक संश्लिष्ट-चित्ररा
द्रष्टव्य है—''वह वन पुष्पों से युक्त ग्रौर वृद्धों से सुशोमित था। उसमें ग्रत्यन्त सुखकारी हरी-हरी घास लहरा रही थी। ग्रनेक सुन्दर पिचयों के कलरव तथा कोयलों की
कुक ग्रौर मिल्ली की भंकार से वह गुंजरित हो रहा था।'' (ग्रादि पर्व—७०,४,५,६)
इसी प्रकार उपमान रूप में वर्णन का एक उदाहररण देखिए—ग्रदभुत सौन्दर्य मार से
लदी हुई वाला सुन्दरी तप्ता के रूप-वैभव की व्यंजना करते हुए महाभारतकार ने लिखा
है—''वह या तो लद्दमी है ग्रथवा सूर्य से भड़कर पड़ी हुई उसकी कान्ति है। ग्रंगों की
ग्रुति की दृष्टि से वह रिव की शिखा-तुल्य ग्रौर निर्मल सौन्दर्य की दृष्टि से चन्द्ररेखातुल्य प्रतीत होती है। पर्वत-प्रदेश पर स्थित यह श्याम-वर्ण नेत्रोंवाली कन्या स्वर्ण की
प्रतिमातुल्य प्रतीत होती है।'' (ग्रादि पर्व, ग्रध्याय १७३)

परवर्ती संस्कृत-साहित्य में तो प्रकृति का चित्रण इतनी मात्रा में हुन्ना है कि हमें सर्वंत्र प्रकृति-सौन्दर्यं की ही माया का प्रसार दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति-चित्रण का कोई ऐसा रूप नहीं, जो संस्कृत के काव्य-मएडार में उपलब्ध नहीं होता। प्राय: ग्राधु-निक ग्रालोचक मानवीकरए की शैली को पाश्चात्य साहित्य की देन बताते हैं, किन्तु कालिदास, दंडी ग्रौर हर्ष की रचनाग्रों में प्रकृति के मानवी रूप के शत-शत उदाहरए ढूँढ़े जा सकते हैं। 'मेघदूत' में गंभीर नदी को किसी मद-विह्वला नारी के रूप से प्रस्तुत करते हुए उसकी काम-चेष्टाग्रों का निरूपए किया गया है, जो मानवीकरए का उत्कृष्ट उदाहरए है। 'ऋनु-संहार' में शरद का चित्रए एक नववधू के रूप में किया गया है— 'काश के (श्वेत) वस्त्रों से सुसज्जित, परिपक्व धानों से लित छरहरे शरीर वाली, खिले हुए कमल (सदृश) मुखवाली यह शरद सुन्दरी, नूपुर ध्विन के तुल्य मन्दोन्मत्त हंसों के कलरव का शब्द करती हुई किसी नव-वधू के समान ग्रा रही है।'' ग्रागे चल-कर मारवि, माघ, श्रीहर्ष ग्रादि किवयों ने प्रकृति का चित्रए इतने परिमाए में किया कि वह महाकाव्य के एक ग्रावश्यक लच्चए के रूप में स्वीकार कर लिया गया। 'काद-

म्बरी' और 'दशकुमारचिरत' जैसी गद्य रचनाएँ भी प्रकृति-सौन्दर्य से मरपूर हैं।
प्राकृत ग्रीर ग्रपश्चंश के जैन कियों ने प्रकृति-वर्णन का चित्रए। पर्याप्त माला में
किया है, किन्तु उनमें संस्कृत-कियों की ही उक्तियों का पिष्टपेषए। ग्रधिक है, मौलिकता कम है। हाँ, ग्रपश्चंश के परवर्ती युग में ग्रव्दुर्रहमान एवं बव्बर जैसे कियों ने उद्दीपन रूप में प्रकृति के कई चित्र उपस्थित किए हैं। विभिन्न ऋतुग्रों में 'सन्देश-रासक' की विरहिएगी नायिका की दशा ग्रत्यन्त ग्रसह्य हो जाती है। पथिक को सन्देश देती हुई वह कहती है-"(वर्षा ऋतु में) ग्रम्बर में चारों ग्रोर काले वादल छाये हुए हैं। काली घटाओं की घरघराहट जोर से उठती है। नभ-मार्ग में विद्युत तड़कती है। मेंढकों की कठोर टर्राहट सहन नहीं हो पाती। घरती पर निरन्तर मुसलाधार वर्षा होती रहती है पथिक! बताग्रो, शिखर-स्थित कोयल के मीठे स्वर की चोट को कैसे सहन कहूँ!!" दूसरी ग्रोर महाकिव बव्बर की पित-वियुक्ता नायिका ग्रीष्म के दाह से चुव्ध होकर किसी के शीतल-स्पर्श की कामना व्यक्त करती है—

तरुण तरिण तवइ घरिण,पवण वहइ खरा, लग्ग गाहि जल वड मरुथल, जगा-जियगा-हरा। दिसइ चलइ हिम्रम्र दुलइ हम, इक्लि वहू, घर गहि म्रिंग सुगहि पहिम्र ! मगा इछइ कहू।

(हिन्दी काव्य-धारा: पृ० ३१८)

— युवा सूर्य घरती को तपा रहा है। तेज पवन चल रहा है। इस मरुस्थल में कहीं जल का पता नहीं है। लोगों का जीवन नष्ट हो रहा है। दिशाग्रों की वायु चल रही है। उनसे मेरा हृदय डुल रहा है। घर में पिया नहों है ग्रीर मैं ग्रकेली वधू हूँ। हे पिथक! मन किसी को चाहता है!—

उपर्युक्त पर्यवेक्षरा से स्पष्ट है कि वैदिक युग से लेकर अपभ्रंग युग तक के साहित्य में प्रकृति रानी की सत्ता अखंड रूप से बनी हुई है। वह नाना रूपों में अव-तिरत होकर मानवीय अनुभूतियों के साथ अभिनय करती रही है। कहीं वह सौन्दर्य की सहायिका और साधिका रूप में दृष्टिगोचर होती है तो कहीं स्वयं ही सौंदर्य का आगार वन गई है। दार्शनिकों ने इस शत-शत रूपा प्रकृति को माया की संज्ञा देकर उचित ही किया। हिन्दों काट्य में प्रकृति

हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य में प्रकृति का चित्रग् प्रायः उद्दीपन ग्रीर उपमान रूप में हुग्रा है। रासो ग्रन्थों के रचयिताग्रों ने जहाँ सौंदर्य-निरूपण के लिए प्रकृति से उपमान ग्रहण किए हैं, वहाँ संयोग-वियोग की ग्रनुभूतियों के उद्दीपन के रूप में विभिन्न ऋतुग्रों का वर्णन भी किया है। 'बीसलदेव रासो' की नायिका की विरहाग्नि भादों की भड़ियों से ग्रीर भी प्रदीप्त हो उठती है—

भादवउ बरसई छइ मगहर गम्भीर । जल-थल महीयल सह भर्या नीर । जाएो सरवर उलटइ । एक ग्रंघारी बीजली बाया । सूनी सेज ्िब्रदेशकावुक्तिमञ्जाक Maki ई े हुन्दां तहा सहस्या जाई । भला, एक दुःख हो तो सहन किया जा सकता है, किन्तु प्रकृति के मादक वैभव ने तो विरह्णी बाला के शोक-संताप को द्विगुणित कर दिया है।

मैथिल-कोकिल विद्यापित ने तो प्रकृति-सीन्दर्यं को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। नारी के रूप-वैभव को प्रकृति के ग्रंगराग से सुसज्जित करने की कला में जैसी दचता विद्यापित को प्राप्त है, वैसी संभवतः किसी ग्रन्य किव को प्राप्त नहीं हुई। वे विभिन्न प्रकृति को विभिन्न ग्रलंकारों के रूप में प्रयुक्त करते हैं—

फुटल कुसुम नव कुंज कुटीर वन, कोकिल पंचम गावे रे ! मलयानिल हिम सिखर सिघारल, पिया निज देश न म्रावे रे ! ग्रन्योक्ति के रूप में—

कंटक मार्क कुसुम परगास, भगर विकल नहीं श्रावए पास।
भमरा मेल घुरए सब राम, तोहे बिनु मालित नीह बिसराम।।
प्रतीक रूप में—

इसके ग्रतिरिक्त मानवीकरण का भी विद्यापित में ग्रमाव नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

माइ हे सीत वसंत बिबाद, कथ्रोन विचारव जय श्रवसाद ! दुहु दिसि मधथ दिवाकर भेल, दुजबर कोकिल साखी देल !!

+ × ×
बादी तह प्रतिवादी भीत!
सिसिर विन्दु हो ग्रन्तर सीत!!

यहाँ वसन्त और शीत को क्रमशः वादी और प्रतिवादी के रूप में उपस्थित किया है तथा ग्रन्त में वसन्त की जीत दिखाई गई है।

प्रकृति को माया समभने वाले संत और मक्त कवियों ने भी काव्य में उसे महत्त्वपूर्णं स्थान दिया है। कबीर ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति को माध्यम बनाया है—

जैसे जलिंह तरंग तरंगिनी ऐसे हम दिखलाविंहिंगे ।

कहै कवीर मुख सागर हंसिह हंस मिलाविंहिंगे ।।

संसार की नश्वरता का प्रतिपादन भी वे ग्रन्योक्तियों के द्वारा करते हैं-
माली ग्रावत देखि के कलियां करें पुकार ।

माली ग्रावत देखि के किलयां करें पुकार। फूले फूले चुन लिये, कालि हमारी बार॥

साधना-जन्य ग्रनुभूतियों के प्रकाशन के लिए भी प्रकृति की लीला से बढ़कर ग्रीर कोई रूपक कबीर को दृष्टिगोचर नहीं होता—

श्रंतर केंबल प्रकासिया, ब्रह्म बास तहाँ होइ। मन भॅवरा तहाँ लुबुधिया, जागेंगा जन कोइ।।

वस्तुतः प्रकृति के संयोग से कवीर ने शुष्क-से-शुष्क विचार को सरसता मौर सुद्मातिसूदम अनुभूति की स्पष्टता प्रदान कर दी है।

महाकवि जायसी ने प्रकृति को उद्दीपन, उपमान, प्रतीक ग्रादि रूपों में प्रयुक्त

किया है। पावस ऋतु के मादक प्रभाव की व्यंजना द्रष्टव्य है--

''रितु पावस बरसै, पिउ पावा। सावन भादों ग्रधिक सोहावा।।
कोिकल बैन, पित बग छूटी। घिन निसरी जेउं बीर बहूटी।।
चमक्कै बिज्जु, बिरस जग सोना। दादुर मोर सबद सुिठ लोना।।
रंगराती, पिय संग निस जागै। गरजै चमकै चौंक कंठ लागै।।
सीतल बूंद, ऊँच चौबारा। हरियर सब देखिय संसारा।।
भर भादों दूभर श्रति भारी। कैसे भरों रैनि श्रंघियारी।।
मंदिल सुन प्रिय श्रनतै बसा। सेज नाग भै घै घै उसा।।

इसी प्रकार रानी पद्मिनी के सौन्दर्य-चित्ररा में प्रकृति के उपादानों का प्रयोग

भरपूर किया गया है-

भवर केस, वह मालति रानी । विसहर लुरीह लेहि ग्ररधानी ॥ बेनि छोरि भारु जौं वारा । सरग पतार होइ ग्रंधियारा ॥

प्रेम-निरूपरा में भी जायसी ने प्रकृति के क्रिया-कलापों को सादृश्य-रूप में प्रस्तुत किया है—

फूल-फूल फिरि पूछों, जो पहुँचों श्रोहि केत ! तम निछावर के मिलों, ज्यों मधुकर जिब देत !!

कहना न होगा कि यहाँ प्रेमी के लिए 'मधुकर' ग्रौर 'पक्षी' का रूपक भावनाओं के उत्कर्ष में गहरा योग देता है। मिक्त-काल के ग्रन्य किवयों ने भी भावाभिव्यक्ति के लिए प्रफृति के वैभव को साधन रूप में स्वीकार किया है। तुलसी ने इष्टदेव की साज-सज्जा में प्रचलित उपमानों की ऋड़ी बार-वार लगाई है तथा वियोगी राम पर वर्ष, शरद ग्रादि का प्रभाव भी अकास्थान श्रीकतः किया है । प्रात्क कियों के ग्राराध्य

उद्धृत करके संतोष लेंगे-

XUX

केकी कोक, कपोत श्रीर खग, करत कुलाहल भारी! मानहुँ लै-लै नाउं परस्पर, देत दिवावत गारी!! कुंज-कुंज प्रति कोकिल कूजित, श्रीत रस विमल बढ़ी! मनु कुल-बघु निलय भई गृह-गृह गावित श्रटनि चढ़ी! प्रफुलित लता जहां जहें देखत तहां-तहां श्रील जात! मानहुँ बिट सबहिनि श्रवलोकत, पारस गिनका गात!

यहाँ सामूहिक गाली-गलौज, युवितयों के निर्लंज्ज ग्रालाप ग्रौर रिसकों की छेड़-छाड़ का ग्रायोजन प्रकृति की ग्रोट में किया गया है, किव ने दृश्य को मादक बनाते हुए भी उसे ग्रम्लीलता से बचा लिया है।

रीतिकालीन काव्य में प्रकृति-चिलण

रीतिकाल का प्रमुख विषय ऋङ्गार-चित्रए। होने के कारए। इस युग में प्रकृति-चित्रए। को ग्रौर भी ग्रधिक प्रश्रय मिलना स्वभाविक है। बिहारी, सेनापित, देव, पद्माकर ग्रादि कवियों ने प्रकृति को ग्रनेक प्रकार से चित्रित किया है। उदाहरए। द्रष्टव्य हैं—

लपटी पहुष पराग-पट सनी स्वेद मकरन्द। ग्रावित नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायुगित मंद । सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर । मन ह्वे जात ग्राजीं ह्वे, वा जमना के तीर।।

—बिहारी

भौरत को गुंजन बिहार बन कुंजन में, मंजुल मलारन को गावनो लगत है। कहें 'पद्माकर' गुमान हूँ ते मान हूँ प्रारा हू ते प्यारो मन-भावनो लगत है। मोरन को सोर घन-घोर चहुँ श्रोरन, हिंडोरन को वृन्द छवि छावनो लगत है। नेह सरसावन में मेह बरसावन में, सावन में भूलिबो सुहावनो लगत है।

-पद्माकर

इसी प्रकार 'ग्वाल' किव का बसन्त वर्णंन देखिए—— सरसी के खेत की बिछायत बनी, तामें खरी चांदनी बसन्ती रित कंत की। सोने के पलंग पर वसन वसन्ती साज, सोन जूहि माला हालें हिया हुलसन्त की।

× × ×

राग में बसन्त बाग-बाग की बसन्त फूलो, त्याग में बसन्त क्या बहार है बसन्त की।

घ्यान रहे, यहाँ प्रकृति-वर्णन—या • किहए, ऋतु-वर्णन किया गया है, किन्तु स्वाभाविकता का विशेष घ्यान नहीं रखा गया । सोचिए, सरसों के खेत में सोने का पलंग कहाँ से श्रावेगा ? आधुनिक युग

श्राष्ट्रिनिक युगीन हिन्दी-काव्य में प्रकृति की छटा का चित्रण पर्याप्त सूदमता, सरसता एवं विशवता से हुग्रा है। विशेषतः छायावादी काव्य तो प्रकृति के वैभव से इतना ग्रिधिक रंजित है कि कुछ विद्वानों ने प्रकृति-वर्णन के विशेष प्रकार को ही छाया-वाद समभ लिया था। यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे— स्वतंत्र रूप में—

उषा मुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई। उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।

—प्रसादः

मानवीकरण-

पगली, हाँ सम्हाल ले तेरा, छूट पड़ा कैसे ग्रंचल। देख विखरती मिर्गाजी, ग्ररी, उठा श्रो बेसुध चंचल।।

---प्रसादः

× × ×

सिंधु सेज पर घरा वधू श्रब तिनक संकुचित बैठी सी। प्रलय निशा की हलबल स्मृति में मान किए सी एँठी सी।।

-प्रसादः

भ्ररे, कौन तुम दमयंती सी हो तरु के नीचे सोई । हाय ! तुम्हें भी त्याग गया, क्या अलि नल-सा निष्ठुर कोई ॥

--पंत

दिवसावसान का समय मेघमय श्रासमान से उतर रही है। वह संघ्या सुन्दरी परी सी, घीरे, घीरे, घीरे।।

—निराला

प्रतीक रूप में---

नयत में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ। शलभ जिसके प्राग्। में वह निठुर दीपक हूँ। किसी फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ!!

---महादेवी वर्मा

उपमान रूप में--

नील परिघान बीच सुकुमार, खिल रहा मृदुल श्रघेखिला श्रंग। खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग। यहाँ हम श्रीर श्रिधिक उदाहरए। न देकर इतना ही कहना पर्याप्त समभेंगे कि CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

'४७६

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha त्राघुनिक काव्य में प्रकृति ग्रौर मानव दोनों एकाकार हो गए हैं। प्रकृति में मानव के तथा मानव में प्रकृति के रूप-वैभव का दर्शन सर्वत्र उपलब्ध होता है। प्रकृति आधुनिक कवियों का कथ्य है, कथन है ग्रौर कथन का साधक है। ब्रह्म के विराट् रूप का प्रति-पादन करना हो, या जीवन-दर्शन सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को समभाना हो ग्रयवा ग्रपने किसी गुप्त प्रेम के किसी गोपनीय तथ्य की व्यंजना करनी हो, हमारे

काव्य-रचियतास्रों ने प्रकृति को सहायता के लिए स्रामंत्रित किया है। ग्रस्तु, हिन्दी कवियों के प्रकृति-प्रेम का इससे बढ़कर प्रमाएा भ्रौर क्या होगा कि उन्होंने प्रकृति के वैभव के समच युवती बालाग्रों के मन-मोहक सौन्दर्य तक को ठुकरा दिया-

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया ! बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलभा दूँ लोचन !!

the soften with the marrows of pill

vani meralik in peralip is in ! ma

जार से फिल्मे बास कर सीमा नासक DAY PART THE T HE PART SHARE HE अवस्था अवसी रिक्टी में उठ कि एक किसी

to the second of the second of

ः ः उनचासः :

हिन्दी-काव्य में नारी (नायिका) रूप

- १. साहित्य ग्रीर नारी।
- २. नारी का ग्राचार्यों द्वारा वर्गीकरण एवं विश्लेषण ।
- ३. भारतीय समाज में नारी की स्थिति श्रीर उसका साहित्य पर प्रभाव।
- ४. 'राधा' के विभिन्न रूप—नारी रूप के प्रतीक : (क) विद्यापित की राघा, (ख) सूरदास की राघा, (ग) रीतिकालीन कवियों की राघा, (घ) द्विवेदी युगीन कवियों की राघा।
- ५. प्रेमाख्यानकों की नायिका।
- ६. रासो काव्यों की नायिका।
- ७. स्वच्छन्द-प्रेमी कवियों की नायिका।
- डपसंहार।

यदि हम एक ऐसे विषय की खोज करें जिसका प्रयोग विश्व-काव्य में सर्वाधिक हम्रा, तो वह विषय हमारे अनुमान से नारी-वर्णन ही सिद्ध होगा । विश्व-काव्य का सर्व प्रचलित रस-रसराज श्रृङ्गार है, तो नारी उसी रसराज के प्राणों की श्राधार है। नारी की विमोहिनी शक्ति युग-युग से काव्य-जगत पर एकछत्र शासन करती रही है ग्रौर संभवतः भविष्य में भी करती रहेगी। वैदिक साहित्य में उसके रूप-वैभव के उन्मादक प्रभाव की ग्रमिव्यक्ति उस उवंशी के रूप में हुई है, जिसके वियोग में पुरूरवा ने ग्रपने भ्रापको हिंस्र भेड़ियों के सम्मुख डालकर भ्रात्महत्या करने की सोची थी। रामायगा में उसके सौन्दर्य की दीप्ति जनक-तनया के रूप में हुई है, जिसकी प्राप्ति के लिए दूर-दूर के नरेश धनुष-यज्ञ में उपस्थित हुए थे। महाभारत में उसने उस द्रौपदी का रूप धारण किया, जिसके एक कटु हास्य ने अठारह अचौहिंगी योद्धाओं के नाश का बीज बो दिया। ग्रागे चलकर संस्कृत नाटक-साहित्य में उसने वासवदत्ता, शकुन्तला, वसन्तसेना, मालती, रत्नावली, दमयन्ती ग्रादि के विभिन्न रूपों में ग्रपने सौन्दर्य के जादू एवं भाव-भंगिमाग्रों की शक्ति का परिचय दिया। गद्य-साहित्य में एक ग्रोर संसार की समस्त साधना, पवि-त्रता एवं दिव्यता को लेकर महाक्षेता ग्रीर कादम्बरी के रूप में ग्रवतरित हुई, तो दूसरी ग्रोर उसने 'दशकुमार चरित' की काम-मंजरी के रूप में विश्व की समस्त कुटिलता का भी प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया। साहित्य में नारी के इन अनन्त रूपों, उसके अद्भुत प्रभाव ग्रौर उसकी ग्रपार शक्ति को देखते हुए कामायनीकार के शब्दों में यही स्वीकार करना पड़ता है-

हे अनन्त ! रमणीय कौन तुम, यह मैं कैसे कह सकता !

सम्भवतः नारी-रूप की इसी विचित्रता को देखकर हमारे काव्य-शास्त्रियों के हृदय में उसका विश्लेषएा करने की भावना प्रस्फुटित हुई। भरत-मुनि ने सर्व-प्रथम उसे

नायिका-पद से विभूषित करते हुए गुएा-शील के ग्राधार पर उसके विभिन्न रूपों का ग्रास्थान किया, जो परवर्ती युग में इतना लोकप्रिय विषय सिद्ध हुग्रा कि धनंजय, विश्वनाथ, मानुदत्त ग्रादि ने ग्रपने ग्रन्थों में सबसे ग्रिधक विस्तार नायिका-भेद को ही दिया है, ग्रागे चलकर हिन्दी के किवयों ने भी उसके 'नखशिख' एवं विभिन्न रूपों को लेकर स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना की। नायिका के इतने भेद किए गए कि उनकी संख्या दो हजार से भी ऊपर पहुँच गई, ग्रत: नायिका-भेद निरूपएा को देखते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय ग्राचार्यं ग्रीर किव दोनों के लिए ही नारी-रूप की मीमांसा एक प्रिय विषय रहा है।

उपर्यक्त निष्कर्ष से एक भ्रान्ति पैदा हो जाने की सम्मावना है। इससे यह धारणा बनती है कि भारतीय साहित्य में नारी को बहुत ग्रधिक सम्मान प्राप्त हुग्रा है, जिसका ग्रथ है भारतीय समाज में नारी को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त होगा; क्योंकि साहित्य समाज का ही प्रतिविम्ब माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैदिक युगीन भारतीय नारी को समाज श्रौर साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है, किन्तु परवर्ती यगों में स्थिति इसके ठीक विपरीत रही । वैदिक युग की सहचरी रामायरा-युग में "छायेव अनुगता सदा" (छाया की भाँति अनुचरी) हो गई। पुरुषोत्तम राम ने उसकी स्थिति सुधारने के लिए एक-पत्नीव्रत का ग्रादशें स्थापित किया था, पर निरंकुश पुरुष वर्ग को वह स्वीकार्य नहीं हुमा। महाभारत-युग में माकर तो उसका मूल्य एक चल सम्पत्ति जितना ही रह गया; शल्य उसे वहिन के रूप में वेच सकता है; गांधार-नरेश द्रव्य के लोभ से उसे किसी चजुहीन की पत्नी बनने को विवश कर सकता है; पांडु जैसे पूरुषत्वहीन पति की ग्राज्ञा से वह दुराचार करने को विवश हो सकती है; भीष्म उसका ग्रपने भाइयों के लिए ग्रपहरएा कर सकता है: भाइयों की सहमति से वह पाँच पतियों की सह-मोग्या बन सकती है; म्रावश्यकता पड़ने पर उसे जुए के दाँव पर भी लगाया जा सकता है श्रौर जरासंघ जैसे शासक के संग्रहालय में वे चिड़ियों की भाँति रहकर अन्त में किसी अन्य विजेता की सम्पत्ति बन सकती हैं। वस्तुतः इस युग में भारतीय नारी के निजी व्यक्तित्व, निजी प्रादश प्रौर निजी लदय सदा के लिए पुरुष के चरएों पर कुंठित हो गए। भ्रागे चलकर बाल-विवाह, ग्रशिचा, पर्दा श्रादि के प्रचलन ने तो उसे उस निर्जीव यन्त्र का रूप दे दिया, जो पुरुष के मनोरंजन एवं वंश-वृद्धि का साधन-मात्र है।

भारतीय साहित्य में भी नारी के सामान्य रूप का ही विवेचन, विश्लेषए। एवं चित्रए। ग्रिधिक हुग्रा है, उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता का विकास प्राय: नहीं मिलता। विशेषत: हिन्दी काव्य में तो हम उसे व्यक्ति की ग्रिपेचा जाति के रूप में ही ग्रिधिक पाते हैं। उसके ग्रंग-प्रत्यंगों के स्थूल रूप की व्याख्या किसी मशीन के निर्जीव पुर्जों की माँति ही वारम्वार हुई है, उसकी सूचम चारित्रिक प्रवृत्तियों एवं विशेषताग्रों का ग्रंकन प्रायः नहीं के वरावर है। ग्रतः विमिन्न कियों के नारी-रूपों में भेद करना कुछ किन है, किन्तु फिर भी निजी दृष्टिकोए। एवं देश-काल के ग्रनुसार उसमें परस्पर थोड़ा ग्रन्तर श्रवस्य मिलता है।

वैसे हिन्दी में राधा, पद्मावती, राजमती, नागमती, उमिला, यशोधरा, ग्रज्ञातनामा 'प्रेयसी' ग्रादि ग्रनेक नायिकाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु उनमें सर्वाधिक चित्रग्रा
कृष्ण की बाल-सहेली वृषमानुजा राधा का ही हुग्रा है। ग्रक्तेले 'राधा' नाम में विद्यापति से लेकर हरिग्रीध तक ग्रनेक किवयों की ग्रनेक नायिकाग्रों का समाहार हो जाता
है। विद्यापित, सूर, नन्ददास, बिहारी, देव, पद्माकर, भारतेन्दु, हरिग्रीध ग्रादि न
जाने कितने किवयों ने उसका चित्रण किया है, फिर भी उसका रूप नवीन है, उसकी
ग्रामा ग्रम्लान है ग्रीर उसका ग्रनुराग ग्रखएड है। ग्रतः हम सबसे पहले हिन्दी-काव्य
की प्रतिनिधि नारी के रूप में राधा के ही विभिन्न रूपों का परिचय देना उचित समभते हैं।

विद्यापति की राधा

विद्यापित की राधा के प्रथम दर्शन काव्य-मंच पर हम उस समय प्राप्त करते हैं, जबिक वह वयःसंधि की ग्रवस्था को पार कर रही थी। उसकी इस ग्रवस्था का चित्रएा कवि ने रुचिपूर्वक किया है—

खने-खन नयन कोर श्रनुसरई, खने-खन वसन धूलि तन भरई। खने-खन दसन छटा छुट हास, खने-खन श्रधर श्रागे कर बास।। चउँकि चले खने-खन चलु मन्द, मनमथ पाठ पहिल श्रनुबंध। हिरदय मुकुल हेरि-हेरि थोर, खने श्रांचल दए खने होए भोर।।

धीरे-धीरे वह उस यौवन में प्रवेश करती है जो सौन्दर्य, मद, ग्रल्हड़ता एवं उच्छृङ्खलता से भरपूर है। प्रग्य-भावनाग्रों का प्रवेश मी उसके जीवन में होता है, किन्तु शीतल मन्द समीर की माँति चुपचाप नहीं, ग्रपितु तूफान की तीव्रगति से ग्रट्ट-हास करते हुए। उसके धार्मिक विश्वास, सामाजिक ग्रंकुश एवं पारिवारिक नियंत्रग उस तूफान के प्रथम भोंकों में चत-विचत हो जाते हैं। संसार का कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं, जो इस प्रग्य-विभोर नारी को ग्रपने पथ से विचलित कर सके। ग्रन्य नायिकाग्रों की माँति वह ग्रपने प्रग्य को गुप्त रखना नहीं जानती; वह उसकी घोषगा स्पष्ट रूप में कर देती है—

सामर सुन्दर ए बाट श्राएल, ते मोरि लागलि श्रांखि

प्रियतम से संकेत-स्थल पर मिलने की प्रतिज्ञा को पूरी करने में वह किसी से भय नहीं खाती—

घर गुरुजन डर न मानब, वचन चूकब नाँहि।

किन्तु उसके साहस की विलच्च एाता का परिचय तो तब मिलता है, जबिक जेठ के मध्याह्न में वह कड़कड़ाती हुई धूप, धधकती हुई जमीन श्रौर घृएा व ईर्प्या से जलती समाज की श्रांखों की कोई परवाह न कर मनोरथ-पूर्ति के लिए श्रागे बढ़ ही जाती है—

तपन के ताप तपत भेल महोतल तातल बालू दहन समाना। चढ़ल, मनोर्थ भामिनी चल पथ ताप तपत नहीं जाना।। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

ग्रयात् सूर्यं की तपन के ताप से महीतल तस हो रहा है, गरम वालू आग के समान जल रही है किन्तु नायिका अपने मनोरथ रूपी रथ पर चढ़कर चल पड़ी, जलन का उसे कोई पता नहीं। विद्यापित की राधा का दुर्माग्य यह है कि उसका यह अपूर्वं साहस भी प्रएाय-स्वप्नों को चिरस्थायी बनाने में सफल नहीं हो सका। कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर अमरराज किसी अन्य किलका की ओर आकर्षित हो जाते हैं और अभागी नायिका के पास केवल निराशा, वेदना और ग्लानि की पूँजी शेष रह जाती है—

कुल कामिनी छलीं, कुलटाँ भए गेलों, तिन कर वचन लोभाई ! ग्रपने कर हम मूंड सूंडाएल, कामु से प्रेम बढ़ाई !!

अर्थात्—"कुल-कामिनी थो, अब कुलटा हो गई हूँ। उसके वचनों से लुभाकर मैंने अपने हाथ से ही अपना सिर मूँड लिया ! हाय ! कन्हैया से प्रेम करके...." वस्तुतः विद्यापित की नायिका यहाँ एक उच्छुङ्खल प्रेमिका के रूप में चित्रित हुई है, जिसे नायक की वंच-कता के कारण अन्त में निराश होना पड़ता है।

सूरदास की राधा

सूरदास की राधा काव्य-मंच पर यीवन की सौन्दर्य-श्री से लदकर एकाएक उपस्थित नहीं हो जाती, ग्रापितु उसका सर्वाङ्गीए विकास धीरे-धीरे होता है। उसका
प्रणय भी विद्युत की गाँति उदित होकर विलीन नहीं हो जाता, ग्रापितु वह साहचर्य के
योग से घीरे-घीरे विकसित होता है। उसके माता-पिता के लिए कृष्ण ग्रापरिचित नहीं
हैं, ग्रत: उसका कृष्ण से मिलन ग्रवाध गित से चलता रहता है। वस्तुत: इन परिस्थितियों में विकसित प्रेम में समुद्र की-सी गहराई तो होती है, किन्तु उसमें वे उत्ताल
तरंगें नहीं होतीं, जो एक बार में ही हृदय को ग्रात्म-समर्पण के लिए विवश कर दें,
उसकी गित में वह ग्रधीरता भी नहीं कि राह में ग्राने वाली प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक,
पारिवारिक बाधा को कुचलती हुई वह ग्रागे बढ़ जाए। वियोग में भी राधा का हृदय
दीपक की ली की माँति मंद-मंद गित से धधकता है; यही कारण है कि जहाँ विद्यापित
की राधा प्रिय-मिलन के लिए स्वर्ग तक की दौड़ लगाने के लिए तैयार है, वहाँ सूरदास
की राधा दो-चार कोस की दूरी को भी लाँघ पाने में ग्रसमर्थ है। किन्तु जहाँ विद्यापति की नायिका का हृदय बरसाती नाले की गाँति उफनकर शीघ्र ही सूख जाता है,
वहाँ सूर की राधा का प्रणय उसके समस्त जीवन की गुप्त निधि बनकर हृदय की गहराई में वैठ जाता है।

रीतिबद्ध कवियों की नायिका

रीतिवद्ध शृंगार किवयों की नायिका का कोई एक रूप नहीं है। स्रावश्यकतानुसार वह प्रेयसी भी है और पत्नी भी है, स्वकीया भी और परकीया भी। वस्तुतः
नारी के सभी रूपों और सभी श्रवस्थाओं में उसका चित्रण हुआ है। स्वकीया के रूप में
उसे एक रसिक, रूप-लोभी, शठ नायक पति के रूप में प्राप्त होता है; यौवन एवं सौंदर्य
के प्रथम प्रकाश में वह उसके रूप वैभव का माधुयं लूटता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

द्युति मंद पड़ती जाती है, नायक किसी ग्रीर का वन जाता है। फलत: विवश पराघीन नारी को-पत्नी को-ग्रपने हाथ की चार चुड़ियों (सीमाग्य-चिन्ह) पर ही संतोष करना पड़ता है।

दूसरे रूप में वह विवाहिता परकीया है-ग्रतः उसे प्रेयसी न कहकर व्यभि-चारिगा कहना उपयक्त होगा। उसका व्यभिचार रूपी प्रेम भी स्थायी नहीं होता था. कुछ दिनों तक संकेत-स्थलों पर पहुँचने वाली परकीया को ग्रंत में विप्रलब्धा-विता —वनने को विवश होना पड़ता था। वस्तुत: पुरुष वर्ग की विलासिता के कारए पत्नी ग्रीर प्रेयसी दोनों रूपों में उसकी स्थिति विषम थी । यह भी एक ध्यान देने की बात है कि रीति-कालीन काव्य में अविवाहिता प्रेयसियों के प्रेम के चित्रण का अभाव है-संभवतः इसका कारएा बाल-विवाह का प्रचलन है।

द्विवेदीयुगीन राधा

द्विवेदीयुगीन राधा समाज-सेविका के सब गुएों से सम्पन्न होकर उपस्थित होती है। वह ग्रपने व्यक्तिगत प्रेम की विश्व-हित के लिए बलि दे देती है, किन्तु ग्रनुकूल वातावरए एवं घटनात्रों के अभाव में; ग्रतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विकास ग्रसंगत है। द्विवेदी यग के कवियों ने गांधी-युग के ब्रादशों को महाभारत युग की नारी पर शोपने का प्रयत्न किया है, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

प्रेमाख्यानकों की नायिका

राधा के ग्रतिरिक्त हिन्दी-काव्य जगत् की ग्रन्य नायिकाग्रों में प्रेमाख्यानों की नायिकात्रों—पद्मावती, मधुमालती, हंसावती, इन्द्रावती ग्रादि—का महत्वपूर्णं स्थान है। पौरािएक राधा की ग्रपेत्ता प्रेमाख्यानों की प्रेयसियाँ ग्रधिक सौमाग्यशालिनी हैं। वे पुरुष को ग्रनायास ही-विवाह के केवल एक धागे की कीमत पर या दूतिकाग्रों द्वारा भेज गए एक सन्देश के बल पर ही-प्राप्त नहीं हो जातीं, उनकी प्राप्ति के लिए नायक को प्राणों की बाजी भी लगानी पड़ती है, ग्रतः इतने प्रयत्न से प्राप्त सुन्दरी को नायक एकाएक नहीं त्याग सकता । ग्रस्तु, वे ग्रपने जीवन के ग्रन्त तक ग्रपंने प्रिय का सान्निष्य ग्रीर प्रेम प्राप्त करती रहती हैं।

जहाँ ग्रन्य भारतीय काव्यों में पुरुष को नारी से ग्रधिक कामुक एवं विलासी प्रदर्शित किया जाता है, वहाँ प्रेमाख्यानों की नायिकाएँ नायक से भ्रधिक कामंवती दृष्टि-गोचर होती हैं। जायसी की पद्मावती के प्रेम के मूल में भावना की अपेचा वासना की प्रेरणा अधिक है।

> सुनु हीरामन कहाँ बुभाई। दिन-दिन मदन सतावै आई।। देस-देस के बर मोहि ग्रावींह । पिता हमार न ग्रांख लगावींह ।। जोबन मोर भयउ जल गंगा। देह देह हम्ह लाग प्रनंगा।।

X जोवन ग्रस्ट-सैमन्जgब्ता कोई Naसाने क्रिक्ता, जोवा कर्म कुस होई ।।

कंवल भवर श्रोही बन पावै। को मिलाइ तन तपनि बुभावै।।

'पद्मावती' के प्रेम में हृदय का आवेग कम है, यौवन का ज्वार अधिक; उसमें मन की प्यास की अपेचा शरीर की तपन बुक्ताने की लालसा ही अधिक व्यंजित हुई है।

ग्रस्तु, प्रारम्भ में ये नायिकाएँ कामोन्माद, रूप-गर्व एवं स्वार्थपरता से ग्रस्त दिखाई पड़ती हैं, किन्तु ग्रागे चलकर नायक के त्याग एवं विलदान से इनमें भी सच्चे प्रेम का विकास हो जाता है।

'रासो' काव्य की राधा

पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो ग्रादि काव्यों की नायिकाएँ सामन्तवादी दृष्टिकोएा को प्रस्तुत करती हैं। वे ग्रपने यौवन एवं सौंदर्य की प्रसिद्धि के बल पर किसी नरेश या राजकुमार के लोम की वस्तु बन जाती हैं। वे किसी प्रकार—युद्ध या बलात् अपहरएा के द्वारा—उन्हें प्राप्त कर लेते हैं। रंगमहलों में पहुँचकर उनका जीवन सामन्त की इच्छाग्रों का श्रनुवर्ती बन जाता है। जब तक उनमें यौवन का ग्राकर्षएा रहता है, उनके जीवन में चाँदनी रातें रहती हैं, किन्तु नायक के दूसरा विवाह कर लेते ही या प्रौढ़ावस्था के साथ इनका भाग्य-दीपक बुक्त जाता है।

श्रपने रए।-वाँकुरे पित के हृदय पर चिर ग्रिधकार पाने की कल्पना तो ये कर ही नहीं सकतीं; ग्रपने सौन्दर्य, यौवन, ग्रनुनय-विनय तथा चाटुकारिता के बल पर रंगमहल की ग्रनेक सपित्यों के बीच-यदा-कदा-उसका रात्रि मर के लिए सहवास प्राप्त कर लेना ही इनके लिए बहुत है। हाँ, यदि ग्रपनी ग्रल्हड़ता के कारए। वे कभी ग्रपने शेखी बघारने वाले योद्धा पित के सम्मान में कोई चूक कर बैठती हैं, या उसकी किसी डींग का खंडन कर बैठती हैं, तो बीसलदेव की पत्नी राजमती की माँति उन्हें इसका कड़ा दंड—दीर्घ वियोग—भी सहन करना पड़ता है।

वस्तुतः जायसी के बादल के शब्दों में—इन सामंत पतियों के लिए नारी का मूल्य तलवार के एक वार से ग्रिधिक नहीं है। स्वच्छन्द प्रेमी कवियों की नायिका

मध्यकालीन स्वच्छन्द प्रेमी किवयों घनानन्द, बोधा ग्रादि--ग्राधुनिक युगीन छायावादी किवयों का नायिका के प्रति लगभग एक-सा ही दृष्टिकोएा है; दोनों युगों के ही किवयों ने नायिका के व्यक्तित्व के सूक्ष्म गुणों को ग्रधिक महत्व दिया है---

लाजिन लपेटी, चितविन भेद भाय भरी, लसित लिलत लाल चल तिरछानि मैं। छवि को सदन गोरो वदन रुचिर भाल, रस निचुरत मीठी मृदु मुसुक्यानि मैं।

श्रंग श्रंग तरंग उठे दुति की, परिहे मनों रूप श्रवे घर च्वे ॥

× × ×

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि, वहै लड़कीली बानि भ्रानि उर में भ्ररित है। वहै गति लैन भ्रो बजावनि ललित बैन, वहै हँसि दैनि हियरा ते न टरित है।

— घनानन्द

यहाँ यह व्यान देने की वात है कि किव ने नायिका के रूप-सीन्दर्य की ग्रिमव्यक्ति के समय उसके गरीर के स्थूल ग्रवयवों की विशालता या गुरुता का परिमारा
प्रस्तुत नहीं किया है, यहाँ तक कि जिन ग्रंगों का ग्रन्य शृंगारी किव वारम्बार उल्लेख
करके ग्रपनी कामुकता का परिचय देते हैं, उनका यहाँ संकेत मी नहीं है। ग्रस्तु, प्रेम
की इसी स्वच्छन्दता के कारए। इस प्रेमिका का ग्रत्यन्त सूदम, निर्मल एवं मनोमुग्यकारी रूप में चित्रए। हुग्रा। उसे ग्रपने प्रेमी से पूरा सम्मान एवं पूरा प्रेम प्राप्त होता
है। यद्यपि समाज की वाधाग्रों के कारए। वह प्रएाय में सफल नहीं हो पाती, किन्तु उसे
कम-से कम यह संतोष ग्रवश्य रहता है कि कोई उसकी याद में तड़प रहा है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी काव्य में नारी के रूप-वैभव की श्रिमिव्यक्ति तो पर्याप्त मात्रा में हुई है, किन्तु उसके व्यक्तित्व का समुचित विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, इतना श्रवश्य है कि विद्यापित, सूर, देव, पद्माकर, हरिश्रोध श्रादि के द्वारा चित्रित राधा के विभिन्न रूपों, जायसी की पद्मावती, नरपित नाल्ह की राजमती या घनानन्द की 'सुजान' श्रादि के रूप में हमें विभिन्न युग के विभिन्न वर्गों के नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण का बोध हो जाता हैं। इन रूपों के श्राधार पर तत्कालीन समाज की परि-स्थितियों को एवं तत्कालीन नारी की श्रवस्था को समभने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

:: पचास ::

हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता की भावना

- १. राष्ट्रीयता का स्वरूप-एक विश्लेषएा।
- २. प्राचीन रस सिद्धान्त ग्रौर राष्ट्रीयता ।
- ३. हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना—(क) प्राचीन हिन्दी-काव्य, (ख) ग्राधुनिक हिन्दी-काव्य—भारतेन्दु, मैथिलीशरएा गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुमद्रा-कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी।
- ४. उपसंहार।

5. ...

हमारे प्राचीन आचार्यों ने भाव-विवेचन के अन्तर्गंत राष्ट्रीयता जैसे किसी भाव का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु विगत इतिहास से सिद्ध है कि राष्ट्रीयता भी एक प्रवल माव है। अपने ही देश में हमने अनेक युवकों एवं महापुरुषों को राष्ट्रीयता की बिलवेदी पर अपना सर्वस्व समर्पित करते देखा है। इसकी प्रवलता तो इसी से सिद्ध है कि कई बार राष्ट्रीयता की प्रेरेगा के सम्मुख अन्य स्थायीभाव—वात्सल्य, रित, शोक आदि—फीके पड़ गए हैं। स्वातंत्र्य-आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों का अपने दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन को ठुकराकर राष्ट्रीयता की आग में कूद पड़ना यही सिद्ध करता है कि राष्ट्रीयता का भाव कभी-कभी अन्य सभी प्रमुख भावों से ऊपर उठ जाने की भी चमता से युक्त है, फिर भी हमारे सामने दो प्रश्न हैं—एक तो यह है कि ऐसे सवल भाव का प्राचीन श्राचार्यों ने उल्लेख क्यों नहीं किया, और दूसरे, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनका स्वरूप क्या है या यों कहिए कि इसे किस रस में स्थान देना उचित है ? हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता का अन्वेषगा करने से पूर्व इन दो पर विचार कर लेना आवश्यक है।

मारतीय ग्राचार्यों ने रस-सिद्धान्त के ग्रन्तर्गत मावों का सूदमातिसूदम विवेचन करते हुए उन्हें मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) स्थायीमाव या मावना ग्रौर (२) संचारी माव। स्थायीमावों के ग्रन्तर्गत—नौ, दस या ग्यारह—मावों की चर्चा की गई है उनमें 'राष्ट्रीयता' का नाम नहीं ग्राता। इसके दो कारण हैं—एक तो हमारे ग्राचार्यों ने स्थायी भाव के ग्रन्तर्गत चिरन्तन भावनाग्रों का ही उल्लेख किया है, जिनका मानव-हृदय की मूल प्रवृत्तियों से गहरा सम्बन्ध है। 'राष्ट्रीयता' सर्वकालीन ग्रौर सार्वलौकिक माव नहीं है, ग्रतः उसका उल्लेख न होना स्वामाविक ही था। दूसरे, हमारी प्राचीन संस्कृति में राष्ट्रीय एकता की भावना ग्राधुनिक राष्ट्रीयता के रूप में प्रायः ग्रविकसित रही, ग्रतः उसकी कल्पना करना संमव नहीं था। राष्ट्रीयता भौगोलिक एवं राजनीतिक सीमाग्रों पर श्रवलम्बित तथा विश्व-बन्धुत्व की व्यापक भावना से СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

संकीर्ण होती है, जविक भारतीय संस्कृति में मानव-समूहों को धर्म, जाति, समाज ग्रीर मानवीय गुगों की दृष्टि से ही देखा जा रहा है। मानव जाति के विभिन्न वर्गों को ग्रार्य श्रीर अनार्य, धर्मात्मा श्रीर पापी, हिन्दू श्रीर श्रहिन्दू, ब्राह्मण श्रीर श्रवाह्मण के दृष्टि कोएा से तो देखा, किन्तू भारतीय ग्रीर ग्रभारतीय के दृष्टिकोएा की प्राय: उपेक्षा की । इस दृष्टिकोएा के श्रविकसित रहने का कारए हमारी भोगोलिक एवं ऐतिहासिक परिस्थि-तियों में ढूँढा जा सकता है। राष्ट्रीयता की भावना का विकास प्राय: उन छोटे-छोटे राज्यों में ग्रधिक शीघ्रता से होता है जिनमें धर्म, संस्कृति एवं भाषा की एकता हो । या जिन देशों के निवासियों को सामूहिक रूप से विदेशों की सत्ता का सामना करना पडता है, वहाँ भी राष्ट्रीयत का भाव विकसित हो जाता है । ये दोनों ही बातें भारत पर लागू नहीं होती । हाँ, मुसलमानी राज्य ग्रौर ग्रंग्रेजी शासन के दिनों में ग्रवश्य हमें किसी विधर्मी या विदेशी सत्ता की ग्रधीनता का ग्रनुभव सामूहिक रूप से हुग्रा, ग्रतः कुछ काल के लिए हममें राष्ट्रीयता का संचार हुम्रा, जो कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्राय: विलुप्त-सा हो गया । ध्यान रहे, राष्ट्रीयता का स्फुरए प्रायः ऐसे ही ग्रवसरों पर होता है, जबिक समस्त राष्ट्र का सामूहिक रूप से किसी अन्य राष्ट्र से संघर्ष हो । यदि आज हमारा पाकिस्तान या चीन से युद्ध छिड़ जाता है तो निश्चित रूप से हमारे हृदय में राष्ट्रीयता की लहर उद्दे लित होने लगेगी।

यद्यपि राष्ट्रीयता का रूप सभी देशों ग्रीर सभी कालों में एक-जंसा नहीं रहा है, किन्तु इससे मिलती-जुलती भावना प्रायः सभी जातियों के इतिहास में मिलती है। ग्रायं जाति की रचा के लिए रावएा के विरुद्ध राम के द्वारा किया गया युद्ध, या सोमनाथ की रचा के लिए उत्तरी भारत के ग्रनेक प्रमुख चित्रय-नरेशों द्वारा किया गया युद्ध, या चित्तौड़गढ़ के मान के लिए किए गए 'जौहर व्रत', या महाराएगा प्रताप की ग्रकबर के ग्रागे सिर न भुकाने की प्रतिज्ञा; या गुरु तेगबहादुर का हिन्दू धर्म के लिए दिया गया 'शीशदान'; या वीर हकीकतराय का जीते-जी दीवार में चुना जाना स्वीकार किया जाना—ये सब घटनाएँ उसी व्यापक भावना से ग्रनुप्रािएत हैं, जिसे हम चाहे जाति-रच्चा की भावना कहें या धर्मरच्चा ग्रीर राष्ट्ररच्चा की भावना किन्तु, उसका मूल रूप

सर्वत्र एक ही है।

'राष्ट्रीयता' को हम किस रस में स्थान दें? राष्ट्रीयता का ग्रर्थ देश-प्रेम भी किया गया है, ग्रतः कदाचित् कुछ विद्वान इसे रित भाव से सम्बन्धित मानें। ग्रपने देश की दुर्दशा को देखकर भी राष्ट्रीयता का संचार होता है, ग्रतः उसे 'करुणा' से भी सम्बन्धित बताया जा सकता है। देश-प्रेम के लिए संघर्ष ग्रीर युद्ध भी किया जाता है, ग्रतः इसे वीर-रस में स्थान देने की बात भी सोची जा सकती है। देश के सुधार के लिए क्रान्ति का—इन्कलाब जिन्दाबाद—का ग्राह्वान भी किया जाता है, ग्रतः इसे 'रौद्र रस' में स्थान देना भी उचित है। देश-प्रेम से ग्रमिभूत व्यक्ति ग्रपने देश पर ग्रत्याचार करने वाले विदेशियों को घृणा की दृष्टि से देखता है, ग्रतः इसे घृणा या जुगुप्सा के ग्राधार पर विकसित होने वाले भाव वीभत्स में भी स्थान देने की कल्पना की जा सकती है। ग्रपने देश पर भारी विवित्ति की भाषा स्थान से भी स्थान देने की कल्पना की जा सकती है।

से भी इसका सम्बन्ध है। भारत माता की पूजा करने वाले देशमक्तों को ध्यान में रखते हुए इसे 'भिक्त-रस' का भी दूसरा रूप बताया जा सकता है। इस प्रकार प्रायः सभी रसों से इसका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, जो इसकी व्यापकता को सूचित करता है, किन्तु हमारी मूल समस्या का समाधान इनसे नहीं होता।

हमारे विचार से राष्ट्रीयता के मूल में आतम-गौरव एवं जाति की रचा के उत्साह का भाव रहता है, ग्रतः इसे 'वीर रस' के अन्तर्गत लिया जाना चाहिए। वीर रस के प्रायः सभी संचारियों ग्रौर ग्रनुभावों का विकास राष्ट्रीयता में भी होता है—अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीयता वीर रस का ही एक रूप है।

हिन्दी काःय में राष्ट्रीयता

हिन्दी-काव्य में राष्टीयता के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं, एक तो विदेशी मुस्लिम आक्रमराकारियों ग्रीर उनके वंशजों के अत्याचार के विरुद्ध ग्रीर दूसरा ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रिया के रूप में । हमारे प्राचीन काव्य (ग्रादिकाल से रीतिकाल तक) में पहला रूप उपलब्ध होता है, जबिक ग्राधुनिक काव्य में दूसरा । यहाँ क्रमशः दोनों पर प्रकाश हाला जाता है ।

(क) प्राचीन हिन्दी-काव्य—हिन्दी की ग्रनेक ग्रारम्भिक एवं मध्यकालीन रच-नाग्रों में वीर रस का चित्र ए तो पर्याप्त मात्रा में हुग्रा है, किन्तु उसमें राष्ट्रीयता का व्यापक मात्र सर्वंत उपलब्ध नहीं होता । महाकि चन्द वरदायी के काव्य - पृथ्वीराज रासो— में विभिन्न यृद्धों का ग्रायोजन व्यक्तिगत द्वेष के ग्राधार पर होता है, ग्रतः उसमें राष्ट्रीयता का विकास नहीं मिलता । हाँ, केवल जाति-गौरव के रूप में उसकी व्यंजना ग्रवश्य उसमें यत्र-तत्र मिलती है

'करतार हथ्य तलवार दिय, इह सु तत्त रजपूत कर।
अर्थात् करतार ने हाथ में तलवार दी है ग्रौर यही राजपूत के लिए तत्व है।
या—''कहै राज प्रथिराज, मरन छित्रय सत निद्धि।''

 X
 X

 राजपूत मरन संसार घर

 X
 X

वस्तुतः रासो का रचयिता राजपूती गौरव से अधिक ऊँचा नहीं उठ पाता । उसकी दृष्टि इतनी अधिक संकुचित है कि पृथ्वीराज और गोरी के संघर्ष को भी जातीय या राष्ट्रीय संघर्ष के रूप में नहीं देख पाता ।

मध्यकाल में राजस्थान के ग्रनेक डिंगल किवयों ने जातीय गौरव से ग्रनुप्राणित मुक्तक छन्दों की रचना की है। उस युग में समस्त हिन्दू गौरव के प्रतिनिधि एवं प्रतीक महाराणा प्रताप थे। इन किवयों ने इसी महापुरुष को ग्रालम्बन बनाकर काव्य-रचना की है। बीकानेर के महाराजा पृथ्वीराज ने व्यक्तिगत रूप से ग्रकबर की प्रभुसत्ता को मान्यता दे दी थी, किन्तु उनकी दृष्टि में जब तक महाराणा प्रताप स्वतन्त्र थे, हिन्दु-गौरव की पताका मुक्त रूप से फहरा रही थी।। जब उन्होंने सुना कि महाराणा प्रताप

भी अकवर की अधीनता स्वीकार कर रहे हैं तो उन्हें लगा, मानों हिन्दू-गौरव का सूर्यं अस्त हो रहा है, अतः इस अवसर पर उन्होंने महाराएगा प्रताप को लिखा—

पटकूँ मूँछाँ पारा कै पटकूँ निज तन करद। दीजे लिख दीवारा, इरा दी महली बात इक।

श्चर्यात् हिन्दू-गौरव श्रकबर के श्चागे नत-मस्तक हो गया है, यह सोचकर श्चपनी मूँछें नीची कर लूँ या श्चपने तन में कटारी मोंक लूँ। दीवान (महाराणा की उपाधि)! इन दो में से एक वात लिख दीजिए।

विदेशी विधर्मियों के वंशजों के आगे सिर न भुकानेवाली राष्ट्रीय स्वन्तत्रता के प्रहरी महाराएग प्रताप के यशोगान में इन राजस्थानी किवयों की वाएगी मुक्त रूप से फूट पड़ी है। अकबर के दरवारी होते हुए भी प्रताप का यशोगान करना इसकी साहसशीलता का परिचायक है। श्री पृथ्वीराज राठौर ने अपने अनेक दोहों में अभारतीय सत्ता के प्रतीक अकबर की निन्दा और प्रताप के गुएगों की प्रशंसा वारम्वार की है—

श्रद्दरे श्रमविरयाह, तेज तुहालो तुरकड़ा। नम नम नीसरियाह. राग बिना सह राजवी। माई एहड़ा पूत जग, जेहड़ा रागा प्रताप। श्रमवर सूतो श्रोभकै, जाग सिरागै साँप।।

जासौ हाट बात रेहसी जग, प्रकवर ठग जासी एकार ! है राख्यो खत्री ध्रम राखेँ सारा ले बरती संसार !!

पृथ्वीराज की भाँति डिंगल के श्रन्य प्रसिद्ध किव दुरसाजी ने भी प्रताप की प्रशंसा में श्रनेक मार्मिक दोहों की रचना करके श्रपने जातीय प्रेम का परिचय दिया है—

श्रकबर गरब न श्रांण, हिंदू सह चाकर हुआ। वीठो कोई दीवाए, करती लटका कटहडे। श्रकबर पत्थर श्रनेक, के भूपत भला किया। हाथ न लागों हेक, पारस राए प्रताप सी। श्रकबर समन्द श्रथाह, तिहूँ डूबा हिंदू तुरक। मेवाड़ी तिएा माँह पोयएा। फूल प्रताप सी।।

कहा जाता है कि महाराएगा प्रताप के देहावसान का समाचार दुरसाजी ने उस समय सुना, जबकि वे श्रकबर के दरबार में थे। उक्त श्रवसर पर मरे दरबार में प्रताप की गौरव-गाथा का गुएा-गान करते हुए दुरसाजी ने यह छप्पय कहा—

श्रस लेगों श्राग्दाग, पाघ लेगों श्राग्नामी।
गौ श्राड़ा गवड़ाय, जिकों बहती घुर वामी।
नवरोजे नह गयो न गौ श्रातसां नवल्ली।
न गौ भरोखां हेठ, जेथ दुनियांगा दहल्ली।।
गहलोत राग् जीती गयो, दसगा मंद रसना डसी।
CC-0. Janganwadi Math Collection, Varanasi.
नीसास मूक भरिया नयग, तो मृत साह प्रताप सी।।

मले ही ग्राज का ग्रालोचक प्रताप के इस यशोगान को राष्ट्रीयता से ग्रोत-प्रोत न माने, किन्तु इसमें उस जातीय गौरव की व्यंजना ग्रवश्य मिलती है, जो कि राष्ट्री-यता का प्राण है। व्यान देने की बात यह है कि वैभव एवं ऐश्वर्य के दाता ग्रकवर को छोड़कर जंगलों में भटकनेवाले प्रताप की प्रशंसा उन्होंने किसी व्यक्तिगत लाभ की ग्राशा से नहीं की। यदि उनमें जातीयता की व्यापक भावना न होती, तो सम्राट ग्रकवर के विरोधी के लिए ऐसे प्रशंसात्मक शब्दों का प्रयोग ग्रसम्भव होता।

मध्यकाल में महाराएगा प्रताप के ग्रनन्तर हिन्दू राष्ट्रीयता के संरक्षक छत्रपति शिवाजी एवं महाराएगा छत्रसाल रहे। इन दोनों महापुरुषों को ग्रालम्बन मानकर महा-किव भूषएग ने ग्रोजस्वी काव्य की रचना की। कुछ विद्वानों के विचार से भूषएग ने मुस्लम जाति के लोगों के लिए हलके शब्दों का प्रयोग किया है, ग्रतः उनमें राष्ट्रीय भावना का स्फुरएग नहीं माना जा सकता, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। उस युग में ग्रीरंगजेब के ग्रत्याचारों के कारएग देश की बहुसंख्यक हिन्दू जनता दुखी हो रही थी—हिन्दू धमं ग्रौर हिन्दू संस्कृति खतरे में पड़ गई थी, ऐसी स्थिति में शिवाजी ने जो कार्य किया वह राष्ट्रीय महत्व का था। दूसरे, महाकवि भूषएग शिवाजी की प्रशंसा उनके व्यक्तिगत वैभव के ग्राधार पर नहीं करते, ग्रिपतु उन्होंने उन्हें राष्ट्र के रूप में चित्रित किया है—

वेद राखे विदित पुरान परिसद्ध राखे, राम नाम राख्यो ग्रिति रसना सुघर में । हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की, कांघे में जनेऊ राख्यो, मालाराखी गर में । मीड़ि राखे मुगल, मरोड़िराखे पातसाह, बैरी पीसि राखे, वरदान राख्यो कर में । राजन की हद्द राखी तेगबल सिवराज, देव राखे देवल स्वधमं राख्यो गर में ।

यह भी घ्यान रहे, भूषएा ने प्रारम्भिक मुगल शासकों की प्रशंसा भी की है-बब्बर प्रकब्बर हुमाऊँ हद्द बाँध गये दो में एक करी न कुरान-वेद ढब की।

डाँ० विमलकुमार जैन ने लिखा है — "भूषण मुसलमानों के विरोधी नहीं थे, वरन औरंगजेव के विरोधी थे, जिसने अपने पूर्वंजों के बनाए हुए सुन्दर मार्ग को छोड़-कर हिन्दुओं पर आपत्तियों के पहाड़ ढा दिए थे। " भूषण जाति द्वेष के शिकार नहीं थे, वरन एक सच्चे राष्ट्र-भक्त थे।" (हि० सा० रत्नाकर, पृ० १७६)

मध्यकाल में इन किवयों के ग्रितिरिक्त गोरेलाल, सूर्यमल मिश्र, जोधराज ग्रादि ने भी वीर-भावनाग्रों की व्यंजना की है, जिसमें धन्न-तत्र ग्रात्म-गौरव एवं जाती-यता का स्फुरएा भी दृष्टिगोचर होता है।

आधनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता

ग्राधुनिक हिन्दी-काव्य का तो विकास ही उस समय हुग्रा, जबिक समूचे राष्ट्र में ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध स्वतन्त्रता का ग्रान्दोलन चल रहा था, ग्रतः ग्राधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीयता की व्यंजना होना स्वामाविक था। मारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रौर उनके युग के ग्रन्य कवियों ने राष्ट्र की दुर्दशा का चित्रण करते हुए भारत की जनता को जागृत करने का प्रयत्न किया है। भारतेन्दु की कुछ किवताग्रों में तो राष्ट्रीयता का स्वर बहुत तेज हो गया। श्रंग्रे जों की श्रफगान-विजय पर उहोंने 'विजय-वल्लरी' किवता लिखी, जिसमें विदेशी शासकों की श्रलोचना स्पष्ट रूप से की गई है—

> स्ट्रैची डिजरेली लिटन चितय नीति के जाल । फि.स. भारत जरजर भयो काबुल-युद्ध श्रकाल ।। सत्रु सत्रु लड़वाइ दूर रीह लिखय तमासा । बल देखिये जाहि ताहि मिलि दीजै श्रासा ॥

भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का चेत्र बहुत व्यापक है। उन्होंने अपने देश के सब धर्म-सम्प्रदायों, सभी भाषाग्रों और सभी वर्गों के साथ प्रेम प्रदर्शित किया है। साथ ही उन्होंने स्वदेशी भाषा, स्वदेशी वस्त्रों ग्रीर स्वराज्य का समर्थन भी बारम्वार किया है। इस सम्बन्ध में हमने विस्तृत रूप से चर्चा इसी पुस्तक के एक ग्रन्य निवन्ध 'भारतेन्दु काव्य साधना' में की है।

द्विवेदी युग के ग्रनेक किवयों ने राष्ट्रीयता की भावना व्यंजित की है, जिनमें मैथिलीशरए। गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चीहान ग्रीर सोहनलाल द्विवेदी उल्लेखनीय हैं। गुप्तजी की राष्ट्रीयता का मार्मिक रूप 'भारत-भारती' में दृष्टिगोचर होता है। उसकी यह प्रारम्भिक पंक्ति—''हम कीन थे, क्या हो गए ''ग्राग्रो विचारें हम सभी।'' ही पाठक के हृदय में राष्ट्रीयता का संचार कर देती है। इसके ग्रतिरिक्त गुप्तजी ने ग्रपने काव्य-ग्रन्थों में भारत के प्रायः सभी धर्म-सम्प्रदायों को सहानुभूतिपूर्वंक स्थान दिया है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी में राष्ट्रीयता का स्वरूप श्रंग्रेज शासकों के प्रति विद्रोह रूप में प्रस्फुटित हुग्रा है। उन्होंने श्रपनी कविताश्रों के द्वारा श्रनेक युवकों को राष्ट्र के लिए श्रात्म-बलिदान की प्रेरगा दी है। उनकी 'जवानी' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

द्वार बिल का खोल चल भूडोल कर दें, एक हिमगिरि एक सिर का मोल कर दें! मसल कर ग्रपने इरादों सी उठाकर, दों हथेली हैं कि पृथ्वी गोल कर दें! रक्त है ? या नसों में बुद्र पानी, जाँच कर तू सोस दे देकर जवानी!

यद्यपि यहाँ केवल शौर्य भाव की व्यंजना है, किन्तु इसका लच्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता होने के कारण इसे राष्ट्रीयता का ही ग्रंग मान सकते हैं।

'खूब लड़ी मरदानी वह तो फाँसीवाली रानी थी।' जैसी ग्रोजपूर्ण किवताग्रों की रचना करनेवाली प्रसिद्ध कवियत्री सुभद्राकुमारी चौहान ने ग्रपने गीतों में युवकों को स्वतन्त्रता के लिए मर मिटने का ग्रह्लान किया है। वे बहिन के रूप में ग्रपने देश के भाइयों को चुनौती देती हुई कहती हैं—

श्राते हो भाई ! पुनः पूछती हूँ — विषमता के बंधन की है लाज तुमको ? तो बंदी बनो, देखो बन्धन है कैसा, चुनौतो यह राखो की है श्राज तुमको ॥ इसी प्रकार की प्राप्त की स्थान की स्थान की स्थान तुमको ॥ श्राज तुम्हारी लाली से माँ के मस्तक पर हो लाली ।

काली जंजीरें टूटें, काली जमुना में हो लाली ।।

जो स्वतन्त्र होने को हैं पावन दुलार उन हाथों का ।

स्वीकृत है, मां की वेदी पर पुरस्कार उन हाथों का ।

श्री सोहनलाल द्विवेदी ने गांधीवाद ग्रौर राष्ट्रीयता का चित्रण ग्रनुभूतिपूर्ण गब्दों में किया है। 'भैरवी'' में वे एक ग्रोर तो भारत के ग्रतीत गौरव का स्मरण करते हैं ग्रौर दूसरी ग्रोर ग्रपने देशवासियों को जागृति का संदेश देते हैं—

भूल गए क्या रामराज्य वह जहां सभी को सुख था अपना ।

× × ×

जागो हिन्दू मुगल मरहठे, जागो मेरे भारतवासी । जननी की जंजीरें बजतीं, जाग रहे कड़ियों के छाले । सुना रहा हूँ तुम्हें भैरवी, जागो मेरे सोने वाले ।।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के किवयों ने देश-प्रेम की अभिव्यक्ति अनेक किवताओं में की है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि सन् १६२० से लेकर १६४७ तक के स्वातंत्र्य-आन्दोलन की पूरी भलक हिन्दी के किसी प्रवन्ध-काव्य में विलदान की तुलना में हमारे किवयों की रचनाएँ हलकी ही पड़ती हैं। गुप्त, प्रसाद, पंत और निराला जैसे किवयों ने अनेक युवकों को फाँसी के तब्ते पर भूलते देखकर भी उसका स्पष्ट रूप से चित्रण अपने काव्य में नहीं किया। विशेषतः छायावादी किव तो राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रायः विमुख से ही रहे।

श्रव जबिक हमारा राष्ट्र स्वतन्त्र हो गया है तो राष्ट्रीयता की भावना का मंद पड़ जाना स्वाभाविक है। यह हमारे किवयों का कर्त्त व्य है कि जन-मानस में राष्ट्रीय भावों का स्फुरण करके उन्हें नव-निर्माण की ग्रोर ग्रग्नसर करें।

TEX.

ः इक्यावनः

हिन्दी-साहित्य में हास्य रस

- १. जीवन और साहित्य में हास्य का महत्व।
- २. हास्य ग्रौर मनोवैज्ञानिक विश्लेषरा।
- ३. हास्य रस की शास्त्रीय मीमांसा।
- ४. हास्य रस के भेद।
- ५. हास्य का रस-राजत्व।
- ६. भारतीय साहित्य में हास्य की परम्परा।
- ७. ग्रारम्भिक एवं मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में हास्य-वर्णन ।
- प्त. श्राधुनिक हिन्दी काव्य में हास्य—(क) कविता में, (ख) नाटक-साहित्य में, (ग) कथा-साहित्य में, (व) निवन्ध-साहित्य में।
- ६. उपसंहार।

जीवन ग्रीर साहित्य में हास्य के उपयोग ग्रीर महत्त्व को श्रनेक स्वदेशी ग्रीर विदेशी लेखकों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। डॉ॰ गुलाबराय ने एक स्थान पर लिखा है—''जो मनुष्य ग्रपने जीवन में कभी नहीं हँसा, उसके लिए रंभा-शुक-संवाद की शब्दावली में कहना पड़ेगा—'वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्'। वह मनुष्य नहीं। पुच्छ-विषाग्ग-हीन द्विपद पशु है, क्योंकि हँसना मनुष्य का विशेषाधिकार है। हिन्दी में हास्य रस पर शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत करनेवाले डॉ॰ बरसानेलाल चतुर्वेदी ने हास्य की उपमा लवग्ग से देते हुए लिखा है—''हँसना मनुष्य का स्वामाविक लच्चग्ग है। मोजन में विविध माँति के व्यंजनों का समावेश होने पर भी यदि उसमें लवग्ग का ग्रमाव हो, तो सारा मोजन लावग्यहीन फीका बन जाता है; उसी प्रकार जीवन में समस्त वैभव के होते हुए भी यदि हँसी का ग्रमाव हो तो जीवन मार-स्वरूप बन जाता है।'' हमारे विचार से हास्य को लवग्ग की माँति बताकर उसके साथ पूरा न्याय नहीं किया गया। लवगा से कई बार तिक्तता भी ग्रा जाती है, जबिक हास्य तो मिश्री की माँति माधुर्यंपूर्णं स्वाद का दाता सिद्ध होता है।

हास्य के कारए। व्यक्ति के व्यक्तित्व में ग्रनेक उपयोगी गुणों का विकास होता है। सबसे पूर्व शरीर-विज्ञान की दृष्टि से सोचें तो यह स्वास्थ्य को सुधारने वाला सिद्ध होता है। श्री केलकर के शब्दों में "जिस समय मनुष्य नहीं हँसता, उस समय श्वासो-च्छ्वास की क्रिया सीधी ग्रीर शांत रीति से होती है ग्रीर हँसने के समय उसमें एकदम व्यत्यय हो जाता है। परन्तु उस व्यत्यय का परिग्णाम श्वासोच्छ्वास की इन्द्रियों ग्रीर शरीर के रक्त-प्रवाह पर ग्रच्छा होता है।" डाँ० चतुर्वेदी ने स्पष्ट रूप में घोषित किया

है कि यदि संसार के लोगों को यह बात अच्छी तरह से मालूम हो जाय कि हास्य का हमारे स्वास्थ्य पर कितना अच्छा प्रभाव पड़ता है, तो फिर आधे से अधिक डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों आदि के लिए मिक्खयाँ मारने के सिवा और कोई काम हो न रह जाय। हास्य वास्तव में प्रकृति की सबसे बड़ी पुष्टई है। हास्य से पढ़कर वल-बद्ध के और जर्साह-बद्ध के और कोई चीज हो ही नहीं सकती। हास्य से ही हमारे शरीर में नवीन जीवन और नवीन बल का संचार होता है और हमारे आरोग्य की वृद्धि होती है। (हिन्दी साहित्य में हास्य रस; पृ० १३) हास्य-प्रिय व्यक्तियों के स्वभाव में एक ओर कोमलता और सरलता आती है तो दूसरी ओर उनमें कष्ट-सहन की चमता का भी विकास होता है। कार्लाइल (Carlyle) ने एक स्थान पर लिखा है— "No man who has once wholly and heartily laughed can be alogether irreclaimably bad. In cheerful, there is no evil".

ग्रर्थात् जिस व्यक्ति ने एक बार सच्चे हृदय से खुलकर हँस लिया, वह कदापि ग्रत्यन्त बुरा नहीं हो सकता। प्रसन्न-चित्त व्यक्तियों के हृदय में कोई बुराई नहीं रह सकती।

समाज की बुराइयों एवं त्रुटियों के निराकरण में भी हास्य एक अत्यन्त उपयोगी तत्व सिद्ध होता है। जाने हम अपनी किउनी बुराइयों को समाज की हँसी से बचने के लिए छिपाते हैं। समाज की अनेक असंगतियों पर हास्य का भय अप्रत्यच रूप से रोक लगाए रखता है। हिन्दों के प्रसिद्ध हास्य-लेखक श्री जो० पी० श्रीवास्तव ने हास्य के इस महत्व पर हास्यमयी शैली में अपने हास्योत्पादक विचार प्रकट करते हुए लिखा है— "यह वह अधिकार है, जो बड़-बड़ों के मिजाज चुटिकयों में ठीक कर देता है। यह वह कोड़ा है, जो मनुष्य को सीधी राह से बहकने नहीं देता। मनुष्य ही नहीं, धर्म और समाज का भी सुधारनेवाला है तो यही है....। स्पेन के सरवैग्टीज ने क्विकजोट की रचना करके यूरोप-मर के खुदाई फौजदारों की हस्ती मिटा दी। इंगलैग्ड के शेक्सपीयर ने अपने शाइलाँक द्वारा सूदखोरों की हुलिया बिगाड़ दी। फ्रांस के मौलियर ने अपने पैके मरफूरिये नामक चित्रों से तत्वज्ञानियों की खिल्ली उड़वाकर आरिस्टॉटिल से मत-भेद रखनेवालों को फाँसी के तख्ते पर से उतार लिया।" (हास्य रस, पृ० १२)

जिस हास्य रस का व्यक्ति के जीवन एवं समाज के विकास में इतना उपयोग है उसका महत्व साहित्य में भी न्यून किस प्रकार हो सकता है। क्या कला की दृष्टि से और क्या उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य में हास्य का महत्व अनुपमेय है? हास्य लेखकों को महत्ता पर विचार करते हुए पाश्चात्य लेखक थैकरे ने लिखा — "हास्य-प्रिय लेखक आपमें प्रीति, अनुकम्पा एवं कृपा के भावों को जागृत करके उनको उचित दिशा की और प्रवाहित करता है। असत्य, दंभ तथा कृत्रिमता के प्रति घृएा। और कमजोर, दरिद्र, दिलत और दुःखी पुरुषों के प्रति कोमल भावों को उदय करने में सहायक होता है। हास्य-प्रिय साहित्यकार निश्चित रूप से ही उदारशील होते हैं। वह तुरन्त ही सुख-दुःख से प्रवाहित हो जाते हैं वे अपने निकटवर्ती लोगों के स्वभाव को भली-भाँति समक्षने लगते हैं, एवं उनके हास्य, प्रेम, विनोद और अधु औं से सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं।" वस्तुहः हास्य व्यक्ति अभिन्न अभिन्न अभिन्न सम्मान को संचार

करने के साथ-साथ उसमें स्वस्थ, नितक एवं उपयोगी भावनाओं को भी विकसित करता है।

हास्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

हास्य की उत्पत्ति एवं उसके प्रेरक तत्त्वों पर हाँक्स, हरवर्ट स्पेन्सर, वर्गसाँ, मैंकडूगल, फायड श्रादि मनोवैज्ञानिकों ने सूच्म रूप से विचार किया है। हाँब्स महोदय के विचारानुसार हँसी ग्रपने गौरव की भ्रनुभूति से उद्भूत प्रसन्नता का प्रकाशन है। जब हम दूसरों की मूर्खता को देखते हैं तो उससे हमारी अपनी महत्ता का बोघ होता है—इसी से हमें हसी ह्या जाती है। यह मत भ्रांतिमूलक है। कई बार मनुष्य स्वयं अपनी भूल पर हुँस पड़ता है, श्रतः ऐसी स्थिति में हाँब्स (Hobbes) के मत को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? स्पेन्सर ने असंगति के निरीक्षण को हास्य का प्रेरक माना है। किन्तु सभी ग्रसंगतियाँ हास्य की सृष्टि में ग्रसमर्थ होती हैं, ग्रतः इस मत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। हैनरी बर्गसाँ ने हास्य के तीन कारण बताए हैं (१) हास्य के श्रालम्बन का समाज-प्रिय न होना, (२) ग्रालम्बन की श्रचेतना या श्रसावधानी श्रौर (३) म्रालम्बन की ग्रस्वाभाविक क्रियाएँ। मैक्डूगल ने हँसी को म्रति दुःख से बचानेवाली एक स्वाभाविक वृत्ति वताया है। फायड ने सभी वृत्तियों का मूल काम को बताया है, प्रतः हास्य को भी उन्होंने इसी से सम्बन्धित माना है। डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी ने उपर्युक्त मतों पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में हास्य के भ्रालम्बन के इन पाँच रूपों का उल्लेख किया है—(१) शारीरिक गुण, (२) मानसिक गुण, (३) घटना, कार्य-कलाप, (४) रहन-सहन, (५) शब्दावली । डा० चतुर्वेदी का यह विश्लेषण ग्रस्पष्ट-सा है। शारीरिक गुण, मानसिक गुण, घटना श्रादि तो सभी भावों करुणा, प्रेम के प्रेरक तत्त्व होते हैं; फिर हास्य रस के आलम्बन में कौन-सी विशेषता होती है-इसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया । हमारे विचार से हास्य के ग्रालम्बन में स्वाभाविकता, ग्रसंगति एवं विद्रूपता का एक ऐसा मधुर समन्वय होता है कि वह न तो इतना तीखा होता है कि उससे ग्रनिष्ट की ग्राशंका हो जाय ग्रीर न ही इतना कोमल होता है कि वह करुणोत्पा-पदक हो। उदाहरण के लिए यदि एक भिखारी ने अपनी देह को शीत से बचाने के लिए ग्रस्त-व्यस्त कपड़े पहन रखे हों, तो उससे हास्य का उद्रेक न होकर करुणा की उत्पत्ति होगी, जबिक एक घनी पुरुष ने यदि कोट उलटा पहन रखा हो तो वह हास्योद्रेक का कारण हो सकता है। हास्य के स्वरूप की मीमांसा विभिन्न काव्य-शास्त्रियों ने भी की है, जिसकी चर्चा भ्रागे की जाएगी।

हास्य रस की शास्त्रीय मीमांसा

रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक ग्राचार्य भरतमृति ने चार रसों को प्रमुख माना है—
श्रृङ्गार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स । उन्होंने इन रसों से ही क्रमशः चार ग्रन्य रसों की उत्पत्ति मानी है—हास्य, करुण, ग्रद्भुत ग्रीर भयानक । इस प्रकार भरतमृति के विचारान्तुसार हास्य की उत्पत्ति श्रृङ्कागृह हो हुई । श्रामे खहकह श्रुङ्किश्चुह्मा के रचियता ने भी भरत

का ही समर्थन किया है, किन्तु परवर्ती ग्राचार्यों ने हास्य को एक स्वतन्त्र रस स्वीकार किया है, जो उचित है। विभिन्न ग्राचार्यों ने हास्य के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की है—

(१) भरतमुनि-भरत के विचारानुसार दूसरों की चेष्टा के अनुकरण से 'हास'

उत्पन्न होता है-"'स्मितहासिवहसितैरिभनेयः" (ना० शा० ७।१०)

(२) ग्रिभिनव गुप्त—ग्रिभिनव गुप्त ने हास्य के विभावों के मूल में ग्रनौचित्य को कारण रूप में स्वीकार किया है—''ग्रनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ संभाव्यते।''

(३) घनंजय—घनंजय ने अपने 'दशरूपक' में हास्य की परिभाषा देते हुए लिखा है—''विकृताकृति वाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा। हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्य-स्त्रिप्रकृतिः स्मृतः।।''—चतुर्थं प्रकाश । ५७ । भ्रर्थात् स्वयं या दूसरे के आधार पर वाणी तथा वेष में विकार देखकर हास की उत्पत्ति होती है । हास इस स्थायी भाव का परिपोष हास्य रस कहलाता है । इस हास्य रस की तीन प्रकृतियाँ या तीन भेद होते हैं ।

(४) विश्वनाय—विश्वनाय ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में हास्य के सम्बन्ध में लिखा है—''विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत्। हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः।'' अर्थात् विकृत आकार, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि के नाट्यों से हास्य रस का आविर्भाव होता है। इसका स्थायी भाव हास है, वर्ण शुक्ल और अधिष्ठातृदेवता प्रमथ (शिवगण) है।

उपर्युक्त ग्रंशों से स्पष्ट है कि भारतीय ग्राचार्यों ने हास्य के मूल में मुख्यतः ग्रनु-कृति एवं विकृति ही स्वीकार किया है।

हास्य रस के भेद

धनंजय ने हास्य की तीन प्रकृतियाँ—ज्येष्ठ, मध्यम ग्रौर ग्रधम—मानते हुए उसके छः भेद बताए हैं—(१) स्मित हास्य वह है जहाँ खाली नेत्र हो विकसित हों। (२) हिसत वह है जहाँ दाँत कुछ दिखाई दें। (३) मधुर स्वर में हँसना विहसित कह लाता है। (४) सिर को हिलाकर हँसना ग्रपहिसत कहलाता है। (५) ग्राँखों में ग्राँस भर ग्रावें, इस प्रकार हँसना ग्रपहिसत होता है ग्रौर (६) ग्रंगों को फेंककर हँसना ग्रिव हिसत कहलाता है। इनमें दो-दो प्रकार के हिसत क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम तथा ग्रधम प्रकृति के होते हैं। संस्कृत के परवर्ती ग्राचार्यों में से ग्रनेक ने इस विभाजन को स्वीकार किया है, किन्तु हिन्दी के ग्राचार्य केशवदास ने ग्रपनी मौलिकता का परिचय देते हुए इन चार भेदों का उल्लेख किया है—(१) मंदहास, (२) कलहास, (३) ग्रतिहास ग्रौर (४) परिहास।

भारतीय ग्राचार्यों ने हास्य रस के भेदोपभेदों का उल्लेख हास्य के ग्राश्रय को व्यान में रखकर किया है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने हास्य के प्रभाव की दृष्टि से ये पाँच भेद किए हैं—(१) स्मित (Humour), (२) वाग्-वैदग्ध (Wit), (३) व्यंग्य (Satire), (४) वक्रोक्ति (Irony) ग्रौर (५) प्रहसन (Farce)। इन भेदोपभेदों के विस्तृत परिचय के लिए डाँ० चतुर्वेदी का शोध-प्रबन्ध—"हिन्दी साहित्य में हास्य रस", पठनीय है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

हास्य का रस-राजत्व

श्रृङ्गार के रस-राजत्व से श्राकर्षित होकर विभिन्न विद्वानों ने भी श्रपने-श्रपने प्रिय रसों को इस पद का ग्रधिकारी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हास्य रस के सम्र-र्थकों ने भी ऐसा किया है, जिनमें दो नाम उल्लेखनीय हैं-(१) श्री केलकर, (२) श्री वरसानेलाल चतुर्वेदी । हमारी समभ में हास्य को रस-राज सिद्ध करने का प्रयास वाल-शिशु को सम्राट् पद पर प्रतिष्ठित करने के तुल्य है। शृङ्कार को रस-राज की पदवी मुख्यतः उसकी इस तीन विशेषताग्रों के कारण प्राप्त है-एक तो उसका ग्राधार वह काम-प्रवृत्ति है, जिसका उन्मेष एवं विकास पशु-पक्षियों तक में भी पाया जाता है। दूसरे, शृङ्गार रस में सभी संचारी भावों का समन्वय प्रसंगानुकूल हो सकता है। तीसरे, श्रृङ्कार रस का प्रत्येक श्रवयव-ग्रालम्बन की कोई चेष्टा, श्राश्रय की कोई उक्ति, संचारी भाव की एक लहर ग्रीर भाव-दशा की कोई एक परिस्थिति भी पाठक के हृदय को म्राकर्षित एवं तन्मय करने में समर्थ है। ये विशेषताएँ हास्य रस में कहाँ ? हास्य का संचार केवल मनुष्यों तक सीमित है, इसे तो हास्य रस के समर्थकों ने भी स्वीकार किया है। डॉ॰ वरसानेलाल का यह तर्क "शृङ्गार रस का ग्रानन्द लेनेवाली इन्द्रियाँ पशुयों में भी पाई जाती हैं, लेकिन हास्य का सम्बन्ध मन से तथा बुद्धि से हैं'-इसके क्षेत्र की संकुचितता ही सिद्ध करता है। हास्य के संचारी भावों की संख्या भी वहत सीमित है तथा हास्य में केवल विषय-वस्तु या श्रालम्बन से सम्बन्धित बातें ही रस-संचार की क्षमता रखती हैं, श्रुङ्गार की भाँति आश्रय की नहीं। उदाहरण के लिए हास्य के श्राश्रय का निम्नांकित वर्णन भावोत्पादन को क्षमता से शून्य है-

- (१) विवशन ब्रज विनतान के सीख मोहन मृदुकाय। चीर चोरि सुकदम्ब पै, कछुक रहे मुसिक्याय।।
- (२) हँसने लगे तब हरि म्रहा, पूर्णेन्दु-सा मुख खिल गया। हँसना उसी में भीम, अर्जुन, सात्यिक का मिल गया।।

ह्यान रहे, ये उदाहरण डॉ॰ चतुर्वेदी द्वारा हास्य के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करने के लिए दिए गए हैं, फिर भी इनमें रस का संचार नहीं मिलता।

वस्तुतः, भावनाम्रों की व्यापकता एवं गम्भीरता की दृष्टि से हास्य में वे विशेषताएँ नहीं मिलतीं कि जिससे उसे रस-राज की पदवी दी जा सके।

भारतीय साहित्य में हास्य की परम्परा

यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य में श्रृङ्गार, वीर एवं करुण की ही प्रमुखता है; किन्तु हास्य-रस का भी सर्वथा अभाव नहीं है। ऋग्वेद के जुआरियों सम्बन्धी ग्रंश में तथा मंडूक सूक्त में किंचित् हास्य की आयोजना हुई है। वाल्मीकि रामायण एवं महा-भारत में भी परिस्थिति-जन्य हास्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। आगे चलकर संस्कृत के नाटक-रचयिताओं हे तो हास्य की सर्जना के लिए एक विशेष पात्र—विदूषक—की ही कल्पना कर डाली। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अनेक स्थलों पर हास्य रस के सुन्दर

उदाहरण मिलते हैं। विशेषतः शर्विलक नामक ब्राह्मण-जातीय चोर के असंग में उत्कृष्ट हास्य की भ्रायोजना हुई है। नाटकों के भ्रतिरिक्त गद्य-काव्यों, पंचतंत्र एवं हितोपदेश वैसी कथाओं एवं मुक्तक रचनाओं में भी हास्य की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। यहाँ उदाहरण के लिए हास्यपूणं सुभाषित उद्धृत किए.जाते हैं—

(क) सदा वकः सदा क्रूरः सदा पूजामपेक्षते, कन्या राशि-स्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः।

दामाद दसवाँ ग्रह है। वह सदा वक्र भीर क्रूर रहता है। सदा पूजा चाहता है भीर सदा कन्या राशि पर स्थित रहता है।

(ख) ब्राकुंच्य पाणिमशुचि मम मूर्घिन वेश्या मंत्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रेः। तार स्वनं प्रततधूतमदात्प्रहारम्। हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा।

विष्णुशर्मा नामक किसा दुराचारी विद्वान् ब्राह्मण भी दिल्लगी उड़ाता हुया कोई कहता है—"देखिए, कैसे मजे की बात है, विष्णुशर्मा 'हाय-हाय' करके रोते हुए कहते थे कि मेरे जिस मस्तक पर मंत्रों से पितत्र किया हुया जल खिड़का गया था, उसी संस्कृत मस्तक पर वेश्या ने अपनि अपवित्र हाथों से तड़ातड़ चपत लगाए।"

(ग) लेखनीमित इतो विलोकयन् कुत्र कुत्र न जगाम पद्मभूः। तां पुनः धवणसीमसंगतां प्राप्य नम्प्रवदनः स्मितं दधौ।

अर्थात् कलम तो कान पर रखी हुई थी और उसे इधर-उधर खूव ढूँढ़ा, श्रंत में वह कान पर ही मिली। यह देखकर उसे हँसी श्राई श्रोर उसने सिर नीचे कर लिया।

प्रारम्भिक एवं मध्यकालीन हिन्दी काव्य में हास्य

हिन्दी साहित्य के भ्रादिकाल एवं मध्यकाल में सामान्यतः वीर, श्रृङ्गार एवं मिक्त की ही प्रधानता रही, किन्तु भ्रांशिक रूप में यत्र-तत्र हास्य के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। महाकवि चंदवरदायी कृत पृथ्वीराज रासो में भ्रन्य भावों के साथ-साथ हास्य की भी व्यंजना हुई है। जब चंदबरदायी पृथ्वीराज के विरोधी जयचंद के दरवार में गये तो वहाँ जयचंद ने व्यंग्यपूर्वक कहा—

मुंह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सुहद्द् । दन उजार पशु तन चरन, क्यों डूबरो बरद्द् ॥

धर्यात् मुँह का दरिद्री धौर तुच्छ शरीर पानेवाला परन्तु जंगलराव की सीमा में रहनेवाला धौर वन उजाड़नेवाला पशु वरह क्यों दुवला हो गया है ? चंद ने इसका उत्तर दिया—

चिंद तुरंग चहुग्रान, ग्रान फेरीत परद्धर । तास जुद्ध मंड्यो, जास जानयौ सबर बर । केइक तकि गहि पात, केइ गहि डारि मुर तर । CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. केइक देत तुद्ध त्रिन्न, गर्य देस दिसनि भाजि डर ॥ भुग्र लोकत दिन ग्रिचिरिज भयौ मान सवर वर मरिद्या। प्रथिराज पलन पद्धौ जु षर, सु यों दुब्बरौ बरिद्या।।

''चौहान ने अपने घोड़े पर चढ़कर चारों ओर अपनी दुहाई फेर दी, जिसे अपने से श्रेष्ठ समभा और बलवान् देखा, उसके साथ युद्ध किया। शत्रुओं में से किसी ने पत्ते पकड़ लिए, किसी ने डालें, जड़ें और वृक्ष पकड़ लिये, किसी ने दांतों में तिनके दवाकर अपना दैन्य प्रदिशत किया और अनेक मारे भय के दसों दिशाओं में भाग गये। भूलोक में उस दिन वड़ा ही आश्चर्य माना गया, जबिक श्रेष्ठों और सबलों का मान-मर्दन हुआ। इस प्रकार पृथ्वीराज के शत्रुओं ने खर (तृण आदि) दांतों तले दबाने के लिए खोद डाले और वरिद्या (बैल) दुवला हो गया।" इस उत्तर में वाग्वैदग्ध्य का अच्छा नमूना मिलता है।

वीसलदेव रासो में भी व्यंग्य का एक तीखा उदाहरण उपलब्ध होता है । राजा वीसलदेव अपनी साँभर भील पर गर्व करता हुआ कहता है—

गरव करि ऊसो छइ सांभर्यो राव । मो सरीखा नहीं अवर भुवाल ।। म्हां घरि सांभर उगहइ । चिंहु दिस थाण जेसलमेर ।। लाख तुरी पाखर पड़इ । राजिकउ थानिक गढ़ श्रजमेर ।।

साँभर के राजा ने गर्वपूर्वक खड़े होकर कहा—'मेरे समान कोई स्रौर भूपित नहीं। मेरे घर में साँभर (नमक) उत्पन्न होता है। चारों स्रोर मेरे लाखों घोड़ों की पाखर पड़ती है—जैसलमेर तक। मेरी राजधानी श्रजमेरगढ़ है।' इसके उत्तर में राजमती कहती है—

गरिभ न बोलो हो सांभर्**या राव । तो सरीखा घणा श्रौर भुवाल ॥** एक उड़ीसा कौ घणी । वचन हमारइ तुं मानु जु मिन ॥ ज्यूं थारइ सांभर उगहइ । राजा उणि घरि उगहइ हीरा-खान ॥

"हे साँभर-नरेश ! गर्व से मत बोलो । तेरे समान और बहुत से राजा हैं । तुम चाहे मेरी बात मानो या न मानो—एक उड़ीसा-नरेश भी है । जिस प्रकार तेरे यहाँ नमक उत्पन्न होता है, वैसे ही उसके (उड़ीसा-नरेश के) यहाँ हीरों की खान है ।" यह उत्तर किंचित् कटु हो जाने के कारण उच्च कोटि के हास्य का तो उदाहरण नहीं है, किन्तु घमंडी नरेश की उक्ति का मुँह-तोड़ उत्तर होने के कारण पाठकों के हृदय को थोड़ा गुदगुदाता अवश्य है ।

भक्तिकाल के विभिन्न किवयों ने विरोधी पक्ष का खंडन करते समय हास्य, उपहास, व्यंग्य एवं कटूक्तियों का प्रयोग किया है। महात्मा कबीर ने हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बाह्याडम्बरों की ग्रालोचना व्यंग्यपूर्ण शैली में की है। एक उदाहरण

द्रष्टव्य है— न जाने हे

न जाने तेरा साहिब कैसा है। मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहब तेरा बहरा है। चिउँटिकि प्राण्येयक अक्षेत्र सो भी स्ति साहब बसुनता है।। हिन्दी-साहित्य में हास्य रस

पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है। अंतर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहेब लखता है।। ऊँचा नीचा महल बनाया, गहिरी नेंव जमाता है। चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है।।

होरा पाय परख नींह जाने, कौड़ी परखन करता है। कहत कबीर सूनो भाई साघो, हरि जैसे को तैसा है।।

कहीं-कहीं कबीर का व्यंग्य कटुता की चरम सीमा तक पहुँच जाता है-

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजं पहार। ताते या चाकी भली पीस खाय संसार ।।

वस्तुत: कवीर के काव्य में व्यांग्य ग्रीर कटु उक्तियों के श्रनेक प्रभावशाली उदा-हरण विद्यमान हैं।

सगुण भक्त कवियों में महाकवि सूरदास ही ऐसे हैं, जिन्होंने हास्य भीर व्यंग्य का सफल प्रयोग किया है। बालकृष्ण के भोलेपन का चित्रण करते समय उन्होंने कई ऐसी उक्तियाँ कही हैं, जो ग्रनायास ही हृदय में हास्य की हलकी लहर उद्देलित कर देती हैं, जैसे—"मैया मेरी कबहुँ बढ़ेगी चोटी ? किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।" या "मैया मोहिं दाऊ बहुत खिकायो। मोसों कहत मोल को लीन्हों तोहि जस्मित कब जायो।....त् मोही को मारन सीखी दाऊ कबहुँ न खी फै। मोहन को सुख रिस समेत लिख, सुनि-सुनि जसुमित री फै।" एक ग्रन्य स्थल पर कृष्ण के वाग्-वैदग्ध्य का भी सुन्दर उदाहरण मिलता है, जब कृष्ण दही खाते हुए पकड़े जाते हैं तो वे उत्तर देते हैं-

मैं जान्यों ये घर ग्रपनो है या घोले में श्रायो। देखत हों गोरस में चींटी काढन को कर नायो।।

कृष्ण और गोपियों की प्रारम्भिक छेड़छाड़ में भी सूर ने भ्रनेक हास्यपूर्ण उक्तियों का प्रयोग किया है। एक स्थान पर कृष्ण का उपहास करती हुई गोपियाँ कहती हैं—

> तुम कमरी के श्रोढ़नहारे, पीताम्बर नींह छाजत। स्रदास कारे तनु अपर कारी कमरी भ्राजत।।

कमी-कभी वाद-विवाद श्रविक बढ़ जाता है तो कृष्ण श्राक्षेप करते हैं—"सूर कहा ए हमको जानै छाछिहि बेचनहारी।" इसके उत्तर में चतुर गोपियाँ उनका सारा इतिहास खोल देती हैं-

> यह जानित तुम नंद महर सुत । घेनु दुहत तुमको हम देखति, जर्बाह जात खरिकहि उत । चोरो करत रही पुनि जानित घर-घर ढंढत भांडे ।। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

श्रागे चलकर भ्रमर-गीत-प्रसंगों (उद्धव-गोपी-संवाद) में भी सूर ने श्रनेक हास्य-व्यंग्यमय पदों की रचना की है। उद्धव के द्वारा दिये जानेवाले योग-साधना के संदेश को गोपियाँ घाटे का सौदा बताती हुई कहती हैं—

जोग ठगौरी बज न बिकैहै।

यह व्योपार तिहारों ऊघो ऐसोई फिर जैहै।।

जापै ले आए हो मघुकर ताके उर न समैहै।

दाख छाँड़ि के कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै।।

मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल देहै।

स्रदास प्रभु गुनींह छाँड़िकै को निर्गुन निरबैहै।।

इसी प्रकार वे स्वयं उद्धव का उपहास करती हुई कहती हैं—

आए जोग सिखावन पाँडे।

परमारथी पुरानिन लादे ज्यों बनजारे टाँडे।

× × ×

कही, मघुप, कैसे समायेंगे एक म्यान दो खाँडे।

काफी भूख गई वयारि भिख बिना दूष घृत मांडे।।

× × ×

जब उद्धव श्रपने निर्गुण की प्रशंसा करते हैं तो गोपियाँ श्रपनी व्यंग्योक्तियों के द्वारा उनका मुंह बन्द कर देती हैं—

भक्तकि तुलसीदास ने भी श्रपने 'रामचिरत-मानस' श्रौर 'किवतावली' में श्रनेक स्थलों पर हास्य रस की योजना की है। मुख्यतः मानस में 'परशुराम-लद्मण-सम्वाद' व 'श्रंगद-रावण-सम्वाद' में हास्य के विभिन्न रूप उपलब्घ होते हैं। परशुराम की दम्भपूर्ण उक्तियों के उत्तर में लक्ष्मण कहते हैं—

लखन कहा हॅसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना। का छति लाभु जून धनु तोरे। देखा राम नये के भोरे। छुत्रत टूट रघुपतिहिं न दोस्। मुनि बिनु काज करिग्र कत रोस्॥

यहाँ 'जीर्ण घनुष' का उपहास करके परशुराम के क्रोध को भ्रौर भी भ्रधिक प्रज्ज्वित कर दिया है, किन्तु पाठकों के लिए तो ये पंक्तियाँ हास्योत्पादक हो सिद्ध होती हैं। इसी प्रसंग में भ्रागे चलकर वाग्-वैदग्ध्य एवं व्यंग्योक्तियों का प्रयोग उपलब्ध होता है— CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

लखन कहेउ मृनि सूजसु तुम्हारा । तुम्हाँह श्रख्त को बरने पारा ॥ भ्रपने मुंह तुम्ह श्रापनि करनी। बार श्रनेक भांति बहु बरनी।।

कहेउ लखन मृनि सीलु तुम्हारा । को नहिं जान विदित संसारा ।। माता पितहिं उरिन भए नीके। गुरु रिन रहा सोच बड़ जी के।। सो जनु हमरेहि गाथे काढ़ा। दिन चिल गए ब्याज बड़ बाढ़ा।। उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंग्य का उत्कृष्ट उदाहरण विद्यमान है।

अकबर के दरबारी कवियों में महाकवि रहीम ने अनेक हास्यपूर्ण उक्तियों की रचना की है। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

कमला थिर न रहीम कहि यह जानत सब कोय। पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय।।

रीतिकाल के ग्रनेक कवियों ने भी शृङ्गार के बीच-बीच में यत्र-तत्र हास्य-रस का निरूपण किया है। बिहारी के निम्नांकित दोहों में हास्य की ग्रस्फट व्यंजना हुई है-

> बहु बन ले ग्रहसानु के, पारो देत सराहि। वैद वधू हेंसि भेद सीं, रही नाह मुंह चाहि।। कन देवो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि। रूप रहचटें लगि लग्यौ मांगनु सबु जगु श्रानि।।

बिहारी के उपर्युक्त दोहों में हास्य के साथ-साथ प्रुङ्गारिकता ग्रौर रसिकता की भी भलक विद्यमान है, ग्रतः उनसे विशुद्ध हास्य की सृष्टि नहीं होती, किन्तु बिहारी की कुछ उक्तियों में व्यंग्य की तीक्ष्णता दृष्टिगोचर होती है-

> चल्यो जाइ ह्यां को करे हाथिनु को व्योपार। नहिं जानतु, इहि पुर बसै, घोबी ग्रोड कुंभार।।

वे न इहाँ नागर, बढ़ी जिन ग्रादर तो आब। फूल्यो श्रनफूल्यो भयो, गॅवई-गांव गुलाब ॥

> नहिं परागु, नहिं मघुर मघु, नहिं बिकासु इहि काल। अली कली ही सौं बँध्यी, ग्रागे कौन हवाल।।

विहारी की व्यंग्योक्तियों की सफलता इसी से सिद्ध है कि उनकी तीक्णता ने महाराजा जर्यासह के जीवन की गति को परिवर्तित कर दिया था।

रीतिकाल के कुछ ग्रन्य कवियों ने भी हास्य-रसमय कुछ छन्द मुक्तक शैली में लिखे हैं, जिनमें अलीमुहीब खाँ 'प्रीतम', सूरन किव, फेरन किव, बेनी आदि उल्लेखनीय हैं। श्री प्रीतमजी ने 'खटमल बाइसी' में खटमलों को ग्रालम्बन बनाकर काव्य-रचना की है |

बाघन पे गयो, देखि बनन में रहे छपि, सांपन पे गयो, ते पताल ठोरि पाई है। गजन पे गयो, धूल डारत है सीस पर, बैदन पे गयो, काहू दारू न बताई है।। जब हहराय हम हिर के निकट गये, हिर मोसों किह तेरी मित भूल छाई है। कोऊ न उपाय, भटकत जिन डोले, सुन, खाट के नगर माँहि खटमल की दुहाई है।।

यहाँ हास्य की भ्रालोचना विशुद्ध हास्य के उद्देश्य से की गई है। किसी व्यक्ति, पात्र या विचार-घारा पर व्यंग्य करने की प्रवृत्ति इन पंक्तियों में नहीं मिलती। एक ऐसा ही विशुद्ध हास्य का उदाहरण सूरन किंव की किंवता में देखिए—

वाप विष चाले भैया षट्मुल राले देखि,
ग्रामन में राले वस बास जाको ग्रचले।
भूतन के छैया ग्राम-पास के रखैया,
ग्रीर काली के नथैया हू के घ्यान हू ते न चले।
बैल बाघ बाहन बसन को गयन्द खाले,
भांग की धतुरे को पसारि देत ग्रंचले।
घर को हवाल यह शंकर की बाल कहै,
लाज रहै कैसे, पूत मोदक को मचले।।

यहाँ किन ने देवताओं के घर की भी दिरद्रता का वर्णन नग्न रूप में करके प्रपनी श्रद्भुत प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। प्रगतिवादी श्रालोचकों को चाहिए कि ऐसे महाकिन को श्रपने सर्वोच्च किन्यों की सूची में स्थान प्रदान करके प्रगतिवाद का उद्भव रीतिकाल से ही सिद्ध कर दें।

रीतिकाल के कुछ किवयों ने कंजूसों की दानशीलता का भी भ्रपने काव्य में रोचक ढंग से वर्णन किया है। उस क्षेत्र में किववर बेनी वन्दीजन विशेष रूप से उल्ले-नीय हैं। उन्होंने हास्य-रस के भ्रनेक 'भंडौवे' लिखे, जिनका संग्रह 'भंडौवा-संग्रह' नाम से प्रकाशित भी हो चुका है। यहाँ एक छन्द देखिए—

चींटी की चलावे को ? मूसा के मुख श्रापु जाय, स्वांस की पवन लागे कोसन भगत है।। ऐनक लगाए मरु मरु के निहारे जात, श्रनु परमानु की समानता खगत है।। बेनी कवि कहें हाल कहाँ लों बखान करों, मेरी जान बहा को बिचारिबो सुगत है।। ऐसी श्राम दीन्हें दयाराम मन मोद करि, जाके दिन्नी वार्ति सरसा बर्मिक्स Collection Varanges ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल में भी हास्य रस का सर्वथा अभाव नहीं है। इतना अवश्य है कि इस युग में प्रायः सोद्देश्य हास्य की रचना बहुत कम मिलती है।

श्राधुनिक काल

हिन्दी साहित्य के ग्राधुनिक युग के प्रवर्त्तक श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं रसिक एवं छैल प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने श्रपनी रचनाग्रों में हास्य ग्रीर व्यंग्य का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया। प्रायः उन्होंने समाज-सुधार ध्रीर देश के उत्थान के उद्देश्य से ही अपने युग के विभिन्न दूषित तत्त्वों का उपहास किया । लोगों में अंग्रेजों के प्रति उपेक्षा का भाव जागृत करने के लिए उन्होंने कह-मुकरनियाँ लिखीं, जिनमें ग्रंग्रेज, ग्रंग्रेजी, पुलिस भ्रादि का उपहास किया गया है-

भीतर भीतर सब रस चूसे, हॅसि-हॅसि के तन मन घन मूसे। जाहिर बातन में भ्रति तेज, क्यों सिंख सज्जन, नींह भ्रंग्रेज ।। सब गुरुजन को बुरो बतावँ, प्रपनी खिचड़ी श्राप पकावँ। भीतर तत्त्व न भूठी तेजी, क्यों सिंख सज्जन, नींह अंग्रेजी ॥ रूप दिखावत सरबस लूटै, फंदे में जो पड़े नीह छूटै। कपट कटारी हिय में हुलिस, क्यों सिख सज्जन नींह पुलिस ।।

भारतेन्दु-युग के ग्रन्य लेखकों ने भी पर्याप्त मात्रा में हास्य-व्यंग्य की सृष्टि की है। इनमें प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त भ्रादि लेखक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री मिश्रजी ने हिन्दुओं की अनेक दुर्बलताओं पर निर्मम प्रहार किया है। यहाँ उनका श्रशिक्षा पर तीखा व्यंग्य देखिए-

> पोथी केहि के घर ते आर्वे, कबहूँ सपन्यो देखा नाहिं। रिगविव, जुजविद, साम, ग्रथरबन; सुनियत ग्राल्ह खंड के माहिं।।

X मरत मरत वयानन्द मरिगै, हिन्दू रहे भ्रायु तरु सोय। पुत बियाहें पांच बरस को, गहने घरत फिरे घरबार ।।

रुपया फैरें जल्लादन पर, घर भरि देव पतुरिया क्यार। वेद मंगैवे के चन्दा की सुनते, नाम सूखि जिउ जाय।।

श्री बालमुकुन्द गुप्त ने श्रपनी व्यंग्योक्तियों द्वारा विदेशी शासन की ग्रन्छी खबर सी है। उनके समय में लार्ड कर्जन ने दिल्ली में बड़ा भारी दरबार किया था। उसमें देश के घन का ग्रपन्यय होते देखकर गुप्तजी ने 'टेस्' लिखा-

> श्रव के टेस् रंग रंगीले, श्रव के टेस् छैल छवीले। होगा दिल्ली में दरबार, सुनकर चौंक पड़ा संसार।। शोर पड़ा दुनिया में भारी, दिल्ली में है बड़ी तयारी। देश-देश के राजा ग्रावें, लेमे, डेरे साथ उठावें।। घर दर बेचो करो उघार, बढ़िया हो पोशाक तयार। हाथी घोड़े भीड भड़ाका देखें सब घर फूँक तमाशा ।।

इसी युग में एक ग्रन्य व्यंग्य-लेखक पं० शिवनाथ शर्मा हुए। उन्होंने 'मिस्टर व्यास की कथा' 'तर्ज खुशामद या वशीकरण विधि' ग्रादि कविताग्रों में विदेशी शासकों की 'जी-हुजूरी' करनेवालों की खिल्ली उड़ाई है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

श्रागे चलकर द्विवेदी-युग के किवयों ने भी किंचित् मात्रा में हास्य रस की रच-नाएँ कीं। इनमें महावोरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'कल्हू ग्रल्हैत' के नाम से रिचत 'सरगी नरक ठेकाना नाहिं' किवता उल्लेखनीय है। इनके ग्रितिरक्त नाथूराम शर्मा 'शंकर', ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पं॰ जगन्नाथ चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी कुछ हास्य-प्रधान किवताएँ लिखी थीं। हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से भारतेन्द्र-युग की सी सफलता द्विवेदी-युग के किवयों को नहीं मिली।

तो कहे; सब चैन है, सब चैन है !!

छायावादी युग में प्रेम श्रीर विरह-वर्णन की ही प्रमुखता रही। सौन्दर्य के इन कोमल उपासकों के चेहरे पर निराशा, विषाद एवं श्रवसाद की ही फलक सर्वत्र व्याप्त रहती थी, श्रतः इनसे हँसने-मुस्कराने की श्राशा करना व्यर्थ है। फिर भी निराला का 'कुकुरमुत्ता' इसका श्रपवाद है। इसके व्यंग्य के सम्बन्ध में डा॰ चतुर्वेदी का मत है—''कुकुरमुत्ता एक दुधारी तलवार है। इसका व्यंग्य दो तरफ है। पहली श्रोर का संकेत कपर दिया जा चुका है। (जो धनी-मानी पूँजीपितयों को श्रोर है) दूसरी श्रोर साम्यवादी नवयुवकों के स्वभाव की श्रशिष्टता तथा श्रहंकार पर व्यंग्य किया गया है।''

छायावाद-परवर्ती किवयों में पं० हरिशंकर शर्मा अपने हास्य-व्यंग्य के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अनेक हास्य-व्यंग्य की रचनाएँ लिखी हैं। उन्होंने आधुनिक नेताओं की वास्तिवक तस्वीर खींचते हुए लिखा है—

मिली है जनता रूपी गाय, बड़ी भोली-भाली है हाय। दुहा करता हूँ मैं दिन-रात, न कपिला कभी उठाती लात।।

हास्य रस के दूसरे प्रसिद्ध किव 'बेढब बनारसी' हैं। उन्होंने ग्रपनी 'बेढब की बहक' की भूमिका में घोषित किया है—''जैसे कुछ लोग कला कला के लिए दुहाई देते हैं, मैं विनोद विनोद के लिए लिखता हूँ।'' उन्होंने ग्राधुनिक युवकों को ग्रपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाते हुए लिखा है—

नल्यम्त् अभेद्रतीं असी अवसाल । हास्ते , साफ मुंझें हैं। नए फैशन के लोगों की श्रजब स्रत जनानी है।। इसी प्रकार धाधुनिक साहित्यकारों के सम्बन्ध में 'बेढव' जी की उक्ति सुनिए— पढ़ के दर्जा तीन तक वे बन गए साहित्यकार । और मम्मट से वह ग्रपने को समभते कम नहीं ॥

कान्तानाय पांडे 'चोंच' ने भी श्राघुनिक समाज की कुरीतियों पर श्रपनी कलम की नोक चलाई है। उनका एक दोहा देखिए—

चंदा और पद ग्रहण की, जब लग मन में खान। पटवारी ग्रौर पंत हैं दोनों एक समान।।

हिन्दी काव्य में 'पत्नीवाद' के प्रवर्त्तक श्री गोपालप्रसाद व्यास की रचनाओं में हास्य-व्यंग्य की सुन्दर छटा दर्शनीय है। उन्होंने 'ग्रजी सुनी तो', 'मेरी पत्नी' ग्रादि काव्य-संग्रह प्रकाशित करवाए हैं। वे ग्रपने ही बारे में लिखते हैं—

आखिर हिन्दी का लेखक था, हो गई जरा सी वाह-वाह, दो चार किताबें छपीं कि बस, गुब्बारे जैसा फूल गया।।

इघर 'रमई काका' ने श्रवधी भाषा में श्रनेक व्यंग्यपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। इनके श्रतिरिक्त कुञ्जविहारी पांडे, वंशीधर शुक्ल, श्रीनारायण चतुर्वेदी, दिनकर, बरसानेलाल चतुर्वेदी श्रादि कवियों ने भी हिन्दी के हास्य-व्यंग्यपूर्ण काव्य में श्रभिवृद्धि की है।

हिन्दी नाटक साहित्य में हास्य रस

हिन्दी में विशुद्ध गद्यमय नाटक की परम्परा का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है। इस युग के प्रायः सभी प्रमुख लेखकों ने प्रहसनों के द्वारा तत्कालीन समाज की बुराइयों पर तीखा व्यंग्य किया। वाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'ग्रंघेर नगरी', 'विषस्य विषमीषधम्', 'प्रेम-योगिनी' ग्रादि नाटक लिखे, जो कि हास्य ग्रीर व्यंग्य से ग्रोत-प्रोत हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने 'किल कौतुक रूपक', बाल-कृष्ण भट्ट ने 'जैसा का वैसा परिणाम', राधाचरण गोस्वामी ने 'भंग तरंग', 'तन मन धन श्री गुसाईंजी के ग्रर्पन' ग्रादि प्रहसनों की रचना की। इन प्रहसनों में सर्वत्र सोद्देश्य हास्य-व्यंग्य की ग्रायोजना की गई है।

द्विवेदी-युग के हास्य-व्यंग्यपूर्ण नाटक रचिताओं में श्री बदरीनाथ भट्ट का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'लबड़ घों घों', 'विवाह-विज्ञापन', 'मिस श्रमरीकन' श्रादि प्रहस्तों की रचना की। उनके श्रतिरिक्त श्री जी॰ पी॰ श्रीवास्तव ने 'उलटफेर', 'मरदानी श्रीरत', 'साहित्य का सपूत', 'पत्र-पत्रिका-सम्मेलन' ग्रादि प्रहसन लिखे। इनके सम्बन्ध में एक श्रालोचक की सम्मित है—''प्रायः श्रपनी रचनाग्रों में ऐसे चरित-नायक की कल्पना करते हैं, जो श्रवल के बोम से हैरान है, पात्र कोई काम करेंगे तो ऊट-पटांग; हर जगह मार श्रयवा गाली खाएँगे।'' दूसरी ग्रोर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं—''हमारी समभ में श्रीवास्तवजी का हास्य उच्च कोटि का नहीं, जिसकी श्राशा इनसे की जाती है; इसे तो लट्टमार मजाक कहना ज्यादा उचित होगा।'' पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'उजवक', 'चार बेचारे' श्रादि नाटक लिखे।

द्विवेदी-युग के ग्रनन्तर नाटक-रचियताग्रों में हास्य रस की दृष्टि से पंक हिरिशंकर शर्मा ग्रीर श्री उपेन्द्रनाथ ग्रश्क का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शर्मा-जी ने 'विरादरी विभ्राट', 'पाखंड प्रदर्शन', 'स्वर्ग की सीधी सड़क', 'बुढ़ऊ का व्याह' ग्रादि प्रहसन लिखे, जिनका नामकरण ही मूल प्रवृत्ति का द्योतक है। श्री ग्रश्क जी ने 'पर्दी उठाग्रो पर्दी गिराग्रो' में स्वरचित सात प्रहसनों का संग्रह किया है। ग्रश्क जी की रचनाग्रों में समाज की विभिन्न ग्रसंगतियों पर तीखा व्यंग्य मिलता है। वस्तुतः हास्यव्यंग्यपूर्ण नाटक एकांकियों के रचियताग्रों में ग्रश्क जी का वहुत ऊँचा स्थान है। इनके ग्रातिरिक्त देवराज 'दिनेश', ज्योतिप्रसाद 'निर्मल', रामसरन शर्मा ग्रादि लेखकों ने भी सुन्दर हास्य-व्यंग्यपूर्ण एकांकी लिखे हैं।

कथा-साहित्य में हास्य-व्यंग्य

हिन्दी के कथा-साहित्य में हास्य-व्यंग्य का प्रयोग बहुत कम हुग्रा है। फिर भी श्री जी० पी० श्रीवास्तव, ग्रन्नपूर्णानन्द वर्मा, बेढब बनारसी, कान्तानाथ पांडे 'चोंच', निराला, जयनाथ 'निलन', यशपाल, ग्रमृतलाल नागर, शरदचन्द्र जोशी, शारदाप्रसाद वर्मा 'भुशुंडि', सरयू पंडा गौड़ मिलिंद, राध।कृष्ण, बरसानेलाल चतुर्वेदो, द्वारकाप्रसाद श्रादि लेखकों ने ग्रपनी कहानियों एवं उपन्यासों में हास्यरस की सृष्टि की है। इनमें से कुछ लेखकों की व्यंग्यमय शैली के कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

"ग्रए ऐसे ग्रक्ल के ग्रन्धे पंडितो, तुम ग्रपने ही हाथ से ग्रपने पैरों में कुल्हाड़ी मारते हो ग्रौर इसके साथ सिर्फ ग्रपनी बेवकूफी की वजह से बेचारी निर्दोष संस्कृत की जड़ खोदते चले जाते हो।"
—जी० पी० श्रीवास्तव

"सज्जनो । श्रंग्रेज श्रवतारी जीव हैं । हम पशु थे, उन्होंने हमें मनुष्य बनाया । हमें बड़ों के पैर छूने की गन्दी ब्रादत थी, उन्होंने हमें 'गुड मानिग' करना सिखाया ।"
—श्रत्रपर्णानन्द वर्मा

"यह मजनू की तस्वीर है। पसली की हिंडुयाँ ऐसी दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे एक्स-रे का चित्र।" गप हाँकने की हिन्दी कहानी-लेखकों की पैदाइशी ब्रादत संख्या में कम न होगी।
——बेढब बनारसी

हिन्दी निबन्ध साहित्य में हास्य-रस

भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी प्रमुख निबन्ध-लेखकों ने श्रपनी रचनाओं में हास्य-व्यंग्य का पुट दिया है। भारतेन्दु के निबन्धों में 'श्राप ही तो हैं', 'कंकड़-स्तोत्र', 'पाँचवें पैगम्बर', 'स्वर्ग में विचार-सभा का ग्रधिवेशन' ग्रादि व्यंग्यपूर्ण हैं। वालकृष्ण भट्ट ने अनेक हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबन्ध लिखे जिनमें ये उल्लेखनीय हैं—''पुरुष ग्रहेर की स्त्रियाँ अहेर हैं'', ''ईश्वर क्या ही ठठोली है।'' ''नाक निगोड़ी भी बुरी बला है'' ग्रादि। अतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी तथा वालमुकुन्द गुप्त ने भी इस क्षेत्र में ग्रच्छी सफलता प्राप्त की। गोस्वामीजी को 'यमलोक यात्रा' तथा गुप्तजी के 'शिव-शंभू के चिट्ठे' ग्रपने ढंग की प्रिपृति रवात्राएण्हुं Math Collection, Varanasi. द्विवेदी-युग के निवन्ध-लेखकों में वाबू गुलाबराय, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर हरिशंकर शर्मा, रुद्रदत्त शर्मा, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, 'चोंच', गोपालप्रसाद व्यास, प्रभाकर माचवे आदि ने हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में अनेक निवन्ध लिखे। इन सवकी रचनाओं का अलग-अलग परिचय देना यहाँ संभव नहीं। इनके अतिरिक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं रामविलास शर्मा के आलोचनात्मक निवन्धों में कहीं-कहीं चुटीले व्यंग्य के दर्शन होते हैं। यहाँ हमारे कुछ प्रमुख निवन्ध-लेखकों की व्यंग्यपूर्ण शैली के दो-चार नमूने प्रस्तुत हैं—

"साहव, प्रथम प्रश्न सुन लीजिए, गोदान का कारण क्या है? यदि गौ की पूंछ को पकड़कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते? जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की है? मुक्ते याद ग्राया कि साहब मजिस्ट्रेट की मेम को एक कुत्ता मैंने दान दिया था, जब गौ यहाँ साक्षात् ग्रा जाती है तो क्या प्रदत्त

कुत्ता न भ्राएगा ?"

—राधाचरण गोस्वामी

"ग्राप माई लार्ड। जब से भारतवर्ष में पधारे हैं, बुलबुलों का स्वप्न ही देखा है या सचमुच कोई करने के योग्य काम भी किया है ?"

—बालमुकुन्द गुप्त

"सच पूछिए तो शुरू-शुरू में मनुष्य कुछ साम्यवादी ही था। हँसना-हँसाना तब शुरू हुग्रा होगा, जब उसने कुछ पूँजी इकट्टी कर ली होगी।"

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

उपसंहार

उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि सामान्यतः हिन्दी साहित्य के प्रत्येक ग्रंग—किवता, कहानी, उपन्यास, नाटक, ग्रालोचना ग्रादि—में हास्य-व्यंग्य का विकास समुचित रूप में हुग्रा है। फिर भी जितना विकास नाटक ग्रौर किवता के क्षेत्र में हुग्रा है, उतना ग्रन्थ क्षेत्रों में नहीं हुग्रा। ग्रन्थ रसों की तुलना में हिन्दी का हास्यरसात्मक साहित्य ग्रव भी मात्रा एवं गुण की दृष्टि से बहुत हलका है। उच्च कोटि का हास्य हिन्दी में बहुत कम मिलता है। पिछले कुछ दशकों से तो कुछ लेखकों एवं किवयों को छोड़कर हमारे साहित्य में हास्य की उपेक्षा-सी ही की जा रही है। हाँ, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसी पत्र-पत्रिकाएँ ग्रपने हास्य विशेषांकों द्वारा इस रस के रचयिताग्रों को थोड़ा प्रोत्साहन दे रही हैं, किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। ग्राशा है, भविष्य में जीवन, समाज ग्रौर साहित्य में इसके महत्त्व को समभते हुए हमारे साहित्यकार इस ग्रोर भी ग्रावश्यक व्यान देंगे।

:: बावन ::

हिन्दी-काव्य में विरह-वर्णन

- १. विरह का शास्त्रीय विवेचन ।
- २ पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में विरह परम्परा—वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, प्राकृत-काव्य, श्रपभ्रं श-काव्य।
- ३. हिन्दो-काव्य में विरह-वर्णन-विद्यापति, कवीर, जायसी, सूरदास, मीरा।
- ४. रीतिकालीन कवियों की विरह-व्यंजना-रीतिबद्ध कवि, रीतिमुक्त कवि।
- ४. श्राधुनिक युगीन कवियों का विरह-वर्णन—भारतेन्दु-युगीन, द्विवेदी-युगीन, छायावादी कवि, प्रगतिवादी कवि।
- ६. उपसंहार

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान । निकलकर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता श्रनजान ।। —पंत

साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रस श्रृङ्गार है ग्रीर इस श्रृङ्गार का भी परिष्कृत रूप विरह-वर्णन में मिलता है। श्रुङ्गार के संयोग पक्ष में तो बाह्य चेष्टाओं भीर काम-क्रीड़ाओं की ही अधिकता होती है, हृदय की सूक्ष्म भाव-वृत्तियों का प्रकाशन तथा ग्रह, वासना और काम से मुक्त प्रेम के शुद्ध रूप का प्रकटीकरण वियोग पक्ष में ही होता है। हमारे भ्राचार्यों ने इसी तथ्य को घ्यान में रखते हुए वियोग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है। सामान्यतः वियोग के चार रूप एवं दस काम-दशाएँ स्वीकार की जाती हैं। चार रूप ये हैं—(१) प्रथमानुराग, (२) मान, (३) प्रवास ग्रीर (४) करुण । भ्राघनिक दुष्टिकोण से इन चार रूपों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है--नायक ग्रीर गयिका के प्रारम्भिक प्रेम को 'प्रथमानुराग' कहते हैं। इस स्थिति में नायक भीर नायिका एक-दूसरे से मिल नहीं पाते, श्रतः उनके विरह में प्रेम की इस नवीन श्रनुमति का उल्लास एवं मिलन-सूख की मधुर कल्पनाएँ ही अधिक होती हैं। इसमें विरह-वेदना की वह गम्भीरता नहीं होती, जो कि भ्रन्य कोटि के विरह में पाई जाती है। नायिका के रुष्ट हो जाने पर दोनों के मिलन-सुख में जो अन्तर था जाता है, उसी को मान-विरह कहा गया है। व्यापक दृष्टि से कहा जा सकता है कि जब नायक या नायिका में से कोई एक रुष्ट होकर या अप्रसन्नता के कारण थोड़े समय के लिए विमुख हो जाता है. तो दूसरे को जिस वेदना की अनुभूति होती है, वही मान-जन्य विरह है। संस्कृत व हिन्दी के कुछ कवियों ने मान के ग्रन्तर्गत केवल नायिका के ही रुष्ट होने का वर्णन किया है, नायक की अनुभतियों की उन्होंने उपेक्षा की है, जो उचित नहीं। नायक या नायिका के दूर चले जाने पर जिस दिरुद्ध की अनुमाति होती है blet o'प्रवास की कोटि में रखा गया है। नायक-नायिका में से किसी की मृत्यु हो जाने के कारण जिस शोक की अनुभूति होती है, उसे 'करुण' की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः इस प्रकार के शोक को या करुण भाव को श्रृङ्गार रस से भिन्न करुण रस में ही स्थान दिया जाना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, हमारे श्राचार्यों ने विरह की काम-दशाएँ (प्रेम-दशाएँ) भी मानी हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) श्रभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्देग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) संज्वर, (६) जड़ता और (१०) मरण। हमारे विचार से इन दशाओं का सम्बन्ध क्रमशः चारों प्रकार के विरह से है। प्रथमानुराग में नायक-नायिका के हृदय में एक-दूसरे की प्राप्ति की इच्छा रहती है तथा वे एक-दूसरे का चिन्तन करते रहते हैं; इसी को श्रभिलाषा और चिन्ता कहा गया है; 'मान' का सम्बन्ध मुख्यतः स्मृति और गुण-कथन से है। यद्यपि नायक-नायिका में से कोई एक विमुख हा जाता है, किन्तु फिर भी दूसरा उसके गुणों की स्मृति के कारण बेसुध रहता है। 'प्रवास' की स्थिति में उद्वेग, प्रलाप, उन्माद श्रादि दशाग्रों का विकास होना स्वामाविक है। शेष तीन दशाएँ—संज्वर, जड़ता और मरण—ऐसी भयंकर स्थिति में ही विकसित होती हैं, जबिक प्रेमी-प्रेमिका में से किसी एक का देहान्त हो गया हो या उनके पुनर्मिलन की कोई श्राशा न रही हो। वस्तुतः उच्च कोटि के विरह में इनमें से मरण को छोड़कर ग्रन्य सभी दशाग्रों का विकास स्वामाविक रूप से मिलता है।

पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में विरह-वर्णन

भारत की ही नहीं—विश्व की प्राचीनतम उपलब्ध रचना ऋग्वेद है। इसके दसवें मण्डल में ६५वें सूक्त में उवंशी श्रीर पुरूरवा का संवाद वर्णित है, जो कि विरह-वेदना की उक्तियों से भरपूर है। राजा पुरूरवा की प्रेयसी उवंशी किसी बात पर रूट होकर उसे छोड़कर चली जाती है। पुरूरवा उसके विरह में पागलों की तरह उन्मत्त होकर उसे ढूंढ़ता हुश्रा मानसरोवर के तट पर पहुँचता है, जहाँ उवंशी श्रपनी सिखयों के साथ श्रामोद-प्रमोद में व्यस्त मिलती है। "हे निष्ठुर! ठहर! ठहर!" इन शब्दों से प्रपनी बात श्रारम्भ करता हुश्रा पुरूरवा श्रपने विरह-व्यथित हृदय की दशा श्रत्यन्त करलोत्पादक शब्दों में वर्णन करता है—

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृष्णवावहे नु । न नौ मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन्परतरे चनाहन् ।।

"प्रयात् हे निष्ठुर ! ठहर ! ठहर ! ग्रा, हम ग्रपनी परस्पर दृढ़ सम्बन्ध बनाए रखने की प्रतिज्ञा को पूरी करें। जिन बातों के विषय में हम कभी साथ बैठकर सोचा करते थे, उन्हें पूरी करें, ग्रन्थथा हमारा जीवन सुखी नहीं रहेगा।"

जब उर्वशी पर पुरूरवा के इन शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो वह विरहे वेदनापूर्ण हृदय की श्रवस्था का चित्रण करता हुआ कहता है—''तेरे विरह में मेरा मन युद्ध में भी नहीं लगता। मैं श्रव इतना श्रसमर्थ हूँ कि विजय-प्राप्ति के लिए शत्रुओं पर बाण भी नहीं चला सिकता विश्वाक्षण सामुर्ओं के पूमि, विजय-प्राप्ति के लिए शत्रुओं को भी नहीं चला सिकता विश्वाक्षण सामुर्जी की प्रमुक्ति स्वाक्षण सामिक स्वीनकर उनका उपयोग भी

नहीं कर पाता । मेरे उस सिंहनाद को, जिसे सुनकर शत्रु काँप जाते थे, ग्रव कोई नहीं सुनता।"

पुरूरवा के इन शब्दों का भी निष्ठुर, श्रल्हड़, मद-विभोर सुन्दरी उर्वशी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह गर्व और तिरस्कार से स्रोत-प्रोत शब्दों में उत्तर देती हुई कहती है—''पुरूरवा! क्या रखा है तुम्हारी बातों में। जिस प्रकार सूर्य सदा उषा के पीछे-पीछे दौड़ता रहता है, उसी प्रकार तुम भी सदा मेरे पीछे पड़े रहते हो, पर मैं वायु के समान हूँ, मुक्ते कौन वश में कर सकता है।"

ग्रंत में पुरूरवा हताश होकर कहता है-

सुदेवो श्रद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गन्तवा ग्रघा शयीत निऋ तहपस्थेऽधैनं वृका रभमासो

श्रर्थात् "हे उर्वशी! तुम्हारे विना मैं जीवित नहीं रह सक्गा। मैं किसी दूर देश में जाकर अपने शरीर को आवरण हीन करके हिंसक पशुओं के आगे लेट जाऊँगा। वलवान भेड़िए मेरे शरोर को चीरकर टुकड़े-टुकड़े कर देंगे।" ग्राश्चर्य है कि प्रेमी की मृत्यु के इस करुण दृश्य की कल्पना से भी उस स्वर्गीय सुन्दरी का हृदय नहीं पसीजता। वस्तुतः यह प्रणय-संवाद मान-जन्य विरह का सुन्दर उदाहरण है। इसमें पुरूरवा की विरह-वेदना की श्रभिव्यक्ति श्रत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में हुई है।

श्रागे चलकर रामायण श्रीर महाभारत के प्रासंगिक प्रेमाख्यान में विरह की ब्यंजना ग्रत्यन्त उत्कृष्ट शैली में हुई है। विशेषतः महाभारत के राजा संवरण एवं कुमारी तप्ता के प्रणयाख्यान ग्रौर नल-दमयन्ती-प्रेमाख्यान में विरह की विभिन्न ग्रवस्थाग्रौं का निदर्शन ग्रत्यन्त सुन्दर रूप में हुग्रा है। नल-दमयन्ती-ग्राख्यान में विरह के चारों रूपों-पूर्वीनुराग, संयोग, वियोग एवं पुनर्मिलन का चित्रण प्रभावोत्पादक शब्दों में मिलता है। श्रादि से लेकर अन्त तक यह आख्यान कामुकता की पंकिल भूमि से असंपृक्त रहता है, उसमें शारीरिक चंचलता के कहीं भी दर्शन नहीं होते । प्रेमी श्रीर प्रेमिका का हूद-यस्य प्रेम परिस्थितियों की कठोरता एवं दुर्भाग्य की ग्रांच में तपकर, निखरकर प्रपने विशुद्धतम रूप को प्राप्त कर लेता है। ग्राँसुग्रों से परिपूर्ण यह विरह-वर्णन पाठक के हृदय को करुणाई कर देता है।

कालिदास के 'कुमार-सम्भव' में पूर्वीनुराग का चित्रण सुन्दर रूप में हुआ है। उनका 'मेघदूत' तो वियोगी हृदय का ही संदेश है। ग्रालोचकों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की है, किन्तु हमारी दृष्टि से इसमें कामुकता का मिश्रण ग्रत्यधिक मात्रा में है। यक्ष के संदेश में प्रणय-वेदना के स्थान पर सम्भोग-श्राकांक्षा के ही दर्शन होते हैं। स्वयं किव ने यह कहकर कि "ज्ञातस्वादो विवृत्तजघनां को विहातुं समर्थः" भ्रर्थात् नग्न-जघना वालाग्रों के स्वाद से परिचित होकर कौन उन्हें छोड़ सकता है-ग्रपनी काम-लोलुपता को स्वीकार कर लिया है।

संस्कृत के नाटक-साहित्य में विरह-वेदना का प्रकाशन ग्रत्यन्त मनोरम ढंग से हुआ है। इस दृष्टि से संस्कृत का सर्वश्रेष्ठ नाटक 'मालती-माघव' है। इसमें विरह की विभिन्न भाव-दशायों का चित्रण श्रनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया गया है। प्रेमी के दर्शनों के

लिए उत्कंठित, आतुर, विह्वल मालती की चंचल दशा, प्रेमी की अनुपस्थिति में उसकी बेसुघ ग्रवस्था, उसके वियोग में विच्छू-दंश-सदृश निरन्तर बढ़ती हुई वेदना, धूमरहित अगिन की भाँति हृदय का भीतर-ही-भीतर घघकना एवं विषम ज्वर की भाँति ग्रंग प्रत्यंग का पीड़ित होना म्रत्यन्त ही मार्मिक विधि से व्यंजित किया गया है।

यह विह्वल दशा सुकुमारी बालाग्रों की ही नहीं, सिंह का सामना कर सकने में समर्थ शूरवीर नायक माघव की भी हो जाती है। मालती की स्नेहसिक्त दृष्टि के प्रथम वार से ही म्राहत माधव म्रपनी दशा बताता हुम्रा कहता है— "वह लज्जा के कारण अपने नेत्रों को कुछ भुकाती थी, पर दूसरे ही क्षण मुभे देखने की इच्छा से उन्हें फिर घुमा लेती थी, उसके विकसित नेत्र स्नेहपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। उसकी पुतलियों से हृदय का ग्रानन्द टपक रहा था। हाय! उस चितवन ने मेरे ग्रभागे हृदय को चुरा लिया, तोड़ दिया, पी लिया भ्रौर इतना ही नहीं -वह निकालकर अपने साथ भी ले गई।" वस्तुतः यहाँ पूर्वानुराग की व्यंजना ग्रत्यन्त सरस मार्मिक शब्दों में हुई। भवभूति का 'उत्तर रामचरित' भी विरह-व्यंजना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत के गद्य-काव्य-वासवदत्ता, दशकुमार चरित, कादम्बरी ग्रादि में प्रेम भीर विरह का भव्य स्वरूप उपलब्ध होता है। इनमें सर्वोत्कृष्ट 'कादम्बरी' है। इसमें दो प्रेम कथानकों को गुँथकर एक साथ उपस्थित किया गया है। पहले की नायिका है— महाश्वेता ग्रीर दूसरे की कादम्बरी । दोनों के नायक क्रमशः पुंडरीक ग्रीर चंद्रापीड हैं, जो पूर्वानुराग की असहा वेदना से छटपटाकर प्राण त्याग देते हैं, किन्तू दोनों नायिकाएँ अपने अपूर्व धैर्य एवं तपस्या के वल पर उनके पुनर्जन्म की प्रतीक्षा करती हुई ग्रन्त में उन्हें प्राप्त कर लेती हैं। कादम्बरी के ये प्रेमाख्यान संस्कृत के समस्त प्रेमाख्यानों से विचित्र हैं। विरह-वेदना से प्राणान्त हो जाने की घटना भी संस्कृत-साहित्य में पहली बार यहीं मिलती है।

संस्कृत की विरह-वर्णन-परम्परा का विकास प्राकृत एवं ग्रपभ्रंश के काव्यों में हुआ। प्राकृत की 'गाथा सप्तशती', 'वज्जालग्ग' में विरह-वर्णन अनेक गाथाओं में हुआ है। विरहिणी की दुर्दशा का निरूपण करते हुए गाथा-सप्तशतीकार ने लिखा है-"क्षण में ताप, क्षण में पसीना, क्षण में ठिठुरन, क्षण में रोमांच ! हाय यह प्रिय-विरह सिन्नपात रोग की तरह दुसहा है।" प्रिय-विरह-वेदना की ग्रधिकता दिखाते हुए वज्जा-ब्रुग्ग के रचियता ने लिखा है—''हे पिथक, इस तालाब का पानी मत पीग्रो, इसमें प्रोषित-भतृंका वधू ने स्नान किया है, उसकी विरहाग्नि से इसका पानी तप गया है।" अपन्नंश के मुक्तक-काव्यों में भी विरहानुभूति की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई। विशेषतः 'संदेश रासक' तो विशुद्ध विरह-सम्बन्धी काव्य है। इसमें नायिका किसी पथिक के हाथ श्रपने प्रवासी प्रिय को सन्देश भेजती है। उसका सन्देश उपालम्म, खेद, वेदना, ग्रमर्ष ग्रादि श्रनेक भावनाग्रों से युक्त है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> संदेसड्ड सवित्थरउ पर मइ कहण न जाइ। जो काणंगुलि मूंदडउ सो बाहडी समाइ।। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

कहउ पहिय ! किरण कहउ किहसु कि किहय-यण ।
जिण किय एह ग्रवत्थ णेहरइ-रहिय-यण ॥

× × ×
जिणि हउ विरहह कुहरि एव किर घल्लिया ।
ग्रत्थलोहि ग्रकयित्य इकिल्लिय मिल्हिया ॥

श्रर्थात् मेरा संदेश विस्तृत है श्रौर कहने में श्राता नहीं। जो मुद्रिका किनिष्ठिका में पहनने की थी, वह वाँह में श्राने लगी है। × × × हे पियक ! क्या कहूँ श्रौर क्या न कहूँ....भला ! जिस स्नेहहीन ने मेरी यह दशा कर दी उसे क्या कहा जाय ! × × उस अर्थलोभी, श्रकृतार्थ ने इस विरह कुहरे में मुक्त श्रकेली को छोड़ दिया है।

श्रागे चलकर श्रपनी दुःखपूर्ण स्थिति का वर्णन करती हुई वह विरहिणी कहती

है--

जइ श्रंबर उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ, श्रह निन्नेहउ अंगु, होइ श्राभंगियइ। श्रह हारिज्जइ दविणु, जिणिवि पुणु भिट्टियइ, पिय विरतु हुई चित्त, पहिया! किम वट्टियइ।।

श्रर्थात् यदि वस्त्र श्रपना रंग छोड़ दे तो पुनः रँगा जा सकता है। यदि शरीर चिकनाई-रहित हो जाय तो उसे पुनः चिकना किया जा सकता है। यदि धन हार जाय तो उसे पुनः जीतकर प्राप्त किया जा सकता है। पर हे पथिक! जब प्रिय का चित्त विरक्त हो जाय तो उसे पुनः किस प्रकार लौटाया जाय!

इन उक्तियों की सरलता के सम्बन्ध में कुछ ग्रधिक कहना व्यर्थ है। ये उक्तियाँ किसी भी सहृदय के हृदय को भाव-विभोर करने में समर्थ हैं।

हिन्दी-काव्य के प्रारम्भिक किवयों में महाकिव विद्यापित भ्रपने सौन्दर्य-प्रेम एवं विरह के गीतों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके काव्य में पूर्वानुराग एवं विरह की विभिन्न भ्रनुभूतियों का चित्रण भ्रत्यन्त मार्मिक रूप में हुआ है। प्रेम की प्रारम्भिक भ्रवस्था में नायकराज की क्या दशा हो गई है, यह द्रष्टव्य है—

पथ गति पेखल मो राघा ! तखनुक भाव परान पए पीड़िल, रहल कुमुद निघि साघा !!

ग्रर्थात् मैंने राधा को राह के मध्य में देखा। उसी क्षण से मेरे प्राण ही घायल हो गए। उसी समय से उस कुमुद-निधि की साध बनी हुई है।

राधा के प्रेम में कृष्ण की विह्वलता का चित्रण मी देखिए— आसाये मन्दिर निसि गमाबए, सूख न सूत संयान ! जखन जतए जाहि निहारिए, ताहि ताहि तोहि भान !!

नायक की भाँति नायिका की विरह-व्यथा की व्यंजना भी विद्यापित ने की है। उनकी विरहिणियों को अवस्था के अनुसार दो श्लेशियों हैं तर्ह सक्को हैं (१) नववयस्क

तरुणियाँ ग्रीर (२) प्रौढ़ाएँ। प्रथम श्रेणी की वियोगिनियों में वासना-पूर्ति की लिप्सा ग्रिंघक है तथा उनमें प्रणय-जन्य वेदना का ग्रमाव है। देखिए—

कत दिन पिय मोरु पूछव बात । कबहूँ पयोधर देइब हाथ ।। कत दिन लेइ बैठाइब कोर । कत दिन मनोरथ पूरव मोर ।।

इसी प्रकार एक ग्रन्य युवती को भी प्रियतम के प्रवास का उतना ग्रधिक दुःख नहीं, जितना उसे ग्रपने यौवन के व्यर्थ बीत जाने का है—

अंकुर तपन ताप जिंद जारव, कि करब वारिद मेहे। इह नव जीवन विरह गमाग्रोब, कि करव से पिया गेहे।।

भ्रयीत् जब सूर्य के ताप से ग्रंकुर जल जायगा तो फिर मेघ की वर्षा से क्या होगा! यदि इस नवयौवन को दिरह में खो दिया तो फिर उस प्रिय के घर भ्राने पर क्या होगा?

किन्तु दूसरी श्रेणी की प्रौढ़ा नायिकाएँ ऐसा नहीं सोचतीं। उनमें यौवन की चंचलता एवं वासना के वेग के स्थान पर प्रणय की गंभीरता मिलती है। श्रतः वे पित के स्थान पर प्रणय की गंभीरता मिलती है। श्रतः वे पित के स्थल मिलन की श्रपेक्षा, उसके स्नेह की ही श्रिष्ठक इच्छुक हैं—

सब कर पहु परदेश बिस सजनी, श्राएल सुमिरि सिनेह! हमर एहन पति निरदय सजिन, नीह मन बाढ्ए नेह!!

यहाँ नायिका को पित के न म्राने का उतना खेद नहीं है, जितना कि उसके प्रेम-शूच्य हो जाने का है। ग्रागे चलकर यही नायिका ग्रपनी विरह-वेदना की ग्रपेक्षा प्रिय के मंगल को ग्रधिक महत्त्व देती है—

> माघव हमरो रहल दुर देश, केग्रो न कहे सिख कुशल सनेस ! जुग-जुग जिवथु वसथु लख कोस, हमर अभाग, हुनक नींह दोस !!

वस्तुतः यहाँ भावना का ऐसा उत्कर्ष दिखाई पड़ता है जिससे नायिका के मही स्वार्थ एवं काम का सर्वथा विगलन हो जाता है तथा उसका प्रणय विशुद्ध प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

कबीर की विरहानुभूतियाँ

काल-क्रमानुसार विद्यापित के अनन्तर हिन्दों के दूसरे महाकवि कबीर आते हैं।
यद्यपि उनके प्रणय का ग्रालम्बन अलौकिक है, किन्तु उन्होंने जिन अनुभूतियों की व्यंजना
की है, वे स्वरूप एवं तीव्रता की दृष्टि से लौकिक विरह के तुल्य ही हैं। यही कारण है
कि साधारण पाठक भी उनकी काव्य-वस्तु से साधारणीकरण कर पाता है। अतः हम
उनकी अनुभूतियों को विरह-वर्णन में स्थान दे सकते हैं।

कवीर की ग्रात्मा परमात्मा के मिलन के लिए उत्सुक हो जाती है तो उसकी बही ग्रवस्था हो जाती है, जो लौकिक क्षेत्र में प्रेमी की पूर्वानुराग में होती है—

> कब देखं मेरे राम सनेही, जा बिनु दुःख पावे मेरी देही ! हूँ तेरा पैथ निहास स्वामी, कबर मिलहुग अन्तरजामी ! !

श्चात्मा की यह मिलनाकांक्षा घीरे-घीरे बढ़ती हुई तीव्र वेदना का रूप घारण कर लेती हैं। वह श्रपने हृदय के वेग पर संयम रखने में ग्रसमर्थ हो जाती है श्रीर श्रपने प्रिय को पुकार-पुकारकर बुलाने लगती है—

कवीर की विरह-व्यंजना में विभिन्न संचारी भावों का चित्रण भी ग्रत्यन्त स्वाभाविक रूप में हो गया है। कुछ उदाहरण द्रव्टव्य हैं—

श्रीत्सुक्य— विरिहिन ऊभी पंथ सिर, पंथी बूक्षै घाय।
एक सबद कह पीन का, कबरे निलेंगे ग्राइ।।
विवशता— ग्राइ सकों न तुज्क पें, सक्रूं न तुज्क बुलाय।
जियरा योंही, लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ।।
के विरिहिणी कू मीच दे, के ग्रापा दिखलाइ।
ग्राठ पहर का दाक्षणा मो पें सह्या न जाइ।

कवीर जैसा अवलड़ भी विरह-वेदना से पीड़ित होकर दैन्य से श्रोत-प्रोत हो जाता है। वह जन-जन के सामने हाथ फैलाने लगता है—

है कोई ऐसा पर उपकारी, सूं कहें सुनाय रे।।
ऐसे हाल कबीर भये हैं बिन देखे जिय जाय रे॥
वे दूसरों की स्थिति से अपनी तुलना करते हुए कहते हैं—
सुखिया सब संसार, खाय श्रक सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जगे अब रोवै।।

कबीर के उद्गार बताते हैं कि विरह चाहे लौकिक हो या ग्रलौकिक, उसकी बेदना असह्य होती है। ग्राधुनिक युग की कुछ कवियत्रियाँ भले ही विरह से प्यार करने की बात कहें, किन्तु जिन्हें इनकी सच्ची ग्रनुभूति है, वे तो इनके नाम से ही काँप उठते हैं। मीरा का विरह-वर्णन

कबीर की ही भाँति प्रेम-दीवानी मीरा ने श्रपने हृदय के उद्गारों को मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त किया है। श्रपने 'गिरधर गोपाल' के विरह में भावाभिभूत होकर उन्होंने शत-शत गीतियों की रचना की है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

हेरि मैं तो दरद दिवाणी होइ। दरद न जाणे मेरो कोइ।। घायल की गति घायल जाणे, की जिण लाई होइ। जौहिरिकी अञ्चिल्लोहरी जाणे, क्ली जिन अञ्चेहरू होइ।। सूली ऊपर सेज हमारी, सोवणा किस विघ होइ। गगन मंडल पै सेज पिया की, किस विघ मिलणा होइ।।

रमैया बिन नींद न आवे।

नींद न आवे विरह सतावे, प्रेम की म्रांच डुलावे।

× × ×

**

कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी, वेदन कूण बुतावै। बिरह नागण मोरी काया उसी है, लहर-लहर जिव जावै।।

× × × × × + भीरां कहै बोती सोइ जानै मरण जीवण उन हाथ!

मीरा की इन पंक्तियों में विरह-वेदना की ऐसी गंभीरता मिलती है, जो बरबस ही पाठक के हृदय को भावोद्वेलित करने में समर्थ है। जौकिक प्रेम की वासना के कर्दम के ग्रभाव में उनका वेदना-स्वरूप ग्रीर भी श्रधिक दिव्य ग्रीर पवित्र हो उठा है।

सूर का विरह-वर्णन

महाकिव सूरदास ने कृष्ण ग्रौर गोपियों के माध्यम से विरहानुभूतियों की व्यंजना ग्रत्यन्त सरस रूप में की है। वियोग की श्राशंका-मात्र से प्रेम-विवश गोप-बाला राधा के हृदय की क्या दशा हो जाती है, इसका चित्रण देखिए—

> सुने हैं श्याम मधुपुरी जात ! सकुचित कह न सकत काहू सौं गुप्त हृदय की बात ! शंकित बचन अनागत कोऊ कहि जु गई श्रधरात !!

> सूर श्याम संग ते बिछुरत हैं कब ऐहैं कुशलात !!

ग्रीर जब विदाई की घड़ियाँ उपस्थित होती हैं, तो प्रेमिका का हृदय सी-सी भाराग्रों में बह निकलता है—

> हों साँवरे के संग जेंहों। होनी होइ सु होई उभे ले यश, अपयश काहू न डरैहों। कहा रिसाइ करेंगो कोऊ जो रोकिहें प्राण ताहि देंहों।।

जब प्रियतम विदा हो जाते हैं, तो वियोगिनी बाला के हृदय में क्षोभ, पश्ची-त्ताप एवं निराशा की एक करुण फाँकी ग्रवशिष्ट रह जाती है—

> हरि बिछुरत फाट्यो न हियो ! भयो कठोर वज्र ते भारी, रहि के पापी कहा कियो !! घोरि हलाहल सुन रो सजनी, श्रौसर तेहि न पियो ! मन सुधि ^{Japgamwadi Math} Collection Varanasi. सन सुधि ^{Japgamwadi Math} पूरी वीव श्रकूर वियो !!

कुछ न सुहाइ गई सुधि तब ते, भवन काज को नेम लियो ! निशा दिन रटत सूर के प्रभु बिनु मरिवो तऊ न जात जियो !!

सूरदास के विरह-वर्णन में प्रायः सभी सम्बन्धित संचारियों का चित्रण भी स्वाभाविक रूप में हुम्रा है! एक ग्रोर प्रिय की स्मृति—''इहि विरियां वन ते व्रज प्रावते''—से हृदय संवेदनशील हो उठता है तो दूसरी ग्रोर मथुरा के द्रुमों को देखकर उनके सौभाग्य के प्रति सहज स्वाभाविक ईर्ष्या—''मथुरा के द्रुम देखियत न्यारे, वहाँ श्याम हमारे प्रीतम चितवन लोचनहारे''—उद्भूत हो जातो है, कभी वरसात में पपीहा की पिउ-पिउ सुनकर प्रेमिका का हृदय उद्देग ग्रौर ग्रमर्थ से उद्देलित हो उठता है—''हौं तो मोहन के विरह जरी रे, तू कत जारत रे पापी पपीहा पिउ पिउ ग्रघराति पुकारत !'' तो दूसरी ग्रोर वह 'मित' का ग्राश्रय लेकर ग्रपने हृदय को समभाने का प्रयास करती है—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो । प्रीति पतंग करी दीपक सौं भ्रापे प्राण दह्यो !!

वस्तुतः सूरदास जी का काव्य विरह-वर्णन का उत्कृष्ट उदाहरण है। ग्राचार्य शुक्ल का यह कहना कि इस क्षेत्र में इन्होंने कुछ भी शेष नहीं छोड़ा, बिलकुल सत्य है। जायसी का विरह-वर्णन

जायसी ने तो अपने काव्य में विरहानुभूतियों की व्यंजना एक ऐसी उत्कृष्ट अत्युक्तिपूर्ण काव्य-शैली में की है कि उसके विद्वानों को अलौकिकता का भ्रम हो गया। पूर्वानुराग और वियोग का चित्रण जायसी ने पूरे विस्तार से किया है। उन्होंने विरहानु-भूतियों की व्यंजना के लिए मुख्यतः दो पात्रों को माध्यम बनाया है। पहला है रत्नसेन और दूसरी नागमती। यहाँ पहले रत्नसेन के पूर्वानुराग की दशा देखिए—

फूल फूल फिरि पूर्ओं, जो पहुँचों आहि केत। तन निछावर के मिलों, ज्यों मधुकर जिउ देत!

धौर फिर इसका विकास-

तजा राज राजा भा जागी। श्रीर किंगरी कर गहेउ वियोगी। तन विसंभर मन बाउर रहा। अरुभा प्रेम परी सिर जहा।।

रत्नसेन की विरह-दशा का निरूपण करते हुए किव ने विभिन्न अनुभावों और संचारी भावों का आयोजन भी सम्यक् रूप में किया है—

ठांविह सोविहं सब चेला। राजा जागे आपु श्रकेला।। जेहि के हिये प्रेम रंग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा।।

दूसरी ग्रोर नागमती की विरह-व्यंजना भी किव ने ग्रत्यंत मार्मिक शब्दों में की है। कुछ पंक्तियाँ ही उद्धृत की जाती हैं—

पिउ सौ कहेउ संदेसड़ा, हे भौरा ! हे काग !! सो-विकाकिस्तुलकारीअनुर्देतेहिक वृज्यक हुम्हा लाग !! जायसी के विरह-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने नायक धौर नायिका दोनों में विरह का विकास समुचित रूप में दिखाया है, जिससे उसमें प्रेम की गम्भोरता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः उनका स्थान विरह-वर्णन करनेवाले कवियों में बहुत ऊँचा है।

रीतिकालीन कवियों का विरह-वर्णन

रीतिकालीन प्रुंगारी किवयों को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं— (१) रीतिबद्ध ग्रौर (२) रीतिमुक्त । रीतिबद्ध किवयों में प्रेम की ग्रपेक्षा रिसकता का आग्रह ग्रधिक होने के कारण उनमें विरह का मार्मिक रूप बहुत कम मिलता है, किन्तु फिर भी उसका सर्वथा ग्रभाव नहीं है; कुछ छंद देखिए—

> (क) पूर्वानुराग— मूर्ति जो मन-मोहन की, मन मोहिनी के मन ह्वे थिरकी सी। 'देव' गुपाल को बोल सुनै छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।।

(ख) उपालंभ-

पगन में छाले परे, नांधिबे को नाले परे, तऊ लाले ! लाले परे राउरे दरस के !!

(ग) मिलनातुरता-

मेरे सुखदाई तेरे देव जु दिखाई नेकु, ऐरे ब्रजभूप, तेरे रूप रस छाकी होंं!!

रीतिकाल में विरह-न्यंजना का सर्वोत्कृष्ट रूप घनानन्द, बोघा, श्रालम, रसखान श्रादि स्वतंत्र प्रेम-मार्गी कवियों के कान्य में उपलब्ध होता है। इनके विरह-वर्णन में जो वैयक्तिकता, अनुभूति, स्वाभाविकता एवं गंभीरता मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ हमारे कथन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए कुछ छन्द पर्याप्त होंगे—

कहिबे को विया सुनिबे को हैंसी, को दया सुनि के उर आनतु है ! ग्रह पीर घटे तिज धीर सखी ! दुःख को नहीं का पै बखानतु है !!

—बोघा

घनग्रानन्द मीत सुजान बिना सब-सुख साज समाज टरे ! तब हार पहार से लागत हे, अब ग्रानि के बीच पहार परे !!

—धनानन्द

× × × × × × उन्हों बिन ज्यों जल मीन हुं मोन सी श्रांखि मेरी श्रमुवानी रहे।

—रसखान

वस्तुतः इन किवयों ने किसी श्रन्य पात्र से विरह-वेदना उधार लेकर काव्य-रचना नहीं की । यह तो उनकी ग्रपनी श्रनुभूतियों की व्यंजना है, उनकी ग्रपनी ग्रात्मा की सच्ची पुकार है, ग्रतः उसमें वेदना, टीस एवं व्याकुलता का सच्चा रूप मिलना स्वा-CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

म्राधुनिक कवियों का विरह-वर्णन

विरह-वर्णन की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी किव स्वतन्त्र प्रेम-मार्गी किवयों—घनानन्द, वोघा, ग्रालम ग्रादि की परम्परा में ग्राते हैं। भाव, शैली एवं भाषा की दृष्टि से उनका विरह-वर्णन सर्वथा घनानन्द ग्रादि के ग्रनुरूप है।

द्विवेदी-युगीन किवयों ने अपने सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण श्रुगार रस को बहुत उपेक्षा की दृष्टि से देखा, किन्तु फिर भी प्रिय-प्रवास, यशोधरा, साकेत आदि में विरह की व्यंजना प्रचुर मात्रा में हुई है। 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण-विदाई की वेला के समय राधा के हृदय की आशंका का चित्र देखिए—

अयि सिख ! भ्रवलोके खिन्नता तू कहेगी, प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं। पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है? सब जगत् हमें हैं शून्य होता दिखाता!!

'साकेत' की रचना तो विरहिणी उर्मिला के ग्राँसुग्रों से ही हुई है। स्वयं उर्मिला के ही शब्दों में—

मुक्ते फूल मत मारो ! में ग्रवला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो !

म्रति-इतिवृत्तात्मकता के कारण द्विवेदी-युग के विरह-वर्णन में मार्मिकता नहीं आ पाई। इस दृष्टि से छायावादी किवयों का वर्णन सूक्ष्म भावानुभूति से अनुप्राणित सिद्ध होता है। प्रसाद के 'ग्राँसू', पंत की 'ग्रन्थि' ग्रौर महादेवी की 'यामा' ग्रौर 'दीप-शिखा' में विरहानुभूतियों की व्यंजना वैयक्तिक ग्रनुभूति के रूप में हुई है। पंत के विरह-कातर हृदय की दशा इन शब्दों में देखिए—

कौन दोषी हैं, यही तो न्याय है, वह मधुप बिंवकर तड़पता है उघर ! दग्ध चातक तरसता है-विश्व का नियम है यह, रो ग्रभागे हृदय रो !!

शतक तरसता ह—विश्व का नियम ह यह, रा अमान हुदय रा :

X

शून्य जीवन के अकेले पूष्ठ पर, विरह ! अहह कराहते इस शब्द को ।
किस कुलिश की तीच्ण, चुभती नोंक से निठुर विधि ने ग्रश्नुओं से हैं लिखा !!
कामायनीकार ने भी विरह की व्यंजना श्रत्यन्त मार्मिक शब्दों में की है। ग्रपने
अतीत की स्मृतियों से त्रस्त होकर काम-पुत्री श्रद्धा सोचती है—

विस्मृत हों वे बीती बातें, श्रव ज़िनमें फुछ सार नहीं। वह जलती छाती न रही, श्रव वैसा शीतल प्यार नहीं।। सब अतीत में लीन हो चलों, आशा, मधु अभिलाषाएँ! श्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं!!

इन शब्दों में विरह की जैसी गम्भीर वेदना भलकती है, वह बताने की बात नहीं।

कवियत्री महादेवी क्रोत्वेदनावताकी की कि सार्धीं का सामान मार्ग हैं। उनके काव्य की

प्रत्येक पंक्ति विरहानुभूतियों से उद्देलित है। विरह की मधुर पीड़ा का संचार उनके जीवन में किस प्रकार हुआ, इसका स्पष्टीकरण भी उन्होंने किया है—

इन ललचाई पलकों पर, पहरा था जब वीड़ा का ! साम्राज्य मुक्ते दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का !!

किन्तु अन्त में उन्होंने अपनी वेदना पर ऐसी विजय प्राप्त कर ली है कि अब उन्हें विरह में मिलन की, दुःख में सुख की अनुभूति होने लगी है—

विरह का युग श्राज दीखा, मिलन के लघु पल सरीखा ! दु:ख सुख में कौन तीखा, मैं न जानी औ' न सीखा !!

प्रगतिवादी कवियों ने यत्र-तत्र विरह का वर्णन किया है, किन्तु उसमें अनुभूति की तरलता, वेदना की गम्भीरता और प्रेम की स्थिरता का अभाव है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

शीतल कर घरती की छाती। निदयां सागर में मिल जातीं। निदयों में जल, जल में लहरें। गलबिहयां डाले बल खातीं। भरता जो बाँहों में अपनी। हुआ न तेरा ही कोई।

—नरेन्द्र

यहाँ किसी बाँहों में भरनेवाले का ही ग्रभाव परिलक्षित होता है, किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति प्रणय का स्फुरण नहीं मिलता। इससे शरीर की भूख को शान्त करने की लालसा ही टपकती है, विरह-वेदना की सघनता नहीं।

फिर भी उपर्युक्त विवेचना से एक वात स्पष्ट है कि हिन्दी काव्य के सभी युगों में विरह का निरूपण किसी-न-किसी रूप में अवश्य हुआ है। उसमें उर्दू फारसी की-सी अत्युक्ति और अस्वाभाविकता नहीं है, अपितु भावना का स्वच्छ, पवित्र रूप दृष्टिगोचर होता है। कोई भी व्यक्ति जो हिन्दी भाषा को समभने की क्षमता रखता है, इस काव्य को पढ़कर गद्गद और भाव-विभोर हो सकता है।

प्रिक्त प्रतिका को संस्था कार्य कार्य के कार्य के प्रतिकार कार्यों के हैं कि कार्यों

ित्य की निवास निवास के कि एक कि में में में कि कुछी है।

हिन्दी की विशिष्ट प्रतिभाएँ

ः तिरपनः

चन्दवरदायी श्रीर उनका काव्य

१. चंद-व्यक्तित्व भीर चरित।

२. काव्य—पृथ्वीराज-रासो—(क) सामान्य परिचय; (ख) विभिन्न संस्करण; (ग) प्रामाणिकता-सम्बन्धी विवाद—डा॰ वूलर की खोज, डा॰ ग्रोभा के ग्राक्षेप, श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मुनि जिनविजय, डा॰ दशरथ शर्मा, डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा॰ माताप्रसाद गुप्त, निष्कर्ष, (घ) काव्य-सौष्ठव—कथा विस्तार, वर्णनात्मकता, भाव-सौन्दर्य; (ङ) उपसंहार—भावपक्ष, कलापक्ष, संदेश, महत्ता ।

हिन्दी का सर्वाधिक विलक्षण कि , जिसका ग्रस्तित्व ही संदिग्ध है—महाकि वि चन्दवरदायी है। उनके द्वारा रिचत ग्रंथ 'पृथ्वीराज-रासो' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर गहरा मतभेद मिलता है। कुछ उसे प्रामाणिक मानते हैं, कुछ ग्रद्ध-प्रामाणिक ग्रीर कुछ सर्वथा ग्रप्रामाणिक। ऐसी स्थित में उसके रचियता का ग्रस्तित्व भी धूमिल हो जाय, तो कोई ग्राश्चर्य की बात नहीं। परम्परा के ग्रनुसार वे हिन्दू-कुल के ग्रन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के सखा, मन्त्री, सेनापित एवं राजकिव थे। उनके सम्बन्ध में इतिहास मौन हैं, किन्तु उनके ग्रंथ में ग्राये हुए विवरण के ग्राधार पर कहा जा सकता है कि उनका जन्म पृथ्वीराज के साथ ही संवत् ११५१ में लाहौर में हुग्रा। वे बाल्यकाल से ही सम्राट् के साथ रहने लगे ग्रौर उनके साथ ही शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की। षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक ग्रादि में वे पूर्णतया दीक्षित थे। सभा, युद्ध, ग्राखेट, विवाह, यात्रादि में वे सदैव सम्राट् के साथ रहा करते थे। जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज चौहान को क़ैद करके गजनी ले गया तब चन्द भी वहाँ पहुँचे। ग्रव तक के रासो का लेखन वे स्वयं कर रहे थे, किन्तु गजनी जाने से पूर्व उन्होंने यह कार्य ग्रपने पुत्र (जल्हन) को सौंप दिया। जल्हन ने उनके ग्रधूरे ग्रन्थ को पूरा किया—

'पुस्तक जल्हन हत्य दे चिल गज्जन नृपकाज।''

 रेखा है जो रासो के ग्राघार पर तैयार की जा सकती है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें ग्रनेक ग्रसंगतियाँ हैं, ग्रतः इसे चन्द का वास्तविक परिचय नहीं कहा जा सकता।

पृथ्वीराज रासो : विभिन्न संस्करण

चन्द की कीर्ति का श्रक्षय श्राघार 'पृथ्वीराज रासो' है। इसके कई संस्करण मिलते हैं, जिन्हें मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) वृहत् रूपान्तर, (२) मध्यम रूपान्तर, (३) लघु रूपान्तर श्रीर (४) लघुतम रूपान्तर । प्रत्येक रूपान्तर का परिचय संक्षेप में इस प्रकार है—

- (क) बृहत् रूपान्तर—इसकी कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में सुर-क्षित हैं तथा इसी के ग्राधार पर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण तैयार किया गया था। इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७५० के पश्चात् की हैं। वैसे नागरी-प्रचारिणी सभावाले संस्करण का ग्राधार सं० १६४२ की प्रति को वताया जाता है। इसमें ६९ समय (या सर्ग) हैं तथा १६३०६ छन्द हैं।
- (ख) मध्यम रूपान्तर—इसकी कुछ प्रतियाँ भ्रवोहर के साहित्य-सदन, बीकानेर के जैन-ज्ञानभंडार भीर श्रीयुत भ्रगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित हैं। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना था। इसकी छंद-संख्या सात हजार है तथा इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ सं० १७०० के पश्चात् की हैं।
- (ग) लघु रूपान्तर—इसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के 'ग्रनूप संस्कृत पुस्तकालय' में सुरक्षित हैं। यह १६ सर्गों में विभाजित है तथा छन्द-संख्या ३५०० है। इनमें से कुछ प्रतियों के ग्रन्त में निम्नांकित पंक्तियाँ हैं, जिनसे पता चलता है कि इस संस्करण का संकलन किसी चन्द्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा हुग्रा था—

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि। पृथ्वीराज सुजसु कवि चन्द कृत चन्द्रसिंह उद्धरिय इमि।।

यह संस्करण डॉ॰ वी॰ पी॰ शर्मा द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो गया है।

(घ) लघुतम रूपान्तर—यह संस्करण श्री ग्रगरचन्द नाहटा द्वारा ढूँढ़ा गया था। इसमें ग्रघ्यायों का विभाजन नहीं है तथा छन्द संख्या १३०० है। डॉ० दशरथ शर्मा ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है, जिसकी चर्चा ग्रागे की जायगी।

रासो की प्रामाणिकता

प्रारम्भ में रासो को प्रामाणिक माना जाता था। कर्नल टाड ने इसे प्रामाणिक समभकर ही इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अनुवाद अंग्रेजी में किया था। फ्रेंच विद्वान् गार्सां द तासी ने भी इसे प्रामाणिक माना था। बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था। किन्तु इसी बीच सन् १५७५ ई० में डॉ० वूलर को काश्मीर में एक संस्कृत में रचित ग्रन्थ—"पृथ्वीराज विजय महान्काव्य" उपलब्ध हुआ। ऐतिहासिकता की पृष्टि की इसे ग्रन्थ में विणित घटनाएँ शुद्ध हैं।

जबिक रासो का वर्णन इसके विपरीत है। ऐसी स्थिति में डॉ॰ वूलर को रासो की प्रामा-णिकता पर सन्देह हुग्रा और उसने उसका प्रकाशन स्थगित करवा दिया। डॉ॰ वूलर के संदेहपूर्ण दृष्टिकोण से भारत के कुछ ग्रन्य विद्वानों को भी प्रेरणा मिली, जिनमें पं॰ गौरीशंकर हीराचन्द श्रोभा उल्लेखनीय हैं। ग्रोभाजी ने रासो पर ऐतिहासिकता की दृष्टि से ग्रनेक ग्राक्षेप प्रस्तुत किए, जिनमें कुछ ये हैं—

रे. रासो में चौहानों की उत्पत्ति, उनके कुल एवं वंश-परम्परा का वर्णन श्रशुद्ध रूप में किया गया है।

२. पृथ्वीराज के विभिन्न सम्बन्धियों का वर्णन इतिहास-विरुद्ध है।

 रासो में गुजरात के राजा भीम के हाथों पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के वध की वात कही गई है, जबकि इतिहास के अनुसार भीमदेव अभी वालक ही था।

४. रासो में पृथ्वीराज के ग्यारह वर्ष से लेकर छत्तीस वर्ष की ग्रायु तक चौदह विवाहों का वर्णन है, जबिक इतिहास के ग्रनुसार पृथ्यीराज की मृत्यु तीस वर्ष की ग्रवस्था से पूर्व ही हो गई थी तथा उन्होंने इतने विवाह नहीं किए।

५. रासो में दिये गए सभी सम्वत् ग्रशुद्ध हैं।

६. रासो के अनुसार पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य अपने नाना अनंगपाल के द्वारा प्राप्त हुआ, जबिक इतिहास की मान्यता के अनुसार बीसलदेव ने बहुत पूर्व ही दिल्ली को अपने राज्य में मिला लिया था।

७. रासो में दी हुई संयोगिता-स्वयंवर की कथा भी अनैतिहासिक है।

द. शहाबुद्दीन का मृत्यु सम्बन्धी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर ग्राधारित है, क्योंकि गौरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से नहीं गक्खरों के द्वारा हुई थी।

हिन्दी के ग्रनेक विद्वानों ने ग्रोक्ता जी के ग्राक्षेपों का निराकरण करते हुए रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इनमें श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मुनि जिनविजय ग्रौर डा॰ दशरथ शर्मा उल्लेखनीय हैं। श्री पंड्याजी ने सन्-संवतों सम्बन्धी ग्राक्षेप का निराकरण करते हुए 'ग्रनंद' संवत् की कल्पना की। उनकी धारणा श्री कि रासो में विक्रम संवत् के स्थान पर ग्रनंद संवत् दिए गए हैं, जो लगभग ६० वर्ष पीछे हैं। मुनि जिन विजय जी ने 'पुरातन-प्रवन्ध-संग्रह' की वि॰ सं॰ १५२८ की प्रति में से एक प्रवन्ध ढूँढ़ा है, जो रासो का सारांश कहा जा सकता है। इस प्रवन्ध की घटनाएँ रासो के इतिवृत्त से बहुत मिलती-जुलती हैं। इस प्रवन्ध में चार छन्द भी उद्धृत किए गए हैं जो किचित् परिवर्तित रूप में रासो के विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध हैं। मुनि जिन विजय ने इस प्रवन्ध की मूल रचना-तिथि सं॰ १२६० निश्चित की है तथा इसे रासो के ग्राधार पर रचित माना है। ऐसी स्थिति में रासो का रचनाकाल तेरहवीं शती से पूर्व हो होना चाहिए।

रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सबसे श्रिष्ठक स्तुत्य प्रयत्न डा॰ दशरथ शर्मा ने किया है। श्रापने प्रमाणित किया है कि लघुतम संस्करण ही मूल रासो है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द श्रोभा के श्राक्षेप बृहत् संस्करण पर ही लागू होते हैं; लघुतम संस्करण में उन श्रनैतिहासिक बातों का श्रभाव है, जो वृहत् संस्करण में मिलती हैं।

हाँ, संयोगिता-स्वयंवर, ग्रनंगपाल द्वारा पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य दिये जाने एवं गोरी-वधवाली घटनाएँ लघु संस्करण में भी मिलती हैं; किन्तु ग्रापने इनको ऐतिहासिक सिद्ध किया है। 'सुर्जन-चरित' एवं 'पृथ्वीराज-विजय' में भी क्रमशः कांतिमती ग्रौर तिलोत्तमा नामक राजकुमारियों का वर्णन मिलता है, जो संयोगिता सम्बन्धी विवरण से साम्य रखता है। ग्रतः डा० शर्मा का सुभाव है—''जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सब युक्तियाँ हेत्वाभास-मात्र हैं; उस कांतिमती—संयोगिता को हम पृथ्वीराज की प्रेयसी रानी ही मानें तो कोई दोष क्या है?'' गोरी-वधवाली घटना का समर्थन भी 'सुर्जनचरित' ग्रंथ से होता है। साथ ही शर्मा जो ने यह सिद्ध किया है कि मूल रासो ग्रपभ्रं श में लिखा गया था। उन्होंने लघुतम संस्करण के कुछ ग्रंशों को थोड़े-से परिवर्तन द्वारा विश्वद्ध ग्रपभ्रं श में परिवर्तित करके दिखाया है।

डा॰ शर्मा के अनुसन्धान के अनन्तर रासो की प्रामाणिकता का विवाद बहुत कुछ मंद पड़ गया था, किन्तु कुछ वर्ष पहले डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पुनः इस प्रश्न को उठाया है। ग्रापका विचार है कि रासो की रचना शुक-शुकी संवाद के रूप में हुई थी, अतः जिन सर्गों का ग्रारंभ शुक-शुकी संवाद से होता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इस ग्राधार पर ग्रापने निम्नांकित सर्गों को प्रामाणिक मानने का सुक्ताव दिया है—(१) ग्रारंभिक ग्रंश, (२) इंछिनी का विवाह, (३) शशिव्रता का गांधर्व विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (४) संयोगिता का विवाह, (६) कैमासवध, (७) गोरी वध-सम्बन्धी इतिवृत्त। डा॰ माताप्रसाद गुप्त ने द्विवेदी के मत की श्रालोचना करते हुए इसे स्वीकार्य नहीं माना है। उनका तर्क है कि प्रक्षेपकारी ने भी शुक-शुकी संवाद से प्रक्षिप्त सर्गों की रचना न की होगी, इसका क्या प्रमाण है ? जिन सर्गों को द्विवेदी जी ने प्रामाणिक माना है उनमें भी संभव है प्रक्षिप्त ग्रंश हों।

इस प्रकार रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। हमारे दृष्टिकोण से रासो सर्वथा अप्रामाणिक नहीं है। उसका मूल रूप अभी प्राप्य नहीं है तथा वर्तमान संस्करण बहुत कुछ विकृत रूप में मिलते हैं। जैसा कि डा॰ शर्मा ने सिद्ध किया है, लघुतम संस्करण ही मूल रासो के बहुत कुछ समीप है। हमारे किवगण जान- कूमकर चिरत-नायक के गौरव की गाथा के लिए ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन करते रहे हैं, अतः चन्द का भी ऐसा कर देना कोई आश्चर्य की बात नहीं। साथ ही यह भी मानना होगा कि बारहवीं शती तक हिन्दी का विकास इतना अधिक नहीं हुआ था कि वह साहित्य में प्रयुक्त होती, अतः रासो का मूलतः अपभ्रंश में रचा जाना ही अधिक संभव है।

रासो का काव्य सौन्दर्य

रासो की ऐतिहासिकता को लेकर जितना विचार-विमर्श हुम्रा है, उतना उसकी काव्यात्मकता के सम्बन्ध में नहीं हुम्रा। इस सम्बन्ध में केवल एकमात्र ठोस प्रयत्न डा॰ विपिनबिहारी द्विवेदी ने किया है। उन्होंने भ्रपने शोध-प्रवन्ध "चन्दवरदायी और उनकी CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

काव्य'' की भूमिका में लिखा है—''भले ही कुछ ग्रंशों में ग्रथवा सम्पूर्ण रूप में रासो जाली सिद्ध हो, परन्तु प्रकाशित रूप में यह जैसा जो कुछ है, हमारे सामने है, उसकी साहित्यिकता की परख ग्रक्षुण्ण रहेगी।'' डा॰ द्विवेदी के दृष्टिकोण से हम भी सहमत हैं —रासो का सम्यक् काव्यात्मक मूल्यांकन होना ही चाहिए। हम यहाँ कित्पय शीर्षकों में उसकी काव्यात्मकता पर विचार कर सकते हैं।

- (क) कथा विस्तार—यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि को त्याग कर काव्यत्व की दृष्टि से रासो के इतिवृत्त की समीक्षा करें, तो हमें किव की अपूर्व कल्पना-शक्ति की महत्ता स्वीकार करनी होगी। जिन प्रसंगों की उद्भावना को लेकर इतिहासकार रासो पर छींटाकशी करते हैं, वस्तुतः वे ही किव की काव्य-कुशलता के परिचायक हैं। पृथ्वीराज और जयचन्द के विरोध का कारण संयुक्ता का अपहरण चाहे न हो, किन्तु कि तो रसराज की अभिव्यक्ति के लिए इस वहाने सुन्दर प्रसंग ढूंढ़ निकाला है। युद्धों के कारण के रूप में किसी प्रेम-प्रसंग की कल्पना करके उन्हें विशुद्ध द्वेष की अभिव्यक्ति होने से बचा लिया गया है। पृथ्वीराज का वार-वार गोरी को क्षमा कर देना भले ही ऐतिहासिक तथ्य न हो, किन्तु इससे नायक के चरित की उदारता का प्रभाव पाठकों के हृदय पर पूर्णतः अकित हो जाता है। जब गोरी इस क्षमादान का बदला पृथ्वीराज को लौह-श्रृङ्खलाओं में जकड़कर चुकाता है, तो पाठक की आत्मा तिलिमला उठती है और उसकी सारी सहानुभूति विजेता गोरी के साथ न रहकर पराजित पृथ्वीराज के साथ हो जाती है। इसी प्रकार पृथ्वीराज का शब्दबेधी वाण द्वारा गोरी का वध करके आत्मो-रसर्ग कर देना नायक के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देता है, जो भारतीय महाकाव्य-परम्परा के लिए आवश्यक है।
- (ख) वर्णनात्मकता—रासो के रचयिता ने नगर, उपवन, वन, सरोवर, दुर्ग, सेना, युद्ध भ्रादि के वर्णन में कवि-हृदय का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए एक युद्ध-क्षेत्र का एक प्रत्यक्ष चित्र देखिए—

'न को हार नह जित्त, रहे रहीं ह सूर वर । घर उप्पर भर परत, श्रति जुद्ध महा भर।। कहीं कमध, कहीं मध्य, कहीं कर चरन अन्तरुरि। कहीं कंघ वह तेग, कहीं सिर जुट्टि फुट्टि उर।।

यहाँ केवल स्थिर दृश्य का धंकन हुआ है, किन्तु रासो में गतिशील चित्रों का भी अभाव नहीं है—

मचे कूह कूहं बहै सार-सारं। चमक्कें चमक्कें करारं सुघारं। भभक्कें, भभक्कें बहै रत्तधारं सनक्कें सतक्कें बहै बान भारं। हबक्कें हबक्कें बहै सेल मेलं। हलक्कें हलक्कें मची ठेल मेलं॥

यहाँ युद्ध का दृष्टिगोचर रूप ही नहीं, उसका श्रुतिगोचर रूप भी स्पष्ट हो गया है।

विजय घोर निर्सान रांन चौहान चहुँ दिसि । सकल सर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि । CC-0. bangamwadi Math Collection, Varanasi. (ग) भाव व्यंजना—रासो में मुख्यतः वीर एवं श्रृङ्गार रस की व्यंजना प्रसंगा-नुसार हुई है। वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की ग्रिभिव्यक्ति ग्रोजपूर्ण शैली में की गई है—

उठ्ठिराज पृथ्वीराज बाग लग्ग मनो वीर नट। कढ़त तेग मनोवेग लगत बीज भट्ट घट्ट।।

इसी प्रकार म्युङ्गार रस के ग्रालम्बन—पद्मावती के सौंदर्य-चित्रण में—माधुर्य-पूर्ण शैली का प्रयोग हुग्रा है—

मनहुँ कला ससभान कला सोलह सों बन्निय। बाल वैस सिस ता समीप अमृत रस पिन्नय। विगिस कमल स्निग भ्रमर बेनु खंजर स्निग लुट्टिय। हीर-कीर ग्रठ बिम्ब, मोती नख-सिख ग्रहि घुट्टिय। छुप्पति गयंद हिर हिंसि गति, बिह बनास संचै संचिय। पिग्निय रूप पदमावितय, मनहुँ काम-कामिनी रिचय।।

यहाँ किव नायिका को चन्द्र की सोलह कलाग्रों से सुप्तिज्जित करके ही संतुष्ट नहीं हो गया है, ग्रिपितु बाल्यावस्था में चन्द्रमा द्वारा इसी चन्द्रमुखी के समीप बैठकर रसपान करने की कल्पना ने उसके महत्त्व को ग्रीर भी बढ़ा दिया है, नायिका के विभिन्न अंगों के संगठन के लिए विधि को न केवल विभिन्न उपादानों को एकत्रित करना पड़ा, ग्रिपितु उसे एक खास साँचे का भी प्रयोग करना पड़ा।

महाकवि चन्द ने नारी-सौन्दर्य के ग्रतिरिक्त शृङ्गार रस के ग्रन्य ग्रंगों—वयः संघि, यौवनागम, ग्रनुराग, प्रथम मिलन, संयोगकालीन लज्जा ग्रादि का भी वर्णन पूर्ण तल्लीनता से किया है। संयोगकालीन चेष्टाग्रों के निरूपण में उन्होंने जैसी सफलता प्राप्त की है, वैसी ही उन्होंने वियोगानुभूतियों की ग्रभिव्यक्ति में की है। एक उदाहरण इष्टव्य है—

बढ़ि वियोग बहु बाल, चंदविय पूरन मानं। बढ़ि वियोग बहु बाल, वृद्ध जोवन सनमानं। बढ़ि वियोग बहु बाल, दीन पावस रिति बढ्ढै! बढ़ि वियोग बहु बाल, लिजकुल वधु दिन चढ्ढै!!

यहाँ 'बढ़ वियोग बहु बाल' की म्रावृत्ति इस ढंग से की गई है कि उससे वियोगानुभूतियों की क्रिमिक वृद्धि का वोध स्वतः ही हो जाता है। म्रान्तिम पंक्ति में वियोग
की वृद्धि की तुलना दिन चढ़ने पर कुल-वधू की लज्जा से की गई है—एक सूक्ष्म भाव
की तुलना ग्रन्य सूक्ष्म भाव से करके किव ने म्रापनी पैनी दृष्टि का परिचय दिया है।
इसी प्रकार सभी सुख-साधनों के विद्यमान होते हुए भी वियोग में उनका स्वाद किस
प्रकार परिवर्तित हो जाता है, इसका म्रानुभव किव चन्द की नायिका के मुँह से
सुनिए—

वेई आवास जुग्गनि पुरह, वेई सहचरि मंडलिय। संजोग ययंपति करिया विभाग महिलिय। "वे ही महल हैं, वे ही योगिनीपुर हैं, वे ही सहंचरियों के भुंड हैं, किन्तु एक प्रिय पति के संयोग के ग्रभाव में मुभे कुछ भी श्रच्छा नहीं लगता।"

वीर श्रीर श्रुंगार के श्रतिरिक्त श्रन्य रसों की भी व्यंजना रासो में प्रसंगानुसार हुई है। विशेषतः हास्य, भयानक श्रीर रौद्र का चित्रण तो स्थान-स्थान पर हुश्रा। यहाँ व्यंग्यात्मकता एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक वार जयचंद ने व्यंग्यपूर्वक महाकवि चन्दवरदायी से प्रश्न किया—

"मुँह दरिद्र श्रष्ठ तुच्छ तन, जंगलराव सुहद्द् । बन उजार पशु तन चरन, क्यों दूबरो वरद्द ।"

"मुँह का दरिद्री, तुच्छ शरीर पानेवाला ग्रीर जंगलराव की हद्द में रहनेवाला पशु वरद्द (श्लेष : वैल या वरदायी) दुवला क्यों हो गया ?"

इसका उत्तर चंदवरदायो ने वड़े व्यंग्यात्मक ढंग से देते हुए कहा-

"चढ़ि तुरंग चहुन्नान, म्रान फेरीत परद्वर । तास जुद्ध मंड्यो, जास जान्यौ सबर बर ॥ केइक तिक गिहि पात, केई गिहि डारि मूर तरु । केइक दंत तुछ त्रिन्न, गए दस दिसनि भिज डरु । भुम्र लोकत दिन म्राचिरिज भयो, मान सबर बर मरिद्या । पृथिराज खलन खद्बौ जु षर, सु यों दुब्बरौ बरिद्या ।"

इस छन्द का तात्पर्य यह है कि महाराजा पृथ्वीराज के भय से उनके शत्रुग्नों ने इतने तृण मुँह में लिये कि जिससे बेचारे 'वरह' के खाने के लिए कुछ नहीं बचा। ऐसी स्थिति में उसका दुवला हो जाना स्वाभाविक है। कहना न होगा कि किव ने इस मनोरंजक प्रसंग की उद्भावना करके हास्य का निरूपण सफलतापूर्वक कर दिया है। वस्तुत: रासोकार में सर्वत्र एक महाकिव की-सी प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि भावाभिन्यक्ति की दृष्टि से पृथ्वीराज रासो एक प्रौढ़ रचना है। कला-पक्ष की दृष्टि से भी उसमें ग्रलकारों का प्रयोग, भावानुरूप भाषा, छन्दों की विविधता ग्रादि विशेषताएँ मिलती हैं। भाषा की एकरूपता का ग्रभाव उसमें ग्रवश्य है, किन्तु यह दोष इतना बड़ा नहीं कि वह उसके महत्त्व को न्यून कर दे।

कुछ श्रभाव श्रवश्य रासो में खटकनेवाले हैं। एक तो किव ने वीर रस के मूल भाव को व्यक्तिगत राग-द्रेष पर ही श्राघारित किया है, श्रतः उसमें महाकाव्य की-सी व्यापकता नहीं श्रा पाई। उस समय राष्ट्र को जातीय संगठन श्रौर एकता की वड़ी श्रावश्यकता थी, किव का काम होता है कि वह श्रपने युग के वातावरण से ऊपर उठकर भविष्य के लिए कोई सन्देश दे, किन्तु रासोकार ऐसा नहीं कर पाया।

इसी प्रकार ऋङ्गार रस में भी प्रेम भाव की गम्भीरता नहीं श्रा पाई। नित्य नये विवाह रचानेवाले सामन्तों से इसकी श्राशा भी नहीं की जा सकती। कवि ने भी सामंतवादी दृष्टिकोण ग्रपनाते हुए नारी को भोग की वस्तु मात्र ही माना है; वह उसके हृदय के सूक्ष्म सौंदर्य के दर्शन नहीं कर सका। ग्रस्तु, इन सब दोषों के होते हुए भी "पृथ्वीराज रासो एक महाकाव्य है। उसकी महत्ता उसके ग्राकार-प्रकार की विशालता में नहीं, ग्रपितु इस बात में है कि एक तो वह उस युग को रचना है, जविक हिन्दी ग्रपनी जननी ग्रपन्नंश की कोड़ से बाहर निकलने की ग्रम्यस्त नहीं हुई थी, दूसरे इसमें बीर-रस का चित्रण उन हाथों से किया गया है, जो तलवार चलाने में उतने ही निपुण थे, जितने कि कलम चलाने में। कलम ग्रीर तलवार—दोनों के धनी लेखक साहित्य में कभी-कभी ग्रवतीर्ण होते हैं, ग्रतः महाकिव चंद ग्रीर उनकी रचना का महत्त्व प्रकृषण है।

ः चौवन ः

कबीर : चिन्तन ऋौर कला

- १. विषय-प्रवेश।
- २. कबीर का व्यक्तित्व-एक विश्लेषण।
- ३. परिस्थितियाँ श्रौर प्रेरणा-स्रोत--राजनीतिक, घार्मिक, सामाजिक।
- ४. कवीर साहित्य पर बाह्य प्रभाव—श्रपभ्रंश का सिद्ध साहित्य, नाथ पंथ श्रीर योग मार्ग, वैष्णव-भक्ति श्रान्दोलन, महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय, इस्लाम का प्रभाव, सूफी मत का प्रभाव।
- ५. कवीर की विचार-धारा—सैद्धान्तिक पक्ष—ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, प्रेम-सम्बन्धी विचार, व्यावहारिक-पक्ष—खंडनात्मक ग्रौर विधेयात्मक विचार।
- ६. कबीर काव्य का भाव-पक्ष।
- ७. कवीर-काव्य का शैली-पक्ष ।
- डपसंहार।

यदि हम एक ऐसा कवि ढूँढ़ने लगें, जिसकी प्रतिभा, बुद्धि ग्रौर काव्य-शक्ति में भ्रनेक विरोधी तत्त्वों का भ्राश्चर्यजनक समन्वय हो - जिसने समाज के निम्नतम वर्ग में जन्म लेकर भी उच्चतम वर्ग को घ्रपनी प्रतिभा के बल पर परास्त कर दिया हो, जिसने सर्वथा अशिक्षित होते हुए भी अपने युग के समस्त शिक्षित विद्वानों के मस्तिष्क को अपने तर्क से प्रभावित कर दिया हो और जिसने 'कागद' और 'मसि' न छ्कर भी धपनी काव्य-रचनाग्रों द्वारा कोटि-कोटि जनता के हृदय में ग्रजस्र भावधाराग्रों को प्रवाहित कर दिया हो—तो हमारा साक्षात्कार महाकवि, महासुधारक और महान् नेता महात्मा कबीर से होगा। कबीर क्या थे ? उनका महत्त्व कितना है ? उनके काव्य में भावनाग्रों का ग्रगाध स्रोत किस रूप में प्रवाहित हो रहा है ? इन सब प्रश्नों का सम्यक् उत्तर देना किसी भी भ्रालोचक के वश की बात नहीं। कबीर के शब्दों में उसे यही कहना पड़ता है— "किहिबे क्ं शोभा नहीं, देख्यां ही उनमान ।" डॉ॰ रामकुमार वर्मा जो कि स्वयं भी एक कवि हैं, उनकी महानता के प्रभाव से श्रमिभूत होकर लिखते हैं-"ऐसी स्वतन्त्र प्रवृत्तिवाला कलाकार किसी साहित्य-क्षेत्र में नहीं पाया गया। वह किन-किन स्थलों में विहार करता है, कहाँ-कहाँ सोचने के लिए जाता है, किस प्रशान्त वन-भूमि के वातावरण में गाता है, ये सब स्वतन्त्रता के साधन उसी को ज्ञात थे, किसी प्रन्य को नहीं। उसकी शैली भी इतना भ्रपनापन लिये हुए है कि कोई उसकी नकल भी नहीं कर सकता। भ्रपना विचित्र शब्द-जाल, भ्रपना स्वतन्त्र भावोन्माद, भ्रपना निर्भय श्रालाप, श्रपने भावपूर्ण पर बेढंगे चित्र, ये सभी उसके व्यक्तित्व से श्रोत-प्रोत थे। कला के क्षेत्र का सब कुछ उसी का था।"

कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान ने उनकी तुलना महात्मा गांधी से की है। कबीर थ्रौर महात्मा गांधी दोनों ही प्रपने-अपने युग के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति सिद्ध हुए हैं। दोनों ने ही प्राचीन धर्म थ्रौर दर्शन को ग्रपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से ग्रहण किया है। दोनों ने ही विभिन्न धर्मों का सम्मान करते हुए उनका समन्वय करने का प्रयत्न किया है। दोनों ने ही जीवन के विविध क्षेत्रों—धर्म, समाज थ्रौर नीति—में ग्रपने युग का नेतृत्व किया है। दोनों ही साधना के क्षेत्र में कठोर थ्रौर दृढ़ रहे हैं, तो दूसरी ग्रोर उनका हृदय कोमलता से भी युक्त रहा है। फिर भी दोनों में गहरा ग्रंतर भी मिलता है। कवीर सव कुछ होते हुए भी राजनीति से दूर रहे ग्रौर महात्मा गांधो जीवन के सभी क्षेत्रों को छूते हुए भी काव्य-कला से ग्रपना निकट सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके। कबीर का युग ही ऐसा था कि जन-साधारण राजनीति में भाग नहीं ले सकता था; किन्तु यदि गांधो के पास किन-हृदय होता तो वे काव्य-रचना में प्रवृत्त हो सकते थे—ग्रौर यह प्रवृत्ति युग के प्रतिकूल नहीं होती। ग्रस्तु, महात्मा कबीर श्रौर महात्मा गांधी के व्यक्तित्व के श्रन्तर को स्पष्ट करनेवाला सबसे वड़ा तथ्य कबीर का किव रूप है।

परिस्थितियाँ ग्रौर प्रेरणा-स्रोत

कबीर का ग्राविर्भाव एक ऐसे युग में हुग्रा, जबिक सारा राष्ट्र राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक दुष्टि से पतनोन्मुख हो रहा था। "उस समय सारा उत्तरी भारत राज-नीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त अव्यवस्थित था। सन् १३६८ में तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की नीवें हिला दी थीं श्रीर समस्त राजनीतिक मान्यताएँ पंक के जल की भाँति मिलन हो गई थीं। जो राजवंश दिल्ली में उठे, वे वर्षाकाल के वादलों की भाँति उठे, घुमड़े, गरजे ग्रौर पानी-पानी होकर भूमि पर गिर पड़े। उनके कुछ काल तक घुमड़ने भीर गरजने में ही सारी राजनीतिक, सामाजिक भीर घामिक परिस्थितियाँ भ्रस्त-व्यस्त हुई भीर उनके रूपों में परिवर्तन हुए। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में तुगलक, सैयद भीर लोदी राजवंशों ने उत्तरी भारत पर शासन किया। महम्मद विन तुगलक (१३२४ ई॰) से लेकर इब्राहीम लोदी (१५२६ ई॰) तक सोलह शासक दिल्ली के तस्त पर बैठे भीर उन्होंने ग्रपने राज्यकाल में शासन-व्यवस्था के बदले ग्रधिकतर श्राक्रमण श्रीर युद्ध ही किए।" डॉ॰ रामकुमार वर्मा इस सम्बन्ध में भ्रीर विचार करते हए लिखते हैं "इस समय राजनीति कटी हुई पतंग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी। जो उसकी घिस-टती हुई डोर पकड़ लेता, वही उसे भाग्याकाश की ऊँचाई तक खींच ले जाता। राजनीति में कोई पवित्रता नहीं रही । कूटनीति, हिंसा, छल, त्रिशूल की भाँति फेंके जाते थे श्रीर देश के वक्षःस्थल में चुभकर उसे नहला देते थे। श्मशान में घूमते हुए प्रेतों की भाँति दिल्ल के शासक शवों पर बैठकर भ्रानन्द से खिलखिला उठते थे। जब शासकों की सेवा में रहनेवाले हिजड़े थ्रौर गुलाम भी सिंहासन पर भ्रधिकार कर प्रजा के भाग्य का निर्णय करते थे, तो उनके प्रीत जनता के हृदय में कितनी श्रद्धा थ्रौर स्वामिभक्ति हो

\$ 53

फवीर : चिन्तन ग्रीर कला

सकती थी ? इस भाँति शासक वर्गं जनता की सहानुभूति खो चुका था, जनता भी 'कोउ नप होइ' की मनोवृत्ति से राजनीति के प्रति उदासीन थी।" (हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड. प० १६६)

राजनीति की भाँति घर्म की अवस्था विकृत हो रही थी। मुस्लिम आक्रमण-कारियों की गदा ने हमारे ग्राराच्य देवताग्रों की मूर्तियों को चकनाचूर करके हमारी परम्परागत धारणाओं पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया था। भारत के प्रायः सभी पूर्ववर्ती धर्म-संप्रदाय इस समय ग्रपनी ग्राभा खो बैठे थे। क्या वैदिक, क्या वौद्ध ग्रौर क्या नाथ-पंथी योगी—सभी धर्म-सम्प्रदाय भ्रपनी विकृतावस्था को पहुँच चुके थे। हाँ, केवल दक्षिण से भक्ति का एक नया स्रोत महाराष्ट्र में होता हुम्रा म्रवश्य हिन्दी प्रदेश की म्रोर प्रवाहित हो रहा था, जिसमें नवीन ग्राच्यात्मिक चेतना का प्रकाश दिखाई पड़ रहा था। कबीर का घ्यान भी इसी ग्रोर ग्राकिषत हुग्रा ग्रीर उन्होंने उसमें ग्रपना तेज मिलाकर उसे ग्रौर भी ग्रधिक उज्ज्वल रूप प्रदान कर दिया।

समाज की दशा राजनीति श्रौर धर्म से प्रभावित होती है। जबकि इस युग में ये दोनों विकृत हो रहे थे, तो समाज की दशा अविकृत कैसे रह सकती थी ? शैव, सिद्ध एवं नाथ-पंथियों ने परम्परागत वर्ण-व्यवस्था के प्रति तो सन्देह उत्पन्न कर दिया था, किन्तु उसके स्थान पर कोई सुव्यवस्थित रूप उसे वे नहीं प्रदान कर पाये थे। जनता के मानसिक ग्रीर नैतिक स्तर का बहुत कुछ हास हो चुका था। इसके दो कारण थे— एक तो सारा परम्परागत ज्ञान संस्कृत में संचित था, जबिक जनता में अपभ्रंश का प्रच-लन हो रहा था। दूसरे, हिन्दू सम्राटों के पतन के कारण हमारे विभिन्न शिक्षा-केन्द्र नष्ट हो रहे थे। इसके श्रतिरिक्त मुसलमान शासकों के दरवार में संस्कृत के विद्वानों को कोई सम्मान प्राप्त नहीं था, ऐसी स्थिति में हमारी ज्ञान परम्परा का ह्रास हो जाना स्वाभाविक था।

तत्कालीन युग में नारी की ग्रवस्था तो ग्रीर भी शोचनीय हो गई थी। वाल-विवाह, पर्दा-प्रथा एवं ग्रशिक्षा के कारण भारतीय नारी व्यक्तित्व-शून्य हो गई थी। एक ग्रोर बाल-विधवाग्रों की संख्या में वृद्धि हो रही थी, तो दूसरी ग्रोर समाज की कामुक प्रवृत्तियों पर कोई नियन्त्रण नहीं था। स्वयं कवीर का जन्म इसी प्रकार की स्थिति का परिचय देता है। उस युग का समाज किस प्रकार की कुप्रथाश्रों एवं दूषित रूढ़ियों का दास हो चुका था, इसका परिचय कबीर-काव्य की म्रनेक पंक्तियों से प्राप्त होता है, देखिए--

कोई लरिका बेचई, लरिकी बेचे कोइ। साभा करै कबीर सिउ, हरि संग बनजि करेइ।।

राजनीति, धर्म ग्रौर समाज की इन विकृत परिस्थितियों ने कबीर को विद्रोह के लिए प्रेरित किया। यही कारण है कि उन्होंने ग्रपने युग की प्रायः सभी परम्परागत राजनीति, धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों को संदेह की दृष्टि से देखते हुए उनकी तीन

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

मालोचना की । केवल वैष्णव-भक्ति म्रान्दोलन की नवीन लहर को छोड़कर कबीर ने किसी भी प्राचीन मतवाद का पूरा समर्थन नहीं किया ।

कबोर साहित्य पर बाह्य प्रभाव

कबीर साहित्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न स्रोतों की चर्चा विद्वानों द्वारा की गई है, इनमें कुछ प्रमुख स्रोत ये हैं—

- (क) ग्रपभंश का सिद्ध-साहित्य—सिद्ध-साहित्य की श्रनेक प्रवृत्तियाँ कबीर-साहित्य में उपलब्ध होती हैं, जैसे परम्परागत वर्ण-व्यवस्था का विरोध, विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों की बाह्य पद्धतियों का खंडन, स्वानुभूति की वैयक्तिक शैलो में व्यंजना, रूपक, उलटबासियों श्रौर प्रतीकों का प्रयोग, मुक्तक पद शैली एवं सामान्य लोक-भाषा को श्रप-नाना ग्रादि।
- (ख) नाय-पंथ का प्रभाव—तत्कालीन समाज पर नाथ-पन्थी योगियों की सारचर्यजनक पद्धतियों एवं चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का भारी प्रभाव था। कबीर ने इनकी जटिल एवं चमत्कारिक पद्धतियों के स्थान पर जनता में सहज भक्ति योग की प्रतिष्ठा करने के लिए इनके अनेक योग-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी षट्-चक्र आदि की नये ढंग से व्यवस्था की। कुछ विद्वान् इन शब्दों के प्रयोग के कारण कबीर को नाथ-पंथ एवं योग मार्ग का समर्थक समक्त लेते हैं, जबिक वे वास्तव में ऐसा इनके प्रभाव को न्यून करने के लिए ही करते हैं।
- (ग) वैष्णव भक्ति-ग्रान्दोलन-कबीर के ग्राविर्भाव-काल तक रामानुजाचार्य, मघ्वाचार्य, रामानन्द म्रादि भाचार्यों के द्वारा वैष्णव भक्ति-म्रान्दोलन का प्रवर्त्तन हो चुका था। स्वयं कबीर भी गुरु रामानन्द के ही शिष्य थे। यद्यपि-तात्त्विक दिष्ट से कवीर-मत ग्रीर वैष्णव भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु फिर भी इन्होंने वैष्णव भक्ति के अनेक तत्त्वों को ग्रहण किया है। एक तो ईश्वर के पर्यायवाची नाम के रूप में - राम, गोविन्द, हरि म्रादि शब्दों का प्रयोग उन्होंने सर्वथा वैष्णव भक्तों के अनुरूप किया है। घ्यान रहे, ग्रल्लाह, खुदा ग्रादि शब्दों का प्रयोग भी कभी-कभी करते हैं, किन्तु ऐसा वे उपदेश देते समय या खण्डन-मण्डन के समय में ही करते हैं, प्रेमानुभूति की तन्मयता के क्षणों में तो उनकी वाणी राम, हरि, गोविन्द का ही स्मरण करतो है, श्रर्थात् उनकी श्रन्तरात्मा की गहराई में तो वैष्णव भक्तों के ही श्राराध्य का नाम छिपा हुमा है; शुष्क मत-प्रतिपादन के समय भले ही वे इस्लाम के शब्दों का प्रयोग कर लें। दूसरे, उनके प्रेम का स्वरूप वैष्णव भक्ति-भावना से गहरा साम्य रखता है। कुछ लोग इसे सूफी मत की देन बताते हैं, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। प्रेम को ग्राधार समानता की भावना होती है, जबिक भिक्त में प्रेम के साथ श्रद्धा का भी मिश्रण होता है। कबीर ने श्रद्धैतवाद को स्वीकार करते हुए भी श्रपनी श्रात्मा को परमात्मा की अपेक्षा किचित् हीन स्वीकार किया है, जैसे-

जा कारणि में ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ। घनि मेलो असुबक्ताला अझारि ासासको असह्यक्री।

X कबीर कुत्ता राम का मृतिया मेरा नाँउ। गले राम की जेवड़ीं, जित खैंचे तित जाँउ।।

कबीर ने अपने युग के प्रायः सभी प्रचलित धर्मों का खण्डन किसी-न-किसी रूप में किया है, किन्तु यही एक ऐसा मत है जिसके प्रति उन्होंने भ्रगाध श्रद्धा दिखाई है-

मेरे संगी दोई जणां, एक वैज्णों एक राम। वो है बाता मुक्ति का, वो सुमिरावें नाम।। वैश्नों की छपरी भली, ना साखत का बड़ गाँव। साखत बांभण मत मिलै, वैसनों मिले चांडा<mark>ल</mark>। अंकमाल दे भेटिये, मानों मिले

जपर्युक्त तथ्यों के ग्राघार पर यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि कबीर वैष्णव

भक्ति-म्रान्दोलन से म्रत्यधिक प्रभावित थे।

(घ) महाराष्ट्रीय संत-सम्प्रदाय—दसवीं शताब्दी के ग्रनन्तर महाराष्ट्र प्रदेश में नाथ-सम्प्रदाय के ग्रतिरिक्त महानुभाव सम्प्रदाय ग्रौर वारकरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ, जिनका प्रभाव कवीर पर भी परिलक्षित होता है। इन सम्प्रदायों से सम्बन्धित सन्त-परम्परा में भ्रागे चलकर नामदेव का भ्राविर्भाव हुम्रा । उनका जीवन-काल (१२७०-१३५० ई०) कवीर से पूर्ववर्ती रहा है। नामदेव की अनेक प्रवृत्तियों का विकास कवीर में दृष्टिगोचर होता है। ग्राचार्य विनयमोहन शर्मा ने दोनां साहित्यों की विस्तृत रूप में तुलना करते हुए भ्रनेक समानताओं पर प्रकाश डाला है। भ्रद्वैत का समर्थन, गुरू-महत्ता, मूर्ति-पूजा पर व्यंग्य, जाति-पाँति भेद का विरोध, नाथ-पंथियों की शब्दावली का प्रयोग आदि प्रनेक प्रवृत्तियाँ कवीर-साहित्य में नामदेव के ग्रनुरूप ही मिलती हैं।

(ङ) इस्लाम का प्रभाव—कुछ विद्वान् कबीर की श्रनेक प्रवृत्तियों—निर्गुणो-पासना, वर्ण-व्यवस्था व मूर्ति-पूजा का विरोध भ्रादि--को इस्लाम का प्रभाव बताते हैं, किन्तु ये प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में इस्लाम के प्रचार से पूर्व ही विकसित हो चुकी थीं। पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथ-पन्थी योगियों ने हिन्दू धर्म की ग्रनेक रीतियों का खण्डन उत्साहपूर्वक किया था। भले ही कबोर ने हिन्दू धर्म की बाह्य पद्धतियों का खंडन करते समय इस्लाम के म्रनुयायियों का-सा उत्साह दिखाया हो, किन्तु फिर भी ये इस्लाम से बहुत दूर रहे। एक तो उन्होंने नमाज, रोजा श्रादि की व्यर्थता सिद्ध की, दूसरे उन्होंने साघना के क्षेत्र में इस्लाम के तत्त्व की उपेक्षा की। कबीर-साहित्य के खण्डनात्मक पक्ष में ही इस्लाम का भ्रस्तित्व है, उसका मंडनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म भीर हिन्दू दर्शन के ही तत्त्वों से सुसज्जित है। ईश्वर का गुण-गान करते समय वे राम, गोविन्द, हरि का नाम लेते हैं — ग्रल्लाह या खुदा का नहीं । संसार की ग्रसारता घोषित करते हुए वे म्रद्वैतवाद मौर माया की बात करते हैं, मृत्यु के पश्चात् मिलनेवाली बहिश्त CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

ग्रौर ग्राखरी इन्साफ की नहीं, ग्रौर विधि-निषेधों की चर्चा में वे हिन्दू शास्त्रों का ग्राधार ग्रहण करते हैं—कुरान का नहीं। केवल हिन्दू धर्म की कुछ रूढ़ियों का खण्डन करने के कारण ही कवीर को इस्लाम से प्रभावित नहीं माना जा सकता।

(च) सूफी मत का प्रभाव—इस्लाम की ही माँति हमारे विद्वानों ने कवीर पर सूफी प्रभाव की भी कल्पना की है। उनका कहना है कि कबीर ने अपनी साधना-पद्धित में सूफियों के प्रेम-तत्त्व को स्थान दिया। किन्तु इस मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया गया। घ्यान रहे, उसी में वैष्णव भक्ति-ग्रान्दोलन ने भी प्रेम-तत्त्व को अत्यधिक महत्व दिया था। जहाँ कवीर ने वैष्णव मत के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त की है, वहाँ उन्होंने सूफी दरवेशों और शेखों का उपहास किया है—

है कोई दिल दरवेश तेरा, नास्त, मलकूत, जबरूत को छोड़ि के जाइ लाहूत पर करै डेरा।।

—कबीर का रहस्यवाद, पृ० १४६

× × × × × × सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबे जाइ। जिनका दिल स्याबित नहीं तिनकौ कहाँ खुदाई।।

सूफियों का प्रेम समानता की भावना पर ग्राघारित है, किन्तु कबीर के भगवत् प्रेम में श्रद्धा का भी मिश्रण मिलता है। वे ग्रपनी ग्रात्मा को मैली ग्रौर प्रियतम को पित्रत्र मानते हैं। दूसरे, सूफी मतानुयायी परमात्मा की कल्पना प्रेयसी के रूप में करते हैं, जबिक इन्होंने ग्रपने ग्राराघ्य को पित के रूप में स्वीकार किया है। तीसरे, कबीर ने ग्रपनी साधना-पद्धित के प्रतिपादन में सूफी शब्दावली का प्रयोग कहीं भी नहीं किया। ग्रतः कोई भी ऐसा साक्ष्य नहीं मिलता, जिससे कि कबीर के प्रेम-तत्त्व को सूफियों से गृहीत माना जा सके, जबिक इसके विपरीत वैष्णव भक्ति-मार्ग की ग्रनेक विशेषताएँ उनके प्रेम-तत्त्व में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की विचार-धारा, साधना-पद्धित एवं साहित्य-शैली के निर्माण में सिद्धों, नाथ-पंथी योगियों, महाराष्ट्रीय सन्तों एवं वैष्णव भक्ति-ग्रान्दोलन के प्रभाव ने पर्याप्त योग दिया। उन पर इस्लाम ग्रौर सूफीमत के प्रभाव को ग्रव तक ग्रत्यधिक महत्व दिया जाता रहा है, जो ग्रनुचित है।

कबीर की विचार-धारा

कवीर की विचार-धारा का ग्रध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है—(१) सैद्धान्तिक पक्ष ग्रौर (२) व्यवहारिक पक्ष । सैद्धान्तिक दृष्टि से कवीर को हम किसी एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं कर सकते । उन्होंने रामानन्द से राम-भक्ति का मन्त्र प्राप्त किया था, किन्तु फिर भी उनके राम 'दुष्ट-दलन रघुनाथ' नहीं थे । राम से उनका ग्रमिन प्राय कुछ ग्रौर ही था।—"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है ग्राना।" उन्होंने राम को निर्गण रूप में ग्रहण करते हुए का प्रदेश दिया— निरगुण राम

निरगुण राम जपहु रे भाई ।'' उनको राम-भावना भारतीय ब्रह्म-भावना से सर्वथा मिलती है । वे मुसलमानों के एकेश्वरवाद या खुदावाद के समर्थक नहीं थे । उनका निर्गुण सम्बन्धी दृष्टिकोण इस्लाम के अनुकूल नहीं है। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार करते हुए डा॰ श्यामसुन्दरदास जी लिखते हैं- 'स्थूल दृष्टि से मूर्ति-द्रोही एकेश्वरवाद ग्रीर मूर्तिपूजक बहुदेववाद में बहुत बड़ा ग्रन्तर है, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उनमें उतना ग्रन्तर नहीं दीख पड़ेगा जितना एकेश्वरवाद ग्रीर ब्रह्मवाद में है, वरन् सारतः वे दोनों एक ही हैं, क्योंकि बहुत-से देवी-देवताश्रों को श्रलग-श्रलग मानना श्रीर सब गुरु गोवर्धनदास एक ईश्वर को मानना एक ही बात है। परन्तु ब्रह्मवाद का मूलाघार ही भिन्न है। उसमें लेश-मात्र भी भौतिकवाद नहीं है। एकेश्वरवाद भौतिकवाद है, वह जीवात्मा, परमात्मा ग्रीर जड़ जगत् तीनों की भिन्न सत्ता मानता है, जबिक ब्रह्मवाद शुद्ध ग्रात्मतत्त्व ग्रर्थात् चैतन्य के ग्रतिरिक्त किसी का ग्रस्तित्व नहीं मानता । उसके अनुसार आत्मा भी परमात्मा ही है और जड़ जगत् भी ब्रह्म है। कबीर में भौतिक या बाह्यार्थवाद कहीं मिलता ही नहीं और ग्रात्मवाद की उन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रन्छी भलक दिखाई है।"

जीव, जगत् ग्रौर ब्रह्म के सम्बन्ध में कवीर की विचार-धारा म्रहैतमूलक ही है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, उनके भ्रतिरिक्त संसार में भौर कुछ नहीं है। जो कुछ है, ब्रह्म ही है-ब्रह्म ही से सारे संसार की उत्पत्ति होती है ग्रीर ग्रन्त में वह उसी में लीन हो जाता है-

पाणी ही ते हिम भया, हिम ह्वं गया विलाय। जो कुछ या सोई भया, श्रव कुछ कहा न जाई ॥

सृष्टि ग्रीर ब्रह्म का सम्बन्ध दिखाने के लिए ग्रहैतवादी दो उदाहरण दिया करते हैं। जिस प्रकार एक छोटे से बीज में वट का वृहदाकार वृक्ष ग्रंतिहत रहता है, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्म में अंतिहत रहती है तथा जिस प्रकार दूध में घी व्याप्त रहत। है, उसी प्रकार ब्रह्म भी इस संसार में सर्वत्र व्याप्त है-

खालिक खलक, खलक में खालिक सब जग रह्यो समाई।

जब ब्रह्म ग्रपनी लीला का विस्तार करता है, तो इस नाम-रूपात्मक जगत् क सृष्टि होती है, जिसे वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं ही समेट लेता है-

सबमें श्राप आप सबहिन में, श्राप श्राप सूं खेले। नाना भांति घड़े सब भांड़े, रूप घरे घरि मेले।।

वेदान्त में जगत् भीर ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिविम्बवाद का भी प्रतिपादन किय। गया है। इसके अनुसार ब्रह्म विम्ब है और नाना रूपात्मक दृश्य जगत् उसका प्रतिबिम्ब है। कवीर कहते हैं—

खंडित मूल बिनास कही, किम विगतह कीजे। ज्यूं जल में प्रतिव्यंब, त्यूं सकल रामीह जाणिजे ।।

कबीर ने वेदान्त से कनक-कुंडल न्याय, जल-तरंग न्याय भ्रादि के भ्राधार पर भी जीव श्रीर बहुर-के प्रावत्व को स्पष्ट किया है—

जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवार्वीहंगे। ऐसे हम लोक वेद के बिछुरे मुन्निहि माँहि समार्वाहंगे।।

अस्ति अलाँह तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलार्वाहंगे।
कहै कबीर स्वामी मुख सागर हंसींह हंस मिलार्वाहंगे।।

संसार के मिथ्यात्व एवं माया-जन्य भ्रम का भ्राख्यान भी कवीर ने भ्रद्वैतवादी विचार-धारा के भ्रनुसार ही किया है। माया की निंदा उन्होंने बारम्बार की है—

जग हटावड़ा स्वाद ठग, माया बेसां लाइ। रामचरन नोकां गही, जिन जाई जनम ठगाइ।।

 × × ×
 ×
 × कबीर माया पांपणीं, हिर स्ं करें हराम ।
 मुिष्क किंडियाली कुमित की, कहण न देई राम ।।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की दार्शनिक मान्यताएँ श्रद्धैतवाद के धनुकूल हैं, किन्तु फिर भी हम उन्हें पूर्णतः श्रद्धैतवादी नहीं कह सकते। श्रद्धैतवाद ज्ञान के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति पर वल देता है; किन्तु कबीरदास ने इनके स्थान पर प्रेम की प्रतिष्ठा की। तत्कालीन वैष्णव ग्राचार्यों ने श्रद्धैत-विरोधी ग्राधारों पर भक्ति की प्रतिष्ठा की थी, जबिक कबीर ने ग्रद्धैत ग्रीर भक्ति का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। वे ज्ञान की ग्रपेक्षा प्रेम की महत्ता स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में—'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुग्ना, पंडित भया न कोय। ढाई श्रच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।' वे अपनी साधना-पद्धित में प्रेम को सर्वोपरि स्थान देते हैं। प्रेम के महत्त्व की व्याख्या उन्होंने ग्रनेक दोहों में की है—

जब में था तब गुरु नहीं, ग्रब गुरु हैं हम नाहि।
प्रेम गली ग्रिति साँकरी, ता में दो न समाहि।।
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान।
जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिन पान।।
जहाँ प्रेम तह नेमि नहिं, तहाँ न बुधि व्योहार।
प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिनै तिथि बार।।

यह तो हुई कवीर-मत के सैद्धान्तिक पक्ष की बात । अब हम उसके व्यावहारिक पक्ष को लेते हैं । कबीरदास के युगधर्म के व्यावहारिक रूप को लेकर ही अनेक दुराचार एवं अत्यावार हो रहे थे । सभी धर्म-सम्प्रदायों की मूल विचार-धारा सामान्यतः एक है । सभी धर्म ईश्वर में विश्वास, प्रभु के गुणगान, सत्य, दया, परोपकार आदि का समर्थन करते हैं । किन्तु धर्म के बाह्य रूप को, पूजा के विधि-विधानों को लेकर ही विभिन्न-सम्प्रदायों के लोग परस्पर लड़ते-क्षगड़ते हैं । जब मूल श्वावन्ता को भूलकर उसके

बाह्य रूप को ही सारा महत्त्व दिया जाने लगता है, तो धर्म का नाश होने लगता है कवीर के युग में ऐसा हो होने लगा था। अतः उन्होंने एक तो धर्म के सच्चे रूप को प्रकट करने के लिए और दूसरे विभिन्न धर्मों के पारस्परिक मतभेद को दूर करने के लिए हिन्दुयों और मुसलमानों के विधि-विधानों, कर्म-कांड एवं अन्ध विश्वास की कटु आलोचना की। उनकी इस आलोचना का सारांश निम्नांकित पद में उपलब्ध हागा—

साधो देखो जग बौराना ।

साँचि कहीं तो मारन धावै, फूँठे जग पतियाना ।।

हिन्दु कहत है राम हमारा, मुसलमान रहिमाना ।

प्रापस में दोउ लड़े मरतु हैं, मरम कोई नींह जाना ॥

बहुत मिले मोहि नेमो धर्मी, प्रात करें असनाना ।

आसन घोड़ि पखानें पूजै, तिनका थोथा ज्ञाना ॥

प्रासन मारि डिंभ धिर बैठे, मन में बहुत गुमाना ।

पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ वत भुलाना ।

माला पहिरे दोपी पहिरे, छाप तिलक प्रनुमाना ॥

साखी शब्दै गावत फूले, प्रातम खबर न जाना ॥

घर घर मंत्र जो देत किरत हैं, माया के प्रभिमाना ।

गुक्वा सहित सिख्य सब बूड़े ग्रंतकाल पिछताना ॥

४

४

हिन्दू की दया मेहर तुरकन की, दोनों घर से भागी।

वह कर जिबह वो भटका मारें, ग्राग दोउ घर लागी ॥

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि कबीर ने हिन्दू ग्रौर मुसलमान दोनों के घर्मों क । बुराइयों का खंडन निष्पक्ष रूप में किया है । जहाँ उन्होंने हिन्दुग्रों की मूर्ति-पूजा, तीर्थ, वृत, उपवास, छुग्राछूत का तीव्र विरोध किया है, वहाँ उन्होंने मुसलमानों की नमाज, जीव-हत्या ग्रादि की भत्सीना की है ।

विभिन्न धर्मों की रूढ़ियों का खंडन करते समय कबीर की वाणी का स्वर प्रत्यन्त

तीखा हो गया है-

जी तू बाँभन बाँभनी जाया, तो म्रान बाट ह्वे क्यों नींह म्राया। जो तू तुरक तुरकनी जाया, तो भीतर खतना क्यों न कराया।।

कबीर ने जहाँ खंडन किया है, वहाँ धर्म के सत् स्वरूप का मंडन भी किया है मुख्यतः उन्होंने गुरु-भक्ति, ईश्वर-स्मरण, संसार से विरक्ति, कथनानुसार करणी, सुसंगित, प्रेम-महिमा, संयम ग्रीर सदाचार का प्रतिपादन विधेयात्मक रूप में किया है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ देखिए—

(क) गुरु-भक्ति— सतगुरु सर्वां न को सगा, सोधी सईं न दाति । िहरिजीशसर्वांभनंकीविहत्त्व्शीहरिजन√सईंकतः जाति । सतगुरु को महिमा भ्रनन्त, श्रनन्त किया उपकार । लोचन भ्रनन्त उघाड़िया, अनन्त दिखावण हार ।

(ख) ईश्वर-स्मरण—
कबीर सूता क्या करें, गुण गोबिन्द के गाइ।
तेरे सिर पर जम खड़ा, खरच कदे का खाइ।
कबीर राम रिकाइ लें, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधै संधि मिलाइ।

(ग) संसार की ग्रसारता— भूँठे मुख को मुख कहें, मानत है मन मोद। जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।

(घ) सुसंगति का परिणाम—

किवरा संगत साघ की, ज्यों गंधी की वास ।

जो के कु गंधी दे नहीं, तो भी वास सुवास ।।

मथुरा भावे द्वारिका, भावे जा जगन्नाथ।
साघ सँगति हरिभजन बिनु, के कुन स्रावे हाथ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने धर्म के पवित्र रूप की ही प्रतिष्ठा का प्रयत्न भ्रपने साहित्य के द्वारा किया।

कबोर-काव्य का भाव-पक्ष

कबीर ने प्रायः जिन विचारों का प्रतिपादन किया है, वे उनकी व्यक्तिगत अनुभूति से समन्वित हैं, अतः उनका प्रतिपादन भावना से युक्त है। दूसरे, उन्होंने अपने
वैयक्तिक ईश्वर-प्रेम का निरूपण भी अनुभूतिपूर्ण शब्दों में किया है। यहाँ यह प्रश्न उठता
है कि उनके इस ईश्वर-प्रेम या रहस्यवाद को किस रस के अन्तर्गत स्थान दें? कबीर ने
इसमें पत्नी और पित के रूपक का प्रयोग किया है, अतः काव्यानुभूति की दृष्टि से उनके
प्रणय काव्य को उच्चकोटि के श्रञ्जार में स्थान दिया जा सकता है।

कबीर साधना के क्षेत्र में वाला-प्रेयसी का-सा रूप धारण कर लेते हैं। अपने प्रियतम के विरह में उनका हृदय वेदना से ग्रोत-प्रोत हो जाता है। ग्रपनी इस विरह-वेदना की व्यंजना उन्होंने शत-शत दोहों में की है। ये दोहे ग्रनुभूति से ग्रोत-प्रोत हैं। उनके हृदय की ग्राकुलता का वर्णन देखिए—

प्रियतम की प्रतीक्षा करते-करते कबीर की विरहिणी ग्रात्मा शोक-विह्नल हो उठती है। वह उनकी प्रतीक्षा में पथ के किनारे जाकर खड़ी हो जाती है। ग्राने-जाने CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varianasi.

वाले प्रत्येक पथिक से वह अपने प्रियतम के सम्बन्ध ने केवल एक बात पूछती है—
केवल एक— "वे कव मिलेंगे?" किन्तु कोई उत्तर नहीं देता। भला विरिहणी अपने
मन को किस प्रकार शान्त रखे। उसका हृदय सदैव प्रियतम-दर्शन के लिए तरसता
रहता है और मन को जरा भी चैन नहीं मिलता। उनका पथ देखते-देखते आँखों में भाँई
पड़ गई और उनका नाम रटते-रटते जिह्ना में छाले पड़ गए। विरह में रोते-रोते आँखें
कसैली हो गई हैं, किन्तु लोग समभते हैं कि दुखती हैं। उन्हें क्या पता कि वह अपने
प्रियतम के लिए रात-रात भर रोती रहती है। प्रतीक्षा करते-करते दिन बीत जाता है,
रात भी वीत जाती है, किन्तु विरिहणी को उसका प्रियतम नहीं मिलता। उसका हृदय
तड़पता ही रह जाता है। विरिहणी सोचती है—इस प्रकार रात-दिन जलते देहने से तो
मीत ही अच्छी है, इन्हीं भावों की व्यंजना निम्नांकित दोहे में देखिए—

बिरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूसै घाइ।

एक सबद कहि पीव का, कबर मिलेंगे ग्राइ॥

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।

जिव तरसै तुभ मिलन को, मन नाहीं विश्राम॥

ग्रंखड़ियाँ भाई पड़ी पंथ निहारि निहारि।

जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि॥

ग्रंखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जांगे दुखड़ियाँ।

साँई ग्रपणें कारणें, रोइ-रोइ रतिड़ियाँ॥

× × ×

कबोर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।

बिरहणि पिव पानै नहीं, जियरा तलपे माइ॥

कै बिरहणि कूँ मीच दे, कै ग्रापा दिखलाइ।

ग्राठ पहर का दाभणां मो पै सह्या न जाइ॥

विरह की इस गहरी-वेदना को कौन समक्त सकता है। प्रेम-दिवानी मीरा के शब्दों में "घायल की पीड़ा घायल जाणें जे कोई घायल होय।" कवीर की ग्रात्मा भी कुछ ऐसा ही ग्रनुभव करती है—

भले ही कबीर की इस विरह-व्यंजना में जायसी की-सी श्रतिशयोक्तियाँ न हों, किन्तु मार्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से यह हिन्दी काव्य के किसी भी लौकिक विरह-वर्णन से कम श्रनुभृतिपूर्ण नहीं है।

विरह की दीर्घ साधना के अनन्तर कबीर के जीवन में अन्त में मिलन की घड़ियों का भी आगमन होता हैं। वे अपना सारा पीर्ष, सारी गर्व एवं सारी अक्खड़ता को भूल

कर किसी नवीन किशोरी बाला के हृदय की भाँति कोमलता से गद्गद, लाज से विभोर और प्यार से विह्नल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की भ्रोर भ्रमसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ बल खाने लगते हैं, हृदय की धड़कन द्रुततर हो जाती है और घूँघट का पट कुछ भागे खिसका भाता है। एक भ्रोर सास का भय, देवरानी की लज्जा भीर ननदों का उपहास, दूसरी ग्रोर किसी अपरिचित से प्रथम मिलन की श्रज्ञात श्राशंकाएँ—इन सबसे उस मग्धा की जो दशा हो जाती है, वह अवर्णनीय है-

पिया मोरा जागे मैं कैसे सोऊँ री।

पांच सखी मेरे संग की सहेली, उन रंग रंगी पिया रंग न मिली री !! सास सयानी ननद द्योरानी, उन डर डरी पिय सार न जानी री !! द्वादस अपर सेज बिछानो, चढ न सकी लिज लजानी री!!

यदि वह ग्रपरिचित सो रहा, तो उसके पार्श्व में जाकर चुपचाप लेट जाना कुछ ग्रौर बात है, पर उसके जागते समय जाना कुछ ग्रीर है। इस दूसरी परिस्थित में नवीना का कार्य बहुत ही दुष्कर होता है। यद्यपि वह श्रागे बढ़ती है, किन्तु उसका हृदय शंकाकुल हो उठता है-

> मन परतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग। क्या जाणों उस पीव सूँ, कैसे रहसी रंग।।

भीर अन्त में मधुर-मिलन के वे क्षण भी आते हैं, जबकि उसकी सारी शंका, सारी लज्जा भीर सारे तर्क-वितर्क रस के प्रवाह में वह जाते हैं। यद्यपि वह मुग्धा नायिका की भाँति प्रारम्भ में थोड़ा निषेध करती है-

घीरे पाँव घरो पलंगा पर, जागत ननद जिठानी। किन्तु दूसरे ही क्षण-

जोग जुगत री रंग महल में, प्रिय पाये ग्रनमोल रे। कहत कबीर ग्रानन्द भयो है, बाजत ग्रनहद ढोल रे।।

× कहैं कबीर सुनो भई साघो, लोकलाज बिलछानी।

यद्यपि कबीर की इन ग्रलौकिक ग्रनुभूतियों को श्रृङ्गार रस की संज्ञा देना उसका खुले शब्दों में अपमान करना है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि कबीर ने साधक कबीर की अनुभूतियों का इतना ग्रधिक साधारणीकरण कर दिया है कि उनकी ग्रसाधारणता रसानुभूति में बाधक सिद्ध नहीं होती । यदि हम एक ऐसा श्रृङ्गार-काव्य पढ़ें, जो सौंदर्य के स्थूल ग्रवयवों एवं मिलन के नग्न दृश्यों से शून्य हो तथा जिसमें कामुकता ग्रीर ग्रहं श्रीर स्वार्य का सर्वथा विगलन हो गया हो, तो उसकी अनुभूति लगभग वैसी ही होगी, जो कबीर के काव्य से होती है। काव्यानुभूति के क्षेत्र में, जबिक ग्रसामान्य सामान्य में, अलौकिक लौकिक में, बीभत्स सौंदर्य में, शोक आनन्द में परिणत हो सकता है, तो धलौकिक प्रेम का परिष्कृत श्रृङ्गार में परिवर्तित हो जाना भी स्वाभाविक है, भ्रन्यथा रहस्यवादी साहित्य काव्य न कहलाकर धार्मिक दार्शनिक ग्रन्थों की कोटि में रखा जायगा। कहना न होगा कि इस दृष्टि से कबीर का काल्य वहत् कुझ अफल सिद्ध होता है।

कबोर-काव्य का शैली-पक्ष

यद्यपि कवीर ने प्रयत्नपूर्वक अपनी शैली को चमत्कारपूर्ण प्रायः नहीं बनाया है, किन्तु फिर भी अनुभूति के वेग के कारण उनकी शैली में स्वाभाविक रूप से ही प्रभावोत्पा-दन की क्षमता आ गई है। जहाँ उन्होंने अपने हृदय के प्रणय-रस से ओत-प्रोत काव्य लिखा है, उसका तो कहना ही क्या; संसार की क्षणभंगुरता, लोभ, सत्य और सदाचार के शुष्क विचारों का प्रतिपादन उन्होंने इस ढंग से किया है कि वह पाठक के हृदय को प्राक्षित कर लेता है। वे केवल मस्तिष्क को प्रभावित करनेवाला उपदेश नहीं देते, अपितु उसे एक ऐसा रूप प्रदान कर देते हैं, जो हमारे कल्पना-चक्षुओं का विषय बन सके। वे सीधी-सो बात को भी इस प्रकार कहते हैं कि वह प्रभावोत्पादक बन जाती है। जैसे, संसार की नश्वरता का प्रतिपादन देखिए—

भूँठे सुख को सुख कहें, मानत है मन-मोद। जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।।

यहाँ ग्रन्तिम पंक्ति में व्यंजना का वैभव दृष्टिगोचर होता है। 'लोभ मत करो', इस शुष्क तथ्य को कबीर इस प्रकार विणित करते हैं—

माली गुड़ में गड़ि रही, पंख रही लपटाइ। ताली पीटै सिर घुनै, मीठै बोइ माइ।।

यहाँ श्रभिषा में यह नहीं कहा गया कि लोभ बुरा है, श्रपितु इस सत्य की ध्यंजना एक ऐसे दृश्य की श्रायोजना करके की गई है, जो श्रत्यन्त मार्मिक एवं प्रभाव-शाली है।

कवीर के काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। वे शुष्क तथ्यों को उपमानों में लपेटकर प्रस्तुत करते हैं, जिससे उनके आकर्षण में अपार वृद्धि हो जाती है। उन्होंने एक हो तथ्य की व्यंजना के लिए अनेक प्रभावोत्पादक उप-माओं का प्रयोग किया है; जैसे—

- १. धन जोबन का गरबु न कीजै, कागद जिउ गलि जाहिगा।
- २. पानी केरा बुदबुदा, श्रस मानुष की जाति ।
- ३. ऐसा यह संसार है, जैसा सेमर फूल।

इन सब पंक्तियों में संसार की नश्वरता का प्रतिपादन विभिन्न उपमानों के माघ्यम से किया गया है। उपमा के ग्रतिरिक्त रूपक और ग्रन्योक्ति का प्रयोग भी कबीर ने भ्रत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। देखिए—

स्पक — यह तन कांचा कुंभ है, लिये फिरै था साथ।

टपका लागा फूटिया, कछु नींह आया हाथ।।

प्रन्योक्ति — मैं भँवरा तोहिं बरजिया, बन-बन बास न लेय।।

अटकैगा कहुँ बेल से, तड़िप तड़िप जिय देय।।

माली आवत देखि के कलियाँ करेँ पुकारि।

फूले-फूलेन जुम्बिक जियेश काहिहां हम्मस्री बड़ारि।।

यहाँ हमने कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में कवीर-काव्य में सभी अलंकारों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो जाते हैं। सभी अलंकारों का मिल जाना महत्त्व की बात नहीं है, अपितु महत्त्व की बात यह है कि सभी अलंकार स्वतः ही अत्यंत प्रभावोत्पादक रूप में आये हैं।

कबीर की भाषा-शैली में व्यंजना की प्रौढ़ शक्ति एवं काव्य-गुणों का श्रक्षय कोष विद्यमान है। यद्यपि उनके विभिन्न शिष्यों के प्रान्त-भेद के कारण उनकी वाणी के विभिन्न रूप मिलते हैं, जिनमें भाषा की एकरूपता नहीं मिलती, किन्तु यह कबीर का दोष नहीं है। मूलतः उनकी भाषा में भावों को व्यक्त करने की श्रसाधारण शक्ति हैं। काव्य-शास्त्र श्रौर व्याकरण का श्रम्यास किए बिना ही उन्होंने भाषा पर श्रद्भुत श्रिष्ट-कार प्राप्त कर लिया था। डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी उनकी भाषा के गुणों पर मुग्ध होकर लिखते हैं—'भाषा पर कबीर का जबरदस्त श्रिष्ठकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—वन गया है तो सीघे-सीघे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर श्राती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।' श्रागे चलकर डॉ॰ द्विवेदी लिखते हैं—''फिर व्यंग्य करने में श्रौर चुटकी लेने में भी कबीर श्रपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पण्डित श्रौर काजी, श्रत्यन्त सीघी भाषा में वे ऐसी गहरीं चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल भाड़कर चल देने के सिवा श्रौर कोई रास्ता ही नहीं पाता।"

उपसंहार

वस्तुतः कबीर प्रपूर्व प्रतिभा-सम्पन्न कि थे। उनके काव्य में भाव ग्रौर विचार, तथ्य ग्रौर कल्पना, भाषा ग्रौर ग्रलंकार का ग्राश्चर्यजनक रूप में समन्वय हुग्रा है। उनके महत्व के सम्मुख हिन्दी के बहुत कम कि ठहर सकते हैं। तुलसीदास महान् कहें जाते हैं, किन्तु उनके पास शिक्षा, ज्ञान ग्रौर संस्कारों की ऐसी थाती थी, किसके बल पर ग्रागे बढ़ना ग्रधिक किठन नहीं था—पर समाज की एक निम्नतम श्रेणी में जन्म लेकर ग्रक्षर-ज्ञान से सर्वथा शून्य होते हुए भी कबीर भाव, विचार ग्रौर साधना के जिस कैंचे स्तर तक पहुँचे, वह ग्रद्भुत है! कृष्ण के परम्परागत रूप को लेकर नवीन भाव-लहरियों को संचारित कर देना 'सूरसागर' के रचियता की महान् देन है, किन्तु कबीर की सी तेजस्विता उसमें कहाँ ? हिन्दी के शेष किवयों में तो ग्रौर है हो कौन, जिसकी तुलना कबीर से की जा सके ? प्रेम-मार्ग के पिथक जायसी दूसरों की ही राम-कहानी सुनाने में लगे रहे, स्वानुभूतियों की वह मार्मिक व्यंजना, जो कबीर में मिलती है, उनमें नहीं मिलती । हाँ, ग्राधुनिक युग के किवयों में प्रसाद ग्रवश्य ऐसे हैं; जिनका स्मरण यहाँ किया जा सकता है। कबीर की तुलना प्रसाद से इसलिए भी उपयुक्त है कि दोनों ग्रपने युग में सबसे बड़े रहस्यवादी किव माने जाते हैं; किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा ग्रन्तर है। कबीर ने ग्रपनी दिव्य ग्रनुभृतियों को सांसारिक शब्दावली में व्यक्त किया СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

था, जबिक प्रसाद ने लौकिक प्रेम को अलौकिकता का आवरण प्रदान किया। कवीर जिस महान् सत्ता के साक्षात्कार से इसी जीवन में तेजोमय हो चुके थे और जिसके प्रकाश के कारण उनके शब्दों में अपूर्व शक्ति आ गई थी, उसका प्रसाद कदाचित् आभास-मात्र ही प्राप्त कर सके।

सुकरात ने एक बार कहा था कि जब परमेश्वर को घरती के जीवों से वार्ती-लाप करना होता है, तो वह किवयों की वाणी के माध्यम से बोलता है। वह प्रपना दिव्य संदेश किव के दिव्य शब्दों में देता है। सुकरात का यह कथन विश्व के कुछ ही किवयों पर लागू होता है—इन कुछ किवयों में किवीर का स्थान सबसे ऊँचा है।

the said of another 12 few as "From" fill by one)

THE RESIDENCE OF THE PARTY OF THE PARTY OF THE PARTY OF

The first of the state of the s

the bearing to be distingting a serious for

that he a county of one print of the first own will be an also

and only there is they be the true to a superior and make

:: पचपन ::

जायसी की प्रेमन्यंजना

१. भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानों की परम्परा।

२. क्या हिन्दी प्रेमाख्यानों में प्रेम की व्यंजना ग्रलौकिक रूप में है ? इस सम्बन्ध में पाँच युक्तियाँ ग्रौर उन पर विचार—(क) उद्देश्य—सूफी मत-प्रचार, (ख) रूपक में ग्राघ्यात्मिकता, (ग) ग्राघ्यात्मिक सिद्धान्त, (घ) नायिका का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य, (ङ) प्रेम ग्रौर विरह का व्यापक वर्णन।

३. जायसी का पद्मावत—(क) नारी-सौन्दर्य का वर्णन, (ख) उद्दीपन (प्रकृति) का चित्रण, (ग) प्रेमाश्रय की अनुभूतियाँ, (घ) संचारी भाव, (ङ) अनुभावों की योजना, (च) पद्मिनी की प्रेमानुभूतियाँ, (छ) संयोगानुभूतियाँ।

४. स्थायीभाव या प्रेम का उत्कर्ष।

५. उपसंहार।

5 47

भारतीय साहित्य में लगभग पाँचवीं शताब्दी से एक ऐसी काव्य-परम्परा का प्रवर्तन हुया, जिसमें साहस ग्रीर प्रेम का चित्रण ग्रद्भुत रूप में मिलता है। प्रारम्भ में इसका विकास गद्य-काव्य शैली में हुया, किन्तु ग्रागे चलकर प्राकृत अपभ्रंश में गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग होने लगा। इस काव्य-परम्परा की ग्रारम्भिक कृतियाँ—वासव-दत्ता (सुबन्धु), कादम्बरी (बाण), ग्रीर दशकुमार चिरत (दंडी) हैं। इस काव्य-परम्परा का प्रचार पाश्चात्य देशों में भी पर्याप्त हुया तथा इसके प्रभाव से वहाँ उस साहित्य का विकास हुया जिसे "रोमांस" कहा जाता है। रोमांस की दो प्रमुख विशेषताएँ साहस ग्रीर प्रेम का मिश्रण मानी जाती हैं, जो कि उपर्युक्त भारतीय प्रेमाख्यानों में भी मिलती हैं। संस्कृत में इस काव्य-शैली को 'कथा-काव्य' कहा गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस 'कथा-काव्य' शैली ने प्राकृत ग्रीर ग्रपभंश में गद्य के स्थान पर पद्य का रूप 'ग्रहण किया है। इन भाषाग्रों के जैन कवियों ने इनमें एक विशेषता का ग्रीर समन्वय किया—यह विशेषता है: निज धर्म के सिद्धान्तों का समन्वय। किन्तु फिर भी इनकी मूल-प्रकृति में विशेष ग्रन्तर नहीं पड़ा। प्राकृत-ग्रपभ्रंश की तरंग-वती, समरादित्य-कथा, भुवन-सुन्दरी, मलय-सुन्दरी, सुर-सुन्दरी, नागकुमार चरित, यशोधर चरित, करकंड चरित, पद्मश्री चरित ग्रादि में प्रेम का वही रूप उपलब्ध होता है, जो कि संस्कृत के वासवदत्ता, कादम्बरी एवं दशकुमार-चरितादि में मिलता है।

शागे चलकर यही काव्य-परम्परा हिन्दी में विकसित हुई जिसे 'सूफी प्रेमाख्यान-या 'निर्गुण प्रेमाश्रयी शाखा' कहा जाता है। महाकवि जायसी भी इसी काव्य-परम्परा के ग्रन्तर्गत ग्राते हैं। हमारे विद्वानों का विश्वास है कि जायसी तथा ग्रन्य प्रेमा-स्थान-रचियता कवियों ने अपने काव्य में श्रेल किक प्रेम या रहस्यवाद की व्यंजना की है। इस मत के समर्थन में ये युक्तियाँ दी गई हैं—(१) इन किवयों ने सूफी-मत के प्रचार के लिए अपने कान्यों की रचना की। (२) इन कान्यों में आत्मा और परमात्मा के प्रेम का रूपक वाँधा गया है। (३) इनमें स्थान-स्थान पर आघ्यात्मिक सिद्धान्तों एवं साधना पद्धितयों का निरूपण किया गया है। (४) इन कान्यों में नायिका (जो कि परमात्मा की प्रतीक है) के न्यक्तित्व एवं सौन्दर्य का इतने न्यापक रूप में चित्रण किया गया है कि जिससे किसी 'अनन्त सौदर्य-सत्ता' के स्वरूप का आभास होने लगता है। (५) इनमें प्रेम और विरह का ऐसा वर्णन किया गया है कि जिसमें आघ्यात्मिकता का दर्शन होने लगता है। अस्तु, जायसी की प्रेम-न्यंजना का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इन युक्तियों पर विचार कर लेना उचित होगा।

१. सूफी मत के प्रचार की युक्ति—यद्यपि हमारे विद्वानों ने इन कियों की काव्य-रचना का उद्देश्य सूफी-मत का प्रचार बताया है, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस परम्परा में ग्रिधकांश कि ऐसे ग्राते हैं जिनका सूफी मत से कोई सम्बन्ध नहीं था। ईश्वरदास, पुष्कर, सूरदास 'लखनवी', मेघराज साहा, दुःखहरण दास, हेम रत्नसूरि, नन्ददास, काशीराम, हरसेवक मिश्र ग्रादि कियों ने भी प्रेमाख्यान लिखे हैं, जो कि हिन्दू थे, ग्रतः इनके द्वारा सूफी मत के प्रचार की बात ही नहीं उठती। यदि मुसलमान कियों का उद्देश्य धर्म-प्रचार होता, तो हिन्दी किव इनका ग्रनुकरण करना तो दूर रहा, इन रचनाग्रों का उटकर विरोध करते। इसके ग्रितिरक्त मुसलमान कियों ने ग्रपनी रचना का उद्देश्य स्पष्ट रूप में घोषित किया है। जायसी ने लिखा है—मैंने यह सोचकर काव्य लिखा है कि संसार में मेरा कोई स्मारक-चिह्न रह जाय। जो लोग इस कहानी को पढ़ेंगे, वे मफे भी याद करेंगे—

औं में जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहे जगत महं चीन्हा।।

× × × × × जो यह पढ़े कहानी, हम्ह सँवरै दुई बोल।

उसमान ने तो अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिए ही चित्रावली की रचना की थी, इसीलिए वे अन्य किवयों को चैलेंज देते हैं कि जिसमें उनसे अधिक बुद्धि हो, वे उनसे अच्छी कहानी लिखकर दिखावें—

जाकी बुद्धि होइ अधिकाई, ग्रान कथा एक कहें बनाई।।

साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि मेरी कहानी को बच्चे सुनेंगे तो प्रसन्न होंगे, तरुण सुनेंगे तो उनके मन में काम बढ़ेगा, भोगी के भोग-विलास में वृद्धि होगी—

इसी प्रकार ग्रालम ग्रौर नूरमोहम्मद ने भी ग्रपनी काव्य-रचना का उद्देश्य CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. कामी, रिसक ग्रीर प्रेमी लोगों की तृप्ति करना बताया है। यूसुफ-जुलेखाँ के रचियता निसार ने काव्य-रचना का उद्देश्य पुत्र के देहान्त-शोक को भुलाना, प्रेमियों के प्रेम को बढ़ाना ग्रीर धपना स्मृति-चिह्न छोड़ जाना स्वीकार किया है। ग्रतः इन काव्यों का उद्देश्य धर्मप्रचार बताना उचित नहीं।

२. रूपक में ग्राच्यात्मिक प्रेम की व्यंजना—दूसरी युक्ति यह दी गई है कि इन प्रेमाख्यानों में ग्रात्मा ग्रीर परमात्मा के प्रेम का रूपक बाँधा गया है। किन्तु हमें इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। उदाहरण के लिए 'पद्मावत' के रूपक पर विचार किया जा

सकता है। 'पद्मावत' के अन्त में कवि जायसी ने घोषित किया।

"मैं एहिं ग्ररथ पंडितन्ह बूभा, कहा कि हम किछु और न सूभा। चौदह भुवन जो तर उपराहीं, ते सब मानुष के घट माँहीं।। तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुद्धि पिद्यानी चीन्हा। गृष्ठ सुग्रा जेह पंथ दिखावा, बिनु गृष्ठ जगत को निरगुन पावा।। नागमती यह दुनियाँ घंघा, बाँचा सोइ न एहि चित वंधा। राघव दूत सोई सैतानू, माया अलाउद्दीन सुलतानू।। प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु, बूभि लेई जो बुक्तै पारहु।"

इस रूपक में रतनसेन को मन का तथा पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक माना है, किन्तु हमारे ग्रालोचकों ने इन्हें क्रमशः श्रात्मा ग्रीर परमात्मा के प्रतोक मानकर व्याख्या करने का प्रयत्न किया, जिससे उन्हें सफलता न मिलना स्वाभाविक ही था। जब उन्हें सफलता न मिली तो यह कहना ग्रारम्भ किया गया कि यह रूपक ही प्रक्षिप्त है। वस्तुतः इस रूपक को सही ग्रर्थ में ग्रहण करने का पूरा प्रयत्न ही नहीं किया गया। इस रूपक की पूरी व्याख्या हमने प्रपने शोध प्रबन्ध में की है, जिससे स्पष्ट है कि रहस्यवाद या अलौकिक प्रेम से इस रूपक का कोई सम्बन्ध नहीं है।

३. आध्यात्मिक सिद्धान्त—जिस प्रकार इन कियों ने पाठक की जानकारी बढ़ाने के लिए सैकड़ों प्रकार के पकवानों ग्रीर व्यंजनों की, भिन्न-भिन्न जाति के घोड़ों की, वाटिका के ग्रनेक पौधों की, युद्ध के विभिन्न शस्त्रास्त्रों की, शतरंज-चौपड़ की सूक्ष्म चालों की लम्बी सूचियाँ ग्रपने काव्य में प्रस्तुत की हैं, इसी प्रकार उन्होंने दार्शनिक तत्त्वों का बोध कराने के लिए स्थान-स्थान पर ग्राध्यात्मिक, दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण भी किया है। इसके पीछे इन कियों का कोई धर्म-प्रचार का उद्देश्य नहीं था; यदि ऐसा होता तो वे हिन्दू-दर्शन ग्रीर नाथ-पंथी योगियों की पद्धित का प्रतिपादन नहीं करते। न ही ऐसा समभना चाहिए कि इन काव्यों के सभी रचियता कोई पहुँचे हुए संत, फकीर या धर्मीपदेशक थे। इन कियों का व्यक्तित्व हिन्दी के प्रसिद्ध किव केशव-दास जैसा दिखाई पड़ता है, जिन्होंने ग्रपने काव्य के वैभव की वृद्धि के लिए ग्रपनी साहित्यक रचनाग्रों को भी 'ज्ञान-कोष' का रूप देने का प्रयत्न किया है।

४. नायिका का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य—इन काव्यों को सूफी रहस्यवाद से सम्बन्धित मानने वालों की चौथी युक्ति यह है कि इनमें नायिका के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को इतना व्यापक रूप प्रदान किया गया है कि उसमें किसी विराट् सत्ता के रूप का CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

श्राभास होने लगता है। किन्तु यह युक्ति भी हमें उचित प्रतीत नहीं होती। जहाँ तक नायिकाओं के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है, उन्हें हम दोषों—गर्व, ईर्ष्या, द्वेष भ्रादि से पूर्णतः समन्वित पाते हैं। यही नहीं, उनका प्रेम भी पूर्णतः कामुकता से ग्रसित है। जायसी की 'पद्मिनी' युवावस्था को प्राप्त होते ही शुक से कहती है—

> सुन हीरामन कहौं बुक्ताई। दिन दिन मदन सतावै आई। जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा।।

रत्नसेन के सिंहलगढ़ में पहुँचने के श्रनन्तर भी पद्मावती को एक कामवासना एवं भोग-लिप्सा से विह्वल युवती के रूप में देखते हैं—

कँवल भँवर ओही बन पावे, को मिलाइ तन-तपिन बुकावे।

जोबन गरुअ-अपेल पहारू, सिंह न जाइ जोबन का भारू। जोबन क्षस मैमन्त न कोइ, नवें हित जो श्रांकुस होइ। जोबन भर भार्दों जस गंगा, लहरें देइ, समाइ न अंगा।

यहाँ 'तन-तपिन', 'यौवन भार' एवं कामोन्माद का जैसा वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि पिद्मिनी का प्रेम सर्वथा लौकिक स्तर का है, उसमें भ्राघ्यात्मिकता या भ्रालीकिकता ढूँढ़ने का प्रयत्न भ्रानावश्यक है।

जो विद्वान् इन काव्यों में नायिका के अतिशयोक्तिपूर्ण सौन्दर्य-वर्णन में विराट् सत्ता के रूप का दर्शन करते हैं, वे यह न भूलें कि इन किवयों ने केवल नायिका के ही सौंदर्य का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं किया है, वे अन्य नायिकाओं के प्रसंग में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए पद्मावत में दिल्ली-सुलतान शेरशाह चित्तौड़ के योद्धा वादल की नववधू, सिंहल की वेश्याओं और मदमाती नव सुन्दरियों के रूप में चित्रित निर्जीव तोपों के 'सौन्दर्य' में भी किव ने वही चमत्कार दिखाया है, जो नायिका पिद्मनी के सौन्दर्य में मिलता है।

४. प्रेम श्रौर विरह का व्यापक वर्णन — जैसा कि पीछे कहा गया है, इन कियों ने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों की परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रेम श्रौर विरह का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में किया है। संस्कृत-किव बाणभट्ट ने भी अपने प्रेमाख्यान — कादम्बरी — में विरह का इतना व्यापक चित्रण किया है कि उससे नायक को मृत्यु तक हो जातो है। अतः इस अत्युक्ति को ही अलौकिकता समभ लेना अनुचित है।

उपर्युक्त युक्तियों पर विचार करने के अनन्तर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन काव्यों में सूफी रहस्यवाद की अभिव्यंजना मानना एक अम-मात्र है। यद्यपि हमारे कुछ विद्वानों तथा शोधकर्त्ताओं ने इन रचनाओं को सूफी रहस्यवाद से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। डॉ॰ विमलकुमार जैन एक ओर इन श्राख्यानों को 'सूफी' विशेषण से विभूषित करते हैं तथा दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते हैं तथा दूसरी और यह

भ्रन्य बातों का वर्णन है, उससे भ्राप्यात्मिक पक्ष को कुछ धक्का-सा लगता प्रतीत होता है।" "हिन्दी साहित्य में इन कवियों के काव्यों में हमें जो कुछ भी सूफी मत मिलता है, उसके पर्यालोचन से यह परिणाम निकलता है कि वह मध्यपूर्व के प्रदेशों में सिद्धांती-भूत सूफी मत से बहुत कुछ विभिन्नता रखता है।" (सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पू (359-258)

म्रस्तु, हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि इन प्रेमास्यानों में जिस प्रेम का निरूपण हुआ है, वह सर्वथा लौकिक ही है। उसे 'सूफी रहस्यवाद' समक्षना एक वड़ी भारी भ्रान्ति है। जायसी की प्रेम-व्यंजना को हम लौकिक रूप में ही ग्रहण करते हुए विचार करेंगे।

जायसी का 'पदमावत'

हिन्दी प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा की सर्वश्रेष्ठ रचना जायसी-कृत 'पद्मावत' मानी जाती है। इसका नायक रत्नसेन है, जो कि हीरामन तीते के मुँह से पिंदानी के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सूनकर उसके प्रेम में विह्वल हो जाता है । वह ग्रपने घर, परिवार धीर देश को छोड़कर उसकी प्राप्ति के लिए निकल जाता है तथा भ्रनेक कठिनाइयों के पश्चात् उसकी प्राप्ति में सफल हो पाता है। विवाह के प्रनन्तर भी पद्मिनी ग्रीर रत्नसेन को कई कष्टों का सामना करना पड़ता है। अन्त में दिल्ली सुलतान अलाउदीन से युद्ध करता हुआ रत्नसेन वीरगति को प्राप्त हो जाता है और पिंदानी सती हो जाती है। इस काव्य में श्रुङ्गार रस के सभी अवयवों एवं अनेक दशाओं का मामिक वर्णन उपलब्ध होता है।

नारी (ग्रालम्बन) सौन्दर्य का वर्णन-नारी सौन्दर्य के चित्रण में जायसी ने परम्पपरागत नख-शिख-वर्णन की शैली का प्रयोग किया है। उन्होंने नारी रूप के सामूहिक प्रभाव की व्यंजना की अपेक्षा उसके अंग-प्रत्यंग का अलग-अलग वर्णन किया है। वे ग्रपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति के बल पर प्रत्येक ग्रवयव की बाह्य एवं ग्रान्तरिक विशेषताथ्रों का उद्घाटन कुशलतापूर्वक कर देते हैं; यथा केशों का एक वर्णन देखिए---

> भवर केस, वह मालित रानी । विसहर लुर्राह लेहि अरघानी ।। बैनी छोरि भारू जो बारा। सरग पतार होइ अधियारा।।

× बेघे जानु मलयगिरि बासा। सीस चढ़े लोटहिं चहूँ पासा।। घुंघरवारि अलकें बिखभरी। सिकरी प्रेम चरहिं गिय परी।।

यहाँ केशों की श्याम-वर्णता, वक्रता, सुगन्धि एवं मनमोहकता भ्रादि सभी गुणों की व्यंजना भ्रमर, विषघर, भ्रन्धकार, मलयगिरि भ्रौर श्रृङ्खला भ्रादि उपमानों की सहायता से कर दी गई।

वस्तु के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण के ग्रतिरिक्त जायसी के सौन्दर्य-वर्णन में कुछ प्रवृत्तियाँ मीर मिलती हैं। एक तरे छन्हें वर्णन-विस्तापक्षे इतना प्राधिक श्रेम है कि उनका नख-शिख-

वर्णन एक पूरे सर्ग का रूप ले लेता है। दूसरे, वे अत्युक्तियों एवं अतिशयोक्तियों का इतना अधिक प्रयोग करते हैं कि उनके वर्णनों में अस्वाभाविकता आ जाती है। इसी अस्वाभाविकता से अलौकिकता का भी अम हो जाता है। तीसरे, वे सौन्दर्य-वर्णन के लिए कथावस्तु के प्रवाह और प्रसंग के औचित्य का भी घ्यान नहीं रखते। चाहे राजकुमारी पिंद्यनी हो, सिंहल द्वीप की वेश्याएँ हों या युद्ध में प्रयाण करते हुए वादल की नववधू हो—जहाँ भी उन्हें अवसर मिला, लम्बे-लम्बे वर्णन प्रस्तुत कर दिये। सुन्दरियों के रूप के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए भी वे द्रष्टा के आहत हो जाने, मूच्छित हो जाने या आण त्याग देने की कल्पना वारम्बार करते हैं। फिर भी सौन्दर्य की व्यंजना उनके काव्य में वर्णन के रूप में ही अधिक होती है, चित्रण के रूप में कम। एक-एक अंग का अलग-अलग विखरा हुआ सौन्दर्य किसी समन्वित प्रभाव की सृष्टि नहीं करता, उनकी अत्युक्तियाँ आश्चर्यजनक होते हुए भी पाठकों के हृदय को तरंगित करने में असमर्थ हैं और उनका विस्तृत वर्णन उवा देने वाला सिद्ध होता है। नारी की सूक्ष्म चेष्टाओं एवं मधुर भाव-भंगिमाओं का चित्रण भी उनके काव्य में बहुत कम हुआ है।

उद्दीपन (प्रकृति) का वर्णन—शृङ्गारोद्दीपन के लिए भी जायसी ने ऋतु-वर्णन एवं वारहमासा-कथन की परम्परागत शैलियों का व्यवहार किया है, फिर भी उनकी कुछ निजी विशिष्टताएँ हैं। संयोग में समय शीघ्र बीत जाता है, किन्तु विरह के क्षण सम्बे होते हैं, अतः जायसी ने दोनों के लिए क्रमशः ऋतु-वर्णन ग्रौर बारहमासा-वर्णन का ग्रायोजन करके सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है। यद्यपि वर्णन-विस्तार एवं ग्रत्युक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्तियाँ इस क्षेत्र में भी किव का साथ नहीं छोड़तीं, किन्तु फिर भी यहाँ प्रनुभूतियों के योग से चित्रण पर्याप्त मार्मिक बन गए हैं, चाहे वे वर्षा ऋतु का वर्णन कर रहे हों या शरद् का, प्रत्येक ग्रवस्था में वे बाह्य प्रकृति के साथ मानवात्मा का सम्बन्ध स्थापित करते हुए मानवी क्रिया-कलापों से परिपूर्ण, स्वाभाविक एवं प्रभावो-स्पादक दृश्यों का ग्रंकन करते हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ पंक्तियाँ देखिए—

रितु पावस बरसे, पिउ पावा । सावन भादों ग्रधिक सुहावा ॥ कोकिल बैन, पाँत बग छूटी । गिन निसरि जेउँ बीरबहूटी ॥ चमके बिज्जु बरिस जग सोना । दादुर मोर सबद सुठि लोना ॥ रंगराती पिय संग निसि जागे । गरजे चमिक चौंकि गर लागे ॥ सीतल बुन्द ऊँच चौपारा । हरियर सब देखिअ संसारा ॥

यहाँ किव ने पहले पावस की स्थूल विशेषताओं—वाह्य दृश्यों एवं पिक्षयों के पिरवर्तन का वर्णन कर दिया है। उनके अनन्तर वह पाठक को संयोगियों की सुखानुभूति का आस्वादन कराने के लिए उस रंग-महल में ले जाता है, जहाँ कोई नव-वयस्का अपने प्रियतम के पाश्व में लेटी हुई बार-बार विद्युत्-गर्जना से चौंककर प्रियतम के गले से जुड़ जाती है। कहना न होगा कि युवती बाला की यह भय-मिश्रित चेष्टा भी रिसक पिठ के लिए आमोद की कितनी सामग्री अनायास ही प्रस्तुत कर देती है।

संयोगकालीन दृश्यो क्षे चित्रण भिक्षिक के प्रस्थेक पाडक से उल्लास की अभिव्यक्ति

होती थी, वहाँ उपर्युक्त वर्णन में वातावरण को कठोरता को ऐसे शब्दों में उपस्थित किया गया है कि पाठक का हृदय अनुभूति से श्रोत-प्रोत हो जाता है। वस्तुतः जायसी का प्रकृति-वर्णन कल्पना भीर भ्रनुभूति के सुन्दर सामंजस्य से पूर्ण है भीर वह स्थायीभाव की व्यंजना के अनुरूप पृष्ठभूमि तैयार करने में पूर्णतः समर्थ है।

प्रेमाश्रय का चित्रण-पद्मावत में प्रणय-भावना का ग्राश्रय प्रारम्भ में केवल नायक ही रहता है, जो अपने प्रयत्नों से नायिका के हृदय को भी जीत लेने में सफलता प्राप्त कर लेता है। यद्यपि तोते के मुख से नख-शिख-वर्णन सुनकर रत्नसेन का सौंन्दर्यानु-भूति से मूज्छित हो जाना कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता है, किन्तु इसके अनन्तर प्रेमानुभूतियों की व्यंजना ग्रत्यन्त मार्मिक रूप में हुई है। ज्योंही नायक की सौन्दर्या-नुमूति प्रणय-भावना में परिणत होती है, वह ध्रपनी धाकांक्षाग्रों को इन शब्दों में व्यक्त करता है-

> फुल फुल फिरि पूँछों, जो पहुँचौं म्राहिं केत। तन निछावर के मिलों, ज्यों मधुकर जिंड देत ।।

प्रेमी की इन उक्तियों में निश्चय की दृढ़ता का बोध होता है, पर यह दृढ़ता सुनिश्चित विचार-जिनत नहीं है, अपित साधना की गंभीरता से प्रेरित है।

संचारी भाव-भावनाओं के एक लक्ष्य की ग्रोर केन्द्रित होते ही ग्रन्य विषयों से उनका सम्बन्ध स्वभावतः ही शिथिल हो जाता है। यही कारण है कि प्रृङ्गार रस के क्षेत्र में रित श्रीर निर्वेद जैसे दो निरोधी संचारी भावों की स्थिति एक साथ संभव होती है। रत्नसेन के हृदय में भी प्रणय की गम्भोरता के साथ ही वैराग्य की सृष्टि हो जाती है और वह अपना सब कुछ त्यागकर घर से निकल जाता है।

तजा राज राजा भा जोगी। ओ किंगरी कर गहेउ वियोगी। तन विसंभर मन बाउर रटा। श्रहका प्रेम परी सिर जटा।।

रत्नसेन का यह निर्वेद संयोग होने तक वराबर प्रणय भावना के साथ चलता रहता है। इसके अतिरिक्त संचारी भावों की भी योजना किव ने अवसरानुकूल सफलता पूर्वक की है। ज्योतिषियों के इस कथन पर कि एक दिन ठहरकर ग्रन्छे मूहूर्त में जाग्रो, राजा का उत्तर भ्रीत्सुक्य भाव की व्यंजना करता है-

प्रेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखे जब होइ सरेखा।।

X हों रे पथिक पखेरू जेहि बन मोर निवाह । खेलि चला तेहि बन कहँ, तुम अपने घर जाहू।

अनुभावों की योजना-प्रेमी की मानसिक दशा की निवृत्ति के लिए कवि ने अनुभावों की योजना की है। यहाँ कायिक एवं मानसिक अनुभावों का समन्वित चित्रण देखिए--

ठाँवहि सोवहि सब चेला, राजा जागै भ्रापु अकेला। जेहि के हिए प्रेम रंग जामा, का तेहि भूख नींद बिसरामा ॥ फिर भी जायसी ने कृत्यस्थ भावतं कि अधेजना के लिए बाह्य मनुभावों का माध्रय बहुत कम लिया है। इसका कारण प्रेम के वियोग-पक्ष की प्रधानता है, क्योंकि स्थूल शारीरिक चेष्टाओं की आयोजना संयोग-पक्ष में ही अधिक उपयुक्त होती है। हाँ, किव ने वाचिक अनुभावों (उक्तियों) द्वारा प्रणयावस्था का बोध कराने का प्रयत्न बार-बार किया है, जिसमें वे सफल हुए हैं। कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

हों पद्मावति कर भिखमंगा, दिब्टि न आव समुद श्री गंगा।

राजे कहा, दरस जो पावों, परवत कहा गणन कहें घावों। जेहि परवत पर दरसन लहना, सिर सों चढ़ों पाय का कहना॥

× × × × × × जटा छौरि के बार बोहारों, जेहि पंथ हौहि सीस तह बारों।

रत्नसेन की ये उक्तियाँ साहस, उत्साह ग्रीर त्याग के श्रपूर्व भावों से मिश्रित हैं। इनमें उसके प्रेम की गम्भीरता का पता चलता है।

पिदानी की प्रेमानुभूतियाँ—पिदानी में हम प्रेमानुभूतियों का विकास क्रिमिक रूप में पाते हैं। प्रारम्भ में वह काम-वेदना से पीड़ित है—

सुनु हीरामन कहाँ बुक्ताई, दिन-दिन भदन ग्राई सतावै।

× × ×

जोबन मोर भयउ जस गंगा, देह-देह हम्ह लाग अनंगा।।

श्रागे चलकर रत्नसेन के दर्शन के श्रनन्तर उसकी यह काम-वासना प्रेम में परिणत हो जाती है श्रौर जब वह सुनती है कि उसका प्रियतम उसी के लिए सूली पर चढ़ रहा है तो उसके हृदय का श्रणु-श्रणु पिघलकर मानवता के रूप में बहने लगता है। उसका सन्देश है—

जिन जानहु हो तुम्ह सों दूरी, नयनिह माँभ गड़ी वह सूरी।

जों रे जियाँह मिलि गर रहिंह, मरिहं तो एके दोउ। तुम्ह जिउ कहँ जिनि होइ किछु, मोहि जिउ होउ सो होउ॥

उपर्युक्त शब्दों में हम प्रणय-भावना के उस उत्कृष्ट रूप का दर्शन करते हैं, जहाँ प्रे माश्रयी ग्रपने प्रिय के हित के लिए ग्रपना सर्वस्व वलिदान करने के लिए प्रस्तुत हो जात । है।

संयोग।नुभूतियाँ—जायसी ने नायक-नायिका की संयोगानुभूतियों की ग्रिभिव्यक्ति के लिए प्रथम समागम, हास-परिहास, शतरंज-चौपड़ के मनोरंजन, सुरत एवं सुरतान्त आदि का विस्तृत वर्णन किया है। विवाह के ग्रनन्तर प्रथम रात्रि में प्रियतम के पास जाती हुई पद्मावती की हृदय-दशा का परिचय उसके इन शब्दों में मिलता है—

श्रनचिन्ह पिउ कांपे न माहाँ, का में कहब गहब जब बाँहाँ।

जब रत्नसेन भ्रपने प्रेमपूर्ण शब्दों से उसका भय भ्रौर संकोच दूर कर देता है तो वह भी भ्रपना कृत्रिम भोलापन प्रदिशत करती हुई भ्रपनी हास-परिहासमयी उक्तियों से छेड़-छाड़ करने लग्हिर्र-हैं Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

संयोग पक्ष के ग्रन्य ग्रंगों व क्रिया-कलापों के वर्णन में भी जायसी ने ग्रसंयम से काम लिया है। उसके फलस्वरूप उनके संयोग-वर्णन ग्रत्यन्त स्थूल, शिथिल एवं ग्रश्लील हो गए हैं।

स्थायोभाव का उत्कर्ष

पद्मावत में प्रेम-भावना के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में सबसे ग्रधिक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि उसमें नायक ग्रौर नायिका में प्रेम का विकास एक साथ नहीं होता । दोनों की प्रेम प्रवृत्ति एवं गति में भी पर्याप्त भेद हैं । रत्नसेन प्रेम के ग्रादर्श स्वरूप को उपस्थित करता है, जबिक पद्मावती ने यथार्थ एवं व्यावहारिक रूप का लोभ-मात्र सिद्ध किया है । ग्रादर्श प्रेम का कोई निर्दिष्ट कारण नहीं होता, संभवतः इसलिए किव ने ऐसा दिखाया है । ग्रादर्श प्रेम ग्रारम्भ से ग्रन्त तक एकरस रहता है तथा उसमें साहस ग्रौर त्याग का पूर्ण समन्वय होता है, ये दोनों विशेषताएँ हम रत्नसेन के प्रेम में पाते हैं ।

दूसरी श्रोर पद्मावती की प्रणय-भावना में हम क्रमिक विकास पाते हैं।
परिस्थितियों के अनुसार उसका प्रेम, कामुकता श्रौर रिसकता की सीमा को पार करके
प्रपने विशुद्ध एवं गम्भीर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, जो मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक
दृष्टि से बहुत संगत है। ग्रपने विकास की चरमावस्था में श्रादर्श प्रेम श्रौर यथार्थ प्रेम
दोनों एक स्तर पर पहुँच जाते हैं। पद्मावती की प्रणय-भावना श्रन्त में साहस, त्यागादि
के सभी गुणों से समन्वित हो जाती है, जो रत्नसेन में हम प्रारम्भ से ही पाते हैं। श्रस्तु,
किव ने इसमें नायक श्रौर नायिका दोनों के प्रेम को चरमावस्था तक पहुँचाने में सफलता
प्राप्त की है।

रत्नसेन और पद्मावती के प्रणय-सम्बन्ध के कारण नागमती का कष्ट-भोग और विवाह के अनन्तर दोनों सपित्नयों की ईर्ष्या, कलह आदि देखकर कदाचित् कुछ लोग उनके प्रेम को अश्रद्धा की दृष्टि से देखें, अतः इस दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। किव ने आरम्भ में नागमती को रूप-गिवता एवं तोते की हत्या में प्रयत्नशील दिखाकर पाठक की सहानुभूति के मार्ग में अवरोधक लगा दिया है। अतः उसके प्रति राजा का निष्ठुर व्यवहार उचित प्रतीत होता है। नागमती का दारण विरह अवश्य हृदयद्भावक है, किन्तु रत्नसेन उसका संदेश प्राप्त होते ही लौट जाता है। सपित्नयों की प्रारम्भिक गृह-कलह भी स्वाभाविक है, जो आगे परिस्थितयों की कठिनता से शान्त हो जाती है। अतः नागमती सम्बन्धी प्रकरण रस-निष्पत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता।

वस्तुतः इस काव्य में प्रेम को घादर्श घौर यथार्थ—दोनों गुणों से समन्वित करते हुए उसे पूर्ण उत्कर्ष तक पहुँचा दिया गया है। भारत की ग्रन्य काव्य-परम्पराग्नों में यह दोष रहा है कि चाहे लोकापनात के अया से शकुन्त ला को ठूकरा देनेवाला दुष्यन्त हो,

मावी ध्राशंकाओं से दमयन्ती को त्याग देनेवाला नल हो, धोवी की उक्ति पर पत्नी को निर्वासित कर देनेवाला राम हो या मथुरा के राज्य-कार्य में व्यस्त होकर बाल-सहचरी राधा को भूल जानेवाला कृष्ण हो—ग्रधिकांश प्रेमियों ने जीवन की परिस्थितियों के ध्रागे प्रेम का बिलदान कर दिया है। यह ठीक है कि लोक-धर्म की प्रेरणा से ही कुछ प्रेमियों क ऐसा करना पड़ा होगा, पर क्या भ्रपनी प्रेयसियों का त्याग भ्रीर निर्वासन करनेवाले प्रेमी दुष्यन्त या राम भ्रपना राज्य-भार भ्रपने छोटे भाइयों या किसी भ्रन्य योग्य व्यक्ति को सौंपकर स्वयं भी भ्रपनी प्राण-प्रियाभों का साथ नहीं दे सकते थे ? यदि कृष्ण मथुरा या द्वारिका में सोलह हजार रानियों में गोकुल को एक राधा को स्थान दे देते तो उन्हें कौन रोक सकता था ? लोक-धर्म श्रीर प्रेम में सच्चा प्रेमी किस मार्ग को ध्रपनाता है, इसका उदाहरण श्राधुनिक युग में भी भ्रष्टम एडवर्ड ब्रिटिश साम्राज्य को ठुकराकर दे चुके हैं। वस्तुतः जब से भारतीय समाज में नारो के व्यक्तिगत मूल्य का हास हुम्रा है, पृष्य उसके लिए इतना बड़ा त्याग करना भ्रनावश्यक समभता है। बिना साहस भ्रीर त्याग के प्रेम पूर्ण गुम्भीरता को प्राप्त करने में समपर्थ रहता है।

बस्तुतः प्रेम का यह आदशं भारतीय साहित्य में मुख्यतः इन प्रेमाख्यानों में पूर्ण शब्दों में व्यंजित करने की दृष्टि से जायसी हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट कवि सिद्ध होते हैं।

ः छप्पन ः

स्रदास की मक्ति-मावना

- मूलभूत समस्याएँ—(क) सूरदास भक्त ग्रधिक थे या किव, (ख) भक्ति-भावना का किवत्व से सम्बन्ध, (ग) साहित्यिक दृष्टि से भक्ति का महत्व, (घ) भक्त-किव की काव्य-प्रेरणा का स्रोत ।
- २. भक्ति के भेदोपभेद ग्रीर सूरदास।
- ३. सूरदास के भक्ति-भाव की गंभीरता।
- ४. स्रदास की भक्ति-भावना का उनके साहित्य पर प्रभाव।
- ५. कुछ ग्राक्षेप।
- ६. उपसंहार।

जब एक साहित्य का विद्यार्थी सूरदास की भक्ति-भावना की चर्चा करता है तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सूरदास भक्त ग्रधिक थे या किव ग्रधिक ? दूसरा प्रश्न जो इसी से सम्बन्धित है, यह है कि किसी के किवत्व का भक्ति-पक्ष से क्या संबंध है ? कदाचित् इन्हीं प्रश्नों से जुड़ा हुग्रा एक तीसरा प्रश्न भी है—साहित्यिक दृष्टि से किसी के भक्त होने का क्या महत्व है या यों किहए कि भक्ति-भावना का काव्य में क्या मूल्य है ? ग्रौर सम्भवतः यह सारी चर्चा ग्रधूरी रह जायगी, यदि इस बात का समाधान ग्रौर न कर लिया जाय कि कोई भक्त-किव काव्य-रचना में क्यों प्रवृत्त होता है ?

जहाँ तक काव्य-रचना का सम्बन्ध है—किवता के क्षेत्र में—सूर भक्त की अपेक्षा किव ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए तुलसी या कबीर के काव्य से सूर के काव्य का अन्तर देखा जा सकता है। तुलसी को प्रत्येक समय इस बात का घ्यान रहता है कि वे अपने आराघ्य-देव का गुण-गान कर रहे हैं, अतः प्रत्येक स्थित में वे उनके महत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने की चिन्ता में रत रहते हैं। कहीं जब राम कोई ऐसा कार्य कर बैठते हैं, जो संभवतः बहुत उच्च कोटि का नहीं हो—या जिससे जनसाधारण की उनके प्रति श्रद्धा-भावना में कुछ बाधा उपस्थित होने की सम्भावना हो, वहाँ तुलसी सफाई देने का प्रयत्न करते हैं; किन्तु सूर में ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार तुलसी उन प्रसंगों की भी उपेक्षा कर देते हैं, जो भक्ति के प्रतिकूल पड़ते हैं, यथा, राम सीता विवाह के अनन्तर उनके प्रथम मिलन की चर्चा से बचने के लिए तुलसी नववधू को सास के साथ सुला देते हैं। पता नहीं, अयोध्या में नववधू को सास के साथ ही सुलाने का प्रचलन है, या वह तुलसी की कल्पना-शक्ति का आविष्कार है, फिर भी इतना तो मानना ही पढ़ेगा कि कभी-न-कभी तो राम-सीता के जीवन में यह प्रसंग आया ही होगा, किन्तु तुलसी की साथिक्ता प्रवास कहीं काई चर्चा नहीं मिलती।

जनक-वाटिका में उन्होंने राम-सीता से प्रथम दर्शन-जन्य प्रेम (Love at first sight) का निरूपण किया, किन्तु फिर भी उन्होंने उसका समाधान यह कहकर कर दिया है कि पूर्व जन्म के सम्बन्ध के कारण ही ऐसा हुग्रा। इसके विपरीत सुरदास निःसंकोच राधा-कृष्ण के प्रेम का विकास दिखाते हैं, यद्यपि वह सामाजिक ध्रादर्शों या नैतिकता की दृष्टि से राम-सीता के प्रणय की ग्रपेक्षा बहुत हीन कोटि का था। कुछ विद्वान इस ग्रन्तर का कारण दोनों के भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को वताते हैं। उनके विचार से एक की भक्ति वैधी थी, दूसरे की रागानुगा। परन्तु रागानुगा भक्ति भी ग्रन्ततः भक्ति (श्रद्धा + प्रेम) ही होतो है, उसका यह तो तात्पर्य नहीं है कि ग्रपने ग्राराध्य को ग्रनै-तिकता या उच्छृद्धालता से ग्रस्त बना दिया जाय। फिर राधा-कृष्ण की लीला के कुछ धाध्यात्मिक ग्रथं भी प्रचलित थे, जिनके ग्राधार पर सूर ग्रपने ग्राराध्य के चित्र के महत्व को बनाए रख सकते थे—िकन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वस्तुतः जहाँ तुलसी ने भक्ति-भाव के लिए काव्यगत स्वाभाविकता का हनन स्थान-स्थान पर किया है, वहाँ सूरदास ने सहज भावाभिव्यक्ति के लिए भक्ति की सीमाग्रों का भी उल्लंबन निःसंकोच कर दिया।

विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से किसी कित का महत्व इस बात में नहीं है कि वह कितना भक्त था या है, अपितु इस बात में है कि वह अपनी अभिव्यक्ति को कितनी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत कर सका है। हो सकता है, भक्त के रूप में महात्मा गाँधी मैथिलीशरण गुप्त से अधिक महान् हों—िकन्तु साहित्य में तो गुप्तजी का ही स्थान ऊँचा माना जाएगा। साहित्य में दूसरी भावनाओं की भाँति ही भक्ति भी एक भावना है, अतः चाहे भक्ति हो या रित—हम तो उससे एक ही आशा रखते हैं कि वह अनुभूति की तरलता से इस प्रकार युक्त हो कि उससे पाठक का हृदय रसासिक्त हो सके। किसी किव-हृदय से बंचित भक्त की शुष्क उक्तियों की अपेक्षा काव्य में किसी सहृदय किव की मार्मिक पंक्तियों का अधिक महत्व है, वे चाहे रित भाव से ही समन्वित क्यों न हों।

कोई भक्त काव्य-रचना में क्यों प्रवृत्त होता है ? इसके अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं। एक तो यह कि कोई भी व्यक्ति कोरा भक्त होने के नाते ही काव्य-रचना में प्रवृत्त नहीं होता, अपितु साथ में वह किव भी होता है; अतः उसके हृदय का किव उसके मन के भक्त को व्यक्त कर देता है। जिस प्रकार प्रत्येक भक्त किव नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक किव भी भक्त नहीं होता। किव क्या लिखता है ? जो उसके हृदय में में है, अतः भक्त अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए उसी प्रकार काव्य-रचना, में प्रवृत्त हो जाता है, जिस प्रकार अन्य किव होते हैं; किन्तु यह बात सभी भक्त-किवयों पर लागू नहीं होती। कुछ भक्त-किव ऐसे भी हैं, जिनका उद्देश्य ही निज पंथ का प्रचार करना होता है, किन्तु उन्हें काव्य-रचना में सफलता तभी मिलती है, जब कि उनमें किवत्व की भी क्षमता हो। सूरदास इन दोनों से ही भिन्न थे। यह ऐतिहासिक, तथ्य है कि सूर का अधिकांश काव्य-पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा के अनन्तर लिखा गया। इस दीक्षा से पूर्व लिखे कि काव्य-पुष्टि-सम्प्रदार्थ की दीक्षा के अनन्तर लिखा गया।

की दृष्टि से गहरा ग्रन्तर है। ग्रतः यह तो मानना ही होगा कि उन्हें मूल प्रेरणा पृष्टिसम्प्रदाय से मिली, किन्तु उनका लक्ष्य सम्प्रदाय का प्रचार करना कभी नहीं बना, ग्रब
तक उनका कवित्व कोई विषय ढूँढ़ रहा था, पृष्टि-सम्प्रदाय ने उन्हें विषय प्रदान कर
दिया। जिस प्रकार एक शिल्पी में भव्य महल के निर्माण की क्षमता तो होती है, किन्तु
इँट-पत्थर ग्रीर चूने-गारे के ग्रभाव में वह ऐसा नहीं कर पाता, यह सामग्री उपलब्ध
होने पर वह एक सुन्दर भवन खड़ा कर देता है; ठीक वैसे ही सूरदास को वल्लभाचाय
से 'कृष्णलीला' की सामग्री प्राप्त हुई जिसके बल पर उन्होंने भावनाग्रों का सागर
सहरा दिया। शिल्पी भी दो प्रकार के होते हैं—एक जो भवन बनानेवाले मालिक का
व्यान रखते हुए काम में लगे रहते हैं, किन्तु दूसरे ग्रपनी कला में ही इतने मग्न हो
जाते हैं कि उन्हें इस बात का व्यान भी नहीं रहता कि वे किसके लिए, क्यों ग्रीर
कितने वेतन पर भवन-निर्माण कर रहे हैं? सूरदास दूसरी कोटि के काव्य-शिल्पी
थे। वे मत, सम्प्रदाय, एवं दर्शन-शास्त्र ग्रादि को काव्य-क्षेत्र में भुला बंठे, यहाँ तक
कि गृह की प्रशंसा का एक पद भी उन्होंने ग्रपने साथियों के स्मरण कराने पर ही
लिखा।

भक्ति के भेदोपभेद और सूरदास

हमारे मध्यकालीन विद्वानों एवं ग्राचार्यों ने भक्ति के मुख्यतः दो भेद किए हैं—
(१) रागानुगा ग्रीर (२) वैधी। रागानुगा में प्रेम-भाव की प्रधानता मानी गई है, जबिक वैधी में कर्म-काण्ड की। रागानुगा के भी पाँच भेद माने गए हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य ग्रीर माधूर्य। इन भेदों के ग्रनुसार कोई भी भक्त ग्रपने ग्रापको भगवान् का दास मानता है, कोई उसे ग्रपना पुत्र मानता है ग्रीर कोई उसे 'सखा' या 'प्रेयसी' ग्रथवा पित मानकर उपासना करता है; ग्रतः प्रश्न यह है कि सूरदास की भक्ति-भावना को किस भेद के ग्रंतर्गत रखें। उनके काव्य में दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य ग्रादि सभी भावों की ग्रभिव्यक्ति हुई है, ग्रतः इस ग्राधार पर क्या उन्हें सभी भेदों के ग्रंतर्गत रखा जाय?

इस समस्या का समाधान हम अपने शोध-प्रबन्ध (हिन्दी काव्य में श्रुङ्गार-परस्परा श्रीर महाकिव बिहारी) में भक्ति श्रीर श्रुङ्गार के सम्बन्ध पर विचार करते हुए
कर चुके हैं। यहाँ संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि उपर्युक्त भेदोपभेद अप्राकृतिक,
अस्वाभाविक एवं अवैज्ञानिक हैं। भिक्त के लिए सभी विद्वानों ने श्रद्धा और प्रेम का
सम्मिश्रण आवश्यक माना है, इनमें से किसी एक तत्व के भी अभाव में 'भिक्ति' का
स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता। सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव में श्रद्धा तत्व का
अभाव रहता है, तथा दास्य और शान्त में प्रेम तत्व का, अतः ये सभी भिक्त के मूल
स्वरूप को तिरोहित कर देते हैं। 'वात्सल्य' भाव का तो अर्थ श्रीर असंगत रूप में किया
गया है। जिस प्रकार दास्य भाव का अर्थ अपने आपको भागवान् का दास मानना है,
उसी प्रकार 'वात्सल्य' का अर्थ अपने आपको ईश्वर का शिशु मानना होना चाहिए,
किन्तु हमारे यहाँ इसःकश्च अक्ति अद्यादका अदिसाः अस्वाह्ते। अस्ता अस्त हो आलम्बन के प्रति

वात्सल्य भाव (शिशुवत स्नेह) श्रीर श्रद्धा भाव दोनों समान रूप से स्थित रहना मनो-विज्ञान की दृष्टि से संभव है ? क्या जिसे हम अपना शिश मानते हैं, उसकी पूजा भी कर सकते हैं ? वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि से वात्सल्य ग्रीर भक्ति दो विरोधी भाव हैं, यही कारण है कि पुष्टि-सम्प्रदाय में वात्सल्य भाव की भक्ति ग्रधिक समय तक नहीं चल सकी । यह एक तथ्य है कि 'भक्ति' शब्द के स्थान पर 'वात्सल्य', 'माधुर्य', 'सख्य' धादि किसी को भी नहीं रखा जा सका, न ही इन्हें इसके विशेषण रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। वाकी जो विद्वान् गोस्वामी द्वारा प्रतिपादित उस 'उज्ज्वल रस' को भी (जिसमें ग्रालिंगन, चुम्वन, नख-क्षत, शारीरिक मिलन, ग्रादि का विधान है) ग्राच्या-त्मिकता से ग्रोत-प्रोत देखते हैं, उनकी दिव्य-दृष्टि के लिए तो कुछ भी ग्रस्वाभाविक, थ्रसंगत या भ्रश्लील नहीं है।

श्रस्तु, हमारी दृष्टि में सूरदास केवल भक्त हैं। वे प्रसंगानुसार विभिन्न भावों का चित्रण करते हैं, किन्तु उनकी भक्ति भावना का रूप सर्वत्र ग्रक्षुण्ण रहता है। उदा-हरण के लिए वे 'वाल-वर्णन' के श्रन्त में "सूरदास-प्रभु-रसिक-शिरोमणि" कहकर यह स्वीकार कर लेते हैं कि उनका सम्बन्ध भक्त और प्रभु का ही है। इस वर्णन के आधार पर ही यदि उनकी भक्ति को वात्सल्य-भाव की बताया जाय, तो फिर तुलसी को भी वात्सल्य-भाव का भक्त कह सकते हैं, क्योंकि उन्होंने भी राम के प्रति दशरथ का ग्रगाध वात्सल्य भाव दिखाया है, जैसा कि सूर ने नन्द-यशोदा का कृष्ण के प्रति प्रदर्शित किया है, श्रिपत् उससे भी ग्रधिक । यह ग्राश्चर्य की बात है कि वल्लभाचार्यजी से भेंट होने से पूर्व उनकी भक्ति दास्य भाव की थी, दूसरे ही दिन वात्सल्य भाव में परिणत हो गई ग्रीर 'सूर-सागर' के मध्य में पहुँचते-पहुँचते वह 'सख्य-भाव' में वदल गई ग्रीर ग्रंत में उसने माधुर्य का रूप धारण कर लिया। यदि निषय-नस्तु के ग्राधार पर ही भक्ति के रूप निश्चित किए जाएँ तो फिर मैथिलीशरण गुप्त को 'श्रेष्ठ भाव' का भक्त कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने उर्मिला के माध्यम से राम को श्रेष्ठ (पित के बड़े भाई) के रूप में भ्रपनाया है।

सुरदास के भिवत भाव की गम्भीरता

भक्ति-भाव की व्यंजना मुख्यतः दो रूपों में होती है-एक तो प्रत्यक्ष ग्रात्म-निवेदन के रूप में भौर दूसरे म्राराघ्य के गुण-गान के रूप में। बल्लभाचार्य जी से दीक्षा पहण कर लेने के पूर्व उन्होंने प्रथम रूप में भक्ति-भावना की व्यंजना की है-

प्रभू हों सब पतितन को टीको। धौर पतित सब द्योस चारि के हों तो जनमत हो को।

नाथ जू ग्रव के मोहि उबारो। पतित में विख्यात पतित हों पावन नाम तिहारो !!

सूर की बिरियाँ निठुर भये प्रभु मो तेँ कछु न सर्यो ! ! CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यहाँ किव ने ग्रात्म-दैन्यता प्रदिशत की है, जो भिक्त के ग्रनुकूल है। किन्तु ग्रागे चलकर वे प्रभु के लीला-गान में प्रवृत्त हो गए, यह भी भिक्त के ग्रनुकूल है। दो समान रेखाग्रों में से एक को बड़ी सिद्ध करने का एक तरीका तो यह है कि दूसरी को थोड़ी छोटी कर दीजिए ग्रीर दूसरा तरोका है प्रथम को बड़ी बना दीजिए। सूरदास ने ग्रपने से प्रभु को बड़ा सिद्ध करने के लिए पुष्टि मार्ग से पूर्व पहला तरीका ग्रपनाया तथा उसके ग्रनन्तर दूसरा। किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही था।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब सूरदास राधा-कृष्ण के प्रेम का निरूपण कर रहे हों तो उसे प्रक्लार रस में लें या भिक्त भाव में ? वह भिक्त की व्यंजना है या रित की ? इसके उत्तर में हम एक छोटा-सा उदाहरण देते हैं। किसी घर का एक पुराना स्वामिभक्त नौकर ग्रपने युवा मालिक के विवाह के श्रवसर पर मकान की सजावट व ग्रन्य काम-धन्धों में उत्साह एवं उल्लासपूर्वक लगा हुग्रा है, ग्रतः इसे क्या कहेंगे ? क्या विवाह की तैयारी को नौकर की रित-भावना से सम्बन्धित मानें या उसकी भिक्त-भावना से ? हमारी दृष्टि में दूसरा उत्तर ही ग्रधिक सभीचीन है। ठीक ऐसे ही सूरदास ग्रपने ग्राराध्य जीवन के सभी ग्रवसरों का चित्रण तल्लीनतापूर्वक करते हैं। ग्रतः जहाँ तक किव का सम्बन्ध है, 'सूर-सागर' किव की भिक्त-भावना की ही ग्रभिव्यक्ति है, यद्यिप पाठक के दृष्टिकोण से उसमें विभिन्न भावों की सामग्री मिलती है।

सूरदास की भक्ति-भावना का उनके साहित्य पर प्रभाव

जैसा कि अभी स्पष्ट किया गया है, सूरदास के काव्य का प्रेरक-भाव भक्ति ही है; अतः इसमें कृष्ण के जीवन का चित्रण निःसंकोच रूप में हुआ है। यदि सूरदास किसी साधारण व्यक्ति के चरित्र का वर्णन करते, तो सम्भव है कि उन अश्लील प्रसंगों को छोड़ जाते, जिनकी चर्चा उन्होंने सूर-सागर में की है, किन्तु अलौकिक प्रभु की सभी लौकिक क्रीड़ाओं को उन्होंने पूज्य दृष्टि से देखते हुए चित्रित किया है। यहाँ तक कि रित, विपरीत रित तक का संश्लिष्ट चित्रण भी 'सूर-सागर' में मिलता है। इस अश्लीलता को उत्तेजित करनेवाले कुछ तत्व भी श्रीनाथजी के मन्दिर में विद्यमान थे, जिनकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक होगी।

कृष्ण के बाल-वर्णन में कई अस्वाभाविक एवं अलौकिक प्रसंगों का भी वर्णन हुआ है, जो उनकी भक्ति-भावना के ही परिणाम हैं; फिर भी यही अलौकिकता तुलसी के राम की अपेक्षा बहुत कम स्थानों पर है। प्रायः सभी भक्तों ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है, अतः गोपियों के द्वारा भ्रमर गीत में सूरदास ने भी ऐसा किया है। किन्तु सूरदास ने यहाँ दर्शन की तार्किकता की अपेक्षा भावना की स्वाभा-विकता का ही अधिक प्रयोग किया है।

ग्रस्तु, सब कुछ मिलाकर कह सकते हैं कि सूर-काव्य पर उनके भक्ति-भाव का प्रभाव है तो सही, किन्तु बहुत कम है; उन्हें काव्य में प्रवृत्त करनेवाली भक्ति है, किन्तु प्रवृत्त हो जाने के ग्रनन्तर वे भक्ति को कभी-कभी ही याद करते हैं; काव्यत्व उनका साधन से साध्य बन जाता है।

कुछ म्राक्षेप

सूर ग्रौर तुलसी की भक्ति-पद्धति की तुलना करते हुए प्रायः कहा जाता है कि सूर ने तुलसी की भाँति अपनी भक्ति में रूप, शील और गुण तीनों का उचित समन्वय नहीं किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह ग्राक्षेप ठीक भी है, किन्तु इसका कारण सुरदास के भक्ति-भाव की न्यूनता नहीं, अपितु कृष्ण के परम्परागत रूप का प्रभाव है। हाँ, यदि सूरदास चाहते तो ग्रपने ग्राराघ्य के रूप का संस्कार कर सकते थे, किन्तु सच्चा भक्त ऐसा करना पसन्द नहीं करेगा। भक्त के लिए ब्राराघ्य के दोष भी गुण बन जाते हैं, ग्रतः दोषों के परिष्कार का वह प्रयत्न नहीं करता । जो व्यक्ति ग्रपने ग्राराघ्य के दोषों को सहन नहीं कर सकता, समभना चाहिए, वह उसका भक्त नहीं, ग्रिपितु कोरा श्रद्धालु है। जवाहरलाल नेहरू के श्रद्धालु तो ग्रसंस्य हैं; किन्तु उनके सच्चे भक्त वे हैं, जो उनकी क्रोधपूर्ण मुद्रा को भी पार करते हैं। गांधीजी श्रर्द्धनग्नावस्था में घूमते-फिरते थे, जो किसी विदेशी की दृष्टि में ग्रसम्यता का चिह्न था, किन्तु ग्रपने देश के भक्तों की द्ष्टि में वह भी उनकी महानता का प्रतीक माना जाता था। ग्रस्तु, कृष्ण-चरित्र के दोषों का परिष्कार न करना सूरदास की अतिशय भक्ति को सूचित करता है।

उपसंहार

भ्रन्त में हम कह सकते हैं कि सूरदास की भक्ति-भावना का स्रोत काव्य-घारा के प्रवाह में इस प्रकार घुल-मिल गया कि उसे ग्रलग करके देखना संभव नहीं। उसमें ग्रली-किकता और लीकिकता, रागात्मकता और बौद्धिकता, वात्सल्य और माधुर्य सब मिलाकर एकाकार हो गए हैं। राधा-जैसी विरह-विधुरा बाला श्रीर कृष्ण जैसे चंचल-किशोर युवक के निर्माण में भक्ति की प्रेरणा अधिक है या कवित्व की, इसका ग्रंतिम उत्तर दे देना कम-से-कम हमारे तो वश की वात नहीं है। इस सम्बन्ध में भ्रन्य विद्वानों की मान्यताओं व ग्रालोचकों के निष्कर्ष पर भी पूरा विश्वास नहीं होता।

ऐसी स्थिति में केवल एक ही वात सूभती है कि हम भी कवीन्द्र रवीन्द्र के स्वर में स्वर मिलाकर उस महान् किव की अनुपम सृष्टि का रहस्य स्वयं उसी से

पूछें--

"सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि ! कोथा तुमि पेथे छिले एइ प्रेमच्छवि ! कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम गान ! विरह तापित ? हेरी काहार नयान ! राधिकार ग्रश्नु ग्रांखि पड़े छिली मने ?"

धर्यात् "हे वैष्णव कवि ! सच बताग्रो, तुमने यह प्रेम छवि कहाँ से प्राप्त की ? यह विरह-तप्त गान तुमने कहाँ से सीखा ? किसकी ग्राँखें देखकर तुम्हें राधिका की ग्राँसू भरी भां खें याद भ्रा गई ?"

ः सत्तावनः

तुलसी की समन्वय-साधना

- १. सुष्टि के विकास का रहस्य—'समन्वय'।
- २. कला भीर साहित्य का मूल 'समन्वय'।
- ३. तुलसीदास का युग भ्रौर उनकी परिस्थितियाँ।
- ४. तुलसी के समन्वयवाद का मूलाधार।
- ५. तुलसी का समन्वयवाद-
 - (क) काव्य-योजना में समन्वय :
 - (ख) काव्य की विषय-वस्तु में समन्वय : (ग्र) विचारगत समन्वय—राज-नीति, धर्म, दर्शन, समाज, परिवार, (ग्रा) भागवत समन्वय—विभिन्न भावनाएँ ग्रौर रस, (इ) शैलीगत समन्वय—काव्य-रूप, छन्द, भाषा, ग्रलंकारादि।

६. उपसंहार।

सुष्टि के विकास का रहस्य क्या है ? प्रसिद्ध चिन्तक कार्ल-मार्क्स ने इसके उत्तर में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रतिपादन करते हुए द्वन्द्व या संघर्ष को ही विकास का मूल कारण घोषित किया था, किन्तु हमारी दृष्टि में सृष्टि के उद्भव एवं विकास का मूल 'संघर्ष' नहीं 'समन्वय' है। भारतीय दर्शन के ध्रनुसार जब परम तत्त्व 'सत्' प्रकृतिरूपी माया के रजोगुण से समन्वित हुग्रा तो भौतिक जगत् का भ्राविभवि हुग्रा। प्रकृति ग्रौर जगत् के विकास की सभी क्रिया-प्रक्रियाग्रों में समन्वय की सत्ता देखी जा सकती है। समुद्र की उत्ताल तरंगों के साथ जब सूर्य के प्रकाश का समन्वय होता है, तो शत-शत मेघ-खंडों का ग्राविभवि होता है; जब बादलों की वाष्पता में वायुमंडल की आर्द्रता का संयोग होता है, तो वूँदों के रूप में प्रवाहित होनेवाले जल-स्रोत का निर्माण होता है और घरती की शुष्कता में मेघ की तरलता का समन्वय होता है, तो हरे-भरे पौबों का जन्म होता है। संसार के प्रायः समस्त प्राणियों के उद्भव का मूल प्रायः दो तत्त्वों का समन्वय ही है। सम्भवतः स्थूल दृष्टि से देखने पर पुरुष श्रीर प्रकृति के योग की क्रिया संघर्ष के तुल्य ही प्रतीत हो-जैसा कि मार्क्स को प्रतीत हुआ-किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि जब तक दोनों के क्षरित श्रंशों का उचित समन्वय नहीं हो जाता, तब तक यह संघर्ष किसी नव-निर्माण में ग्रसफल रहता है। संघर्ष का मूल द्वेष है, जबिक समन्वय राग पर श्राधारित है। सृष्टि के जीवों का उद्भव, पालन एवं उनकी रक्षा उनके जन्मदाताग्रों की रागात्मक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप होती हैं, न कि द्वेष-मूलक चेष्टाग्रों से । CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

स्थूल सृष्टि की ही भाँति कला थ्रौर साहित्य का भी मूल समन्वय है। जब शिल्पकार बिखरे हुए पत्थरों को सुसमन्वित रूप में जोड़ देता है, तो भन्य भवन तैयार हो जाता है; मूर्तिकार थ्रौर चित्रकार की लकोरों थ्रौर रेखाथ्रों का वह रूप, जब वास्तिक थ्रौर अवास्तिवक में समन्वय स्थापित कर देता है तो वह मूर्ति या चित्र की संज्ञा से श्रमिहित हो जाता है। जब दो पंक्तियों में मात्रा, ग्रक्षर, लय एवं तुक की दृष्टि से परस्पर समन्वय स्थापित हो जाता है तो वे किवता के स्थूल रूप को ग्रहण कर लेती हैं भ्रौर जब उसमें भाव, बुद्धि थ्रौर कल्पना से समन्वित ग्रर्थ गुम्फित हो जाता है तो वही रचना सरस काव्य में परिवर्तित हो जाती हैं।

कलाओं का मूल समन्वय में है, अतः कलाकार की दृष्टि में भी समन्वयात्मकता का गुण होना भ्रावश्यक है। जिस कलाकार या साहित्यकार में समन्वय की शक्ति जितनी अधिक होगी, वह उतना हो अधिक अपनी रचना को गौरव प्रदान करने में सफल सिद्ध होगा। म्रादिकवि वाल्मीकि से लेकर भव तक के सभी महान् कवियों एवं साहित्यकारों में समन्वय की परिणति किसी न किसी रूप में श्रवश्य दृष्टिगोचर होंगी। उनके समन्वय के क्षेत्र एवं उसकी प्रक्रिया में भेद हो सकता है, किन्तु उनका लक्ष्य प्रायः समन्वय की साघना ही रहा है। देश श्रीर काल की परिस्थितियों के श्रनुसार जीवन, समाज श्रीर समाज के कुछ तत्त्व अनुचित रूप से प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं और कुछ सर्वथा उपेक्षित होने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप विश्वाङ्गलता का ग्राविर्भाव हो जाता है। एक सफल चिकित्सक, समाज-सुधारक, राजनीतिक नेता, धर्मोपदेशक एवं साहित्यकार अपने-अपने क्षेत्र में ग्रौर ग्रपने-ग्रपने ढंग से इस विश्वञ्चलता का उपचार करके पुनः सामंजस्य स्थापना का प्रयत्न करता है; किन्तु घ्यान रहे, सभी सामंजस्यवादी सदैव किसी एक ही तत्त्व या किसी एक विचारधारा के समर्थक या पोषक नहीं रहते, युग की माँग के अनुसार वे कभी एक का और कभी दूसरे का समर्थन करते रहते हैं। यही कारण है कि हम एक युग के समन्वयवादी को जिस तत्त्व या विचार का समर्थक पाते हैं, दूसरे युग में उसी का खंडन दूसरे समन्वयवादी को करते देखते हैं। कबीर ने श्रति भावुकता का खंडन बौद्धिकता की स्थापना के लिए किया था, तो तुलसी ने ज्ञान-मागियों की वढ़ी हुई तार्किकता के निराकरण के लिए भावना का समर्थन किया। त्रेतायुग के नेता राम ने जहाँ कर्म के भ्रागे भावना की उपेक्षा की थी, वहाँ द्वापर के श्रीकृष्ण ने मावना की पवित्रता को कर्म की अपवित्रता से निर्लिप्त घोषित किया। गौतम बुद्ध एव महात्मा गांघी दोनों के ग्रहिंसक होते हुए भी एक ने भावना-प्रधान युग के लिए नास्तिक-वाद का प्रवर्त्तन किया, जबकि दूसरे ने वौद्धिक युग की भ्रावश्यकतानुसार भ्रास्तिकतावादी दृष्टिकोण को ग्रपनाया।

तुलसीदास ने जिस युग में जन्म धारण किया, वह म्रनेक विश्वञ्चलताम्रों का युग था। राजनीतिक दृष्टि से विदेशी जाति ने भारतीय जनता को पूर्णतः म्रपने शासन के पंजे में जकड़ लिया था; धर्म की दृष्टि से परंपरागत हिन्दू-धर्म इस्लाम के फंडे के मागे नत-मस्तक-सा हो रहा था; समाज के अवस्थित स्वत्व पर्णा स्वति विदेशों एवं पण्डितों की परस्पर विरोधी उक्तियों के कारण लुसप्राय होते जा रहे थे; पारिवारिक सम्बन्ध एवं

दाम्पत्य जीवन की मघुरता भी नैतिकता एवं त्याग के ग्रभाव में दिन-प्रति-दिन क्षीण एवं शुष्क होती जा रही थी। साहित्य के क्षेत्र में कबीर जैसा प्रतिभाशाली तो कभी कभी ही ग्रवतरित होता था, किन्तु उनके ग्रनुकरण में कोई भी ग्रशिक्षित या ग्रर्द्ध-शिक्षित दो-चार पंक्तियाँ जोड़कर भ्रपने भ्रापको कवि घोषित कर देता था। नई संस्कृति के वैभव ने हमारे प्राचीन सांस्कृतिक ग्रादशों को निस्तेज तो कर दिया, किन्तु वह हमारे हृदय की गहराई में प्रविष्ट नहीं हो सकी। जीवन की यह कितनी वड़ी विषमता थी कि हम अपने हृदय के राजा राम को भूल कर किसी शाहंशाह के गौरव की बात करते थे, जिन मूर्तियों को श्रद्धा से सिर भुकाते थे, उन्हों को सन्त-फकीरों के मुँह से 'घर की चक्की' से भी घटिया सुनते थे; जिन्हें 'म्लेच्छ' समभकर छूना भी पाप समभते थे, उन्हीं से राजा-महाराजाग्रों को कन्याग्रों का विवाह होते देखते थे ग्रौर जिस देववाणी के पढ़े-लिखे को विद्वान समसते थे, उसके स्थान पर फारसी के ज्ञाताग्रों को सम्मानित होते देखते थे। ग्रस्तु, राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, हम मानसिक एवं नैतिक दृष्टि से भी इतने निर्वल एवं ग्रशक्त हो गए थे कि किसी कट्टर मुस्लिम शासक के एक ग्रौर प्रवल भ्राघात से हिन्दू जाति, हिन्दू घर्म एवं हिन्दू संस्कृति सदैव के लिए इस्लाम में विलीन हो जाती। किन्तु हम देखते हैं कि लगभग एक-डेढ़ शताब्दी पश्चात् ही हिन्दू जाति इतनी सशक्त हो गयी थी कि उसने 'चक्रवर्ती सम्राट्' ग्रीरंगजेव के दाँत खट्टे कर दिये - कहीं सिक्खों के रूप में, कहीं जाटों के रूप में, कहीं सतनामियों के रूप में ग्रीर कहीं मरहठों के रूप में हिन्दू जाति की शक्ति का विस्फोट होने लगा। इस ग्रल्पकाल में ही यह शक्ति कहाँ से था गई? क्या इस युग में हिन्दुओं को कोई ऐसी खुराक या भौषि प्राप्त हुई थी, जिससे उनमें नई शक्ति भौर नए साहस का संचार हुआ ? हाँ, थवश्य ही ऐसा हुग्रा-ग्रपने धर्म के प्रति श्रद्धा, ग्रपनी संस्कृति के प्रति ग्रास्था ग्रीर अपने भादशों के प्रति विश्वास ने ही हमें वह शक्ति प्रदान की, जिसके बल पर न केवल हमारा श्रस्तित्व बना रहा, श्रपितु प्रवल विरोधी शक्ति का भी सामना हम कर सके।

"ग्रपने ग्रादशों के प्रति ग्रास्या रखो, ग्रपना ग्रात्म-विश्वास मत लोग्रो" यह कहना ग्रासान है, किन्तु किसी हारी हुई जाति ग्रौर पराधीन देश के प्राणों में इस मंत्र को फूँकना बहुत कठिन है—दुष्कर है। किन्तु सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दू जाति को कुछ ऐसे लोक-नायक, लोक-नेता प्राप्त हुए, जिन्होंने यह कार्य ऐसी लाघवता से संपादित कर दिया कि स्वदेशी एवं विदेशी शक्तियों को वर्षों बाद पता चला कि कहीं कुछ हो गया है। इन लोक-नायक महापुरुषों ग्रौर महात्माग्रों में तुलसी भी एक थे।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में श्रादशों की स्थापना के लिए तुलसी को विभिन्न विरोधी रूपों में समन्वय स्थापित करना पड़ा। उसके लिए उन्होंने एक श्रोर प्राचीन को श्रपनाया श्रीर दूसरी श्रोर उन्हें उसका संस्कार नये ढङ्ग से करना पड़ा। राम-चरित राम का श्रादर्श—प्राचीन का प्रतीक है तो उसे जिस देवत्व से श्रमिभूषित किया गया, वह नवीनता की देन है। तुलसी ने एक सुदृढ़ श्राधार ग्रहण किया, जो जीवन के विविध रूपों में सामंजस्य स्थापित कार सकते अभी सामग्री प्रसान कार सके। भारतीय संस्कृति

के समस्त इतिहास में पुरुषोत्तम राम का चरित ही ऐसा है, जिसे इस देश के सभी प्रमुख धर्मी एवं ग्राचार्यों ने महत्व प्रदान किया है। उसके प्रति प्राचीन हिन्दू धर्म की म्रास्था तो चिरकाल से ही रही है; बौद्धों, जैनियों, योगियों, वैष्णवों भीर सन्तों की भी श्रद्धा किसी-न-किसी मात्रा में सदा रही है। यही कारण है कि संस्कृत, पालि, प्राकृत, श्रपभ्रंश, हिन्दी, बैंगला, मराठी, कन्नड श्रादि प्रमुख भाषाओं में राम के श्रादर्श चरित का भ्राख्यान श्रद्धा-पूर्वक हुम्रा है। कहा जा सकता है कि यदि इस समन्वयवाद का श्रेय राम के चरित को है तो फिर तुलसी की क्या विशेषता रही ? किन्तु ऐसी वात नहीं है। वन में शताधिक जड़ी-वृटियों के विद्यमान रहते हुए भी हम उनका उपयोग नहीं कर सकते. किन्तू एक चतुर वैद्य उनके रहस्य को जानकर उन्हीं जड़ी-बूटियों से सहस्रों रोगियों का उपचार कर देता है। क्या उस चिकित्सक का महत्त्व इसीलिए गौण हो जायगा कि उसने अपनी शक्ति के वल पर नहीं, अपितु औषिधयों के वल पर उपचार किया ? चिकित्सक की सफलता इसी में है कि उसने सही वक्त पर, रोगी को सही ग्रीपिं दी ! राम का चरित्र सदैव सबके लिए खुला था, किन्तु एक तुलसी का ही ज्यान उधर ग्राकृष्ट क्यों हुग्रा, वे ही उसका रहस्य क्यों समभ सके, ग्रन्य क्यों नहीं ? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में तुलसी की महानता छिपी हुई है। साथ में यह भी व्यान रहे कि उसने रामचरित के पीधे को ज्यों-का-त्यों काम में नहीं ले लिया, श्रपितु उसे अनेक द्रव्यों से समन्वित करके एक ऐसा रसायन तैयार किया, जो सभी प्रकार की आधि-व्याधियों के लिए 'राम-वाण' बन गया।

सबसे पूर्व हम उनके काव्य-प्रयोजन या काव्य-रचना के उद्देश्य को ही लेते हैं। उस समय दो प्रकार के किव थे—एक तो वे जो अपने आश्रयदाताओं की ही प्रसन्नता के लिए काव्य-रचना करते थे, दूसरे वे जो स्वान्तः सुखाय काव्य-रचना करते थे। प्रथम वर्ग के किवयों की रचना में वैयक्तिकता का सर्वथा लोप होता था, तो दूसरे वर्ग की रचना में सामाजिकता का। अन्य युगों और अन्य देशों में भी ऐसी स्थिति रही है, जब कला या तो कोरी वैयक्तिकता से असित हो गई है, या कोरी सामाजिकता के कारण शुष्क-सी हो गई है। 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए?' ये दो विरोधी वाद पाश्चात्य साहित्य में दीर्घकाल तक प्रचलित रहे हैं। इस दृष्टि से तुलसी का काव्य दोनों के बीच उचित समन्वय स्थापित करता है। वे 'स्वान्तः सुखाय' काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु फिर भी वे वैयक्तिकता से असित नहीं होते। वे 'प्राकृत-जन' का गुण-गान करना हेय समभते हैं, किन्तु फिर भी उनकी रचना जनता की प्राकृत वृत्तियों का परिष्कार करने में समर्थ है।

काव्य की विषय-वस्तु में भी उनका यही समन्वयवादी दृष्टिकोण है। प्रायः साहित्य में राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक या पारिवारिक जीवन की किसी एक समस्या को लेकर काव्य का स्थूल ग्राधार तैयार किया जाता है—किन्तु तुलसी के मानस में इन सभी विषयों का सिमिन्वया अस्ति हुआ। है। कि हम अस्ति एक-दूसरे से विच्छित्र नहीं

कर सकते। राजनीतिक दृष्टि से एक ग्रोर उन्होंने श्रपने युग की विषम परिस्थितियों की ग्रालोचना की है—

गोंड़ गेंवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल। साम न दाम न भेंद किल केवल दंड कराल।।

तो दूसरी ग्रोर उन्होंने शासक एवं ग्रधिकारियों के कर्तव्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक ग्रधिकारी।।

× × × × × gलसी प्रजा सुभाग तें, भूप भानु सो होय।

मुखिया मुख सों चाहिए, खान-पान को एक। पालइ पोषइ सकल ग्रंग, तुलसी सहित विवेक।।

क्या यह म्रादर्श यथार्थ में परिणत हो सकता है ? क्यों नहीं, 'राम-राज्य' इस प्रश्न का उत्तर है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं व्यापा। सब नर करहिं परस्पर प्रोती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती। नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-होना।

वस्तुतः म्रादर्श राम-राज्य की इसी सुन्दर कल्पना ने ग्राघुनिक युगीन नेता महात्मा गांघी को मोहित कर लिया था। भले ही हम म्राज 'प्रजातन्त्रवाद' की रट लगाएँ, किन्तु वह 'राम-राज्य' की समता करने में म्रसमर्थ है।

समाज के क्षेत्र में तुलसी ने सर्वप्रथम तो दाम्पत्य-सम्बन्ध की स्थिरता एवं विपत्रता पर बल दिया। जहाँ वे नारी को उपदेश देते हैं कि वृद्ध, रोगवश, जड़, धन-होन, ग्रंघ व,िषर, कोधी एवं दीन पित का भी ग्रपमान मत करो, वहाँ वे पुरुष के लिए एकपत्नीव्रत का ग्रादर्श भी उपस्थित करते हैं। एक ग्रोर पित पत्नी में ग्रनुरक्त हो ग्रीर दूसरी ग्रोर पत्नी मन-कर्म-वचन से पित के लिए हितकारिणी हो—इससे बढ़कर दाम्पत्य जीवन का ग्रादर्श क्या होगा। देखिए—

"एकनारि व्रत रत सब भारी, ते मन-वच-क्रम पित हितकारी।"
जो विद्वान् तुलसी पर नारी-वर्ग के प्रति कठोरता का ग्राक्षेप लगाते हैं, वे इन
पंक्तियों को न भूलें—

कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाँही।।

इससे स्पष्ट है कि वे नारी की श्रित उच्छुङ्खलता के विरोधी थे, श्रन्यथा सामान्य नारी की पराधीनता के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति थी—तथा वे नारी ग्रौर पुरुष दोनों के चरित्र का उत्थान चाहते हुए दाम्पत्य जीवन में सामंजस्य स्थापित करने के पक्षपाती थे।

उस युग में ऐसे भी दम्पति थे, जो भ्रपने सुख-भोग में मग्न होकर परिवार के कर्तव्यों की उपेक्षा करते शेटिक नाम स्रोकता कार्ति के कर्तव्यों की उपेक्षा करते शेटिक नाम स्रोकता कार्ति के स्रोक्त स्रोक्त कर्तव्यों की उपेक्षा करते शेटिक नाम स्रोक्त कार्य के स्रोक

युवक ग्रपने माता-पिता की सेवा से विरत हो रहे थे। तुलसी ने ऐसे व्यक्तियों को लह्य करके व्यंग्य किया है—

> सुत मार्नीह मातु-पिता तब लों, ग्रबला नव दीख नहीं जब लों। ससुरारि पियारि लगी जब तें, रिपु कुटुम्ब भये तब तें॥

> > नींह मानत कोउ अनुजा तनुजा।

साथ ही वे उपदेश देते हैं-

×

श्रनुचित उचित विचार तिज, जे पालीह पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के, बसीह अमरपित ऐन।।

युवक-वर्ग की ग्रति विलासिता के कारण पारिवारिक स्थिति विषम हो रही थी, तो दूसरी ग्रोर वर्ण-व्यवस्था भंग होने के कारण दिन-प्रति-दिन सामाजिक संगठन में शिथिलता ग्राती जा रही थी—

वरन घरम गयो, ग्राश्रम निवास तज्यो।

× × ×

बार्दाह सूद्र द्विजन सन, हम तुमसे कछु घाटि।

× × ×

जानपनी की गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गैवार महा है।

तुलसी ने केवल खंडन का ही मार्ग नहीं अपनाया, अपितु वे साथ-साथ आदशों की स्थापना के द्वारा मंडन भी करते चलते हैं। राम-चरित्र के द्वारा उन्होंने पित-पत्नी-सम्बन्ध में मधुरता, भाई-भाई से स्नेह, पुत्र के आज्ञा-पालन, विमाताओं के प्रति आदर-भाव आदि के उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करके तत्कालीन जनता का मार्ग-प्रदर्शन किया है। घ्यान रहे, सीता-वनवास की घटना, जो राम के दाम्पत्य-जीवन पर कलंक के समान

थी, का वर्णन तूलसी ने नहीं किया है।

अपने युग की विभिन्न दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचार-घाराओं में भी मानस के रचियता ने सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। मध्य-युग के दो बड़े दार्शनिक वादों— अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद में तुलसी ने इतने सुन्दर ढङ्ग से सामंजस्य स्थापित किया है कि मानस में दोनों ही अविरोधी भाव से विद्यमान हैं। यही कारण है कि दोनों वादों के ही अनुयायी मानस में अपने-अपने मतलब की सामग्री प्राप्त कर लेते हैं। यदि महामहो-पाष्याय गिरघर शर्मा मानस में अद्वैतवाद का निरूपण इतनी गम्भीरता से पाते हैं कि उनके मत से 'दावे के साथ कहा जा सकता है कि शांकर अद्वैत के विरुद्ध पड़नेवाले साम्प्रदायिक विचार रामायण में हैं ही नहीं' तो दूसरी और विशिष्टाद्वैतवाद को लेकर चलने वाले भक्ति-पथ के अनुयायी भी उनसे सन्तुष्ट हैं। अद्वैत को माननेवाले ज्ञान-मार्ग का समर्थन करते हैं तथा विशिष्टाद्वैतवादी भक्ति का। तुलसी ने दोनों के समन्वय का ही समर्थन किया है—

भगतिहि ग्यानींह नहिं कछु भेदा । उभय हरिहं भव संभव खेदा । किन्तु एकांगी ज्ञीनि के विशेषां भे विश्मिष्ट कि हिते, हैं वा सम्बद्धां जे म्रसि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं। ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत म्राकु फिरहिं पय लागी।।

श्रन्ततः तुलसी का भुकाव भक्ति की श्रोर श्रधिक है, किन्तु वे भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन ज्ञान-मार्गियों को श्रप्रसन्न करके नहीं करते; श्रपितु उनके मार्ग को तलवार की घार पर चलने के समान बताकर उनके महत्त्व को श्रक्षुण्ण रखते हैं; केवल जन-साधारण की सरलता एवं सुविधा के नाम पर वे भक्ति का समर्थन करते हैं—

ग्यान पंथ कृपान के घारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।।

रामभगति चिन्तामनि सुन्दर । बसइ गरुड जाके उर श्रन्तर ।।

x x x

इसी प्रकार विभिन्न देवताओं की उपासना को लेकर भी हिन्दू धर्म के अनुयायी परस्पर विरोध में संलग्न थे। कोई शिव को सबसे बड़ा देव सिद्ध करता था, कोई शिक को और कोई विष्णु को। तुलसी ने अपनी 'विनय-पित्रका' में सभी प्रमुख देवों की स्तुति करके अपने व्यापक समन्वयवाद का परिचय दिया है। दूसरी श्रोर वे शैवों श्रौर वैष्णवों के पारस्परिक विरोध की भर्सना राम के मुँह से करवाते हैं—

सिब द्रोही मम भगत कहाबा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा।। संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ः मित थोरी।।

उस युग में नित्य नये-नये पंथों के उद्भव के कारण भी हिन्दू धर्म का विघटन हो रहा था। एक समन्वयवादी कवि इसे कैसे सहन कर सकता था, अतः उन्होंने इस प्रवृत्ति का विरोध स्पष्ट रूप में किया है—

"दंभिन निज मत कलिप करि, प्रकट किये बहु पंथ।"

जिस प्रकार उनकी कविता का विचार-पक्ष राजनीति, समाज, धर्म, भ्रौर दर्शन की विभिन्न विरोधी विचार-धाराओं को समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है, वैसे ही उनके भाव-पक्ष में सभी भावनाओं एवं रसों का समन्वय सुन्दर रूप में हुआ है। पुष्प-वाटिका-प्रसंग में श्रुङ्गार की जैसी मनोहर अभिव्यक्ति उन्होंने की है, वह क्षण-भर के लिए उनके भक्त होने में सन्देह उत्पन्न कर देती है। प्रथम दर्शनजन्य प्रेम का जैसा सजीव चित्रण तुलसी द्वारा हुआ है, वह कम-से-कम हिन्दी-काव्य के लिए तो अपूर्व है। जनकतनया के सौन्दर्य एवं उसकी चेष्टाओं के निरूपण में उन्होंने जैसी सूक्ष्मता दिखाई है, वह किसी श्रुङ्गारी किव के भी वश की बात नहीं है—

कंकन किंकिनि नूपुर ध्विन सुनि । कहत लखन सन रामु हृदय गुनि ।। मानहुँ मदन दुन्दुभो दीन्हीं । मनसा विस्व विजय करि लीन्हीं ।।

जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि बिस्व कहुँ प्रकट देखाई॥ सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छवि गृहँ दीप सिखा जनु बरई॥

चितवित चिकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किशोर मनु चीता। जहँ विलोक मृग-सावक-नयनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी।।

× × ×

ग्रिधिक सनेह देह भै भोरी। सरद सिसिह जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामींह उर आनी। दोन्हें पलक कपाट सयानी।।
जो किव श्रृङ्गारिकता का ऐसा सरस वर्णन कर सकता है, वही रौद्र, वीर एवं
भयानक की सृष्टि में भी पूर्ण सफल हुग्रा है। उदाहरण के लिए वीर-रस का एक किवत्त
द्वष्टव्य है—

तीखे तुरंग कुरंग सुरंगिन साजि चढ़ें छँटि छैल छबीले। भारि गुमान जिन्हें मन में कबहूँ न भये रन में तन ढीले।। तुलसी गज से लिख केहिर लों, ऋपटे पटके सब सूर सजीले। भूमि परे भट घूमि कराहत, हाँकि हने हनुमान हठीले।।

वस्तुतः तुलसी ने सभी रसों की ग्रायोजना सफलतापूर्वक करके ग्रपनी ग्रपार

समन्वय शक्ति का परिचय दिया है।

काव्य-रूपों एवं शैली की दृष्टि से भो तुलसी का साहित्य ग्रपनं युग की सभी प्रचलित काव्य-पद्धितयों से समन्वित है। महाकाव्य, मुक्तक, गीति—तीनों रूपों का प्रयोग उन्होंने सफलतापूर्वक किया है। उस युग में पाँच काव्य-शैलियाँ प्रयुक्त होती थीं—(१) बीर-गाथा काल की छप्पय पद्धित (२) कृष्ण-भक्त कियों की गीति पद्धित, (३) चारणों व भाटों की किवत्त-सवैया पद्धित, (४) दोहा-पद्धित ग्रौर (५) प्रेमाख्यानों की दोहा-चौपाई पद्धित। तुलसी के काव्य में इन सभी पद्धितयों का प्रयोग सफलतापूर्वक हुग्रा है। इसी प्रकार उनकी शैली में स्वाभाविकता ग्रौर ग्रलंकृति का सुन्दर समन्वय मिलता है। उस युग में ब्रज ग्रौर ग्रवधी का साहित्य में प्रयोग होता था; तुलसी ने दोनों का ही प्रयोग पूर्ण ग्रिधकार के साथ किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी में समन्वय की अपूर्व क्षमता थी। क्या विचार, क्या भाव और क्या शैली—साहित्य के सभी पक्षों में उनकी अनूठी समन्वयवादिता दृष्टि-गोचर होती है। भारतीय धर्म-साधना ने वैदिक युग से लेकर उनके युग तक जो कुछ प्राप्त किया था, उसका सार रूप उनके काव्य में एकत्र है। भारतीय संस्कृति, भारतीय समाज और भारतीय साहित्य का चरम विकसित रूप यदि किसी एक ही रचना में देखना हो तो उसका सबसे सुन्दर साधन तुलसी का 'राम-चरित-मानस' है, इसमें कोई सन्देह नहीं। तुलसी की इस महान् देन को देखते हुए किसी किव ने ठीक लिखा है—

'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।'

ः ग्रहावन ःः

मीराँबाई का काव्यः नव मूल्यांकन

- १. मीराँ के ग्रन्थ।
- २ 'पदावली' की पृष्ठभूमि ।
- ३. 'पदावली' का बौद्धिक पक्ष ।
- ४. 'पदावली' का भाव-पक्ष ।
 - (क) माधुर्य भाव।
 - (ख) रूपासक्तिजन्य भाव।
 - (ग) माधुर्य भाव की प्रगाढ़ता।
- ५. काव्य-रूप एवं शैली पक्ष ।
- ६. उपसंहार।

यद्यपि हिन्दी की सर्वोच्च महिला कविष्यशी—मीराँवाई—के नाम से सम्बद्ध अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक रचना 'मीराँवाई की पदावलो' ही है। 'इस 'पदावली' का भी कोई एक प्रामाणिक रूप या मंस्करण नहीं मिलता—विभिन्न संकलन-कर्ताओं एवं संपादकों ने अपने-अपने ढंग से 'पदावली' का पाठ निर्धारित किया है। इतना ही नहीं, 'पदावली' के विभिन्न संस्करणों के पदों की संख्या एवं नाम में भी परस्पर गहरा अंतर मिलता है। इसका कारण कदा-वित् यह है कि स्वयं मीराँ ने अपने विभिन्न पदों को संगृहीत करके कोई संज्ञा प्रदान नहीं की, अपितु परवर्ती संकलन-कर्ताओं ने ही अपने-अपने संकलनों को विभिन्न संज्ञाएँ प्रदान की हैं। यही कारण है कि मीराँ की पदावली के अनेक संग्रह अलग-अलग नामों से प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ ये हैं —(१) 'मीराँवाई के भजन'—पं० ईश्वरीप्रसाद रामचन्द्र द्वारा संकलित, सन् १८६८ ई०। (२) मीराँवाई की शब्दावली'—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित। (३) 'मीराँवाई की पदावली'—सं० परशुराम चतुर्वेदी। (४) 'मीराँ-माधुरी'—ज्ञजरत्नदास। (४) 'मीराँ और उनकी प्रेमवाणी'—ज्ञानचन्द्र जैन। (६) 'मीराँ की प्रेमवाणी'—रामलोचन शर्मा 'कंटक'। (७) 'मीराँ-मंदाकिनी'—नरोत्तमदास स्वामी। (६) 'मीराँ-दर्शन'—मुरलीधर श्रीवास्तव। (६) 'मीराँ-पदावली'

१. मीराँ की अन्य उपलब्ध रचनाएँ—(१) गीत-गोविंद की टीका (२) नरसी रो मायेरो (३) सत्यभामाजी नों रूसणो (४) राग सोरठ (५) राग गोविंद आदि।

२. 'राजस्थानी भाषि भारित्य Math Collection, Varanasi.

—विष्णुकुमारी 'मंजु'। (१०) 'मीराँ-वृहत् पद-संग्रह'—पद्मावती 'शवनम' (११) 'मीरा-सुधा-सिंधु'—स्वामी ग्रानन्द स्वरूप । इनमें से ग्रनेक संग्रह एक-दूसरे पर ग्राधा-रित है तथा कुछ की भाषा बहुत ही भ्रष्ट है। विशेषतः राजस्थानी भाषा से भ्रनभिज्ञ सम्पादकों ने संपादन एवं शोधन के नाम पर मीराँ के पदों को अशुद्ध एवं विकृत रूप प्रदान कर दिया है। श्रतः मीराँवाई के काव्य का ग्रघ्ययन करते समय इस तथ्य को घ्यान में रखना ग्रावश्यक है। हमारे देखने में ग्रव तक जो संस्करण ग्राये हैं, उनमें श्री परश्राम चतुर्वेदी एवं प्रो० नरोत्तमदास स्वामी के द्वारा संपादित ही ग्रधिक प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत लेख भी मुख्यतः परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित 'मीराँ की पदावली' पर ग्राधारित है।

'पदावली' की सामान्य पृष्ठभूवि-किसी भी रचना के सर्जनात्मक पक्ष का ग्राष्ट्रययन करने के लिए विकासवादी दृष्टिकोण ^५ के श्रनुसार मुख्यतः इन तीन विन्दुओं पर विचार करना भ्रावश्यक है—(१) पूर्व-परम्परा (२) तत्कालीन वातावरण एवं (३) रचियता का व्यक्तित्व। यहाँ 'पदावली' के सर्जन-पक्ष की व्याख्या के लिए भी इन तीनों पर क्रमशः विचार करते हुए सर्वप्रथम उमकी पूर्ववर्ती परम्परा पर घ्यान देना चाहिए । यद्यपि मीराँ के जीवन-काल के सम्बन्ध में मतैवय का श्रभाव है, फिर भी सामान्यतः संवतः १५५५ से १६०३ वि० का समय इसके लिए स्वीकार किया जाता है^२; इस दृष्टि से वे कवीर-रैदास की परवर्ती एवं सूर-तुलसी की पूर्ववर्ती सिद्ध होती हैं। पदों या गीतों की परम्परा का सूत्रपात हिन्दी में चौदहवीं शताब्दी ईस्वी से भी पूर्व हो चुका था। इस परंपरा का मूल स्रोत ग्रपभ्रंश के सिद्ध किवयों में ढुँढा जा सकता है। उन्होंने कदाचित लोक-गीतों के श्राधार पर इसे प्रतिष्ठित करते हुए स्वानुभूतियों की ग्रिभिव्यक्ति का माध्यम बनाया । तदनन्तर नाथ-पन्थी योगियों एवं महाराष्ट्रीय संतों ने इस परम्परा को श्रागे बढ़ाया । महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त नामदेव (१२७०-१३५० ई०) ने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी पदों की रचना की तथा श्रागे चलकर हिन्दी के विभिन्न सन्त कवियों ने उन्हीं का अनुमरण करते हुए इस परंपरा को विकसित किया। कबीर ने श्रन्य शैलियों के साथ-साथ पद-शैली में भी काव्य-रचना की। मीराँ के धर्म-गुरु रैदास भी कवीर के समकालीन माने जाते हैं तथा उन्होंने भी पद-शैली में काव्य-रचना की थी। स्वयं मीराँ ने श्रपने गुरु रूप में रैदास का नाम बार-बार श्रमित श्रद्धापूर्वक लिया है—अतः कहा जा सकता है कि पद-शैली प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मीराँ को अपने गुरु रैदास से मिली थी। मीराँ के पदों की न केवल गैली, ध्रपित विषय-वस्त एवं भाव-व्यंजना भी सन्तों के प्रभाव से युक्त है, श्रतः 'मीराँ की पदावली' को सन्तों की पद-परम्परा का ही नव विकसित रूप मानना उचित होगा। 'नव विकसित'—विशेषण का प्रयोग हम जान-बूभकर कर रहे हैं; वह इस बात का सूचक है कि मीराँ ने परवर्ती संतों का ग्रंधानुकरण नहीं किया, श्रपितु विचार, भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से पूर्व-परम्परा को नया मोड़ भी दिया है। जैसा कि भ्रन्यत्र स्पष्ट किया जायगा, मीराँ सन्तों

१. द्रष्टव्य—'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'। २. राजस्थिनी⁰भोषा ग्रीर साहित्य ^{Coll}हीं ^(o)मोहिस्वरीं।

की शिष्या होती हुई भी अपने धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार सगुण के भक्तों के अधिक समीप पड़ती हैं तथा उनका भाव-पक्ष संतों के भाव-पक्ष की अपेक्षा अधिक अनुभूतिपूणे एवं गम्भीर है। उनकी शैली में भी अपेक्षाकृत अधिक कोमलता, सरलता एवं तरलता दृष्टिगोचर होती है। अतः कहा जा सकता है कि मीराँ ने पद-शैली के रूप में पूर्व-परम्परा से जो-कुछ ग्रहण किया, उसे नयी वस्तु, नयी अनुभूति एवं शैली के नूतन तत्त्वों द्वारा अर्थे अधिक सम्पन्न एवं परिष्कृत किया है। दूसरे शब्दों में, 'मीराँ की पदावली' अपनी पूर्व-परम्परा के नूतन विकास की सूचक है; यह मीराँ के कवि-व्यक्तित्व की सशक्तता एवं सबलता का प्रमाण है।

सत्कालीन वातावरण की दृष्टि से 'मीराँ की पदावली' पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि मीराँ उस युग की भूमिका पर प्रतिष्ठित है, जबिक भक्ति-ग्रान्दोलन अपने उत्थान की ग्रोर श्रग्रसर था। यह वही समय था, जबिक नामदेव, कवीर एवं रैदास जैसे संत धर्म की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सांप्रदायिक भेद-भावों, वर्ण ग्रौर जाति के स्तरों की भिन्नता एवं वाह्याचारों व कृत्रिम विधि-विधानों की निरर्थकता घोषित कर चुके थे, किन्तु सभी तक सूर-तुलसी की सगुण-लीलाग्रों के गुण-गान का माधुर्य प्रवाहित नहीं हुग्रा था। मीराँ इन दोनों स्थितियों के मध्य में स्थित हैं—न केवल काल की दृष्टि से, ग्रपितु ग्रपनी बौद्धिकता, भावना एवं क्रिया-कलापों की दृष्टि से भी । जिसे हम 'युग-बोध' कहते हैं, वह प्रायः ग्रतीत से कटा हुग्रा एवं भविष्य से सटा हुग्रा होता है--उसमें अतीत श्रीर भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का बोघ ही अधिक रहता है, किन्तु ऐसा युग-बोध व्यक्ति के दृष्टिकोण को सीमित एवं संकीर्ण बना देता है। वह ग्रतीत से ग्रहण नहीं कर पाता, भविष्य को कुछ दे नहीं पाता। ऐसे 'युग-बोघ' की दुहाई देकर हम भले ही अपनी सीमाओं की संकीर्णता एवं ध्रभावों की दुर्बलता को छिपा लें, किन्तु सच्ची प्रतिभा एवं व्यापक दृष्टि का प्रमाण तो उसी बोध में माना जा सकता है, जो श्रतीत की उप-लब्धियों, वर्तमान की गति-विधियों एवं भविष्य की सम्भावनाग्रों पर ग्राधारित हो । इस प्रकार के व्यापक बोध का प्रमाण मीराँ की काव्य-दृष्टि में उपलब्ध होता है। मध्यकालीन उच्च सामन्तवर्ग में पोषित राजकुमारी होती हुई भी उन्होंने चर्मकार रैदास की शिष्यां बनने में कोई संकोच नहीं किया—महलों भीर राज-भवनों की सुदृढ़ दीवारें भी उन्हें सन्तों की कृटिया में जाने से नहीं रोक सकीं - यह तथ्य उनके व्यक्तित्व की सबलता का द्योतक है। राज-भवनों की ग्रट्टालिकाग्रों में रहनेवाली राजकुमारी का शूद्रजातीय संतों के साथ निस्संकोच रूप में मिलना-जुलना सांस्कृतिक परिस्थितियों के एक नूतन विकास एवं नूतन संगम का सूचक है। दूसरी भ्रोर संतों के निर्गुण की शुष्कता के साथ भक्तों के सगुण की मधुरता का मेल, खंडन-मंडन की तार्किकता के स्थान पर हृदय के माधुर्य की प्रतिष्ठा एवं दुरूह प्रतीकों एवं ग्रस्पष्ट शब्दावली के स्थान पर सहज स्वाभाविक शैली का प्रयोग—इस बात का सूचक है कि मीराँ ने भ्रपने काव्य में पूर्ववर्ती संतों की उप-लब्बियों एवं परवर्ती भक्तों की संभावनाग्रों के सामंजस्य को प्रस्तुत किया है। उनका 'युग-बोघ' 'सीमित युग-बोघ' न होकर भ्रतीत भीर भविष्य से संपुष्ट है। वस्तुतः साहित्यः कार की विकसित चेतना ही ऐसा व्यापक बोध प्रस्तुत कर सकती है।

जहाँ तक मीराँ के व्यक्तित्व की बात है—उनमें हम अद्भुत साहस, अद्भुत धैर्य एवं अद्भुत सहजता पाते हैं। वे अपने लक्ष्य के प्रति इतनी अधिक आस्थावान एवं दृढ़ हैं कि विष-पान तक की स्थिति उन्हें विचलित नहीं कर पाती। पारिवारिक विरोध, सामाजिक भर्त्सना एवं लोक-निन्दा भी उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को तिनक भी नहीं छू पाती। यही कारण है कि वे अपनी आत्मा की आवाज को, अपने हृदय के क्रन्दन को, अपने मन के उल्लास को, अपनी भावनाओं के आवेग को और अपनी अनुभूतियों के प्रवाह को निर्वाध रूप में व्यक्त कर पायीं। नारी का नारीत्व उन्हें कृत्रिमता के आवरण को घारण करने के लिए विवश नहीं कर पाता, उच्च कुल की कुलीनता उन्हें गांभीय एवं ऐश्वर्य के अनावश्यक भार को ढोने के लिए मजबूर नहीं कर पाती। वे एक ऐसी नारी का आदर्श प्रस्तुत करती हैं, जो पारिवारिक रूढ़ियों एवं सामाजिक सीमाओं का उच्छेदन करते समय एक अद्भुत शक्तिशालिनी विद्रोहिणी का रूप धारण कर लेती हैं, जबकि अपने साँवरिया को आराधना के समय, उसके सम्मुख आत्म-निवेदन करते समय प्रेम से विभोर, लाज से गद्गद, कोमलता से ओत-प्रोत एवं दैन्यता से द्रवित हो उठती हैं। वे एक ओर समाज को चुनौती देती हुई कहती हैं—

पग घुंघरू बांध मीरां नाची रे

मीराँ नाची !

या-

माई री मैं तो लीयो गोविन्दो मोल। कोई कहैं छाने कोई कहैं चौड़े, लियो री बजंता ढोल।

तो दूसरी श्रोर वे यह भी स्पष्ट रूप में घोषित करती हैं— मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई!

ग्रस्तु, इसमें कोई सन्देह नहों कि मीराँ के व्यक्तित्व की सबलता, शक्तिमत्ता एवं स्पष्टवादिता ने उनकी वाणी को पर्याप्त शक्ति एवं सहजता प्रदान को है—इसी के बल पर वे श्रपनी श्रनुभूतियों को यथार्थ रूप में व्यक्त कर सकी हैं तथा यही यथार्थता उनकी श्रमिव्यक्ति का चरम सौन्दर्य है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मीराँ का काव्य परंपरा से पुष्ट होते हुए भी उसकी रूढ़ियों से जकड़ा हुग्रा नहीं है; युगीन वातावरण पर श्राघारित होते हुए भी उसकी सीमाग्रों से श्राबद्ध नहीं है तथा उनका व्यक्तित्व राजभवनों में पला हुग्रा होते हुए भी उसकी श्रीपचारिकताग्रों एवं कृत्रिमताग्रों से मुक्त है। वस्तुतः मीराँ की काव्यानुभूति परंपरा, युग एवं व्यक्तित्व के सुन्दर सम्मिश्रण का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। वह परम्परा का एक नया मोड़, युग का एक व्यापक वोघ एवं व्यक्तित्व की एक नूतन सहजता का श्रादर्श प्रस्तुत करता है, जो समग्र रूप में किव-प्रतिभा की विकासोन्मुखता का परिचायक है।

'पदावली' का बौद्धिक पक्ष—'पदावली' के बौद्धिक पक्ष पर विचार करने के लिए हमें सर्वप्रथम यह देखना होगा कि मीर्रां किस धर्म-सम्प्रदाय व दार्शनिक मत की अनुयायी थीं। इस सम्बन्ध में कोई विभिन्न स्माएड हिस्सिन कि स्मान्य समान्य स्मान्य स्मान्य समान्य स

धर्म-सम्प्रदायों एवं दर्शनों का प्रभाव मिश्रित रूप में दृष्टिगोचर होता है, श्रतः उन्हें किसी एक सम्प्रदाय से सम्बद्ध करना उचित प्रतीत नहीं होता । उनके माता-पिता सगुण के उपासक थे तथा इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि मीराँ बाल्यकाल में ही कृष्ण की मूर्ति की पूजा करने लग गई थीं — इससे वे सगुण की आराधिका सिद्ध होती हैं। उनके पदों में भी प्रायः कृष्ण के प्रति ही भ्रात्म-निवेदन किया गया है, इससे भी वे कृष्ण-भक्तों की परम्परा में श्राती हैं। किन्तु कृष्ण-भक्त मान लेने पर भी एक प्रश्न यह उठता है कि वे कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध किस सम्प्रदाय की ग्रनुयायिनी थीं ? कुछ विद्वान् उन्हें वल्लभ-सम्प्रदाय से संबद्ध करना चाहते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। ग्रवश्य ही वल्लभ-सम्प्रदाय से मीराँ का थोड़ा सम्पर्क रहा था, किन्तु उन्होंने इसकी दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। वार्ता के प्रनुसार वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि गोविन्द दुवे मीराँ के यहाँ गये थे, किन्तु वे मीराँ से भ्रप्रसन्न होकर लौट ग्राये थे तथा मीराँ की दी हुई भेंट को ग्रस्वीकार करते हुए कहा था- 'तू तो श्री ग्राचार्य महाप्रभून की नहीं होत ताते भेंट हाथ से छूवोंगो नहीं। एक ग्रन्य उल्लेख के ग्रनुसार मीराँ स्वयं भी वृन्रावन ग्राई थीं, किन्तु वे यहाँ नहीं ठहरीं ! इन सब वातों से यही सिद्ध होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के धनुयायियों ने मीराँ को धपने मत की दीक्षा देने का प्रयास किया था, किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

श्री वियोगी हरि के मतानुसार मीरों ने चैतन्य-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि श्री जीव-गोस्वामी से दीक्षा ली थी। मीरों की भक्ति-भावना में प्राप्त माधुर्य-भाव चैतन्य-मत की विचारधारा के ग्रनुकूल ही है, फिर भी इस बात का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता कि मीरों ने चैतन्य-सम्प्रदाय की दीक्षा ली ही थी।

स्वयं मीराँ की पदावली में गुरु के रूप में संत रैदास का स्मरण वार-बार श्रद्धा-पूर्वक किया गया है, तथा—

> गुर मिलिया रैदास जी, दीन्हीं ग्यान की गुटकी। चोट लगी निज नाम हरि की, म्हारे हिबड़े खटकी।।

दूसरी घोर सन्त रैदास की उपलब्ध जीविनयों में भी उनकी शिष्याओं में 'चित्तीड़ की काली रानी' का उल्लेख मिलता है—यद्यपि यह 'काली रानी' स्वयं मीरों का विशेषण नहीं मांना जाता—पर संभव है कि यह मीरों की माता, चाची, या किसी ऐसी निकटस्थ सम्बन्धिनी का सूचक हो, जिसके माध्यम से मीरों का भी रैदासजी से संपर्क हो गया हो। ग्रतः यह सम्भव है कि मीरों को ग्राध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि गृह रैदास से ही हुई हो। मीरों के काव्य पर संत-मत के प्रभाव को सूचित करने वाले घौर भी कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं। एक तो उन्होंने ग्रनेक पदों में प्रपने गृह को 'जोगी' रूप में सम्बोधित करते हुए उसके प्रति गहरी ग्रासिक व्यक्त की है; यथा—'जोगिया जी ग्रावो ने या देस', 'म्हारा सतगुह बेगा ग्राज्यो जी', 'ग्ररज कर मीरों दासी जी, गृहपद-रज की मैं प्यासी जी', 'सतगुह म्हाँरी प्रीत निभाज्यो जी' ग्रादि। इन पदों

१—'मीरां की पदावरोंं (प्रत्याताम अवुर्वेते) जाल्यहसंख्या बरें , २६, १६६।

में कहीं-कहीं गुरु को ही ग्राराध्यदेव या परमात्मा के समरूप मान लिया गया है। गुरुदेव के लिए जोगी (योगी) विशेषण का प्रयोग किसी नाथ-पंथी योगी की ग्रोर भी संकेत करता है, किन्तु इसके ग्राघार पर यह कहना कठिन है कि उनका नाथ-पंथियों से सम्बन्ध रहा है। नाग-पंथ के ग्रनेक यौगिक शब्द — त्रिकुटी, शून्य, सुरत, सुवुम्ना, घट ग्रादि—भी उनके पदों में ग्राये हैं, किन्तु उनका ग्रर्थ योग-परक न लेते हुए प्रेम-परक किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ-पंथ का यह प्रभाव मीराँ पर संत-मत के माच्यम से ही पड़ा है। संतों ने भी नाथ पंथियों की यौगिक शब्दावली का प्रयोग नूतन ग्रर्थ में किया है, उन्होंने हठयोग के स्थान पर प्रेम के सहज योग की प्रतिष्ठा की है। यही बात मीराँ में मिलती है। दूसरे ग्रनेक स्थलों पर मीराँ ने ईश्वर के निर्गुण निराकार एवं निरंजन रूप को मान्यता देते हुए ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा की एकता का प्रतिपादन किया है। एक ग्रोर वे कहती हैं—'जाको नाम निरंजण कहिए ताको घ्यान घर्षेगी' तो दूसरी ग्रोर वे स्वयं को ग्राराघ्य से ग्रमिन्न भी मानती हैं—'तुम विच हम विच ग्रंतर नाहीं, जैसे सूरज घामा।' गुरु के द्वारा प्राप्त ज्ञान की चर्चा करती हुई वे सर्वत्र ग्रात्मा के दर्शन की बात कहती हैं—

सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम की किंवारी हो। सब घट दीसे श्रात्मा, सबही सूं न्यारी हो॥ दोपक जोऊँ ग्यान का, चढूं श्रगम अटारी हो। मीरां दासी राम की इमरत बलिहारी हो॥

मीराँ की साधना एवं उपासना पद्धित में भी संतों की परम्परा के अनुरूप प्रणय भीर विरह की मात्रा पर्याप्त है—अतः यह कहा जा सकता है कि मीराँ पर संत मत की मान्यताओं का प्रभाव कम नहीं है। यह प्रभाव उन पर सन्त रैदास के माघ्यम से ही पड़ा हो तो भी आश्चर्य नहीं। यदि स्वयं रैदास का जीवन काल मीराँ से थोड़ा पीछे पड़ता हो तो किसी रैदासी संत (अर्थात् रैदासजी की शिष्य परंपरा का कोई संत) से भीराँ का सम्बन्ध माना जा सकता है।

मीराँ पर सन्त मत का प्रभाव स्वीकार करते हुए भी हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि विचार के क्षेत्र में मीराँ कट्टर नहीं थीं—वस्तुतः उनकी विचारधारा भाव धारा से भिन्न नहीं थी। वे निर्गुण की महत्ता स्वीकार करती हुई भी ग्रपने बचपन के प्राराध्य कृष्ण को नहों भूल पाईं—उन पर बाल्यकालीन संस्कार इतने गहरे थे कि वे प्रपना प्रणय-निवेदन मोरमुकुटधारी गिरिधर को ही करती हैं—निराकार ब्रह्म को नहीं। उनमें सगुण की ग्रास्था ग्रौर निर्गुण का ज्ञान—दोनों मिश्रित हो गये हैं। सच प्रधा जाय तो उनका निर्गुण ब्रह्म सगुण कृष्ण से भिन्न नहीं हैं! उनकी भावानुभूति की प्रवल धारा में सगुण एवं निर्गुण का भेद तिरोहित हो जाता हैं, ग्रतः दर्शन ग्रौर तर्क की कसौटियाँ उनके लिए व्यर्थ है।

'पदावली' का भाव पक्ष—'पदावली में मुख्यतः कृष्ण के प्रति प्रणय निवेदन किया गया है, जिसे लौकिक दृष्टि से श्रृङ्कार रस में स्थान दिया जा सकता था, किन्तु प्रट-०. Jangamwadi Math Collection, Varanasi, मीराँ का ग्रालम्बन ग्रलीकिक है—ग्रतः यह प्रश्न उठता है कि उसे भक्ति भाव में स्थान

दिया जाए या रहस्यवाद के भ्रन्तर्गत ! 'भिक्त' मूलतः श्रद्धा भ्रीर भ्रेम से समन्वित होती है, उसमें भ्रालम्बन को उच्च एवं महान् तथा स्वयं को दीन व हीन माना जाता है, जबकि मीरां में समता पर आघारित प्रणय की ग्रिभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से मीराँ सगुण भक्तों की अपेक्षा निर्गुण-संतों के अधिक समीप पड़ती हैं। संतों के दिव्य-प्रेम को 'रहस्य-वाद' की संज्ञा दी जाती है तथा अनेक आलोचकों ने मीराँ को भी रहस्यवादिनी वताया है, किन्तु हमें इसमें एक ग्रापत्ति है—मीराँ का ग्राराध्य सगुण कृष्ण है, जबिक रहस्य-वाद निर्गण की मान्यता पर ग्राघारित होता है। ग्रतः मीराँ न तो पूर्णतः भक्तों की श्रेणी में श्राती हैं श्रीर न ही संतों की श्रेणी में - उनकी भावना भक्ति श्रीर रहस्यवाद के बीच में पड़ती है। रूपगोस्वामी ने भक्ति के विभिन्न भेदोपभेद करते हुए भक्ति के एक ऐसे भेद की भी प्रतिष्ठा की है, जिसमें ग्राराध्य के प्रति विशुद्ध प्रणय की भावना रहती है, इसे माधूर्यभाव की भक्ति कहा गया है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति का यह भेद भक्ति के मूल क्षेत्र की सीमाग्रों से दूर पड़ता है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसे स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु इसे हम माधुर्यभाव की भक्ति न कहकर माधुर्य भाव की उपासना कहना पसन्द करेंगे तथा इसे भक्ति का भेद न मानकर, उससे पृथक् उपासना-पद्धति के रूप में स्वीकार करेंगे। भावना के ग्राघार पर उपासनाग्रों के निम्नां-कित तीन भेद माने जा सकते हैं-

निर्गुण + प्रणय = रहस्यवाद सगुण + श्रद्धा + प्रणय = भक्ति-भाव सगुण + प्रणय = माधुर्य-भाव

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार मीराँ की भावना को माधुर्य भाव की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः व्यावहारिक क्षेत्र में पहले से ही मीराँ की अनुभूतियों को 'माधुर्य भाव' के नाम से स्मरण करने की परम्परा चली आ रही है, अतः इस दृष्टि से भी यह उचित है।

माधुर्यभाव—मीराँ ग्रपने ग्राराघ्य देव को ग्रपने प्रेमी ही नहीं, ग्रपितु पति के रूप में स्मरण करती हैं—

भेरे तो गिरिघर गोपाल दूसरो न कोई। जाके सिर मोर मुकुट मेरो पित सोई। × × ×

में तो गिरधर घर जाऊँ गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ॥

यहाँ गिरिघर गोपाल के प्रति मीराँ ने पूर्ण ध्रनन्यता का भाव व्यक्त किया है—लौिक दृष्टि से उनके पति कोई धौर भी थे, किन्तु मीराँ उसका स्पष्ट निषेध करती हैं। लौिक सम्बन्ध एवं लौिक पति मिथ्या है—उसके वास्तविक पति—साँचो प्रीतम—तो गिरिघर ही हैं। इसीलिए वे निःसंकोच उन्हें बार-बार 'पिया' या पति के रूप में CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. सम्बोधित करती हैं—

यद्यपि यहाँ प्रयुक्त 'पिया' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से केवल प्रिय का सूचक है, किन्तु राजस्थानी भाषा में वह पित के भ्रर्थ में रूढ़ हो गया है, भ्रतः मीराँ का कृष्ण से प्रेयसी-प्रियतम का नहीं, श्रपितु पत्नी-पित का सम्बन्ध मानना चाहिए।

पित-पत्नी का सम्बन्ध कुछ ग्रीपचारिकताग्रों की ग्रपेक्षा रखता है, किन्तु मीराँ के सामने यह समस्या नहीं है। उनके विश्वास के ग्रनुसार वे जन्म-जन्म से कृष्ण की ही प्रेयसी व पत्नी रहती हैं, ग्रतः इस जन्म में भी वे उसी सम्बन्ध का पालन करती हैं— मेरी उणको ग्रीत पुराणी, उण बिनि पल न रहाऊँ!

पूरव जनम की प्रीत हमारी अब नहिं जात निवारी !

इसी प्रकार एक अन्य पद में वे अपने आराघ्य को 'पूर्व जन्म का साथी' मानती हुई अपने सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर तक चलनेवाला मानती हैं। संभवतः मीराँ की उपासना का लक्ष्य न तो स्वर्ग है और न ही मुक्ति। वे केवल अपने प्रियतम का सान्निष्य एवं तादात्म्य हो जन्म-जन्मान्तरों तक चाहती हैं।

रूपासिक्त-जन्य माघुर्य भाव—श्रद्धा या भक्ति का उन्मेष गुणों के चिन्तन के श्राघार पर होता है, जविक प्रणय की उत्पत्ति मुख्यतः सौन्दर्याकर्षण या रूपासिक्त के कारण होती है। ग्रन्य कारणों से भी प्रणय उत्पन्न हो सकता है, किन्तु रूप का प्रभाव उसमें गौण नहीं रहता। प्रणय का प्रथम ग्रंकुर तो रूपजन्य प्रभाव से ही प्रस्फुटित होता है, प्रिय के ग्रन्य गुण उस ग्रंकुर को पल्लवित एवं पुष्पित करने में योग भले ही देते हों। मीराँ का माधुर्य-भाव भी ग्राराघ्य के सौन्दर्याकर्षण पर ग्राधारित है। स्वयं कवियत्ती के भव्दों में—

कैसे प्राण पिया बिनि रार्ख् जीवन मूर जड़ी। मीरा गिरघर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी।।

कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का ग्राख्यान करते समय मीराँ ने न केवल उनके नख-शिख की विशिष्टता का संकेत किया है, ग्रिपतु उनको श्रृङ्गार-चेष्टाग्रों (हाव भाव)—यथा, बाँकी चितवन, मंद मुस्कुराहट ग्रादि—का भी निरूपण पूर्ण सरसता से किया है, जो मीराँ की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का परिचायक है। श्रृङ्गारी-साहित्य में नारो के नख-शिख की व्यंजना तो प्रायः मिलती है, किन्तु पुरुष प्रायः उपेक्षित रहा है। पुरुष के सौन्दर्य की प्रनुभूति के लिए नारी की ग्रांखें ग्रपेक्षित होती हैं—मीराँ के पास ये थीं, इसीलिए वे प्रपने पदों में स्थान-स्थान पर कृष्ण के सौन्दर्य का निरूपण ग्रत्यन्त शिष्ट एवं शालीन किन्तु ग्रनुभूतिपूर्ण शब्दों में कर सकीं।

मीराँ का माधुर्य भाव प्रथम-दृष्टिजन्य प्रणय (love at first sight) के अनुरूप है; इसीलिए वे कहती हैं—'जब से मुफे नंद-नन्दन दिखाई पड़ता है तब से लोक-परलोक
में कुछ भी नहीं सुहाता!' लौकिक प्रणय की भाँति ही वे अपने माधुर्य भाव को लोभी
नेत्रों की विवशता के रूप में स्वीकार करती हैं। उनकी रूपासिक ज्यों-ज्यों तीव एवं
गंभीर होती जाती है, त्यों-त्यों उनकी प्रणय-वेदना भी बढ़ती जाती है, पर फिर भी वे
जिस पथ पर आगे बढ़ गई हैं उससे लौट नहीं पातीं। परिवार और समाज उन्हें इसके
लिए लांखित करता है—उन्हें कलंकित और कुलटा घोषित करता है, तथा वे स्वयं भी
चाहती हैं कि दुनियाँ उन्हें ऐसा न कहे, परन्तु इससे क्या होता है। वे अपने वश में
नहीं हैं, उनके प्राण अपने हाथ में नहीं हैं, क्योंकि वे तो पहले ही गिरिघर के हाथ विक
चुकी हैं—उनके शब्दों में—

में ठाढ़ी ग्रिह आपणे री मोहन निकसे ग्राइ। बदन चंद परकासत हेली, मंद मंद मुसकाइ।। लोक कुटंबी गरिज बरजहों, बितयां कहत बनाइ। चंचल निपट अटक निहं मानत, परहथ गये विकाइ।।

जो किसी दूसरे के हाथ बिक चुके हैं, उनके लिए कुटुम्ब, परिवार, समाज श्रीर सोक के ये सारे विधि-निषेध व्यर्थ हो जाते हैं। लोग श्रच्छा बताएँ या बुरा—यह महत्व-शून्य हो जाता है:

भली कही कोई बुरो कही में सब लई सीसि चढ़ाइ। मीरां कहे प्रभु गिरिघर के बिनि, पल भरि रह्यो न जाई।

मीराँ यहाँ लोक-मत का तिरस्कार नहीं करतीं, उसकी उपेक्षा भी नहीं करतीं, प्रापतु सब कुछ शिरोधार्य कर लेती हैं। फिर भी वह लोक-मत के धनुसार चल नहीं पातों—इसलिए कि चलना उनके वश की बात नहीं है! भला जिस प्रभु के बिना एक क्षण भर भी नहीं रहा जाता उसे वह सदा के लिए कैसे भुला सकती हैं! वस्तुतः मीरों की इन उक्तियों में व्यक्तिगत दंभ या ग्रहंकार ग्रथवा साधना का गर्व नहीं है, अपितु प्रणय की गंभीरतम अनुभूति सों लेक ब्रेडिका अहिता अहिता का एवं विवशता दृष्टिगोचर होती है।

माधुर्यं भाव की प्रगाढ़ता—मीरां के इस माधुर्य भाव की प्रगाढ़ता का परिचय उनकी विभिन्न भावानुभूतियों या संचारी भावों में मिलता है। वे अपनी प्रणय-वेदना को शत-शत पदों में व्यक्त करती हैं, जिनसे उनकी अनुभूति की तीव्रता एवं गंभीरता का पता चलता है, यथा—

यहाँ नींद न आना एवं सर्वत्र शून्यता की प्रतीति होना—ऐसे अनुभव हैं ओ प्रणयानुभूतियों की गंभीरता के द्योतक हैं। यह गंभीरता और भी गंभीर हो उठती है जबिक पपीहा का मीठा स्वर भी उसके हृदय के घाव पर नमक का काम करता हुआ प्रतीत होता है; लगता है 'पपीहा' 'पिव ! पिव !!' कहकर विरिहणी को प्रिय की याद दिलाता हुआ उसके दग्ध हृदय पर नमक खिड़क रहा है—

रे पपइया प्यारे कब को वैर चितारचौ। मैं सूती छी अपने भवन में पिय-पिय करत पुकारचौ। दाभ्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़े करवत सारचौ॥

विरह-वेदना की चरम स्थिति तो वह है जब स्वयं विरहिणी श्रनुभव करने जाती है कि वह श्रसह्य व्यथा के कारण पागल हो गई है—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी होइ, दरद न जाणे मेरो कोइ। घायल को गति घाइल जाणे कि जिण लाई होइ।।

प्रायः प्रणय-वेदना के पीड़ितों का यह दुर्भाग्य रहा है कि वे अपनी पीड़ा को पट नहीं पाते ! उनकी पीड़ा को समभने एवं बँटानेवाले लोग इस घरती पर उत्पन्न नहीं होते ! इसीलिए मीराँ ने कहा है कि घायल की दशा को घायल ही समभ सकता है, कोई अन्य नहीं ! यही बात प्रेम-मार्ग के अन्य पथिकों ने भी कही है—

कहिबे को बिथा, सुनिबे को हँसी, को दया सुनि के उर ग्रानतु है। श्ररु पीर घटे तिज घीर सिल ! दुःल को नहीं का पै बलानतु है।। किव 'बोघा' कहे में सवाद कहा, को हमारी कहो पुनि मानतु है। हमें पूरी लगी के अधूरी लगी, यह जीव हमारोई जानतु है।।

—बोघा

का कहिए, किहि सौं कहिए, तन छीजत है पै नींह छीजतु है!

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मारग प्रेम को को समुक्ते हरिचन्द यथारथ होत यथा है। लाभ कछू न पुकारन में बदनाम ही होन की सारी कथा है।। जानत है जिय मेरो भली विधि ग्रौर उपाय सबै बिरथा है। बावरे हैं बृज के सगरे, मोहि नाहक पूछत कौन बिथा है।।

—भारतेन्दु

प्रणय-वेदना की ग्रिभिन्यक्ति कई बार प्रिय के प्रति ग्रात्म-निवेदन एवं उपालंभों के रूप में भी की जाती है। मीराँ भी इस पद्धति का ग्रनुसरण करती हुई कहती है—

देखो सइयाँ हरि मन काठ कियो।
ग्रावन कह गयो अर्जू न ग्रायो, करि करि वचन गयो।
खान-पान सुध-बुध सब बिसरो, कैसे करि मैं जियो।।
बचन तुम्हार तुमहीं बिसरे, मन मेरो हर लियो।
'मीरां' कहे प्रभु गिरधर नागर, तुम बिनि फाटत हियो।।

उपर्युक्त उक्तियों में व्यंग्य की तीक्ष्णता नहीं है, ग्रिपितु ग्रपनी वेदना की ग्रिभि-व्यंजना सहज स्वाभाविक रूप में है। 'तुम बिन फाटत हियो!' में यह वेदना साकार हो उठती हैं।

मीराँ ने विभिन्न पर्वों, त्यौहारों, ऋतुओं, पित्रकाओं, संदेश आदि विभिन्न अव-सरों व माघ्यमों के आश्रय से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त किया है। उन सबको प्रस्तुत करना यहाँ संभव नहीं, अतः इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनकी अनुभूतियाँ सर्वत्र सहज स्वाभाविक एवं मार्मिक रूप में व्यक्त हुई हैं। उनके माधुर्य भाव के संबंध में निष्कर्ष रूप में पाँच बातें कही जा सकती हैं—(१) उनका यह संबंध जन्म-जन्मान्तरों के प्रणय की—पिछले जन्म की प्रीति के विश्वास पर आधारित है। (२) उनका लक्ष्य मिलन हैं; स्वगं और मोक्ष नहीं। (३) उसमें आराघ्य को पित रूप में ग्रहण करते हुए स्वकीया भाव को स्थान दिया गया है। (४) उसकी उत्पत्ति सौन्दर्याकर्षण व रूपासित्त-जन्य है। (४) उसमें स्थूल शारीरिकता व संभोग का अभाव है, विरहानुभूति की ही प्रमुखता है।

काव्य-रूप एवं शैली-पक्ष—काव्य-रूप की दृष्टि से 'मीराँ' की 'पदावली' गीतिकाव्य के अन्तर्गत आती है। जब हृदय में भावों का ज्वार उमड़ता है, तो उसकी अभिव्यक्ति गीति रूप में होती है। काव्य के अन्य रूपों—प्रवन्ध और मुक्तक में भी भावात्मकता
रहती है, किन्तु उनमें वस्तु, पात्र, विचार आदि तत्त्वों का भी समावेश रहता है, इससे
उनमें भावात्मकता का तीव्र आवेग नहीं रहता, जो गीति-काव्य में सम्भव है। मीराँ
के पास आत्मानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं था—न वे कोई कहानी कहना चाहती
थीं, और न ही किसी की महिमा का गान करना उनका लक्ष्य था। किसी मत, सिद्धान्त
या संदेश का निरूपण करना भी उनका लक्ष्य नहीं था। वे चाहती थीं केवल अपने घायल
हृदय की पीड़ा को व्यक्त करना या अपने सांविलया से प्रेम, मनुहार, रोष, उपालंभ भरे
दो-चार शब्द कहना हु सुक्ते लिए सर्वो क्रिक्ट आह्मम ग्रीद्धिका ही हो सकता था, जिसे

अपनाकर मीराँ ने अपनी सहजता का परिचय दिया। वस्तुतः मीराँ ने गीति का माघ्यम अपनाया नहीं, अपितु कहना चाहिए कि उनकी विरह वेदना स्वतः ही गीतों के रूप में फूट पड़ी। आधुनिक किव पंत का यह कथन—'वियोगी होगा पहला किव, आह से उपजा होगा गान।'—मीराँ पर भली भाँति चरितार्थ होता है। उनके गीत उनकी 'आह' से ही प्रस्फुटित प्रतीत होते हैं।

गीति काव्य के लिए अपेक्षित तत्त्वों में भावानुभूति, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता एवं शैली की कोमलता की गणना की जाती है। मीराँ के पदों में ये सभी तत्त्व सहज स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, भावानुभूति तो उनके गीतों की प्रमुख विशेषता है। भावों में भी प्रेम और प्रेम में भी विरह सर्वाधिक कोमल एवं मघुर माना गया है—मीराँ के काव्य में इसी की प्रमुखता है। मीराँ अपनी विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए न तो जायसी की भाँति नागमती का माध्यम अपनाती हैं और न ही सूरदास की भाँति गोपियों का आश्रय प्रहण करती हैं—अपितु वे स्वयं ही प्रत्यक्ष श्रात्म-निवेदन के रूप में अपनी अनुभूति को व्यक्त करती हैं, ग्रतः उनकी अभिव्यक्ति में वैयक्तिकता भी सर्वत्र विद्यमान है। उनके गीत संगीत की राग-रागिनियों में वैधे हुए हैं तथा उनमें संक्षिप्तता एवं कोमलता भी यथोचित रूप में दृष्टिगोचर होती है, ग्रतः कहा जा सकता है कि मीराँ के काव्य में गीति-काव्य के सभी तत्त्वों का समन्वय सुन्दर रूप में हुग्रा है। उन्हें गीति-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। कुछ गीतों में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता के कारण उनका भाव-पक्ष दव गया है, किन्तु उन्हें अपवाद-रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

शैली के प्रतिमान के रूप में परम्परा से ग्रनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनमें ग्रलंकार, रीति, वक्रोक्ति, व्विन, प्रतीक, विम्व ग्रादि उल्लेखनीय हैं। ये सिद्धान्त मूलतः काव्य-शैली के विशिष्ट तत्व को घ्यान में रखकर स्थापित किए गये थे, किन्तु परवर्ती-युग में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रत्येक सिद्धान्त ने ग्रनेक मेदोपमेदों के रूप में ग्रपने क्षेत्र का इतना ग्रधिक विस्तार किया कि जिससे ग्रन्य सिद्धान्तों के क्षेत्रों का समावेश उसकी ग्रपनी परिधि में हो जाता है। उदाहरण के लिए जिसे ग्रलंकार सिद्धान्त में ग्रन्योक्ति कहा गया है, वही वक्रोक्ति में प्रकरण-वक्रता या घ्विन-सिद्धान्त में घ्विन के रूप में प्रतिष्ठित है। ग्रस्तु, इन सिद्धान्तों का क्षेत्र एक-दूसरे से घुल-मिल गया है, उनकी सीमाएँ ग्रस्पष्ट हो गई हैं तथा उनका रूप विक्रत हो गया है। इस स्थिति को घ्यान में रखते हुए हमने ग्रपने 'प्रबन्ध-साहित्य-विज्ञान' में इनके ग्राधारभूत तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए उन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से पाँच वर्गों में विभक्त किया है—(१) संयोजनात्मक, (२) विश्लेषणात्मक, (३) विस्थापनात्मक, (४) विनिमयात्मक ग्रौर (४) समान्वयात्मक। वस्तुतः इन पाँचों वर्गों में शैली के सभी परंपरागत एवं ग्राधुनिक तत्त्वों का समावेश निर्दोष रूप में हो जाता है, ग्रतः मीराँ के शैली-पक्ष पर विचार करते समय भी शैली के इन नूतन मानदंडों को ग्रहण करें तो ग्रनुचित न होगा।

⁽क) संयोजतात्मक कपुनिवास प्राप्त लावात स्या स्रोतिक क्रियान के से संयोजनात्मक

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ह्प-विधान कहा गया है, जिसे परंपरागत काव्य-शास्त्र में सादृश्यमूलक अलंकारों व वाक्य-वक्रता के रूप में उल्लिखित किया जाता है। इस संयोजन की भी मुख्यतः तीन स्थितियां होती हैं—तुलनात्मक संयोजन, आरोपण-मूलक संयोजन और तादात्म्य-मूलक संयोजन। मीरों के काव्य में इन सभी के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

(अ) तुलनात्मक संयोजन :

'पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे लोग कहैं पिंड रोग ।'

'घायल ज्यू घूमूँ सदा री, म्हाँरी बिया न बूऋँ कोइ ।'

×

जल बिन कँवल चन्द बिन रजनी, ऐसे तुम बिन देख्याँ बिन सजनी।

x x x

'सूनी सेज जहर ज्यूं लागे'

- (ब्रा) ब्रारोपण मूलक संयोजन :
 'मनो मोन सरवर तजि, मकर मिलन ब्राई'
- (इ) तादात्म्य-मूलक संयोजन : 'विरह-व्यथा लागो उर-श्रन्तर सो तुम बुक्तावौ हो।' 'अँसुवन-जल सोंचि-सोंचि प्रेम बेलि बोई।' 'बिरहिणि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।'

उपर्युक्त उदाहरण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि मीराँ ने ग्रपनी ग्रनुभूति-ग्रेरित कल्पना-शक्ति के बल पर प्रस्तुत एवं ग्रप्रस्तुत का मेल (संयोजन) ग्रत्यन्त सुन्दर रूप में किया है।

(ख) विश्लेषणात्मक रूप-विधान—विश्लेषणात्मक रूप-विधान में संयोजनात्मक रूप-विधान की भौति मूल विषय के साथ बाह्य तत्वों का मेल नहीं होता, ग्रपितु मूल विषय के ही विभिन्न ग्रंगों को ही प्रत्यक्ष या बिम्ब रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है जिससे उसमें श्राकर्षण की उद्दीप्ति हो जाती है। मीराँ के काव्य में इसके भ्रनेक उदा- हरण उपलब्ध होते हैं—

'मोरन की चन्द्रकला, सीस मुकुट सोहैं। केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहैं।। कुंडलि की ग्रलक फलक, कपोलन पर छाई।

कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टौना।

मुन्दर ग्रति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा नडडर प्रशुद्धभेषवामग्रेद्धाः स्माटस्मित √विसेखाः यहाँ नख-शिख के विभिन्न ग्रवयवों का चित्रण विश्लेषणात्मक शैली में किया गया है जिससे पाठक को विषय की भ्रनुभृति प्रत्यक्ष—विम्ब-रूप में प्राप्त हो जाती है।

(ग) विस्थापनात्मक रूप-विधान—इसमें प्रस्तुत या कथ्य विषय के स्थान पर प्रप्रस्तुत या ग्रन्य विषय की स्थापना की जाती है। इसी पद्धित को परम्परागत काव्य-शास्त्र में प्रकरण-वक्रता, घ्वनि, प्रतीक ग्रादि की संज्ञाएँ दी गई हैं। मीराँ ने इस शैली का प्रयोग ग्रपेक्षाकृत कम किया है, फिर भी इसके कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं, जैसे—

> उमग्यो इन्द्र चहुँ दिसि बरसै, दामिणि छोड़ी लाज। घरती रूप नवा-नवा धरियां, इन्द्र मिलन के काज।

यहाँ प्रकृति के मिलन के माध्यम से कवयित्री ने निजी श्राध्यात्मिक मिलन को संकेतित किया है, जो विस्थापनात्मक रूप-विधान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

(६) विनिमयात्मक रूप-विधान—लाक्षणिक प्रयोगों में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत विषय के विभिन्न गुणों में परस्पर विनिमय हो जाता है—इसी को विनिमयात्मक रूप-विधान कहते हैं। परम्परागत वक्रोक्ति एवं विरोधमूलक अलंकार मूलतः इसी क्षेत्र में आते हैं। मीरों की भावाभिव्यक्ति सरल एवं स्पष्ट है, अतः उसमें वक्रता का आविर्भाव अपेक्षाकृत कम है, पर कहीं-कहीं अतिशय भावात्मकता में वक्रतापूर्ण प्रयोग भी किए गये हैं। यहाँ कित्यय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'विरिहणी बैठो रागमहल में मोतियन की लड़ पोने। इक विरिहिणी हम ऐसी देखी, अँसुवन की माला पोने।।'

+ + + + + + + + + अांगलियारो मूंदड़ो, म्हारे ग्रावण लागो बांहि।

हरी मैं तो दरद दिवाणी होइ, दरद न जाणें मेरो कोइ।

इन प्रयोगों के पीछे अनुभूति की सच्ची प्रेरणा होने के कारण ये हमारे हृदय को

छूते हैं, प्रभावित करते हैं तथा रसानुभूति से भ्राप्लावित करते हैं।

(ङ) समन्वयात्मक रूप-विधान—विभिन्न भ्रवयवों की बाह्य एकरूपता के द्वारा समन्वयात्मक रूप-विधान का भ्रायोजन किया जाता है, जिसे परम्परागत शैली में भ्रनुप्रास यमक, भ्रावृत्ति भ्रादि की संज्ञाएँ दी गई हैं। मीराँ के काव्य से इसके कतिपय उदाहरण हैं—

'घन की घुनि सुनि मोर मगन भया '

कोई कहै छाने, कोई कहूँ चौड़े, लियो री बजंता ढोल। कोई कहै मुंहघो, कोई कहै सुंहघो, लियो री तराजू तोल।। Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यहाँ क्रमशः व्यंजनों, शब्दों एवं वाक्यांशों की ग्रावृत्ति के द्वारा भावाभिव्यक्ति को ग्राकर्षक रूप दिया गया है, जो कवियत्री की ग्रिभिव्यंजना-शक्ति को सूचित करता है।

शैली के उपर्युक्त भेदोपभेदों के साथ-साथ छंद-वैविष्य की दृष्टि से भी मीराँ का काव्य संपन्न है। जैसा कि श्री परशुराम चतुर्वेदों ने 'मीराँ की पदावली' की भूमिका में स्पष्ट किया है, मीराँ ने सार, सरसी, विष्णुपद, दोहा, शोभन, ताटंक, कुण्डल, चान्द्रायण ग्रादि छंदों का प्रयोग किया है। उनकी भाषा मुख्यतः राजस्थानी है, किन्तु उनके कितपय पद गुजराती एवं ब्रजभाषा में भी मिलते हैं। राजस्थानी से ग्रनभिज्ञ संपादकों ने मीराँ की भाषा को तोड़-मरोड़ दिया है, पर इसके लिए मीराँ को दोष नहीं दिया जा सकता।

उपसंहार-इस प्रकार 'मीराँ की पदावली' के विभिन्न पन्नों पर विचार कर लेने के अनन्तर हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारतीय-गीति-परम्परा में 'मीराँ की पदावली' एक विभिष्ट स्थिति की सूचक है-वह विभिष्ट स्थिति है, जबिक एक नारी-हृदय से प्रणय-वेदना के दिव्य उदगार सहज स्वाभाविक रूप में फट पड़े। परुष के भ्रोजस्वी स्वर भी गीति के क्षेत्र में भ्राकर कोमल-कान्त पदावली में परिणत हो जाते हैं, फिर नारी के विरह-व्यथित करुण स्वरों की कोमलता का तो कहना ही क्या ! हिन्दी की काव्य-परम्परा में मीराँ के स्वरों का उद्घोष एक सर्वथा नूतन घटना का द्योतक है, जबिक एक विद्रोहिणी नारी कुल, परिवार, समाज श्रीर देश की कृत्रिम दीवारों श्रीर मिथ्या-विश्वासों के बंघनों को तोड़ती हुई अपने पवित्र लक्ष्य एवं दिव्य प्रेम की घोषणा डंके की चोट पुकार-पुकारकर करती है! भक्ति-काव्य के क्षेत्र में मीराँ सगुण ग्रौर निर्गुण, भक्ति और रहस्यवाद, श्रद्धा और प्रेम के अन्तर की खाइयों को पाटती हुई माधुर्य भाव के उज्ज्वल मधुर क्षेत्र का अनुसंधान करती हैं। वे संतों और भक्तों की साघना का सर्वस्व ग्रहण करती हुई भी किसी भी सम्प्रदाय की सीमाश्रों में वैधना म्रस्वीकार कर देती हैं। उन्हें न राणा के द्वारा भेजे गए विष के प्यालों की परवाह है, न पुष्टि-सम्प्रदाय के भ्रर्थ-संग्राहक द्वारा ठुकराई गई भेंट की चिंता भीर न ही वे समाज की फब्तियों और निन्दकों की उक्तियों से त्रस्त होती हैं। वे तो केवल अपने साँवरिया के घ्यान में, उसके सम्मुख नृत्य करने में भौर उसे भ्रपने हृदय की रागिनी सुनाने में लीन है; तन्मय हैं। वे कविता नहीं लिखतीं, पद नहीं जोड़तीं भ्रीर छन्दों को नहीं गिनतीं यह सब-कुछ तो स्वतः ही हो जाता है! जिस प्रकार वायु के ग्रथाह कम्पनों से वन-वीथिका के वंश-समूह स्वतः ही निनादित हो उठते हैं, कुछ उसी प्रकार प्रणयानुभूतियों से द्रवित, विरहानुभूतियों से उच्छ्वसित एवं ग्रानन्दानुभूतियों से तरंगित होकर उनके स्वर विभिन्न राग-रागिनियों में फूट पड़े हैं, जिन्हें हम लोग कविता, पद या गीति की संज्ञा देते हैं। ग्रस्तु, मीरां की इन सहज स्वाभाविक दिव्य अनुभूतियों के साथ किसी से क्या तुलना !

:: उनसठ ::

मुक्तक काव्य-परम्परा और बिहारी

- १. मुक्तक-काव्य की प्राचीनता।
- २. मुक्तक काव्य का विकास-वैदिक साहित्य, संस्कृत ग्रीर ग्रपभ्रंश।
- ३. हिन्दी में मुक्तक परम्परा : (क) मुक्तकों के दो रूप, (ख) दोहा शैली का विकास ।
- ४. विहारी मुक्तककार के रूप में।
- ५. मुक्तक कान्य की सात विशेषताएँ ग्रौर विहारी
- ६. उपसंहार।

यद्यपि सृष्टि के ग्रादिकाव्य के विषय में ग्राज हम कुछ नहीं जानते, किन्तु ग्रनु-मान किया जा सकता है कि काव्य-रचना का ग्रादिस्वरूप मुक्तक ही रहा होगा; प्रवन्ध शैली का विकास तो उसके ग्रनन्तर न जाने कितने युगों के पश्चात् घीरे-घीरे हुग्रा होगा। प्रायः ग्रसम्य, ग्रशिक्षित एवं ग्रर्छ-विकसित लोग छोटी-छोटी तुकविन्दयों के द्वारा ही ग्रपनी सृजनात्मक वृत्तियों को तुष्ट करते हैं। यही कारण है कि जन-साधा-रण के द्वारा रचित लोकभाषाग्रों के साहित्य में मुक्तक की ही प्रधानता मिलती है। ग्रतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुक्तक-काव्य प्रवन्ध-काव्य की ग्रपेक्षा प्राचीन, ग्राधिक स्वाभाविक एवं ग्रधिक लोकप्रिय रहा है। इतना ग्रवश्य है कि मुक्तकों का प्रचलन मौखिक रूप में ही ग्रधिक रहने के कारण उसका ग्रधिकांश नष्ट भी होता रहा है।

विश्व की प्राचीनतम उपलब्व रचना 'ऋग्वेद' भी मुक्तक रूप में रचित है। यद्यपि सारा ऋग्वेद विभिन्न मंडलों एवं सूक्तों में संकलित है, किन्तु एक सूक्त का दूसरे सूक्त से कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक सूक्त में धनेक ऋगएँ हैं, जो प्रायः मुक्तक रूप में ही हैं। विषय की दृष्टि से ऋग्वेद के मुक्तक साहित्य को हम मुख्यतः चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) स्तुति-काव्य ऋग्वेद की ध्रधिकांश ऋग्वाओं में इन्द्र, वरुण, ध्राग्न ध्रादि देवताओं की स्तुतियाँ की गई हैं—जैसे ''हे प्रकाशमान ध्राग्न! देवों को हव्य प्रदान करनेवाले यजमानों को प्रभूत धन-दान करो।'' (१) दार्शनिक तथ्य-निख्पणात्मक काव्य—ऋग्वेद की कुछ ऋग्वाओं में दार्शनिक तथ्यों के निख्पण का भी प्रयास किया गया है, जैसे—''दो पक्षी (जीवात्मा ध्रौर परमात्मा) मित्रता के साथ एक वृक्ष या शरीर में रहते हैं। उनमें एक (जीवात्मा) सुस्वादु पिप्पल का भक्षण करता है ध्रौर दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण नहीं करता, केवल द्रष्टा है।'' (३) उपदेश मूलक सूक्तियां जा सुन्दर उदाहरण 'दान-प्रवेद मूलक सूक्तियां का सुन्दर उदाहरण 'दान-प्रवेद मूलक सूक्तियां का सुन्दर उदाहरण 'दान-

स्तुति', 'दक्षिणा' सूक्त ग्रादि में मिलता है—''जो लोग दक्षिणा देते हैं, वे स्वर्ग में उच्च ग्रासन पाते हैं। ग्रश्वदाता सूर्य के साथ एकत्र होते हैं।...सभी दीर्घायु होते हैं।" इसी प्रकार नीति का उपदेश देते हुए कहा गया है—''जब अपना साथी पास आता है तो मित्र होकर भी जो व्यक्ति उसे ग्रन्न-दान नहीं करता, वह मित्र कहलाने योग्य नहीं है। उसके पास से चला जाना ही उचित है।" (४) भावपुर्ण उक्तियाँ—ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में मानवीय भावनाओं की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी मिलती है। एक स्त्री ग्रपनी सपत्नी के प्रति द्वेष प्रकट करती हुई कहती है—"मैं सपत्नी तक का नाम नहीं लेती। सपत्नी सबके लिए ग्रिप्रिय है। मैं उससे बहुत दूर रहना षाहती हूँ।"

त्रमुखेद के **प्रतिरिक्त प्रन्य** वेद-वेदांगों में गद्य का प्रयोग ग्रधिक हुग्रा है, फिर भी उनमें यत्र-तत्र सुन्दर मुक्तक उपलब्ध होते हैं, जो विषय ग्रीर शैली की दृष्टि से ऋग्वेद की ही परम्परा में ग्राते हैं।

वैदिक साहित्य की मुक्तक-परम्परा को प्राकृत के कवियों ने भ्रागे बढ़ाया, जबिक संस्कृत के काव्य-रचयिता इसे प्रारम्भ में उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे। पालि की थेरी गाथाओं में धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर रिचत अनेक मुक्तक मिलते हैं। जैन कवियों द्वारा श्रर्द्ध-मागधी में उपदेश एवं नीति-प्रधान सुन्दर मुक्तकों की रचना हुई है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं-- "स्वार्थ-रहित देनेवाला दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित जीवन-निर्वाह करने वाला दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देनेवाला भीर स्वार्थ-रहित जीनेवाला दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।" एक धन्य मुक्तक में कहा गया है-"जैसे बिडाल के निवास-स्थान के समीप चुहों का रहना प्रशस्त नहीं, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के मध्य ब्रह्मचारियों का रहना क्षम्य नहीं है।"

प्राकृत के मुक्तक-काव्य का सर्वाधिक वैभव स्वतन्त्र दृष्टि से काव्य-रचना करने वाले गाथा-सप्तशतीकार-जैसे कवियों की रचना में मिलता है। गाथा सप्तशतीकार के उल्लेख से सिद्ध है कि उनका लक्ष्य काम-शास्त्र की शिक्षा देना था. ग्रतः उनके काव्य में शृङ्गार रस की प्रधानता होना स्वाभाविक था। मुक्तकों की संख्या के ग्राधार पर नामकरण करने की प्रवृत्ति भी सबसे पूर्व गाथा सप्तशती में ही मिलती है। आगे चलकर प्राकृत एवं संस्कृत के अनेक कवियों ने हाल का अनुकरण करते हुए श्रृङ्गारी मुक्तकों की रचना की । प्राकृत की 'वज्जालग्गा' तथा संस्कृत का 'ग्रम शतक', 'श्रुङ्गार-शतक' (भतृंहरि), 'चौर-पंचाशिका' (विल्हण), 'ग्रार्या सप्तशती' ग्रादि उत्कृष्ट कोटि के मुक्तक काव्य हैं।

धव तक मुक्तकों में मुख्यतः शृङ्गार, नीति श्रीर दर्शन का ही प्रतिपादन होता या, किन्तु श्रपभ्रंश में वीर रसात्मक मुक्तकों का भी विकास हुग्रा। 'भल्ला हुग्रा जु मारिया वहिणि म्हारा कंतु' जैसे ध्रसंख्य दोहे ग्रपभ्रंश में लिखे गये। किन्तु साथ ही श्रुङ्गार, नीति ग्रौर उपदेश-सम्बन्धी दोहे भी ग्रपभ्रंश में कम नहीं लिखे गए। यहाँ हेमचन्द्राचार्य की 'प्राकृत स्माकृतस्मा से क्षिक्र एड एड स्मान हैं।

पहिश्रा दिट्ठी गोरटी, दिट्ठी मग्ग निअंत । अंसुसाँसेहि कंचुश्रा तितुब्वाण करंत ॥

"हे पथिक ! गोरी देखी ! हाँ देखी—मार्ग को देखती हुई ग्राँसुग्रों तथा साँसों से कंचुकी को गीली सूखी करती हुई।"

> बाह विछोडिव जाति तुहुँ हउ तेवँइ को दोसु । हिम्रय ठिठ्उजइ नीसरिह लाणउ मंजु सरोसु ॥

"हे मुँज ! बाँह छुड़ाकर जा सकते हो ! ऐसा ही हो तो इसमें क्या दोष ! हृदय में से यदि निकलकर जाग्रो तो तुम्हें सरोष जानुं।"

> अंगहि ग्रंगु न मिलिउ, हिल ग्रहरे अर न पत्तु। पिउ जोअन्ति हे मुह कमलु एम्बइ सुरउ समत्तु।।

"न ग्रंगों से ग्रंग मिले ग्रौर न ग्रघरों से ग्रघर ! प्रिय का मुख-कमल देखते-देखते ही उस नायिका का सुरत समाप्त हो गया।" कहना न होगा कि उपर्युक्त दोहों में श्रृङ्कार के वियोग ग्रौर संयोग दोनों पक्षों का निरूपण मार्मिक रूप में हुग्रा है।

हिन्दी में मुक्तक काव्य का विकास

हिन्दी-काव्य में मुक्तक के सभी पूर्व प्रचलित रूपों का विकास सम्यक् रूप में हुगा। जहाँ कवीर, नानक, मलूकदास ग्रादि सन्त किवयों ने तथा सूर, तुलसी, ग्रादि भक्त किवयों ने भक्ति-भाव एवं दर्शन-सम्बन्धी मुक्तकों की रचना की, वहाँ मध्यकालीन रीति-बद्ध किवयों ने श्रुङ्कार रस से ग्रोत-प्रोत मुक्तक लिखे। रहीम, वृन्द, दीनदयाल, गिरधरदास ग्रादि किवयों ने विशुद्ध नीति-परक मुक्तक लिखे। उघर राजस्थानी किवयों—पृथ्वीराज, दुरसा, बाँकीदास ग्रादि ने वीर रस के दोहे लिखे। महाकिव विहारी का सम्बन्ध श्रुङ्कार रस-सम्बन्धी मुक्तकों से ही ग्रधिक है, ग्रतः यहाँ इन्हीं पर ग्रधिक विस्तार से प्रकाश डालना उचित होगा।

हिन्दी के श्रृङ्गार रस सम्बन्धी मुक्तकों को भी शैली की दृष्टि से मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) वड़े छन्दों—कवित्त-सवैया ग्रादि—में लिखित ग्रीर (२) दोहे में रचित । विहारी ने ग्रपने काव्य के लिए दोहा-शैली को ही प्रपनाया ।

दोहा-शैली का विकास

जैसा ऊपर कहा गया है, बिहारी ने प्रपने काव्य में केवल "दोहा" छन्द का ही प्रयोग किया, ग्रतः इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना उचित होगा। यह ग्राश्चर्य की बात है कि बिहारी के विभिन्न ग्रालोचकों ने बिहारी की चर्चा करते समय 'दोहें की व्याख्या भी की है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति ग्रभी ग्रस्पष्ट है। श्री विश्वनाथ मिश्र ने 'दोधक', 'दो पथ', 'दो गाथा', 'दो सर', 'दोहरा' ग्रादि शब्दों में दोहे की व्युत्पत्ति का 'दोधक', 'दो पथ', 'दो गाथा', 'दो सर', 'दोहरा' ग्रादि शब्दों में दोहे की व्युत्पत्ति का रहस्य खोजने का प्रयास किया है, कि

विचार से दोहा शब्द की ब्युत्पत्ति 'द्विपद' से मानी जा सकती है। जैन कि पुष्पदन्त ने अपनी कृष्ण-लीला में दो पंक्तियों वाले छन्द विशेष के लिए ''दुवई'' नाम का प्रयोग किया है, जिसे राहुलजी ने ''द्विपदी'' का तद्भव माना है। ''द्विपदी'' से ''दुवई'' की माँति ही ''द्विपद'' से ''दुवई'' की ब्युत्पत्ति मानी जा सकती है। दुवग्र से क्रमशः दूश्रा, दूवा, दुहा व दोहा का विकास हुआ। दोहा छन्द का प्रयोग सर्वाधिक अपभ्रंश के सिद्ध कियों ने किया है। संस्कृत और प्राकृत में दोहे के प्रयोग का कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता। अतः सम्भव है कि दोहे का आविष्कार सर्वप्रथम लोक-काव्य के रचियताओं के द्वारा ही हुआ हो। लोक-काव्यों में छन्दों का नामकरण प्रायः पदों की संख्या के आधार पर ही होता है। इसका प्रमाण कालिदास के 'मालविकाग्निमत्रम्' में देखा जा सकता है। वहाँ मालविका लोक-भाषा का एक गीत गाती हैं, जिसे चतुष्पदी कहा गया है। अतः बहुत कुछ सम्भव है कि दोहे का नामकरण भी उसके पदों की संख्या के आधार पर ही—द्विपद—हुआ हो।

हिन्दी कान्य में दोहे का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय ग्रमीर खुसरो को दिया जा सकता है, किन्तु भाषा की दृष्टि से उनके कान्य की प्रामाणिकता सिन्दिग्ध है। ग्रमीर खुसरो के दोहों को ग्रप्रामाणिक मानने की स्थिति में 'ढोला मारू रा दूहा' के रचियता राजस्थानी किन कल्लोल ही हिन्दी में दोहा-शैली का प्रयोग करनेवाले सर्वप्रथम किन कहे जा सकते हैं। किनीर की साखियाँ स्थूल रूप से दोहों के बहुत समीप हैं, यद्यपि उनमें मात्राग्रों की संख्या में बहुत गड़बड़ मिलती है, जिसका कारण उनका मौखिक रूप में रचित होना ही हो सकता है। किनीर के ग्रनन्तर दादू, सुन्दरदास ग्रादि सन्तों ने दोहों में ग्राघ्यात्मिक प्रेम एवं धार्मिक उपदेशों का वर्णन किया है।

बिहारी से पूर्व हिन्दी में भ्रनेक किव दोहों में प्रृंगार रस की भ्रमिन्यक्ति कर चुके थे, जिनमें ये उल्लेखनीय हैं—(१) कृपाराम—हितरंगिणी, सं० १५६३; (२) मनोहर—स्फुट दोहे, सं० १६२० वि०, (३) रहीम—सतसई, सं० १६६०; (४) मुबा-रक—भ्रलक-शतक, तिलशतक, सं० १६६०; (४) रसखान—प्रेमवाटिका, सं० १६७१; (६) रस-निधि—रतनहजारा, सं० १६६०-१७१७। इन किवयों ने दोहे में उत्कृष्ट भावों की व्यंजना करके इसकी लोकप्रियता में भ्रमिवृद्धि की।

मुक्तककार के रूप में विहारी की प्रशंसा विभिन्न श्रालोचकों ने की है। श्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यहाँ तक लिख दिया है— "मुक्तक किवता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी में श्रपने चरमोत्कर्ष तक पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।" हमारे विचार से विहारी की किवता में गुणों के साथ-साथ अनेक दोष भी विद्यमान हैं, श्रतः उनका महत्त्व निर्धारित करने से पूर्व उनके दोनों पक्षों पर सम्यक् रूप से विचार कर लेना आवश्यक है।

हमारे विचार से किसी भी मुक्तक रचना का मूल्यांकन करते समय मुख्यतः सात बातों पर घ्यान देना चाहिए—

(१) किंव ने ऐसे विषयों, प्रसंगों एवं भावनाओं का चुनाव किया हो, जो रस-निष्पत्ति की क्षमता रखते हैं। Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

- (२) किव के शैली में ऐसी सजीवता एवं मार्मिकता हो कि वह छोटी-से-छोटी बात को भी मार्मिक वना सके।
 - (३) मुक्तककार में कल्पना की समाहार-शक्ति होनी चाहिए।
 - (४) भाषा-शैली में समास का गुण होना चाहिए।
 - (५) कवि को व्यंग्य-प्रयोग में दक्षता प्राप्त होनी चाहिए।
 - (६) भाषा में कोमलता, सरसता और प्रवाह का गुण होना चाहिए।
 - (७) शब्द-योजना में नाद-सौन्दर्य भी हो तो भ्रच्छा है।

'विहारी-सतसई' में उपर्युक्त विशेषताओं में से अनेक मिलती हैं। उन्होंने मुख्यतः नायक-नायिका के प्रेम एवं श्रुङ्गार रस की व्यंजना को अपना लक्ष्य बनाया। मुक्तक में रस के सभी अवयवों की नियोजना एक साथ नहीं हो पाती, अतः उसमें ऐसे ही रसों की व्यंजना हो सकती है, जो सभी अवयवों की अपेक्षा नहीं रखते। श्रुंगार रस में वह गुण विद्यमान है। प्रेम के क्षेत्र में आलम्बन के सौन्दर्य की एक भलक, उसकी एक चेष्टा या आश्रय की कोई मनोदशा, उसकी एक उक्ति—इनमें से किसी एक के चित्रण से ही पाठक के हृदय को भंकृत किया जा सकता है; अतः श्रुंगार रस को प्रमुखता प्रदान करके विहारी ने उचित ही किया। किन्तु साथ ही अनेक विषयों का समन्वय करने की लालसा ने उसके काव्य को अनेक विरोधी भावों से असित कर दिया। एक दोहे में वे रमणी की मधुर छवि का आस्वादन करते दिखाई देते हैं, तो वे दूसरे में 'तिय-छबि' की घोर भर्त्सना में लीन हो जाते हैं। एक ओर विपरीत रित का चित्रण है, दूसरी ओर अदैत का प्रतिपादन। कहीं हास्य की हल्की मुस्कान है तो कहीं नीति के कठोर तथ्यों की गंभीरता। यही कारण है कि विहारी के काव्य की मूल भाव-धारा अवाघ रूप से आगे नहीं बढ़ पाती, वह अनेक स्थानों पर विच्छिन्न होकर सूखती हुई-सी इघर-उघर बेंटकर लुप्त हो जाती है।

छोटी-से-छोटी वात को भी मार्मिक बना देने की कला में बिहारी सिद्ध-हस्त हैं। नायिका की साधारण-सी चेष्टा—हाव—को भी बिहारी ने ग्रत्यन्त चित्ताकर्षक रूप में

प्रस्तुत किया है-

भौंह उँचे, श्रांचर उलटि, मौरि-मौरि मुंह मोरि! नीठि-नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सों जोरि॥

इसी प्रकार नायिका की चितवन का चित्रण देखिए-

स्रनियारे दीरघ दृगन, किती न तरुनि समान। वह चितवनि स्रोरे कछू जिहि बस होत सुजान।।

यहाँ चितवन की किसी विशेषता के बारे में कुछ न कहकर भी उसे रहस्यमय बङ्ग से अद्भुत श्राकर्षक रूप प्रदान कर दिया गया है।

कल्पना की समाहार-शक्ति के भी अनेक प्रमाण बिहारी में मिलते हैं; देखिए-

भ्रहें दहेंड़ी जिनि घरें, जिनि तूं लेहि उतारि । नोके हैं छुकि छुँये, Matth Collection रहिंग्वनीरि ।। यहाँ केवल कुछ संकेतों द्वारा ही पूरे दृश्य का ग्रंकन कर दिया गया है। किव ने पूरी बात न कहकर केवल कुछ ऐसे ही कथ्यों की ग्रोर संकेत किया है, जिससे पाठक पूरे प्रसंग की कल्पना कर सके। एक उदाहरण देखिए—

परितय दोषु पुराण सुन, लिख मुलुकि सुखुदानि ! कसु करि राखि मिश्र हू, मुंहै ग्राई मुसकानि ।।

यहाँ भी किन ने दो पंक्तियों में ही एक पूरी कहानी कह डाली है। कथानाचक महोदय और उक्त 'सुखुदानि' का कोई परिचय दिये विना ही तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की कोई चर्चा किए विना ही किन ने इस विशेष परिस्थिति का चित्रण इस ढड्डा से किया है कि जिससे पाठक पूरे प्रसंग की कल्पना कर सके!

भाषा की समास-शक्ति का गुण भी विहारी-सतसई में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। वे कम-से-कम शब्दों में एक दीर्घ इतिवृत्त, विस्तृत प्रसंग एवं सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं; देखिए—

बतरस लालच लाल की मुरली घरी लुकाइ।
सींह करे भीहनु हँसै, देन कहै नट जाइ।।
चित पितु मारक जोगु गुनि, भयौ भयँ सुत सोगु।
फिर हुलस्यौ जिय जोइसी समुभै जारज जोगु।।
दृग उरभत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परित गांठि दुर्जन हिये, दई नई यह रीति।।

व्यंजना का वैभव भी बिहारी सतसई में ग्रनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। उनकी व्यंग्योक्तियों में प्रभावित करने की ग्रसाधारण शक्ति विद्यमान है। जयसिंह जैसे शूरवीर शासक के हृदय को भी उन्होंने ग्रपने व्यंग्य के निम्नांकित तीरों से बेधने में अफलता प्राप्त की थी—

> नींह पराग नींह मघुर मघु, निहं विकासु इहि काल । प्रली कली ही सौं बंघ्यों, आगे कौन हवाल ॥

× × × × × кवारय, सुकृत न श्रम वृथा, देखु विहंगु विचारि । बाज पराये पानि पर, तू पच्छीनु न मारि ॥

भाषा में कोमलता, सरलता और नाद सौन्दर्य का गुण भी बिहारी सतसई के कितपय दोहों में परिलक्षित होता है—

रस सिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन। श्रंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु गंजनु नैन।।

इस प्रकार विहारी-सतसई में मुक्तक काव्य के प्रायः सभी गुण ढूँढ़े जा सकते हैं, किन्तु साथ ही उसमें भ्रनेक दोष भी विद्यमान हैं। जैसा पहले संकेत किया गया है—एक तो इसमें बेमेल विषयों को एक साथ रख दिया गया है। "करी बिहारी सत-सई भरी अनेक संवाद" वाली उक्ति से सिद्ध होता है कि अपनी सतसई को अनेक स्वादों से युक्त करने की लालसा से प्रेरित होकर किव ने उसमें अनेक विरोधी भावों की प्रस्तुत कर दिया है। दूसरे, कल्पना की समाहार शक्ति श्रीर भाषा की समास शक्ति कई स्थलों पर गुण की श्रपेक्षा दुर्गुण श्रिघक बन गई है—इनके कारण उनके श्रनेक दोहों के प्रसंग व ग्रर्थ की जानकारी के लिए क्लिष्ट कल्पना ग्रपेक्षित होती है। इसी दुर्वोधता के कारण सतसई के आस्वादन के लिए मस्तिष्क को भ्रच्छा व्यायाम करना पड़ता है। व्यंजना के फेर में पड़कर विहारी ने कई दोहों को ग्रस्वाभाविकता की ग्रंतिम सीमा तक पहुँचा दिया । उनकी भाषा में भी सर्वत्र स्वाभाविक प्रवाह नहीं मिलता । भ्राचार्य शुक्ल ने भी यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—"बिहारी की कृति का मूल्य जो वहत ग्रिधक म्राँका गया है, उसे म्रधिकतर रचना की वारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ग्रोर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारिखयों के पक्ष में समभना चाहिए....। पर जो हृदय के अन्तस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल घारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता।...मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का-सा गूँजने वाला प्रभाव विहारी के दोहों का नहीं पड़ता है।" ग्राश्चर्य है कि ग्रपने इस निष्कर्ष के बावजूद भी भ्राचार्य शुक्ल ने बिहारी की कविता को मुक्तक काव्य के सर्व-गुणों से सम्पन्न बताया है। हमारी दृष्टि में मार्मिकता के अभाव में — चाहे वह मुक्तक हो या प्रबन्ध—सच्चे काव्य के गौरव से विभूषित नहीं हो सकता। यदि निष्पक्ष रूप से विचार करें, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि घनानन्द की-सी प्रणय-विह्वलता, देव की-सी भावानुभूति और पद्माकर का-सा युक्ति-माधुर्य बिहारी में नहीं मिलता। हाँ, भाषाम्यास, विद्वत्ता स्रौर पुराने कवियों की उक्तियों का स्रनुवाद करने की कला की दृष्टि से भ्रवश्य बिहारी एक सफल मुक्तककार हैं। घ्यान रहे, "नहिं पराग नहिं मघुर मघु'' जैसे अनेक दोहे बिहारी की 'मजमून छीनने या चुराने' की ही कला के छोतक हैं, मौलिकता की दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं है। फिर भी सभी गुण-दोष का संग्रह एक ही पुस्तक में ढूंढ़ने वाले विद्वानों के लिए 'बिहारी सतसई' श्रत्यन्त उपयोगी रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

:: साठ ::

भारतेन्दु की काव्य-साधना

१. युग भौर परिस्थितियाँ।

२. भारतेन्दु का व्यक्तित्व ग्रौर जीवन ।

३. भारतेन्द्र के काव्य-ग्रन्थ।

४. उनके काव्य की प्रवृत्तियाँ—(क) भक्ति भावना, (ख) सौन्दर्य ग्रौर प्रेम, (ग) देश-प्रेम, (घ) हास्य, (ङ) शैली एवं भाषा ।

५. उपसंहार।

भोज मरे ग्रह विक्रमहू किनको अब रोइ के काव्य मुनाइये। भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइये। राजा भये सब स्वारथ पीन ग्रमीरहू हीन किन्है दरसाइये। नाहक देनी समस्या ग्रबै यह "ग्रोषमैं प्यारे हिमन्त" बनाइये।।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली, दू० खंड, पृ० ८६६

जिस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अवतार घारण किया, वह हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए कितना प्रतिकूल था, इसका धामास उपर्युक्त छन्द से मिलता है। यद्यपि ध्रंग्रेजों का धासन काल भारत में बहुत पूर्व फैल चुका था, किन्तु फिर भी भारतीय जनता को धाशा थी कि फिरंगी यहाँ ध्रधिक देर नहीं टिकेंगे। पर १८५७ ई० की क्रान्ति की विफलता ने तो इस धाशा को भी निराशा में परिणत कर दिया था। इस क्रान्ति से लेकर सन् १८८५ ई० (इंडियन नेशनल कांग्रेस का स्थापना-काल) तक का समय राजनीतिक दृष्टि से भारतीय जनता के लिए घोर निराशा और गहरी सुषुप्ति का युग था, जिसमें किसी भी प्रकार की चेतना के दर्शन नहीं होते। ऐसी प्रगाढ़ निद्रा में संभव था कि भारतीय जनता नैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से भी सदा के लिए लुट जाती, उसके ध्रादशों का पतन हो जाता धौर वह प्राणविहीन होकर ध्रपना ध्रस्तित्व मिटा देती. किन्तु ऐसा नहीं हुग्रा। इसका क्या कारण है ?

बात यह है कि इसी युग में दो ऐसी महान् धात्माधों का अवतरण हुमा, जिन्होंने सोती हुई भारतीय जनता के चारों धोर घूमकर पहरा दिया। एक ने उसकी नैतिक सामाजिक घरोहर की रक्षा की, तो दूसरे ने उसके सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गौरव को बचाया। एक ने उसे तर्क के ऐसे तीखे शस्त्र दिए जिनकी सहायता से वह अपने धर्म के विरोधियों से युद्ध कर सकी, तो दूसरे ने उसे वह शक्ति धौर उत्साह प्रदान किया जिसके बल पर वह आगे बढ़ सकी। एक ने आत्मगौरव को जागृत किया, दूसरे ने उसका ध्यान अपनी हीन अवस्था कि धीर अवका विया पिक किया निर्मा कि सिंग कि स

तो दूसरे ने उसके हृदय को सशक्त किया। एक ने समाज को नया जीवन प्रदान किया तो दूसरे ने राष्ट्रीय भावों को ग्रान्दोलित किया। कहने की ग्रावश्यकता नहीं—इनमें एक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे तो दूसरे भारत के इन्द्र हरिश्चन्द्र।

भारतेन्दु का व्यक्तित्व ग्रौर जीवन

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के एक धनाढ्य परिवार में भाद्रपद शुक्ल १ संवत् १६०७ तदनुसार २ सितम्बर सन् १८५० को और उनका देहावसान ३६ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ सं० १६४१ में हुआ। उनके पिता वाबू गोपालराम गिरधर भक्त और साहित्य-प्रेमी व्यक्ति थे। उन्होंने 'नहुष-वध' नाटक और कुछ कविताएँ लिखी थीं। हरिश्चन्द्रजी को घर पर ही विभिन्न भाषाओं की शिक्षा प्राप्त हुई थी। ग्यारह वर्ष की आयु से ही वे कविताएँ लिखने लग गये थे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथजी गये थे। उसी यात्रा में उनका परिचय बँगला साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों से हुआ। वहाँ से लीटकर उन्होंने नाटक व कविताएँ लिखने के साथसाथ 'कवि-वचन-सुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया। आगे चलकर उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैंगजीन' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का प्रकाशन भी किया। उनकी समस्त रचनाओं की संख्या १७६ के लगभग है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अत्यन्त सरल, विनोदी, स्वाभिमानी एवं उदार स्वभाव के थे। अपनी अति उदारता के कारण ही वे अपने पूर्वजों की सम्पत्ति लुटाकर दिद्र हो गये। जीवन के अंतिम दिनों तक वे साहित्यकारों, किवयों व दीन-दुिखयों की सहायता करते रहे। उनके व्यक्तित्व में ऐसी प्रभावशाली शक्ति थी कि वे अपने संपर्क में आनेवाले लोगों को मुग्ध कर लेते थे। जहाँ साहित्य के क्षेत्र में किव, नाटककार, इतिहासकार, समालोचक, पत्र-सम्पादक आदि थे तो समाज एवं राजनीति के क्षेत्र में वे एक राष्ट्र-नेता और सच्चे पथ-प्रदर्शक थे। विभिन्न अवसरों पर उन्होंने जनता के रोष एवं विरोध की अभिव्यक्ति करके विदेशी सरकार से भी विद्रोह किया था। जब राजा शिव-प्रसाद को उनकी चाटुकारिता के बदले में सरकार के द्वारा 'सितारे-हिन्द' की पदवी दी गई तो जनता ने भी अपने प्रिय नेता और साथी को 'भारतेन्दु' विशेषण से विभूषित किया। भारत की जनता उन्हें कितना चाहती थी और वे स्वदेश को कितना चाहते थे, इसका परिचय उसी महाकवि की इन पंक्तियों से मिलेगा—

कहेंगे नैन नीर भरि-भरि, पाछे, प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी।
ग्रमनी प्रिय जनता के लिए भारतेन्दु जहाँ लखपित से कंगाल हो गये थे, वहाँ
जन्होंने ग्रमने नाम को भी घिसकर 'हरिश्चन्द्र' से 'हरिचन्द' बना डाला था। वस्तुतः
भ्रमने जीवन-काल में ही जैसी लोकप्रियता भारतेन्द्र को प्राप्त हुई थी, वैसी सम्भवतः
हमारी जानकारी में किसी ग्रन्य हिन्दी किव को ग्रभी तक प्राप्त नहीं हुई।

भारतेन्दु के काव्य-ग्रन्थ

भारतेन्दु के समस्ति-कांग्यन्त्रम्थों वां कांग्यन्त्रम्थों वां कांग्यन्त्रम्थां कांग्यन्त्रम्थी प्रचारिणी सभा,

काशी द्वारा 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' दूसरा खण्ड में हुग्रा है। उनके काव्य-ग्रन्थों की संख्या ७० है; उन सबका यहाँ परिचय देना तो सम्भव नहीं, ग्रतः हम केवल नामावली प्रस्तुत करके ही संतोष कर लेते हैं—(१) भक्त-सर्वस्व (२) प्रेम-मालिका (३) कार्तिक स्नान (४) वैशाख-माहात्म्य (५) प्रेम-सरोवर (६) प्रेमाश्रुवर्षण (७) जैन कुत्हल (८) प्रेम-माध्री (ह) प्रेम-तरंग (१०) उत्तरार्घ भक्तमाल (११) प्रेम प्रलाप (१२) गीत गोविन्दानन्द (१३) सतसई श्रृङ्गार (१४) होली (१४) मधु-मुकुल (१६) राग-संग्रह (१७) वर्षा-विनोद (१८) विनय-प्रेम-पचासा (१६) फूलों का गुच्छा (२०) प्रेम-फुलवारी (२१) कृष्ण चरित्र (२२) श्री ग्रलवरत वर्णन (२३) श्री राजकुमार सुस्वागत-पत्र (२४) सुमनोञ्जिलः (२५) प्रिस ग्राव् वेल्स के पीड़ित होने पर कविता (२६) श्री जीवन जी महाराज (२७) चतुरंग (२८) देवी छद्म-लीला (२६) प्रातः-स्मरण मंगल पाठ (३०) दैन्य-प्रलाप (३१) उरेहना (३२) तन्मय-लीला (३३) दान-लीला (३४) रानी छद्म-लीला (३५) संस्कृत-लावनी (३६) वसन्त होली (३७) स्फुट समस्याएँ (३८) मुँह-दिखावनी (३६) उर्दू क : स्यापा (४०) प्रबोधिनी (४१) प्रातः समीरन (४२) वकरी-विलाप (४३) स्वरूप-चिन्तन (४४) श्री राजकुमार-शुभागमन वर्णन (४५) भारत-भिक्षा (४६) श्री पंचमी (४७) श्री सर्वोत्तम स्तोत्र (४८) निवेदन-पंचक (४१) मानसोपायन (५०) प्रातःस्मरण स्तोत्र (४१) हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान (४२) ग्रपवर्गदाष्टक (५३) मनोमुकूल-माला ५४) वेण-गीति (५५) श्रीनाथ-स्तुति (५६) मूक प्रश्न (५७) श्रपवर्ग पंचक (५८) पुरुषोत्तम-पंचक (५६) भारत-बीरत्व (६०) श्री सीता-वल्लभ स्तोत्र (६१) श्री राम-लीला (६२) भीष्म स्तवराज (६३) मान-लीला फूल-बुभौवल (६४) बन्दर-सभा (६४) विजय-बल्लरी (६६) विजयिनी-विजय-वैजयन्ती (६७) नये जमाने की मुकरी (६८) जातीय संगीत (६९) रिपनाष्टक (७०) स्फुट कविताएँ।

उपर्युक्त ग्रन्थ-सूची के देखने-मात्र से स्पष्ट होगा कि भारतेन्द्र के काव्य का क्षेत्र कितना व्यापक है। उनके काव्य में मुख्यतः निम्नांकित प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—(१) भक्ति-भावना एवं घार्मिक उपदेश, (२) सौन्दर्य ग्रीर प्रेम की व्यंजना, (३) देश-प्रेम की व्यंजना भीर (४) हास्य भीर व्यंग्य। इन प्रवृत्तियों पर थोड़ा प्रकाश यहाँ डाला नाता है।

· (१) भक्ति-भावना-भारतेन्दु के पिता भक्त थे भ्रौर भ्रपना समय हरिकीर्तन में विताते थे, अतः भक्ति के संस्कार भारतेन्दु को पैतृक-दाय के रूप में प्राप्त हुए थे। उनके 'भक्त-सर्वस्व', 'कार्तिक-स्नान', 'वैशाख माहात्म्य', 'उत्तरार्ध-भक्त-माल' भ्रादि ग्रन्थ विशुद्ध भक्ति-भाव से श्रोत-प्रोत हैं। उन्होंने ग्रपने ग्रापको राधाकुष्ण का श्रनन्य उपासक घोषित किया है-

पूजि के कालिहि सत्रु हतौ कोऊ, लक्ष्मी पूजि महा धन पाओ! सेई सरस्वती पंडित होऊ, गनेसिह पूजि के विघन नसाम्रो।। त्यों 'हरिचन्द' जूध्याइ शिवै कोऊ, चार पदारथ हाथ ही लाग्रो। मेरे तो राधिका-नायक हो वित, लोक दोऊ रहि के निस जाग्री।।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

कार्तिक-स्नात

भक्ति-मार्ग का सच्चा पथिक ज्ञान ग्रौर कर्मकाण्ड की ग्रवहेलना करता है। यही कारण है, भारतेन्दु ने भी संघ्या-पूजा, स्नानादि से 'क्षमा' माँगी है—

संध्या जु आयु रही घर नीकी, नहान तुम्हें है प्रणाम हमारी। देवता पित्र छमी मिलि मोहि, अराघना होइ सकै न तुम्हारी॥ वेद पुरान सिघारो तहां, 'हरिचन्द' जहां तुम्हरी पितयारी। मेरे तो साघन एक ही हैं, जग नन्दलला वृषभानु-दुलारी॥

ग्रपने ग्राराव्य-देव की विभिन्न लीलाग्रों का चित्रण उन्होंने प्रीतिपूर्वक किया है। देवी छद्म-लीला, तन्मय लीला ग्रादि में कृष्ण के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत किया गया है। राधा-कृष्ण की छवि को उन्होंने एक भक्त की दृष्टि से देखा है —

नैन भरि देखि लेहु यह जोरी।

मनमोहन सुन्दर नट-नागर श्री वृषमानु-किशोर

कहा कहूँ छिंब किह नींह आवै वै साँवर यह गोरी।

ये नीलाम्बर सारी पहिने उनको पीत पिछौरी।

एक रूप, एक बेस, एक वय, बरिन सके किव को री।

'हरिचंब' दोऊ कुंजन ठाढ़े, हँसत करत चित-घोरी।।

x x x

नैन भरि देखो गोकुल-चंद ।

संग सोहत वृष-भानु-नंदिनी प्रमृदित ग्रानन्द-कंद ।

'हरिचंद' मन लुब्ध मधुप तह पीवत रस मकरंद

उनकी भक्ति-भावना में तन्मयता की चरम स्थिति का भी वोध होता है—

सब वृज बरजो, परिजन खीभौ, हमरे तौ हरि प्रान ।

'हरिचंद' हम मगन प्रेम-रस सुभत नाहिन आन ॥

भक्ति-भावना को ग्राचार्यों ने दास्य, शान्त, माधुर्य, सख्य, वात्सल्य ग्रादि भेदोप-भेदों में विभाजित किया है, किन्तु भारतेन्द्र की भक्ति-भावना को हम इनमें से किसी वर्ग में भी सीमित नहीं रख सकते। जहाँ उन्होंने राधा-कृष्ण की लीलाग्रों के ग्राख्यान में माधुर्य भाव का विकास किया है, वहाँ वे व्यक्तिगत ग्रात्मिनवेदन में ग्रत्यन्त दैन्यता का प्रदर्शन करते हैं—

> उधारौ दोन-बन्धु महराज ! जैसे हैं तैसे तुमरे ही, नांहि और सौं काज । जो बालक कपूत घर जनमत करत श्रनेक बिगार । तौ माता कहा वाहि न पूछत भोजन समय पुकार ।

मध्यकालीन भक्तों की भाँति भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र भी अपने उद्धार के लिए. विभिन्न युक्तियों से काम लेते हैं। कभी वे अपने आराध्य से अनुरोधपूर्वक निवेदन करते. हैं तो कभी सूरदास की भींति उन्हें उत्थारने का 'बीलेंकि वेक्स कक्काते हैं— म्राजु हम देखत हैं को हारत ! हम ग्रघ करत कि तुम मोहि तारत, को निज बान बिसारत ।

अति क्यापक हो कि नाँही !
 जो तुम व्यापक हो तों ग्रघ करि क्यों हम नरकि जाहीं ।
 साथ ही वे ग्रपने पापों का लेखा भी बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं—

बही में ठाम न नैकु रही ! भरि गई लिखत-लिखत ग्रघ मेरे बाकी तबहु रही । चित्रगुप्त हारे ग्रति थिक के बेसुध गिरे मही ।

वस्तुतः भारतेन्दु के काव्य में भक्ति की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास उपलब्ध होता है। यदि उनके शेष काव्य को छोड़कर केवल भक्ति सम्बन्धी ही रचनाग्रों का ग्रघ्ययन किया जाए तो वे सचमुच एक उच्च कोटि के भक्त-कवि दिखाई पड़ेंगे।

(२) श्रृङ्कार भावना—भारतेन्दु की ध्रनेक रचनाग्रों—प्रेम-सरोवर, प्रेमाश्रु, प्रेम-तरंग, प्रेम-माधुरी भ्रादि—में विशुद्ध श्रृङ्कार-भावना की श्रभिव्यक्ति हुई है। सबसे पूर्व उनका प्रेम-सम्बन्धी श्रादर्श एवं उसकी महत्त्व-सम्बन्धी विचार-धारा द्रष्टव्य है—

जिहि लहि फिर कछु लहन की ग्रास न चित में होय। जयति जगत पावन-करन प्रेम बरन यह दोय।।

प्रकंगी बिनु कारने इक रस सदा समात ।
 पियहि गर्ने सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान ।

प्रेम के इसी उच्च ब्रादर्श को लेकर भारतेन्दु श्रृङ्गार-वर्णन में प्रवृत्त हुए हैं। उन्होंने प्रेमालम्बन—नायिका सौन्दर्य—का ब्राख्यान किया है, किन्तु उसमें स्थूल शारी-रिकता एवं ब्रश्लीलता को प्रायः स्थान नहीं दिया गया है। एक वयःसिन्ध की श्रवस्था की प्राप्त वाला की सूदम चेष्टाओं का निरूपण देखिए—

सिसुताई अर्जों न गई तन तें, तऊ ओबन जोति बटोरें लगी।
सुनि के चरचा 'हरिचंद' को कान कछूक दै भौंह मरोरें लगी।
बिच सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूंघट में दृग जौरे लगी।
दुलही उलही सब अँगन तें दिन द्वे तें पियूष निचोरें लगी।

यहाँ नव बाला के शैशव एवं यौवन के समागम का चित्रण ग्रत्यन्त श्लीलतीपूर्वक हुग्रा है। कविवर बिहारी की भाँति उन्होंने उरोजों की पीनता एवं किट की
सीणता का उल्लेख नहीं किया है श्रीर न ही उसके श्रंग-प्रत्यंगों की नाप-जोख की है।
फिर भी इस चित्र में ऐसी मोहकता श्रा गई है कि वह श्रनायास ही पाठक के हृदय की
श्राकित कर लेता हैं प-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

भारतेन्द्र की प्रेम-घारा घनानन्द-बोधादि के स्वतन्त्र मार्ग पर प्रवाहित होती है। इस प्रकार के प्रेम में पद-पद पर पारिवारिक एवं सामाजिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है. किन्तू इससे उसकी गति प्रवरुद्ध नहीं होती, ग्रपितू संघर्षों की ग्राग में पड़कर ही सच्चा प्रेम निखरता है; अधिक गंभीर होता है। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था भार-तेन्द्र की नायिका को भी अपनी सिखयों का निषेघ, कौटुम्बिक जनों का विरोध और समाज के जोगों का उपहास सहन करना पड़ता है, किन्तु उसके प्रेम में कोई न्यूनता नहीं आती । एक ओर वह सिखयों से अपनी विवशता प्रकट करती है-

"सजनी मन पास नहीं हमरे,

तुम कौन को का समुभावती ही !" तो दूसरी म्रोर वह ग्रपने विरोधियों को स्पष्ट उत्तर दे देती है-

इन नैनन में वह साँवरी मूरति, देखति म्रानि भ्ररी सो अरी। अव तो है निवाहिबो याको भलो, 'हरिचंद' जू प्रीत करी सो करी। उन खंजन के मद गंजन सों, अँखियाँ ये हमारी लरी सो लरी। श्रव लोग चवाव करो तो करो, हम प्रेम के फंद परी सी परी!

भारतेन्दु के प्रेम-वर्णन में यद्यपि कहीं-कहीं संयोग की घड़ियों का भी प्रवेश हुम्रा किन्तु ग्रिधिकता उसमें विरह-वर्णन की है। उन्होंने वियोग की विभिन्न मनुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त स्वाभाविक शब्दों में की है। प्रियतम के एक ही गाँव में रहते हुए भी प्रेयसी के दर्शनों की लालसा उसे सदा उत्कंठित बनाए रखती है-

एक ही गाँव में बास सदा घर पास इही नींह जानित हैं। पुनि पाँचवें सातवें आवत-जात की आस न चित्त में आनित हैं। हम कौन उपाय करें इनको 'हरिचंद' महा हठ ठानित हैं। पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना ग्रेंखियाँ दुखियाँ नींह मानति हैं।।

एक ग्रन्य बाला भ्रपने प्रियतम के दर्शन की लालसा से प्रेरित होकर किसी भ्रप-रिचित के द्वारा संदेश भेजती है-

में वृषभानुपुरा की निवासिनि मेरी रहे वृज-बोथिन भाँवरो। एक संदेसो कहों तुम सों पै सुनो जौ करो कछु ताको उपाव री। जो 'हरिचंद' जू कुंजन में मिलि जाही करी लखि के तुम बावरी। बूकी है जोने दया करिक किहिये परसों कब होयगी रावरी।।

इस सन्देश में दैन्य, संकोच, उत्सुकता, उपालंभ, क्षोभ म्रादि म्रनेक संचारियों का समन्वय स्वाभाविक रूप में हुम्रा है। एक ग्रोर तो संदेश-वाहक के प्रति श्रनुनय है तो दूसरी भ्रोर प्रिय की उपेक्षा का रोष भी हृदय में खटकता-सा प्रतीत होता है।

कहीं-कहीं विरह-वेदना-विस्तार ज्याघि के रूप में होता हुम्रा 'मरण-दशा' के

समीप पहुँच गया है-व्याकुल हों तड़पीं बिनु पीतम कोऊ तो नेकु दया उर लाग्नो। प्यासी जहाँ सङ्गालका अवस्त पाहिए पी को पपोहै पित्रास्रो ।। जील मैं हौंस कहूँ रहि जाय न हा 'हरिचंद' कोऊ उठि घाग्रो । मावै न मावै पियारो अरे कोऊ हाल तो जाइ के मेरो सुनाम्रो ॥

यहाँ प्राशा की सघनता है, प्रतः उसमें चंचलता की मात्रा प्रधिक है; किन्त्र जीवन की ग्रन्तिम घड़ियों में, जबिक घोर निराशा के कारण हृदय की व्यथा भ्रन्तर की गहराई में छिप जाती है भीर जब प्रिय-दर्शन की समस्त लालसाएँ सिमटकर प्राणों के भीतर केन्द्रित हो जाती हैं, तो इस चंचलता के स्थान पर गम्भीरता भ्रा जाती है। निम्नांकित पंक्तियों में इसी मनोदशा का उद्घाटन हुआ है-

> आज लों जो न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावें। मेरो उराहनी है कुछ नाहि सबै फल आपुने भाग को पावें।। जो 'हरिचंद' भई सो भई ग्रब प्रान चलै चहैं तासों सुनावें। प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावें।।

इन शब्दों में प्रिय की उपेक्षा का गहरा क्षोभ विद्यमान है, किन्तु इससे प्रणय में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं था पाई है। प्रिय के कारण उसे गहरे संताप का अनुभव करना पड़ा है, किन्तु वह इसका दोष अपने ही भाग्य को देती है। प्रियतम के दिए हुए दारुण दुःख को वह गरल की भाँति चुपचाप पी जाती है। फिर भी उसे किसी प्रकार का 'उराहना' या कोई भी शिकायत नहीं है। वस्तुतः यह प्रेम की वह चरम अवस्था है, जबिक ग्रहं ग्रीर स्वार्थ का पूर्णतः विगलन हो जाता है ग्रीर प्रत्येक स्थिति में, आलम्बन के हर सम्भव व्यवहार से, प्रणयानुभृति में कोई भ्रन्तर उपस्थित नहीं होता। संभवतः इसी विशुद्ध गम्भीर प्रेम के लिए कहा है-

> एकंगी बिनु कारने इक रस सदा पिवहि गनै सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान !!

स्वतन्त्र प्रेम-मार्ग के पथिकों को ग्रसह्य कब्टों एवं संघर्षों का सामना करना पड़ता है, किन्तु उनका इससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उनके इस दु:ख को संसार दु:ख नहीं मानता । उन्हें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता, जो उनकी गूढ़ व्यथा को समभ सके । बोघा के शब्दों में, सारे संसार में उनके लिए—"कहिबे को बिथा, सुनिबे को हँसी, को दया सुनि कै उर भ्रानित है।" भारतेन्दु की नायिका को भी इंसी कठोर परि-स्थिति का सामना करना पड़ता है-

> मारग प्रेम को को समुके 'हरिचंद' यथारथ होत यथा है ! लाभ कछु न पुकारन में बदनाम ही होन की सारी कथा है! जानत है जिय मेरो भली विघि श्रीर उपाय सबै बिरथा है! बावरे हैं बुज के सगरे मोहि नाहक पूछत कीन बिया है!

भारतेन्दु की इन प्रेमानुभूतिय की स्वाभाविकता, सरसता एवं गम्भीरता के सम्बन्ध में अधिक कहना व्यर्थ है। सम्भवतः हिन्दी-कवियों में घनानन्द को छोड़कर अन्य किसी के काव्य में ऐसी मार्मिक उक्तियाँ उपलब्ध नहीं होंगी। घनानन्द की भाषा में लाक्षणिकता के कारण दुष्टिती या गई है, किन्तु भारतेन्दु में सर्वत्र सरल भाषा का प्रयोग मिलता है; श्रतः रसानुभूति को दृष्टि से भारतेन्द्रु के सवैयों में घनानन्द के कवित्तों से भी श्रधिक प्रभावोत्पादन की शक्ति है।

देश-प्रेम—भारतेन्दु भक्त थे, श्रुङ्गारी थे, किन्तु इन सबसे अधिक वे देश-सेवक थे। जब इस क्षेत्र में वे प्रवेश करते हैं तो उनको भक्ति-भावना और श्रुङ्गारिकता पीछे रह जाती है। राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी जब उन्होंने देखा कि सनातिनयों के विद्वेष के कारण जैन भाई रुष्ट हो रहे हैं तो उन्होंने ''जैन कुत्तहल'' लिखकर जैन तीर्थंकरों की स्तुति की है। जिस किव ने घोषित किया था—''मेरे तो साधन एक ही हैं, जग नन्द-लला वृषभानु-दुलारी''—उसी ने राष्ट्रीय एकता के निमित्त अर्हन्त, ऋषभ एवं पार्श्वनाथ की स्तुति के प्रेम-पूर्ण गीत लिखे—

इसी प्रकार जब महात्मा दयानन्द विभिन्न धर्मों का खण्डन करते हुए वैदिक धर्म के प्रचार में व्यस्त थे तो भारतेन्दु ने नम्रतापूर्वक उनका विरोध किया। यह विरोध इसलिए नहीं कि वे सनातनी थे, भ्रपितु इसलिए कि इससे राष्ट्रीय एकता को भाषात पहुँच रहा था। भारत में रहनेवाले सभी धर्मों के भ्रनुयायी भ्रन्ततः भारतीय ही हैं, भतः किस धर्म का खण्डन किया जाय—

खंडन जग में काको कीजै !
सब मत तो ग्रयने ही हैं इनको कहा उत्तर दीजै !!
तासो बाहर होइ कोऊ जब तब कछु भेद बतावै !!

× × ×

ब्रपुने ही पै क्रोधि बावरे अपुनो कार्टे अंग ! 'हरीचंब' ऐसे मतवारेन कों कहा कीजें संग !!

"अपुनी" कार्ट अंग" में कैसी दूरदिशता छिपी हुई है। भारतेन्दु ने कांग्रेस की स्थापना से भी वर्षों पूर्व यह स्पष्ट कर दिया था कि यदि हमने दूसरे घर्मों के खंडन का मार्ग अपनाया तो यह अपना ही अंग काटने के समान सिद्ध होगा यद्यपि उस युग में पाकिस्तान की कोई कल्पना ही नहीं थी, किन्तु भारतेन्दु इस दुष्परिणाम को भाँप चुके थे। जो विद्वान् भारतेन्दु की राष्ट्रीयता को हिन्दू राष्ट्रीयता तक ही सीमित मानते हैं, व उनकी इस व्यापक धर्म-निरपेक्षता को देखें।

भारतेन्द्र ने सब धर्मों की भंति राष्ट्र की सब भाषाओं से प्यार किया था। जन्होंने पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू ध्रादि का न केवल श्रष्य-यन किया था, प्रपितु उसमें सर्स काव्यक की विश्वासी की श्री की श्री की बाज जबकि हम भाषा- सम्बन्धी छोटी-बातों को लेकर फगड़ रहे हैं, भारतेन्द्र के इस व्यापक दृष्टिकोण से लाभ उठा सकते हैं। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए-

निभत निशीये सई ग्रो बांशो बाजिल, बँगला-पुरित करिया बन भेदिया गगन घन।

'हरिश्चन्द्र' श्याम-बाँशी-स्वर कामदेव फाँसी,

कुलबघु सुनियाई श्रायं-पथ त्याजिला---भा० ग्रं० २।२१८

बेदरदी बे लिइबे लगी तेंडे नाल। पंजाबी-बे परवाही वारी जो तू मेरा साहबा श्रसी इत्यों बिरह-बिहाल। चाहने वाले दी फिकर न बुभ नूं गल्लों दा ज्वाब न स्वाल । 'हरीचंद' ततवीर ना सुभदी श्राशक वैतुल-माल।

बिहारी जी काई छै तम्हारी यहाँ काज। राजस्थानी-तुम सौतिन रे मद रा मात्या, रंग रॅगीला साज। रन बसे जहाँ वहीं सिधारी म्हाने तौ लागु छै घणी लाज। 'हरिचंद' थार चरनन लागूं छिमा करो महाराज।।

भारतेन्द्र के देश-प्रेम का दूसरा रूप विदेशी शासकों के विरोध के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। एक ग्रोर उन्होंने स्वदेशवासियों को जगाने का प्रयत्न किया तो दूसरी ग्रोर वे श्रंग्रेज शासकों की कुटिल नीति की भत्सना स्थान-स्थान पर करते हैं। उन्होंने लार्ड रिपन जैसे भारत के सच्चे हितैथी की स्तुति में "रिपनाष्टक" लिखा था, किन्तु इसी से हिन्दी के कुछ ग्रालोचक उन्हें 'राजभक्त' समभने की भूल कर बैठे हैं। ग्रंग्रेजों की भ्रफगान-विजय पर वे कविता लिखते हैं — केवल शीर्षक की ही देखने से — यह कविता राज-भक्ति की द्योतक प्रतीत होती है किन्तु इसके भीतर विद्रोह की ग्राग भरी हुई है-

श्रार्थं गगन को का मिल्यो, जो श्रति प्रफुलित गात । सबै कहत जै भ्राजु क्यों, यह नहि जान्यों जात।।

काबुल सों इनको कहा, हिये हरख की ग्रास। ये तो निज धन-नास सौं, रन सों श्रीर उदास।।

श्रंग्रेजों की श्रफगानिस्तान विजय पर सारे देश में दीवाली मनाई गई थी, किन्तु मारतेन्दु इसका विरोध करते हुए पूछते हैं-ग्रायों को इससे क्या मिला ? वे क्यों खुशी मनाते हैं ? "इस युद्ध से भारत को क्षति ही हुई है।

वे ग्रंग्रेज शासकों की कूट-नीति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं-स्ट्रैची डिजरैली लिटन चितय नीति के जाल। फॅिस भारत जरजर भयो, काबुल युद्ध प्रकाल

सुजन मिले अंग्रेज को, होय रूस की रोक। ्बर्के ब्रिटिशान्वाणिष्य^{। प}र्श्नमकी केंसमासीक ।। भारत राज में भार जो कहुँ काबुल मिलि जाई। जज्ज कलक्टर होइ है हिन्दू नींह तित धाइ।।

श्रन्त में वे श्रंग्रेजों की नीति का रहस्योद्घाटन करते हुए निर्भीकतापूर्वक घोषित करते हैं—

सत्रु सत्रु लड़वाइ दूर रिह लिखय तमाशा। प्रवल देखिए जाहि ताहि मिलि दोजै श्रासा।।

वस्तुतः भारतेन्दु ने यहाँ जिस साहस का परिचय दिया है, वह उस युग के लिए धाश्चर्य की वात कही जा सकती है। विदेशी शासकों की ऐसी स्पष्ट श्रालोचना मैथिली-शरण गुप्त जैसे किव भी, जिन्होंने कि राष्ट्रीय ग्रान्दोलन को ग्रपनी ग्राँखों से देखा था, नहीं कर सके, जबकि उन्हें 'राष्ट्रकवि' की संज्ञा दी जाती है।

भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना का प्रकाशन उनके नाटकों में भी गंभीर रूप में

हम्रा है, जिसकी चर्चा श्रलग निबन्ध में की जाएगी।

(४) हास्य श्रीर व्यंग्य—भारतेन्दु-काव्य में हास्य-व्यंग्य की श्रिभव्यक्ति भी हुई, किन्तु उनका हास्य प्रायः सोद्देश्य है। 'उर्दू का स्यापा' में उनका हिन्दी-प्रेम खिपा है—

हैं हैं उर्दू हाय हाय ! कहाँ सिघारी हाय हाय !

चरब-जुबानी हाय हाय । शोखबयानी हाय हाय !!

तत्कालीन 'इन्दर सभा' जैसे निम्नस्तरोय नाटकों का उपहास करते हुए उन्होंने 'बन्दर सभा' की रचना की । कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सभा में दोस्तो बन्दर की आमद आमद है, गघे आ फूलों के प्रफसर की आमद ग्रामद है। मरे जो घोड़े तो गदहा या बादशाह बना, उसी मसीह के पैकर की ग्रामद ग्रामद है।

उपर्युक्त ग्रंशों में सामान्य हास्य की मात्रा ही अधिक है, उसमें व्यंग्य बहुत कम है, किन्तु 'नये जमाने की मुकरी' में उन्होंने 'ग्रंग्रेज', 'पुलिस', 'खिताब' ग्रादि पर तीखें व्यंग्य किए हैं—

भीतर-भीतर सब रस चूते, हॅसि के तन मन घन चूते ।। जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सिख सज्जन, नींह अँगरेज ।

कपट कटारी जिय में हूलिस, क्यों सीख सज्जन, नीह सीख पूलिस।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. +

इनकी उनकी खिदमत करो, रुपया देते-देते मरो! तब आवे मोहिं करन खराब, क्यों सिख सज्जन, नहीं खिताब!!

भारतेन्दु के हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास उनके नाटकों—'पाखंड वडम्बनम्', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'ग्रन्धेर नगरी'…' ग्रादि में हुग्रा है, जिसकी वर्चा भ्रन्यत्र की जायगी।

(४) शैली व भाषा—भारतेन्दु ने मुख्यतः मुक्तक एवं गीति-शैली का प्रयोग किया है। उनके मुक्तकों में भावात्मकता एवं मार्मिकता विद्यमान है। प्रायः इन्होंने कितत्त, सवैये एवं दोहों को अपनाया है। उनके गीतों में गीतिकाव्य के सभी गुण—मावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता एवं कोमलता—मिलते हैं; सेबिए—

सखी ए नैना बहुत बुरे।
तब सो भए पराए हरि सों जब सों जाई जुरे।
मोहन के रस-बस हुं डोलत तलफत तिनक दुरे।।
मेरी सीख प्रीत सब छांडो ऐसे ये निगुरे।
जग खोइयो बरज्यो पै ए नींह हठ सों तिनक मुरे।।
'हरीचन्द' देखत कमलन से विष के बुते छुरे।।

न्यान रहे, रस गीत का राग सारंग है जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने कर दिया।

इसके ग्रतिरिक्त भारतेन्दु ने कुछ छोटे-छोटे प्रबन्ध-गीति भी लिखे हैं, जैसे 'देवी अपलीला', 'तन्मयलीला', 'रानी छद्मलीला' ग्रादि ।

भारतेन्द्र ने यद्यपि खड़ीबोली, उर्दू, बँगला, गुजराती भ्रादि भ्रनेक भाषाओं में काव्य-रचना की है, किन्तु मुख्यतः उन्होंने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। उनकी भाषा में सरलता, सरसता एवं प्रवाह का गुण विद्यमान है। साथ ही उन्होंने भावानुकूल कोज एवं माधुर्य का समावेश भी किया है; जैसे—

उठहु वीर तरवार खोंचि मारहु घन समर। लोह लेखनी लिखहु ग्रायं बल जवन-हृदय पर।। मारू बाजे बजें कहीं घोंसा घहराहीं। उड़िह पताका सत्रु-हृदय लिख लिख यहराहीं।।

यहाँ वीर रस के अनुकूल श्रोजपूर्ण शब्दों का समावेश है। उनकी शैली का नावूर्य पीछे श्रुङ्गार-सम्बन्धी कवित्त-सवैयों में देखा जा सकता है।

उपसंहार

भारतेन्द्र-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस महाकवि के भक्ति, श्रृङ्गार, राष्ट्र-प्रेम, हास्य-व्यंग्य ग्रादि विभिन्न भावनाग्नों का चित्रण सफलता-पूर्वक किया है। वस्तुतः उनका काव्य किसी-न-किसी रूप में वीरगाथा-काल, भक्ति-काल, रीति काल ग्रीर ग्रामुनिक काल—चारों कालों के साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है। ग्राचार्य शुक्ल के गाव्दों कि अध्यामा स्विति मुखी प्रिति में कि बेल से एक ग्रोर तो वे पद्माकर श्रौर द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते , दूसरी श्रोर वंगदेश के माइकेल धीर हेमचन्द्र की श्रेणी में। एक ग्रोर तो राधाकृष्ण की भाँति भूमते हुए नई भक्त-माल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ध्रोर मंदिरों के अधिकारियों भ्रौर टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते ग्रीर स्त्री-शिक्षा, समाज सुधार ग्रादि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन ग्रौर नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है ""प्राचीन ग्रीर नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का चार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्द्र का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।"

वस्तुतः भारतेन्द्र की समता हिन्दी का कोई कवि नहीं कर सकता। ग्रपने साँवरे के गुणों का गान करनेवाले सूरदास में भावुकता तो थी, किन्तु उनकी दृष्टि एक ही क्षेत्र तक सीमित रही । महाकवि तुलसीदास का काव्य क्षेत्र तो व्यापक था. किन्तु उनका म्राविभीव ही उस युग में हुम्रा था, जब कि म्राधुनिक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का विकास नहीं हम्रा था। रीतिकालीन कवि भी कोरी शृङ्गारिकता तक ही सीमित थे। एक सच्चा भक्त, एक सच्चा रसिक और सच्चा राष्ट्र-भक्त तथा प्राचीन और नवीन—दोनों यगों का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं, तो वह हमारी दृष्टि में एकमात्र भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र ही हैं।

कार तरें जिस का नहीं मंदार में हो में ताक में में मान में मान में मान अवस्थात किसी है, वी साम की है जा साथा प्रवचना समाजा मह भाषा

महोति । भी- है हिंदू प्रशास्त्रीय एक प्राप्त के प्रतिसाद है क्षेत्र में स्थानकार

त्वयों संस्थान का का वांत्रकृतिक कर हो भिकटा होग्या पेपचु पेतो कात कही है क अवसीत के संस्थान, जाकृतक को बा, कवानी आनाओं के बादकों पूर सम्बंधित

्राचीय कि कि प्रकार कि किया अपने कर्तिक । है किया है। वहीं, वरिष्

-रोठ (१) , उनामुख ने काहार-प्राथ है काहार काहोते (१) तुमार का के स्वावता (१) जो - अप्ता (व देव के विकास के किस्ता किस्ता किस के किस के किस किस के कि विक्र ताला के काला है के एक है कि एक एक विक्र के किन्न के किन्न के किन्न के किन

प्राथनी प्रकार कर किए प्रिक्त की प्रकानकार

:: इकसठ ::

भारतेन्दु की नाट्य-कला

- १. भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटक ।
- नाटककार भारतेन्द्र के चार क्षेत्र—(क) मौलिक नाटक—'वैदिकी हिंसा न भवित', 'प्रेम जोगिनी', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', 'ग्रन्धेर नगरी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'नीलदेवी', 'सती प्रताप' ग्रादि । (ख) ग्रनुवादित नाटक, (ग) ग्रभिनव कला, (घ) नाट्य-साहित्य के सिद्धान्तों की विवेचना ।
- ३. उपसंहार।

भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी में कुछ नाटक लिखे गए थे, किन्तु उनमें नाटकीय तत्वों का ग्रभाव था। स्वयं भारतेन्दु ने ग्रपनी प्रथम नाट्य-रचना 'विद्यासुन्दर' की भूमिका में लिखा है—''विशुद्ध हिन्दी भाषा के नाटकों के इतिहास में यह चौथा नाटक है। निवाज का 'शकुन्तला' या व्रजवासीदास का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक नहीं, काव्य है। इससे हिन्दी भाषा में नाटकों की गणना की जाय तो महाराज रघुराजिसह का 'ग्रानन्द रघु-नन्दन' भौर मेरे पिता का 'नहुष' नाटक यही दो प्राचीन ग्रन्थ भाषा में वास्तविक नाटककार मिलते हैं, यों नाम को तो देव माया प्रपञ्च, समय-सार इत्यादि कई भाषा ग्रन्थों के पीछे नाटक शब्द लगा दिया है।'' यद्यपि ग्रव इनके ग्रतिरिक्त ग्रौर भी नाटक मिले हैं, जिनकी रचना मिथिला में हुई थी, किन्तु यह सब पद्य-प्रधान हैं तथा इनमें नाट्य कला का पूर्ण रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। ग्रतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही हिन्दी का प्रथम ग्राधुनिक नाटककार मानना उचित है।

उपर्युक्त स्थिति से कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है—यह हुप्रा भी है— कि भारतेन्द्र का नाटक-साहित्य हिन्दी का प्रारम्भिक नाटक-साहित्य होने के कारण उसमें नाट्य-कला का भ्रविकसित रूप ही मिलता होगा किन्तु ऐसी बात नहीं है। भारतेन्द्र ने संस्कृत, प्राकृत, बँगला, भ्रंग्रेजी भ्रादि भाषाभ्रों के नाटकों का समुचित भ्रष्ट्ययन करके उनसे लाभ उठाया है। उन्होंने केवल नाटकों की रचना ही नहीं, भ्रपितु नाट्य-कला के सभी भ्रंगों का विकास भी किया।

नाट्य-कला के क्षेत्र में भारतेन्द्र के चार रूप दृष्टिगोचर होते हैं—(१) मौलिक नाटकों के रचयिता, (२) विभिन्न भाषाओं के नाट्य-साहित्य के अनुवादक, (३) अभि-नेता तथा निर्देशक और (४) नाट्य-कला सम्बन्धी सिद्धान्तों के विवेचक एवं सम-कालीन नाटकों के आलोचक। इनमें से प्रत्येक रूप का परिचय यहाँ अलग-अलग दिया (१) मौलिक नाटक—भारतेन्दु के द्वारा रिचत नौ मौलिक नाटक उपलब्ध होते हैं, जिनमें विभिन्न रसों की श्रायोजना हुई है। इन नाटकों की सूची इस प्रकार है—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम-जोगिनी, विषस्य विषमौषधम्, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, भारत-जननी, नीलदेवी, श्रन्धेर नगरी चौपट्ट राजा श्रौर सती प्रताप।

"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" एक छोटा-सा प्रहसन है। इसमें घर्म के नाम पर होनेवाले दुराचारों—मद्यपान, मांस-भक्षण, पर-नारी-समागम भ्रादि का उपहास किया गया है तथा भ्रन्त में यम के द्वारा ऐसे दुराचारियों को घोर दण्ड दिलवाया गया है। इसमें पुरोहितों की भ्रसद्वृत्तियों पर व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाश डाला गया है। भ्रपने दुराचारों को शास्त्रीय प्रमाणों के भ्राधार पर उचित सिद्ध करनेवाले पंडितों का चित्रण यथार्थ रूप में हुम्रा है। चित्रगुप्त भ्रौर यमराज की वातचीत में भ्रमेंजी सरकार पर भी छीटाकशी की गई है। जब यमराज पूछते हैं—"घर्म भ्रौर प्रतिष्ठा से क्या सम्बन्ध है?" तो चित्रगुप्त उत्तर देते हैं—"महाराज सरकार भ्रमें भी राज्य में जो लोगों के चित्ता-नुसार उदारता करता है, उसको 'स्टार ग्राफ इंडिया' की पदवी मिलती है।" इस प्रकार भारतेन्द्र की लेखनी से छोटे-छोटे पंडितों से लेकर वड़े-वड़े साम्राज्यों के भ्रधिष्ठाता तक कोई भी नहीं वच सका।

'प्रेम-जोगिनी' चार ग्रंकों की नाटिका है। इसका पहला संस्करण "काशी के छाया-चित्र या दो भले-बुरे फोटोग्राफ" के नाम से 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' में छपा था। यह हिन्दी का प्रथम यथार्थवादी नाटक है, जिसमें तत्कालीन काशी की सामाजिक स्थिति का चित्रण लेखक ने नग्न रूप में किया है। नाटक के ग्रारम्भ के सूत्रधार के वाक्यों से ही लेखक की उत्कृष्ट राष्ट्रभक्ति का परिचय मिलता है """क्या इस कमल-वन-रूप भारत भूमि को दुष्ट गजों ने उसकी (ईश्वर की) इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया? क्या जब कादिर, चंगेजखाँ जैसे निर्दयों ने लाखों निर्दोषी जीव मार डाले तब वह सोता था? "छा छि:! ऐसे निर्दय को भी लोग दया-समुद्र किस मुँह से पुकारते हैं?"

ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक लेखक ने घोर निराशा के क्षणों में लिखा होगा, क्यों कि इसमें लेखक ने भ्रपनी दु.खपूर्ण स्थित पर करुण शब्दों में प्रकाश डाला है। परिपार्श्वक के मुँह से इन नाटक के सम्बन्ध में कहलवाया गया है—''वह उनके भीर इस घोर काल के बड़ा ही भ्रनुरूप है। उसके खेलने से लोगों को वर्त्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा भीर यह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिल के बना है।'' काशी की यथार्थ परिस्थितियों का चित्रण करते हुए तत्कालीन जन-समाज की दूषित प्रवृत्तियों एवं मनोवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। कविता के सम्बन्ध में भ्रद्ध-शिक्त वर्ग की क्या घारणा थी तथा कि भारतेन्द्र का उनके समाज में कैसा मान था, इसका उत्तर छक्कु की इस उक्ति में द्रष्टिक्य है—''भ्ररे किवत्त तो इनके बापों बनावत रहे। कवित्त बनाव से का हौये भीर किवत्त बनावना कुछ भ्रपने लोगों का थोरै हय, ई भाँटन का काम है।'' काशी के मन्दिरों भीर उनके पंडे-पुजारियों की खुशहाली की चर्चा करते हुए बनिद्योदास अस्मुक्ते भित्रा असे कहती हैं कि पंडे-पुजारियों की खुशहाली की चर्चा करते हुए बनिद्योदास अस्मुक्ते भित्रा असे कहती हैं के पंडे-पुजारियों की खुशहाली की चर्चा करते हुए बनिद्योदास अस्मुक्ते भित्रा असे कहती हैं जा 'भाई मन्दिर में रहे से स्वर्ग में चर्चा करते हुए बनिद्योदास अस्मुक्ते भित्रा असे किवति हिंतन 'भाई मन्दिर में रहे से स्वर्ग में

रहे खाए के अच्छा, पहिरं के परसादी, से महाराज कब्बों गाड़ा तो पहिरवें न करिये, मलमल नागपुरी ढाँके पहिरियें ऊपर से ऊ बात का सुख अलगे है। '' इस रचना में भारतेन्द्रजी के सर्वत्र पात्रानुरूप भाषा का अयोग किया है, यहाँ तक कि कुछ पात्र मरहठी भाषा में भी बातचीत करते हैं।

"विषस्य विषमीषधम्" एक भाण है। इसमें एक ही पात्र—भंडाचार्य—है जो महाराज मल्हारराव के ग्रंग्रेजों द्वारा पदच्युत कर दिये जाने पर ग्रपने विचारों को भावात्मक शैली में व्यक्त करता है। बीच-बीच में वह ग्रासमान की ग्रोर इस प्रकार देखता जाता है, मानो वह स्वर्गलोक के किसी पात्र से बातचीत कर रहा हो। एक विद्वान् ग्रालोचक ने इस नाटक पर यह दोष लगाया है कि एक देशी नरेश के पदच्युत होने पर भारतेन्द्र का हर्ष प्रकट करना राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल है। किन्तु वास्तव में इसमें हर्ष प्रकट नहीं किया गया है, ग्रपितु देशी नरेशों की दुर्दशा पर क्षोभ व्यक्त हुगा है। जो विद्वान् इसे राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल समभते हैं, वे भंडाचार्य के इन उद्गारों को घ्यान से पढ़ें—"घन्य है ईश्वर! सन् १५६६ में जो लोग सौदागरी करने ग्राये थे, वे ग्राज स्वतन्त्र राजाग्रों को यों दूघ की मक्खी बना देते है।"

"चन्द्रावली' नाटिका प्रणय श्रौर विरह के उद्गारों से परिपूर्ण है। चन्द्रावली श्रौर लिलता की बात-चीत से प्रणय की विभिन्न श्रवस्थाश्रों पर प्रकाश पड़ता है। कामिनी के संवाद जहाँ वासनापूर्ण प्रेम का रूप व्यक्त करते हैं, वहाँ चन्द्रावली के प्रत्येक शब्द से स्वच्छ, मधुर प्रणय की बूँदें टपकती-सी प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार माधुरी के वचनों से भी मानो रस-माधुर्य की वर्षा-सी होती है—हिंडोरा नहीं भूलता। हृदय में प्रीतम को भुलाने के मनोरथ श्रौर नैनों में पिया की मूर्ति भी भूल रही है।" चन्द्रावली के स्वकथन में हृदय की भावाकुल दशा का चित्रण काव्यात्मक शैली में हुआ है—"नाथ! जहाँ इतने गुण सीखे, वहाँ प्रीति निवाहना क्यों न सीखा। हाय मैं अधार में दुवाकर उपर से उतराई माँगते हो। हाय! तड़पें हम श्रौर तुम तमाशा देखो।…. भूठे! भूठे!!! भूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक! क्यों इतनी टोंक श्रौर हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया!!"

लिता श्रीर जोगिन के वेश में कृष्ण का संवाद गद्य श्रीर पद्य दोनों के वैभव से युक्त है—

कहाँ तुम्हारो देस है ? प्रेम नगर पिय गाँव !

कहा गुरू किह बोलहीं ! प्रेमी मेरो नाँव !

जोग लियो केहि कारने ? ग्रपने पिय के काज !!

मंत्र कौन ? पिय नाम इक !

कहा तज्यौ ? जग लाज !

आसन कित ? जित ही रमे !

पंथ कौन ? ग्रमुराग ?

वस्तुतः यह नाटिका ग्रादि से ग्रन्त तक प्रणयोच्छ्वासों एवं भाव-माधुर्य से ग्रोत । भीत है। कविता ग्रीह जाटका होतों का अमानह्य इसमें एक साथ उपलब्ध होता है, किन्तु

इसी कारण से इसमें कुछ दोष भी विद्यमान हैं। कथानक की शिथिलता लम्बे-लम्बे संवाद, कवित्त, सवैयों और पदों का श्रतिशय प्रयोग इसकी नाटकीयता में बाधक सिद्ध

होता है।

'भारत दुर्दशा' को स्वयं लेखक ने 'नाट्य-रासक' या 'लास्य-रूपक' की संज्ञा दी है। इसमें भारत दुर्देव के द्वारा भारत की धन-सम्पत्ति को लूटने तथा उसे नष्ट कर देने का चित्रण करते हुए उसे दूर भगाने के प्रयत्न पर प्रकाश डाला गया है। भारत दुर्देव की वेश-भूपा श्रीर उनके क्रिया-कलापों का जैसा चित्रण इस नाटक में किया गया है. इससे स्पष्ट है कि वह ग्रंग्रेज शासकों का प्रतीक है। वह स्पष्ट कहता है-"हा हा! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। हहा! हहा!! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों का दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हक्म दूँगा कि उनको डिसलॉयल्टी में पकड़ो ग्रीर ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हा, उसको उतना, वडा मेडल श्रीर खिताव दो।" ग्रंग्रेजों की शासन-नीति की ग्रालोचना ग्रौर भी कटु शब्दों में करते हुए 'डिसलॉयल्टी' कहती है—''हम क्या करें, गवनंमेंट की पालिसी यही है। कवि वचन-सुघा नामक पत्र में गवनंमेंट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए ?....इंगलिश पॉलिसी नामक ऐक्ट के हाकि मेच्छा नामक दफा से।"

तत्कालीन शिक्षित जनता एवं समाज सुधारकों के मनोभावों पर भी इसमें तीखा व्यंग्य किया गया है। सात सम्य जिनमें एक वंगाली, एक महाराष्ट्रीय, एक एडीटर, एक किव और दो देशी महाशय थे, भारत-दुर्देव (ग्रर्थात् ग्रंग्रेज) को भगाने के उपायों पर विचार करते हैं। इस सभा के वक्ताम्रों द्वारा विभिन्न प्रान्तों के लोगों की मनोवृत्ति का

XX

परिचय मिलता है— बंगाली—"....गवर्नमेंट तो केवल गोल-माल से भय खाता ! भ्रौर कोई तरह नहीं शोनता !....किन्तु हियाँ, हम देखते हैं कि कोई कुछ नहीं बोलता।" जहाँ बंगाली महोदय गम्भोरतापूर्वक इस समस्या पर विचार करते हैं, वहाँ देशी को इसी बात की चिन्ता है—''क्यों भाई साहब ! इस कमेटी में भ्राने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे ?" किन्तु इस सभा से एक बात स्पष्ट है कि तत्कालीन राज-नीतिक कार्यकत्तिश्रों (?) पर सरकार का श्रातंक पूरी तरह छाया हुग्रा था। १८५७ की ग्रसफलता का प्रभाव ग्रभी तक ग्रवशेष था।

वस्तुतः इस रचना में भारतेन्द्रजी ने विदेशी शासन के दुष्परिणाम को स्पष्ट करते हुए स्वदेश-वासियों को चेतावनी दी है। नाटक का ग्रन्त जान-वूभकर दुःखमय

रखा गया है, जिससे कि यह भारतवासियों के हृदय को भक्तभोर सके।

'भारत-जननी' भी भारत-दुर्दशा की भाँति देश-प्रेम की भावनाओं से श्रोत-प्रोत है। इसमें स्वयं भारत-माता रुदन करती हुई करुण स्वर में कहती है—''हाय क्या हुमा ?....वत्स ! कब तक इस प्रकार से तुम निद्रित रहोगे, ग्रब सोने का समय नहीं, एक बेर आँखें खोल भली-भाँति पृथ्वी की दशा को तो देखो।" इस नाटक का धन्त पाशापूर्ण शब्दों के साथ हमा है।

'नीलदेवी' की रचना भारतीय ललनाओं में स्वाभिमान श्रीर वीरता के भाव जागृत करने के उद्देश्य से की गई थी। इसमें भी एक पागल के मुँह से कहलवाया गया है—"मार मार मार—काट-काट-काट—दुष्ट म्लेच्छ—हमारा देश—हम राजा हम रानी !! हम मंत्री !!...!"

'ग्रंघेर नगरी चौपट राजा' एक विशुद्ध प्रहसन है, किन्तु इसमें भी लेखक ने कुछ स्थान राजनीति के लिए निकाल लिया है। चने व चूर्ण वेचने वालों की कुछ पंक्तियाँ—

चना हाकिम सब जों खाते ! सब पर दूना टिकस लगाते !!

हिंदू चूरन इसका नाम ! बिलायत पूरन इसका काम ! ! चूरन जब से हिन्द में ब्राया ! इसका धन बल सभी घटाया ! !

चुरन साहेब लोग जो खाता ! सारा हिन्द हजम कर जाता !!

'सती प्रताप' एक पौराणिक नाटक है, जिसमें सावित्री-सत्यवान् के प्रसिद्ध धाख्यान का चित्रण किया गया है। इसमें भी कविताओं की प्रमुखता है।

इस प्रकार भारतेन्द्र के मौलिक नाटकों पर दृष्टिपात कर लेने पर स्पष्ट है कि उनके नाटकों में राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति ही मुख्य है। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जन्होंने सुघार लाने का प्रयत्न किया है। दाम्पत्य-जीवन की पवित्रता का संदेश 'सती प्रताप' में, सामाजिक जीवन की शुद्धता का 'प्रेम जोगिनी' में धार्मिक जीवन को निर्म-लता का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में और राजनीतिक जीवन में क्रांति का संदेश 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत जननी' में दिया गया है। यह भी घ्यान देने की वात है कि प्रत्येक रचना में नाटक के नये-नये भेदों का प्रयोग किया गया है, जिससे कि सभी भेदों के उदाहरण प्रस्तुत हो सके हैं। यही कारण है कि उन्होंने नाटक, नाटिका, प्रहसन, भाण, नाट्य-रूपक ग्रादि की रचना की।

(२) अनुवादित नाटक-भारतेन्दु के ग्राठ ग्रनुवादित नाटक उपलब्ध हैं-(१) विद्यासुन्दर (बँगला से), (२) पाखंड विडम्बन (संस्कृत से), (३) धनंजय विजय (संस्कृत से), (४) मुद्राराक्षस (संस्कृत से), (४) सत्य हरिश्चन्द्र (बँगला से), (६) कर्पूर-मंजरी (प्राकृत से), (७) रत्नावली (संस्कृत से) ग्रीर (८) दुर्लभ-बंधु (ग्रंग्रेजी "मर्चेन्ट भ्राफ बेनिस" का अनुवाद)। इन नाटकों का अनुवाद हिन्दी जगत् को संस्कृत, प्राकृत, वँगला व श्रंग्रेजी के प्रौढ़ नाटक-साहित्य का परिचय देने के उद्देश्य से किया गया है। इससे उनके दृष्टिकोण की व्यापकता का पता चलता है।

श्रनुवादों के सम्बन्ध में भारतेन्दु का कहना था—''बिना पूर्व किन के हृदय से हृदय मिलाये अनुवाद करना शुद्ध भख मारना ही नहीं, कवि की लोकांतर-स्थित श्रात्मा को नरक-कष्ट देना है।" इस नीति का पालन उन्होंने अपनी अनुवादित रचनाओं में सफलतापूर्वक किया है। उदाहरण के लिए 'मुद्राराक्षस' देखा जा सकता है। इसमें उन्होंने मूल नाटक के गद्यांशों का अनुवाद गद्य में और पद्यांशों का पद्यों में किया है। यह अनुवाद इतना सफल हुआ है कि पढ़ते समय इसमें मूल का-सा आनन्द उपलब्ध होता है।

'दुर्लभ-बन्धु' में उन्होंने पात्रों के नामादि में थोड़ा परिवर्तन कर दिया है, जैसे 'एन्टो-नियो' के स्थान पर 'ग्रन्ति', पोरिशिया के स्थान पर 'पुरश्री' ग्रादि । ऐसा उन्होंने भार-तीय पाठकों की रसानुभूति के निमित्त ही किया है। ग्रंगेजी भाषा के नाटक का भी अनुवाद उन्होंने ग्राश्चर्यजनक मुहावरेदार शैली में किया है। एक ग्रंश देखिए—'मरकहा बैल! रात-दिन फूँ-फूँ किया करता है, मानों उसकी चितवन कहे देती है कि या तो ब्याह करो या साफ जवाव दो।....हँसी मानो जुए में हार ग्राया है। ग्रभी जब हट्टा-कट्टा साँड वना है तव तो यह रोनी सूरत है तो बुढ़ापे में तो बात पूछते रो देगा। सिवाय हर भजन के ग्रौर किसी काम का न रहेगा। मेरा ब्याह चाहे एक मुर्दे से हो, पर इन मद्दे जानवरों से नहीं। भगवान इन दोनों से बचावे।" यह ग्रनुवाद मले ही यथा-शब्द न हो, किन्तु इसकी भाषा में प्रभाव ग्रौर प्रवाह मूल से भी ग्रधिक है, इसमें कोई संदेह नहीं।

- (३) अभिनय—भारतेन्दु नाटकों की केवल रचना करके ही नहीं रह गए, उन्होंने उनके ग्रभिनय का भी समुचित प्रवन्ध किया। उन्होंने काशी में कुछ साहित्यिक नाटक मंडलियाँ स्थापित कीं, जिनके द्वारा भ्रनेक नाटक खेले गए! वे स्वयं एक कुशल भ्रभिनेता थे भ्रौर उन्होंने भ्रनेक नाटकों में निर्देशन भ्रौर भ्रभिनय का कार्य सफलता-पूर्वक किया। उनके 'नाटक' ग्रंथ का भ्रभिनय-सम्बन्धी विवेचन तथा विभिन्न नाटकों में दिये गए भ्रभिनय-सम्बन्धी संकेतों से सिद्ध होता है कि वे भ्रभिनय-कला में कितने दक्ष थे।
- (४) ग्रालोचना—भारतेन्दु ने नाटक साहित्य की रचना, ग्रनुवाद ग्रीर ग्रिमनय के ग्रितिरक्त उसकी ग्रालोचना का भी विकास किया। उनका 'नाटक' ग्रन्थ नाट्य-रचना सम्बन्धी सिद्धान्तों का एक प्रौढ़ ग्रंथ है। खेद है कि डॉ॰ श्यामसुन्दरदास ने केवल इसकी भाषा के ग्राधार पर यह भ्रम फैला दिया कि 'नाटक' भारतेन्द्र द्वारा रचित नहीं है। इस ग्रंथ की शैली में नाटकों की भाषा-शैली से कोई इतना गहरा ग्रन्तर नहीं मिलता जिससे कि इसे भारतेन्द्र-रचित न माना जाय। वैसे विवेचनात्मक ग्रंथ होने के कारण ग्रन्तर ग्रा जाना तो स्वाभाविक ही है। इसके ग्रितिरक्त इस ग्रन्थ की भूमिका में भी भारतेन्द्र ने स्पष्ट रूप से इसे स्वरचित बताया है। इतना ही नहीं, उन्होंने इस ग्रन्थ को ग्रपने ग्राराध्य देव को प्रेमपूर्वक समर्पित किया है। यदि वह किसी श्रन्य का रचित होता तो वे कभी ऐसा नहीं करते। ग्रतः इस पर संदेह करना ग्रनावश्यक ग्रोर ग्रनुचित है।

'नाटक' से पूर्वी ग्रीर पाश्चात्य नाट्य-कला के ज्ञान का परिचय मिलता है। यद्यपि इसमें मुख्यतः संस्कृत के नाट्य-शास्त्र को ही ग्राघार माना गया है, किन्तु उन्होंने ग्राधुनिक युग के ग्रनुसार प्राचीन ग्राचार्यों द्वारा निर्देशित नियमों में संशोधन भी किया है। वे प्राचीन ग्रीर नवीन के सामंजस्य का समर्थन करते हुए एक ग्रोर 'ग्राशी', 'पंच-संधि', 'प्रकरी' ग्रादि को यत्नपूर्वक रखने का विरोध करते हैं तो दूसरी ग्रोर वे यथार्थ चित्रण का सुम्नाव देते हैं। नाटकों में सामयिक समस्याग्रों के चित्रण की ग्रावश्यकता बताते हुए वे लिखते हैं— कि प्रावश्यकार का स्वाहकों के वित्रण की ग्रावश्यकता वताते हुए वे लिखते हैं— कि प्रावश्यक साहकों को के वित्रण की ग्रावश्यक ता

मुख्य कर्त्तव्य-कर्म है । यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण श्रथवा धर्म-सम्बन्धी श्रन्यान्य विषय-संशोधन ग्रादि ।"

यह ग्रन्थ नाट्य-सिद्धान्तों का संग्रह-मात्र नहीं है। नाट्य-कला-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों को लेकर लेखक ने उनकी सोदाहरण व्याख्या की है। संवादों की ग्रायोजना
पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं—"ग्रंथकर्ता ऐसी चातुरी ग्रौर नैपुण्य से पात्रों की
बातचीत रचना करें कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो। नाटक में वाचाल पात्र की मितभाषिता, मितभाषी की वाचालता, मूर्ख की
बाक्यटुता ग्रौर पंडित का मौनी-भाव विडम्बना मात्र है।" ग्रागे वह हृदयस्थ भावों की
व्यंजना का एक उदाहरण 'शाकुन्तलम्' से देकर स्पष्ट करते हैं—"……..इसके बदले
कालिदास यदि कण्व त्रदृषि का छाती पीटकर रोना वर्णन करते तो उनके त्रदृषि-जनोचित धैर्य की क्या दुर्दशा होती ग्रथवा कण्व का शकुन्तला के जाने पर शोक ही न वर्णन
करते तो कण्व का स्वभाव मनुष्य स्वभाव से कितना दूर जा पड़ता। इसी हेतु कविकुल-मुकुट-माणिक्य भगवान् कालिदास ने त्रदृषि-जनोचित भाव में ही कण्व का शोक
वर्णन किया है।"

इसी ग्रन्थ में उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य नाटक-साहित्य के इतिहास पर भी प्रकाश डाला है। भारतीय नौटकों में उन्होंने संस्कृत ग्रौर प्राकृत के ५६ नाटकों का परिचय दिया है। इसके ग्रतिरिक्त उन्होंने ग्रपने युग में रचित हिन्दी नाटकों की भी तालिका प्रस्तुत की है। 'यूरोप में नाटकों का प्रचार' शीर्षक के ग्रन्तर्गत उन्होंने यूनान के प्राचीनतम नाटकों से लेकर इङ्गलैण्ड के ग्रठारहवीं शती तक के नाटक-साहित्य का संक्षेप में विवेचन किया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ नाटक साहित्य के सैद्धान्तिक एवम् ऐतिहासिक दोनों प्रकार के विवेचन की दृष्टि से भारतेन्द्र के व्यापक ज्ञान का परि-चायक है।

इसी ग्रन्थ के बीच-बीच में उन्होंने समकालीन नाटकों की ग्रालोचना की है।

तत्कालीन व्यावसायिक नाटकों की ग्रधोगित पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है—

"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला ग्रौर उसमें

धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर, मटक-मटक

कर नाचने ग्रौर "पतरी कमर वल खाय" यह गाने लगा तो डाक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ ग्राये कि ग्रब देखा नहीं जाता । ये लोग कालिदास के गले पर खुरी फेर रहे हैं।" ग्रस्तु, इस ग्रन्थ के ग्राधार पर भारतेन्दु की नाट्य

कला का ग्राचार्य भी कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। यह ग्राश्चर्य का विषय

है कि हिन्दी ग्रालोचना के विकास में भारतेन्दु के इस ग्रन्थ की प्रायः चर्चा नहीं की

बाती।

उपसंहार

नहीं, किन्तु इतना ग्रवश्य स्पष्ट हो जाता है कि नाटक कला के क्षेत्र में उनका कार्य ग्रनिवार्य है। जहाँ तक हमारी जानकारी है, संसार के इतिहास में किसी ऐसे नाटक-कार का नाम नहीं मिलता, जिसने अकेले ने नाटक की इतनी शैलियों, इतने रूपों और इतने रसों का प्रयोग किया हो, जिसने इतने बहुविघ मौलिक नाटक लिखे हों। जिसने पाँच भाषात्रों के नाटकों का इतना सफल अनुवाद किया हो, जिसने अभिनय और निर्दे-शन दोनों में सफलता प्राप्त की हो, जिसने नाट्य-कला के सिद्धान्तों का विवेचन किया हो ग्रीर जिसने पूर्व ग्रीर पश्चिम के नाट्य-साहित्य का इतिहास भी लिखा हो। नाट्य-कला का कोई भी ग्रंग ऐसा नहीं है, जो भारतेन्दु के बहुमुखी व्यक्तित्व के स्पर्श से वंचित रहा हो। उनके नाटक मनोरंजन से यदि भरपूर हैं, रस के माधुर्य से ग्रोत-प्रोत हैं तो साथ ही परिवार, समाज ग्रौर राष्ट्र को नव-जीवन प्रदान करनेवाली ग्रमृतदायिनी शक्ति भी उनमें विद्यमान है। कला ग्रीर विचार, सौन्दर्य ग्रीर उपदेश, भाव ग्रीर भाषा-इन सबका सुन्दर समन्वय उनके नाटकों में मिलता है। इन सारी विशेषताग्रों से युक्त, इन सारे रूपों से सुसज्जित लेखक, अनुवादक, अभिनेता, निर्देशक और आलोचक नाटक-कार भारतेन्द्र की तुलना संभवतः विश्व के किसी भी नाटककार से नहीं हो सकती ! कालिदास में भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति तो थी, किन्तु समाज की समस्याओं का चित्रण उनमें कहाँ ? शेवसपीयर में मार्मिकता एवं जीवन की ग्रनेक-रूपता तो है, ग्रिम-नय की कला भी उनके पास है, किन्तु भारतेन्दु के शेष रूप उनमें कहाँ ? इब्सन, शा म्रादि में समस्याम्रों का चित्रण एवं व्यंग्यात्मकता है, किन्तु भारतेन्दु की-सी काव्यात्मकता का उनमें ग्रभाव है।

भा उनन जनाय है। प्रमुख प्रस्तु, नाट्य-कला के क्षेत्र में 'भारतेन्दु' भारतेन्दु ही नहीं, पूर्णेन्दु हैं। उनमें कुछ दोष-घब्बे भी हैं, किन्तु वे उनकी सुधा-प्रवाहिनी रिश्मयों के तेज-पुंज के समक्ष नगण्य हैं, उपेक्षणीय हैं।

ः बासठ ::

प्रेमचंद श्रौर उनका उपन्यास-साहित्य

- १. भूमिका।
- २. व्यक्तित्व ग्रौर जीवन ।
- ३. श्रोपन्यासिक रचनाएँ—(क) वरदान, (ख) प्रतिज्ञा, (ग) सेवा-सदन, (घ) प्रेमाश्रम, (ङ) रंगभूमि, (च) काया-कल्प, (छ) गवन, (ज) निर्मला, (भ) कर्मभूमि, (ज) गोदान।
- ४. प्रेमचन्दजी की महानता।
- ४. रवीन्द्र भीर शरत् से तुलना।
- ६. उपसंहार।

एक बार डा॰ घीरेन्द्र वर्मा ने प्रेमचंदजी के सम्बन्ध में भ्रपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था— "प्रेमचंदजी हिन्दी के प्रथम सर्वोत्कृष्ट मौलिक लेखक थे। उन्होंने हिन्दी पाठकों की भ्रमिष्टिन को चंद्रकांता के गर्त से निकालकर सुदृढ़ साहित्यिक नींव पर स्थिर किया। बंकिम बाबू तथा भ्रंग्रेजी उपन्यासों की माँग को तो उन्होंने विलकुल ही रोक दिया। हिन्दी-साहित्य के उस विशेष क्षेत्र में कादम्बरी या हितोपदेश के भ्रनुवादों का लोकप्रिय होना तो संभव न था। इसके भ्रतिरिक्त प्रेमचंदजी ने समाज के भ्रसाधारण वर्गों की भ्रोर से दृष्टि हटाकर मध्यम तथा निम्न श्रेणी के लोगों की नित्य-प्रति की समस्याओं की भ्रोर हिन्दी पाठकों का ध्यान भ्राकृष्ट किया। किसान, मजदूर, क्लर्क, दुकानदार, जमींदार, साहूकार, भ्रफसर भ्रौर पूंजीपतियों से संघर्ष का जैसे जीवित रूप में प्रेमचन्दजी ने चित्रण किया है, वैसा उससे पहले हिन्दी-साहित्य में कभी नहीं हुग्रा था।" (हंस: प्रेमचन्द स्मृति ग्रंक, पुष्ठ ५००)

उपर्युक्त उद्धरण से प्रेमचंदजी की महानता का पता स्पष्ट रूप से चलता है। प्रेमचंदजी के हिन्दी-उपन्यास जगत् में अवतीर्ण होने से पूर्व तीन प्रकार की रचनाएँ हो रही थीं—(१) तिलस्मी और ऐयारी के उपन्यास, (३) कामुकतापूर्ण सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास और (३) जासूसी और साहसपूर्ण उपन्यास। इन तीनों वर्गों का नेतृत्व क्रमशः देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी—ये तीनों लेखक कर रहे थे। इनके अतिरिक्त बँगला, मराठी और अंग्रेजी के उपन्यासों के अनुवादकों का भी हिन्दी में बोलवाला था। तत्कालीन उपन्यासों की स्थित का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए सुयोग्य समालोचक डा० इंद्रनाथ मदान ने एक स्थान पर लिखा है। "हिन्दी की जनता घटनाओं की भूल-भूलेओं के लिखें जिखका की का प्रेम प्रयोग अथवा जासूसी उपन्यास पढ़ती थी और उसमें अद्भुत रस प्राप्त करती थी। यह न होता था तो वह

रीतिकालीन श्रुङ्गारिकता से युक्त सामाजिक उपन्यास पढ़ती थी ग्रौर ग्रपनी सस्ती भावुकता के लिए वहाँ भोजन प्राप्त करती थी। जनता का जो ग्रंग ग्रद्भुत ग्रौर श्रुङ्गार के इन उपन्यासों को पसन्द नहीं करता था श्रौर जिसमें नैतिकता के प्रति आग्रह था, वह भ्रपने लिए वेंगला, मराठी श्रौर श्रंग्रेजी के भ्रनुवादों को ही वरदान समभता था। इस प्रकार हिन्दी पाठक के पास उपन्यास के नाम पर ठोस जीवन के धरातल पर आधा-रित श्रपनी कोई वस्तु नहीं थी। केवल नैतिकता की दृष्टि से भी तत्कालीन उपन्यासों का स्तर बहुत नीचा था।" उनमें जिन घटनाग्रों का वर्णन होता था, वे ग्रलौकिक व ग्रस्वाभाविक होती थीं । पात्र भी किसी काल्पनिक जगत् के होते थे, जिनमें न तो मान-बीय रूप की सहज स्वाभाविक रूप-रेखाएँ ही दृष्टिगोचर होती थीं ग्रौर न ही उनमें उस व्यक्तित्व का विचार हो पाता था जिससे वे सजीव दिखाई पड़ें। कथोपकथन रटे-रटाए व्याख्यानों-जैसा या विद्वानों के शास्त्रार्थ-जैसा होता था, जिसमें संभाषण की-सी स्वामा-विकता का पता पाना कठिन था। देश भ्रौर काल की परिस्थितियों के चित्रण की वात ही क्या ? ग्रीरंगजेव को ग्रपने ड्राइवर के साथ मोटर पर घूमते हुए दिखा देना उस युग के उपन्यासकार के लिए कोई ग्रनोखी बात नहीं थी। रही उद्देश्य की बात—उद्देश्य तो (प्रायः सबका एक था; जनता का मनोरंजन करना । वे उपन्यास समय काटने के एक हीन कोटि के साधन-मात्र थे; उनमें कलात्मकता एवं सामाजिकता का ग्रभाव था। वस्तुतः प्रेमचन्द के पदार्पण से पूर्व हिन्दी-उपन्यास एक भ्रविकसित कलिका की भाँति भ्रस्फुट एवं चेतनाहोन-सा था, किन्तु दिवाकर की प्रथम रिशमयों की भौति प्रेमचन्द की पावन-कला का पुनीत स्पर्श पाकर वह जाग पड़ा, खिल उठा ग्रीर मुस्कराने लगा।

व्यक्तित्व ग्रौर जीवन

साहित्य की मूल श्रात्मा को पहचानने के लिए उसके रचियता के व्यक्तिगत जीवन का श्रव्ययन भी श्रपेक्षित है। मुन्शी प्रेमचन्दजी का जन्म सन् १८८० में लमही नामक गाँव में हुग्रा था। उनके पिता डाकखाने में नौकरी करते थे तथा उनकी श्राधिक स्थिति बहुत श्रच्छी नहीं थी। श्राठ वर्ष की श्रल्पावस्था में ही उन्हें मातृ-वियोग सहन करना पड़ा। तदनन्तर उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया—फलतः प्रेमचन्दजी सौतेली माँ के व्यवहार की कटुता का श्रनुभव भी प्राप्त कर सके।

इनके परिवार में उर्दू पढ़ने की प्रथा थी। ग्रतः ग्रारम्भ में इन्हें भी उर्दू की शिक्षा दो गई। ग्रागे चलकर उन्होंने हाईस्कूल तक की शिक्षा प्राप्त की। इसी बीच उनका विवाह हो गया था। विवाह के कुछ दिनों पश्चात् हो उनके पिता का देहान्त हो गया, ग्रतः उन्हें ग्रघ्ययन-काल में पर्याप्त ग्राधिक किठनाइयों का सामना करना पड़ा। कालेज में भी वे प्रविष्ट हुए थे, किन्तु इण्टर की परीक्षा में ग्रामफल हो जाने के कारण तथा ग्राधिक परिस्थितियों से बाघ्य होकर उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी ग्रीर एक पाठशाला में कार्य करने लग गए िश्वागे चलकर स्वाघ्याय से उन्होंने बी० ए० तक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं ग्रीर डिप्टो इन्स्पेक्टर के पद पर पहुँच गए।

प्रेमचन्दजी को उपन्यास पढ़ने का शौक बाल्यावस्था से ही था। उन्होंने 'मेरी पहली रचना' शीर्षक लेख में अपने अध्ययन की चर्चा करते हुए लिखा है—''दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टॉक समाप्त हो गया तो मैंने नवलिकशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े और तिलस्मी ग्रन्थों के १७ भाग उस वक्त निकल चुके थे। एक-एक भाग बड़े सुन्दर रायल आकार के दो-दो हजार पृथ्ठों से कम न होगा और इन १७ भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पच्चीस भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े।'' अध्ययन की इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि प्रेमचन्दजी ने छोटी आयु में हो लेखनी ग्रहण कर ली। सन् १६०१ में अर्थात् बीस-इक्कीस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपना पहला उपन्यास लिखना आरम्भ कर दिया था। सन् १६०२ में उनका पहला तथा १६०४ में दूसरा उपन्यास प्रकाशित हुआ। दूसरी ओर उनकी कुछ कहानियां 'जमाना' (उर्दू) में निकलीं। उनकी पाँच कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' १६०६ में छपा, जिसमें स्वराज्य की प्रेरणा होने के कारण सरकार ने जब्त कर लिया। आगे चल कर वे हिन्दी में लिखने लग गए।

सरकारी सर्विस में रहते हुए वे स्वतन्त्रतापूर्वक लिख न सकते थे, ग्रतः उन्होंने डिप्टी-इन्स्पेक्टर के पद से त्याग-पत्र देकर चर्खों की दूकान खोल ली। जब इससे काम नहीं चला तो वे एक प्राइवेट स्कूल में हैडमास्टर बन गए। किन्तु परिस्थितियोंवश वहाँ से भी त्याग-पत्र दे दिया ग्रीर पत्र-पत्रिकाग्रों का सम्पादन करने लग गए। जीवन के ग्रन्तिम दिनों में वे फिल्म-जगत् में भी गये थे, किन्तु वहाँ के दूषित वातावरण के कारण ठहर नहीं सके।

वस्तुतः प्रेमचन्दजी की जीवन-गाथा गरीबी, संघर्ष भौर त्याग से भरपूर है। वोर ग्राधिक संकटों का सामना करते हुए भी उन्होंने बड़े-से-बड़े ग्राधिक लोभ को ठुकरा दिया। एक बार भलवर के राजा साहब ने उन्हें चार सौ रुपये मासिक पर भ्रामन्त्रित किया था, किन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का घ्यान रखते हुए उन्होंने उस भ्रामन्त्रण को ठुकरा दिया। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उनका विद्रोह कितना तीन्न था—यह इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने भ्रपना दूसरा विवाह एक विधवा के साथ किया। प्रेमचन्द के समर्थक भ्रालोचक डाँ० इन्द्रनाथ मदान ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में लिखा है—''प्रेमचन्द इतना सादा जीवन विताते थे कि कल्पना नहीं कर सकता। वे देहाती किसान के प्रतिरूप थे, जिनमें ग्रहंकार नाम-मात्रको भी नहीं था। जीवन की सभी कटुताएँ सहते हुए भी वे प्रसन्न-चित्त होकर भ्रागे बढ़ते थे, परन्तु देश की दशा से वे सदैव दुखी हुम्मा करते थे भौर उसकी मुक्ति का उपाय सोचते-सोचते खो-से जाते थे। वे देश-भक्त थे। समाज-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष के समर्थक न थे। वे सच्चे भ्रथों में हिन्दुस्तानी थे....उनका बाहर भीतर एक-सा था, कथनी-करनी में भेद करना वे न जानते थे, साहित्य भौर जीवन होनों उनके लिए एक-दूसरे के पर्यायवाची थे। इसीलिए यह कहना कि प्रेमचन्द मनुष्य के रूप में साहित्यकार से सि. अधिक सम्बन्ध का क्षेत्र के स्थानिक स्थान कि प्रेमचन्द मनुष्य के रूप में साहित्यकार से सि. अधिक सि. अधिक स्थान के रूप में साहित्यकार से सि. अधिक सि. अधिक स्थान सि. अधिक स्थान के रूप में साहित्यकार से सि. अधिक सि. अधिक स्थान सि. अधिक स्थान सि. अधिक स्थान सि. अधिक स्थान सि. अधिक सि. अधिक स्थान सि. अधिक सि. अधिक

प्रेमचन्द इतने बड़े लेखक होते हुए भी दिरद्रता में जन्मे, दिरद्रता में पले भीर

दिरद्रता से ही जूभते-जूभते समाप्त हो गए। "उन्होंने अपने को सदा मजदूर समभा। बीमारी की हालत में भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी, वे अपने कमजोर शरीर को लिखने के लिए मजबूर करते रहे। मना करने पर कहते "मैं मजदूर हूँ, मजदूरी किए विना मुक्ते भोजन करने का अधिकार नहीं।"—(डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)। अस्तु, प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रेमचन्द महान् थे। उन्होंने जीवन में वह साधना की थी, जिसने उनके साहित्य को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया।

धौपन्यासिक रचनाएँ

प्रेमचन्द का साहित्य जहाँ गुणों की दृष्टि से उत्कृष्ट है, वहाँ परिमाण की दृष्टि से भी भारी है। उनके उपन्यासों की तालिका इस प्रकार है—वरदान (१६०२), प्रतिज्ञा (मूल १६०६), सेवासदन (१६१६), प्रेमाश्रम (१६२२), रंगभूमि (१६२५), गजन (१६३१), कर्मभूमि (१६२२), निर्मला (१६२३), काया-कल्प (१६२६), गोदान (१६३६), मंगलसूत्र (ग्रपूर्ण)। इनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है—

(१) वरदान—'वरदान' में प्रेम ग्रीर विवाह की समस्या का वित्रण हुग्रा है—
वृजरानी ग्रीर प्रताप बचपन से ही साथ-साथ रहे थे, तथा दोनों के विवाह की भी चर्च
होने लग गई थी, किन्तु किसी कारण वृजरानी का विवाह एक डिप्टी के पुत्र कमलाचरण
से हो गया। कमलाचरण एक उच्छृङ्खल स्वभाव का युवक था। यद्यपि प्रारम्भ में पतिपत्नी की नहीं बनी, किन्तु वृजरानी के प्रयत्न से कमलाचरण में परिवर्तन ग्राने लगा।
ग्रचानक कमलाचरण का देहान्त हो जाता है। प्रताप वृजरानी के विवाह के ग्रनन्तर
ही साधु हो गया था। ग्रन्त में सभी प्रमुख पात्र त्याग ग्रीर संयम का पथ ग्रपनाते हुए
देश-सेवा में लग जाते हैं।

उपन्यास-कला की दृष्टि से वरदान कोई प्रौढ़ रचना नहीं है। इसकी कथा-वस्तु शिथिल है। प्रताप इसका प्रमुख पात्र है श्रौर कथानक की प्रगति में योग देता है, किन्तु उसके चरित्र में भी वह महानता नहीं श्रा पाई, जो उसके लिए श्रपेक्षित थी। वस्तुतः यह उपन्यास एक प्रेम-कहानी-मात्र है जिसका पर्यवसान देश-प्रेम में हुश्रा है।

(२) प्रतिज्ञा—प्रोफेसर दीनानाथ श्रौर श्रमृतराय वकील—दोनों गहरे मित्र थे। प्रो॰ दीनानाथ श्रभी श्रविवाहित थे, जबिक श्रमृतराय विधुर थे। श्रमृतराय का दूसरा विवाह उनकी कुमारी साली प्रेमा से होने की संभावना थी, क्योंकि दोनों एक दूसरे को चाहते थे तथा प्रेमा के पिता बद्रीप्रसाद का ऐसा ही विचार था। किन्तु इसी बीच एक घटना घटित हुई। एक समाज-सुधारक नेता के व्याख्यान से प्रभावित होकर श्रमृतराय ने प्रतिज्ञा कर ली कि वे किसी विध्वा से विवाह करेंगे। ऐसी स्थित में उन्होंने प्रेमा से विवाह करना श्रस्वीकार कर दिया। फलतः प्रेमा का विवाह प्रोफेसर दीनानाथ से हो गया।

ग्रमृतराय ने ग्रपना जीवन समाज-सेवा में ग्रापित कर दिया ग्रौर उन्होंने एक वनिताश्रम स्थापित कर दिया को अस्माबद्धनाके। इस्साया प्रमुख्या ग्रौर वह ग्रपने पित के सम्मुख भी ग्रमृतराय की प्रशंसा किया करती थी। इससे दीनानाथ ग्रपने मित्र से ईर्ष्या करने लगे। वे स्पष्ट रूप में उनके विरोधी हो गए। किन्तु ग्रन्त में उन्होंने ग्रपनी भूल स्वीकार कर ली ग्रीर वे ग्रमृतराय को विनताश्रम के संचालन में यथा-शक्ति सहयोग देने लगे। इसमें एक प्रासंगिक कहानी एक पूर्णा नामक विधवा की भी चलती है, जिसके द्वारा वैधव्य-जीवन की कटुता पर प्रकाश पड़ता है।

वस्तुतः यह एक ग्रादर्शवादी दृष्टिकोण से लिखित रचना है। ग्रमृतराय का चिरत्र ग्रन्त तक ग्रादर्श रहता है। सारा उपन्यास विघवाग्रों की समस्या पर ग्राधारित है। विघवा-समस्या का हल विनताश्रम के रूप में दिया है।

(३) सेवा-सदन—'सेवा-सदन' की नायिका सुमन है, जो दारोगा कृष्णचन्द्र की कन्या थी। दारोगा कृष्णचन्द्र पहले रिश्वत नहीं लेते थे, किन्तु सुमन के विवाह के लिए उन्होंने ऐसा भी किया, किन्तु वे इस कला में प्रवीण न होने के कारण पकड़े गये और ग्रन्त में उन्हें पाँच वर्ष के कारावास का दण्ड प्राप्त हुग्रा। कृष्णचन्द्र की पत्नी ग्रपनी लड़िकयों—सुमन और शान्ता—को साथ लेकर ग्रपने भाई उमानाथ के यहाँ चली गई। दहेज के ग्रभाव में सुमन का विवाह एक ग्रधेड़ ग्रवस्था के व्यक्ति—गजाधर से कर दिया गया। दोनों में ग्रनवन रहती थी। सुमन के घर के सामने ही भोली-नामक वेश्या रहती थी। घर, समाज, मन्दिर एवं विभिन्न उत्सवों पर भोली के ग्रादर-सम्मान को देखकर सुमन बहुत प्रभावित हुई। दूसरी ग्रोर पद-पद पर पित के द्वारा ग्रपमानित होकर वह यह सोचने को विवश हुई कि समाज में पत्नी का ग्रधिक महत्त्व है या वेश्या का। एक बार सुमन गजाधर के मित्र पद्मसिंह के यहाँ किसी उत्सव में गई हुई थी, वहाँ से उसे घर लौटने में रात को बहुत देर हो गई। इस पर गजाधर ने उसे घर से निकाल दिया। वह पद्मसिंह के घर चली गई, किन्तु वे भी उसे ग्रधिक दिन तक नहीं रख सके। ग्रन्त में उसे भोली के यहाँ ग्राश्रय प्राप्त हुग्रा ग्रीर उसने वेश्या-जीवन की दीक्षा प्राप्त की।

श्रागे चलकर सुमन ने वेश्या-वृत्ति छोड़कर विधवा श्राश्रम में श्राश्रय प्राप्त किया, किन्तु पहले की वेश्या होने के कारण उसे वहाँ से निकाल दिया गया। वह श्रपनी छोटी वहिन शान्ता के पास रहकर पवित्रतापूर्वक जीवन विताने लगी, किन्तु शान्ता के परिवार के लोग भी उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। श्रन्त में उसने एक रात्रि शान्ता का घर छोड़ दिया श्रीर स्वामी गजानन्द की कुटिया में श्राश्रय लिया। ये स्वामी गजानन्द सुमन के पित गजाधर ही थे। दोनों ने मिलकर सेवा-सदन की स्थापना की!

इस प्रकार इस कृति में वेश्या-समस्या का सूचम विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। कोई भी नारी वेश्या बनने को क्यों विवश होती है ? श्रीर फिर वह वेश्या-जीवन को क्यों नहीं छोड़ पाती ? इन प्रश्नों का उत्तर 'सेवा-सदन' में मिलेगा। प्रेमचन्द जी ने इन दोनों हो परिस्थितियों का उत्तरदायित्व समाज पर डाला है। समाज में नारी की प्रतिष्ठा पत्नी की श्रपेक्षा वेश्या के रूप में ग्रधिक है। पत्नी के रूप में सुमन को जहाँ पद-पद पर ठोकरें खानी पड़ती हैं, वहाँ वेश्या भोली को बड़े-बड़े वकील, प्रोफेसर, सरकारी श्रफसर—उच्च वर्ग के प्रायः सभी लोग सम्मानपूर्वक घर बुलाते हैं। सुमन की श्रपेक्षा भोली का जीवन श्रिविक सुखमय एवं ग्रेश्वर्यपूर्ण हैं। सुमन की श्रपेक्षा भोली का जीवन श्रिविक सुखमय एवं ग्रेश्वर्यपूर्ण हैं। सुमत है। द्वारा परित्यक्त, निराध्यत ग्रबला का वेश्यावृत्ति श्रपना लेना स्वाभाविक है।

दूसरा प्रश्न है—विश्याओं के सुधार का। इसमें भी हमारा समाज वाधक है। जब सुमन जैसी वेश्याएँ अपनी भूल को सुधारना चाहती हैं तो अपने कुल, परिवार एवं समाज से उन्हें कोई सहयोग नहीं मिलता। वेश्यावृत्ति छोड़ देने पर भी समाज में सुमन के लिए कोई स्थान नहीं है—यहाँ तक कि विधवाश्रम से भी उसे निकाल दिया जाता है। प्रेमचन्दजी ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए इस स्थिति की नारियों के लिए अलग सेवा सदन या सेवाश्रम स्थापित करने का सुभाव दिया है; किन्तु वह सुभाव बहुत उपयोगी नहीं है। पहले तो इतने अधिक सेवा-सदन स्थापित करने ही कठिन हैं, जिनमें सभी वेश्याओं को स्थान दिया जा सके। दूसरे, सेवा-सदन की समस्याएँ समाज से अलग ही रहेंगी। वे समाज में घुल-मिलकर उसका अंग नहीं बन सकेंगी। ऐसी स्थिति में 'सेवा-सदन' ही 'वेश्यालय' वन जाएँ तो क्या आश्चर्य है ? वस्तुतः जब तक हमारे समाज की स्थिति और उसका दृष्टिकोण परिवर्तित नहीं हो जाता, तब तक इस समस्या का कोई व्यक्तिगत या सामाजिक हल प्रस्तुत करना कठिन है।

(४) प्रेमाश्रम—'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदार के सम्बन्धों का चित्रण करते हुए एक जमींदार परिवार की कहानी प्रस्तुत की गई है। इसका प्रमुख पात्र ज्ञानशंकर है, जिसकी जमींदारी में लखनपुर गाँव है। वह अपने चाचा प्रभाशंकर के ही साथ रहता है, क्यों कि अभी उनमें बँटवारा नहीं हुआ था। ज्ञानशंकर के बड़े भाई प्रेमशंकर उच्च-शिक्षा के लिए अमेरिका चले गये थे। ज्ञानशंकर अत्यन्त स्वार्थी, कूटनीतिज्ञ एवं कूर व्यक्ति है। वह एक और अपने चाचा प्रभाशंकर और अपने बड़े भाई प्रेमशंकर की जमींदारी का हिस्सा हड़प लेना चाहता है, तो दूसरी और अपने किसानों से अन्यायपूर्वक अधिक-से-अधिक रकम प्राप्त कर लेना चाहता है। इतना ही नहीं, वह अपने ससुराल की जायदाद व सम्पत्ति के लिए भी प्रयत्न करता है वह अपनी विधवा साली गायत्री को प्रेम के डोरे डालकर अपने चंगुल में फँसा लेता है और उसकी जमींदारी को हस्तगत कर लेने का प्रयास करता है। इस प्रकार सारा उपन्यास ज्ञानशंकर के ही क्रिया-कलापों पर आश्रित है।

प्रभाशंकर पुरानी पीढ़ी के जमींदार के प्रतिनिधि हैं, जो किसानों के साथ सहातुभूति एवं भाईचारे का व्यवहार करते हैं, जविक ज्ञानशंकर नई पीढ़ी के श्रत्याचारी
जमींदारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रेमशंकर ग्रपना सर्वस्व त्याग करके किसानों की
सेवा के लिए 'प्रेमाश्रम' स्थापित करते हैं। ज्ञानशंकर का पुत्र मायाशंकर प्रेमचन्दजी के
स्वप्नों का जमींदार है, जो कि ग्रपने सारे ग्रधिकार किसानों की सेवा में समर्पित कर
देता है। इस प्रकार जमींदार कैसा था? कैसा है? ग्रीर कैसा होना चाहिए? इन तीनों
प्रश्नों के उत्तर क्रमशः प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर ग्रीर मायाशंकर के रूप में प्राप्त होते हैं।
इसमें कोई सन्देह नहीं कि जमींदारों के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का
जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इस उपन्यास में हुग्रा है, वैसा किसी ग्रन्य रचना में मिलना
सम्भव नहीं।

(५) रंगभूमि— 'दंगभूमिं अगभण एक हुआर पृष्ठों क्तावबृहत्काय उपन्यास है। इसमें घटनाओं को ऐसी बहुलता, कथानक की ऐसी विशदता और पात्रों की ऐसी प्रचु-

रता मिलती है कि पाठक स्तब्ध रह जाता है। 'गोदान' लिखने से पूर्व प्रेमचन्दजी ने इसे अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना था। इसमें कथा-वस्तु का केन्द्र मुख्यतः एक ईसाई कुटुम्ब है। इस कुटुम्ब के प्रधान हैं—मि॰ जान-सेवक जो कि पांडेपुर गाँव में एक सिग-रेट का कारखाना स्थापित करना चाहते हैं। इस कारखाने के लिए वे सूरदास की जमीन प्राप्त करना चाहते हैं; किन्तु सूरदास उसे किसी भी मूल्य पर नहीं देना चाहता। सूरदास भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करता था। किन्तु साथ ही वह गाँव का सबसे अधिक परोपकारी, उदार एवं उच्च चरित्र का व्यक्ति था। वह अपनी जमीन गाँव की सेवा के लिए दान करना चाहता था। मि॰ जान-सेवक बड़े-बड़े अधिकारियों की सहा-यता से सूरदास की जमीन पर अधिकार प्राप्त कर लेने का प्रयत्न करते हैं। सूरदास प्रपने अधिकारों के लिए सत्याग्रह और संघर्ष करता हुआ आत्म-बलिदान कर देता है।

दूसरी कथा मि॰ जान-सेवक की लड़की कुमारी सोफिया से सम्बन्ध रखती है। वह नये विचारों की स्वाभिमानिनी लड़की है। एक बार वह कुँवर विनयसिंह को आग से बचाती हुई घायल हो जाती है। इस घटना के पश्चात् विनयसिंह और सोफिया परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। उनकी यह प्रेम-कहानी जीवन की अनेक परिस्थितियों को पार करती हुई आगे बढ़ती है। सोफिया के माता-पिता उनका विवाह मजिस्ट्रेट क्लार्क से करना चाहते हैं। किन्तु सोफिया जीवन-भर विनयसिंह की सहायता. करती रहती है और अन्त में विनयसिंह के आत्म-बिलदान के अनन्तर आत्म-हत्या कर खेती है।

वस्तुतः इस उपन्यास का लक्ष्य त्याग, प्रेम भ्रौर बिलदान के भ्रादर्श को प्रस्फुटित करना है। सूरदास तत्कालीन लोक-नेता महात्मा गांधी की ही प्रतिमूर्ति है, जो कि अपने प्रिष्ठकारों के लिए बड़ी-से-बड़ी शक्ति से भी संघर्ष करने के लिए प्रस्तुत है। त्याग भौर बिलदान ही उसके सबसे बड़े शस्त्र हैं। मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ भी वह शासक वर्ग से कहता है—"....तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीवनेवालों का धर्म नहीं? तुम्हारा धर्म तो है हमारी पीठ ठोकना। हम हारे तो क्या, मैदान से तो नहीं भागे, रोये तो नहीं, ध्रमंत्रती तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम लेने दो, हार-हारकर तुम्हों से खेलना सीखेंगे, भौर एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी; अवश्य होगी।" प्रेमचन्दजी की यह भविष्य-वाणी २५ वर्ष पश्चात ही सत्य प्रमाणित हो गई।

सोफिया थ्रौर विनय का प्रेम कुटुम्ब के लोगों, समाज के नियमों एवं धर्म के धादशों से सर्माध्यत न होता हुआ भी सच्चा है, पित्रत्र है थ्रौर महान् है। दोनों के प्रणय की गम्भीरता एवं पित्रता के प्रमाण में उनके ये शब्द देखे जा सकते हैं—''तुम मेरे लिए श्रादर्श हो। तुम्हारे प्रेम का श्रानन्द मैं कल्पना के द्वारा ही ले सकता हूँ। डरता हूँ कि तुम्हारी दृष्टि में गिर न जाऊँ। श्रपने को कहाँ तक गुप्त रखूंगा? तुम्हें पाकर मेरा जीवन नीरस हो जायगा, मेरे लिए उद्योग थौर उपासना की कोई वस्तु न रह जायगी।'' (विनय) दूसरी थ्रोर सोफिया का कि कि स्वास की लोई वस्तु न रह जायगी।'' (विनय) दूसरी थ्रोर सोफिया का कि स्वास की की ही वस्तु न रह जायगी।'' (विनय) दूसरी थ्रोर सोफिया का ही से जीवित रहता है थ्रौर भावना से ही लुप्त हो

जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। तुम मेरे हो, यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव श्रौर सहिष्णु रखने के लिए काफी है।"

(६) कायाकल्प—'कायाकल्प' में सामाजिक समस्याग्नों के साथ-साथ जन्मजन्मान्तर तक चलते रहनेवाले प्रेम की एक ग्रद्भुत कहानी का वर्णन किया गया है
चक्रधर नामक एक युवक एम० ए० करने के ग्रनन्तर जगदीशपुर के दीवान ठाकुर हरिसेवक सिंह की पुत्री मनोरमा के शिक्षक नियुक्त हो जाते हैं। मनोरमा चक्रधर से प्रेम
करने लगती है। उधर चक्रधर किसी कार्य से ग्रागरा जाते हैं, जहाँ ग्रहिल्या नामक
युवती उनकी ग्रोर ग्राकपित होती है। उनका ग्रभिभावक यशोदा-नन्दन चक्रधर का
विवाह ग्रहिल्या से निश्चित कर लेता है। ग्रागे चलकर दोनों का विवाह हो जाता है।
ग्रीर उनके एक पुत्र होता है जिसका नाम शंखधर रखा गया। मनोरमा की बीमारी का
तार पाकर चक्रधर ग्रपने पुत्र व पत्नी के सहित उसके पास पहुँचते हैं। चक्रधर के ग्राने
से मनोरमा स्वस्थ होने लगती है।

चक्रधर की पत्नी ग्रहित्या वस्तुतः जगदी अपुर के राजा की ही लड़की थी, जो बचपन में खो गई थी, इस तथ्य का प्रमाण मिलने पर ग्रहित्या को राज्य का भाग प्राप्त हो गया। किन्तु राज्य-प्राप्ति के ग्रनन्तर ग्रहित्या ग्रपने पित ग्रीर पुत्र की उपेक्षा करने

लगी। अन्त में अहिल्या की मृत्यु हो जाती है।

दूसरी कहानी जगदीशपुर की महारानी देवप्रिया से सम्बन्ध रखती है। उसका विवाह महेन्द्रसिंह से हुग्रा था, किन्तु विवाह की प्रथम रात्रि में ही उनका देहान्त हो जाता है। ग्रगले जन्म में वे ही विक्रमिंह के रूप में ग्रवतरित हुए ग्रौर महारानी देव-प्रिया से मिले, किन्तु उनका पुनः देहावसान हो गया। इसके ग्रनन्तर वे शंखधर के रूप में ग्रवतरित हुए ग्रौर चिर-संगिनी देवप्रिया से मिले। इस प्रकार यह उपन्यास ग्रनेक ग्रलौकिक ग्रौर ग्रस्वाभाविक घटनाग्रों से परिपूर्ण है। इसमें ग्रांशिक रूप से हिन्दू-मुस्लिम दंगों की समस्या का चित्रण हुग्रा है। यदि लेखक को पुनर्जन्म की गुत्थी सुलभाने का श्रौक न होता तो यह उपन्यास भाव, भाषा एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सफल रचना सिद्ध हो सकता था, किन्तु ग्राघ्यात्मिक चमत्कारों ने इसके वैभव को श्रोहोन कर दिया है।

(७) गवन—इसमें एक मघ्यवर्गीय परिवार की परिस्थितियों का चित्रण यथार्थवादी शैली में हुआ है। रामनाथ एक म्युनिसिपल आफिस का कमंचारी है। उसका
विवाह जालपा से हुआ था। अपनी पत्नी की आभूषण-प्रियता को तुष्ट करने के लिए
रामनाथ सरकारी रकम गवन करके उसे चंद्रहार बनवा देता है। आगे चलकर गिरफ्तारी
के भय से वह कलकत्ता भाग जाता है, किन्तु किसी अन्य कारण से वहाँ गिरफ्तार हो
जाता है। अन्त में जालपा की सहायता से वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इसमें
स्त्रियों के आभूषण-प्रेम एवं मध्यवर्गीय पृष्ठ्यों के मिथ्या आत्म-प्रदर्शन का दुष्परिणाम
दिखाया गया है। डाँ० रामरतन भटनागर के शब्दों में—"समाज के सच भूठ के मान,
उसके दिखाव की भावना, उसकी न्याय-भावना का खोखलापन, उसके प्रेम और ईश्वरविश्वास की खिल्ली जैसी इस खुक्क सिंहिसी की सिंही अद्भावता दुर्लंभ है।"

(द) निर्मला—इस छोटे से उपन्यास में दहेज प्रथा एवं ग्रनमेल निवाह की समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। निर्मला की विधवा मौ दहेज देने में श्रसमर्थ होने के कारण उसका विवाह ग्रघेड़ ग्रवस्था के एक विधुर तोताराम से कर देती है। तोता-राम की पहली पत्नी से तीन संतानें थीं तथा उनका सबसे बड़ा लड़का निर्मला की भ्राय का था। ग्रतः तोताराम ग्रपने इस बड़े पुत्र ग्रीर निर्मला के सम्बन्ध को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। इस सन्देहशीलता के परिणाम से अन्त में सारा घर चौपट हो जाता है। निर्मला की मृत्यु के साथ-साथ उपन्यास की समाप्ति हो जाती है।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। ग्रादि से ग्रन्त तक वह यथार्थवादी ही रहता है। यहाँ से उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन परिलक्षित होता है।

- (६) कमंभूमि-इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, श्रद्धतोद्धार, किसानों के उत्थान मादि की प्रेरणा दी गई है। इसका नायक ग्रमरकान्त है, जो कि विवाहित होते हुए भी एक मुस्लिम कन्या सकीना से प्रेम करता है। ग्रागे चलकर वह देश-सेवा के कार्य में लग जाता है और सकीना को भी इसकी प्रेरणा देता है। पीड़ितों, दलितों एवं श्रछ्तों के हित के लिए वह कई यातनाएँ भुगतता है। वह एक बार किसानों के म्रान्दोलन का नेतृत्व करता है। फलस्वरूप जेल चला जाता है। ग्रमरकान्त के प्रभाव से उसका मित्र सलीम, जो कि ग्राई० सी० एस० होकर उस जिले का ग्रधिकारी वन चुका था, सरकारी सर्विस छोड़कर किसानों की सेवा में लग गया। अन्त में किसानों का आन्दोलन सफल हो गया। गवर्नर ने पाँच व्यक्तियों की कमेटी नियुक्त कर दी, जिसमें ग्रमरकान्त श्रौर सलीम भी सम्मिलत थे। इस कमेटी को किसानों की माँगों के सम्बन्ध में निर्णय करने का ग्रधिकार दे दिया गया। वस्तुतः इस उपन्यास में तत्कालीन ग्रान्दोलन की प्रति-• च्छाया स्पष्ट रूप में ग्रंकित हुई है।
- (१०) गोदान-प्रेमचन्दजी का भ्रन्तिम उपन्यास 'गोदान' है, जो उनकी सर्व-श्रेष्ठ रचना है। इसका नायक होरी है, जो कि भारतीय किसानों का प्रतिनिधि है। उसका पुत्र गोबर भारतीय मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता है। होरी जीवन के आरम्भ से लेकर अपनी अन्तिम श्वास तक भरपूर मेहनत करता है, किन्तु फिर भी वह अपने बच्चों को पेट-भर रोटी नहीं खिला सकता। जमींदार, महाजन, पटवारी, पुजारी, पुरो-हित, पुलिसवाले आदि-आदि किस प्रकार किसानों के पसीने की कमाई को हड़प कर जाते हैं, इसका सजीव चित्रण होरी की जीवन-गाथा में हुम्रा है। उसके जीवन की एक छोटी-सी श्राकांक्षा है-श्रपने द्वार पर गी बाँघना। इस श्राकांक्षा की पूर्ति के लिए वह छल और वल दोनों का प्रयोग करता है, किन्तु वह उसे कभी पूरी नहीं कर पाता। मृत्यु के भ्रनन्तर भी यही भ्राकांक्षा 'गोदान'—ब्राह्मण को गोदान—के रूप में उपस्थित होती है। ग्रभागे होरी को वैतरणी पार करने के लिए सवा रुपये की कृत्रिम गौ प्राप्त होती है।

'गोदान' में शोषित वर्ग के जीवन की समस्याओं का चित्रण मार्मिक रूप में किया गया है, किन्तु पूर्ववर्ती ज्वान्यासों की भाति भाति किसमाने कोई समाधान प्रस्तुत

करने का प्रयत्न नहीं किया है। इसका नायक भी ग्रावर्श महामानव न होकर एक साधारण किसान है, जिसके व्यक्तित्व ग्रीर चित्र में ग्रनेक दुर्वलताएँ विद्यमान हैं। ग्रस्तु, गोदान में प्रो॰ मेहता के चित्र को छोड़कर शेष पात्रों के चित्रण में प्रायः यथार्थ-वादी दृष्टिकोण को ही प्रमुखता मिली है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का दूसरा परिणाम यह है कि उपन्यास की परिणित दुखपूर्ण स्थिति में हुई है। जहाँ पूर्ववर्ती उपन्यासों में जन-ग्रान्दोलनों की ग्रन्त में सफलता दिखाई गई है, वहाँ 'गोदान' के मजदूरों की (खन्ना के मिल में काम करनेवाले) प्रजीपित के विरुद्ध संघर्ष में पराजय होती है। ग्रस्तु, 'गोदान' का लेखक 'ग्रादर्शोन्मुख यथार्थवादी' के स्थान पर शुद्ध यथार्थवादी रह गया है—हाँ, नग्न यथार्थवादिता से वह ग्रवश्य दूर है।

'गोदान' समाजवादी रचना है या गांधीवादी ? इस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। 'गोदान' के समस्त पात्र दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं— शोषक एवं शोषित। प्रायः सभी शोषित वर्ग के पात्रों के प्रति लेखक की सहानुभूति है। उसने श्रमिक वर्ग के ग्रधिकारों की वकालत स्थान-स्थान पर की है। किसान-मजदूरों की मेहनत पर पलनेवाले जमीदारों, सूदखोर, महाजनों, पण्डे व पुजारियों तथा मिल-मालिकों के जीवन की ग्रालोचना प्रेमचन्दजी ने इस रचना में उसी कटुता से की है, जिस कटुता से कोई साम्यवादी या समाजवादी लेखक कर सकता है। गांधीवाद साधनों—सत्याग्रह एवं जन-ग्रांदोलनों की सफलता में भी उन्हें ग्रव विश्वास नहीं रहा है, ग्रतः ऐसी स्थिति में इसे 'समाजवादी' रचना मान लेना सम्भव है। किन्तु गांधीवाद के कुछ चिन्ह ग्रव भी ग्रविषट हैं। मि॰ मेहता की उदारता ग्रीर उनके प्रभाव से मिस मालती का हृदय-परिवर्तन गांधीवादिता का ही प्रमाण है।

यद्यपि 'गोदान' में कुछ दोष ढूँढे जा सकते हैं, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह एक उत्कृष्ट रचना है। यदि उसे भ्रपने युग का सर्वोत्कृष्ट हिन्दी उपन्यास भी कह

दें तो अत्यक्ति नहीं होगी।

वस्तुतः प्रेमचन्दजी का उपन्यास-साहित्य ध्रपने युग की परिस्थितयों एवं उसकी समस्याभ्रों का सच्चा दर्ण है। भ्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"ध्रगर भ्राप उत्तर भारत की समस्त जनता के भ्राचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, भ्राशा-ध्राकांक्षा, दुःख-सुख भ्रौर सूभ-बूभ जानना चाहते हैं तो प्रेमचन्दजी से उत्तम परिचायक भ्रापको नहीं मिल सकता। भ्रोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचेवालों से लेकर बैक्कों तक, गाँव से लेकर घारा-सभाभ्रों तक, भ्रापको इतने कौशलपूर्वक भ्रौर प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। भ्राप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़कर मेंड़ों पर गाते हुए किसान को, भ्रन्तःपुर में मान किए बैठी प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वार-विता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्या-परायण प्रोफेसरों को, दुर्बल-हृदय बैक्करों को, साहस-परायणा चमारिन को, ढोंगी पंडितों को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय भ्रमीर को देख सकते हैं भौर निश्चन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ भ्रापने देखा है, वह गलत नहीं है।" (हिन्दी-साहित्य: पु० ४३५) कि

कुछ आलोचक प्रेमचन्दजी की तुलना बँगला के रवीन्द्र भीर शरत् से करते हुए उन्हें कुछ हीन सिद्ध करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भावों की मामिकता एवं कला की सूक्ष्मता की दृष्टि से प्रेमचन्द इनसे जरा पीछे हैं, किन्तु भारतीयता का जैसा व्यापक स्वरूप, अपने राष्ट्र की समस्याओं का जैसा गम्भीर चित्रण व अपने युग का जैसा सच्चा इतिहास प्रेमचन्द में मिलता है, वह रिव भीर शरत् में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। जहाँ शंगाली लेखकों की दृष्टि बंगाली समाज तक ही सीमित रही है, वहाँ प्रेमचन्द ने भारत की कोटि-कोटि जनता को एकता का सन्देश दिया है। "वस्तुतः बंग-साहित्य और प्रेमचन्द-साहित्य में वही भ्रन्तर है, जो सूर-साहित्य भीर तुलसी-साहित्य में है। एक में जीवन के कुछ चूने हुए सरस पक्षों का ही दिग्दर्शन है और दूसरे में सम्पूर्ण बीवन का।"

: तिरसठ:

परम्परा और युग-धर्म के संयोजकः मैथिलीशरण गुप्त

- १. विकासवाद के नियम में परम्परा ग्रीर युग-धर्म का स्थान।
- २. श्राधुनिक युग की समस्या।
- ३. वैष्णव-परम्परा से सम्बन्धित काव्य ।
- ४. अन्य परम्पराएँ।
- ५. सांस्कृतिक परम्पराग्रों के पुनराख्याता।
- ६. मूल्यांकन।

विकासवाद के नियमों के ग्रनुसार किसी भी समाज, राष्ट्र या भौतिक सत्ता का विकास परम्परा और युग-धर्म के पारस्परिक संयोजन एवं संश्लेषण से होता है; जिस प्रकार एक वृक्ष के ग्राविर्भाव एवं विकास के लिए परम्परा रूपी वीज एवं युग-धर्म की जलवायु अपेक्षित है, वैसे ही समाज और राष्ट्र के विकास के लिए इन दोनों—परम्परा भीर युग-धर्म-का समन्वय भ्रपेक्षित है। जब-जब हमारी परम्पराएँ युग-धर्म के भ्रनु-कूल होती हैं तो वे सहज गित से विकासोन्मुख रहती हैं तथा उनके साथ-साथ समाज का भी विकास होता रहता है, किन्तु जब इन दोनों में समय के प्रभाव से प्रतिकृलता स्रा जाती है तो समाज के विकास की गति भवरुद्ध हो जाती है। ऐसे समय में कोई महान् पुरुष भ्रवतरित होता है, जो परम्परा को नया रूप प्रदान करके उन्हें युग-धर्म के भ्रनुकूल बनाता है। महापुरुष, महान् चिन्तक ग्रीर महाकवि परम्परा ग्रीर युग-धर्म के बीच की लाई को पाटते हुए भ्रपने युग, समाज भीर राष्ट्र को कोई नई गति प्रदान करते हैं— इसी लिए उन्हें युगावतार कहा जाता है। हमारे विचार से आधुनिक भारत में धर्म के क्षेत्र में विवेकानन्द, दयानन्द ग्रीर श्ररविन्द ने, राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी ने तथा साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु, रवीन्द्र भौर मैथिलीशरण गुप्त ने परम्पराम्रों भौर युग-वर्म के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए युगावतार का कार्य किया। यहाँ कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य पर विशेष रूप से विचार करते हुए उपर्युक्त मान्यता को संतुष्ट एवं स्पष्ट किया जाता है।

१. मैथिलोशरण गुप्त (१८८७-१६६४ ई०) के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ ये हैं—'रंग में भंग' (१६०६), 'जयद्रथ वघ' (१६१०), 'भारत-भारती' (१६१२), 'किसान' (१६१७), 'शकुन्तला' (१६२३), 'पंचवटी' (१६२५), 'अनघ' (१६२५), 'हिन्दू' (१६२७), 'ज्ञिपयगा' (१६२६), 'शक्ति' (१६२८), 'गृरकुल' (१६२६), 'विकट भट' (१६२६), 'साकेत' (१६३२), 'यशोधरा (१६३३), 'अद्वापर' (१६३६), 'सिद्धराज'

विवेच्य विषय पर भ्राने से पूर्व हमें दो बातें भली भाँति स्पष्ट कर लेनी चाहिए -(१) मैथिलीशरण गुप्त के समय हमारी परम्पराध्रों का स्वरूप भीर उनकी स्थिति क्या थी, (२) उस समय की परिस्थितियाँ (युग-धर्म) क्या थीं। यदि आधुनिक युग से त्तनिक पीछे हटते हुए हम मध्यकालीन भारत की स्थिति पर परम्पराग्रों की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि वह युग भावात्मकता का युग था। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से भारत के राजनीतिक पतन के साथ-साथ मानसिक पतन भी ग्रारम्भ हो गया था ग्रीर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय समाज-शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, तक-बुद्धि एवं बौद्धिकता से प्रायः शून्य हो गया था और उसका स्थान भावात्मकता ने ग्रहण कर लिया था। ऐसी स्थिति में हमारे सन्तों ने ग्रपनी तर्क-पूर्ण विचारधारा द्वारा भारत की बौद्धिक चेतना को जगाने का प्रयास किया, किन्तु इसमें उन्हें स्थायी सफलता नहीं मिल सकी । इसके विपरीत भक्तकवियों ने युग-मानस के अनुकूल धर्म, दर्शन और सदाचार को एक ऐसा रूप प्रदान किया, जिसे भावात्मक कहा जा सकता है। जिसे 'भक्ति-आन्दोलन' कहा जाता है, वह बौद्धिकता के स्थान पर भावात्मकता की प्रतिष्ठा का म्रान्दोलन था। इस म्रान्दोलन के द्वारा इतिहास, पुराण, दर्शन, धर्म, नीति, सदा-चार आदि सभी को भावात्मकता के रंग में रैंग दिया गया । ग्राधुनिक दृष्टि से इस भावा-त्मकता को प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता, किन्तु उस युग की परिस्थितियों को देखते हुए इसी की भावश्यकता थी। कारण यह है कि एक तो उस युग में बौद्धिकता ग्राह्म नहीं थी और दूसरे बौद्धिकता में विघर्मी शासकों के भ्रत्याचारों को सहने, उनसे संघर्ष करने एवं ग्रात्म-त्याग, विलदान करने की वैसी क्षमता नहीं होती, जैसी कि भावा-त्मकता में होती है। ग्रस्तु, यहाँ ग्रधिक विस्तार में न पड़कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मध्यकाल में भक्तकवियों ने हमारी समस्त परम्पराभ्रों को युग की भ्रावश्यक-ताओं के अनुरूप भावात्मक रूप प्रदान करके अपने युग और समाज को नई शक्ति और नई गति प्रदान की —भारतीय समाज भ्रौर संस्कृति को यह उनकी सबसे बड़ी देन मानी जा सकती है।

ग्राघुनिक युग की ग्रावश्यकताएँ मध्य-युग के विपरीत थीं। यह युग भावात्म-कता का नहीं—बौद्धिकता का है। ग्रतः ग्रब ग्रावश्यकता इस बात की थी कि जिन परम्पराग्नों को पहले भावात्मक रूप प्रदान किया गया, ग्रब उन्हें, वौद्धिक रूप दिया जाए, ग्रन्थया उनका लोप हो जाना संभव था। संभवतः कुछ लोग, जो नूतनता के ग्रन्थ-भक्त हैं, परम्पराग्नों को नया रूप देने की ग्रपेक्षा नई प्रवृत्तियों को ग्रपनाना ग्रधिक उचित समर्भें, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा सोचना ठीक नहीं। किसी भी समाज ग्रीर राष्ट्र के लिए परम्पराग्नों से विच्छिन्न होना वैसा ही है, जैसा कि वृक्ष का जड़ से कटकर ग्रलग हो जाना है। केवल फूल ग्रीर फल की ग्राकांक्षा रखनेवाला परम्परा रूपी जड़ को ग्रनावश्यक घोषित करता हुग्रा उसे काट फेंक देने की बात सोच सकता है, किन्तु (१६४०), 'ग्रुणाल गीत' (१६४२), 'काबा ग्रीर कवंला' (१६४२), 'पृथिवी पुत्र' (१६४०), 'प्रदक्षिणा' (१६४०), 'जय भारत' (१६४२), विष्णुप्रिया' (१६५०)।

ऐसा करना दुस्साहस ही सिद्ध होगा। हमारा समस्त भौतिक जीवन जिस प्रकार सूक्ष्म मन के क्रिया-व्यापारों से चालित होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म मन के भी ग्रनेक स्तर हैं, जिन्हें स्थूल रूप से चेतन ग्रीर ग्रचेतन कहा जा सकता है। हमारा सीधा सम्बन्ध चेतन मन से हैं, किन्तु चेतन मन की सारी शक्ति ग्रचेतन मन में निहित है। वस्तुतः ग्रचेतन चेतन से हजारों गुना शक्तिशाली है। जहाँ चेतन मन के पास केवल नव ग्रजित ज्ञान है, वहाँ ग्रचेतन के पास ग्रतीत की परम्पराग्रों के वे संस्कार सुरक्षित हैं, जिनके ग्रजिन में मनुष्य को करोड़ों वर्ष की यात्रा करनी पड़ी। हमारा कोई भी नया ज्ञान या विचार तब तक प्रवृत्ति ग्रौर भावना का रूप धारण नहीं कर पाता, जब तक कि वह ग्रचेतन की परम्पराग्रों से ग्रपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेता। ग्रतः व्यक्ति, समाज ग्रौर राष्ट्र को गति प्रदान करने के लिए परम्पराग्रों की थाती को सँभाले रखना ग्रत्यन्त ग्रावश्यक है, ग्रन्थथा हमारी स्थिति वैसी ही हो जाएगी जैसी कि कोई व्यक्ति एक नई चमकती हुई चवन्नी के लिए—ग्रपने पूर्वजों की समस्त स्वर्ण-मुद्राग्रों को ग्राज के ग्रुग में ग्रुप्रचलित मानकर—सौंप दे।

श्रस्तु, श्राधुनिक युग की समस्या का समाधान परम्पराश्रों से मुक्ति पाने में नहीं श्रिपतु उन्हें युग-धर्म के श्रनुरूप नया रूप प्रदान करने में निहित था। जिन परम्पराश्रों पर मध्यकाल में भावुकतो का मुलम्मा चढ़ चुका था, उसे उतारकर श्रव बौद्धिकता का रंग प्रदान करना वांछनीय था, पुराने सत्य को ग्रव नई भाषा में प्रस्तुत करना था। इस लक्ष्य की ग्रांशिक पूर्ति विभिन्न क्षेत्रों में विवेकानन्द से गांधी तक विभिन्न महापुरुषों द्वारा हो चुकी थी। उनके द्वारा सत्य का ग्रनुवाद नई भाषा में हो चुका था, किन्तु वह भाषा दर्शन की थी, उसकी शैली गद्य की थी, श्रतः लोक-हृदय में उसकी प्रतिष्ठा भली-मांति नहीं हो पाई थी। विचारक, दार्शनिक ग्रीर राष्ट्र-नेता की वाणी को जब तक काव्य का ग्रावरण प्राप्त नहीं होता, तब तक वह हमारे चारों ग्रोर गूंजती हुई भी हृदय की गहराई तक नहीं पहुँच पाती। वीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरणों में यह कार्य हिन्दी में मुख्यतः मैथिलीशरण गुप्त द्वारा सम्पन्न हुग्रा, इसीलिए उन्हें 'राष्ट्रकवि' के पद से भूषित किया जाता है।

प्राज के बीदिक वातावरण में हम धार्मिकता को प्रपना भ्रादर्श बताने में,
रामायण-महाभारत को भ्रपनी भ्रास्था का भ्राधार मानने में भ्रौर इतिहास-पुराण के
प्रात्मविलदानी पात्रों को भ्रपना भ्रेरणा-स्रोत स्वीकार करने में भले ही संकोच करें,
भ्रात्मविलदानी पात्रों को भ्रपना भ्रेरणा-स्रोत स्वीकार करने में भले ही संकोच करें,
भ्रात्मविलदानी पात्रों को भ्रपना भ्रेरणा-स्रोत स्वीकार करने में भले ही संकोच करें,
भ्रात्म की बहुसंख्यक जनता के हृदय में भ्राज भी रामायण-महाभारत की कथा
भीर राम-कृष्ण का चरित जिस गहराई से भ्रंकित है, उस गहराई से कोई भ्रौर कथा
भीर पात्र नहीं है। पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा बहु-प्रशंसित भ्रशोक, चाणक्य, भ्रकवर
भादि की महानता को हमारी बुद्धि स्वीकार करती है, किन्तु हमारे हृदय की प्रवृत्ति
भावित का उच्चावेग उस भ्रोर नहीं है। हमारे लोक-हृदय की तन्त्री को मंकृत
एवं भावना का उच्चावेग उस भ्रोर नहीं है। हमारे लोक-हृदय की तन्त्री को मंकृत
एवं भावना का उच्चावेग उस भ्रोर नहीं है। हमारे लोक-हृदय की तन्त्री को मंकृत
कर देने की जो क्षमता राम-कृष्ण की लीलाओं में है, वह किसी भ्रन्य गाथा में नहीं है।
इसलिए भारत का प्रत्येक महाकवि भले ही वह संस्कृत का वाल्मीकि हो, भ्रपभ्रं भ का
इसलिए भारत का प्रत्येक महाकवि भले ही वह संस्कृत का वाल्मीकि हो, भ्रपभ्रं भ का
इसलिए भारत का प्रत्येक महाकवि भले ही वह संस्कृत का वाल्मीकि हो, भ्रपभ्रं भ का

चाना चाहता है, तो वह राम-कृष्ण की ही गाथा का श्राश्रय लेता है। यही वात मैथिलीशरण गुप्त पर भी लागू होती है। वे चाहते तो शायद नई कथाओं भ्रौर नए पात्रों की अवतारणा कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनके काव्य-प्रन्थ (कुछ प्रपवादों को छोड़कर) रामायण-महाभारत पर ही श्राधारित हैं। उन्होंने राम, भरत, लक्ष्मण, कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, ध्रभिमन्यु, द्रीपदी, शकुन्तला, सीता ध्रादि उन्हीं पात्रों की कहानी को पुन: कहा है, जिनका कथा पहले कई बार कही जा चुकी थी। धनश्य ही इस दृष्टि से उन पर मौलिकता के अभाव का आक्षेप लगाया जा सकता है, उन पर ही नहीं - यह ग्राक्षेप सूर-तुलसो पर भी लगाया जा सकता है, किन्तु हम जानते हैं, इन कवियों का लक्ष्य मौलिकता नहीं, कुछ ग्रौर था, ग्रौर उस लक्ष्य की पूर्ति इन पुराने कथानकों द्वारा ही संभव थी, ग्रतः इस ग्राक्षेप का कोई महत्व नहीं है। एक चिकित्सक ग्रर्द्ध-मृत शिशु के वदले नए शिशु की व्यवस्था कर सकता है, किन्तु उसकी सफलता इसमें नहीं समभी जाती, उसकी सफलता मरणोन्म्ख शिशु को ही नया जीवन प्रदान करने में है। सूर, तुलमी, गुप्त भी ग्रपने युग के सफल चिकित्सक थे, उन्होंने सर्वथा नूतन की प्रतिष्ठा करने के स्थान पर परम्परागत तत्वों को ही नया जीवन प्रदान करने में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया और यही श्रेयस्कर भी था।

ध्रस्तु, मैथिलीशरण गुप्त ने सबसे पहला कार्यं उन समस्त ऐतिहासिक-पौराणिक पात्रों को नया रूप देने का किया, जो कि भारत की गौरवपूर्ण परम्पराग्नों के प्रतिनिधि ये तथा जिनका भारतीय लोक-मानस में गहरा स्थान था। गुप्तजी के काव्य में किन-किन धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराग्रों का प्रतिनिधित्व विद्यमान है, इसे स्पष्ट करने के लिए उनके ग्रन्थों की एक वर्गीकृत तालिका यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत की जाती है-

- १. वैष्णव परम्परा से सम्वन्धित काव्य-
- (क) रामायण पर ग्राधारित—साकेत, पंचवटी, प्रदक्षिणा ।
- (ख) महाभारत पर म्राश्रित-जयद्रय-वघ, शकुन्तला, सैरन्ध्री, तिलोत्तमा, वन-वैभव, वक-संहार, हिडिम्बा, जयभारत, युद्ध भ्रादि ।
- (ग) भागवत पुराण तथा भ्रन्य पुराणों पर भाश्रित—चन्द्रहास, द्वापर, नहुष, पृथिवीपुत्र ।
- (घ) मध्यकालीन राजपूत-संस्कृति से सम्बन्धित—रंग में भंग, विकटभट, सिद्धराज।
- (ङ) मध्यकालीन भक्त-चरित्र—विष्णुप्रिया।
- २. बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित—यशोधरा।
- ३. शाक्त परम्परा से सम्बन्धित-शक्ति।
- सिक्ख परम्परा से सम्बन्धित—गुरुकुल ।
- ५. मुस्लिम परम्परा से सम्बन्धित-कावा ग्रीर कर्बला।
- ६. भ्राधृनिक व्यक्तियों एवं कार्यक्रमानों हो।।स्यान्त्रनिभक्तान्त्रीलिक (कल्पनाश्चित)

काव्य-भारत-भारती, किसान, ग्रनघ, स्वदेश-संगीत, हिन्दू, मंगलघट, ग्रर्जन-विसर्जन ग्रजित, ग्रंजिल ग्रौर ग्रर्घ्य, राजा-प्रजा ग्रादि ।

उपर्युक्त वर्गीकरण विश्लेषण से भ्रनेक तथ्य भलीभाँति स्पष्ट हो जाते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि गुप्तजी के काव्य में भारत की प्रायः सभी प्रमुख धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराग्रों का प्रतिनिधित्व विद्यमान है। ग्रवश्य ही इनमें वैष्णव-हिन्दू परम्परा को, स्रीर उसमें भी महाभारत को प्रमुखता प्राप्त है, किन्तु वौद्ध, शाक्त, सिवख, मुस्लिम आदि परम्पराओं को भी प्रतिनिधित्व देकर भारत की सांस्कृतिक परम्पराग्रों का ग्रद्यतन विकास प्रस्तुत कर दिया गया है। वैष्णव परम्पराग्रों के ग्रन्तर्गत भी भारतीय इतिहास के प्रायः सभी प्रमुख ग्रध्यायों का दिग्दर्शन करवाया गया है। गुप्तजी स्वयं वैष्णव परम्परा के अनुयायी थे, किन्तु इतर परम्पराग्रों को भी उन्होंने पूर्ण सहृदयता से स्थान प्रदान करते हुए उसी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय दिया है, जो मध्यकाल में तुलसीदास में दृष्टिगोचर होती है। पर तुलसीदास का प्रयास केवल हिन्दू-संस्कृति के ही विभिन्न पक्षों के समन्वय तक सीमित था; जबिक गुष्तजी हिन्दू-विरोधी संस्कृतियों को भी अपनी सहानुभूति प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से मैथिली-शरण गुप्त का दृष्टिकोण तुलसीदास की श्रपेक्षा श्रविक व्यापक सिद्ध होता है, किन्तु इस व्यापकता का श्रीय भ्रांशिक रूप में उस युग-धर्म को है, जिसमें गुप्तजी ने साँस ली। दूसरे, गम्भीरता की दृष्टि से तुलसीदास मैथिलीशरण की भ्रपेक्षा बहुत ग्रागे हैं। तुलसीदास का प्रत्येक शब्द उनकी ग्रात्मानुभूति से ग्रोत-प्रोत है। जहाँ उनकी ग्रात्मा साथ नहीं देती, वहाँ वे इसे नि:संकोच रूप में प्रकट भी कर देते हैं, यथा, निर्गुणवादी सन्तों के लिए वे एक स्थान पर श्रशिष्ट शब्दावली तक का प्रयोग करते हुए लिख देते हैं — 'तुलसी अलखिंह का लखें, राम नामु जपु नीच'। इसके विपरीत मैथिलीशरण गुप्त सबके साथ निर्वाह कर लेते हैं। इस निर्वाह करने में उन्हें कहीं-कहीं ग्रपनी ग्रात्मा की ग्रावाज को भी दवाना पड़ा होगा-ऐसा कहना श्रनुचित नहीं है।

सांस्कृतिक परम्पराग्रों के पुनराख्याता के रूप में यहाँ तुलसीदास ग्रौर मैथिकी शरण गुप्त की तुलना करते समय हमें एक बात ग्रौर न भूल जानी चाहिए। तुलसीदास ने ग्रपने पुनराख्यान में जिस दृष्टि का परिचय दिया, वह उनकी ग्रपनी थी, उन्होंने विभिन्न स्नोतों से सामग्री ग्रहण करते हुए भी ग्रन्त में जो समन्वित रूप उसे प्रदान किया है, वह उनका निजी है, मौलिक है। मध्यकाल में तुलसी के ग्रतिरिक्त ग्रौर भी कई महान् चिन्तक, संत, भक्त ग्रादि हुए, पर फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदास का समन्वयवादी दृष्टिकोण इनमें से किसी से ज्यों का त्यों उधार लिया हुग्रा था: जबिक इसके विपरीत मैथिलीशरण गुप्त के सम्बन्ध में ऐसा नहों कहा जा सकता। धर्म ग्रौर संस्कृति के क्षेत्र में गुप्तजी ने जिस समन्वयवादिता का परिचय दिया, वह बहुत कुछ युग-नेता महात्मा गांधी से प्रभावित या ग्रनुकृत थी। राम-रहीम की एकता का जो सन्देश गांधी द्वारा ग्रन्य क्षेत्रों में गुञ्जित हुग्रा, उसी की प्रतिध्वनि गुप्तजी के काव्य में मिलती है। ग्रस्तु, तुलसी के संदेश में जहाँ उनके ग्रपने चिन्तन-मनन की ध्वनि है, वहाँ गुप्तजी में प्रस्तु, तुलसी के संदेश में जहाँ उनके ग्रपने चिन्तन-मनन की ध्वनि है, वहाँ गुप्तजी में प्रतिध्वनि है—इसी ग्रुप्ति के क्षेत्र में जहाँ उनके ग्रपने चिन्तन-मनन की ध्वनि है, वहाँ गुप्तजी में प्रतिध्वनि है—इसी ग्रुप्ति के क्षेत्र में जहाँ उनके ग्रपने चिन्तन-मनन की ध्वनि है, वहाँ गुप्तजी में प्रतिध्वनि है—इसी ग्रुप्ति के क्षेत्र के प्रतिधिक्ति के स्रोत्व के प्रति वैसी निष्ठा

भीर गम्भीरता नहीं मिलती, जो तुलसी में है। वस्तुतः तुलसीदास श्रपने-ग्रापमें लोक-नायक थे, जबिक मैथिलीशरण गुप्त किसी लोकनायक के सच्चे श्रनुयायी। दोनों की स्थिति का यही श्रन्तर दोनों की व्याख्याओं में प्रतिष्विनत होता है।

गुप्तजी के सामने एक समस्या और थी, जो तुलसी के सामने प्रायः नहीं थी, वह यह कि गुप्तजी के समय पूर्व-परम्पराधों और युग-धर्म में बहुत बड़ा विरोध उपस्थित हो गया था—दोनों के बीच की खाई बहुत ग्रधिक चौड़ो हो गई थी, जबिक तुलसी के सामने ऐसा नहीं था। तुलसी का कार्य एक ही दिशा की थ्रोर प्रवहमान विभिन्न परम्पराधों में संगति विठाते हुए उन्हें भावात्मक रूप प्रदान करने का था, जबिक गुप्तजी का लक्ष्य परस्पर विरोधी परम्पराधों में समन्वय स्थापित करने के साथ-साथ उन्हें नई दिशा—भावात्मकता से बौद्धिकता की दिशा—में ग्रग्रसर करने का था, ग्रतः निःसन्देह गुप्तजी का कार्य ग्रधिक कठिन था। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही गुप्तजी की कठिनाइयों धौर उनकी उपलब्धियों के महत्त्व को समभा जा सकता है।

उपर्यक्त दृष्टि से मुल्यांकन करने के लिए गुप्तजी के द्वारा गृहीत प्रत्येक परम्परा पर अलग-अलग विचार करना ठीक होगा। सर्वप्रथम वैष्णव-परम्परा को लीजिए। इसमें उन्होंने मुख्यतः रामायण, महाभारत, पुराणादि को ग्राधार बनाया, पर यह श्राधार ही बीसवीं शताब्दी के लिए सन्देहास्पद हो गया था। पौराणिक इतिवृत्त, दैवी माख्यान, मलौकिक कार्य-व्यापार, भवतारवाद भादि पर इस युग के वौद्धिकतापरक श्रान्दोलनों द्वारा प्रश्नवाचक चिह्न लगाया जा चुका था। पर फिर भी भारतीय हृदय से रामायण, महाभारत एवं पुराण निष्कासित नहीं हुए थे, पर जो हमारे हृदय में था, उसी पर हमारा मस्तिष्क धविश्वास करने लगा था। गुप्तजी ने ग्रपने काव्यों में इस समस्यामूलक स्थिति का समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने पौराणिक श्राख्यानों के श्रति-प्राकृत एवं ग्रलौकिक तत्त्वों की तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्हें एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो भ्राज के पाठक को स्वीकार्य हो सके । परम्परागत भ्रवतारों भीर देवी पात्रों को भी उन्होंने मानवीय भौदात्य के गुणों से विभूषित किया जिससे वे हमारे कौतूहल-ग्राश्चर्य के ग्रालम्बन न रहकर श्रद्धा के पात्र बन सकें। इसी प्रकार उनके क्रिया-कलापों भ्रौर विचारों की भी उन्होंने ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की, जो भ्राधुनिक युग के नैतिक मूल्यों के अनुरूप सिद्ध हो। मध्यकालीन इतिहास के राजपूत वीरों के शौर्य्य का चित्रण करते समय भी उन्होंने उसे ग्रात्म-गौरव, स्वाभिमान, ग्रात्म-त्याग ग्रौर बिलदान की भावनाओं से मण्डित किया, भ्रन्य कितपय इतिहासकारों की भाँति उन्होंने उसे केवल मिथ्याभिमान, दुराग्रह एवं हठवादिता के परिणाम के रूप में ग्रहण नहीं किया। राजपूतों के आत्म-सम्मान की संकीर्ण भावना को गुप्तजी ने व्यापक रूप में प्रस्तुत किया । ग्रस्तु; रामायण, महाभारत, पुराण, इतिहास ग्रादि के पात्रों को गुप्तजी ने एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो परम्परा से बहुत भिन्न न होते हुए भी युग-धर्म के धनुकुल सिद्ध होता है।

बौद्ध, शाक्त, सिक्ख, मुस्लिम ग्रादि परम्पराग्रों के चित्रण में भी गुप्तजी ने व्यापक मानवता एवं चरित्रिक भौदात्य की ही ग्रिपना दृष्टि-केन्द्र रखा है। किसी भी धर्म

से सम्बन्धित चाहे कोई भी भवतार, पैगम्बर, गुरु या नेता हो, वह श्रद्धेय एवं पूज्य है, यदि उसने लोकहित के लिए कोई कार्य किया है या मानवता का कोई ऊँचा आदर्श उसने प्रस्तुत किया है । साम्प्रदायिकता की संकीर्णता या वर्ग-भेद के क्षुद्र भाव गुप्तजी के मार्ग में वाधक नहीं बनते । वृद्धि ग्रतिशयोक्तियों एवं ग्रलौकिकताग्रों से प्रभावित नहीं होती-वह गुणों की शुद्ध परख, नापतौल एवं महत्त्व के वास्तविक बोघ से घाह्नादित होती है। म्राज के बौद्धिक युग को प्रभावित, प्रेरित एवं तरंगित करने के लिए भी इन्हीं गुणों की अपेक्षा है । मैथिलीशरण गुप्त ने इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति की सभी गौरवपूर्ण परम्पराम्रों का पुनराख्यान नई भाषा और नयी शैली में किया—उन्होंने अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता की, ग्रत्युक्ति के स्थान पर स्वाभाविकता की, दिव्यता के स्थान पर मानवी-यता की, चमत्कार के स्थान पर भ्रौदात्य की प्रतिष्ठा करते हुए परम्परा भ्रौर युग-धर्म के वीच समन्वय स्थापित किया। युग-धर्म के समन्वय के प्रभाव में परम्पराएँ जड़ हो गई होतीं तो परम्पराश्रों के प्रभाव में युग-धर्म खोखला रहता—गुप्तजी ने दोनों के बीच संगति बिठाकर जो महान् कार्य किया है, उसका महत्त्व हम भविष्य में ही समक्ष सर्केंगे। माज हमारी स्थिति उस कटी हुई पतंग की माँति है, जो युग-धर्म की हवा में बहुत ऊँचाई पर उड़ती हुई परम्परा की डोरी से मुक्त हो जाने के आनन्द से विह्वल है, पर ग्रानेवाला कल ग्रवश्य यही हमें इस तथ्य का बोध कराएगा कि परम्पराग्रों से विच्छित्र होकर प्राप्त की गई यह ऊँचाई, मुक्ति स्रौर प्रगति स्थायी नहीं है। हमारा विश्वास है कि भ्रानेवाले कल की यह स्थिति ही मैथिलीशरण गुप्त की महान् सांस्कृतिक देन के महत्त्व का सम्यक् बोध करा पाएगी।

ः चौंसठ ::

प्रसाद की काव्य-साधना

- १. भूमिका (पूर्ववर्ती भ्रवस्था)।
- २. प्रसाद की काव्य-कला का क्रमिक विकास—(क) चित्राधार, (ख) प्रेम-पथिक, (ग) महाराणा का महत्त्व, (घ) कानन-कुसुम, (ङ) भरना, (च) ग्राँसू, (छ) लहर, (ज) कामायनी।
- ३. प्रसाद-काव्य की प्रवृत्तियाँ।
- ४. प्रसाद का महत्त्व।

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, आन्त-भवन में टिक रहना। किन्तु पहुँचना उस सीमा पर, जिसके श्रागे राह नहीं।।

उपर्युक्त पंक्तियों में महाकवि की उस पवित्र भावना की व्यंजना हुई है, जो व्यंक्ति को सदैव आगे बढ़ने की ओर प्रेरित करती है। अपनी काव्य-साधना के पथ पर वे स्वयं तो निरंतर गतिशील रहे ही, अपने युग के अन्य प्रतिभाशाली युवकों को भी उन्होंने गति प्रदान की। प्रसाद जिस राह पर अग्रसर हुए, वह एक ऐसी राह थी, जिसे उस युग के पथ-प्रदर्शकों ने त्याज्य एवं निषिद्ध घोषित कर दिया था और इसी कारण वह प्रायः अवरुद्ध हो चुकी थी, अतः महाकवि प्रसाद को अपनी काव्य-यात्रा के साथ-साथ उसका मार्ग भी स्वयं ही तैयार करना पड़ा।

प्रसाद का पथ सौन्दर्य धौर प्रेम का पथ था। सौन्दर्याकर्षण धौर प्रेम—दो ऐसे मदिवह्नल गजराज हैं, जो स्वतन्त्र होने पर समाज की चारदीवारियों को तोड़कर उसकी मर्यादा के स्तम्भों को घ्वस्त कर देते हैं, ध्रतः समाज के कर्णधार नैतिकता का श्रंकुश लगाकर इन्हें बरावर सुनियंत्रित रखने का प्रयत्न करते रहे हैं। साहित्य-उपवन में भी उन्मत्त प्रेम धौर नैतिकता की तीक्ष्ण घारा के बीच बरावर संघर्ष होता रहा है। किसी युग में प्रेम नैतिकता के बन्धन को तोड़कर ध्रागे बढ़ जाता है, तो किसी युग में नैतिकता प्रेम को अपने सुदृढ़ बन्धन में बाँधकर रखने में सफल हुई है, किन्तु श्रन्तिम पराजय ध्रभी तक किसी ने स्वीकार नहीं की। जहाँ वैदिक युग की उर्वशी प्रेम के समक्ष सामाजिक मर्यादाश्रों को ठुकरा देती है, वहाँ रामायण का नायक ध्रपने प्रणय-लोक की श्रिषध्ठात्री को भी नैतिकता के रंचमात्र ध्राक्षेप से निर्वासित कर होता है । अधिकात्री को भी नैतिकता के रंचमात्र ध्राक्षेप से निर्वासित कर होता है । अधिकात्री को भी नैतिकता के रंचमात्र ध्राक्षेप से निर्वासित कर होता है । अधिकात्री को भी नैतिकता के रंचमात्र ध्राक्षेप से निर्वासित कर होता है । अधिकात्र नैतिकता का यह

प्रभाव चिर-स्थायी नहीं रह सका; महाभारत-युग में वह पुनः महत्त्वाकांक्षी नरेशों के प्रणय-स्वप्नों से टकराकर क्षत-विक्षत हो गई।

जिस भ्रनार्या शूर्पनखा को ठुकराकर राम ने महायुद्ध स्वीकार किया था, उसी के वंश की हिडिम्बा पर मुग्ध होकर ब्रार्य भीम ने प्राचीन मर्यादाओं का ब्रातिक्रमण कर दिया। सत्यवती, कुन्ती, द्रौपदी ग्रादि के जीवन की भ्रनेक घटनाग्रों में भी सामाजिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक प्रेम का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है । हिन्दी-काव्य के भी विभिन्न युगों में प्रेम ग्रीर नैतिकता का उत्थान-पतन दृष्टिगोचर होता है। जहाँ भक्तिकाल का कवि नैतिकता से अनुप्राणित होकर नारी की छाया से भी दूर भागने का म्रादेश देता है, वहाँ रीति-काल का कवि प्रणय की उपेक्षा करनेवालों को पश-तृत्य घोषित करता है। श्रागे चलकर श्राधुनिक युग के श्रारंभ में पुन: नैतिकता ने प्रेमियों पर विजय प्राप्त कर ली थी-प्रसाद का ग्रागमन भी ऐसे ही समय में हुगा।

श्रस्तु; साहित्य की समस्त प्रवृत्तियाँ मुख्यतः दो प्रकार की विचारधाराग्रों से सम्बन्धित हैं; एक है वैयक्तिकता को महत्त्व देनेवाली और दूसरी सामाजिकता को प्रमुख समभनेवाली । जब साहित्य में वैयक्तिकता का उत्थान होता है, तो ब्रात्मानुभूति भावा-श्मकता, सौन्दर्याकर्पण, प्रणयोन्माद, नवीन प्रयोगों, स्वतन्त्र शैलियों श्रीर मुक्तक रूप का विकास होता है ग्रीर जब सामाजिकता का उत्थान होता है, तो बाह्य विषयों का चित्रण, इतिवृत्तात्मकता, नैतिकता एवं मर्यादा का प्रतिपादन, प्राचीन नियमों का प्रयोग स्रोर प्रवन्ध शैली का प्रचलन होता है। यद्यपि सामाजिक दृष्टि से वैयक्तिकता का उत्थान हित-कर नहीं होता, किन्तु साहित्य में सौन्दर्य श्रौर माधुर्य के नवीन स्रोतों का विकास प्रायः इसी से होता है। जब सामाजिकता काव्य पर इस प्रकार छा जाती है कि उससे वैयक्तिकता का सर्वथा ह्रास हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में वह काव्य काव्य न रहकर नीति-शास्त्र था उपदेशों का संग्रह-मात्र वन जाता है। द्विवेदी-युग में काव्य इसी स्थिति को पहुँचने लगा था। यदि प्रसाद-जैसे व्यक्तित्व ने सुदृढ़तापूर्वक इस ग्रति-सामाजिकता से संघर्ष करके उसे परास्त न किया होता, तो संभव है कि हिन्दी-कविता भ्रव तक कोरे 'समाज-शास्त्र' का रूप धारण कर लेती।

प्रसाद सौन्दर्य ग्रीर प्रेम के किव थे, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे सर्वथा समाज-विरोधी थे। वे साहित्य-क्षेत्र में वैयक्तिकता के संरक्षक उसी सीमा तक थे, जहाँ तक काव्य-सौन्दर्य के लिए उसकी रक्षा अपेक्षित थी, अन्यथा वे सामाजिकता के भी समर्थक थे। यही नहीं, उनके काव्य में वैयक्तिकता के साथ-साथ गौण रूप में सामाजिकता की प्रवृत्ति भी वरावर विकसित होती चली है। जहाँ उनके भावनापूर्ण गीत वैयक्तिकता से सम्बन्धित हैं, वहाँ 'ग्रयोध्या-उद्घार', 'वन-मिलन', 'प्रेम-राज्य', 'महाराणा का महत्त्व' भ्रादि इतिवृत्तात्मक कविताएँ उनकी सामाजिकता की सूचक हैं। उनकी श्रंतिम श्रेष्ठ रचना 'कामायनी' में तो उनकी इन दोनों प्रवृत्तियों में एक उचित समन्वय स्थापित हो गया है। बात यह है कि 'कामायनी के रचना-काल तक द्विवेदी-युगीन सामाजिकता छायावादी वैयक्तिकता के ग्रागे नत-मस्तक हो चुकी थी, ग्रतः प्रसाद ने दोनों का समभौता कटका हेना इसी उर्जित समभा।

काव्य कला का क्रमिक विकास

कहा जाता है कि 'किव का जन्म होता है—निर्माण नहीं'। बाह्य परिस्थितियाँ किव की काव्य-घारा के दिशा-परिवर्तन में तो सहायक हो सकती है, किन्तु काव्य रचना के लिए प्रावश्यक प्रतिभा एवं भावुकता उसमें जन्मजात होती है। प्रसाद भी जन्मजात-किव थे। जीवन के प्रथम प्रभात में ही—ग्रुन्न-प्राशन संस्कार वेला में, ग्रुनेक रंग-विरंगी वस्तुओं में से केवल एक सादी लेखनी को उठाकर ही उन्होंने ग्रुपने भावी रूप का स्पष्ट संकेत कर दिया था। नौ वर्ष की ग्रुवस्था में ही उन्होंने 'कलाधर' उपनाम से ग्रुपन्त सरस ग्रीर मनोहर छंद की रचना की। सत्रह वर्ष की ग्रायु में उनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। थोड़े ही दिनों पश्चात् 'कलाधर' की ज्योति 'इंदु' की किरणों के माध्यम से चारों ग्रीर छिटकने लगी। 'इंदु' में प्रकाशित रचनाएँ ग्रागे चलकर 'चित्राधार' ग्रीर 'कानन कुसुम' के रूप में प्रकट हुईं। उनकी समस्त काव्य रचनाग्रों का काल-क्रमानुसार विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

- १. चित्राधार (रचना काल सन् १६०६-६), २. प्रेम पथिक (सर्वप्रथम ब्रज भाषा में सन् १६०५ में तथा खड़ीबोली में सन् १६१३ में), ३. करुणालय (१६१३), ४. महाराणा का महत्त्व (१६१४), ५. कानन कुसुम (१६१२ व १६१६), ६. भरना (१६२०), ७. प्रेमंसू (१६२५), ८. लहर (१६३१-३२), ६. कामायनी (१६३६)। इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।
- (१) चित्राधार—इसमें प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाएँ, जो कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं, संकलित की गई हैं। इसके प्रथम संस्करण में ज्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली को किवताएँ भी थीं, किन्तु दूसरे संस्करण में केवल ज्रजभाषा की ही किवताएँ रखी गईं। विषय वस्तु की दृष्टि से चित्राधार में ये चार प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—(१) पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषयों का इतिवृत्तात्मक शैली में वर्णन, (२) प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से चित्रण, (३) प्रेमानुभूतियों की व्यंजना और (४) भक्ति-भावना की अभिव्यंजना। प्रथम वर्ग में 'अयोध्या का उद्धार', 'वन मिलन' और 'प्रेम राज्य' शोर्षक किवताएँ आती हैं, जो कि प्रसाद की ऐतिहासिक बुद्धि, पौराणिक रुचि एवं मौलिक कल्पना की द्योतक हैं। प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी किवताओं में मानवीकरण की प्रवृत्ति अपने मूल रूप में प्रकट हैं; देखिए—

यहाँ भ्रालिगनवद्ध तरु भीर लता का चित्रण प्रणयी-युग्म के रूप में हुआ है। 'कल्पना सुख,' 'विदाईं र नीरिज्ञ विश्वभेसे असे असिक्ष किसार्जन किस

भावना का स्फुरण मिलता है। उनका प्रेम कभी विश्व-प्रेम ग्रीर कभी भक्ति-भावना का

रूप घारण करता हुम्रा दृष्टिगोचर होता है।

(२) प्रेम-पथिक-यह काव्य पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था, किन्तु आगे चलकर इसे खड़ी बोली में परिवर्तित कर दिया गया। यह एक छोटा-सा प्रवन्ध-काव्य है जो कि प्रणय-भावनाओं से ग्रोत-प्रोत है। इसकी कथा-वस्तु श्रीधर पाठक द्वारा ग्रनु-वादित 'एकान्तवासी योगो' से मिलती-जुलती है। दोनों में ही प्रेमी-प्रेमिका में से एक भ्राश्रयदाता है श्रीर दूसरा पथिक । दोनों में हो पथिक भ्रपने निराश-प्रेम की कहानी सुनाता है और अन्त में श्रोता कोई श्रौर नहीं, वहो व्यक्ति सिद्ध होता है, जिसके लिए पथिक दुखी है।

इस काव्य का एक-एक शब्द श्रनुभूति से श्रनुप्राणित है, मानो यह लिखा नहीं गया—किव के हृदय से स्वतः ही उच्छ्वसित हुग्रा है। कथा के ग्रारम्भ में ही किव का

हृदय भावोच्छ्वास से उद्देलित हो उठा है-

शुभे ! म्रतीत कथाएँ यद्यपि कष्ट हृदय को देती हैं। तो भी वज्रहृदय कर श्रपना, उसको तुम्हें सुनाता हूँ !!

जब किव की प्रेयसी का विवाह किसी अन्य से हो रहा था तो उसके हृदय की भवस्था भ्रत्यन्त शोकपूर्ण हो गई-इसका मार्मिक रूप में निरूपण देखिए-

"िकन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृतन्त्री-भनकार। जो नौबतलाने में बजती थी ग्रपनी गहरी घुन में।। रूखा शोशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है। कुचला जाना हृदय-कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है।।

भीर भन्त में-भग्न हृदय उस गृह से बिखुड़ा जैसे टूटा फल तरु से।

किव ने प्रेमानुभूतियों की व्यंजना के अनन्तर इस काव्य को दार्शनिकता से बेष्टित करने का प्रयत्न किया है। वह वैयक्तिक प्रेम से विश्व-प्रेम की ग्रोर ग्रग्नसर होने का संदेश देता है-

प्रेम पवित्र पदार्थं न इसमें कहीं कपट की छाया हो। इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे।।

(३) महाराणा का महत्व-इस छोटे-से ऐतिहासिक खण्डकाव्य में महाराणा प्रताप की उदारता का चित्रण किया गया है। एक बार उनकी सेना के लोग एक मुस्लिम रमणी को बन्दी बना लेते हैं। यद्यपि वह रमणी उसी म्रब्दुर्रहीम खानखाना की पत्नी थी, जो उन पर म्राक्रमण करने म्राया था, पर वे उसे सम्मानपूर्वक लौटा देते हैं। इस प्रवन्म की शैली में ग्रोज गुण का विकास मिलता है; देखिए—

घोर ग्रॅंबेरे में उठती जब लहर हो, तुमुल घात-प्रतिघात पवन का हो रहा ! भीमकाय जल-राशि क्षुब्ध हो सामने, कर्णधार रक्षित वृढ़ हृदय सु-नाव को। छोड़, कूदना तिनके का अवलम्ब ले, घोर सिन्धु में, क्या बुधजन का काम है। (४) कानन कुसुमानुवाकितिरहास रें। में सन् १६०६ से १६१७ तक की स्फुट

कविताएँ संकलित हैं। इसकी ग्रधिकांश कविताओं का विषय परम-तत्त्व है, कहीं कवि ग्रपने ग्राराघ्य की प्रार्थना में लीन है, तो कहीं वह उसके 'करुणाकुंज' के वैभव का वर्णन कर रहा है। इनकी 'ग्रीष्म का मध्याह्न', 'नव वसन्त', 'रजनी-गंधा', 'सरोज' ग्रादि कविताओं में प्रकृति का चित्रण भी सुन्दर रूप में हुया है। मानवीकरण के भी धनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। इसके भ्रतिरिक्त 'चित्रकूट', 'श्रीकृष्ण जयन्ती', 'कुरुक्षेत्र', 'बीर-बालक' म्रादि में ऐसे ऐतिहासिक एवं पौराणिक विषयों का निरूपण हम्रा है, जिनसे राष्ट्र के गौरव में अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार इसमें प्रसाद-काव्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास द्ब्टिगोचर होता है।

(५) भरना-'भरना' के गीतों में प्रसाद की भावनाएँ विभिन्न रूपों में विखरी हुई हैं। एक भ्रोर इसमें प्रकृति की मंजुल मनोहर मूर्ति का चित्रण सजीव रूप में हुआ है, तो दूसरी श्रोर वह प्रणय की कोमलतम श्रभिव्यक्ति से भी परिपूर्ण है। साथ ही रहस्या-त्मकता का समावेश भी इसमें खुलकर हुआ है। कवि की विभिन्न उक्तियों में अनुभूति की तरलता विद्यमान है-

> हो जो श्रवकाश तुम्हें घ्यान कभी श्रावे मेरा, महो प्राण प्यारे, तो कठोरता न कीजिए। क्रोध से, विषाद से, दया या पूर्व प्रीति से, किसी भी बहाने से तो याद कीजिए।।

इन पंक्तियों में ग्रिभव्यक्ति की तरलता है, पर सर्वत्र ही ऐसा नहीं हुग्रा है। एदाहरण के लिए 'किरण' में प्रौढ़ छायावादी शैली के कारण थोड़ी जिटलता था गई **ĝ**—

> सुदिन-मणि वलय विभूषित उषा मुन्दरी के कर का संकेत। कर रही हो तुम किसको मधर. किसे दिखलाती प्रेम निकेत।।

इस काव्य को प्रथम छायावादी कृति के रूप में स्वीकार किया गया है।

(६) श्रांसू—'ग्रांसू' एक विरही हदय के सहज-स्वाभाविक उच्छ्वास के रूप में प्रस्तुत है। कथानक की रूप-रेखाएँ उसमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होतीं, किन्तु फिर भी अतीत की स्मृतियों की ग्राभव्यंजना इसमें योजना-बद्ध ढंग से हुई है। ग्रारम्भ में कवि पाठक को सम्बोधित करके—"भ्रवकाश भला है किनको सुनने को करण कथाएँ"—ग्रपनी करुण गाथा सुनाने के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करता है, तदनन्तर वह प्रथम दर्शन से लेकर वियोग तक की अनुभूतियों की व्यंजना स्पष्ट रूप से कर देता है। प्रेम की विभिन्न भाव-दशाग्रों का चित्रण इसमें मार्मिक शब्दों में हुआ है, किन्तु वैदनां की एक हल्की-सी छाया सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। ग्रन्त में कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है-

मादक थीं मोहमयी थी, मन बहलाने की क्रीड़ा। ग्रब हृदय हिली ^{Jacon w}हुवत मधुर प्रम की पीड़ा।।

किन दे इसके दूसरे संस्करण में थोड़ा परिवर्तन व परिवर्द्धन करके इसमें व्यंजित लौकिक प्रेम को ग्राध्यात्मिक प्रेम का रूप दे दिया है, किन्तु फिर भी इसकी लौकिकता के चिह्न पूरी तरह लुम नहीं हुए हैं। किन के 'ग्रालिंगन में ग्राते-ग्राते मुसक्या कर' भाग जाने वाला प्राणी कोई ग्रलौकिक जगत् का न होकर इस घरती का था, इसका ग्राभास उसकी 'ग्रलकों', 'काली ग्रांखों', 'चाँद से मुख' ग्रादि से हो जाता है। ग्राप भी पह-चानिए, निम्नांकित पंक्तियों में किसी नारी का चित्रण है या निर्मुण प्रभु का ?

बांधा या विघु को किसने, इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से।।
काली श्रांखों में कितनो यौवन की मद की लाली।
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।।

भन्त में किव का संदेश है-

सवका निचोड़ लेकर तुम, सूखे से सूखे जीवन में। बरसो प्रभात हिमकन सा ग्रांसू इस विश्व सदन में।।

(७) लहर—'लहर' में 'ग्रांसू' से 'कामायनी' तक की किवताग्रों का संग्रह है। 'लहर' तक ग्राते ग्राते किव ग्रिंघक चिन्तनशील हो गया है। यही कारण है कि इसमें ग्रनुभूति के साथ-साथ चिन्तन की प्रधानता है। प्रो० जयभगवान के शब्दों में, ''इसकी ग्रनुभूति में भी भरना तथा ग्रांसू की ग्रनुभूति से ग्रन्तर है। भरना तथा ग्रांसू की ग्रनुभूति से ग्रन्तर है। भरना तथा ग्रांसू की ग्रनुभूति में योवन का ग्रावेश, ग्रावेग तथा प्रवाह तीव्र है; किन्तु लहर की ग्रनुभूति में ग्रहराई ग्रधिक है इसमें योवन का ग्रावेश, भंभावात तथा हलचल नहीं, बित्क एक शान्ति, गहराई तथा उज्जवलता है। उनके मस्तिष्क में जो पीड़ा घनीभूत होकर छाई हुई थी, उसके 'ग्रांसू' बनकर बरस जाने से मस्तिष्क घुलकर निर्मल हो गया है ग्रीर इसी कारण किव वैयक्तिक धरातल से ऊपर उठकर जीवन तथा जगत् के सम्बन्ध में ग्रधिक गम्भीरता से बिचार करने लगा है।'' पूर्ववर्ती रचनाग्रों की भांति इसमें भी प्रेम, प्रकृति, रहस्य, जीवन-दर्शन ग्रीर ऐतिहासिक-पौराणिक विषयों का निरूपण हुग्रा है। यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्घृत करना ही पर्याप्त होगा—

(क) ग्रतृप्त प्रेम-

चिर तृषित कंठ से तृप्ति विधुर, वह कौन अकिंचन ग्रति ग्रातुर !

+ + + +

ग्रीरे से वह उठता पुकार,
मुक्तको न मिला रे कभी प्यार !

(ख) विरहानुभूति—

मिला कहाँ वह सुख जिसका स्वप्त देखकर जाग गया। प्राल्मिनः में प्राते आसे असुसहस्राट्स्टर, जो वास्तुग गया।।

(ग) प्रकृति का मानवीकरण-

ग्रन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला। ग्ररे खुली भी नहीं ग्रभी तो प्राची की मधुशाला।।

वस्तुतः 'लहर' की रचनाएँ—क्या भाव, क्या विचार श्रौर क्या शैली—सभी दृष्टिकोणों से प्रौढ़ हैं।

(८) कामायनी-प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ रचना 'कामायनी' मानी जाती है। यह एक प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें भ्रादिपुरुष मनु की जीवन-गाथा वर्णित है। इसका कथानक ग्रत्यन्त संक्षिप्त-सा है, उसमें बहुत थोड़ी घटनाओं का समावेश है : मनु ग्रीर श्रद्धा के मिलन और वियोग, पुनर्मिलन और पुनर्वियोग, तथा मनु और इड़ा के मिलन की साधारण-सी घटनाओं में ही कामायनी का सारा इतिवृत्त सिमटा हुआ है। ये घटनाएँ भी स्वतः घटित न होकर पात्रों की सूक्ष्म भाव-दशाग्रों की प्रेरणा से ही ग्रधिक परिचालित हैं। कामायनी में पात्रों की संख्या भी बहुत कम है-इसके प्रमख पात्र तो तीन ही हैं- मनु, श्रद्धा भीर इड़ा। मनु के व्यक्तित्व में पुरुष का सवल भीर स्वस्थ स्वरूप तो मूर्तिमान है ही, उसकी सूक्ष्म मननशीलता, व्यापक स्वार्थपरता ग्रीर उच्छङ्खल कामुकता भी विद्यमान है। नारीत्व की साकार धीर सजीव मूर्ति कामायनी में श्रद्धा के रूप में दृष्टिगोचर होती है। उसके सौन्दर्य के संघटन में कवि ने उषा की अरुणिमा, नम की नीलिमा, चंद्र की ज्योत्सना, फूलों का लावण्य और दामिनी की मुस्कराहट-प्रकृति के समस्त वैभवपूर्ण ग्रंगों की शोभाग्रों को एकत्रित करके, कवि की कल्पना भीर चित्रकार की कला का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है। किन्तु इड़ा के निर्माण में किव ने सहृदयता के स्थान पर मस्तिष्क का उपयोग किया है, इसी से वह निर्जीव प्रतीक-मात्र रह गई है।

'कामायनी' प्रकृति के वैभवपूर्ण दृश्यों एवं उसकी मादक चेष्टाग्रों के ग्रंकन की दृष्टि से भी परिपूर्ण है। मानव-हृदय की भावनाग्रों का जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण कामायनी में हुग्रा है, वैसा श्रन्थत्र मिलना दुर्लभ है। प्रेम श्रीर विरह से सम्बन्धित प्रायः सभी संचारियों की व्यंजना इसमें सफलतापूर्वक हुई है। साथ ही विचारों की दृष्टि से भी यह रचना प्रौढ़ एवं महान् है। ग्राधुनिक युग की शुष्क बौद्धिकता के विपरीत उन्होंने तरल भावात्मकता का संदेश दिया है तथा जीवन में इच्छा, ज्ञान श्रीर क्रिया के समन्वय की श्रावश्यकता वताई है—

ज्ञान दूर, कुछ किया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की। तीनों मिल एक न हो सके यही बिडम्बना है जीवन की।। वस्तुतः भाव, विचार श्रीर शैली तीनों की दृष्टि से कामायनी श्रनुपम है।

प्रसाद काव्य की प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त रचनाग्रों के श्राधार पर प्रसाद-काव्य की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्धारण किया जा सकता है। यद्यपि इसके लिए विस्तृत विवेचन भ्रपेक्षित है, किन्तु, हम यहाँ उनका संकेत-मात्र कर देना ही पर्याप्त समक्रत हैं। सर्वप्रथम तो प्रसाद काव्य

की मूल प्रवृत्ति श्रुंगारिकता या प्रेम की है। प्रारम्भ में उन्होंने प्रेम का चित्रण प्रकृति ग्रीर नारी के माध्यम से किया, किन्तु ग्रागे चलकर वे ग्रलौकिकता की ग्रोर उन्मुख हो गए। दूसरे, उन्होंने सौन्दर्य के सूक्ष्म ग्रवयवों का चित्रण व्यंजनात्मक शैली में किया। तीसरे, उन्होंने वाह्य विषयों की ग्रपेक्षा वैयिक्तक ग्रनुभूतियों को ग्रिभव्यिक्त प्रदान की। चौथे, उन्होंने राष्ट्र के प्राचीन गौरव को ग्रक्षुण्ण रखने के लिए ऐतिहासिक एवं पौराणिक ग्राख्यानों के रूप में ग्रतीत का चित्रण किया। पाँचवें, उन्होंने इतिवृत्तात्मकता को ग्रिधक स्थान दिया, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कामायनी में दृष्टिगोचर होता है। छठे, उन्होंने व्यापक मानवता ग्रौर विश्व-वन्धुत्व का संदेश दिया। इसके ग्रतिरिक्त उनकी शैली में वे सभी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जो हम पीछे 'छायावाद' निवन्ध में गिना ग्राये हैं।

महत्त्व

श्राधुनिक हिन्दी किवयों में प्रसाद का स्थान सर्वोच्च है। छायावाद के तो वे प्रवर्तक एवं सर्वश्रेष्ठ किव माने जाते हैं; श्रन्य वर्गों के किव भी उसकी वरावरी करने में श्रसमर्थ हैं। उनका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि तुलसीदासजी के 'रामचरित मानस' के पश्चात् दूसरा स्थान 'कामायनी' को ही दिया जाता है। वस्तुतः प्रसाद में भावना, विचार श्रीर शैली—तीनों की पूर्ण प्रौढ़ता मिलती है, जो कि विश्व के बहुत कम किवयों में संभव है। प्रेमी, किव श्रीर दार्शनिक के लक्षणों से सम्पन्न कामायनीकार का व्यक्तित्व श्रीर कृतित्व—दोनों श्रविस्मरणीय हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

: पैंसठ :

प्रसाद की नाट्य-कला

- रे. विषय-प्रवेश।
- २. प्रसाद का व्यक्तित्व धीर भारतेन्दु से तुलना ।
- ३. तत्कालीन वातावरण श्रीर प्रसाद के नाटकों का प्रयोजन ।
- ४. प्रसादजी का नाटक-साहित्य-एक परिचय।
- ५. प्रसादजी के नाटकों की सामान्य विशेषताएँ व प्रवृत्तियाँ—(क) ऐतिहासि-कता, (ख) प्राचीन संस्कृति का चित्रण, (ग) पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण, (घ) नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान, (ङ) विदूषकों का प्रयोग, (च) काव्यात्म-कता, (छ) उत्साह, प्रेम श्रीर वैराग्य का निरूपण, (ज) महत् संदेश, (क) भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय ।
- ६. प्रसाद के नाटकों में कुछ सामान्य दोष ।
- ७. उपसंहार।

''नवजागरण के मंगल-प्रभात में भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण प्रकाश का सन्देश देकर ग्रसमय में ही विलीन हो गई। साहित्य में फिर शिथिलता ग्रौर जड़ता का ग्रन्थ-कार छा गया, यद्यपि ग्रनेक साहित्य-सृष्टा ग्रपनी प्रतिभा से कुछ-न-कुछ प्रकाश प्रदान करते ही रहे। जागरण की गोद में प्रसादजी ग्रलीकिक प्रतिभा लिये दिव्य प्रकाश-पिण्ड के समान प्रकट हुए। प्रसाद ने साहित्य के हर क्षेत्र के सुदूर कोने तक को प्रकाशित किया। उनका महान् व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में बरदान के समान उदित हुग्रा। प्रसादजी भारतीय सांस्कृतिक जागरण के देवदूत थे। उनके व्यक्तित्व में बौद्धों की करणा, ग्रायों का ग्रानन्दवाद ग्रौर ब्राह्मणों का तेज था।'' ये शब्द 'हिन्दी नाटककार' रचियता श्री जयनाथ 'निलन' के हैं, जिनसे प्रसाद की महानता पर प्रकाश पड़ता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद का ग्रवतरण एक महान् घटना थी—जिस प्रकार युग-युगों के पश्चात् कुछ महान् ग्रात्माएँ ग्रवतार घारण करके घरती पर ग्राती हैं, कुछ वैसे ही साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद का ग्रागमन एक ग्रवतार-पृष्ठक का ग्रागमन था। सच पूछा जाय तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसी के पश्चात् हो महान् प्रतिभाएँ ऐसी दिखाई पड़ती हैं, जिनमें ग्रलौकिक शक्ति का ग्राभास होता है—उनमें एक है भारतेन्द्र हरिश्चंद्र ग्रौर दूसरी जयशंकर 'प्रसाद'।

भारतेन्द्र श्रौर प्रसाद—दोनों युग-निर्माता साहित्यकार थे। दोनों का जन्म काशी के वैश्य परिवार में हुग्रा। दोनों के पूर्वज ग्रत्यन्त धनाढ्य थे। दोनों ने पाठ्यक्रम की सीमाग्रों में वैधी हुई महाविद्यालयों की नियमित शिक्षा की उपेक्षा करके काव्य ग्रीर साहित्य का ग्रनुशीलन घर पर ही स्वतन्त्रतापूर्वक किया। दोनों के ही व्यक्तित्व में रिसकता ग्रीर उदारता का गुण प्रमुख रूप में था। दोनों ने ही किवता, नाटक ग्रीर गद्य पर कलम चलाई। दोनों के ही साहित्य में प्रेम, भक्ति-भावना, राष्ट्रीयता ग्रीर संस्कृति के उद्धार की प्रवृत्ति मिलती है। दोनों ने ही ग्रपने युग के किवयों ग्रीर नाटक-कारों का नेतृत्व किया। वस्तुतः इतनी ग्रधिक समानताएँ मिलती हैं कि जिन्हें देखकर हमें संदेह होता है कि कहीं भारतेन्दु की ग्रात्मा ने ही तो ग्रपने ग्रधूरे कार्य को ग्रागे वढ़ाने के लिए प्रसाद के रूप में दूसरा जन्म धारण नहीं कर लिया—पुनर्जन्म की विचारधारा में विश्वास करनेवाले व्यक्ति के लिए यह कल्पना ग्रस्वाभाविक नहीं कही जा सकती।

हमारी उपर्युक्त तुलना से एक भ्रान्ति भी उत्पन्न हो सकती है। कुछ लोग इससे प्रसाद को भारतेन्दु की परम्परा का ही लेखक भीर किव समभने की भूल कर सकते हैं। वास्तव में ऐसी वात नहीं है। दोनों के साहित्य में भ्रनेक समानताओं के वावजूद भी दोनों की मूल प्रकृति में सूक्ष्म ग्रन्तर है। एक के काव्य में बहिर्मुखी प्रवृत्ति की प्रधानता है, तो दूसरे में ग्रन्तमुंखी वृत्ति की। एक में हास्य भौर व्यंग्य की छटा है, तो दूसरे में ग्रम्भी-रता भ्रौर दार्शनिकता का पुट है। एक में क्रान्ति का तीखा स्वर है, तो दूसरे में ग्राम्ति का मधुर सन्देश है। इसका मतलव हुम्रा—हमारी पुनर्जन्म वाली कल्पना भूठी है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में जहाँ उत्साही, हास्य-प्रिय भौर विद्रोही होता है, वहाँ प्रौढ़ावस्था में जाकर वही गम्भीर भ्रौर शान्त हो जाता है। भारतेन्द्र का देहान्त प्रौढ़ावस्था की प्राप्ति से पूर्व ही हो गया था तथा पुनर्जन्म को मानने-वाले यह भी मानते हैं कि पूर्वजन्म के संस्कारों का विकास दूसरे जन्म में होता है। सम्भव है, भारतेन्द्र प्रौढ़ावस्था तक जीवित रहते तो उनके काव्य में वही प्रौढ़ता भौर गम्भीरता भ्रा जाती, जो हमें प्रसाद के काव्य में मिलती है। खैर, पुनर्जन्म वाली बात का साहित्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, भ्रतः हम इसे यहीं समाप्त करते हैं।

जैसा कि पीछे कहा गया है, प्रसादजी ने हिन्दी-नाटक के क्षेत्र में उस समय प्रवेश किया, जबकि भारतेन्दु की प्रतिभा-किरण का प्रकाश मंद पड़ने लग गया था। भारतेन्दु और प्रसाद के रचना-काल के बीच के युग में प्रायः बँगला, संस्कृत और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद ही अधिक हुग्रा—मौलिक नाटक बहुत कम लिखे गए और जो लिखे भी गए, उनमें कला का उत्कृष्ट रूप प्राप्त नहीं होता। अनुवादित नाटकों में श्री दिजेन्द्रलाल राय, रिव बाबू आदि के बँगला नाटकों तथा संस्कृत के 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव' आदि के अनुवाद उल्लेखनीय हैं।

प्रसादजी ने नाटकों की रचना एक निश्चित लक्ष्य को सामने रखकर की थी। वह निश्चित लक्ष्य था—भारतीय संस्कृति के गौरव का आख्यान करना। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करते हुए डॉ॰ सत्येन्द्र ने लिखा है—"प्रसादजी में भारतीय गौरव को प्रकट करने की प्रेरणा तो उतनी ही तीव्र है, जितनी भारतेन्द्र काल में वरन् उससे भी उच्च अधिक तीव्र हो उठी है, किन्तु दृष्टि अब वीरता-मात्र प्रदर्शित करना नहीं। मागे-भागे जैसे समय बढ़ता गया, भारत में एक और प्रकार की मनीवृत्ति प्रबल होने लगी।...

वह थी सम्यता की ललकार । श्रंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग श्रंग्रेजी की व्यवहारशीलता के बाह्याडम्बर पर मुग्ध होकर, उनकी भाव-प्रणाली से प्रभावित होकर भारतीय सम्यता श्रीर उसके श्रादशों को हेय समभने लगे थे । यह भीषण श्रात्मघात की तैयारी थी । यह वह युग था, जिसमें श्रंग्रेजी पढ़ चुकने वाला व्यक्ति श्रपने को श्रधिकारियों के वर्ग का समभकर श्रपनी उस कठोर सत्ता का पृथक् श्रस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'तुम' वोल सकते हुए भी 'टुम' कहकर श्रपनी ही मातृभाषा का श्रपमान करता दीखता था । ऐसे श्रवसर पर महाराणा प्रताप की वीरता का वर्णन या कृष्णार्जुन-युद्ध श्रथवा राजपूतों के साहस की कहानियाँ कोई श्रर्थ नहीं रख सकती थीं । इस काल के भारतीय गौरव ने ठीक सामने खड़े होकर प्रश्न किया था—'तुम्हारी सम्यता क्या है ?' इस काल के कुछ एक इतिहासज्ञ इस सीधे श्रौर घृष्ट उत्तर को सुनकर मर्म-पीड़ित हो, भारतीय कंकाल की कड़ियाँ जोड़ने में लगे थे । प्रसादजी केवल कड़ियाँ जोड़ना नहीं चाहते थे । वे तो उसमें मंत्र से प्राण फूँकना चाहते थे, जो कभी ऐसे लिख चुका हो—

'जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर श्रालोक।'

ग्रस्तु, प्रसादजी ने ग्रपने नाटकों के द्वारा भारत के गौरवशाली युगों के सजीव चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे कि भारतवासियों में ग्रात्मगौरव की भावना का संचार हो सके।

प्रसादजी का नाटक-साहित्य

प्रसादजी ने एक दर्जन से भी ग्रधिक नाटकों की रचना की, जिनका काल-क्रम इस प्रकार है—१. सज्जन, (१६११), २. कल्याणी-परिणय (१६१२), ३. करुणालय (१६१३), ४. प्रायश्चित्त (१६१४), ५. राज्यश्री (१६१४), ६. विशाख (१६२१), ७. ग्रजातशत्रु (१६२२), ५. कामना, (१६२४), ६. जनमेजय का नागयज्ञ (१६२६), १०. स्कन्दगुप्त (१६२६), ११. एक घूँट (१६२६), १२. चन्द्रगुप्त (१६३१), १३. ग्रवस्वामिनी (१६३३)।

इनमें से 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय' ग्रौर 'प्रायश्चित्त' एकांकी हैं, 'एक चूंट' ग्रौर 'कामना' भावरूपक हैं ग्रौर शेष सभी ऐतिहासिक नाटक हैं। डॉ॰ जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने इन प्रारम्भिक चार एकांकियों को प्रसाद की नाट्य-कला का परीक्षा काल कहा है। 'सज्जन' का कथानक महाभारत पर ग्राश्रित है। जब पांडव दुर्योधन से जुए में हारकर वनवास में जीवन व्यतीत कर रहे थे, तो एक बार दुर्योधन के मन में पांडवों को वनवास की दुर्दशा में देखने की इच्छा उत्पन्न हुई, किन्तु वह रास्ते में ही गंधवराज चित्रसेन से उलक्ष गया। ग्रन्त में युधिष्ठिर की प्रेरणा से ग्रर्जुन कौरवपित दुर्योधन को चित्रसेन से छुड़ाकर लाता है। पांडवों की इस सज्जनता—दुष्ट के साथ भी सज्जनता का व्यवहार—का चित्रण 'सज्जन' में किया गया है।

'प्रायश्चित्त' में इतिहास-प्रसिद्ध जयचन्द्र भौर पृथ्वीराज के द्वेष का चित्रण करते हुए भ्रन्त में जयचन्द्र के द्वारा मुहम्मद गोरी को भ्रामंत्रित करने की भूल का दुष्परिणाम

दिखाया गया है। ग्रपनी इसी भूल का प्रायश्चित्त करने के लिए जयचन्द ग्रपना राज्य छोड़कर संन्यास ले लेता है। 'कल्याणी-परिणय' में चन्द्रगुप्त मौर्य ग्रीर सेल्यूकस की पुत्री कल्याणी का प्रणय ग्रीर परिणय दिखाया गया। 'करुणालय' गोति-नाट्य की शैली में लिखा गया है। इसमें हरिश्चन्द्र ग्रीर शुनः शेप के पौराणिक इतिवृत्त का चित्रण किया गया है। ग्रस्तु, इन प्रारम्भिक रचनाग्रों से प्रसाद की इतिहास ग्रीर पुराण में रुचि परिलक्षित होती है। इनमें प्रसाद की कला का ग्रपरिपक्व एवं ग्रस्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है। डाँ० जगन्नाथप्रसाद जी के शब्दों में—''वास्तव में इन एकांकी रूपकों में न तो कथानक की ही कोई विशेषता है, न चरित्र-चित्रण की। प्रसिद्ध घटनाग्रों का इनमें नाटकीय रूप में उल्लेख-मात्र है। कथांश का क्षेत्र इनमें इतना संकुचित है कि उसके नियंत्रण एवं संविधान में लेखक को कितनी कुशलता दिखानी पड़ी है, इसका ज्ञान ही नहीं हो पाता।''

'राज्यश्री' में इतिहास-प्रसिद्ध महाराजा हर्षवर्द्धन की बहन राज्यश्री के जीवन का चित्रण है। इसमें उसके जीवन की ग्रनेक प्रमुख घटनाग्रों का ग्रंकन सफलतापूर्वक किया गया है। नाटक के सभी पात्रों में 'राज्यश्री' का ही व्यक्तित्व सबसे प्रभावशाली दिखाया गया है। नाटक में जिन व्यापक विष्ववों का उल्लेख है, उन सबके मूल में यही राज्यश्री है। सबकी दृष्टि उसी ग्रोर है। "वही एक रूप शिखा है, जिस पर सभी पतंग गिरकर भस्मसात् होते हैं।" सभी घटनाएँ उसी पर ग्राश्रित हैं। ग्रहवर्मा उसी के लिए कहता है—

सबसे यह म्रानन्द बड़ा है प्रियतमे, तुम-सा निर्मल कुसुम भी मिला है हमें !

उसी सौन्दर्य-राशि को देखकर मालवराज देवगुप्त भी ध्राकिषत हुआ है। उसकी दृष्टि में राज्यश्री वास्तव में 'विश्व-राज्यश्री' है। मालवराज के सम्मुख केवल एक ही प्रश्न है—'क्या वह मुक्ते न मिलेगी?' इस प्रश्न का उत्तर भी उसे मिलता है। मृगतृष्णा तुरन्त उत्तर रूप में कहती है—''ग्रवश्य मिलेगी।'' इसी मृगतृष्णा के पीछे पड़ा वह ग्रनेक ध्रनर्थ करता है तथा इसकी समय-समय पर स्वतः स्वीकार भी करता है। वस्तुतः इस नाटक में राज्यश्री जैसी नारी पात्र को ध्रभूतपूर्व गरिमा प्राप्त हुई है।

'विशाख' की कथा 'राजतरंगिणी' के आरंभिक ग्रंश पर आधारित है। विशाख तक्षणिला के विश्वविद्यालय से निकला हुआ नया-नया स्नातक है, जो व्यावहारिक ज्ञान से अभी शून्य है। आगे चलकर वह चन्द्रलेखा नामक युवती का उद्धार करता है और उससे प्रणय करने लगता है। इस प्रकार इसमें प्रेम और संघर्ष का चित्रण ही प्रमुख रूप में हुआ है। वस्तुतः 'राज्यश्री' और 'विशाख' में प्रसाद की नाट्य-कला का प्रारम्भिक विकास ही दृष्टिगोचर होता है। नाटकीय दृष्टि से इनमें पर्याप्त दोष भी विद्यमान हैं। इनका वस्तु-विधान चमत्कार-विहीन है। संवादों में तुकबन्दी का प्रयास भलकता है। चित्रांकन में प्रौढ़ता का परिचय नहीं मिलता। प्रसाद की नाट्य-कला का प्रौढ़ स्वरूप 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में उपलब्ध होता है। 'ग्रजातशत्रु' में 'गौतम-चुद्ध' के समकालीन भारत के चारी राज्यी मार्गि, कीशल, वर्ती और ग्रवन्ती की

राजनीतिक ग्रवस्था का चित्रण करते हुए मगध-नरेश बिम्बसार श्रीर श्रजातशत्रु के संघर्ष का निरूपण किया गया है। इस नाटक में संघर्ष श्रीर विरो. की व्यंजना प्रमुख रूप से है। ग्रन्तर्द्वन्द्व श्रीर बिहर्द्वन्द्व से सारा नाटक भरा है। 'स्कन्दगुप्त' में इतिहास-प्रसिद्ध स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के जीवन की श्रनेक प्रमुख घटनाश्रों का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त मौर्य की चाणक्य को सहायता से प्राप्त सफलता का श्रंकन हुशा है। वस्तुतः ये तीनों नाटक बौद्ध-युग का इतिहास सजीव रूप में प्रस्तत करते हैं।

'जनमेजय का नागयज्ञ' का कथानक महाभारत से लिया गया है। इसमें त्तरकालीन ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष को एक व्यापक समस्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जितना घ्यान इसमें चरित्र-चित्रण एवं विषय वस्तु पर दिया गया है, उतना नाटक के अन्य ग्रंगों की ग्रोर नहीं दिया गया है। 'घ्रुवस्वामिनी' भी एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें विवाह समस्या को लिया गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी है भीर उसका पति है रामगुष्त-एक भीरु, कायर, क्लीव भीर श्रयोग्य। उस पति के साथ वह विवाह धर्म का कब तक पालन करे, यह उसके सामने एक दुविधा भरा प्रश्न है। घ्रुवस्वामिनी ग्रौर रामगुप्त का विवाह ग्रसम ग्रौर राक्षस विवाह है। वह समाज सीर व्यक्ति के मंगल का विनाशक धीर कल्याण का घातक है। रामगुप्त की क्लीवता भीर भीरुता सीमा को लाँघ जाती है। वह श्राज्ञा देता है—"जायो, तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। ग्राज मैं तुम्हें किसी को देना चाहता हूँ।" जो मनुष्य इतना पतित हो कि ग्रपनी पत्नी को भी शकराज खिगिल को भेंट कर दे, उसको पति रहने का प्रधिकार नहीं। घ्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिए तथा ग्रपने कुल की मर्यादा के लिए चन्द्रगुप्त खिंगिल के डेरे में जाकर उसका वध करता है। इससे पूर्व परिस्थितियों के वश ध्रुवस्वामिनी देवी भ्रौर चन्द्रगुप्त का प्रेम विकसित हो चुका था। नाटक में दोनों का विवाह कराया गया है ग्रीर धर्माधिकारी व्यवस्था देता है—''मैं स्पष्ट कहता हैं कि घर्म-शास्त्र रामगुप्त से घ्रवस्वामिनी के मोक्ष की भ्राज्ञा देता है।"

प्रसादजी के नाटकों की सामान्य विशेषताएँ

उपर्युक्त नाटकों के आधार पर प्रसादजी के नाटकों की कुछ सामान्य विशेषताएँ निश्चित की जा सकती हैं, जो मुख्यतः ये हैं—(१) ऐतिहासिक आधार, (२) प्राचीन संस्कृति का चित्रण, (३) पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण, (४) नारी पात्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान देना, (५) विदूषकों का प्रयोग, (६) काव्यात्मकता, (७) उत्साह, प्रेम और वैराग्य का निरूपण, (५) महत् संदेश, (६) भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय । इन विशेषताओं पर किंचित् प्रकाश आगे डाला जायगा।

१. ऐतिहासिक ग्राघार—प्रसादजी का युग राजनैतिक दृष्टि से पराधीनता का युग था, ग्रतः उन्होंने ग्रपने राष्ट्र में ग्रात्म-गौरव के भाव संचारित करने के लिए भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण ग्रघ्यायों को कला के माघ्यम से प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वयं लिखा है—"इतिहास की प्रमुशीसिन किसी की जीति की ग्रपना ग्रादर्श संगठित

करने के लिए श्रत्यन्त लाभदायक होता है।....क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के श्रनुकूल जो हमारी श्रतीत सम्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त श्रीर कोई भी श्रादर्श हमारे श्रनुकूल होगा कि नहीं, इसमें हमें पूर्ण सन्देह है।....मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के श्रप्रकाशित श्रंश में से उन प्रकांड घटनाश्रों का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थित को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"—(विशाख की भूमिका)। यही कारण है कि प्रसाद के समस्त नाटक 'कामना' श्रीर 'एक घूँट' को छोड़कर—ऐतिहासिक ही हैं। इन नाटकों में उन्होंने महाभारत युद्ध के पश्चात् से लेकर हर्षवर्द्धन के राज्यकाल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है। क्योंकि यही युग भारतीय संस्कृति की उन्नति श्रीर प्रसार का स्वर्णयुग माना जाता है। बीच में बौद्धकाल, मौर्ययुग श्रीर गुप्तकाल श्रिष्ठक उत्कर्ष के युग माने जाते हैं, श्रतः इनका चित्रण प्रसाद के नाटकों में श्रिष्ठक विस्तार से हुशा है।

प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास के स्थूल ढाँचे को ही नहीं अपनाया, उन्होंने उसके सूक्ष्म रूप-रंग को भी भली प्रकार व्यंजित किया है। दूसरे, उन्होंने केवल इतिहासकारों के मुख से सुनी-सुनाई वातों पर ही विश्वास नहीं कर लिया, अपितु स्वतंत्र वृष्टिकोण से सम्बन्धित इतिहास का अनुशीलन ठोस प्रमाणों के आधार पर किया है। उन्होंने नाटकों के लिए प्रचलित इतिहास-ग्रंथों से सामग्री उधार नहीं ली, अपितु उन्होंने ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया है, जिनसे इतिहासकार भी उनके नाटकों से कुछ सीख सकते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् डाँ० जगन्नाथप्रसाद उनके नाटकों की ऐतिहासिकता पर अभिमत प्रकट करते हुए लिखते हैं—"असुनिश्चित और असुलिखित भारतीय इतिहास में यत्र-तत्र विखरी सामग्रियों को एक सूत्र में पिरोने की तर्क-संगत चेष्टा प्रसाद की उन विशेषताओं में है, जो वर्तमान हिन्दी के अतिरिक्त अन्य साहित्यकारों में भी कम दिखाई देती है। इतिहास का गम्भीर अध्ययन, प्रसंग-परिकल्पना की बुद्धि और उप-लब्ध इतिवृत्तों की संगत एकात्मकता स्थापित करने की अद्भुत क्षमता प्रसाद में दिखाई पड़ती है।"

प्रसाद ने ऐतिहासिकता को ग्रपनाते हुए भी ग्रपने नाटकों को शुष्क इतिवृत्त का रूप नहीं दिया है। उन्होंने कल्पना के उचित समन्वय द्वारा ऐतिहासिक इतिवृत्त को साहित्य का रूप प्रदान किया है। कल्पना का प्रयोग उनके द्वारा तीन प्रकार से हुग्रा है—(१) पहले तो इतिहास के भिन्न-भिन्न सूत्रों को मिलाकर उन्हें एक संगठित कथानक का रूप देने में; (२) दूसरे, बाह्य घटनाग्रों के ग्रनुरूप ऐतिहासिक पात्रों की मानसिक दशाग्रों के चित्रण में; (३) ग्रनैतिहासिक पात्रों की सृष्टि में। इस प्रकार उनके नाटकों

में इतिहास ग्रौर कल्पना का मधुर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

२. प्राचीन संस्कृति का चित्रण—प्रसादजी के नाटकों में केवल राजनीतिक घट-नाग्नों का ही उल्लेख या चित्रण नहीं मिलता, ग्रिपतु उनमें सम्बन्धित युग की संस्कृति का चित्रण भी ग्रत्यन्त सजीव रूप में हुग्रा है। उनके नाटकों में विभिन्न-युगीन धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का चित्रण ग्रत्यन्त स्रम्भतापूर्वक हुग्रा है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में ब्राह्मणों के ग्रान्तरिक वैमनस्य का चित्रण किया गया है, तो 'अजातशत्र' में बौद्ध-धर्म की छाप सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। वैदिक एवं बौद्ध-धर्म का पारस्परिक संघर्ष भी उनके नाटकों में भली-भाँति व्यंजित हुग्रा है । इसी प्रकार भारतीय समाज की विभिन्न भ्रवस्थाभ्रों का दिग्दर्शन भी उनके नाटकों में सफलतापूर्वक कराया गया है। कल्याणी, मणिमाला, ध्रुवस्वामिनी ग्रौर राज्यश्री-जैसे नारी पात्रों के द्वारा तत्कालीन समाज में नारी की स्वतन्त्रता एवं उसकी सम्मानपूर्ण स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-धर्म के प्रभाव से समाज में ब्राह्मण की गिरती हुई दशा का श्रवलोकन भी प्रसाद के नाटक-साहित्य में भली प्रकार किया जा सकता है। जनमेजय-काल में इनका बड़ा सम्मान था, क्योंकि उस समय भी यज्ञादि वैदिक कृत्यों की प्रधानता थी। इन कृतियों के ग्राचार्य भ्रौर मन्त्रदाता ये ब्राह्मण ही थे। राजवर्ग ग्रौर प्रजाजन के कल्याणार्थ ही वैदिक कर्म-कांड चलता था धीर उसका नियामक था ब्राह्मण-वर्ग । इसलिए ये ब्राह्मण शिरःस्थानीय माने जाते थे। यों कभी-कभी उद्धत श्रीर क्रोधी प्रकृति के भी ब्राह्मण निकल भाते थे, जिनमें दुरिमसंधि भौर कुचक-चालन के दोष भी दिखाई पड़ जाते थे, परन्तु ग्रधिकतर ब्राह्मण सात्त्विक वृत्ति के ही होते थे, जो ग्ररण्यों में एकान्तवास करते, तपश्चर्या, ग्रग्निहोत्र इत्यादि कामों में निरत रहकर दया, शील, ग्रार्जव ग्रीर सत्य का अनुसरण करते थे। आगे चलकर न तो ब्राह्मणों की यह वृत्ति ही रह गई श्रीर न उनका वह सम्मान ही रह गया। मौर्यकाल में भ्रन्य प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के कारण इनका महत्त्व भीर भी गिर गया। यही अवस्था हर्ष के समय तक चली आई।

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली एवं अघ्ययन-केन्द्रों की स्थिति पर भी प्रसाद ने अपनी कुछ रचनाओं में प्रकाश डाला है। प्रायः राजवर्ग उदारतापूर्वक छात्रों और अध्ययन-केन्द्रों की सहायता करता था। स्थानीय संस्थाओं में शिक्षा समाप्त कर लेने के अनन्तर विद्यार्थी सुदूर के गुरुकुलों में जाकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इन गुरुकुलों में राजा का शासन नहीं चलता था। उन पर कुलपित का ही पूर्णतः नियंत्रण होता था। इनमें विभिन्न विषयों की शिक्षा का प्रवन्ध रहता था तथा छात्र अपनी आवश्यकता एवं रिच के अनुकूल विषयों का चयन कर लेता था। इन गुरुकुलों में छोटे-बड़े, धनी-निर्धन आदि का भेद-भाव नहीं होता था। गुरु का शुल्क दक्षिणा या सेवा के रूप में चुकाया जाता था।

प्रसादजी के नाटकों से प्राचीन भारत के कला-प्रेम भ्रौर कला की उन्नित पर मी यथेंड्ट प्रकाश पड़ता है। जनमेजय से लेकर हर्षवर्द्धन तक राजदरबारों में नर्तिकयों, गायिकाभ्रों एवं भ्रन्य कलाकारों का पूरा सम्मान दिखाया गया है। उद्यानों की साज-सज्जा, नरेशों की रिसकता, मद्यपान, भ्राखेट भ्रादि का चित्रण भी उनके नाटकों में यत्र-तत्र हुग्रा है। वस्तुतः उनके नाटक इस दृष्टि से भारत की विभिन्न-युगीन संस्कृति के कोश-ग्रंथ कहे जा सकते हैं।

३. पात्रों के ग्रन्तर्हुन्द्व का विकास—प्रसाद के नाटकों को तीसरी प्रमुख विशेषता पात्रों के ग्रन्तर्हुन्द्व का चित्रण करना है। उन्होंने कठोर से कठोर पात्र के हृदय की भी चंचलता एवं दुर्बलता की प्रकाशित करके ग्रन्तर्हुन्द्व के चित्रण के लिए स्थान बनाया

है। विभिन्न पात्रों के हृदय में उन्होंने विभिन्न विरोधी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का संघर्ष सूक्ष्मतापूर्वक प्रदर्शित किया है। उनके अनेक पात्र ऐसी गूढ़ प्रकृति के भी हैं, जो वाहर से कुछ हैं और भीतर से कुछ, ऐसे पात्रों के मन, वचन और कर्म में द्वन्द्वात्मकता का आ जाना स्वाभाविक है। "इनका समभना सरल नहीं होता। इनके स्थूल, वाह्य और सूक्ष्म अन्तर में वड़ा भेद दिखाई पड़ता है, स्वभाव ही इनका गुप्त और गम्भीर होता है। इनको कुछ वारीकी से देखने पर कुछ अन्य प्रकार की विशेषताएँ मिलती हैं....ये हँसते हुए भी रोते रह सकते हैं और रोते हुए भी हँसते। ऐसे ही लोगों में अन्तर्द्वन्द्व का प्रासाद प्रकृत रूप में दिखाया जा सकता है।"—डॉ॰ जगन्नायप्रसाद।

प्रसाद के कुछ पात्रों में इस द्वन्द्वात्मक स्थिति का विकास अधिक विस्तार से हुआ है। विम्वसार, वासवी, मल्लिका, स्कन्दगुप्त, देवसेना, चाणक्य आदि में द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति का गाम्भीर्य अधिक मिलता है। देवसेना को देखकर उसकी संगिनी जयमाला कहती है—''तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समभ में नहीं आता। जब तू गाती है—तब मेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हैंसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।" इसी प्रकार चाणक्य से कात्यायन कहता है—''तुम हँसो मत चाणक्य। तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है।" वस्तुतः प्रसाद ने अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के द्वारा पात्रों के व्यक्तित्व में गम्भीरता, जिलता एवं बहुविधता का उन्मेष किया है।

४. नारी पात्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान—हिन्दी नाटक-साहित्य में ही नहीं— समस्त हिन्दी-साहित्य में नारी को जैसा महत्त्व छायावादी कवियों द्वारा प्राप्त हुम्रा, वैसा उसे अन्य कवियों द्वारा (स्वतन्त्र प्रेम-मार्गी कवियों—घनानन्द आदि को छोड़कर) प्राप्त नहीं हुम्रा । प्रसाद के छायावादी दृष्टिकोण का प्रभाव उनके नाटक-साहित्य पर भी दृष्टिगोचर होता है। उनके नाटकों में नारी के भ्रच्छे भौर बुरे दोनों रूपों का चित्रण विस्तार से हुआ है। उनके नाटकों में ऐसी देवियाँ भी हैं, जो मनुष्य को देवता में परि-वितत कर सकें। ग्रीर ऐसी कुलघातिनी राक्षसियाँ भी, जो इन्सान को हैवान बनाने में सफल हो सकें। किन्तु एक वात सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है कि उनकी नारियाँ पुरुष के पीछे-पीछे चलनेवाली निर्जीव कठपुतलियाँ नहीं है; उनका ग्रपना व्यक्तित्व, ग्रपनी बुद्धि भौर अपना मस्तिष्क है। वे पुरुष की अनुचरी न होकर उसका पथ-प्रदर्शन करती हैं। उनके अनेक नाटकों में शक्ति का प्रमुख केन्द्र कोई-न-कोई नारी पात्र ही है; जैसे कि अजातशत्रु में मल्लिका या स्कन्दगुप्त में देवसेना है। इनके दिव्य प्रभाव से एक ग्रोर सज्जन पुरुषों को त्याग, शौर्य और बिलदान की प्रेरणा मिलती है, तो दूसरी श्रोर इनकी कोमल मघुर छाया में ग्राकर बड़े-बड़े दुष्ट, नृशंस एवं ग्रत्याचारी पुरुष भी पवित्र एवं उदात्त भावनाम्रों से अभिभूत हो जाते हैं। 'नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो।' की उक्ति कामायनी की अपेक्षा प्रसाद के नाटक-साहित्य पर ग्रधिक सफलता से चरितार्थ होती है।

प्रसाद ने नारी पात्रों को इतना ग्रधिक सम्मान क्यों प्रदान किया ? इसके उत्तर प्रसाद ने नारी पात्रों को इतना ग्रधिक सम्मान क्यों प्रदान किया ? इसके उत्तर में ग्रनेक बातें कही हुए सक्ती हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रसाद ने ग्रपने विभिन्न पात्रों में ग्रनेक बातें कही हुए सक्ती हैं। इस सम्बन्ध में स्वयं प्रसाद ने ग्रपने विभिन्न पात्रों में ग्रनेक बातें कही हुए सक्ती हैं।

के मुँह से कुछ शब्द कहलाए हैं। 'ग्रजातशत्रु' में दीर्घकारायण ने नारी के महत्त्व की मीमांसा करते हुए कहा है—''स्त्रियों के संगठन में, उनके शारीरिक श्रीर प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन हुआ है, जो स्पष्ट बतलाता है कि वे शासन कर सकती हैं, किन्तु श्रपने हृदय पर । वे श्रिष्ठकार जमा सकती हैं, उन मनुष्यों पर जिन्होंने समस्त विश्व पर श्रिष्ठकार किया हो।....मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथाशक्ति श्रिष्ठकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उनके जीवन का परम घ्येय है, उसका शीतल विश्वाम है श्रीर वह स्नेह, सेवा, करुणा की मूर्ति तथा सांत्वना का श्रभय, वरदहस्त का श्राश्रय, मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व-शासन की एकमात्र श्रिष्ठकारिणी प्रकृति-स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है।'' एक श्रन्य स्थल पर उसने 'रमणी-रूप' की प्रशंसा में कहा है—''कठोरता का उदाहरण है पुरुष श्रीर कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है, तो स्त्री करुणा है, जो श्रंतर्जगत् का उच्च-तम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं, इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर श्रीर मनमोहक श्रावरण दिया है—रमणी का रूप।'' प्रसाद ने श्रपनी इसी वारणा के श्रनुसार नारी पात्रों को श्रत्यन्त प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है।

४. विदूषकों का प्रयोग—यद्यपि प्रसादजी के नाटकों का वातावरण प्रायः गम्भीर ही है, उनमें हास्य के लिए बहुत कम अवकाश है, किन्तु फिर भी उन्होंने प्राचीन परम्परा के अनुसार विदूषकों की सृष्टि की है। ये विदूषक दो प्रकार के हैं—एक तो सामान्य पात्रों के रूप में, जो अपनी विनोदी प्रकृति के कारण नाटक के बीच-बीच में हास्य का संचार कर देते हैं—जैसे, महापिंगल, विकट घोष, काश्यप आदि। दूसरे, स्वतंत्र रूप में विदूषकों की सृष्टि की गई है, जैसे 'अजातशत्रु' में वसंतक एवं 'स्कंदगृप्त' में मुद्गल। इन विदूषकों की प्रकृति भी संस्कृत के नाटकों के विदूषकों से मिलती-जुलती है। वे राजाओं के अन्तरंग सखा के रूप में रहकर उनसे हास-परिहास, आलोचना-प्रत्यालोचना, एवं वाद-विवाद करते रहते हैं। कभी-कभी वे अप्रत्याशित रूप में उनकी अभीष्ट सिद्धि में भी योग देते हैं तथा समय-समय पर दूतत्व का भी कार्य करते रहते हैं। किन्तु कहीं-कहीं प्रसाद के विदूषक प्रभावित भी हो गए हैं—जैसे ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त में।

६. काव्यात्मकता—प्राचीन भारतीय घारणा के अनुसार नाटक में सभी प्रमुख कलाओं का समन्वय अपेक्षित माना जाता है। अतः उसमें काव्य कला और गीत काव्य का समन्वित होना भी स्वाभाविक है। किन्तु फिर भी भारतीय नाटकों में गीतों का प्रयोग अल्प मात्रा में ही होता था, जबिक प्रसादजी के नाटकों में इसका प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। डॉ॰ जगन्नाथप्रसाद इसे पारसी नाटकों का प्रभाव मानते हैं, किन्तु हम उनसे सहमत नहीं। प्रसादजी मूलतः किव थे, अतः उनकी गद्य रचनाओं में भी काव्यत्व बलात् फूट पड़ता है। उनके हृदय का भावोच्छ्वास नाटकों में भी गीतों के रूप में स्फुटित हो गया है। गीतों में ही नहीं, उनके गद्यांशों में भी काव्योचित भावुकता का मिश्रण दृष्टिगोचर होता है; जैसे—सुवासिनी के इस कथन में दृष्टव्य है—''अकस्मात् जीवन-कानन में एक राकि उज्जनीक स्था अस्ति ख्रिक्षक शास्त्र अस्त सुक्ष आता है। शरीर

की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है। श्रांसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

प्रसादजी ने ग्रपने नाटकों में ग्रधिक-से-ग्रधिक गीतों को स्थान देने के लिए ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जिनको गाने का रोग-सा है। वे ग्रवसर-कुग्रवसर पर, रोने या हँसने की वेला में, प्रसन्नता या शोक को व्यक्त करने के लिए गीतों का आश्रय ग्रहण करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में तो यह प्रवृत्ति वहत ही व्यापक रूप धारण कर लेती है। उनमें एक नहीं, ग्रनेक पात्र ऐसे हैं, जो कविता की भाषा में वातचीत करना पसन्द करते हैं—इनमें कार्नेलिया, कल्याणी, मालविका, सुवासिनी श्रादि प्रमुख हैं। इन गीतों में प्रायः प्रणयोदगारों की ग्रमिव्यक्ति हुई है-

प्रथम यौवन मदिरा से मत्त प्रेम करने की थी परवाह। श्रीर किसको देना है हृदय चीन्हने की न तनिक थी चाह।

या-

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा। मघु पीकर पागल हुम्रा करता प्रेम-प्रलाप। शिथिल हुम्रा जाता हृदय जैसे म्रपने म्राप । लाज के बन्धन खोल रहा। बिछल रही है चाँदनी छवि मतवाली रात। कहती कम्पित ग्रघर से बहकाने की बात। कौत मधु-मदिरा घोल रहा ।।

खपर्युक्त पंक्तियों में सौन्दर्य, यौवन ग्रीर प्रेम की ही ग्रभिव्यक्ति हुई है, किन्तु कहीं-कहीं प्रसाद ने उत्साह, रोप म्रादि भावों की व्यंजना के लिए भ्रोजपूर्ण शैली में भी

गीत लिखे हैं-

हिमाद्रि तुंग श्रृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती— स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती। श्रमत्यं वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो। प्रशस्त पुण्य पंथ है-बढ़े चलो बढ़े चलो। असंख्य कीर्ति रिषमयां विकीणं दिव्य दाह सी। सपूत मातृभूमि के - रुको न वीर साहसी। श्रराति सैन्य सिंघु में — सुवाडवाग्नि से जलो। प्रवीर हो जयी बनो-बढ़े चलो, बढ़े चलो।।

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के गीत नाटक के रंगमंच पर अनुकूल वातावरण

सृजन में भ्रच्छा सहयोग देते हैं। किन्तु 'म्रति सर्वत्र वर्जयेत्।'

७. उत्साह, प्रेम भ्रौर वैराग्य का निरूपण-प्रसादजी के नाटकों में मुख्यतः तीन रसों का—वीर, सुङ्कार ग्रीर शान्त का—चित्रण मिलता है, ग्रतः उनमें क्रमशः उत्साह, प्रेम और वराग्य का निरूपण हुआ हैं। नाटक की मूल समस्या का सम्बन्ध प्रायः वीर रस से होता है, जबिक अवान्तर कथाओं में वे प्रेम की ग्रायोजना करते हैं तथा उसका ग्रन्त शान्त में परिणत कर देते हैं। संघर्ष और युद्ध की जलती हुई भूमि के बीच-बीच में प्रेम की ठंडी छाया का ग्रायोजन करके प्रसाद ने ग्रपने पात्रों और पाठकों के लिए प्रसन्नता का सुन्दर साधन जुटाया है। प्रसाद का प्रेम प्रथम दर्शन से उत्पन्न होनेवाला है। सौन्दर्य, यौवन और भावुकता के भार से ग्रवनत सुन्दरियों से साहसी पराक्रमी वीरों का साक्षात्कर होता है तो उनकी प्रथम दृष्टि से ही उस चिनगारी का प्रादुर्भाव हो जाता है जिसे 'प्रेम' कहते हैं। यह चिनगारी प्रसाद के ग्रनेक पात्रों के हृदय में प्रस्फृटित होकर आगे चलकर ध्यकती हुई ज्वाला का रूप धारण कर लेती है। प्रसाद के प्रेमी-युग्म में चन्द्रलेखा-विशाख, वाजिरा-ग्रजातशत्रु, मणिमाला-जनमेजय, विजया-स्कन्दगुप्त, कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त, ग्रलका-सिंहरण ग्रादि का प्रेम प्रथम दृष्टि से उत्पन्न प्रेम है।

प्रसाद में प्रेम के श्रौर भी अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। कहीं केवल वासना श्रौर लोभ पर श्राश्रित प्रेम है, जो कि शीघ्र ही बुदबुद की भाँति प्रस्फुटित होकर विलीन हो जाता है, कहीं वह रूप-सौन्दर्य के उपभोग की लालसा से प्रेरित है, जो विद्युत् की भाँति चमककर लुप्त हो जाता है। प्रसाद के प्रेम का सर्वश्रेष्ठ रूप वह है, जो त्याग श्रौर विलदान की भूमि पर घीरे-धीरे विकसित होकर अन्त में स्वच्छ, पवित्र प्रणय का रूप घारण कर लेता है। दुर्भाग्य से यह प्रेम अन्त तक वियोगमय ही रहता है—नायक-नायिका मिलकर एक होने का सुयोग प्राप्त नहीं करते। निलनजी के शब्दों में—"वह बचपन का प्रेम बढ़कर उद्दाम वेग धारण करता है श्रौर अतृप्ति के भुलसते शिला-खंडों से सिर पटक-पटककर रह जाता है। वचपन की स्वच्छ गंगाजल-सी क्रीड़ाएँ, जब यौवन की व्याकुल स्मृतियाँ बनती हैं तो हृदय छटपटा उठता है—वह निराश प्रेम सबसे अधिक करुण श्रौर वेचैन कर देनेवाला है। जिस प्रेम का विरवा शैशव से उगते-उगते जवानी तक श्राते-श्राते फूलों से लद गया है, वह श्रतृप्ति की श्राग में भुलस जाय तो जीवन में एक गहरा श्रॅंथेरा न छा जायगा ?"

कुछ ग्रालोचकों ने प्रसाद के वैराग्य भाव को भी भूल से निराश प्रेम मान लिया है। प्रसाद के कुछ पात्रों को ग्रपन प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति का ग्रवसर प्राप्त होता है, किन्तु वे जान-बूभकर उन्हें ठुकरा देते हैं; इसलिए नहीं कि उनके प्रेम में न्यूनता ग्राजाती है, ग्रपितु इसलिए कि वे संयोग-सुख की ग्रपेक्षा त्यागपूर्ण विरह को ग्रधिक पसन्द करते हैं। इसका एक उदाहरण स्कन्दगुप्त ग्रीर देवसेना का प्रेम है। वे ग्रन्त में ग्रवसर प्राप्त होने पर भी संयोग के स्थान पर विरहपूर्ण जीवन को स्वीकार कर लेते हैं। इसे हम 'निराश प्रेम' न कहकर 'वैराग्य भाव' कहेंगे। निराशा वहाँ होती है जहाँ चाहते हुए भी मिलन नहीं हो पाता, जबिक मिलन प्राप्त होते हुए भी उसे न चाहना, वैराग्य है। देवसेना द्वारा स्कन्दगुप्त को कहे गए ये शब्द निराश प्रेम को नहीं, वैराग्य को व्यक्त करते हैं—''कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या ग्रग्नि है। सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का ग्रन्त है। जिसमें सुखों का ग्रन्त न हो, इसलिए СС-0. Jangamwadi Math Collection, स्वावेतवा

सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के प्राप्य ! क्षमा ! !" इस प्रेम के सम्बन्ध में निलनजी की सम्मित है—" 'ज्यों ही वह पास ग्राता है, ग्राकुल होकर वह यात्री पानी पीने को भुकता है, भरना सूख जाता है।" किन्तु ऐसी वात नहीं है—हमारी दृष्टि में वह भरना नहीं सूखता, ग्रापितु उस पिथक की ही पानी पीने की इच्छा भरने को समीप पाकर शान्त हो जाती है, वह भरने का ग्रास्वादन लेने की ग्रापेक्षा उसकी स्मृति में जीवन विताना ही श्रेयस्कर मान लेता है। प्रसाद के ग्रेम-पूर्ण नाटकों की यह वैराग्यपूर्ण परिणित दार्शनिक दृष्टि से भले ही उचित हो, किन्तु उसे स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है।

द. सहत् संदेश—प्रसादजी ने भ्रार्य तथा वौद्ध-दर्शनों का गम्भीर अनुशीलन किया था, तथा उन्होंने अपने इस अध्ययन के आधार पर अपना एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण निर्मित कर लिया था, जिसका परिचय उनकी रचनाओं में मिलता है। विशेषतः उन्होंने प्रेम, त्याग, विलदान, वैराग्य भ्रौर श्राघ्यात्मिकता को बहुत श्रिषक महत्त्व प्रदान किया है। इनके समर्थन में भ्रनेक उक्तियाँ उनके नाटकों में विखरी पड़ी हैं। जो संदेश उन्होंने कामायनी में पद्यमय शब्दों में दिया है, उसी की भ्राभव्यक्ति कुछ श्रिषक स्पष्टता से उन्होंने भ्रपने नाटकों की गद्यमय भाषा में की है। उन्होंने भ्रपनी विचारघारा में लोक-मंगल भ्रौर विश्व-वन्धृत्व की भावना को ही सर्वोपिर स्थान दिया है। बौद्ध-दर्शन की करणा भ्रौर उसके दुःखवाद का प्रभाव भी उन पर परिलक्षित होता है। नियतिवाद के भी वे समर्थक हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक में इसके पक्ष में ही भ्रनेक युक्तियाँ मिल जाती हैं— जैसे, ''नियति सम्राटों से भी प्रवल है।'' (शकटार), ''तो नियित कुछ श्रदृष्ट का सृजन करने जा रही है।'' (सिहरण), ''नियति सुन्दरी की भवों में बल पड़ने लगे हैं। (चाणक्य)।

६. भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय—भारतीय नाटक में 'रस' को प्रमुखता दी जाती है, जबिक पाश्चात्य नाटक में 'द्वन्द्व' को—प्रसाद ने अपने नाटकों में इन दोनों का ही समन्वय करके भारतीय एवं पाश्चात्य शिल्प का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में जहाँ वीर और श्रृङ्गार की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ द्वन्द्व के भी विभिन्न रूपों का चित्रण हुआ है—जो ये हैं—(१) एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच द्वन्द्व या नायक और प्रतिनायक का संघर्ष। (२) एक ही मनुष्य में अनेक वृत्तियों का द्वन्द्व। (३) शुभ और अशुभ विचारों का व्यापक द्वन्द्व। प्रसाद के एक- एक नाटक में अनेक बाह्य एवं आन्तरिक संघर्ष के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

श्रपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद ने भारतीय एवं पाश्चात्य नाटकों के श्रनेक नियमों का उल्लंघन किया है : भारतीय प्रणाली के विरुद्ध उन्होंने रंग-मञ्च पर वध के दृश्यों का श्रायोजन किया है तथा भरत-वाक्य, पंच-संधि, सुखान्त श्रादि का निर्वाह नहीं किया, तो दूसरी श्रोर उन्होंने संकलन-त्रय की उपेक्षा करके पाश्चात्य नियमों का उल्लंघन किया है, कहीं-कहीं प्रसाद ने पूर्वी श्रोर पश्चिमी नियमों से ऊपर उठ कर स्वतन्त्र दृष्टिकोण का भी परचय दिया है, जैसे उन्होंने सुखान्त श्रोर दु:खान्त— कर स्वतन्त्र दृष्टिकोण का भी परचय दिया है, जैसे उन्होंने सुखान्त श्रोर दु:खान्त— दोनों को ठुकराकर नाटकों की परिणति प्रायः शान्त रस में की है। इसी प्रकार उनके नाटकों में नायक का निर्णय करना भी कठिन हो जाता है—जो उनके नाटकों की एक मौलिक प्रवृत्ति है।

प्रसाद के नाटकों में दोष

प्रसाद के नाटकों में रंगमञ्च की दृष्टि से ध्रनेक दोष भी विद्यमान हैं। एक तो उनके नाटक बहुत बड़े हैं, दूसरे उनमें ऐसे दृश्यों का भी विधान है जिन्हें रंगमञ्च पर प्रस्तुत करना बहुत किठन है। लम्बे-लम्बे संवाद ध्रौर गीतों की भरमार है। दार्शनिक तत्त्वों की ध्रधिकता के कारण वे सर्वसाधारण की समक्ष के वाहर हैं। इसके ध्रतिरिक्त उनकी शैली में भी संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोगाधिक्य के कारण दुर्बोधता ध्रा गई है। वस्तुतः उनके नाटक रंगमञ्च पर देखे जाने की ध्रपेक्षा घर में बैठकर ध्राराम से पढ़े जाने की वस्तु ध्रधिक हैं। सर्वसाधारण के मनोरंजन की ध्रपेक्षा वे विद्वानों के चिन्तन-मनन की सामग्री ध्रधिक प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी हम सब स्वीकार करते हैं कि उनके नाटक-साहित्य का महत्त्व कम नहीं है। वे ग्रिभनीत नहीं हो सकें तो न सही—सामान्य गद्य-पद्यमय रचना के रूप में भी ये हिन्दी साहित्य की ग्रमूल्य निधि हैं। प्रसाद के किव, कलाकार, नाटककार, दार्शनिक, इतिहासकार, रिसक-प्रेमी ग्रादि सभी रूपों का एकत्र समन्वय उनके नाटकों में ही उपलब्ध होता है। हमारे साहित्य का यही एक ऐसा ग्रंग है, जहाँ सभी प्रकार की रुचि के पाठकों के लिए पर्याप्त सामग्री एक ही साथ उपलब्ध होगी। प्रसाद के नाटक-साहित्य का महत्त्व नाटक-साहित्य के रूप में नहीं, ग्रिपतु सम्मान्य चम्पू साहित्य के रूप में सदा ग्रक्षुण्ण रहेगा।

: छाँछठ :

पंत का प्रकृति-चित्रण

१. प्रकृति से कवि का सम्बन्ध ।

२. काव्य-प्रेरणा का स्रोत-प्रकृति ।

 पन्त के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण का विकास—(क) वीणा, (ख) पल्लव, (ग) गुंजन, (घ) युगान्त, (ङ) युग-वाणी, (च) स्वर्ण-किरण, (छ) स्वर्ण-

घूलि, (ज) उत्तरा, (भ) ग्रतिमा।

४. प्रकृति का विभिन्न रूपों में प्रयोग—(क) ग्रालम्बन रूप में—वस्तु-परिगणन शैली, संश्लिष्ट चित्रण, मानवीय रूप, (ख) उद्दीपन रूप में, (ग) ग्रिभ-व्यक्ति के माध्यम-रूप में, उपमान, विभिन्न श्रलंकारादि के रूप में, उपदेश-कथन के रूप में, दार्शनिक तथ्यों के ग्राधार रूप में, प्रतीक के रूप में।

५. उपसंहार।

छोड़ दुमों की मुदु छाया, तोड़ प्रकृति की भी माया, बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलका दं लोचन !

ये शब्द हैं प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत के, जिन्होंने प्रकृति के आर्लिंगन में भ्राबद्ध होकर नारी के रूप-वैभव को भी ठुकरा दिया था। विश्व के न जाने कितने कवियों ने प्रकृति का चित्रण श्रपने काव्य में किया है, किन्तु प्रकृति के प्रति जैसा गहरा श्रनुराग इस महाकवि में परिलक्षित हुआ है, वैसा हमें किसी श्रन्य में दृष्टिगोचर नहीं होता । प्रकृति उनके लिए काव्य की वस्तु ग्रीर उनकी साज-सज्जा का साधन ही नहीं, ग्रपितु उनकी काव्य-प्रेरणा का स्रोत भी रही है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—''कविता करने की प्रेरणा मुफे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्माञ्चल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुफे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था ग्रीर कोई अज्ञात ग्राकर्षण मेरे भीतर एक भ्रव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं भ्रांखें मूँदकर लेटता था तो वह दृश्यपट मेरी भ्रांखों के सामने घूमा करता था....ग्रौर यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व ग्रीर जीवन के प्रति गम्भीर ग्राश्चर्य की भावना, पर्वत की तरह निश्चल रूप में भ्रवस्थित है।"

प्रकृति की विह प्रेरणाधकवितके अविषय अधिका, रहीं रही, प्रपितु वह उसके कवि-

जीवन का ग्रंग बन गई है। कूर्माञ्चल प्रदेश के उस शस्य-श्यामल वातावरण से दूर हुए उन्हें वर्षों बीत गए हैं, किन्तु उससे उनके प्रकृति-प्रेम में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। इतना ग्रवश्य है कि परिस्थितियों भ्रौर समय के भ्रनुसार उनके प्रकृति-भ्रेम सम्बन्धी दिष्टिकोण में थोडा-बहत परिवर्तन होता रहा है। 'वीणा' से लेकर 'ग्रतिमा' तक की रचनाओं का क्रमिक अध्ययन हमारे इस कथन की सार्थकता प्रमाणित करेगा।

प्रकृति-सम्बन्धी दुष्टिकोण का क्रमिक विकास

पंत की काव्य-चेतना का प्रकाशन सर्वप्रथम 'वीणा' के सरस, मृदुल, कोमल स्वरों में हुग्रा। इसके श्रधिकांश गीतों में प्रकृति-रानी के ही वैभव का गुण-गान हुग्रा है। कई स्थानों पर उसने प्रकृति को भ्रपनी भ्रघ्यापिका मानकर उससे विभिन्न समस्याओं का समाधान माँगा है। प्रकृति के रूप-वैभव ग्रीर ज्ञान-वैभव की तरंगों में कवि की म्रात्मा डूबकर लीन हो जाना चाहती है, जिससे कि वह भी प्रकृति-जैसा दिव्य-स्वरूप प्राप्त कर सके। 'मानव' जी के शब्दों में—"छाया से वह प्रार्थना करता है कि वह उसका मनस्ताप हरे, भ्रन्धकार से कहता है कि वह उसे भी रंग-रहित होकर जीवन व्यतीत करना सिखलावे, सरिता से चाहता है कि वह भी उसी के समान गीत गा सके, निर्भर को देखकर उसकी कामना होती है कि वह भी उसी के जैसा श्रांसुश्रों का दान दे सके।" वस्तुतः 'वीणा' में कवि की प्रकृति के प्रति जिज्ञासा, ग्राश्चर्य-भावना भीर लालसा व्यक्त हुई है।

'वीणा' का कवि प्रकृति के रूप-वैभव को नारी-सौन्दर्यं से बढ़कर मानता है। इसका एक कारण यह भी है कि अभी किव पंत की आत्मा में यौवन के उस उन्मादी स्वर की भंकार प्रस्फुटित ही नहीं हुई थी, जिसके प्रभाव से वालाश्रों का सौन्दर्य सौन्दर्य की अनुभूति प्रदान करने लगता है। किन्तु 'ग्रन्थि' में आकर कवि इस अनुभूति को प्राप्त कर लेता है। म्रतः प्रकृति के प्रति प्रारम्भिक म्राकर्षण में थोड़ी न्यूनता म्रा गई। यही कारण है कि 'पल्लव' की कविताओं में प्रकृति-प्रेम की गहराई के स्थान पर उसका काल्पनिक वर्णन उपलब्ध होता है। ग्रस्तु, 'पल्लव' में प्रकृति का चित्रण विस्तृत रूप में होते हुए भी भावोत्तेजक नहीं है।

'गुंजन' तक भ्राते-भ्राते कवि, जीवन की भ्रोर भ्रघिक उन्मुख हो गया है। भ्रब उसे प्रकृति के वैभव की अपेक्षा युवितयों के रूप-सौन्दर्य में अधिक आकर्षण अनुभव होने लगा । इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'गुंजन' में वह प्रकृति को सर्वथा भूल गया है । 'गुंजन' में सर्वत्र प्रकृति विद्यमान है, किन्तु भ्रव वह साघ्य न रहकर साधन बन गई है। 'वीणा' में जो प्रकृति 'रानी' थी, वही ग्रव यहाँ किसी रूपसी के ग्रागे नत-मस्तक हो रही है। पहले प्रकृति हँसती थी भ्रीर नारी चिढ़ती थी, भ्रब नारी हँसती है भ्रीर प्रकृति ईष्यों के कारण लाल हो उठती है-

> तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार लग गई मधु के वन में ज्वाल ! खड़े किंशुक, अनार, कचनार, लालसा की ली से उठ लाल!!

जिस नारी को पहले कभी प्रकृति के सम्मुख हुँय और तुंच्छ घोषत किया था,

वही भ्रव किव को इतनी प्रिय हो गई है कि प्रकृति का सौन्दर्य भी उसे नारी से उधार लिया हम्रा-सा प्रतीत होता है-

श्राज गृह, वन उपवन के पास। लोटता राशि-राशि हिम-हास। खिल उठी भ्राँगन में भ्रवदात। कुन्द कलियों की कोमल पाँत। मुस्करा दी थीं, बोलो प्राण! मुस्करा दी थीं तुम अनजान।

'गुंजन' के प्रकृति-वर्णन को श्राघात पहुँचानेवाली दूसरी प्रवृत्ति उसकी दार्श-निकता की भी है। 'कली', 'एक तारा', 'नौका-विहार' जैसी सुन्दर रचनाम्रों में भी प्रकृति के उज्ज्वल मुख पर दार्शनिक विचारों की छाया पड़ी हुई है, जिससे उसका सींदर्य श्रस्पष्ट श्रौर धूमिल हो गया है। कहाँ चाँदनी रात में नदी की सैर श्रौर कहाँ कि का यह 'शाश्वत' सम्बन्धी शुष्क उपदेश-

इस घारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम। शाश्वत है गति, शाश्वत संगम

शाश्वत लघु लहरों का विलास।

'युगान्त' में किव सुन्दर से शिव की ग्रोर भग्नसर हो गया है, ग्रतः ग्रब वह प्रकृति के रूप की ग्रपेक्षा उसके उपयोग को ग्रधिक महत्त्व देने लग गया है। वह संसार की विषमता दूर करने के लिए युग-परिवर्तन की ग्राकांक्षा प्रकट करता है, ग्रतः वह चाहता है कि कोकिल मधुर गानों के स्थान पर पावक-कण बरसावे जिससे संसार की प्राचीन रूढ़ियाँ भस्म हो जायेँ। 'युग-वाणी' ग्रौर 'ग्राम्या' में भी इसी दृष्टिकोण का विकास हुआ है। 'ग्राम्या' में उसने प्रकृति के वैभवपूर्ण ग्रंगों के स्थान पर उसकी दरिद्रा-वस्था का चित्रण किया है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-घूलि' ग्रौर 'उत्तरा' में कवि पुनः यथार्थ से म्रादर्श की ग्रीर उन्मुख हुग्रा है, ग्रतः इनमें प्रकृति के विराट् रूप का चित्रण हुग्रा है, वह उसके वाह्य स्वरूप की श्रपेक्षा उसकी सूक्ष्म श्रात्मा के उद्घाटन में प्रवृत्त हुग्रा है। ''एक विलक्षण वात इन रचनाग्रों में यह पाई जाती है कि यहाँ प्रकृति से ग्रधिक व्यक्ति प्रमुख हो गया है; व्यक्ति जैसे देवता है, प्रकृति उसकी उपासिका-मात्र । कहाँ 'वीणा' की वह प्रकृति जब व्यक्ति प्रकृति के चरणों में बैठकर शांति प्राप्त करता है ग्रौर कहाँ 'उत्तरा' की यह प्रकृति जब व्यक्ति प्रकृति को भ्रपने चरणों में बिठा लेता है।"

'म्रतिमा' में प्रकृति-वर्णन की विभिन्न शैलियों का प्रयोग हुम्रा है । कुछ रचनाम्रों में 'पल्लव' ग्रौर 'गुंजन' के प्रकृति वर्णन से साम्य दृष्टिगोचर होता है तो कुछ में मानवी-करण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। कुछ में उपदेशात्मकता का श्राग्रह है, तो कुछ में भ्ररिवदवाद की प्रतिष्ठा का प्रयास। वस्तुतः इनमें प्रकृति का शुद्ध रूप में वर्णन बहुत कम हम्रा है।

इस प्रकार 'वीणा' से लेकर 'म्रतिमा' तक पंत ने प्रकृति का वर्णन विविध प्रकार

से किया है, जिसे निम्नांकित रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है :--

(१) म्रालंबन रूप में — जहाँ प्रकृति-वर्णन विशुद्ध प्रकृति-वर्णन के दृष्टिकोण से किया जाता है उसे 'ग्रालम्बन स्प्रेम किथा जीयमा का प्रान्त के ग्रन्तर्गत भी कई कई शैलियों का व्यवहार किया जाता है जैसे—(क) वस्तु-परिगणन-शैली, (ख) संशिलब्ट चित्रण ग्रीर (ग) मानवीय रूप में चित्रण। इनमें से प्रत्येक शैली का प्रयोग पंत काव्य में प्रचुर मात्रा में हुग्रा है। देखिए—

(क) वस्तु-परिगणन शैली-

नव वसन्त की रूप-राशि का ऋतु उत्सव यह उपवन, सोच रहा हूँ जन जग से क्या सचमुच लगता शोभन। रंग रंग के खिले फलाक्स, वरवीना, छपे डियाथस, नत दृग ऐंटिड्रिनम, तितली सी पेंजी पांपी पालस, हंससुख कटीटपट, रेशमी चटकीले नैशटरशम, खिली स्वीट पी—एबंडंस, फिल बास्केट श्री' ब्लू वैंटम।

इस पद्य से किव की विदेशी फूलों के सम्बन्ध में जानकारी का तो परिचय मिलता है, किन्तु उनमें काव्यत्व की छाया का ग्रभाव है। संतोष है कि ऐसे 'केटेलॉग' पंत-काव्य में ग्रधिक नहीं मिलते।

(ख) संश्लिष्ट चित्रण—इस क्षेत्र में पंतजी की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है। पर्वतीय प्रदेश का चित्रण द्रष्टव्य है—

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश । मेखलाकार पर्वत ग्रपार, अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़ ।। अवलोक रहा है बार-बार, नीचे जल में निज महाकार । जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण सा फैला है विशाल ।।

(ग) मानवीय रूप में — प्रकृति का मानवीकरण तो छायावादी कवियों की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है। पंत ने भी उसे शत-शत वार मानवी या नारी रूप में चित्रित किया है। कहीं वह उन्हें 'परित्यक्ता' के रूप में विरहिणी-जैसी दिखाई देती है, तो कहीं वह किसी 'रुग्णा जीवन वाला' के रूप में दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण देखिए—

जग के दुख दैन्य-शयन पर वह रुग्णा जीवन-बाला। रे कब से जाग रही वह, आँसू की नीरव माला।। पीली पड़, निर्बल, कोमल, कृश-देह-लता कुम्हलाई। विवसना, लाज में लिपटी, साँसों में शून्य समाई।।

ग्राश्चर्य है कि किव ने यहाँ 'चाँदनी' को ऐसे निराशाजनक रूप में चित्रित किया है। वस्तुतः यहाँ किव के दृष्टिकोण में निजी परिस्थितियों का प्रभाव समन्वित है, फिर भी उसके चित्रण में स्वाभाविकता की थोड़ी ऋलक ग्रवश्य मिलती है।

(२) उद्दीपन रूप में — जहाँ वर्णन तो किसी भ्रन्य भ्रालम्बन का हो रहा हो, किन्तु तत्सम्बन्धी भाव को भ्रधिक पुष्ट करने के निमित्त प्रकृति का प्रयोग किया जाता है, उसे 'उद्दीपन रूप' कहा जाता है। यों कहिए कि कोयलों में रखी हुई भ्राग को सुल-गाने में जो उपयोग हवा का होता है, लगभग वैसा ही, जपयोग प्रकृति के उद्दीपक रूप का भावनाओं के विकास में होता है। छायावादी कवियों ने उद्दीपन के रूप में प्रकृति का

उपयोग श्रधिक नहीं किया, किन्तु इसका सर्वथा श्रभाव नहीं है। पंत की निम्नांकित पंक्तियों में विरह-वेदना का उद्दीपन ऊषा की श्राशा, संघ्या की उदासी, लहरों की श्रधी-रता श्रीर सौरभ-समीर की ठंडी साँसों से दिखाया गया है—

कब से विलोकती तुमको, ऊषा के वातायन से। संघ्या उदास फिर जाती, सूने गृह के आंगन से।। लहरें श्रघीर सरसी में, तुमको तकती उठ-उठ कर। सौरभ-समीर रह जाता, प्रेयिस ! ठंडी साँसें भर कर !!

घ्यान रहे, यहाँ कवि ग्राश्रय है, उसकी प्रेयसी ग्रालम्बन तथा रित स्थायीभाव है ! ऊषा, संघ्या ग्रादि यहाँ उद्दीपन का कार्य सफलतापूर्वक करती हैं।

वियोग की माँति मिलन की मघुर वेला में भी किव को प्रकृति के कण-कण में अपनी भावनाओं का प्रतिविम्व दृष्टिगोचर होता है। 'प्राण-प्रिया' के साम्निष्य से किव का हृदय ही रोमांचित नहीं हो गया है, अपितु उसे गृह-वन-उपवन में राशि-राशि हास लोटता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रथम समागम की वेला में नववधू की मूकता और लज्जा के भार से उसे सारी प्रकृति मौन-सी, भुकी हुई-सी प्रतीत होती है—

आज छाया चहुँदिशि चुपचाप, मृदुल मुकुलों का मौनालाप। रूपहली किलयों से कुछ लाल, लद गई पुलकित पीपल डाल।। ग्रौर वह पिक की मर्म-पुकार, प्रिये भर-भर पड़ती साभार। लाज से गड़ी न जाओ प्राण, मुस्करा दी क्या ग्राज विहान।।

कहना न होगा कि यहाँ किव की अनुभूति से प्रकृति की चेष्टाएँ मिलकर एका-कार हो गई हैं। मानों एक-दूसरे के भावोद्दीपन में सहयोग दे रहे हैं।

- 3. ग्रिभव्यक्ति के माध्यम के रूप में ग्रालम्बन ग्रौर उद्दीपन के ग्रितिरिक्त काव्य में प्रकृति का उपयोग ग्रिमव्यक्ति के माध्यम के रूप में भी होता है। कई बार उसे भाव-व्यंजना का साधन बनाया जाता है, तो कई बार ग्रर्थ की स्पष्टता के लिए उसका प्रयोग होता है। माध्यम के रूप भी प्रकृति-प्रयोग की ग्रनेक शैलियाँ हैं, जिनमें से ग्रनेक पंत-काव्य में उपलब्ध होती हैं। यहाँ कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —
- (क) उपमान रूप में—सूक्ष्म सौन्दर्य की ग्रिभिन्यिक्त में प्रकृति के उपमानों का प्रयोग ग्रत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होता है। विशेषतः नारी के रूप-वैभव के ग्रंकन के लिए तो ग्रादिकाल से कविगण प्रकृति के ऐश्वर्य को लूटते रहे हैं। पंतजी की भावी पत्नी की भी साज-सज्जा प्रकृति के ही ग्रंगों के द्वारा हुई है—

अरुण ग्रघरों की पल्लव प्रात, मोतियों सा हिलता हिम-हास। इंद्रधनुषी पट से ढँक गात, बाल-विद्युत् का पावस-लास।।

यहाँ 'पल्लव', 'इन्द्र-घनुष', 'बाल-विद्युत्', 'पावस' ग्रादि का प्रयोग ग्रत्यन्त सन्दर रूपों में हग्रा है ।

(ख) विभिन्न ग्रलंकारों के रूप में —हमारे प्राचीन ग्राचार्यों द्वारा परिगणित प्रायः सभी ग्रलंकारों के रूप में प्रकृति का प्रयोग किया जाता है। पंतजी ने ग्रनेक ग्रलंकारों में प्रकृति का प्रक्षेत्र अस्ति अस्ति प्रकृति का प्रक्षेत्र अस्ति अस्ति

रूपक-

नवल मेरे जीवन की डाल। बन गई प्रेम-विहग का वास।। भर गई कली, भर गई कली।

ग्रन्योक्ति—

प्रतिशयोक्ति-

तुम्हारी पी मुख वास तरंग, आज बौरे भौरे सहकार। चुनाती नित लवंग निज अंग, तन्वि ! तुम-सी बनते सुकुमार।

यहाँ हमने थोड़े-से ही उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, किन्तु पंत के काव्य में प्रकृति का प्रयोग इतनी प्रचुर मात्रा में हुम्रा है कि यहाँ सभी प्रकार के भ्रलंकारों में प्रकृति की सामग्री का उपयोग ढुँढ़ा जा सकता है।

(ग) उपदेश-कथन के निमित्त प्रकृति का प्रयोग—यद्यपि पंत प्रारंभ में 'सुन्दरम्' के किन रहे हैं, किन्तु ग्रागे चलकर 'शिवम्' के भी साधक बन गए हैं, ग्रतः उन्होंने प्रकृति को उपदेशात्मकता का भी साधन बनाया है। देखिए—

हॅसमुख प्रसून सिखलाते, पल भर है जो हँस पाझो। अपने उर के सौरभ से जग का श्रांगन भर जाश्रो।

(घ) दाशंनिक तथ्यों के आधार-रूप में जब कविगण अपने कवित्व को भूल-कर दार्शनिकता की तरंग में बहने लगते हैं, तो वहाँ भी प्रकृति-रानी उनका साथ देती है। 'नौका-विहार' की मधुर वेला में किव पंत को प्रकृति की शाश्यतता में जग की शाश्यतता का श्राभास होता है—

> ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार। उर में श्रालोकित शत विचार। इस घारा साही जग का कम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम। शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।

यहाँ प्रकृति से विचारों की पुष्टि की गई है, सरिता की शाश्वत गति में संसार की शाश्वत गति का संदेश दिया गया है।

(ङ) प्रतीक रूप में — छायावादी काव्य में प्रतीकों का प्रयोग श्रतिशय मात्रा में हुआ है। यह प्रवृत्ति कवि पंत में भी मिलती है—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली। पर मुक्ते डूबने का भय है, भाती तट की चल-जल माली। यहाँ 'मोती वाली भछली के अहत की वाली परमार्थ या जीवन की तह का प्रतीक है। किव इन प्रतीकों के द्वारा यह बतलाना चाहता है कि इस जीवन की तह में जो परमार्थ तत्त्व छिपा है, उसे पकड़ने भ्रौर उसमें लीन होने के लिए बहुत-से लोग भ्रन्तर्मुख होकर गहरी डुविकयाँ लगाते हैं, पर किव को तो उसका भ्रव्यक्त रूप ही रुचिकर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किव पंत ने प्रकृति का प्रयोग अनेक रूपों और अनेक शैलियों में किया है। उनके काव्य में कहीं प्रकृति काव्य के मूलाघार रूप में विराजमान है, तो कहीं वह उसके साधन रूप में प्रयुक्त है। पंत के लिए प्रकृति प्रेयसी है, उनकी प्रेयसी के रूप-वैभव को सजानेवाली सहचरी है और उस प्रेयसी की साज-सज्जा भी वह स्वयं है। वह उनके हास-रुदन की प्रेरक है, उद्दीपक है और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। उन्हें चाहे उपदेश देना हो, या किसी दार्शनिक सिद्धान्त की पृष्टि करनी हो या किसी अपरिचिता से मौनालाप करना हो, प्रकृति उनकी सर्वत्र सहायिका के रूप में उपस्थित होती है। दूसरे शब्दों में प्रकृति ही किव पंत की वाणी है, भाषा है, अलंकृति है, भावना है, और विचार-धारा है! ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विचारों की समस्त निधि, भावनाओं का समस्त आह्लाद, सौन्दर्य का समस्त वैभव और गीतों का समस्त माध्यं अपनी चिर-प्रेयसी प्रकृति से ही प्राप्त किया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इन पंक्तियों में मिलता है—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि, मुक्ते भी अपने मीठे गान। कुसुम के चुने कटोरों से, करा दो ना कुछ मधु-पान।

ः सरसठ ::

महादेवो का वेदना-भाव

- १. भूमिका।
- २. वेदना के स्वरूप की मीमांसा।
- ३. वेदना का जीवन में प्रवेश ।
- ४. वेदना का ग्रालम्बन ।
- ५. वेदना का उद्दोपन-प्रकृति ।
- ६. वेदना के भ्रनुभाव।
- ७. संचारी भाव एवं विभिन्न भाव-दशाएँ।
- साधारणीकरण श्रीर रस-निष्पत्ति ।

श्राष्ट्रितक युगीन हिन्दी-कवियत्री महादेवी के काव्य में वेदना की एक ऐसी धारा सर्वत्र प्रवहमान है, जो कि पाठकों श्रीर धालोचकों के लिए एक ध्रस्पष्ट, जिंटल एवं दुर्बोध विषय बना हुआ है। हमारे विभिन्न विद्वानों ने इसे समफ्तने श्रीर समफ्ताने का प्रयत्न किया है, किन्तु द्रीपदी के चीर की भाँति इसकी दुर्बोधता का श्रावरण श्रिधकाधिक बढ़ता ही गया है। स्वयं कवियत्री ने भी इस पर यत्र-तत्र प्रकाश डालने का प्रयास किया है, किन्तु इससे भी इसकी रहस्यात्मकता का पर्दा विच्छिन्न नहीं हो सका। हमारे विचार से यदि पूर्व-घोषित घारणाश्रों से वचकर महादेवी के जीवन श्रीर काव्य की भाव-भूमि को घ्यान में रखते हुए इसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो इसका किंचित् स्पष्टीकरण संभव है।

'वेदना' के स्वरूप की मोमांसा

महादेवी ने भ्रपने इस 'वेदना-भाव' का 'वेदना', 'पीड़ा' भ्रादि शब्दों में उल्लेख किया है—

मेरो मधुमय पीड़ा को कोई पर ढूँढ़ न पाये।

× × ×

पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में

× × ×

गई वह ग्रधरों को मुस्कान, मुक्ते मधुमय पीड़ा में बोर

× × ×

उपर्युक्त पंक्तियों में जहाँ भी वेदना या पीड़ा का उल्लेख हुम्रा है, वहाँ उसके साथ मधुर विश्लेषण कि प्रियोगि भी सर्वेत्र हुम्मा है; जस— मधुमय पीड़ा', 'वेदना के मधुर

क्रय', 'मधुमय पीड़ा'। साधारणतः वेदना या पीड़ा मधुमय नहीं होती; जो मधुमय होता है, उसे वेदना या पीड़ा कहकर सुख श्रीर प्रसन्नता का नाम देना श्रिषक उचित है। किन्तु एक अनुभूति ऐसी भी होती है जिसमें एक श्रीर हृदय में श्रीमत श्राह्लाद होता है तो दूसरी श्रीर श्रत्यधिक पीड़ा भी। उस मीठी श्रीर तीखी श्रनुभूति को 'प्रेम' या 'प्रणय' की संज्ञा दी जाती है। प्रणयानुभूति में मधुरता श्रीर वेदना दोनों का श्रनुभव एक साथ होता है—इसका प्रमाण श्रनेक प्रेमी-किवयों की वाणो में मिलता है। घनानन्द इसे 'दुहेली दसा' (दो हरी दशा—दुख श्रीर सुख की) वताते हुए लिखते हैं—

ग्राधुनिक किन प्रसाद ने प्रेम को 'हलाहल' ग्रीर 'सुघा' दोनों एक साथ बताया

है—

तेरा प्रेम हलाहल प्यारे, ग्रब तो मुख से पीते हैं। विरह सुधा से बचे हुए हैं, मरने को हम जीते हैं॥

उर्दू किव गालिव और मीर ने भी प्रेम को एक भीठी आग या हृदय को कचोटने वाली अस्पष्ट अनुभूति माना है—

शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफता एक ग्राग-सी है दिल में हमारे लगी हुई।

—गालिब

इश्को मुहब्बत क्या जानूँ, लेकिन इतना मैं जानूँ हूँ। भ्रन्दर श्रन्दर सीने में भेरे दिल को कोई खाता है।

—मीर

एक ग्रंग्रेजी के किव ने भी प्रेम को धानन्द ग्रीर वेदना का केन्द्र-स्थान बताया

है—

"Love! What a volume in a word! An ocean in a tear!
A seventh heaven in a glance! A whirlwind in a sigh!
The lightning in a touch! A millennium in a moment!
What concentrated joy or woe! In blessed or blighted Love."

कहने का तात्पर्य यह कि किवयों की दुनिया में प्रेम को हर्ष भीर वेदना-मिश्रित बताने का प्रचलन बरावर रहा है, भ्रतः महादेवी की यह 'मधुर पीड़ा' भी प्रेम की ही पर्यायवाची कही जा सकती है।

महादेवी के इस 'वेदना-भाव' की ग्रन्य विशेषताएँ भी प्रणय-भाव के ही ग्रनुकूल हैं। उस वेदना का उद्भव किसी के 'ग्रघरों की मुस्कान' या किसी की 'चितवन' से बताया गया है। इसी प्रकिरि⁰निक्नांकिस्वशंका के खिरा ection, Varanasi.

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की कीड़ा। तुमको पीड़ा में ढुँढ़ा तुम में ढुँढ़ंगी पीड़ा।।

भ्रनेक भ्रालीचक, जिन्होंने यहाँ 'पीड़ा' शब्द को प्रचलित भ्रथं में ग्रहण किया है, इस ग्रंश का श्रर्थ स्पष्ट करने में श्रसफल रहे हैं। महादेवी वर्मा के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री विश्वम्भर 'मानव' लिखते हैं--- "ग्रन्तिम पीड़ा शब्द का ग्रर्थ है 'पीड़ामय हृदय'। जिसके लिए इतनी पीड़ा सही है, उस निष्ठुर के हृदय में भी कभी दर्द उठता है या नहीं, यह जानने की कामना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। जिस पीड़ा ने महादेवीजी को उस निष्ठुर से मिलाया है, उसकी प्राप्ति पर वे अपने साथ उपकार करनेवाली को भूल जाएँ, इतनी श्रकृतज्ञ महादेवीजी नहीं हैं। पर लक्ष्य 'तुम' ही है, पीड़ा नहीं।" मानव जी की यह व्याख्या अनेक असंगतियों के कारण अस्पष्ट है। एक तो यह समभ में नहीं आता कि कोई भी प्रेमिका ग्रपने प्रिय के हृदय में दर्द क्यों देखना चाहेगी ? फिर महादेवीजी स्थायी पीड़ा को ढूँढ़ने की वात कहती हैं, जबिक 'मानव' जी 'कभी दर्द उठता है या नहीं' यह जानने की 'कामना' कहकर कवियत्री के मूल भाव को ही बदल देते हैं। महादेवीजी स्पष्ट कहती हैं कि ''तुम में ढूँढूँगी पीड़ा''—श्रर्थात् उनके लिए 'तुम' गौण है, 'पीड़ा' प्रधान; किन्तु इसके विपरीत 'मानव' जी लिखते हैं, 'लक्ष्य तुम ही है पीड़ा नहीं।' व्याख्या में मूल भाव का स्पष्टीकरण किया जाता है, किन्तु मानव जी ने मूल भाव को भी उलट दिया है। वस्तुतः उपर्युक्त श्रंश में 'पीड़ा' का श्रर्थ प्रेम या प्रणय है। प्रेम से ही कवियत्री को प्रिय-तम की प्राप्ति हुई भौर प्रियतम में भी वह पीड़ा भ्रर्थात् प्रेम ढूँढ़ना चाहती हैं। प्रेमरहित या प्रणय-विमुख प्रियतम से किसी भी प्रेमिका को ग्रानन्द कैसे प्राप्त हो सकता है, ग्रतः महादेवी का यह कहना कि "तुम में ढूँढूँगी पीड़ा !" ठीक ही है।

महादेवी के इस 'पीड़ा' शब्द के सांकेतिक ग्रर्थ प्रेम को न समभने के कारण कुछ विद्वानों ने उन पर अनेक आक्षेप भी किए हैं। जैनेन्द्रजी कहते हैं—"धायल घाव नहीं चाहता है। मालूम होता है, उनकी गति घायल की है ही नहीं।" श्री सत्यपाल चुघ लिखते हैं-- "ग्रवश्य ही वेदना उनको प्रिय भी है ग्रीर इसका उनके जीवन-दर्शन से श्रनिवार्य रूप से सम्बन्ध भी हैं। तो क्या जो वात किसी को प्रिय हो, वही उसका जीवन-दर्शन भी होगी ? ऐसा ग्रावश्यक तो नहीं, किन्तु महादेवी-जैसी परिपक्व बुद्धिशीला महिला के लिए भावश्यक है, क्योंकि हम उनसे किसी सस्ती भावुकता की भ्राशा नहीं कर सकते । श्रौर फिर कितनी ही कविताश्रों में वेदना साघ्य बन गई है।" इस गहरी मीमांसा के पश्चात् विद्वान् लेखक इस समस्या को सुलभाने में ग्रसमर्थ रहा । महादेवी के श्रद्धालु विवेचक श्री विश्वम्भर 'मानव' भी इन ग्राक्षेपों को स्वीकार करते हुए लिखते हैं--- "महादेवीजी की पीड़ा-भावना पर एक ग्राक्षेप किया जा सकता है। कितना ही बड़ा साधक हो, उसकी श्रन्तिम ग्रिभलाषा होती है साध्य से एकाकार होने की। उस दशा में पीड़ा शान्त हो जानी चाहिए । साधन कितना ही मूल्यवान हो, साध्य का स्थान नहीं ले सकता। यदि सभी प्रेमियों की भाँति महादेवी इस निर्णय पर पहुँची हैं कि प्रियतम तक पहुँचने का मार्ग पीड़ा के भीतर से गया है—पथ में बिखरां शूल, बुला जाते क्यों दूर भ्रकेले CC70 की क्षेत्र भ्रक्ति भीत्र भीति वात नहीं। पर पथ पार कर लेने पर भी

काँटों को कलेजे से चिपटाए रखने की, पीड़ा के पल्ले को न छोड़ने की, हठ कैसी है ?'' यहाँ भी 'मानव' जी के पीड़ा-सम्बन्धी उपर्युक्त समस्त ग्राक्षेप सारहीन हो जाते हैं। भला, कोई भी प्रेयसी प्रियतम-प्राप्ति के ग्रनन्तर ग्रपने प्रेम को कैसे त्याग सकती है ? वही तो उसका साघ्य है।

एक बात और है—कई बार महादेवी अपनी पीड़ा को सुरक्षित रखने के लिए प्रियतम के मिलन तक को ठुकरा देती है; ऐसा क्यों? वात यह कि कवियत्री अदैत-वाद में विश्वास रखती हुई भी द्वैत स्थिति—यह द्वैत के मिथ्या आभास—को ही अधिक पसन्द करती है। आत्मा से परमात्मा के मिल जाने का अर्थ है—दोनों का एकाकार हो जाना, या आत्मा का निर्वाण या मोक्ष हो जाना। इस अदैतावस्था में न कोई प्रेमी रहता है और न प्रेयसी। प्रेम का यह समस्त व्यापार तभी तक चल सकता है, जब तक कि कवियत्री अपनी पृथक् सत्ता—भले ही वह मिथ्या आभास ही क्यों न हो—वनाए रखे। अतः शान्तिपूर्ण निर्वाण या मोक्ष की अपेक्षा वह प्रणय-युक्त दैत के अनुभव को अधिक पसन्द करती है। यही कारण है कि वह अपने इसी सशरीर जीवन में प्रियतम के दर्शन चाहती है, जिससे कि वह अपनी दैत स्थित के साथ-साथ प्रेम-रस का भी आस्वादन करती रहे—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महादेवी ने 'वेदना' या 'पीड़ा' शब्द का प्रयोग 'प्रणय' के ग्रर्थ में ही किया है; उनके प्रणय में विरह का ग्राधिक्य है, श्रतः उसे इस संज्ञा से ग्रमिहित करना उचित ही है।

वेदना का जीवन में प्रवेश

महादेवी के जीवन में इस वेदना का प्रवेश या उन्मेष किस प्रकार हुग्रा—इसका वृत्तान्त उन्होंने बार-बार ग्रपने गीतों में बताया है। उस समय कवियत्री एक मुग्वा बाला थी, उसके लाज के बोल ग्रभी तक खुले नहीं थे कि उसी समय किसी की चितवन से ग्राहत होकर वह सदा के लिए पीड़ा या प्रणय के बन्धन में बैंघ गई—

इन ललचाई पलकों पर, पहरा जब था त्रीड़ा का। सम्बद्धित्रियं अभूको अबेटाजा (उसल्टिजित्स क्रिक्टिय विकास का कुछ स्थानों पर कवियत्री 'चितवन' के स्थान पर उस ग्रदृश्य की मुस्कराहट के वशीभूत होने की बात भी कहती है—

बिछाती थी सपनों के जाल तुम्हारी वह करुणा की कोर, गई वह अधरों की पुस्कान मुक्ते मधुमय पीड़ा में बोर। यह घटना बहुत पुरानी है। तब से न जाने कितने युग बीत गए— गए तब से कितने युग बीत, हुए कितने दीपक निर्वाण।

महादेवीजी ने भ्रपनी किशोरावस्था के दिनों में ही इस प्रणय वेदना का राग भ्रजापना भ्रारम्भ कर दिया था, श्रतः इस घटना को बहुत पुरानी वताना ठीक ही है।

वेदना का ग्रालम्बन

महादेवीजी ने भ्रपनी प्रणय-वेदना के भ्रालम्बन का वर्णन सांकेतिक रूप में भ्रनेक स्थानों पर किया है। भ्रपनी प्रथम भेंट का चित्रण करते हुए वे लिखती हैं—

भटक जाता था पागल वात, धूलि में तुहिन कणों का हार ।

सिखाने जीवन का संगीत, तभी तुम आये थे इस पार ।।

उनकी संगीतज्ञता का परिचय भ्रन्य गीतों में भी मिलता है—

मूक प्रणय से, मधुर व्यथा से, स्वप्न लोक—श्राह्वान ।

वे आए चुपचाप सुनाने, तब मधुमय मुरली की तान ।।

श्रलचित आ कितने चुपचाप सुना भ्रपनी सम्मोहन तान ।

दिखाकर माया का साम्राज्य बना डाला इसको भ्रज्ञान ।।

'मुरली की तान' का बार-बार उल्लेख हमें बाँसुरी बजाकर गोपियों को मोहित कर लेनेवाले कृष्ण-कन्हैया की याद दिला देता है। यद्यपि महादेवी के भ्राराध्य सगुण कृष्ण नहीं हैं, किन्तु फिर भी उनके भ्रवचेतन मन पर उनके कुछ संस्कार भ्रवश्य विद्य-मान हैं।

अपने इस निर्गुण निराकार प्रियतम की अस्पष्ट-सी भलक कवयित्री प्रकृति के रूप-वैभव में देखती है—

मेघों में विद्युत् सी छवि उनकी बन कर मिट जातो। श्रांखों की चित्रपटी में जिसमें में आक न पाऊँ॥

कई बार यह निर्गुण ब्रह्म श्रात्मा के साथ श्रांख-मिचौनी खेलता हुआ भी दृष्टि-गोचर होता है—

में फूलों में रोती, वे बालारुण में मुस्काते। मैं पथ में बिछ जाती हूँ, वे सीरभ में उड़ जाते।।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवियत्री ग्रपने ग्रलीकिक प्रियतम की प्रतिच्छवि प्रकृति के सौन्दर्य में देखती है। उन्हें विद्युत् में उनकी छवि, शशि किरणों में उनकी ग्रामा, सागर की तरंगों में उनका श्वासीच्छ्रवास तारकों, सेंब जनकी ग्रपलक चितवन का ग्रामास मिलता है।

वेदना भाव का उद्दीपन-प्रकृति

लौकिक श्रृङ्गार के क्षेत्र में प्रकृति के उद्दीपन की चर्चा कवियों श्रीर श्राचार्यों द्वारा वरावर होती रही है। महादेवी के श्रलीकिक प्रेम में भी प्रकृति के विभिन्न श्रवयवों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दुष्टिगोचर होता है। छायावादी कवियों की दुष्टि में तो प्रकृति सजीव मानवी रूप में गोचर होती है, श्रतः उन्हें उसमें श्रपनी ही भावनाश्रों का प्रति-रूप दिखाई दे तो स्वाभाविक ही है। महादेवीजी भी प्रकृति के क्रिया-कलापों में ग्रपने प्रणय के स्वप्नों का साक्षात्कार करती हैं-

जिस दिन नीरव तारों से, बोली किरणों की अलकें, सो जाओ अलसाई हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकें।

कवियत्री अपनी ही मनः स्थिति के अनुकूल प्रकृति के भी कण-कण में करुणा,

वेदना भीर भांसभों का दर्शन करती है-

भूम भूम कर मतवाली सी पिये वेदनाओं का प्याला, प्राणों में रुँघी निःश्वासें श्रातीं ले मेघों की माला, उसके रह रह कर रोने में, मिलकर विद्युत् के खोने में। धीरे से सूने श्रांगन में फैला जब जाती है रातें, भर-भर कर ठण्डी साँसों में मोती से ग्रांस् की पाँतें, उनकी सिहराई कम्पन में किरणों से प्यासे चुम्बन में।

किन्तु विद्युत् ग्रौर मेघों की यही लीला मिलनाकांक्षाग्रों की वेला में हर्ष, उल्लास भीर माधूर्य से विलसित दृष्टिगोचर होती है। कवियत्री के जीवन में आशा भीर उल्लास का संचार होता है तो उसे मेघ मुस्काते हुए, जलघर हँसते हुए और विद्युत् प्रणय की सुनहरी पाश के सदृश प्रतीत होती हैं—

मुस्काता संकेत भरा नभ ग्रलि क्या प्रिय आनेवाले हैं। विद्युत् के चल स्वर्ण-पाश में वैघ हँस देता रोता जलघर। श्रपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर। दिन निशि को, देती निशि दिन को कनक रजत के मघु प्याले हैं।।

वस्तुतः प्रकृति के उद्दीपन रूप की व्यंजना महादेवी ने सफलतापूर्वक की है।

प्रेयसी के अनुभव

यद्यपि महादेवीजी ने भ्रपनी वेदनानुभूतियों की व्यंजना भ्रत्यन्त सूक्ष्म रूप में की है, किन्तु फिर भी उनके काव्य में विभिन्न शारीरिक, मानसिक एवं सात्विक अनुभवों का चित्रण यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। देखिए—

अलि कैसे उनको पाऊँ ! वे आंसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल जाते। इन पलकों के बंघन में में बांध-बांध पछताऊँ।।

CC-X Jangamwadi Man Collection, Varanasi.

चुपके से मानस में श्रा छिपते उच्छ्वासें वन । जिसमें उनकी साँसों में देखूं पर रोक न पाऊँ ॥

किन्तु जैसा कि स्वयं कवियत्री जी ने लिखा है, वे अपने 'अनुभवों' को व्यक्त नहीं होने देतीं—'मेरी आहें सोती हैं, इन श्रोठों की चोटों में'—फिर भी उनके आँसुओं की चर्चा उनके काव्य में प्रायः मिलती हैं; जैसे—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन, श्राज नयन श्राते क्यों भर भर ! संचारी भाव एवं विभिन्न भाव-दशाएँ

महादेवी के वेदना-भाव में, जो कि प्रेम का पर्यायवाची है, दो अन्य भाव सदा सहचारों रूप में मिश्रित रहते हैं—एक है जगत् के दीन-दुखियों के प्रति करुण भाव और दूसरा निजी वैभव के प्रति निर्वेद का भाव। कुछ गीतों में उन्होंने इन दो भावों का स्वतन्त्र रूप से भी चित्रण किया है। कवियत्री स्वयं विरिहणी है, अतः उसका प्रकृति और जगत् के शोकातुर प्राणियों के प्रति संवेदना व्यक्त करना स्वाभाविक है। यद्यपि इस कारण भावना का उनके काव्य के स्थायी भाव—प्रणय भाव—से विलकुल सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु फिर भी यह उसके विकास में सहायक ही सिद्ध होता है। फूलों के जीवन की दु:खमय परिणित को देखकर कवियत्री के अपने हृदय की वेदना जागृत हो जाती है—

देकर सोरभ दान पवन से कहते जब मुरकाये फूल, जिसके पथ में बिछे वही क्यों भरता इन थ्रांखों में धूल ? 'श्रव इनमें क्या सार', मधुर जब गाती भौंरों की गुंजार, मर्भर का रोदन कहता है, ''कितना निष्ठुर है संसार।''

वस्तुतः यहाँ 'मर्मर का रोदन' नहीं, स्वयं कवियत्री का हृदय ही इस निष्कर्ष को प्राप्त कर लेता है।

कवियत्री को ग्रपनी प्रणय-वेदना से जितना ग्रनुराग है, उतना ही उसे ग्रपने करुणा भाव से स्नेह है। वे इस तथ्य को स्पष्ट रूप में स्वीकार करती हुई लिखती हैं— "दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँघ रखने की क्षमता रखता है.... मनुष्य सुख को ग्रकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुख सबको बाँटकर—विश्व-जीवन में ग्रपने जीवन को, विश्व-वेदना में ग्रपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-विन्दु समुद्र में मिल जाता है, किव का मोक्ष है।" दुःख ग्रीर प्रणय-वेदना—इन दोनों भावों का ग्रन्तर भी उन्हें स्पष्ट रूप से ज्ञात है— "मुक्ते दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक ग्रविच्छन्न बंधन में बाँघ देता है ग्रीर दूसरा वह जो काल ग्रीर सीमा के बंधन में पड़े हुए ग्रसीम चेतन का क्रन्दन है।"

'करण' भाव के श्रतिरिक्त महादेवी में प्रणय-भाव के श्रनेक श्रन्य संचारियों श्रीर विभिन्न प्रणय-दशाश्रों का विकास भी दुष्टिगोचर होता है। पहले कुछ संचारी भाव देखिए— CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. गर्व — उनसे कैसे छोटा है, मेरा यह भिक्षुक जीवन। उनमें अनन्त करुणा है, इसमें ग्रसीम सूनापन।।

निर्वेद-

चिन्ता क्या है हे निर्मम बुक्त जाये दीपक मेरा। हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य ग्रॅंथेरा॥

दैन्य-

सिन्धु को क्या परिचय दें देव ! विगड़ते बनते बीचि विलास । क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद प्राण तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश ॥

इसी प्रकार प्रेम की विभिन्न भाव-दशायों—मिलनाकांक्षा, प्रतीक्षा, ग्रिमसार, मिलन, विरह ग्रादि का निरूपण भी उनके कान्य में हुग्रा है। उनको प्राप्त करने की ग्राकांक्षा—"ग्रिल कैसे उनको पाऊँ!" में व्यक्त हुई, तो मिलन के मधुर स्वप्नों की कल्पना करती हुई वे कहती हैं—

जब असीम से हो जायगा, मेरी लघु सीमा का मेल। देखोगे तुम देव, अमरता खेलेगी मिटने का खेल।।

मिलन की श्राशा से उनके हृदय श्रीर मन की क्या दशा हो जाती है— देखिए—

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन, श्राज नयन आते क्यों भर भर

तुम विद्युत् बन, आओ पाहुन। मेरी पलकों में पग घर घर।।
महादेवी ग्रपने कई गीतों में मिलन की तैयारी करती हुई दिखाई पड़ती हैं, जैसे—

हे नभ की दीपावलियो, तुम पल भर को बुक्त जाना। मेरे प्रियतम को भाता है, तम के पर्दे में स्नाना।।

किन्तु अन्त मे वह आता है या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख उनके कान्य में नहीं मिलता। संभवतः उस अलौकिक प्रियतम से जीवन में मिलना संभव भी नहीं। आत्मा शरीर से मुक्त होकर ही परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है, किन्तु उस स्थित में दोनों का दैत-भाव नष्ट हो जायगा और दैत नष्ट होते ही प्रेम का आधार समाप्त हो जायगा। इसलिए महादेवी इस प्रेम-शून्य मिलन की अपेक्षा प्रेमयुक्त विरह को ही स्वीकार किए हुए हैं—

"मिलन का मत नाम ले, विरह में मैं चिर हूँ।"

साधारणीकरण एवं रस-निष्पत्ति

यद्यपि महादेवी के काव्य में रस के सभी प्रमुख ग्रवयव विद्यमान हैं, किन्तु फिर भी उनके वेदना-भाव (या प्रणय-भाव) के साथ पाठक का पूर्णतः साधारणीकरण नहीं हो पाता। इसका एक कारण तो यह है कि स्वयं कवियत्री में भी ग्रनुभूति की गहराई नहीं मिलती; ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ग्रपने ग्रधिकांश गीत कल्पना ग्रीर विचार के ग्राधार पर खिल्ने हैं बेता दूसके उनका श्रालम्बन श्रलीकिक है, जिसका प्रत्यक्ष रूप में

साक्षात्कार पाठक नहीं कर पाता, कभी-कभी उसकी मुस्कराहट की वात अवश्य महादेवी के मुँह से सुनने को मिलती है। कबीर ने अपने अलौकिक प्रेम को दाम्पत्य-जीवन के लौकिक रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे पाठक का उनसे तादातम्य स्थापित हो जाता है, किन्तु महादेवी के काव्य में यह बात नहीं मिलती। इसके श्रतिरिक्त महादेवी की शैली में संकेतात्मकता, व्यंग्यात्मकता एवं श्रस्पष्टता भी श्रावश्यकता से श्रधिक है, जिससे रसानु-भूति में बाघा उपस्थित होती है। महादेवी के गीत हमारे हृदय को रस से भ्राप्लावित नहीं कर पाते। हाँ, मस्तिष्क के व्यायाम के लिए वे श्राधुनिक ढंग के सुन्दर साधन <mark>श्रवश्य हैं । फिर भी इतना स्वीकार करना होगा कि उनके काव्य-उपवन में श्रस्पष्टता</mark> की कँटीली भाड़ियों के बीच-बीच में कुछ ऐसी पंक्तियों-रूपी लताएँ भी विद्यमान हैं, जिनके पुष्प-रस से पाठक का हृदय कुछ क्षणों के लिए भाव-विभोर हो जाता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि उनके काव्य में थोड़ी मात्रा में भाव या धनुभूति, उससे ध्रधिक मात्रा में विचार भ्रौर सबसे भ्रघिक मात्रा में कल्पना है। भ्रतः उनसे काव्य में कविता, दर्शन श्रौर चित्रकला तीनों का स्वाद एक ही साथ उपलब्ध हो जाता है, यह दूसरी बात है कि कभी-कभी एक का स्वाद दूसरे के रस में बाघक सिद्ध होता है।

१. महादेवी-काव्य की विस्तृत समीक्षा के लिए द्रष्टव्य—'महादेवी: नया मृत्यांकन' शीर्षक लेखक की तयो पुस्तक्रा wadi Math Collection, Varanasi.

ः ग्रड्सठः

दिनकर की उर्वशी : प्रतीक-योजना एवं प्रतिपाद्य

- १. 'उर्वशी' का सामान्य परिचय।
- २. कवि का उद्देश्य।
- ३. पात्रों की प्रतीकात्मकता (प्रतिनिधित्व)
- ४. काम-दर्शन।
- ५. प्रेम के विभिन्न रूप एवं पक्ष ।
- ६. उपसंहार।

'उर्वशी' महाकिव दिनकर की महत्त्वपूर्ण काव्य-रचना है जिसमें किव ने उर्वशीपुरूरवा के प्राचीन माख्यान को नयी दृष्टि, नूतन भाव-भूमि एवं म्राधुनिक विचार-धारा
से समन्वित करके प्रस्तुत किया है। उर्वशी एवं पुरूरवा के प्रेमाख्यान को भारत का ही
नहीं विश्व का भी प्राचीनतम उपलब्ध प्रेमाख्यान कहा जा सकता है क्योंकि इसका
निरूपण सर्वप्रथम ऋग्वेद के दसवें मंडल में हुमा है तथा ऋग्वेद को विश्व के उपलब्ध
ग्रन्थों में प्राचीनतम माना जाता है। इस दृष्टि से यह भ्राख्यान मानव-सम्यता एवं
संस्कृति के एक भ्रत्यन्त प्राचीन रूप को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद के
भ्रान्तर शतपथ ब्राह्मण, पौराणिक ग्रन्थों एवं कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' में भी इस
ग्राख्यान का निरूपण विभिन्न रूपों में हुग्रा है। वस्तुतः उर्वशी भारतीय साहित्य का एक
ऐसा चरित्र है जिसके दर्शन वैदिक युग से लेकर भ्राधुनिक युग तक की विभिन्न रचनाओं
में उपलब्ध होते हैं। दिनकर से पूर्व वैंगला में रवीन्द्रनाथ भी उर्वशी पर सुन्दर काव्यात्मक रचना प्रस्तुत कर चुके थे।

दिनकर ने पुरूरवा-उर्वशों के आख्यान को एक विशेष उद्देश्य से ग्रहण किया है, जिसका संकेत करते हुए उन्होंने इस काव्य की भूमिका में लिखा है—''मृष्टि-विकास की जिस प्रक्रिया के कत्तंव्य-पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना-पक्ष पुरूरवा और उर्वशों की कथा में कहा गया है।...... मनु और इड़ा का आख्यान तर्क, मस्तिष्क विज्ञान और जीवन की सोद्देश्य साधना का आख्यान है, वह पुरूषार्थ के ग्रर्थ-पक्ष को महत्त्व देता है। किन्तु, पुरूरवा-उर्वशी का आख्यान भावना; हृदय कला और निरुद्देश्य ग्रानन्द की महिमा का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के काम-पक्ष का माहात्म्य बताता है।'' इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'उर्वशी' के रचियता के मन में इस ग्राख्यान के पौराणिक इतिवृत्त के भावात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ उसके वैचारिक

धर्य के प्रति भी विशेष धाकर्षण रहा है तथा उसने उर्वशी-पुरूरवा के माध्यम से जीवन के भाव-पक्ष, निरुद्देश्य म्रानन्द एवं काम-पक्ष के माहात्म्य को भी व्यंजित किया है। इस दिष्ट से इस काव्य के विभिन्न पात्र विभिन्न वैचारिक तत्त्वों या सूत्रों के प्रतीक माने जायँ तो अनुचित न होगा। वस्तुत: स्वयं किव ने भी भूमिका में इन पात्रों के प्रतीकार्थ का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है, जिसके ग्राधार पर इस काव्य के प्रतिपाद्य को भली-भाँति समभा जा सकता है।

यद्यपि स्वयं किव ने उर्वशी-पुरूरवा के ग्राख्यान का मूल प्रतिपाद्य या लक्ष्य 'निरुद्देश्य श्रानन्द की महिमा' या 'काम-पक्ष का माहात्म्य' ही माना है तथा इन दोनों को समानान्तर रूप में प्रस्तुत करते हुए इन्हें एक-दूसरे का पर्याय ही बताया है: तथा इसकी पुष्टि ग्रागे चलकर इस बात से भी हो जाती है कि उन्होंने 'उर्वशी' का शब्दार्थ उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना मानते हुए उसे कामनाभ्रों का प्रतीक बताया है तथा पुरूरवा को 'ऐन्द्रिय सुखों से उद्वेलित' व्यक्ति का प्रतीक माना है; किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शेष पात्रों का कोई प्रतीकार्य नहीं है। हमारे विचार में जहाँ उर्वशी भीर भ्रन्य भ्रप्सराएँ काम के निरुद्देश्य या स्वच्छन्द रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं, वहाँ पुरूरवा काम या प्रेम के सोद्देश्य रूप को प्रस्तुत करता है। साथ ही पुरूरवा की पत्नी भौशीनरी उस मर्यादित एवं समर्पित काम या प्रेम को चरितार्थ करती है जिसे सामान्यतः पातित्रत धर्म या सतीत्व का श्रादर्श कहा जाता है तथा च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या पति-पत्नी के भ्रादर्श एवं संतुलित प्रेम को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार 'उर्वशी' के विभिन्न पात्र काम या प्रेम-दर्शन के चार रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें तालिका रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

े १. स्वतंत्र या स्वच्छन्द काम (प्रेम)

२. शुद्ध भावात्मक

काम या प्रेम

विशेषता

(क) निरुद्देश्य

(ख) विवाह की

(ग) सन्तान-प्राप्ति की भी उपेक्षा

- (घ) शुद्ध वासना की प्रेरणा से प्रेरित।
- (ङ) केवल ग्रानन्द लक्ष्य
- (क) उद्देश्य---शारीरिक स्तर से ऊपर मन और धात्मा की तादात्म्य स्थापना ।
- (ख) स्थिर एवं स्थायी भावात्मक सम्बन्ध।
- (ग) प्रेम योग द्वारा देवत्व एवं CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi. परमेश्वर की उपलब्धि ।

मर्यादा से रहित

उसकी सखियाँ। (मुख्यतः रंभा)

प्रतिनिधि

उर्वशी तथा

पुरूरवा

- ३. दाम्पत्य जीवन का एकांगी रूप
- ४. दाम्पत्य जीवन का संतुलित या उभयपक्षी रूप

- (क) पत्नी सतीत्व के भ्रादर्श से श्रनुप्राणित ।
- (ख) पति (पुरुष) को ग्रन्य से सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता।
- (ग) सन्तानोत्पत्ति ही लक्ष्य।
- (क) पति के लिए पत्नी ईश्वर द्वारा प्रदत्त वरदान या सिद्धि तथा पत्नी के लिए पति वरदान । (ग्रन्योन्याश्रित प्रेम)
- (ख) काम, वासना धौर भोग से ऊपर उठा हुआ शुद्ध एकोन्मुख, ग्रात्मिक एवं स्थायी प्रणय।
- (ग) भ्रात्म-विकास एवं भ्रादर्श समाज की स्थापना ही लक्ष्य।

श्रीशीनरी

च्यवन एवं उनकी पत्नी सुकन्या

इस प्रकार उपर्युक्त चार वर्गों के माध्यम से किव ने मानव-सम्यता के इतिहास
में प्राप्त चार प्रकार की प्रमुख व्यवस्था-पढ़ित्यों के धाधार पर पुरुष-नारी के यौनसम्बन्धों या काम व प्रणय के स्वरूपों का निरूपण करते हुए काम-दर्शन की तुलनात्मक
व्याख्या प्रस्तुत की है। वैसे देखा जाय तो धाज के मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषक, समाजशास्त्री एवं दार्शनिक भी यौन-सम्बन्धों के इन रूपों पर अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार
करते हुए इनके महत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत कर रहे हैं। मानव-संस्कृति के
भावी विकास की दृष्टि से काम या प्रेम का कौन-सा रूप ग्राह्य है—इस सम्बन्ध में धाज
के मनौवैज्ञानिक, समाजशास्त्री एवं दार्शनिक एकमत नहीं हैं। भ्रतः कहना चाहिए कि
काम का कौन-सा रूप ग्राह्य है—यह प्रश्न ग्राज के मनुष्य की एक भ्रत्यन्त महत्त्वपूर्ण
समस्या है; एक यूनिवर्सल समस्या है, जिसे डा॰ दिनकर ने काव्यात्मक माध्यम से प्रस्तुत
करते हुए इसके सभी पक्षों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया है।

डा॰ दिनकर उपर्युक्त चार पक्षों में से किसका समर्थन करते हैं—या उनके मत में कौन-सा रूप ग्राह्य है—इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें क्रमशः इन चारों रूपों या पक्षों का विश्लेषण 'उर्वशी' के ग्राधार पर करना होगा। सर्वप्रथम हम स्वयं उर्वशी, के द्वारा प्रस्तुत पक्ष को ही लेते हैं।

उर्वशी काम या प्रेम के जिस पक्ष को प्रस्तुत करती है, उसे संक्षेप में 'स्वच्छन्द-प्रेम' की संज्ञा दी जा सकती है। भ।रतीय पुराणों के अनुसार उर्वशी स्वर्ग की ग्रप्सरा थी, तथा श्रप्सराश्रों के लिए किसी व्यक्ति से स्थायी सम्बन्ध रखना श्रावश्यक नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसीलिए वे न तो किसी एक व्यक्ति की पत्नी बनती हैं श्रौर न ही वे विवाह एवं दाम्पत्य का बन्धन स्वीकार करती हैं। यह बात न केवल उर्वशी पर श्रिपितु रंभा, मेनका श्रादि श्रन्य श्रप्सराश्रों पर भी लागू होती है। इस काव्य में भी केवल उर्वशी ही नहीं, रंभा, मेनका, सहजन्या श्रादि श्रप्सराएँ भी प्रेम के इसी रूप का प्रतिपादन करती हुई दिखाई पड़ती हैं। विशेषतः रंभा के द्वारा इसकी व्याख्या श्रत्यन्त स्पष्ट रूप में हुई है; यहाँ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सहजन्ये ! पर हम परियों का इतना भी रोना क्या ! किसी एक नर के निमित्त इतना धीरज खोना क्या ?

जो भी करती प्रेम उसे माता बनना होता है।

पर माता बनकर नारी क्या क्लेश नहीं सहती है। तन हो जाता शिथिल, दान में यौवन गल जाता है।

उपर्युक्त उक्तियों से स्पष्ट है कि इस स्वच्छन्द प्रेम में नर नारी किसी एक से ही सम्बन्धित नहीं रहते, ग्रंथीत् वह स्थिर भावात्मक सम्बन्ध एवं विवाह-सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करता; वह जीवन के किसी स्थायी भाव के रूप में भी विकसित नहीं होता—वह एक क्षणिक क्रीड़ा मात्र होता है; ग्रौर साथ ही उसमें पुत्रोत्पत्ति के लक्ष्य को भी स्वीकार नहीं किया जाता—इतना ही नहीं संतानोत्पत्ति को तो उसमें बाधा के रूप में ही स्वीकार किया जाता है; ग्रतः उसे ग्रनावश्यक या त्याज्य कर्म भी घोषित किया गया है।

स्वयं उर्वशी भी उपर्युक्त मान्यताथ्रों से ग्रस्त है; यह दूसरी बात है कि ग्रपनी विवशता के कारण वह पुरूरवा से श्रपेक्षाकृत दीर्घकालीन सम्बन्ध स्थापित करने एवं सन्तानोत्पत्ति के श्रनपेक्षित कार्य को सम्पादित करती है। किन्तु यह उसका काम्य नहीं या। ग्रागे चलकर जब वह देखती है कि पुरूरवा स्वयं उसकी भाँति स्वच्छन्द एवं निश्चिन्त रूप में काम-सुख की प्राप्ति में लीन नहीं हो रहा है तथा वह नीति-ग्रनीति, देवत्व-दनुजत्व, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, मुक्ति-बन्धन के द्वन्द्व से ग्रस्त है तो उसे वह इन सब विचारों से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व रूप में भोग-विलास में डूब जाने का उपदेश देती हुई समभाती है—

ग्रनासिक तुम कहो, किन्तु इस द्विधा-ग्रस्त मानव की , भांकी तुम में देख मुभे जाने क्यों भय लगता है।

द्धक कर देता उसे नहीं पीने जो रस जीवन का ! उर्वशी चाहती हैं विनु पुरुष्टिता वासाओं हुनिक्षाओं को aneसाग कर या भूलकर पूर्ण निश्चिन्तता से जीवन का रस पीने में — छककर पीने में लीन हो जाय उसे श्राश्चर्य है कि ऐसे मधुर क्षणों में भी उसका मन धौर मित्तिष्क ग्रन्यत्र क्यों लगा हुग्रा है ? सोचने पर उसे ज्ञात होता है कि पुरूरवा केवल रक्त (शरीर) या वासना के ही श्रावेग में न डूव कर बुद्धि एवं विवेक के जाल में उलभ जाता है। यह विवेक-बुद्धि ही है जो मनुष्य द्वारा निश्चिन्तता से वर्तमान के उपभोग में वाधा डालती हुई, उसे ग्रतीत या भविष्य की कल्पनाग्रों एवं चिन्तनाग्रों की ग्रोर उन्मुख कर देती है। कभी वह सोचता है; वर्तमान नाशवान है, क्षणभंगुर है। वह जो कुछ कर रहा है वह ग्रच्छा है या बुरा ? नीतिपूर्ण या ग्रनीतिपूर्ण, पुण्य है या पाप ? इसका फल शुभ है या ग्रशुभ ? इससे स्वर्ग मिलेगा या नर्क ? इससे मुक्ति एवं ईश्वर की प्राप्ति होगी या नहीं ? इस प्रकार की शंकाग्रों के कारण ही व्यक्ति निश्शंक रूप से ग्रपने-ग्रापको प्रकृत वासना एवं काम के हवाले नहीं कर पाता। इसीलिए उर्वशी बुद्धि को शंका, चिन्ता, भ्रान्ति एवं दुविधा की जननी घोषित करती हुई उसका तिरस्कार करती है। वह उसे 'छली' विशेषण से विभूषित करती हुई रक्त या शारीरिक वासना की भाषा को स्वीकार करने का उपदेश देती है—

पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का।
यह भाषा, यह लिपि मानस की कभी न भरमायेगी।
छली बुद्धि की भाँति जिस सुख-दुख से भरे भुवन में,
पाप दीखता वहाँ जहाँ सुन्दरता हुलस रही है।
और पुण्यचय वहाँ जहां कंकाल कुलिश कांटे हैं।

× × ×

इस प्रसंग में उर्वशी प्रकृति ग्रीर परमेश्वर, पाप ग्रीर पुण्य, स्वर्ग ग्रीर मुक्ति के सम्बन्ध में ग्रपनी धारणाएँ व्यक्त करती है। उसके विचारानुसार प्रकृति से परे या ग्रलग ईश्वर नहीं है—दूसरे शब्दों में भौतिक जगत् ही ईश्वर है। जो व्यक्ति प्रकृति या भौतिक जगत् के नियम स्वीकार करता है वह एक प्रकार से ईश्वर के ग्रादेशों को भी स्वीकार करता है। वासना या सहज प्रवृत्ति (Instincts) मनोविज्ञान के ग्रनुसार मानव ही नहीं ग्रपितु समस्त जैविक संसार की मूल प्रकृति से सम्बन्धित हैं—ग्रतः प्रकृति का ग्रनुमोदन करती हुई उर्वशी ग्रन्ततः सहज वासनाग्रों का ही ग्रनुमोदन करती है तथा उनकी ग्रवाध तुष्टि को ईश्वरीय कार्य सिद्ध करती है। विधि-निषेध, पाप-पुण्य, नीति-ग्रनीति के विचार मनुष्य की वासना-पूर्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं—ग्रतः इन्हें वह बुद्धि के द्वारा स्थापित व्यर्थ के बन्धनों के रूप में घोषित करती है। 'मुक्ति' से भी उसका ग्राशय ग्रात्मा की मुक्ति से नहीं ग्रपितु विवेक-बुद्धि द्वारा ग्रारोपित विधि-निषेध के बन्धनों से मुक्ति है—ग्रर्थात् विधि-निषेधों को मूलकर व्यक्ति निर्दृन्द्ध भाव से प्रकृति (सहज प्रवृत्तियों) के भोग में लीन हो जाय; यही जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है, जिसका प्रतिपादन वह ग्रत्यन्त ग्राकर्षक शब्दों में करती है—

मुक्ति खोजते हो ? पर यह तो कहो कि किस बंधन से ? बन्ध नियम, संयम, निग्रह, शास्त्रों की आज्ञाओं का ? मोह मात्र ही नहीं, सभी ऐसे विचार अवस्थित हैं! प्रक्त वही जो सहज भावना से इसमें बहते हैं;
 विधि-निषेघ से परे छूट कर सभी कामनाओं से,
 किसी घ्येय के लिए नहीं केवल बहते रहने की।

वृथा यत्न इस ग्रतल शून्य का तलस्पर्श करने का, हम हैं जहाँ वहाँ जाने की कोई राह नहीं है।

उर्वशी ने भ्रपने इस दर्शन को 'काम-धर्म' की संज्ञा दी है। वस्तुतः यह 'काम-धर्म' इतना संकीर्ण भ्रौर सीमित है कि उसका सम्बन्ध केवल शरीर से है, हृदय भ्रौर मन की भी वह उपेक्षा कर देता है। उर्वशी को भी यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है कि उसका दर्शन 'तन' का दर्शन है, मन का नहीं। इतना ही नहीं, वह तो यह भी स्वीकार करती है कि तन के काम-धर्म में सारे दोष मन के कारण ही उत्पन्न होते हैं, श्रतः उसके शब्दों में—

"तन का काम अमृत, लेकिन यह मन का काम गरल है!"

उर्वशी का यह काम-दर्शन या काम-धर्म, यद्यपि म्रत्यधिक भ्राकर्षक शब्दों में प्रस्तुत हुम्रा है तथा भ्राज के भ्रनेक क्षणवादी भोग-लोलुप व्यक्ति इसका समर्थन भी करेंगे किन्तु इसकी सीमा वर्तमान तक ही सीमित है। इस दर्शन के भ्रनुसार सारे विधि-निषेघों, नियमों, व्यवस्थाभ्रों, भविष्य की योजनाभ्रों को भूलकर व्यक्ति क्षणिक भ्रानन्द में तो इब सकता है किन्तु इसका जो मूल्य उसे चुकाना पड़ेगा वह बहुत भारी होगा। यह क्षणिक भोगवाद मानव-सम्यता को भ्रराजकता, भ्रव्यवस्था, निराशा एवं नाश की स्थित तक पहुँचाकर उसे शीघ्र ही जड़ प्रकृति का भ्रंग बना देगा—इसमें कोई संदेह नहीं। उर्वशी का यह कथन भी कि 'हम हैं जहाँ-जहाँ जाने की कोई राह नहीं।'—भी यही प्रमाणित करता है कि इस दर्शन में भविष्य के लिए कोई राह या मार्ग नहीं। वस्तुतः इसमें मानव की प्रगति का नहीं दुर्गति—क्षाणिक भ्रानन्द के बदले प्राप्त होने वाली स्थायी दुर्गति—का ही संदेश व्यक्त हुम्रा है। भ्रतः यह संदेश इस लोक के लिए नहीं, परलोक वासियों के लिए या ऐसे लोगों के लिए उपयुक्त है जो कि भ्रपनी प्रगति की भ्रंतिम सीमा तक पहुँचकर भविष्य के लिए गतिश्वन्य होने का उपक्रम कर रहे हैं।

काम या प्रेम के दूसरे रूप का प्रतिनिधित्व पुरूरवा के द्वारा होता है। प्रेम के इस रूप में शारीरिक सम्बन्धों या यौन सम्बन्धों की सर्वथा उपेक्षा तो नहीं की जाती, किन्तु वही उसका चरम लक्ष्य नहीं होता। इसमें प्रणय-सम्बन्ध का सूत्रपात भले ही काम-वासना एवं सौन्दर्य-लालसा से हो किन्तु वह वहीं तक स्थिर नहीं रहता ग्रिपतु उससे ऊपर उठकर क्रमशः शरीर से मन एवं मन से ग्रात्मा के स्तर तक पहुँचने का प्रयास करता है। स्वयं किव ने भूमिका में इसका संकेत करते हुए लिखा है—'इन्द्रियों के मार्ग से ग्रतीन्द्रिय घरातल का स्पर्श, यही प्रेम की ग्राध्यात्मिक महिमा है।...देश ग्रीर काल की सीमा से वाहर निकलने का एक मार्ग-योग है किन्तु उसकी दूसरी राह नर-नारी प्रेम के मौतर से मी निकलती है...कीम-सुख की इन्हीं निराकार

मंक्रुतियों का ग्राख्यान मनोविज्ञान उदात्तीकरण की भाषा में करता है। प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है।....साकार से ऊपर उठकर निराकार तक जाने की इस ग्राकुलता ग्रथवा ऐन्द्रियता से निकलकर ग्रतीन्द्रिय जगत् में ग्रांख खोलने की इस उमंग का प्रतीक पुरूरवा है। किव दिनकर के ये शब्द स्पष्ट रूप में इस तथ्य के द्योतक हैं कि पुरूरवा का प्रेमादर्श उर्वशी के कामादर्श से बहुत भिन्न है; जिसे उर्वशी प्रेम की ग्रन्तिम सीमा मानती है, वह पुरूरवा के लिए ग्रारंभिक है; जो उर्वशी के लिए साध्य है, वह पुरूरवा के लिए साधन मात्र है। पुरूरवा के प्रेम-दर्शन की पुष्टि मध्यकालीन योग-मार्ग, सिद्धों की सहज-साधना, संतों की सहज समाधि एवं ग्राधुनिक मनोविज्ञान के 'कामवासना के उदात्तीकरण' (Sublimation) से करके किव ने ग्रप्रत्यक्ष रूप में इसी का ग्रनुमोदन किया हो—इसकी संभावना है। किन्तु इसे ग्रंतिम रूप में स्वीकार करने से पूर्व इसका थोड़ा ग्रध्ययन ग्रौर ग्रपेक्षित है।

काव्य के तृतीय ग्रंक के ग्रारंभ में ही जब उर्वशी पुरूरवा से उपालंभपूर्ण शब्दों में कहती है कि वह उसे देवताओं से छीनकर या माँगकर वयों नहीं ले ग्राये, क्योंकि पुरूरवा की प्राप्ति के लिए उसे स्वयं धरती पर ग्राने का प्रयास करना पड़ा—तो इसके उत्तर में वह कहता है—

अयश मूल दोनों विकर्म हैं, हरण हो कि भिक्षाटन!

साथ ही पुरूरवा का एक मंतन्य यह है कि वह केवल उर्वशी के शरीर का ही नहीं, उसके हृदय का भी इच्छुक था। शरीर भिक्षा या ग्रपहरण के द्वारा भी प्राप्त हो सकता है किन्तु प्रेम उससे संभव नहीं—

...... अत्रिय भी भीख माँगते हैं क्या ? ग्रीर प्रेम क्या कभी प्राप्त होता है भिक्षाटन से ?

शरीर की प्राप्ति श्रौर हृदय की प्राप्ति के सूक्ष्म ग्रन्तर की क्याख्या करता हुआ वह कहता है—

बाहर सांकल नहीं जिसे तू खोल हृदय पा जाये। इस मंदिर का द्वार सदा श्रन्तःपुर से खुलता है।

प्रेम की महिमा, सत्यता, एवं दृढ़ता की शक्ति में उसे पूरा विश्वास है। 'जाकर जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू।' में उसकी पूरी श्रास्था है—

लेकर यह विश्वास प्रीति मेरी यदि मृषा नहीं है। मेरे मन का दाह व्योम के नीचे नहीं रुकेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुद्धना की अभावताएँ समरोविक वश्चाम, एवं काम-वासना

की अपेक्षा हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों से अधिक अनुप्राणित हैं। इसीलिए जिस तत्त्व-दर्शन को हम उर्वशी के संदर्भ में 'काम-दर्शन' कहते हैं, उसी को पुरूरवा के संदर्भ में 'प्रेम-दर्शन कहा जा सकता है।

पुरूरवा का प्रेम-दर्शन विवेक-बुद्धि, उदात्त चिन्तन, ग्रास्तिकता, श्रास्था एवं विराट की महत्ता के बोध से अनुप्राणित है—इसीलिए वह न तो शरीर-सुख की सीमाओं से आबद्ध है ग्रौर न ही तर्क-वितर्क से शून्य वह जीवन के केवल एक ही वृत्ति या प्रवृत्ति, या एक ही प्रकार की तृप्ति तक सीमित है। उसका प्रेम निश्चय ही सौन्दर्य की लालसा एवं भोग की ग्राकांक्षा से शून्य नहीं है, तथा कुछ क्षणों के लिए वह सब-कुछ भूलकर इनके प्रवाह में वह भी जाता है, किन्तु फिर भी ये उसके जीवन के स्थायी भाव नहीं वन पाते। उसकी उद्बुद्ध चेतना, विवेक बुद्धि एवं व्यापक ग्रनुभूति उसके व्यक्तित्व को इतनी खुली छूट नहीं देती कि वह ग्रपना सब-कुछ भूलकर सदा के लिए विलास के सागर में निमिज्जित हो जाय। इसीलिए उसकी चेतना प्राप्त सौन्दर्य को स्वीकार करती हुई भी उसी से संतुष्ट नहीं हो जाती। उसकी विवेक-बुद्धि ऐन्द्रिय सुख के क्षणों में भी उसे कुछ ग्रौर सोचने के लिए प्रेरित एवं उद्धेलित कर देती है। किसी परम सत्ता के प्रति ग्रास्था, उसके विराट रूप की ग्रनुभूति उसे यह स्मरण करवाये विना नहीं रहती कि उर्वशी का सौन्दर्य ही सब-कुछ नहीं है, उससे परे भी, उससे भी ग्रधिक व्यापक, कोई सौन्दर्य है। उर्वशी का सौन्दर्य तो उस विराट सौन्दर्य का एक ग्रंश मात्र है। पुरूरवा के शब्दों में—

तुम भ्रशेष सुन्दर हो, पर हो कोर मात्र ही केवल, उस विराट छवि की जो घन के नीचे श्रभी दबो है।

पुरूरवा का यह तर्क-वितर्क ग्रौर चिन्तन उर्वशी के प्राणों के लिए वोभिल सिद्ध होता है। ग्रवश्य ही यह उसकी निश्चिन्त काम-क्रीड़ा के प्रतिकूल है तथा उसमें ग्रवरोध उपस्थित करता है। वह ग्रपने मोहिनो रूप, कान्तासम्मित वचन एवं हास-विलास से पुरूरवा को कुछ समय के लिए निरुत्तर एवं मौन कर देती है तथा 'रक्त' (वासना) की महत्ता व बुद्धि की हेयता के पाठ से उसे प्रभावित कर देती है; किन्तु फिर भी पुरूरवा की ग्रन्तश्चेतना को पूर्णतः सुषुप्त करने में वह सफल नहीं होती। ग्रवश्य ही रक्त के ग्रावेग के सम्मुख मनुष्य की बुद्धि का बल पराजित हो जाता है; वासनाग्रों के ग्रावेग के सम्मुख कई वार व्यक्ति का विवेक एवं संयम घराशायी हो जाता है—पर क्या यह व्यक्ति की महत्ता का सूचक है क्या ऐसा होना मानव-मन की दुर्बलता ग्रौर ग्रसहाया-वस्था का सूचक नहीं है कि भले ही वासना का बल हमारी बौद्धिक प्रवृत्तियों को परास्त करने में सफल हो जाय पर फिर भी उत्कृष्ट तो हमारी बुद्धि ही है। उसके शब्दों में—

रक्त बुद्धि से ग्रधिक बली है, अधिक समर्थं, तभी तो,

× × ×

पहुँच नहीं पाते जिस्सा अध्यय एक पूर्ण सर्विता तक ।

ग्रस्तु, उर्वशी द्वारा वहु प्रशंसित, बहुमान्य 'रक्तवल' जो कि मनुष्य की वासनाओं एवं भोगलालसाओं का सूचक है, पुरूरवा की दृष्टि में वह मनुष्य की दुर्बलता एवं ग्रस-फलता का प्रमाण है। इसी रक्तवल (वासना की शक्ति) की वाधा के कारण मनुष्य श्रपने पवित्र, उदात्त एवं महान लक्ष्य तक पहुँचने में ग्रसमर्थ सिद्ध होता है। श्रतः निश्चय ही यह प्रशंसनीय न होकर निन्दनीय एवं त्याज्य है।

प्रेम के उपर्युक्त दोनों रूप क्रमणः शुद्ध वासना एवं भावना पर ग्राधारित हैं, जो व्यक्ति की स्वेच्छा एवं निजी प्रेरणायों तक सीमित है; सामाजिक वन्धनों, नियमों एवं मर्या-दाय्रों का उनसे सम्बन्ध नहीं हैं —ग्रतः उन्हें हम समाज-निरेपक्ष भी कह सकते हैं मानव सम्यता के ग्रादिकाल में नारी-पुरुष का सम्बन्ध बहुत-कुछ काम ग्रौर सौन्दर्य की प्रेरणाओं पर ही म्राधारित रहा होगा—ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु सम्यता के विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों विवाह, परिवार एवं समाज की विभिन्न इकाइयों का संगठन व विकास होता गया त्यों-त्यों स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध भी वैवाहिक नियमों व विधि-विधानों से अनुशासित होते गये। 'उर्वशी' में चित्रित प्रेम के शेष दो रूप इसी वैवाहिक रूप की दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के सूचक हैं। पहली स्थिति 'पातिव्रत धर्म' की सूचक है, जिसमें नारी के लिए पित के सभी गुण-दोषों को स्वीकार कर उसे परमेश्वर तक मानना ग्रावश्यक है। इसका प्रतिनिधित्व पुरुरवा की पत्नी श्रौशीनरी करती हैं। वह अपना तन, मन, घन, जीवन—सय कुछ पूर्ण भाव से पति को समर्पित कर देती है, किन्तु फिर भी पति के तन ग्रौर मन पर उसका कोई ग्रधिकार नहीं है। ग्रपना सब-कुछ देकर पित के रंच मात्र प्रेम के लिए भी वह भिक्षुणी बनी रहती है। वस्तुतः यह स्थिति उस सामन्तवादी व्यवस्था से सम्बन्धित है, जिसमें पुरुष ने स्वच्छन्द विहार के सम्पूर्ण ग्रिधिकार ग्रपने हाथ में लेकर दाम्पत्य-जीवन के सभी कर्त्तव्यों के पालन का भार नारी को सौंप दिया था। पातिव्रत धर्म के नाम पर नारी को जिस ग्रसहाय, दयनीय एवं विवश स्थिति में डाल दिया गया था, उसकी वास्तविकता ग्रीशीनरी के शब्दों में व्यक्त हुई है-

ग्रौशीनरी के उपर्युक्त शब्दों में सामन्तयुगीन परतंत्र नारी की व्यथा ग्रत्यन्त मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुई है। नारी पुरुष के श्रन्याय से बचना चाहती है किन्तु उसके पास इसका कोई उपाय नहीं है! कदाचित् नारी की इस ग्रसहाय स्थिति को ही व्यान में रखकर महाकवि तुलसी ने कहा था—

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कत विधि नारि सृजी जग माँही ! पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं !!

ऐसी स्थिति में नारी (पत्नी) का एक मात्र संवल पुत्र (पुत्री ?) प्राप्ति ही रह ाता है। पुत्रोत्पत्ति के द्वारा ही वह जीवन की सार्थकता को प्रमाणित करती है तथा दाम्पत्य जीवन के भ्रभावों की पूर्ति वात्सल्य के माधुर्य द्वारा करती है पर जहाँ नारी इस संबल की प्राप्ति में भी भ्रसफल सिद्ध हो जाती है तो उसका जीवन प्रत्यक्ष ही निरर्थक निस्सार एवं नरक-तुल्य बन जाता है। दुर्भाग्य तो यह है कि इस व्यवस्था में पुत्रोत्पत्ति का सारा उत्तरदायित्व भी पत्नी पर ही थोपा गया है; पुरुष तो सभी उत्तर-दायित्वों से मुक्त है। इसी स्थिति पर व्यंग्य करती हुई भ्रौशीनरी कहती है—

पुत्र पाने के लिए बिहरा करें वे कुंज वन में। स्रोर में स्राराधना करती रहुँ सूने भवन में।।

किन्तु पित के इन सारे अत्याचारों के बावजूद भी पातिव्रत धर्म में पत्नी के लिए पित के अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं है। पित चाहे कितना ही बुरा या अत्याचारी क्यों न हो—पत्नी का जीवन उसी के जीवन पर निर्भर है। सती-प्रथा के युग में तो पित की मृत्यु का अर्थ पत्नी का भी जीते-जी जल-मरना हो गया था—अतः ऐसी स्थिति में पत्नी, पित के सभी दुर्गुणों को स्वीकार करती हुई उसी के जीवन में अपना जीवन अनुभव करे तो स्वाभाविक है। औशीनरी की निम्नांकित उक्तियाँ इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं—

पित के सिवा योषिता का कोई श्राधार नहीं है !

× × ×

प्रियतम जहाँ भी हों, बिछे सर्वत्र पथ में फल हों !

दाम्पत्य जीवन का यह एकांगी व एकपक्षीय रूप किसी भी स्थित में प्रशंसनीय, स्वीकार्य एवं ग्राह्म नहीं कहा जा सकता। किव दिनकर ने इसका चित्रण कदाचित् इसकी विषमताग्रों एवं ग्रसंगतियों को ही स्पष्ट करने के लिए किया है; उनके स्वर में इसके श्रनुमोदन या समर्थन का संकेत कहीं भी नहीं मिलता, ग्रौर नहीं मिल सकता है।

दाम्पत्य जीवन का एक श्रत्यन्त संतुलित एवं श्रादर्श रूप च्यवन ऋषि एवं उनकी पत्नी सुकन्या के द्वारा प्रस्तुत हुग्रा है। च्यवन जहाँ ग्रपनी पत्नी को ग्रपनी समस्त साधना उपलब्धि, ईश्वर के द्वारा दी गयी सिद्धि के रूप में स्वीकार करते हुए उसे ग्रपने जीवन में सर्वोपिर स्थान प्रदान करते हैं, वहाँ उनकी पत्नी सुकन्या भी ग्रपने पित को ग्रपने 'परम श्राराघ्य देव' के रूप में स्वीकार करती है। सुकन्या की यह स्वीकृति सामन्त युगीन नारी की भाँति ग्रारोपित स्वीकृति नहीं है, ग्रपितु इसके पीछे यथार्थ की ग्रनुभूति है। पित को सम्पूर्ण रूप में, उसके सम्पूर्ण प्रेम को प्राप्त कर लेने के कारण ही सुकन्या ऐसा ग्रनुभव प्राप्त करती है, मानो उसे जीवन में सब-कुछ मिल गया। इसीलिए उसके मन में ग्रीशीनरी की सी वेदना, पीड़ा, ग्रसंतोष, ग्रशान्ति, विवशता ग्रादि का कोई भाव नहीं है—इतना ही नहीं उसकी उक्तिर्गं परिपूर्ण काम एवं पूर्ण संतोष की ग्रनुभूति से ग्रीत-प्रोत प्रतीत होती हैं—СС-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

"वया कुछ मिला नहीं मुक्तको दियता महर्षि की होकर?"

दाम्पत्य जीवन का यह महान् भ्रादर्श पति-पत्नी के पूर्ण समर्पण, गंभीर एकोन्मुख एवं सच्ची श्रात्मिक एकता पर ग्राधारित है। प्रेम के जिस रूप को इसमें ग्रहण किया जाता है, वह शरीर के सौन्दर्य एवं यौवन के वसन्त तक ही सीमित नहीं रहता; उसका लक्ष्य एकमात्र भोग ही नहीं रहता ग्रौर न ही उसका उद्देश्य केवल दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने तक सीमित रहता है, ग्रपित उसकी सीमाएँ तन ग्रौर मन के प्रदेशों से ग्रागे बढ़कर म्रात्म एवं म्रघ्यात्म तक व्याप्त हो जाती हैं; उसका लक्ष्य भोग ही नहीं, योग भी वन जाता है ग्रीर उसका उद्देश्य लौकिक जीवन के सुखों से भी ग्रधिक उच्च एवं उदात्त सुख-सच्चे थ्रात्मिक एवं भ्राच्यात्मिक भ्रानन्द की प्राप्ति बन जाता है। प्रेम के इस स्वरूप में न संतानोत्पत्ति से बाधा उपस्थित होती है ग्रीर न ही वृद्धावस्था के ग्रागमन से उसका रंग फीका पड़ता है। महर्षि च्यवन के शब्दों में प्रजा-सृष्टि के द्वारा नारी एक ऐसे महान यज्ञ को पूर्ण करती है, जिस पर सृष्टि का समस्त विकास भ्राधारित है। भ्रौर शिशु ? वह तो सचमुच ईश्वर का ही एक रूप है ! उनके शब्दों में-

''सच पूछो तो प्रजा-सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का ? यह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है!

× शुभे ! सदा शिशु के स्वरूप में ईश्वर ही आते हैं ! महापुरुष की ही जननी प्रत्येक जननि होती है!"

इन उक्तियों को पढ़कर सहज ही रंभा का वह कथन याद श्रा जाता है कि 'पर माता वनकर नारी क्या क्लेश नहीं सहती है। तन हो जाता शिथिल, दान में यौवन गल जाता है। कहाँ मातृत्व को ग्रिभिशाप मानने वाली ग्रप्सराएँ ग्रीर कहाँ महर्षि च्यवन जो मातृत्व के कारण ही नारी को वंदनीय मानते हैं ! वस्तुतः स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द काम-धर्म की ग्राराधना करने वाली ग्रप्सराग्रों की ग्रन्य युक्तियों का भी खंडन महर्षि च्यवन भौर उनकी पत्नी सुकन्या की उक्तियों द्वारा भ्रप्रत्यक्ष में ही हो जाता है; यथा—

''जो प्रफुल्ल, घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी! नये-नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को ?

यौवन का भग्नावशेष वह तब फिर किसे रुचेगा? X अप्सरियां जो करें किन्तु हम मत्यं योषितास्रों के, म्रानन्द-कोष केवल मधुपूर्ण हृदय है। हृदय नहीं त्यागता हमें यौवन के तज देने पर, न तो जीणंता के आने पर हृदय जीणं होता है।"

वस्तुत: सुकन्या के शब्दों में प्रेम के जिस रूप की व्याख्या हुई है वह एक अत्यन्त उदात्त, गंभीर एवं स्थिर भाव है जो मानवात्मा को सच्ची शान्ति और सच्चा म्रानन्द प्रदान करता है-

है-

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एक दूसरे के उर में हम ऐसे बस जाते हैं, दो प्रसून एक ही वृन्त पर जैसे खिले हुए हों। फिर रह जाता भेद कहाँ शिशिर, घाम, पावस का? एक संग हम युवा, संग ही संग वृद्ध होते हैं।

प्रेम के इस स्वरूप में जो सुख, शान्ति एवं पिवत्रता है, वह श्रप्सराश्रों के क्षणिक उन्मुक्त भोग में संभव नहीं—यह निर्णय भी किव सुकन्या के शब्दों में प्रस्तुत कर देता है—

भ्रप्सरियां उद्विग्न भोगतीं रस जिस चिर यौवन का, उससे कहीं महत् सुख है जो हमें प्राप्त होता है। निश्छल शान्त, विनम्न, प्रेमभर उर के उत्सर्जन से।

सुकन्या द्वारा प्रतिपादित प्रादर्श का प्रनुमोदन चित्रलेखा द्वारा भी हो जाता

'सचमुच, यह सुख श्रप्रमेय है, मन ही निन्दि-निलय है।'
नारी की महत्ता की भी प्रतिष्ठा इसी श्रादर्श में होती है—
''नारी को पर्याय बता कर तपःसिद्धि भूमा का,
सचमुच, त्रिया-जाति को ऋषि ने श्रद्भुत मान दिया।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दिनकर ने प्रेम के विभिन्न रूपों की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए भी अन्ततः इसी रूप का—च्यवन एवं सुकन्या द्वारा प्रस्तुत रूप का ही अनुमोदन किया है। इस तथ्य का संकेत उन्होंने भूमिका में भी दे दिया है—''''संन्यास और प्रेम के बीच संतुलन की एक क्राँकी महर्षि च्यवन के चित्र में क्रांक मारती है। जो नदी पुरूरवा के भीतर वेचैन होकर गरज रही है, वही च्यवन में आकर स्वच्छ, सुस्थिर, शीतल और मौन है।'' च्यवन और सुकन्या के इस संतुलित दाम्पत्य का समर्थन मनोविज्ञान के आधार पर भी किया गया है। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि 'उर्वशी' में चित्रित यौन-समस्याओं या काम-प्रेम की समस्याओं का समाधान—आदर्श समाधान च्यवन एवं सुकन्या के संतुलित दाम्पत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है; किन्तु इस निष्कर्ष को अंतिम रूप देने से पूर्व कुछ अन्य तथ्यों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

उनका श्रनुभूत है, समाधान श्रनुभूत नहीं है। इसका श्रर्थ यह है कि समाधान इसमें श्रवश्य है, यह दूसरी वात है कि वह 'ढ़न्द्र' जैसा प्रभावशाली न वन पाया हो।

डा॰ सावित्री सिन्हा ने भी इस प्रसंग पर विचार करते हुए लिखा है—'उर्वशी का दुर्बल पक्ष यह दिखाई देता है कि उसके प्रधान पात्र दर्द-बेचैनी और वासना का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसका परिणाम निराशा है और गीण पात्र उन उदात्त मूल्यों और आदर्शों का जो दिनकर को अपने संस्कारों और परम्परा से मिलते हैं।'

निश्चय ही उर्वशी में यदि कोई समाधान है तो वह उसके गौण पात्रों-च्यवन एवं सुकन्या—द्वारा ही प्रस्तुत हुन्ना है तथा इस स्थिति में उसका महत्त्व गौण हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि किव ने प्रमुख पात्रों के माध्यम से समस्या को ही ग्रधिक ज्वलन्त रूप में प्रस्तुत किया है; समा-धानों के प्रति उसका विशेष भुकाव या लगाव नहीं है। किन्तु कथा की परिणति इस कथन के विरुद्ध पडती है। उर्वशी के पुत्र का सूख से वंचित होना, पुरूरवा का एकांगी भोग और एकांगी संन्यास के द्वन्द्व से प्रस्त रहना, ग्रीशीनरी का दाम्पत्य-सुख से वंचित रहना-प्रेम के तीनों रूपों की ग्रसफलता का ही सूचक है, जबिक सुकन्या ग्रीर च्यवन प्रेम के जिस महत्ता का प्रतिपादन करते हैं, उसे वे ग्रपने जीवन में चरितार्थ भी करते हैं। जहाँ ग्रन्य पात्रों के स्वप्न ग्रन्त में खंडित हो जाते हैं, वहाँ इनका स्वप्न साकार हो जाता है। ग्रतः हमारे विचार में 'उर्वशी' के माध्यम से यौन-समस्या का जो समाधान प्रस्तुत हुम्रा है, वह च्यवन-सुकन्या के इस म्रादर्श, एकोन्मुखी, गंभीर एवं स्थायी प्रेम में ही निहित है, जो नारी-पुरुष के कर्त्तव्य एवं ग्रधिकारों में समता व संतुलन स्थापित करता हुमा, नारी पत्नीत्व एवं मातृत्व—दोनों को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः प्रेम की जिस उच्चभूमि तक पुरूरवा पहुँचना चाहते थे, तथा भोग श्रीर योग, प्रेम श्रीर संन्यास में जो समन्वय वे स्थापित करना चाहते थे, वह उनके ग्रतिवादी व एकांगी भोग एवं संन्यास के कारण सुलभ एवं संभव नहीं हो पाया—जब कि सुकन्या एवं च्यवन ने उसे सहज ही प्राप्त कर लिया। वस्तुतः पुरूरवा जैसे व्यक्ति के लिए जो ग्रीशीनरी श्रीर उर्वशी के रूप में दो स्रतिवादिता स्रों — त्याग श्रीर भोग की चरम सीमा स्रों की प्रतीक हैं—से ग्रस्त थे, यह संभव भी नहीं था कि वे जीवन के श्रादर्श रूप—श्रादर्श प्रेम को-प्राप्त कर पाते।

ः उनहत्तरः

त्राचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति

- १. समीक्षा-पद्धति के तीन ग्रावश्यक ग्रंग।
- २. ग्राचार्य शुक्ल के काव्य-सम्बन्धी विचार ।
- ३. समीक्षा का व्यावहारिक रूप।
- ४. समीक्षा में प्रयुक्त भाषा-शैली ।
- ५. श्राचार्य शुक्ल का महत्त्व—तुलना—डॉ॰ श्यामसुन्दरदास; डॉ॰ हजारी-प्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ नगेन्द्र, श्री नन्ददुलारे बाजपेयी, श्री गुलाबराय।
- ६. उपसंहार।

हमारे विचार से किसी भी धालोचक की समीक्षा-पद्धित के अन्तर्गत मुख्यतः इन तीनों बातों पर विचार किया जाना चाहिए—(१) उसके काव्य सम्बन्धी भ्रादर्श, सिद्धान्त या विचार, (२) उसकी समीक्षा का व्यावहारिक रूप भ्रौर (३) उसकी समीक्षा की भाषा-शैली। इसके भ्रतिरिक्त किसी भी समीक्षक का महत्त्व निर्धारित करने के लिए उसके पूर्ववर्ती भौर समकालीन समीक्षकों से भी उसकी तुलना भ्रपेक्षित है। हम यहाँ इन्हीं भ्राधारों पर भ्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-पद्धित का भ्रनुशीलन करेंगे।

भ्राचार्य शुक्त के काव्य-सम्बन्धी विचार

यद्यपि ग्राचार्य शुक्ल ने सैद्धान्तिक ग्रालोचना-सम्बन्धी कोई ग्रलग ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु उनके विभिन्न निबन्धों ग्रीर समीक्षात्मक ग्रन्थों में उनके काव्य-सम्बन्धी विचार उपलब्ध होते हैं; विशेषतः 'चिन्तामणि' के निबन्धों—"कविता क्या है ?" "काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था", "साधारणोकरण ग्रीर व्यक्ति-वैचित्र्यवाद", "रसात्मक बोध के विभिन्न रूप" ग्रादि—में उनकी काव्य-सम्बन्धी मान्यताएँ स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई हैं। "कविता क्या है ?" में उन्होंने काव्य के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। कविता की परिभाषा करते हुए उन्होंने उसके व्यापक एवं गंभीर रूप को घ्यान में रखा है। उनके शब्दों में—"जिस प्रकार ग्रात्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इस मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती ग्राई है, उसे कविता कहते हैं।"

कविता-सम्बन्धी इस उच्च म्रादर्श के कारण शुक्लजी ने काव्य का प्रयोजन बहुत व्यापक माना है। ्रह्यान्। अहें अस्ति अस्ति अस्ति अस्ति अस्ति । हिवेदीजी कविता का मूल्यांकन उपयोगितावादी स्थूल दृष्टिकोण से करते हुए लिखते हैं-- "कविता से विश्रान्ति मिलती है, उससे मनोमालिन्य दूर होता है ग्रीर थकावट कम हो जाती है। चनकी पीसने के समय स्त्रियाँ, काम करने के समय मजदूर भ्रादि परिश्रम कम होने के लिए गीत गाते हैं।"-वहाँ ग्राचार्य शुक्ल कविता के सूक्ष्म एवं व्यापक प्रभाव को घ्यान में रखते हए उसके एक ऐसे व्यापक प्रयोजन की चर्चा करते हैं, जिससे एक ग्रोर कविता उपयोगितावाद के संकीर्ण घेरे से मुक्त होती है, दूसरी श्रोर वह लोक-मंगल की साधना में भी योग देनेवाली सिद्ध होती है। उनके विचारानुसार काव्य के द्वारा हमारे मनोभावों का परिष्कार होता है तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा होती है। सम्यता के विकास के साथ-साथ हमारे हृदय पर वौद्धिकता, कृत्रिमता भीर संकीर्णता का भ्रावरण पड़ता जा रहा है; कविता इस भ्रावरण को छिन्न-भिन्न करके हमारे वास्तविक स्वरूप की रक्षा करती है। ग्रतः यह धारणा कि सम्यता ग्रीर विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ कविता क्षीण होती जायगी, मिथ्या है। भ्राचार्य शुक्ल के शब्दों में--''ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सम्यता के नए-नए भ्रावरण चढ़ते जायँगे, त्यों-त्यों एक श्रोर तो कविता की ग्रावश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी श्रोर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।" कविता के भविष्य के वारे में शुक्लजी का दृष्टिकोण ग्राशा ग्रौर विश्वास से ग्रोत-प्रोत है: "मनुष्य के लिए किवता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सम्य-ग्रसम्य सभी जातियों में यह किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। चाहे इति-हास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रसार ग्रवश्य रहेगा।"

जो लोग किवता का लक्ष्य हल्के स्तर का मनोरंजन या मनवहलाव-मात्र मानते हैं, उनसे भी ध्राचार्य शुक्ल का गहरा मतभेद था। वे ध्रपने विरोधियों की घारणा का खंडन करते हुए जोरदार शब्दों में लिखते हैं—''मन को धनुरंजित करना, उसे सुख या ध्रानन्द पहुँचाना ही यदि किवता का ग्रंतिम लक्ष्य माना जाय, तो किवता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई। परन्तु क्या कोई कह सकता है कि वाल्मीिक ऐसे मुनि ध्रौर तुलसीदास ऐसे भक्त ने केवल इतना ही समभकर श्रम किया कि लोगों को समय काटन का एक ग्रच्छा सहारा मिल जायगा? क्या इससे गम्भीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत-से लोग किवता को विलास की सामग्री समभते ग्रा रहे हैं।' पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में काव्य-प्रयोजन के प्रश्न को लेकर भारी वाद-विवाद हुआ है। कुछ लोगों ने किवता को किवता के लिए घोषित करते हुए उसे लोक-विरोधी रूप प्रदान कर दिया, तो कुछ ने उसे नीति, सदाचार और उपयोगिता की संकीर्ण सीमाग्रों में इस तरह भ्राबद्ध कर दिया कि उसका जीवन ही समाप्त हो गया। ग्राचार्य शुक्ल ने इन दोनों दृष्टिकोणों की ग्रतिवादिता से वचकर एक ऐसा संतुलित दृष्टिकोण ग्रपनाया, जिससे कि किवता में काव्यत्व ग्रौर लोक-हित—दोनों का सुन्दर समन्वय हो जाता है।

काव्य का सर्वप्रथम गुण क्या है ? या यों किहए कि उसकी ग्रात्मा क्या है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए वे सौन्दर्य को ही किवता का सर्वप्रथम गुण सिद्ध करते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

वे स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं - "सुन्दर और कुरूप-काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बरा. शभ-ग्रशभ, पाप-पुण्य, मंगल-ग्रमंगल, उपयोगी-ग्रनुपयोगी-ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं। ये नीति, धर्म, व्यवहार, अर्थशास्त्र आदि के शब्द हैं। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में न कोई बात भली कही जाती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी न अनुप-योगी। सब बातें केवल दो शब्दों में दिखाई जाती हैं - सुन्दर और असुन्दर।....जिसे घर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल कहता है, किव उसके सौन्दर्य पक्ष पर आप ही मुख रहता है श्रीर दूसरों को भी मुख करता है।"

सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों में परस्पर गहरा मत-भेद मिलता है। भ्राचार्य शुक्ल ने इन पाश्चात्य विद्वानों की सौन्दर्य-मीमांसा को 'भाषा के गड़बड़ भाले के सिवा ग्रीर कूछ' नहीं माना है। उन्होंने सौन्दर्य के सम्बन्ध में मौलिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए काव्य-गत सौन्दर्य के तीन प्रकार निश्चित किए-(१) भाव-सीन्दर्य, (२) रूप-सीन्दर्य भीर (३) कर्म-सीन्दर्य। कर्म-सीन्दर्य की कल्पना के द्वारा शुक्ल जी ने ग्रप्रत्यक्ष रूप में नैतिकता ग्रीर लोक-हित को प्रश्रय दे दिया है। वे नैतिकता का समर्थन या ग्रनैतिकता का विरोध लोक-हित के नाम पर न करके 'काव्य-सौन्दर्य' के लिए करते हैं।

अनेक ग्रालोचक ग्रालंकारिकता, उक्ति-वैचित्र्य, वक्रोक्ति व काव्य-चमत्कार को ही काव्य-सौन्दर्य मानते हैं, किन्तु शुक्ल जी के विचार से ऐसा नहीं है। वे वर्ण-विन्यास, शब्द-क्रीड़ा, वाक्य-वक्रता, दूरारूढ़ कल्पना एवं उक्ति-वैचित्र्य ग्रादि से उत्पन्न चमत्कार का विरोध करते हैं। चमत्कार का लक्ष्य चमत्कार न होकर भाव-सौन्दर्य की ग्रिभवृद्धि करना होना चाहिए। चमत्कार का प्रयोग भावुक किन भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। भावना से असंपृक्त चमत्कार को वे काव्यत्व से शून्य मानते हैं--- "जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागृत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह है काव्य, जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठे-पन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।"

काव्य के मान-दंड के रूप में ग्राचार्य शुक्ल ने प्राचीन रस-सिद्धान्त को ही ग्रहण किया, किन्तु उन्होंने उसकी व्याख्या भ्रपने ढंग से की । रस-सिद्धान्त के भ्रनुसार काव्य का लक्ष्य ग्रानन्दानुभूति प्रदान करना है, किन्तु ग्राचार्य शुक्ल ने लोकहित को स्थान देने के लिए इस ग्रानन्द की दो ग्रवस्थाएँ निश्चित कीं—(१) ग्रानन्द की साधनावस्था ग्रीर (२) ग्रानन्द की सिद्धावस्था। जिन कार्व्यों में ग्रानन्द की स्थापना के लिए प्रयत्न या संघर्ष का चित्रण किया जाता है, वे प्रथम कोटि में भ्राते हैं, किन्तु जिनमें केवल भ्रानन्द की प्राप्ति के निमित्त संघर्ष या प्रयत्नों के स्थान उसके भोग का ही चित्रण किया जाता है, उन्हें 'ग्रानन्द की सिद्धावस्था' के भ्रन्तर्गत स्थान दिया गया है। रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल-वध, पद्मावत, रामचरित-मानस श्रादि रचनाएँ प्रथम वर्ग में भ्राती हैं; जबिक गाथा-सप्तशती, ग्रेम्स्कथालक, अविश्वभाषिक भाषित है। स्वाप्त प्रादि

दूसरे वर्ग में । इस वर्गीकरण के द्वारा भ्राचार्य शुक्ल लोक-हित के लिए किए जानेवाले संघर्ष चित्रण का काव्य में भ्रधिक महत्त्व सिद्ध करना चाहते थे । दूसरे, इससे वे कर्म-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करना चाहते थे भौर तीसरे, वे मूल-भाव की व्यापकता के ग्राधार पर रसानुभूति की व्यापकता का निर्णय करना चाहते थे । भतः उनके विचार से क्रोध, घृणा भ्रादि भाव भी रसानुभूति की दृष्टि से रित, करुणा भ्रादि कोमल भावों जैसे ही प्रभावशाली हैं, यदि उनका भ्राधार व्यापक हो ।

कविता में प्रकृति के स्वतन्त्र रूप में चित्रण के भी ग्राचार्य शुक्ल बड़े समर्थक थे। इस सम्वन्ध में उनका विचार था कि सच्चे किव को प्रकृति के सभी रूपों का चित्रण मार्मिक रूप में करना चाहिए। "जो केवल प्रफुल्ल प्रसून-प्रसाद के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप, मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज ग्रौर शीतल-सुख-स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे शिषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमिवन्दु मंडित मरकताभशाद्वल-छाल, ग्रत्यन्त-विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गम्भोर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता ग्रौर विचित्रता में ही ग्रपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशवीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण-ग्रसाधारण हर प्रकार के रूप में रमाने वाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति ग्रादि संस्कृत के प्राचीन कवियों में मिलते हैं।"

काव्य के विभिन्न रूपों में से शुक्लजी को प्रवन्ध रूप ग्रधिक प्रिय था। प्रवन्ध का क्षेत्र व्यापक होता है ग्रीर उसमें जीवन ग्रीर जगत् के विविध चित्र ग्रा जाते हैं— कर्म-सौन्दर्य की भी व्यंजना ग्रधिक विस्तार से हो जाती है। इसीलिए शुक्लजी ने प्रवन्ध-कार किवयों को ग्रन्थों से ग्रधिक महत्त्व प्रदान किया। कबीर से जायसी को या सूरदास से तुलसीदास को प्रवन्ध लेखन के कारण ही ग्रधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है।

काव्य की भाषा के सम्बन्ध में ग्राचार्य शुक्ल ने चार विशेषताग्रों का चित्रण किया है। एक तो किवता में कही गई बात चित्र-रूप में हमारे सामने ग्रानी चाहिए। सूक्ष्म विषयों का भी चित्रण काव्य में स्थूल रूप में किया जाना चाहिए, जिससे कि वे पाठक के हृदय को प्रभावित कर सकें। "ग्रगोचर बातों या भावनाग्रों को भी जहाँ तक हो सकता है, किवता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त्त-विद्यान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे 'समय बीता जाता है' कहने की ग्रपेक्षा, 'समय भागा जाता है' कहना वह ग्रधिक पसन्द करेगी।" (चिन्तामणि, पृ० १७५)

काव्य-भाषा की दूसरी विशेषता यह मानी गई है कि उसमें सामान्य जाति-सूचक शब्दों के स्थान पर विशेष स्वरूप के कार्य को सूचित करनेवाले शब्द ग्रधिक रहते हैं। जैसे कि किसी ने कहा—''ईश्वर सब प्राणियों का पालन करता है।'' यहाँ 'प्राणी' शब्द जातिवाचक है। यदि इसके स्थान पर कहा जाय कि ईश्वर चोंटी से लेकर हाथी तक सबका पालन करता है तो वह विशेष प्राणी सूचक कहलाएगा। इसी प्रकार कविता में

''ग्रत्याचार हो रहा है !'' के स्थान पर कहना कि ''गरीबों के गले पर छुरी चल रही है !" अधिक उपयुक्त रहेगा ।

काव्य-भाषा की तीसरी विशेषता वर्णविन्यास की कोमलता, सरसता एवं मधुरता है। नाद-माधुर्य से कविता की ग्रायु बढ़ती है, किन्तु इसके लिए भाव-सौन्दर्य को ठेस नहीं पहुँचानी चाहिए । चौथी विशेषता यह है कि कभी-कभी व्यक्तियों के नाम के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्य-बोधक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे, कृष्ण के लिए गिरघर, मुरारि, मुरलीधर ग्रादि । किन्तु ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का घ्यान रखना चाहिए कि वे प्रसंग के ग्रनुकूल हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी ग्रत्या-चारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता है तो उसके लिए 'हे गोपिका-रमण! हे वृन्दावन बिहारी !' आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि ! हे कंस-निकन्दन !" म्रादि सम्बोधनों से पुकारना ग्रधिक उपयुक्त है। इस प्रकार म्राचार्य शुक्ल क्या विषय-वस्तु, क्या शैली, क्या भाषा भीर क्या भ्रलंकार—सबका लद्द्य काव्य की रसात्मकता में श्रमिवृद्धि करना ही मानते हैं।

समोक्षा का व्यावहारिक रूप

धाचार्य शुक्ल ने जायसी, तुलसीदास, सूरदास ध्रादि कवियों पर विस्तृत समी-क्षात्मक ग्रंथ लिखे, जिससे उनकी समीक्षा-पद्धति के व्यावहारिक रूप का पता चलता है। यद्यपि वे रस-सिद्धान्त के अनुयायी थे, किन्तु उन्होंने इसमें पाश्चात्य एवं भारतीय समीक्षा-पद्धतियों की अनेक विशेषताओं का समन्वय करके इसे एक अत्यन्त व्यापक रूप प्रदान किया। रस-सिद्धान्त के ग्रन्तर्गत केवल काव्य-वस्तु के भावों की ही विवेचना की जाती है, किन्तु ग्राचार्य शुक्ल ने काव्य-रचियता, तत्कालीन परिस्थितियों, पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा, सम्बन्धित दार्शनिक संप्रदाय, मूल विचार-धारा, भाव-पक्ष, कला-पक्ष ग्रादि पर भी विचार करना ग्रावश्यक समका। उदाहरण के लिए, 'जायसी-ग्रंथावली' की मूमिका में सबसे पूर्व जायसी के युग पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—''सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू भीर मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान प्रेम की पीर की कहानियाँ लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे।" इसी प्रकार 'गोस्वामी तुलसीदास' ग्रंथ का भ्रारम्भ भी तत्कालीन परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए किया गया है—"हम्मीर के समय चारणों का वीर-गाथा काल समाप्त होते ही हिन्दी-कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हट कर भक्ति-पथ ग्रौर प्रेम-पथ की थ्रोर चल पड़ा।" कहने का तात्पर्य यह है कि भ्राचार्य शुक्ल किसी भी रचना की समीक्षा करते समय सबसे पूर्व उसके रचना-काल एवं तत्कालीन परिस्थितियों पर घ्यान देते हैं।

परिस्थितियों का सम्यक् रूप में विश्लेषण करने के अनन्तर वे कवि के व्यक्तित्व की सूक्ष्म विशेषताधों के उद्घाटन में प्रवृत्त होते हैं। घ्यान रहे, वे किव के स्थूल जीवन-वृत्त के स्थान पर उसके स्वभाव की सूक्ष्म वृत्तियों को श्रधिक महत्त्वपूर्ण समभते हैं। यही कारण है कि कवियों की जम्म सिवियों भी ए अभ्य सिन् सिविती की अपेक्षा उन्होंने

उनके व्यक्तित्व पर ग्रधिक प्रकाश डाला है। शताब्दियों प्राचीन कवियों के व्यक्तित्व को उनके काव्य के ग्राधार पर खोज निकालना वृद्धि की सूक्ष्मता का प्रमाण है। इतना ही नहीं, वे एक कवि के व्यक्तित्व की उससे साम्य रखने वाले दूसरे कवि के व्यक्तित्व से भी तुलना करते हुए उसकी ग्रांतरिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण वड़ी बारीकी से करते हैं। जैसे, जायसी पर विचार करते हुए वे उनकी तुलना कवीर से करते हैं—"सच्चे भक्त का प्रधान गुण दैन्य उनमें पूरा-पूरा था। कवीरदास के समान उन्होंने अपने को सबसे श्रधिक पहुँचा हुम्रा कहीं नहीं कहा। कबीर ने तो यहाँ तक कह डाला कि इस चादर को सुर, नर, मुनि सबने भ्रोढ़कर मैला कर दिया, पर मैंने "ज्यों की त्यों घर दीनी चदरिया।" इस प्रकार की गर्वोक्तियों से जायसी बहुत दूर थे। उनके भगवत्प्रेम-पूर्ण मानस में श्रहंकार के लिए कहीं जगह न थी। उनका ग्रीदार्य वह प्रच्छन्न ग्रीद्धत्य न था, जो किसी धर्म के चिढ़ाने के काम में था सके। उनकी यह उदारता थी जिसमें कट्टरपन को भी चोट नहीं पहुँच सकती थी।" इसी प्रकार तुलसी के व्यक्तित्व पर विचार करते समय उन्हें महाकवि मिल्टन का स्मरण हो श्राता है--- "भूत-प्रेत पूजनेवालों की गति तो वे वैसी ही बुरी वताते हैं, जैसे किसी दुष्कर्म से होती है-फिर भी उनकी यह अनु-दारता उस कट्टरपन के दर्जे को नहीं पहुँचती है, जिसके जोश में ग्रंग्रेज कवि मिल्टन ने प्राचीन सभ्य जातियों के उपास्य देवताओं को जबरदस्ती खींचकर शैतान की फीज में भरती किया है- उस कट्टरपन के दर्जे को भी नहीं पहुँची है, जो दूसरे धर्मों की उपासना-पद्धति (जैसे, मूर्ति-पूजा) को गुनाहों की फिहरिस्त में दर्ज करती है।" इससे स्पष्ट है कि श्राचार्य शुक्ल काव्य-रचियताग्रों के व्यक्तित्व का भी विश्लेषण उतनी ही रुचि से करते थे, जितनी रुचि से उनकी रचनाग्रों का करते थे।

काव्य में निहित विचार-धारा के स्पष्टीकरण के लिए वे उससे सम्बन्धित मत, संप्रदाय या वाद का पूरा परिचय प्रस्तुत करते हैं। 'पद्मावत' की समीक्षा के ग्रंतर्गत उन्होंने सूफीमत ग्रौर सिद्धान्तों का तथा रहस्यवाद का विस्तृत रूप में परिचय दिया है। इसी प्रकार तुलसी ग्रौर सूरदास-सम्बन्धी ग्रालोचनाग्रों, भक्ति-पद्धति, भक्ति के उद्-भव ग्रौर विकास ग्रादि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक सामग्रो प्रस्तुत की गई है। इस क्षेत्र में भी वे एक की विचारधारा के स्पष्टीकरण के लिए दूसरे से तुलना करते हुए चलते हैं।

विभिन्न कियों की भाव-व्यंजना पर विचार करते समय वे दो शैलियों का अनुगमन करते हैं, एक तो शास्त्रीय ढंग से प्रमुख भावों का उदाहरण-सिहत निर्देश कर देना और दूसरी, भाव की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसे हृदयस्पर्शी रूप में विस्तृत कर देना। जायसी की विवेचना में "पात्रों द्वारा भाव-व्यंजना" शीर्षक के अंतर्गत शास्त्रीय शैली का प्रयोग किया गया है, जैसा कि सूरदास के अमर-गीत-सार की भूमिका में व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग हुम्रा है। व्याख्यात्मक शैली में आलोचक की सहृदयता की व्यंजना मिलती है—"यशोदा नन्द से कहती हैं—नन्द! ब्रज लीजे ठोंकि बजाय। देहु विदा मिल जाहि मधुपुरी, जह गोकुल के राय!" 'ठोंकि बजाय' में कितनी व्यंजना है। CC-0. Jangamwadi Math Collection, Varanasi.

तुम ग्रपना वज ग्रच्छी तरह सँभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है; मैं तो जाती हूँ। एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है।"

भाव-पक्ष एवं विचार-घारा के ग्रनन्तर ग्राचार्य शुक्ल रचना-शैलो पर विचार करते हैं। जैसे, प्रबन्ध-काव्यों की समीक्षा के समय वे उनके प्रवन्धत्व की परीक्षा भली भाँति करते हैं। प्रवन्ध-काव्य के सम्बन्ध में वे चार बातों पर विशेष रूप से विचार करते हैं-इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार, वर्णन, भाव-व्यंजना भ्रौर संवाद। इतिवृत्त के अतर्गत वे कथावस्तु के संगठन, सम्बन्ध-निर्वाह, मार्मिक स्थलों के चुनाव ग्रादि पर भी घ्यान देना भ्रावश्यक समभते हैं। रचना की भाषा-शैली पर विचार करते समय वे ग्रलंकार-विधान, उक्ति-वैचित्र्य, भाषा-विचार सम्बन्धी विशेषताग्रों पर विशेष रूप से घ्यान देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी समीक्षा का व्यावहारिक पक्ष उसके सैद्धान्तिक पक्ष से भी म्रधिक व्यापक एवं विविधतापूर्ण है। वे काव्य-रचना से सम्बन्धित प्रायः सभी वातों एवं उनके सभी ग्रंगों व तत्त्वों का विश्लेषण बारीकी से करते हैं।

समीक्षा में प्रयुक्त भाषा-शैली

म्राचार्य शुक्ल ने भ्रपने समीक्षात्मक ग्रंथों में भ्रत्यन्त गंभीर, परिष्कृत, साहित्यिक एवं प्रभावोत्पादक भाषा-शैली का प्रयोग किया है। वे जिस तथ्य या विचार का प्रति-पादन करते हैं, उसका भली-भाँति स्पष्टीकरण करने के ग्रनन्तर ही ग्रागे बढ़ते हैं। भाषा में गंभीरता होते हुए भी उसमें शुष्कता या क्लिष्टता नहीं भ्रा पाई, श्रपित उनकी सहूद-यता के कारण वह बीच-बीच में पर्याप्त सरस एवं भावपूर्ण हो गई है। जैसे 'कविता क्या है ?' में प्रकृति पर विचार करते हुए वे लिखते हैं--- ''बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवाह न कर हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढंढती हई भ्राती है भीर कहती है कि तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो।" कहीं-कहीं भावात्मकता एवं सरसता के कारण उनकी समीक्षात्मक पंक्तियाँ कविता का-सा रूप घारण कर लेती हैं। भारतेन्द्र की प्रशंसा करते समय उनका ग्रालोचक हृदय किव की भाँति गद्गद हो जाता है भौर उनकी कलम से कविता-सी वहने लगती है-"प्रपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल पर एक ग्रोर तो वे पद्माकर भ्रीर द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी भ्रीर बंग-देश के मधुसूदन दत्त और हेमचन्द्र की श्रेणी में; एक श्रोर तो राधा-कृष्ण की भक्ति में भूमते हुए भक्त-माला गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी भ्रोर टीकाघारी बगुला-भक्तों की हुँसी उड़ाते तथा स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार ग्रादि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे।"

उनकी समीक्षाओं में कहीं-कहीं हास्य धौर व्यंग्य का पुट भी मिलता है : जैसे, जायसी के विरह-वर्णन पंर विचार करते समय वे लिखते हैं---''एक कविजी ने लिखा है—काजर दे निह, ऐसी सुहागिनि ! ग्राँगुरी तेरी कटैंगी कटाछन ।" यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है ^{CC-0} Isngamwasi Math Collection, Varanasi के लिए छुरी, हँसिया श्रादि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।" इसी प्रकार विहारी के विरह-वर्णन का उप-हास करते हुए वे लिखते हैं—"विहारी की नायिका इतनी क्षीण हो गई है कि जब साँस खींचती है, तव उसके भोंके से चार कदम पीछे हट जाती है श्रीर जब साँस निकालती है, तब उसके साथ चार कदम श्रागे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम की-सी दशा उसकी रहती है।"

उपर्युक्त गुणों के कारण उनकी शैली में सरसता श्रीर रोचकता श्रा गई है।

महत्त्व

श्राचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धित में श्रालोचकों ने श्रनेक दोष ढूँढ़े हैं—जैसे कुछ विशेष कियों, काव्य-रूपों श्रौर सम्प्रदायों को विशेष महत्त्व देना—फिर भी उसका महत्त्व कम नहीं है। उनसे पूर्व हिन्दी-समीक्षा का स्वरूप प्रायः श्रविकसित एवं एकांगी था। या तो श्रालोचक संस्कृत के काव्य-शास्त्रों के श्राधार पर गुण-दोष दिखाने का कार्य करते थे, या दो कियों की तुलना करके छोटे-बड़े के विवाद में उलके रहते थे। साहित्य का मूल्यांकन या तो उपयोगितावादी दृष्टिकोण से होता था, या फिर छिछली उक्तियों को लेकर प्रशंसा के पुल वांधे जाते थे। श्राचार्य शुक्ल ने स्वदेशी श्रौर विदेशी सिद्धान्तों का सार लेकर हिन्दी-समीक्षा को एक व्यवस्थित एवं प्रौढ़ स्वरूप प्रदान किया। एक श्रोर उन्होंने कलावाद श्रौर लोक-हित में सामंजस्य प्रस्तुत किया, तो दूसरी श्रोर उन्होंने काव्य के भाव-पक्ष, विचार-पक्ष एवं शैली-पक्ष पर समन्वित रूप से विचार किया। प्राचीन भारतीय श्राचार्यों ने काव्य-रचना को इतना श्रिषक महत्त्व प्रदान किया कि किव का व्यक्तित्व उपेक्षित रह जाता था, किन्तु श्राचार्य शुक्ल ने किव श्रौर काव्य दोनों की समुचित रूप से व्याख्या करने की प्रणाली को जन्म दिया।

वस्तुतः श्राचार्य शुक्ल ने जहाँ सैद्धान्तिक श्रालोचना के क्षेत्र में काव्य के सूक्ष्म सौन्दर्य का उद्घाटन करके उसे एक व्यापक रूप प्रदान किया, वहाँ उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में युग, इतिहास, परम्परा, दर्शन, मत-सम्प्रदाय, भाव, विचार, शैली, श्रलंकार श्रादि को स्थान देकर श्रपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया। उनकी समीक्षा विचारों की दृष्टि से जितनी प्रौढ़ एवं महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही श्रमिव्यक्ति—शैली—पक्ष की दृष्टि से भी सरस, रोचक एवं प्रभावोत्पादक है। हिन्दी में श्रमी तक ऐसा कोई समीक्षक दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कि श्राचार्य शुक्ल की तुलना की जा सके। डॉ॰ श्याम-सुन्दरदासजी बड़े विद्वान् थे, किन्तु जैसी मौलिकता एवं प्रतिभा श्राचार्य शुक्ल में मिलती है, वह उनमें कहाँ! श्राचार्य हजारीप्रसादजी प्राचीन साहित्य श्रौर संस्कृति के ज्ञान की दृष्टि से श्राचार्य शुक्ल से बहुत श्रागे हैं तथा श्रपने इस बल पर उन्होंने शुक्ल जी की इतिहास सम्बन्धी श्रनेक धारणाश्रों का खण्डन भी सफलतापूर्वक किया है, किन्तु सैद्धान्तिक श्रालोचना के क्षेत्र में वे शुक्लजी की भाँति श्रपने युग का नेतृत्व नहीं कर पाते।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का गम्भीर धनुशीलन करके व्यावहारिक श्रालोचना के क्षेत्र में स्तुत्य कार्य किया तथा वे इस क्षेत्र

में शुक्लजी की ही परम्परा को ग्रागे बढ़ाते रहे हैं, किन्तु उन्हें भी शुक्लजी के सिहासन का एकाधिकारी कहना कठिन है। दूसरी श्रोर डॉ॰ नगेन्द्र ने सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों का तुलनात्मक ग्रम्ययन प्रस्तुत करके शुक्ल जी के कार्य को बहुत आगे बढ़ाया है, किन्तु शुक्लजी की महानता तक पहुँचने के लिए उन्हें कई वर्ष और चाहिए। वस्तुतः भ्राचार्य शुक्लजी के विभिन्न भ्रालोचक रूपों-ऐति-हासिक, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक-का विकास क्रमशः डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ नगेन्द्र एवं भ्राचार्य वाजपेयी द्वारा हुम्रा है। भ्रब नरेशों एवं सम्राटों का युग बीत गया -- ग्रतः ग्राचार्य शुक्ल की सत्ता का भी तीन विभागों में विभक्त होकर ग्रपने लक्ष्य की भोर बढना स्वामाविक ही है। ग्रतः इसमें सन्देह नहीं-ग्राचार्य शुक्ल महान् थे।

ः सत्तरः

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : इतिहासकार के रूप में

- १. सामान्य परिचय।
- २. दृष्टिकोण की नूतनता।
- ३. प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण।
- ४. नया मूल्यांकन।
- ४. उपसंहार।

इतिहास चाहे समाज का हो या साहित्य का उसके लेखक को कई प्रक्रियाओं में से गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम इतिहासकार भ्राधारभूत तथ्यों का संकलन करता है, फिर वह उन्हें काल-क्रम से व्यवस्थित एवं वर्गीकृत करता हुम्रा प्रत्येक वर्ग की विशिष्ट प्रवृत्तियों के उद्गम एवं विकास की विवेचना करता है तथा तत्कालीन युग के परिप्रेक्ष्य में उनका मूल्यांकन करता है। इस प्रकार इतिहास-लेखक का कार्य एक वैज्ञानिक शोध जैसा कार्य है, जिनमें सामग्री-संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण एवं संश्लेषण की विभिन्न प्रक्रियाश्रों का श्रवलम्बन करना पड़ता है। हिन्दी जैसी व्यापक भाषा के इतिहास-लेखन में इन सभी प्रक्रियाओं को सम्पन्न कर लेना एक ही व्यक्ति के वस की बात नहीं थी-श्रतः श्रलग-श्रलग विद्वानों ने क्रमशः लगकर इन्हें सम्पन्न किया। गार्सांद तासी एवं शिवसिंह सेंगर जैसे विद्वानों ने मुख्यत: सामग्री संकलित की तो जार्ज ग्रियर्सन एवं मिश्र बन्धुओं ने उस सामग्री को मुख्यतः व्यवस्थित एवं वर्गीकृत करने का कार्य किया तथा श्रागे चलकर श्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण एवं सम्यक् मूल्यांकन का कार्य सम्पन्न किया। इस प्रकार इतिहास-लेखन की विभिन्न प्रक्रियाएँ भ्राचार्य शुक्ल तक सम्पन्न हो चुकी थीं, किन्तु ग्रभी एक कार्य भीर शेष था-वह था, विभिन्न काव्य-घाराग्रों एवं काव्य-प्रवृत्तियों के मूल उत्सों एवं उद्गम-स्रोतों की शुद्ध एवं स्पष्ट व्याख्या करने का तथा प्राचीन काव्य का तत्कालीन युग की चेतना के ग्राधार पर सम्यक् मूल्यांकन करने का । भ्राचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन के क्षेत्र में ग्रवतीर्ण होकर इस कार्य को पूरा करने का प्रयास किया—इसमें वे कहाँ तक सफल हुए हैं, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

यहाँ हम एक बात धौर स्पष्ट कर देना चाहते हैं—वह यह कि उपर्युक्त विद्वानों के धितिरिक्त धौर भी धनेक विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के रूप को सुधारने एवं सँवारने में पर्याप्त योग दिया है, जिसमें डॉ॰ श्यामसुन्दरदास, डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णिय, डॉ॰ श्री कृष्णलाल प्रभृति विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐसी स्थिति में हम इतिहास-लेखन का श्रेय किसी एक विद्वान् क्रोत्वहीं सकते दश्रीर क्षिपिक्ती के महत्त्व को हम

अधिक या न्यून कह सकते हैं। हमारा लक्ष्य केवल यहाँ उपर्युक्त परिस्थितियों के सन्दर्भ में इतिहासकार द्विवेदी के योग-दान का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना मात्र है।

दृष्टिकोण की नूतनता

साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में भ्राचार्य द्विवेदी के योग-दान को हम मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दृष्टिकोण की नवीनता, (२) विभिन्न काव्य-धाराभ्रों के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण एवं तस्सम्बन्धी नये तथ्यों का निदर्शन भ्रौर (३) प्राचीन काव्य का नया मूल्यांकन । इनमें से प्रत्येक पर यहाँ क्रमणः विचार किया जाता है।

हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में भाचार्य ि दी नया दृष्टिकोण लेकर भवतरित हए । जहाँ पूर्ववर्ती इतिहासकार विभिन्न काव्य-धाराग्रों के विकास पर विचार करते समय मुख्यतः तत्कालीन वातावरण पर ही घ्यान देते थे, उससे सम्बन्धित पूर्ववर्ती परम्पराग्रों की प्रायः उपेक्षा कर देते थे. वहाँ श्राचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती परम्पराश्रों एवं तत्कालीन वातावरण दोनों पर वरावर घ्यान दिया । वैज्ञानिक विकासवाद के सिद्धान्तों के अनुसार परम्परा भीर वातावरण दोनों का महत्व है-शाचार्य द्विवेदी ने भी इसी का भ्रनुगमन किया। फलस्वरूप उन्होंने हिन्दी-साहित्य को इस्लाम प्रवेश की प्रतिक्रिया या हारी हुई जाति की कृण्ठा के रूप में न देखकर उसे पूर्ववर्ती परम्पराग्नों के सहज विकसित रूप में देखा। ग्राचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती विद्वानों के दुष्टिकोण का तीव्र विरोध करते हुए लिखा हैं—''मैं इन दोनों वातों का प्रतिवाद करता हूँ। ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि ग्रगर इस्लाम न ग्राया होता तो भी इस साहित्य का बारह ग्राना वैसा ही होता जैसा ग्राज है।" उन्होंने पूर्ववर्ती धर्म-सम्प्रदायों एवं साहित्यिक परम्पराग्रों के विश्लेषण के द्वारा ग्रपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा—"इस प्रकार महायान सम्प्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध सम्प्रदाय सन् ईसवी के ब्रारम्भ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया, यहाँ तक कि भ्रन्त में जाकर लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया। सन् ईसवी के हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी सम्प्रदायों, शास्त्रों और मतों की हुई । मुसलमानी संसर्ग से उसका कोई सम्पर्क नहीं है। हजार वर्ष पहले से वे ज्ञानियों ग्रीर पण्डितों के ऊँचे ग्रासन से नीचे उतरकर ग्रपनी ग्रसली प्रतिष्ठाभूमि लोकमत की ग्रोर ग्राने लगे। उसी की स्वाभाविक परिणति इस रूप में हुई। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि हमारे पाठक आगे के सहस्राब्दक की साहित्यिक चेतना को जाति की स्वाभाविक चेतना के रूप में देखें; स्वाभाविक ग्रधोगति के रूप में नहीं। ग्रवश्य ही जो ग्रंश उसमें ग्रस्वाभाविक भाव से बाधा-ग्रस्त ग्रौर विकृत हैं, उसे मैं भूल जाने को नहीं कहता।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ५-१०) यहाँ कहने की ग्रावश्यकता नहीं कि ग्राचार्य द्विवेदी का यह दृष्टिकोण जहाँ नया था, वहाँ स्वस्थ एवं वैज्ञानिक भी था । हिन्दी साहित्य की तर्क-संगत व्याख्या एवं उसके सम्यक् मूल्यांकन के लिए इसी दृष्टिकोण की अपेक्षा थी—इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण

हिन्दी साहित्य की विभिन्न काव्य-धाराग्रों के विकास की परम्परा ऊपर से देखने पर ग्राठ-नो सौ वर्ष से ग्रधिक पुरानी प्रतीत नहीं होती, किन्तु यदि हम उसके मूल उत्स का ग्रनुसंधान करें, तो हमें बहुत पीछे लौटना पड़ेगा। भिक्त-काल की ग्रनेक काव्य-धाराएँ तो वैदिक-युग से लेकर दसवीं शती तक के भारतीय साहित्य की ग्रनेक दीर्घ परम्पराग्रों के प्रभाव से ग्रोत-प्रोत हैं। ग्रतः उन्हें समभने के लिए केवल हिन्दी-साहित्य का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है—पूर्ववर्ती भाषाग्रों के साहित्य का ग्रध्ययन भी ग्रपेक्षित है। ग्राचार्य द्विवेदी इन ग्रपेक्षाग्रों की पूर्ति के लिए पर्याप्त समर्थ हैं। इसीलिए वे हिन्दी की ग्रनेक काव्य-धाराग्रों के उद्गम-स्रोतों के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न भ्रान्तियों का निराक्तरण करने में तथा उनके उद्भव की नई व्याख्या करने में सफल हो सके। विशेषतः ग्रादि-काल ग्रीर भिक्त-काल की काव्य-धाराग्रों के विकास पर उन्होंने बहुत कुछ नये ढंग से विचार किया है।

यादिकालीन एवं भक्तिकालीन साहित्य के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती विद्वानों की धाराएँ संक्षेप में इस प्रकार थीं—(१) अपभ्रंश एवं लोक भाषाओं का साहित्य हिन्दू राज्यकाल में सर्वथा उपेक्षित था, मुसलमानों के आगमन से लोक भाषाओं के साहित्य की प्रतिष्ठा सम्यक् रूप में हुई। (२) आदिकाल एवं भक्तिकाल की विभिन्न काव्य-धाराएँ मुसलमानी प्रभाव से विकसित धाराएँ हैं। आचार्य द्विवेदी ने सवल तकों एवं पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इन धारणाओं को भ्रान्त एवं निराधार सिद्ध किया। अपभ्रंश एवं लोक भाषाओं के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट किया कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व भी हिन्दू राजाओं के दरवार में उन्होंने स्पष्ट किया कि मुसलमानों के आगमन के पूर्व भी हिन्दू राजाओं के दरवार में उन्हों सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था, यह दूसरी वात है कि संस्कृत का महत्त्व इनसे अधिक समभा जाता था। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने राजशेखर एवं भोज के ग्रन्थों के कितपय उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, जिनसे भली-भांति स्पष्ट है कि अपभ्रंश के किवयों को राज-दरवारों में निश्चित स्थान प्राप्त था। वे लिखते हैं— "संस्कृत का आदर इस देश में हमेशा से ही रहा है, पर इससे यह निष्कर्ष निकालना अन्याय है कि मुसलमानों के आगमन के पहले अपभ्रंश या लोक भाषा का स्थान उपेक्षणीय समभा जाता था।...मेरी दृष्टि में सही वात तो यह है कि मुसलमानी शासन के प्रभाव से अवस्था चाहे जो कुछ भी क्यों न रही हो, उसके पहले प्राकृत और अपभ्रंश की किवताएँ संस्कृत के समान ही आदर पाती थीं। '

इसी प्रकार उन्होंने इन युगों की काव्य-धाराओं को भी मुख्यतः छः ग्रंगों में विभाजित करते हुए उन्हें ग्रपभ्रंश काव्य से ही विकसित सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—"ग्राधुनिक युग के ग्रारम्भ होने के पहले हिन्दी कविता के प्रधानतः छः ग्रंग थे—िंडगल कवियों की वीर गाथाएँ, निर्गृणियों की वाणियाँ, कृष्ण-भक्त या रागानुगा मार्ग के साधकों के पद, रामभक्त या वैधी भक्ति मार्ग के उपासक की कविताएँ, सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के तथा ऐतिहासिक हिन्दू कवियों

के रोमांस भ्रौर रीतिकाव्य । हम इन छहों घाराभ्रों की भ्रालोचना अलग-भ्रलग करें तो देखेंगे कि ये छहों घाराएँ ग्रपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास हैं।"

हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्य-काल की सर्वीधिक महत्त्वपूर्ण चेतना भक्ति की है-इसे प्रायः सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है; किन्तु यह भक्ति की चेतना किस प्रकार आई, और क्यों भाई-इसका सम्यक् समाधान पूर्ववर्ती इतिहासकार नहीं कर पाये थे। डाक्टर ग्रियर्सन जैसे विद्वान ने जहाँ इसे ईसाइयत का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास किया, वहीं ग्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पराजित हिन्दुग्रों की निराशा में इसका प्रेरणा-श्रोत ढूँढ़ा। श्राचार्य द्विवेदी ने इन दोनों ही मतों का खंडन करते हुए स्पष्ट रूप में दक्षिण के परम्परागत वैष्णव मतवाद से सम्बन्धित किया। उनके शब्दों में—"जो लोग इस युग के वास्तविक विकास को नहीं सोचते, उन्हें ग्राश्चर्य होता है कि ऐसा अचानक कैसे हो गया। "स्वयं डा० ग्रियर्सन का श्रनुमान है कि वह ईसाइयत की देन है। यह बात ग्रत्यन्त उपहासास्पद है ग्रीर यह कहना तो ग्रीर भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने लगे, तो निराश होकर हिन्दू लोग भजन भाव में जुट गए।... असल में दक्षिण का वैष्णव मतवाद ही भक्ति श्रान्दोलन का मूल प्रेरक है।"

भित्त-श्रान्दोलन की ही भाँति सन्त मत ग्रीर सन्त-साहित्य को भी इस्लाम से प्रेरित मान लिया गया था, जबिक भ्राचार्य द्विवेदी ने इसका सम्बन्ध भारतीय परम्परा से स्थापित किया। वे स्वीकार करते हैं कि अनेक सन्त कवि जन्म से मुसलमान थे, फिर भी उनका दृष्टिकोण, उनके संस्कार, उनकी विचारधारा, साधना-पद्धति एवं ग्रमि-व्यंजना-शैली विशुद्ध भारतीय थी। जो लोग इन्हें इस्लाम से प्रेरित मानते थे, उनका कहना था कि इन्होंने वर्ण-व्यवस्था, जाति-भेद एवं मूर्ति-पूजा स्रादि का विरोध इस्लाम के अनुसार ही किया है। पर आचार्य द्विवेदी ने इसके प्रतिवाद में पूर्ववर्ती सिद्धों की वाणियों से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जिनसे पता चलता है कि सन्तों की ये प्रवृत्तियाँ सिद्धों में भी थीं। वस्तुतः क्या भाव, क्या भाषा, क्या ग्रलंकार, क्या छन्द ग्रीर क्या खंडन-मंडन की पद्धति -- इन सभी के ग्राघार पर उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दी का सन्त-काव्य पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथ-पंथियों के साहित्य का सहज विकसिक रूप है, उसे इस्लाम से प्रेरित मानने की भ्रावश्यकता नहीं।

तथाकथित सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों को भी हमारे भ्रनेक विद्वानों ने फारसी यसनिवयों की श्रनुकृतियों के रूप में स्वीकार किया है। श्राचार्य द्विवेदी ने इन प्रबन्ध-काव्यों की प्रतिपादन-शैली एवं इनकी कथानक-रूढ़ियों की सूक्ष्म छानबीन करते हुए प्रमाणित किया है कि ये श्राख्यान भी भारतीय साहित्य की परम्परा से सर्वथा ग्रवि-च्छिन्न नहीं हैं। उन्होंने ग्रपने मत को स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करते हुए लिखा है—''कुछ लोगों को भ्रम है कि पद्मावत ग्रादि में दोहे श्रीर चौपाइयों में प्रवन्ध काव्य लिखने की जो प्रथा है, वह सूफी कवियों का ग्रपना भ्राविष्कार है। यह बात नितान्त भ्रमजन्य है। सहजयान के सिद्धों में से सुरह्यादु श्रीर क्षप्रात्तार्स कि ग्रह्यों के सिद्धों ने चार-चार चीपा इय

के बाद दोहा लिखने की प्रथा पाई जाती है।....इस प्रकार वह पद्धित ग्रर्थात् कड़वक के बाद छेदात्मक उल्लाला या कब्ब छन्द देकर घारावाहिक रूप से प्रबन्ध-काव्य लिखना सूफी किवयों की ईजाद नहीं है।" इसी प्रकार "ग्रिधकांश किवयों के काव्यों का मूल ग्राधार भारतीय लोक कथाएँ हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ग्राचार्य द्विवेदी ने हिन्दी काव्य की ग्रनेक घाराग्रों के उद्भव के सम्बन्ध में प्रचलित मतों का खंडन करते हुए श्रपनी नई स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, जो कि ग्राज प्रायः सर्वमान्य हो चुकी हैं। काव्य-घाराग्रों के ग्रातिरिक्त उन्होंने विभिन्न काव्य-रचनाग्रों के मूल उत्सों के सम्बन्ध में भी नया प्रकाश डाला है, जैसे कि पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता, पद्मावत ग्रादि के सम्बन्ध में। ग्रस्तु, इस सम्बन्ध में उनका योग-दान महत्त्वपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

नया मूल्यांकन

इतिहासकार जहाँ एक ग्रोर परम्पराग्रों के मूल-उत्सों जौर उनके प्रेरणा-स्रोतों को खोजता हुआ उनके विकास को स्पष्ट करता है, वहाँ वह उन्हें काल-विशेष की पृष्ठ-भूमि में रखकर उनका मूल्यांकन भी करता है। प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के समय समीक्षक को विशेष सावधानी वरतनी पड़ती है। जब तक वह प्राचीन युग के सांस्कृतिक वातावरण, उस युग की लोक-चेतना एवं मनोवृत्तियों को भली-भाँति हृदयंगम नहीं कर लेता, तक तक वह उसे सम्यक् रूप से समभने एवं समभाने में सफल नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में वह उस साहित्य के साथ न्याय नहीं कर पाता। ग्राचार्य द्विवेदी इस दृष्टि से प्राचीन हिन्दी-काव्य के लिए सर्वोधिक उपयुक्त समीक्षक सिद्ध होते हैं। प्राचीन भाषाओं एवं साहित्य के ज्ञान के कारण वे हिन्दी के प्रारम्भिक काल की उन कृतियों को जिन्हें पूर्ववर्ती विद्वान् श्रसाहित्यिक एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थ मात्र घोषित कर चुके थे, पुनः साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने में सफल हो सके। ग्रांचार्य शुक्ल का यह एक विचित्र दृष्टि-कोण था कि एक झोर वे तुलसी, सूर की रचनाओं को उत्कृष्ट साहित्य की कोटि में रखते थे, तो दूसरी भ्रोर वे जैन मुनियों, सिद्धों, नाथ-पन्थियों के साहित्य को 'साम्प्रदा-यिक शिक्षा मात्र' मानते थे । श्रवश्य ही इनके काव्य में साम्प्रदायिक शिक्षा है-जैसे कि तुलसी के काव्य में भक्ति का उपदेश है, किन्तु इसी से हम इन्हें काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं कर सकते । इनमें घार्मिक उपदेश केवल मस्तिष्क के शुष्क चिन्तन के बल पर नहीं दिया गया है, ग्रिपतु उसके पीछे हृदय की भी भ्रनुभूति है। जैन कवियों ने तो न केवल धर्म सम्बन्धी अनुभूतियों का, अपितु प्रेम, करुणा, शौर्य जैसे लौकिक भावों एवं सांसारिक प्रसंगों का भी निरूपण उत्कृष्ट काव्यात्मक शैली में किया है। अतः यदि इस साहित्य को साहित्य के क्षेत्र से पृथक् किया जाए, तो फिर भक्तिकाल का सारा साहित्य ग्रसा-हित्यिक माना जायगा। आचार्य द्विवेदी ने जैन-सिद्ध किवयों के साहित्य की अपने सन्तुलित दृष्टिकोण से देखते हुए स्पष्ट रूप में उनकी साहित्यिकता का समर्थन किया है। वे लिखते हैं — "अपर जिस्ट ताम्मसी की बनामा कि हो। सर्वे हैं, vatan में कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाए रखने का पूरा प्रयास है। धर्म यहाँ किन को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है, जिसमें धर्म-भावनाप्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी सामान्य मनुष्यता को आन्दोलित; मथित और प्रभावित कर रही हो। इस दृष्टि से प्रपन्न शं की कई रचनाएँ जो मूलतः जैन-धर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं।....यही बात बौद्ध सिद्धों को कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती हैं। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्घृत किया जाता है। मुभे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती।" (हिन्दी साहित्य का श्रादिकाल, पू० ११)

सन्तों एवं भक्तों के साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन के लिए भी उनकी परम्पराभ्रों, साधना-पद्धतियों, उनके जीवन-दृष्टिकोण एवं भीतरी साम्प्रदायिक वातावरण का ज्ञान अपेक्षित था। इसके प्रभाव में उनके सम्बन्ध में ग्रनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती थीं भीर वस्तूतः ऐसा हुमा भी । सन्तों के द्वारा प्रयुक्त शब्दाविलयों को देखकर एक भ्रोर कुछ विदानों ने उन्हें कृष्ण-साधना में प्रवृत्त नाथ-पंथी योगियों के समकक्ष स्थान प्रदान किया, तो दूसरी ग्रोर कुछ लोगों ने उन्हें ज्ञान-मार्गी मानकर उनकी काव्य-धारा को 'ज्ञानाश्रयी-शाखा' कहा । वस्तुतः ये दोनों ही वार्ते भ्रामक थीं । कबीर भ्रादि ने सिद्धों भ्रौर योगियों की शब्दावली का प्रयोग नये अर्थों में किया था, जिससे उनका मूल अर्थ ही बदल जाता है। जनता के हृदय में जो शब्द श्रन्ध-विश्वास एवं रूढ़ि के रूप में गहराई से पैठ गए थे, उन्हें निकाल फेंकना एकाएक सम्भव नहीं था। श्रतः संतों ने उन्हीं शब्दों में ऐसा श्रर्थ भरा जिससे कि ग्रन्थ-विश्वासों के स्थान पर सच्चे ज्ञान की प्रतिष्ठा हो सके । पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार जनता यदि 'आसन मारकर' 'योग-समाधि' लगाने में विश्वास रखती थी, तो सन्तों ने इसके स्थान पर श्राशाग्रों (तृष्णाश्रों) को मारकर प्रेम-समाधि या सहज समाधि लगाने का उपदेश दिया। इस प्रकार यदि हम संतों की शब्दावली के सुक्ष्म श्रर्थ तक पहुँचें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने ग्रपने काव्य में योग की जटिल साधनाग्रों का नहीं, ग्रपित ईश्वर-प्रेम की सहज साधना का ही प्रतिपादन किया है। जो सन्त-काव्य की गहराई में न उतर-कर ऊपर से ही भाँककर चले जाते हैं, वे भले ही इस तथ्य को न समभ सकें। इसी प्रकार सन्तों ने पोथियों के ज्ञान की अपेक्षा प्रेम के अढ़ाई ग्रक्षरों का ही महत्त्व अधिक स्वीकार किया है। उन्होंने बार-वार घोषित किया है--"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुग्रा, पण्डित भया न कोय, ढाई ग्रक्षर प्रेम का; पढ़ै सो पण्डित होय।" न केवल उन्होंने इनकी घोषणा की है, श्रिपतु इसी मार्ग पर वे चले भी हैं। प्रिय का पंथ जोहती हुई कबीर की विरिहिणी धात्मा को, धाने जानेवाले प्रत्येक पथिक से प्रिय का एक शब्द पूछनेवाली विरहिणी को, प्रिय के वियोग में चुपचाप जलनेवाली प्रेयसी को, भ्रौर प्रिय का साक्षात्कार हो जाने पर प्रेम से गद्गद्, लाज से विभोर एवं हर्ष से ग्राप्लावित हो जानेवाली सन्तों की प्रणय-विभोर ग्रात्मा को "ज्ञान-मार्गी" या "ज्ञानाश्चरी" कहना न केवल उनका उपहास है ग्रापितु उनकी प्रणयानुभूतियों का ग्रापमान भी है। ग्राचार्य द्विवेदी ने पूर्ववर्ती विद्वानों की उपर्युक्त दोनों ही भ्रान्तियों का निराकरण दृढ़तापूर्वक किया है। सन्तों की साधना-पद्धिति एवं शब्दावली के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—''इस प्रकार यह वात स्पष्ट है कि कबीर ग्रादि ने ग्रनेक वातें पूर्ववर्ती साधकों से ग्रहण की थीं, फिर भी कबीर को साधना वही नहीं थी, जो इन योगियों या सहजयानियों की थी। कबीर ग्रादि ने योगियों ग्रौर सहज्यानियों के पारिभाषिक शब्दों की ग्रपने ढंग पर व्याख्या की। जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रों से गृहीत होकर भी उनके राम 'दशरथ-सुत' नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनके सहज्यान्य, षट्-चक्र, समाधि, इड़ा, पिंगला ग्रादि भी सहज यानियों ग्रौर योगियों के इन्हों शब्दों से भिन्न ग्रर्थ रखते थे। इतना ही नहीं, सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी उन्होंने ग्रपने ढंग पर व्याख्या की थी।"

(हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृ० ४४)

सन्तों को प्रेममार्गी न मानकर ज्ञानमार्गी मानने की वात का भी खण्डन करते हुए उन्होंने कहा है—''प्रेम पर इन सन्तों ने इतना ग्रधिक जोर दिया है कि भक्ति के विना भगवान् को भी ग्रपूर्ण वताया है ।....यदि उन्हें विशुद्ध ज्ञानमार्गी मान लिया जायगा तो उक्त वात ग्रबोध्य हो जायगी। जिन पण्डितों ने इन सन्तों को ज्ञानाश्रयी कहा है, वे सचमुच चक्कर में पड़ गए हैं श्रौर तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यह कहने को बाध्य हुए हैं कि न तो हम पूरे इन्हें ग्रद्धैतवादी कह सकते हैं ग्रौर न एकेश्वरवादी।"

कुछ ग्रालोचकों ने सन्त कियों के शास्त्रीय-ज्ञान पर भी संदेह प्रकट करते हुए उन्हें उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण से देखा है। वे सोचते हैं, शायद संतकिव शास्त्र-निष्णात होते तो साहित्य की या समाज की ग्रधिक सेवा कर सकते थे। िकन्तु एक दूसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है —शास्त्रीय ज्ञान से मुक्त होने के कारण ही वे परम्परागत रूढ़ियों को ग्रधिक मुक्त या स्वतन्त्र दृष्टि से देख सकें। िनिश्चत ही वे शास्त्रों में पारंगत नहीं थे, िकन्तु इससे साहित्य को हानि नहीं, लाभ ही हुग्रा है। यह दूसरा दृष्टिकोण ग्राचार्य द्विदी का है। वे ग्रपने इस नूतन-दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए िलखते हैं—''कभी-कभी हास्यास्पद भाव से कवीरदास को शास्त्र-ज्ञान-होन, सुनी-सुनाई वातों को गढ़नेवाला ग्रादि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, घुनिये ग्रौर ग्रन्यान्य नीची कही जानेवाली जातियों के लिए शास्त्र ग्रौर वेद का दरवाजा खुला था ग्रौर कवीरदास ग्रादि ने जान-बूभकर उनकी ग्रवहेलना की थी। सच पूछा जाय तो शास्त्र-ज्ञान तत्त्व-ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता ग्रौर कभी-कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से ग्राये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पडता है।"

(हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. ४२)

संत-काव्य की विषय-वस्तु की भाँति उसकी भाषा-शैली के भी भ्रनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों पर भ्राचार्य द्विवेदी ने नया प्रकाश डाला है। जहाँ पहले कबीर म्रादि की भाषा को केवल विभिन्न प्रान्तीय शब्दों के मिश्रण के कारण, 'सधुक्कड़ी' कह दिया गया था, को केवल विभिन्न प्रान्तीय शब्दों के मिश्रण के कारण, 'सधुक्कड़ी' कह दिया गया था,

वहाँ भ्राचार्य द्विवेदी ने उसमें भ्रन्तिनिहित भ्रभिन्यंजना-शक्ति एवं उसके सूक्ष्म रूप-वैभव का उद्घाटन करते हुए, उसे साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाया। उनके विचार से इस 'सधुक्कड़ी भाषा' या 'खिचड़ी भाषा' में ही श्रभिन्यंजना की ऐसी सहजता, शक्ति-मत्ता एवं प्रभावोत्पादकता छिपी हुई है कि जिसके बल पर उसके प्रयोक्ता को 'वाणी का डिक्टेटर' कहा जा सकता है। सन्तों की शैली के इस सबल पक्ष को भ्रब प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्राचार्य द्विवेदी ने केवल हिन्दी साहित्य के इति-हास की विभिन्न काव्य-घाराध्रों के उद्गम-स्रोतों एवं उद्भव को स्पष्ट करने में योग दिया है, अपितु विभिन्न वर्गों की भी नई व्याख्या और नये मूल्यांकन के कार्य को आगे बढ़ाया है। जहाँ उन्होंने प्रारम्भिक लोक-भाषा के साहित्य की पृष्ठभूमि, उसके प्रेरणा-स्रोतों एवं उसके अन्तर्निहित साहित्यिक-तत्वों का उद्घाटन स्पष्ट रूप में किया है, वहाँ उन्होंने नाथ-पन्थी योगियों की साधना-पद्धति, सन्तों की श्रनुभूति एवं भक्त कवियों की भक्ति-भावना का भी विवेचन एवं विश्लेषण नूतन ढंग से किया है। यहाँ हम उनके वैष्णव-भक्ति सम्बन्धी विवेचन की मौलिकता पर ग्रधिक प्रकाश नहीं डाल सके, किन्तु संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आदिकालीन साहित्य की सूक्ष्म विशेषताओं एवं मघ्यकाल की विभिन्न काव्य-धाराग्रों के विभिन्न पक्षों पर-उनसे सम्बन्धित धर्म-सम्प्रदायों, उनके प्रेरक पूर्ववर्ती ग्रन्थों, उनकी साधना पद्धतियों, उनकी भाव-भूमियों एवं उनकी भ्रभिव्यंजना-शैलियों का-जितनी गहराई से भ्राचार्य द्विवेदी ने विचार किया है तथा जितनी स्पष्टता से वे उसे समक्त सके एवं समका सके हैं, वह अपूर्व है। वस्तुतः हिन्दी के सन्त-काव्य एवं भक्ति-काव्य के लिए एक ऐसे ही विद्वान् की अपेक्षा थी, जो कि अपनी धर्म-परम्पराधों के ज्ञान, सन्त-स्वभाव एवं भक्त-हृदय के बल पर भक्तियुगीन साहित्य के रचयिताओं के हृदय से तादात्म्य स्थापित करता हुआ उनके मन की बात हमें बता सके। इस अपेक्षा की पूर्ति बहुत-कुछ आचार्य द्विवेदी के द्वारा हुई है—'हिन्दी साहित्य की भूमिका' से लेकर 'सन्तों का सूक्ष्म-वेद' तक उनकी रचनाएँ हमारे कथन को प्रमाणित करती हैं। इतिहासकार के रूप में उन्होंने उसकी बाह्य चार-दीवारियों एवं उसके स्थूल ढाँचे में भले ही कोई परिवर्तन न किया हो, किन्तु उसकी श्राधारभूत परम्पराश्रों, उसके श्रन्तीहत तत्त्वों एवं उसके विकास की सूक्ष्म रेखाओं का उन्होंने ग्रत्यिक परिवर्तन एवं संशोधन करते हुए उसे नया रूप एवं वैभव प्रदान किया है-इसमें कोई सन्देह नहीं।

> SRI JAGADGURU NASHWARADAYA JNANA SIMHASAN JANANAMANOWR

CC-0. Jangamwadi Matri Gollection, Varanasi.

And Ain 3011

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

डा० गरापितचन्द्र गुप्त (जन्म-तिथि १५ जुलाई १६२८ ई०) ने सन् १६५४ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेगी में एम० ए० किया तदनन्तर क्रमशः सन् १६५६ में 'हिंदी काव्य में श्रृंगार-परंपरा और महाकिव बिहारी' विषय पर पीएच० डी० तथा १६६५ ई० में 'साहित्य-विज्ञान' (साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन) पर डी० लिट्० प्राप्त की। इसके बाद 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' (१६६५) और रस-सिद्धान्त का पुनिववेचन' (१६७१) प्रकाशित हुए। ये चारों ही ग्रन्थ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हैं। इसके अतिरिक्त पंजाब सरकार, हरियाणा सरकार एवं हरजीमल डालिमया सिमिति ने भी इनको पुरस्कृत किया है।

डा॰ गुप्त की अन्य प्रकाशित कृतियों में 'साहित्यिक-निबन्ध', 'महादेवी: नया मूल्यांकन', 'हिन्दी-साहित्य का विकास', 'मारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त', 'आदिकाल की प्रामा-गिक रचनाएँ' आदि उल्लेखनीय हैं।

डा० गुप्त ने पंजाव विश्वविद्यालय, चंडी-गढ़, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर केन्द्र, रोहतक, में विभिन्न पदों पर कार्य किया है। संप्रति वे रोहतक विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाष्यक्ष, अधिष्ठाता माषा-संकाय, हिन्दी, संस्कृत, पंजाबी, जर्मन, फ्रेंच, संगीत, कलादि की पाठ्यक्रम-समितियों के अध्यक्ष व कुलानुशासक के रूप में कार्य कर रहे हैं। Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha